शिक्षा मनोविज्ञान

(शिक्षा का मनोवैज्ञानिक आधार)

लेखक

कुन्दनलाल शर्मा, एम० ए० (मनोविज्ञान तथा भूगोल) एम० एड०
अध्यक्ष, शिक्षा विभाग, बरेली कॉलेज, बरेली

पारसनाथ राय, एम. ए.,
(मनो० हिन्दी) एम. एड.
आर. बी. एस. कॉलेज ऑफ एजूकेशन्
आगरा

श्रीमती भद्रशीला शर्मा,
एम. ए., बी. एड.
शिक्षा विभाग, बरेली कालेज
बरेली

लक्ष्मीनारायण अग्रवाल आगरा—3

प्रकाशक :
लक्ष्मीनारायण अग्रवाल,
शिक्षा साहित्य के प्रकाशक, आगरा–3

प्रथम संस्करण 1974

मूल्य : सोलह रुपये मात्र

मुद्रक :
हरीहर प्रेस,
मोतीकटरा, आगरा–3
(हरी कम्पोजिंग हाउस द्वारा कम्पोज)

प्राक्कथन

बीसवीं शताब्दी में मनोविज्ञान के मूल वृक्ष से प्रस्फुटित होने वाली अनेक नवीन शाखाओं में से एक विशिष्ट शाखा शिक्षा मनोविज्ञान की है। इस विषय की गत पचास वर्षों में तीव्रता से प्रगति हुई है, जिसके परिणामस्वरूप शिक्षा मनोविज्ञान की परिभाषा, क्षेत्र और वर्ण्य विषयों में पर्याप्त अन्तर हुआ है। शिक्षा मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की एक प्रायोगिक शाखा है, जिसका लक्ष्य मनोविज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में होने वाले खोज कार्यों के परिणामों को शैक्षिक क्षेत्र में प्रयुक्त करके उन्हें शिक्षा के लिए व्यावहारिक दृष्टि से अधिक उपादेय बनाना है। अतएव शिक्षा-मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की सभी शाखाओं, विचार धाराओं, एवं संप्रदायों को किसी न किसी बिन्दु पर अवश्य स्पर्श करता है। तात्पर्य यह है कि शिक्षा-मनोवैज्ञानिक का दृष्टिकोण अधिक व्यापक और व्यावहारिक होना चाहिए। प्रस्तुत पुस्तक इसी दृष्टिकोण को दृष्टिगत रखते हुए लिखी गई है और आशा की जाती है कि इसके अध्ययन से देश के भावी शिक्षकों को बालक के प्रति उचित दृष्टिकोण प्राप्त होगा।

हमारे देश के शिक्षक-प्रशिक्षण विद्यालयों में यद्यपि शिक्षा-मनोविज्ञान को अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ाया जाता है, तथापि इस विषय का पाठ्यक्रम सभी विश्वविद्यालयों मे समान नहीं है। कुछ विद्यालयों के पाठ्यक्रम में प्रवृत्तिवाद (Instinct Psychology) की पूर्णतः उपेक्षा की गई है। प्रस्तुत पुस्तक में (जोकि उत्तर भारत की अनेकों प्रशिक्षण सस्थाओं के पाठ्यक्रम को दृष्टिगत रखकर लिखी गई है) प्रवृत्तिवाद के उन सब प्रसंगों का समुचित उपयोग किया गया है, जोकि मानव स्वभाव को समझने और बालक के मानस (Mind) के प्रति अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने में सहायक हैं। विषय के युक्तिपूर्ण, शास्त्रीय किन्तु संक्षिप्त प्रस्तुतीकरण के उद्देश्य को आदि से अन्त तक निभाने का प्रयत्न किया गया है। विषय के वर्णन को सरल और ग्राह्य बनाने के लिए यथा स्थान चित्र, रेखाचित्र एवं तालिका आदि दिये गये हैं। इस प्रयत्न में लेखकों को कहाँ तक सफलता मिली है इसका निर्णय तो पुस्तक का आद्योपांत अवलोकन करके पाठकगण ही कर सकेंगे। विद्वान पाठकों से लेखकों का यह अनुरोध है कि पुस्तक के इस प्रथम संस्करण का अवलोकन करके वे अपनी मूल्यवान् सम्मति प्रदान करने का कष्ट करें। उनके द्वारा दिये गये सुझावों का हार्दिक स्वागत किया जायेगा।

पुस्तक का यह संस्करण प्रस्तुत करने में जिन लेखकों की कृतियों, खोज कार्यों एवं लेखों से सहायता ली गई है, (उनके नाम यथास्थान प्रसग ही में दिये गये हैं) उनके प्रति लेखक पूर्ण आभारी हैं। पुस्तक में जो कुछ भी है इन्हीं महानुभावों के विचारों का अपनी योजनानुसार व्यवस्थित वर्णन है।

गंगा दशहरा
सम्वत् 2031
30 मई 1974

कुन्दनलाल शर्मा
पारसनाथ राय
श्रीमती मधुशीला शर्मा

विषय-सूची

प्रथम खण्ड
शिक्षा तथा मनोविज्ञान
(Education and Psychology)

प्रथम खण्ड

शिक्षा तथा मनोविज्ञान

(EDUCATION AND PSYCHOLOGY)

1

शिक्षा और मनोविज्ञान : अर्थ व परिभाषा
(EDUCATION AND PSYCHOLOGY : MEANING AND DEFINITION)

शिक्षा प्रक्रिया का उद्देश्य बालक के व्यवहार में वांछनीय परिवर्तन करके उसका सर्वांगीण—अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक—विकास करना है, ताकि वह अपने परिवार और समाज का कल्याणकारी सदस्य बन सके और जीवन के उत्तरदायित्वों को योग्यता एवं कुशलता से निभा सके। डॉ० राधाकृष्णन के शब्दों में "शिक्षा को मनुष्य और समाज का निर्माण करना चाहिए।"[1]

शिक्षा क्या है?

चीन देश की एक पुरानी कहावत है जिसका अभिप्राय है—"यदि आप एक वर्ष की योजना बना रहे हैं तो अनाज बोइए, यदि आप दस वर्ष की योजना बना रहे हैं तो वृक्ष उगाइए, यदि आप सौ वर्ष की योजना बना रहे हैं तो मनुष्य बनाइए।"[2]

शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य मानव शिशु में मानवीय गुणों का विकास करके उसे इस योग्य बनाना है कि वह मानव संस्कृति को अधिक सुन्दर और सम्पन्न बनाने में अपना सक्रिय सहयोग दे सके। शिक्षित व्यक्ति अपने आस-पास के वातावरण पर विजय प्राप्त करता है। वह अपनी परिस्थितियों के साथ उचित अनुकूलन करके जीवन को सरल, व्यवस्थित और सुखी बनाता है। शिक्षा के माध्यम से बालक अपने आप को ज्ञान और अनुभव में धनी बनाता है। अपनी अन्तर्निहित शक्तियों का समुचित विकास करता है। ज्ञान, अनुभव और समायोजन द्वारा वह अपने व्यवहार को अधिक समाजोपयोगी, शुद्ध और कल्याणकारी बनाता है।

महात्मा गांधी के अनुसार—"शिक्षा से मेरा अभिप्राय बालक एवं मनुष्य में शरीर, मस्तिष्क एवं आत्मा के सर्वोत्तम अंश की अभिव्यक्ति है।"[3]

शिक्षा की आधुनिक परिभाषाएँ

1 "Education should be man making and society making."
—Dr S Radhakrishnan

2 "If you are plannig for one year, sow grains. If you are planning for ten years, plant trees. If you are planning for hundred years grow men."

3 "By Education I mean, an all round drawing out of the best in child and man body, mind and spirit."
—M. K. Gandhi

एडीसन के अनुसार—"शिक्षा के द्वारा मानव के अन्तर में निहित उन शक्तियों, पूर्णताओं तथा गुणों को प्रकाश में लाया जाता है जिनको शिक्षा की स के विना अन्दर से वाहर निकालना विल्कुल असम्भव है।"[1]

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार—"शिक्षा प्रक्रिया का कार्य मनुष्य में पहले विद्यमान पूर्णताओं को प्रकाश में लाना है।"[2]

टी० रेमोण्ट के अनुसार—"शिक्षा मानव जीवन के विकास की वह प्र है जो शैशवावस्था से प्रौढ़ावस्था तक चलती रहती है अर्थात् शिक्षा विकास का क्रम है जिससे मानव अपने आपको आवश्यकतानुसार भौतिक, सामाजिक आध्यात्मिक वातावरण के अनुकूल वनाता है।"[3]

मनोविज्ञान क्या है ?

मनोविज्ञान का उद्देश्य भी, मानव मन का विश्लेषण करके, मानव मन समझना है। मैक्डूगल के अनुसार—"मनोविज्ञान का उद्देश्य मानव स्वभाव के में हमारे ज्ञान को अधिक निश्चित व्यवस्थित वनाना है ताकि हम अपने आ अधिक विवेकपूर्ण ढंग से नियन्त्रित कर सकें और अपने साथ के व्यक्तियों को अ प्रभावित कर सकें।"[4]

मनुष्य का व्यवहार एक जटिल वस्तु है। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह शिक्षक अभिभावक हो या सामाजिक कार्यकर्ता हो, इसे समझने में रुचि रखता है। हम जानना चाहते हैं कि कुछ वच्चे क्यों विगड़ जाते हैं ? हम कभी प्रसन्न और क भयभीत क्यों हो जाते हैं ? किन गुणों के कारण कुछ व्यक्तियों का व्यक्तित्व अ- प्रिय एवं आकर्षक वन जाता है और किन गुणों के कारण एक व्यक्ति दूसरों आलोचना, उपहास और आक्षेपों का शिकार वनता है ? कुछ लोग शान्त और लोग उग्र क्यों हैं ? कुछ लोग अधिक मिलनसार और कुछ लोग एकान्तप्रिय होते हैं ? मनुष्य के स्वभाव, चरित्र, आचरण और व्यवहार में यह अन्तर क्यों हो है, इन प्रश्नों का युक्तिपूर्ण उत्तर देने का प्रयत्न मनोविज्ञान करता है।

मनोविज्ञान की परिभाषा

1. आत्मा का विज्ञान (Science of Soul)—मनोविज्ञान की एक प्राच परिभाषा साइकोलोजी शब्द की व्युत्पत्ति है। यह शब्द दो यूनानी शब्दों 'साइ (Psyche) और 'लोगॉस' (Logos) मिलकर वना है। 'साइके' का अर्थ है 'आत्म अथवा 'अन्तःकरण' और 'लोगॉस' का अर्थ है 'विज्ञान' अथवा 'किसी वस्तु

---

1 "Education, when it works upon a noble mind, draws out to view ev latent virtue and perfection which without such help, are never able to m their appearance."
—Addi

2 "Education is manifestation of perfections already in man."
—Swami Vivekan

3 "Education is that process of development in which consists the passag human being from infancy to maturity, the process whereby he adapts h self gradually in various ways of his physical, social and spiritual envir ment."
—T. Raym

4 "The aim of Psychology is to render our knowledge of human nature m exact and systematic in order that we may control ourselves more wisely Influence our fellowmen more effectively."
—McDougall : *An Outline of Psycho*

।स्थित अध्ययन'। इस प्रकार मनोविज्ञान प्राचीनतम परिभाषा के अनुसार आत्मा या मानव अन्तःकरण का व्यवस्थित अध्ययन है। धर्मग्रन्थों में जिस आध्यात्मिक (सत्ता) का वर्णन किया गया था उसे आत्मा (Soul) कहा जाता था। उस य के विद्वानों की धारणा थी कि यही आत्मा मनुष्य की उच्च मानसिक क्रियाओं, जैसे सोचना, कल्पना करना, तर्क करना, आत्म निर्देश प्राप्त करना आदि—के लिए रदायी थी। प्राचीनकाल में मनोविज्ञान का यह रूप मानसिक दर्शन या आत्मा दर्शन (Mental Philosophy or Philosophy of Soul) के नाम से जाना ता था और दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत ही इस विषय का अध्ययन होता था परन्तु ोविज्ञान की पहली पुस्तक साइकोलोजिया (Psychologia) 1590 ई० में रूडोल्फ कित द्वारा लिखी गई। सत्रहवीं शताब्दी में दर्शन और मनोविज्ञान पर जॉन क (John Locke) तथा डेस्कार्टे (Descartes) के विचारों का विशेष प्रभाव ा। डेस्कार्टे (1596-1650) ने मानव और पशुओं के व्यवहार को समझने के ए भौतिक विज्ञान का आश्रय लिया। उसने भौतिक आत्मा का स्थान मनुष्य के स्तिष्क में बताया और कहा कि मनुष्य, शरीर + आत्मा है। आत्मा के कारण ही से जीवन और मानवीय गुण हैं। आत्मा के कारण ही मनुष्य में विचार करने की ता और संकल्प शक्ति (Ability to Think and Will Power) हैं। पशु त्मा-रहित होने के कारण विचारहीन हैं।

सोलहवीं शताब्दी तक मनोविज्ञान 'आत्मा का विज्ञान' रहा। परन्तु आत्मा ा है? उसका रंग, रूप और आकार कैसा है? आदि प्रश्नों का सही उत्तर वै ज्ञानिक न दे सके। अतः सत्रहवीं शताब्दी में मनोविज्ञान की इस परिभाषा पर द्वानों को सन्देह होने लगा और इसे अस्वीकार कर दिया गया।

2. मन का विज्ञान (Science of Mind)—जॉन लॉक (1632-1704) ब्रिटिश मनोविज्ञान की नींव डाली। उसके मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों ने साहचर्य-द (Associationism) के रूप में शिक्षा जगत तथा मनोविज्ञान को दो शताब्दियों ो प्रभावित किया। उस समय के मनोवैज्ञानिकों का प्रमुख कर्तव्य यह बताना कि किन नियमों या सिद्धान्तों के अनुसार विचार (Ideas) मन (Mind) में एक रे से सम्बन्धित हो जाते हैं।

इस प्रकार धीरे-धीरे, मनोविज्ञान में आत्मा का स्थान मन या मस्तिष्क ने लिया। अठारहवीं शताब्दी में मनोविज्ञान, आत्मा के स्थान पर मन का विज्ञान था मानसिक जीवन का अध्ययन कहा जाने लगा। लेकिन मन क्या है, इसकी ा क्या है, यह स्थूल है या सूक्ष्म आदि समस्याएँ और प्रश्न, जो आत्मा के साथ े हुए थे, मन के सम्बन्ध में भी बने रहे। जिस प्रकार 'आत्मा' को परिभाषित रना कठिन था उसी प्रकार 'मन' को परिभाषित करने में भी अनेक कठिनाइयाँ ाईं। मन या मस्तिष्क का स्वरूप निश्चित न होने के कारण मनोविज्ञान की कोई ति भी नहीं हो सकी।

3. चेतना का विज्ञान (Science of Consciousness)—अठारहवीं ताब्दी में जर्मनी में विलियम वुंट (William Wundt 1832-1920) ने एक योगशाला स्थापित की। इस काल में जर्मन विद्वानों ने मनोवैज्ञानिक अध्ययन को

एडीसन के अनुसार—"शिक्षा के द्वारा मानव के अन्तर में निहित उन सभी शक्तियों, पूर्णताओं तथा गुणों को प्रकाश में लाया जाता है जिनको शिक्षा की सहायता के बिना अन्दर से बाहर निकालना बिल्कुल असम्भव है।"[1]

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार—"शिक्षा प्रक्रिया का कार्य मनुष्य में पहले से विद्यमान पूर्णताओं को प्रकाश में लाना है।"[2]

टी० रेमौण्ट के अनुसार—"शिक्षा मानव जीवन के विकास की वह प्रक्रिया है जो शैशवावस्था से प्रौढ़ावस्था तक चलती रहती है अर्थात् शिक्षा विकास का वह क्रम है जिससे मानव अपने आपको आवश्यकतानुसार भौतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक वातावरण के अनुकूल बनाता है।"[3]

मनोविज्ञान क्या है ?

मनोविज्ञान का उद्देश्य भी, मानव मन का विश्लेपण करके, मानव मन को समझना है। मैकडूगल के अनुसार—"मनोविज्ञान का उद्देश्य मानव स्वभाव के विषय में हमारे ज्ञान को अधिक निश्चित और व्यवस्थित बनाना है ताकि हम अपने आपको अधिक विवेकपूर्ण ढंग से नियन्त्रित कर सकें और अपने साथ के व्यक्तियों को अधिक प्रभावित कर सकें।"[4]

मनुष्य का व्यवहार एक जटिल वस्तु है। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह शिक्षक हो, अभिभावक हो या सामाजिक कार्यकर्ता हो, इसे समझने में रुचि रखता है। हम यह जानना चाहते हैं कि कुछ बच्चे क्यों बिगड़ जाते हैं ? हम कभी प्रसन्न और कभी भयभीत क्यों हो जाते हैं ? किन गुणों के कारण कुछ व्यक्तियों का व्यक्तित्व अधिक प्रिय एवं आकर्षक बन जाता है और किन गुणों के कारण एक व्यक्ति दूसरों की आलोचना, उपहास और आक्षेपों का शिकार बनता है ? कुछ लोग शान्त और कुछ लोग उग्र क्यों हैं ? कुछ लोग अधिक मिलनसार और कुछ लोग एकान्तप्रिय क्यों होते हैं ? मनुष्य के स्वभाव, चरित्र, आचरण और व्यवहार में यह अन्तर क्यों होता है, इन प्रश्नों का युक्तिपूर्ण उत्तर देने का प्रयत्न मनोविज्ञान करता है।

मनोविज्ञान की परिभाषा

1. आत्मा का विज्ञान (Science of Soul)—मनोविज्ञान की एक प्राचीन परिभाषा साइकोलोजी शब्द की व्युत्पत्ति है। यह शब्द दो यूनानी शब्दों 'साइके' (Psyche) और 'लोगॉस' (Logos) से मिलकर बना है। 'साइके' का अर्थ है 'आत्मा' अथवा 'अन्तःकरण' और 'लोगॉस' का अर्थ है 'विज्ञान' अथवा 'किसी वस्तु का

---

1 "Education, when it works upon a noble mind, draws out to view every latent virtue and perfection which without such help, are never able to make their appearance." —Addison

2 "Education is manifestation of perfections already in man." —Swami Vivekanand

3 "Education is that process of development in which consists the passage of human being from infancy to maturity, the process whereby he adapts himself gradually in various ways of his physical, social and spiritual environment." —T. Raymont

4 "The aim of Psychology is to render our knowledge of human nature more exact and systematic in order that we may control ourselves more wisely and influence our fellow men more effectively." — McDougall : *An Outline of Psychology*

व्यवस्थित अध्ययन'। इस प्रकार मनोविज्ञान प्राचीनतम परिभाषा के अनुसार आत्मा अथवा मानव अन्तःकरण का व्यवस्थित अध्ययन है। धर्मग्रन्थों में जिस आध्यात्मिक तत्व (सत्ता) का वर्णन किया गया था उसे आत्मा (Soul) कहा जाता था। उस समय के विद्वानों की धारणा थी कि यही आत्मा मनुष्य की उच्च मानसिक क्रियाओं, —जैसे सोचना, कल्पना करना, तर्क करना, आत्म निर्देश प्राप्त करना आदि—के लिए उत्तरदायी थी। प्राचीनकाल में मनोविज्ञान का यह रूप मानसिक दर्शन या आत्मा का दर्शन (Mental Philosophy or Philosophy of Soul) के नाम से जाना जाता था और दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत ही इस विषय का अध्ययन होता था परन्तु मनोविज्ञान की पहली पुस्तक साइकोलोजिया (Psychologia) 1590 ई० में रूडोल्फ गोइक्लि द्वारा लिखी गई। सत्रहवीं शताब्दी में दर्शन और मनोविज्ञान पर जॉन लॉक (John Locke) तथा डेस्कार्टे (Descartes) के विचारों का विशेष प्रभाव पड़ा। डेस्कार्टे (1596-1650) ने मानव और पशुओं के व्यवहार को समझने के लिए भौतिक विज्ञान का आश्रय लिया। उसने भौतिक आत्मा का स्थान मनुष्य के मस्तिष्क में बताया और कहा कि मनुष्य, शरीर + आत्मा है। आत्मा के कारण ही उसमें जीवन और मानवीय गुण हैं। आत्मा के कारण ही मनुष्य में विचार करने की क्षमता और संकल्प शक्ति (Ability to Think and Will Power) है। पशु आत्मा-रहित होने के कारण विचारहीन हैं।

सोलहवीं शताब्दी तक मनोविज्ञान 'आत्मा का विज्ञान' रहा। परन्तु आत्मा क्या है? उसका रंग, रूप और आकार कैसा है? आदि प्रश्नों का सही उत्तर वैज्ञानिक न दे सके। अतः सत्रहवीं शताब्दी में मनोविज्ञान की इस परिभाषा पर विद्वानों को सन्देह होने लगा और इसे अस्वीकार कर दिया गया।

2. मन का विज्ञान (Science of Mind)—जॉन लॉक (1632-1704) ने ब्रिटिश मनोविज्ञान की नींव डाली। उसके मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों ने साहचर्यवाद (Associationism) के रूप में शिक्षा जगत तथा मनोविज्ञान को दो शताब्दियों तक प्रभावित किया। उस समय के मनोवैज्ञानिकों का प्रमुख कर्तव्य यह बताना था कि किन नियमों या सिद्धान्तों के अनुसार विचार (Ideas) मन (Mind) में एक दूसरे से सम्बन्धित हो जाते हैं।

इस प्रकार धीरे-धीरे, मनोविज्ञान में आत्मा का स्थान मन या मस्तिष्क ने ले लिया। अठारहवीं शताब्दी में मनोविज्ञान, आत्मा के स्थान पर मन का विज्ञान अथवा मानसिक जीवन का अध्ययन कहा जाने लगा। लेकिन मन क्या है, इसकी सत्ता क्या है, यह स्थूल है या सूक्ष्म आदि समस्याएँ और प्रश्न, जो आत्मा के साथ जुड़े हुए थे, मन के सम्बन्ध में भी बने रहे। जिस प्रकार 'आत्मा' को परिभाषित करना कठिन था उसी प्रकार 'मन' को परिभाषित करने में भी अनेक कठिनाइयाँ आईं। मन या मस्तिष्क का स्वरूप निश्चित न होने के कारण मनोविज्ञान की कोई प्रगति भी नहीं हो सकी।

3. चेतना का विज्ञान (Science of Consciousness)—अठारहवीं शताब्दी में जर्मनी में विलियम वुंट (William Wundt 1832-1920) ने एक प्रयोगशाला स्थापित की। इस काल में जर्मन विद्वानों ने मनोवैज्ञानिक अध्ययन को

आगे बढ़ाया। उनका कहना था कि प्रत्येक शरीरधारी एक चेतन प्राणी है। प्राणी में चेतना होने के कारण वह अपने वातावरण के प्रति सदैव चैतन्य रहता है और निरन्तर प्रतिक्रियाएँ करता रहता है। उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया चेतना से सम्बन्धित रहती है अतः मनोविज्ञान के अध्ययन का क्षेत्र यही चेतना होनी चाहिए। विलियम जेम्स (William James 1842-1910) आदि विद्वानों ने भी मनोविज्ञान को चेतना का विज्ञान कहा। लेकिन शीघ्र ही चेतना के बारे में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गई। इन विद्वानों ने मनोविज्ञान का क्षेत्र मनुष्य की चेतन क्रियाओं का अध्ययन बताया, किन्तु वे 'चेतन' शब्द की सर्वमान्य व्याख्या एवं परिभाषा न कर सके। दूसरे 'चेतन मन' के अतिरिक्त 'अचेतन मन' और 'अर्द्धचेतन मन' के विचार भी सामने आए। फ्रायड (Freud) के अनुसार 'अचेतन मन' का मनुष्य के कार्यों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अतः अचेतन मन को मनोवैज्ञानिक अध्ययन से पृथक नहीं किया जा सकता। तीसरे, मनुष्य की कुछ क्रियाएँ स्वचालित होती हैं जो चेतना से बाहर रहती हैं किन्तु मनोवैज्ञानिक अध्ययन में हम उन्हें छोड़ नहीं सकते।

4. व्यवहार का विज्ञान (Science of Behaviour)—बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मनोविज्ञान के अनेक अर्थ एवं परिभाषाएँ बताई गई, क्योंकि इस काल में मानव ज्ञान की बहुत तीव्रता से वृद्धि हुई। मनोविज्ञान में अनेक वाद और सम्प्रदाय उत्पन्न हो गए किन्तु इनमें सबसे प्रबल 'व्यवहार वाद' था। अतः सबसे अधिक मान्यता मनोविज्ञान के इसी अर्थ को दी गई "मनोविज्ञान व्यवहार का विज्ञान है"। आज भी मनोविज्ञान मानव व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन करता है। मनोविज्ञान के इन बदलते हुए रूपों को वुडवर्थ ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"सबसे पहले मनोविज्ञान ने आत्मा खोई, फिर इसने मन (मस्तिष्क) का त्याग किया और फिर 'चेतना' खोई। किन्तु इसमें व्यवहार का अध्ययन आज भी विद्यमान है।"[1]

मनोविज्ञान की आधुनिक परिभाषाएँ
(Modern Definitions of Psychology)

स्किनर के अनुसार—"मनोविज्ञान व्यवहार और अनुभव का विज्ञान है।"[2]

मन के अनुसार—"आज का मनोविज्ञान व्यवहार सम्बन्धी वैज्ञानिक खोज करता है।"[3]

वुडवर्थ के अनुसार—"मनोविज्ञान, वातावरण से सम्बन्धित व्यक्ति की क्रियाओं का वैज्ञानिक अध्ययन है।"[4]

मर्फी के अनुसार—"मनोविज्ञान वह विज्ञान है जो शरीर धारियों की उन

---

1 "First psychology lost its soul, then it lost mind, then it lost consciousness; it still has behaviour of a kind." —Woodworth
2 "Psychology is a science of behaviour and experience." —Skinner
3 "Psychology today concerns itself with the scientific investigation of behaviour." —Munn
4 "Psychology is the scientific study of the activities of the individual in relation to his environment." —Woodworth

प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करता है जो कि उनके और वातावरण के बीच घटती है।"[1]

मैक्डूगल के अनुसार—"मनोविज्ञान आचरण एवं व्यवहार का यथार्थ विज्ञान है।"[2]

आजकल सभी मनोवैज्ञानिक इस बात को मानते हैं कि मनोविज्ञान प्राणी के व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन है। इसके अन्तर्गत वे मानव तथा पशु-पक्षी सभी का अध्ययन करते हैं। वुडवर्थ की परिभाषा में वैज्ञानिक अध्ययन की प्रकृति (Nature) का निर्देश नहीं था। वैज्ञानिक अध्ययन की प्रक्रिया दो प्रकार की है। (1) धनात्मक विज्ञान—इसके अन्तर्गत किसी विषय का अध्ययन उसी रूप में किया जाता है, जैसा है। (2) आदर्शात्मक विज्ञान—इसके अन्तर्गत क्या होना चाहिए का अध्ययन किया जाता है। मनोविज्ञान इनमें से प्रथम कोटि में आता है क्योंकि यह व्यवहार का अध्ययन उसी रूप में करता है, जैसा है। क्या होना चाहिये इससे मनोविज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस दृष्टि से मैक्डूगल की परिभाषा अधिक स्पष्ट है, क्योंकि इसने मनोविज्ञान का अध्ययन-विषय मानव तथा पशु-पक्षी का भी व्यवहार माना है और इसे धनात्मक विज्ञान स्वीकार किया है।

मनोविज्ञान को व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन स्वीकार कर लेने के बाद दूसरी समस्या उत्पन्न होती है कि व्यवहार क्या है? मनोविज्ञान में व्यवहार को उसके व्यापक अर्थ में लिया गया है। इसमें अनुभूति, चिन्तन, क्रिया सभी आते हैं। वातावरण में स्थित उद्दीपकों के प्रति प्राणी की प्रतिक्रिया को व्यवहार कहते हैं। (Behaviour is the reactions of organism to the stimuli present in the environment.) प्रत्येक प्राणी हर समय तीन प्रकार के वातावरण से घिरा होता है। (1) भौतिक वातावरण (2) सामाजिक वातावरण (3) मनोवैज्ञानिक वातावरण। तीनों प्रकार के वातावरण उसके व्यवहार को प्रभावित करते रहते हैं। किसी भी वातावरण में परिवर्तन प्राणी के व्यवहार में परिवर्तन कर देता है। विभिन्न वातावरण में स्थित वस्तुयें तथा परिस्थितियाँ जो प्राणी के व्यवहार (अनुभूति, चिन्तन एवं क्रिया) को उत्तेजित करती हैं उन्हें उद्दीपक कहते हैं। किसी उद्दीपक के प्रति प्राणी की प्रतिक्रिया क्या होगी यह प्राणी के मन, शारीरिक दशा, उसकी चेतनता तथा उद्दीपक की तीव्रता पर निर्भर होती है। एक ही उद्दीपक एक ही परिस्थिति में किसी को उद्दीप्त करता है, दूसरे पर कोई प्रभाव नहीं डालता। उदाहरण के लिए यदि कक्षा में एक अध्यापक अचानक घुसते ही बोल उठे कि "कमरे से निकल जाओ।" इस एक ही उत्तेजक वाक्य की अनेक प्रतिक्रियायें देखने को मिलेंगी— कुछ बाहर जाने लगेंगे, कुछ आश्चर्य में पड़ जायेंगे, कुछ सोचने लगेंगे ऐसा क्यों कर रहे हैं—कुछ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

इस प्रकार मनोविज्ञान व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन है। अथवा यों यह

1 "Psychology is the science which deals with the mutual interaction between an organism and environment." —Murphy

2 "Psychology is the positive science of conduct and behaviour." —McDougall

सकते हैं कि वातावरण में स्थित उद्दीपकों के प्रति प्राणी की प्रतिक्रियाओं का वैज्ञानिक अध्ययन ही मनोविज्ञान है।

वैज्ञानिक अध्ययन की चार मूल विशेषताएँ होती हैं: (1) वस्तुनिष्ठता—इसका तात्पर्य यह है कि समान परिस्थितियों में अध्ययन करने वाले सभी एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। (2) सत्यापनशीलता—वैज्ञानिक अध्ययन की परिस्थितियाँ ज्ञात होती हैं। हम उनका सत्यापन कर सकते हैं। (3) निश्चितता—वैज्ञानिक विधि से प्राप्त निष्कर्षों में निश्चितता होती है और (4) भविष्य-कथन-क्षमता—परिस्थितियाँ एवं उत्तेजक के ज्ञात होने पर वैज्ञानिक अध्ययन के माध्यम से मनोविज्ञान में भविष्य कथन करना सरल होता है।

मनोवैज्ञानिक अध्ययन में वस्तुनिष्ठता होती है, सत्यापनशीलता होती है, निश्चितता होती है तथा भविष्य कथन भी करते हैं। इसी कारण यह पद्धति वैज्ञानिक है और इसे विज्ञान माना जाता है।

मनोवैज्ञानिक अध्ययन के आवश्यक तत्व

1. मनोविज्ञान एक शुद्ध विज्ञान की भाँति मानव की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं में कारण और कार्य अथवा परिणाम (Cause and work or Effect) के सम्बन्धों की विवेचना करता है।

2. मनोवैज्ञानिक अध्ययन में मानव मन की ज्ञानात्मक (Cognitive) चेष्टाओं, जैसे अवधान, प्रत्यक्षीकरण, स्मरण, तर्क, कल्पना आदि के साथ-साथ संवेगात्मक अनुभूतियों का भी अध्ययन किया जाता है।

3. मनोविज्ञान में शिशु अथवा प्रौढ़ व्यक्ति को एक मनोदैहिक (Psycho-physical Organism) प्राणी मानकर अध्ययन किया जाता है। उसके व्यवहार दो प्रकार के होते हैं—एक स्वाभाविक और दूसरा अर्जित अर्थात् सीखा हुआ।

4. मनोविज्ञान के अध्ययन की अधिकांश सामग्री मानव व्यवहार (उसकी क्रिया, प्रतिक्रिया, शारीरिक एवं मानसिक चेष्टाएँ) हैं, किन्तु इसका लक्ष्य मानव मन की संरचना, उसकी विलक्षणताएं और कार्यप्रणाली ज्ञात करना है। अतः मन (Mind) का मनोविज्ञान में अब भी एक स्थान है।

5. चेतना मानव-मन की एक दशा (State) है अतः जहाँ मन (Mind) की व्याख्या की जाती है वहाँ उसके साथ-साथ चेतना के विभिन्न स्तर, जैसे अधोचेतन मन, अर्द्धचेतन मन या चेतन मन की भी चर्चा होती है।

6. मानव-व्यवहार के विश्लेषण के साथ-साथ मनोविज्ञान में पशुओं के व्यवहार का भी अध्ययन किया जाता है क्योंकि बहुत से प्रयोग एवं निरीक्षण पशुओं पर अधिक सरलता से हो सकते हैं। अन्य पदार्थ विज्ञानों की भाँति मनोविज्ञान भी प्रयोग, निरीक्षण तथा परीक्षण की वैज्ञानिक विधियों पर निर्भर करता है। इसके विश्लेषण और निष्कर्ष पदार्थ विज्ञानों की भाँति सुनिश्चित नहीं हो सकते। पदार्थ विज्ञानों में सर्वव्यापकता के लक्षण देखने को मिलते हैं जबकि मनोविज्ञान में वैयक्तिक भिन्नताएँ देखने को मिलती हैं। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि मनोविज्ञान अन्य विज्ञानों की भाँति किसी पदार्थ का अध्ययन नहीं करता, बल्कि मानव व्यवहार का अध्ययन करता है इसलिए अन्य विज्ञानों से भिन्न है।

7. मनोविज्ञान में मानव-व्यवहार का अध्ययन उसके वातावरण के परिवेश में किया जाता है क्योंकि मनुष्य की अधिकांश अनुक्रियाएँ (Responses) वातावरण के प्रति होती हैं। यह वातावरण—सामाजिक, मनोवैज्ञानिक तथा भौतिक तीन प्रकार का होता है।

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में मानव-ज्ञान की बहुत तीव्रता से वृद्धि हुई और अनेक नवीन विज्ञानों का जन्म हुआ। इनमें से कुछ विज्ञान मनुष्य के भौतिक वातावरण के तत्वों का और कुछ सामाजिक वातावरण के तत्वों का अध्ययन करते हैं। ज्ञान की ये नवीन शाखाएँ एक दूसरे की पोषक हैं। इनके परस्पर अध्ययन से एक-दूसरे को समझने में सहायता मिलती है। अतः मनोविज्ञान के विकास में सहायक और इससे घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले विज्ञानों का उल्लेख नीचे किया गया है।

मनोविज्ञान तथा अध्ययन के अन्य क्षेत्र (Psychology and other Fields of Study)

(i) मनोविज्ञान तथा जीव विज्ञान (Psychology and Biological Sciences)—मानव-व्यवहार की वैज्ञानिक व्याख्या करने में शरीर रचना विज्ञान (Anatomy), कायकी (Physiology), आनुवंशिकता (Heredity) तथा प्रजनन-शास्त्र (Genetics) आदि विज्ञानों से विशेष सहायता मिलती है। शरीर के विभिन्न अंगों की रचना, उनकी कार्यप्रणाली, उनके पारस्परिक सम्बन्ध तथा उनकी क्षमताओं का क्रमिक विकास आदि समस्याओं पर ये विज्ञान यथेष्ट प्रकाश डालते हैं। मनुष्य का बाहरी व्यवहार उसके शरीर की अन्तर्वर्ती आंगिक व्यवस्था से सीधा सम्बन्ध रखता है। अन्दर की व्यवस्था जैसे—भूख लगना, भोजन का पचना, श्वास लेना, रक्त संचार, अंगों की वृद्धि एवं परिपक्वता तथा आन्तरिक रसस्राव आदि बातें मानव व्यवहार को प्रभावित करती हैं।

(ii) मनोविज्ञान और समाज विज्ञान (Psychology and Sociology)—समाज विज्ञान सामूहिक रूप से मानव क्रियाओं पर विचार करता है। इसके अन्तर्गत सामाजिक संस्थाएँ, रीति-रिवाज, परम्पराएँ, रूढ़ियाँ, संस्कृति व सभ्यता आदि का अध्ययन किया जाता है। यद्यपि मनोविज्ञान में व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है, व्यक्ति को समाज से पृथक नहीं रखा जा सकता। वह एक सामाजिक प्राणी है और सामाजिक दशाओं में ही उसके अधिकांश व्यवहार का प्रकाशन होता है। उसका व्यवहार उपर्युक्त सामाजिक दशाओं से पूरी तरह प्रभावित रहता है। सामाजिक वातावरण के परिवेश में ही एक मनोवैज्ञानिक उसके व्यवहार का सही अध्ययन कर सकता है। मनोविज्ञान की एक विशिष्ट शाखा सामाजिक मनोविज्ञान (Social Psychology) है।

(iii) मनोविज्ञान और दर्शनशास्त्र (Psychology and Philosophy)—किसी समय मनोविज्ञान दर्शनशास्त्र का एक अभिन्न अंग था। अतः मनोविज्ञान और दर्शन का प्राचीन घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह दोनों मानव व्यवहार एवं आचरण की व्याख्या करते हैं। जहाँ अनेक मानसिक समस्याओं का समाधान मनोवैज्ञानिक नहीं कर पाते, वहाँ दर्शनशास्त्र इन समस्याओं का युक्तिपूर्ण विवेचन प्रस्तुत करता है।

मनोविज्ञान व्यक्तिगत मन का अध्ययन करते हुए मानव-स्वभाव का विश्लेपण करता है। मानवमात्र के लिए जीवन में क्या सत्य, शिव एवं सुन्दर है, आदि बातों का युक्तिपूर्ण विवेचन दर्शनशास्त्र प्रस्तुत करता है।

(iv) **मनोविज्ञान और सामाजिक विज्ञान (Psychology and Social Sciences)**—आधुनिक मनोविज्ञान का सामाजिक विज्ञान जैसे—इतिहास, भूगोल, राजनीतिशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, अर्थशास्त्र, मानव विज्ञान (Anthropology), युद्ध-विज्ञान, धर्म और कानून आदि से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन सभी विषयों के अन्तर्गत मनुष्य के सामाजिक व्यवहार को विभिन्न क्षेत्रों में बाँटकर उसका अध्ययन किया जाता है। व्यवहार के इन विभिन्न क्षेत्रों में मनुष्य की मनोदशाएँ किस प्रकार प्रभावित होती हैं और इन क्षेत्रों में विद्यमान परिस्थितियाँ अथवा कारक व्यक्ति और समूह के व्यवहार को कहाँ तक नियन्त्रित करते हैं और इनके कारण व्यक्ति के व्यवहार में क्या अन्तर आ जाते हैं, इन सब बातों का अध्ययन मनोविज्ञान से सम्बन्धित है।

मनोविज्ञान की शाखाएँ
(Branches of Psychology)

आधुनिक मनोविज्ञान जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में शैशव-काल से लेकर वृद्धावस्था तक मानव के व्यवहार का अध्ययन करता है। अतः इन विशिष्ट परिस्थितियों में मानव व्यवहार एवं मनोदशाओं का विश्लेपण एवं व्याख्या करना व्यावहारिक मनोविज्ञान (Applied Psychology) का कार्य है। जैसे—

(i) **बाल मनोविज्ञान (Child Psychology)**—इसमें शैशवावस्था से किशोरावस्था तक बाल-मन एवं व्यवहार के क्रमिक विकास का अध्ययन किया जाता है।

(ii) **शिक्षा मनोविज्ञान (Educational Psychology)**—इसमें शिक्षा अथवा सीखने के क्षेत्र से सम्बन्धित परिस्थितियों में मानव व्यवहार एवं आचरण का अध्ययन किया जाता है।

(iii) **असामान्य मनोविज्ञान (Abnormal Psychology)**—इसमें उन व्यक्तियों की मनोदशा एवं व्यवहार का अध्ययन किया जाता है जो सामान्य व्यवहार करने में असमर्थ हैं अथवा किसी मनोविकार से पीड़ित हैं।

(iv) **सामाजिक मनोविज्ञान (Social Psychology)**—इसमें सामाजिक परिस्थितियों अथवा समूह में व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है।

(v) **औद्योगिक मनोविज्ञान (Industrial Psychology)**—इसमें उद्योगशालाओं की परिस्थिति में मानव-व्यवहार का विश्लेपण एवं अध्ययन किया जाता है।

(vi) **धर्म सम्बन्धी मनोविज्ञान (Religious Psychology)**—इसमें धार्मिक वातावरण में मनुष्य के आचरण का अध्ययन किया जाता है और मनुष्य के व्यवहार में धार्मिक प्रवृत्तियों की व्याख्या की जाती है।

इसी प्रकार चरित्र मनोविज्ञान (Psychology of Character); व्यक्तित्व मनोविज्ञान (Psychology of Personality); किशोर मनोविज्ञान (Adolescent Psychology); अपराध मनोविज्ञान (Psychology of Crime); सीखने का

मनोविज्ञान (Psychology of Learning); पशु मनोविज्ञान (Animal Psychology); मापन एवं मूल्यांकन मनोविज्ञान (Psychology of Measurements) आदि मनोवैज्ञानिक अध्ययन के विशिष्ट क्षेत्र हैं जिनमें मानव व्यवहार के किसी एक पहलू का विस्तृत अध्ययन किया जाता है।

परीक्षा-सम्बन्धी प्रश्न

1. मनोविज्ञान क्या है ? मनोविज्ञान के विकास ने शिक्षा प्रक्रिया को किस प्रकार प्रभावित किया है ?
2. शिक्षा तथा मनोविज्ञान की परिभाषा एवं व्याख्या कीजिए। (आगरा वि० वि० 1964)
3. मनोविज्ञान के बदलते हुए रूपों का वर्णन कीजिए और बताइए कि वर्तमान जीवन में मनोविज्ञान का क्षेत्र क्या है ?
4. शिक्षा मनोविज्ञान तथा मनोविज्ञान के अन्य क्षेत्रों में क्या सम्बन्ध है ? मनोविज्ञान की विभिन्न शाखाओं से शिक्षा मनोविज्ञान को क्या लाभ हैं ?

2

शिक्षा मनोविज्ञान का विकास, अर्थ, प्रकृति व क्षेत्र
(DEVELOPMENT OF EDUCATIONAL PSYCHOLOGY, MEANING, NATURE AND SCOPE)

शिक्षा मनोविज्ञान का विकासात्मक इतिहास
(Developmental History of Educational Psychology)

प्राचीन काल में शिक्षा मनोविज्ञान—प्राचीन यूनानी दार्शनिकों ने मानव-स्वभाव पर काफी चिन्तन और मनन किया था। यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में मानव-स्वभाव का विश्लेषण करते हुए शिक्षा के उद्देश्यों का उल्लेख किया है। उसके अनुसार किसी भी शिक्षक को विषय-वस्तु के ज्ञान के साथ-साथ अपने विद्यार्थी के स्वभाव की जानकारी भी होनी चाहिए। प्लेटो के अनुसार मानव व्यवहार के तीन प्रमुख आधार हैं—(i) इच्छा (Desire), (ii) संवेग (Emotion) और (iii) ज्ञान (Knowledge)। इच्छा, आवेग, क्षुधा और प्रवृत्ति एक ही वस्तु है। इसी प्रकार ज्ञान, विचार, बुद्धि और तर्क एक ही वस्तु हैं। इच्छा मूलतः लैंगिक है और शक्ति का विशाल संग्रहालय है। संवेग रक्त परिभ्रमण के साथ हृदय से सारे शरीर में फैलकर उसे अभिभूत कर देता है। इसमें मानव मन की इच्छाओं और अनुभूतियों की प्रतिध्वनि होती है। ज्ञान का स्थान मस्तिष्क है। यह इच्छाओं का पथ प्रदर्शक और आत्मा का मार्ग निर्देशक है।[1]

कुछ व्यक्तियों में इच्छाओं की प्रधानता रहती है और वे भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए बेचैन रहते हैं। कुछ व्यक्ति संवेग प्रधान होते हैं। इनमें भावुकता, साहस और विजयोल्लास का प्रकाशन होता है। कुछ व्यक्तियों में ज्ञान पिपासा ही प्रमुख होती है। वे ज्ञान के माध्यम से जीवन और इसकी समस्याओं को समझने में जुटे रहते हैं। प्लेटो के अनुसार विद्यार्थी को ज्ञानार्जन कराते समय उसके मन पर अस्वाभाविक रूप से किसी प्रकार का दबाव नहीं डालना चाहिए। विवशता और परतन्त्रता के वातावरण में प्राप्त किया हुआ ज्ञान मन (Mind) के अधिकार में नहीं रहता।

---

1 "Human behaviour, says Plato, flows from three main sources: desire, emotion and knowledge. Desire, appetite, impulse, instinct—these are one; knowledge, thought, intellect, reason—these are one. Desire has its seat in the loins; it is a bursting reservoir of energy, fundamentally sexual. Emotion has its seat in the heart, in the flow and force of the blood; it is the organic resonance of experience and desire. Knowledge has its seat in the head; it is the eye of desire and can become the pilot of the soul."

—Will Durant : *The Story of Philosophy*

प्लेटो के पश्चात् अरस्तू ने मानव-स्वभाव के विश्लेषण और व्याख्या को जारी रखा। उसका कहना था कि व्यक्ति के व्यवहार पर उसके आस-पास की परिस्थितियों और वातावरण का गहरा प्रभाव पड़ता है। उसने कहा कि "पर्यावरण में विद्यमान पदार्थ ऐसी चेष्टाएँ उत्पन्न करते हैं जो व्यक्ति की ज्ञानेन्द्रियों तक और ज्ञानेन्द्रियों से उसके हृदय तक पहुँचती हैं।" इन चेष्टाओं का जो प्रभाव मन या हृदय पर स्थिर रह जाता है, वही विचार बन जाता है। यही विचार परस्पर सम्बन्धित होकर विचार प्रक्रिया (Thinking Process) को जन्म देते हैं। यही विचार मनुष्य के भावी व्यवहार, तर्क और कल्पना को प्रभावित करते रहते हैं। मनुष्य की इन अमूर्त शक्तियों (Abstract Powers) का केन्द्र उसकी आत्मा होती है। अन्य शरीरधारियों की अपेक्षा मनुष्य में उसकी आत्मा, तर्क और विचार करने की शक्तियों का पुंज होती है। पशुओं की अपेक्षा मनुष्य अनुकरण (Imitation) करके अधिक आनन्दित होता है। अनुकरणात्मक कार्यों में उसकी रचनात्मक और कलात्मक प्रवृत्तियों का प्रकाशन होता है। वह अनुकरण द्वारा भाषा सीखता है। भाषा के सहारे समाज में प्रवेश करता है। समाज में रहकर उसकी बुद्धिमत्ता का विकास एवं प्रकाशन होता है। इसी बुद्धि के द्वारा वह अपने आस-पास व्यवस्था बनाए रखता है। व्यवस्थित और अनुशासित मानव समाज में सभ्यता फलती-फूलती है।[1]

आत्मा अमूर्त शक्तियों का पुंज है—अरस्तू का यह विचार आगे चलकर शक्ति मनोविज्ञान (Faculty Psychology) का आधार बना।

शक्ति मनोविज्ञान
(Faculty Psychology)

अंग्रेजी का 'फैकल्टी' शब्द लैटिन भाषा के 'फैकल्टास' से बना है जिसका अर्थ है 'काम करने की शक्ति' अथवा 'योग्यता'। अरस्तू द्वारा प्रतिपादित आत्मा (मन) की पाँच शक्तियों ने शक्ति मनोविज्ञान को जन्म दिया। अठारहवीं शताब्दी में क्रिश्चियन वुल्फ तथा थॉमस रीड ने शक्ति मनोविज्ञान का प्रसार किया किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में अरस्तू द्वारा प्रतिपादित पाँच के स्थान पर केवल तीन शक्तियाँ मानी जाने लगीं—ज्ञान, अनुभूति और चेष्टा (Knowing, Feeling and Willing.)

औपचारिक अनुशासन
(Formal Discipline)

शक्ति मनोविज्ञान ने शिक्षा के क्षेत्र में एक नयी धारणा को जन्म दिया। यह विश्वास किया जाने लगा कि मन की शक्तियों को (जैसे—स्मरण, तर्क, कल्पना, इच्छा शक्ति, एवं निरीक्षण शक्ति आदि) अभ्यास एवं प्रशिक्षण द्वारा प्रबल बनाया जा सकता है। किसी ने कहा है कि रेखागणित के अध्ययन से प्रत्ययात्मक विचार (Conceptual Thinking) करने की क्षमता सुदृढ़ होती है। जॉन लॉक ने बताया कि गणित से तर्क शक्ति का विकास होता है। फ्रांसिस बेकन आदि अंग्रेज लेखकों ने

1 "Through speech man evolved society, through society intelligence, through intelligence order, and through order civilization."

इस धारणा को सुन्दर ढंग से प्रसारित किया। परिणामस्वरूप विभिन्न विषयों के पृथक-पृथक मूल्य मानसिक शक्तियों को प्रबल एवं प्रखर बनाने की दृष्टि से आँके जाने लगे।

विचार साहचर्य
(Association of Ideas)

अरस्तू ने सबसे पहले मन में विचारों के परस्पर सम्बन्धित होने और उसके परिणामस्वरूप मन में विचार प्रक्रिया के जन्म की बात कही थी। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में इस धारणा की अधिक विस्तृत व्याख्या क्रमशः डेविड ह्यूम, थॉमस ब्राउन तथा मिल के द्वारा की गयी। इनका कहना था कि मानव मन (Human Mind) अनेक प्रकार के विचारों, भावनाओं, अनुभूतियों कल्पनाओं तथा उद्दीप्तियों का सम्मिश्रित रूप है। इस काल के शिक्षा मनोवैज्ञानिकों का मुख्य कार्य मन का विश्लेषण करते हुए यह बताना था कि किन दशाओं में ये विचार और भाव मन में एक-दूसरे से सम्बन्धित होकर मानसिक जीवन का अंग बन जाते हैं। इस काल में साहचर्य के नियमों (Laws of Association) की व्यापक खोजें की गई। शिक्षा मनोवैज्ञानिकों ने मनोविज्ञान की इस प्रबल धारणा को व्यावहारिक शिक्षण अथवा कक्षा कार्य में उत्साह से लागू किया। जिसके फलस्वरूप हरबर्ट की शिक्षा प्रणाली का जन्म हुआ। हरबर्ट की शिक्षण विधि पूर्वार्जित ज्ञान (Apperception) के सिद्धान्त पर आधारित थी। हरबर्ट के अनुसार अध्यापक का प्रमुख कार्य नवीन ज्ञान को बालक के पूर्वार्जित ज्ञान से इस प्रकार सम्बन्धित करना था कि नवीन ज्ञान उसके मानसिक जीवन का स्थायी अंग बन जाए। साहचर्य के नियमों को कक्षा शिक्षण में लागू करना अध्यापन कला का महत्वपूर्ण अंग समझा जाने लगा। आगे चलकर साहचर्यवाद का स्थान संयोजनवाद (Connectionism) ने ले लिया। शिक्षा मनोवैज्ञानिकों ने पशुओं पर अनेक प्रयोग करके सीखने के क्षेत्र में उद्दीपन-अनुक्रिया सिद्धान्त (Stimulus-response Theory) और इससे सम्बन्धित नियमों की व्याख्या की। थॉर्नडाइक ने विचारों के सम्बन्ध अथवा साहचर्य के स्थान पर उत्तेजना और अनुक्रिया के सम्बन्धों की चर्चा की। थॉर्नडाइक के सीखने के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या आगे सीखने से सम्बन्धित अध्याय में की जायगी। इसी प्रकार साहचर्य से सम्बन्धित नियमों की व्याख्या स्मृति (Memory) के अन्तर्गत की जायगी।

आधुनिक काल में शिक्षा मनोविज्ञान

आधुनिक युग में शिक्षा मनोविज्ञान के विकास का वर्णन करते हुए स्किनर ने लिखा है कि—"शिक्षा मनोविज्ञान का आरम्भ अरस्तू के समय से माना जा सकता है। परन्तु शिक्षा मनोविज्ञान की एक वैज्ञानिक रूप में उत्पत्ति यूरोप में पेस्टालॉजी, हरबर्ट और फ्रॉबेल के कार्यों से हुई जिन्होंने शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया। लेकिन शिक्षा में मनोवैज्ञानिक आन्दोलन का सूत्रपात करने का श्रेय रूसो (1712-1778) को है। रूसो ने अपने शिक्षा ग्रन्थ 'एमिली' (Emily) में एक काल्पनिक बालक एमिली की शिक्षा व्यवस्था का विस्तृत वर्णन करते हुए लिखा है—'बालक एक पुस्तक है जिसे प्रत्येक शिक्षक को

आद्योपान्त पढ़ना चाहिए।" रूसो द्वारा छेड़े गए इस आन्दोलन को उ[illegible]
और कर्मठ अनुयायियों पेस्टालॉजी, हरबर्ट तथा फ्रॉबेल ने कुशलतापू[illegible]
सफलता के साथ आगे बढ़ाया। रूसो के इन विचारों से प्रेरित होकर पे[illegible]
(1746-1827) ने स्पष्ट घोषणा की कि उसके कार्यों का एकमात्र उद्देश्य [illegible]
का मनोवैज्ञानीकरण करना है और पेस्टालॉजी ने शिक्षा में स्वतन्त्र वाताव[illegible]
माँग की ताकि बालक स्वाभाविक ढंग से आत्म प्रकाशन करता हुआ [illegible]
अनुभव द्वारा सीख सके। फ्रॉबेल (Froebel, 1782-1852) ने बाल[illegible]
सामाजिक स्वभाव और उसकी मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की ओर [illegible]
आकर्षित करते हुए, जर्मनी की किन्डरगार्टन शिक्षा प्रणाली की स्थापना की। फ्रॉबेल[illegible]
अपनी पुस्तक 'एजूकेशन ऑफ मैन' (Education of Man-1826) में आत्मक्रि[illegible]
द्वारा बालक की शिक्षा की रूपरेखा प्रस्तुत की जोकि बालोद्यान (Kindergarten[illegible]
शिक्षा प्रणाली की मुख्य विशेषता है। तत्कालीन शिक्षाशास्त्रियों ने यूरोप के सभ[illegible]
देशों में बालक को विद्यालयों के परम्परागत कठोर नियन्त्रण और किताबी ज्ञान
के भार से मुक्त कराने की जोरदार माँग की। इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप
शिक्षा में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। पहले से चली आई शिक्षा या तो गुरु केन्द्रित
(Teacher Centred) या पुस्तक केन्द्रित (Book Centred) थी। [illegible] शिक्षा का
स्थान धीरे-धीरे बाल केन्द्रित (Child Centred) [illegible] हरबर्ट ने
कक्षा-शिक्षण के कार्य को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया [illegible]
सफलता दिलाने का श्रेय इटली की डाक्टर मॉन्टेसरी [illegible]
प्राप्त हुआ। मॉन्टेसरी ने एक सफल शिक्षक [illegible]
हुए लिखा है—"शिक्षक को प्रयोग [illegible]
है, उतना ही अधिक वह जानता है कि [illegible]
में इन्द्रिय प्रशिक्षण (Sense Tr[illegible]
कि ज्ञानेन्द्रियाँ ही सीखने का द्वार है [illegible]

उन्नीसवीं शताब्दी [illegible]
के लिए प्रयोग और परीक्षण [illegible] मनोविज्ञान
[illegible] काल था। मनोवैज्ञानिक [illegible]
कर दिया था और इस [illegible] प्रारम्भ
लगा। इस दिशा में [illegible] कथा ज्ञान
प्रयोगात्मक मनोविज्ञान [illegible] उन्होंने
संवेदना मात्र [illegible] और इन्द्रिय
किया। वेबर [illegible]
ने इन्द्रियसंवेदना [illegible]
Mind) [illegible]
[illegible]
[illegible] (Darwin, 1859 [illegible]

और शिक्षाविदों का ध्यान आकर्षित किया। डार्विन के भाई गाल्टन (Galton, 1822-1911) ने वंशानुक्रम का सामाजिक दृष्टि से अध्ययन कर शिक्षा में इसका महत्व बताया। इसी बीच वुंट (Wundt, 1832-1920) महोदय ने लीपजिग (Leipzig) में एक मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला स्थापित करके अनेक ऐसी खोजें की जिनके परिणामों का शिक्षा में प्रयोग किया जाने लगा। स्टेनले हॉल (Stanley Hall, 1844-1924) ने अपनी मनोवैज्ञानिक खोजों में प्रश्नावली विधि (Questionnaire Method) का व्यापक प्रयोग किया। उनकी खोजों का मुख्य क्षेत्र 'बाल व्यवहार' था, विशेषकर उनकी पुस्तक 'किशोरावस्था' (Adolescence) 1904 में प्रकाशित हुई जिसमें पुनरावर्तन सिद्धान्त (Recapitulation Theory) के रूप में विकासवाद के सिद्धान्तों को बालक और किशोरों की शिक्षा प्रक्रिया पर लागू किया गया था। इस काल के मनोवैज्ञानिकों (जैसे कार्लग्रूस, स्टाउट, फ्रायड और थॉर्नडाइक इत्यादि) ने बड़े उत्साह से जीवशास्त्र और विकासवाद की नवीन जानकारियों को शिक्षा और मनोविज्ञान में लागू किया।

उधर अमेरिका में थॉर्नडाइक (1898) ने सबसे पहले पशुओं पर बुद्धिमत्ता और सीखने से सम्बन्धित परीक्षण शुरू किए। हक्सले (Huxley, 1825-1895) और स्पेन्सर (Spencer, 1820-1903) ने तत्कालीन विद्वानों में विज्ञान के प्रति अटूट श्रद्धा उत्पन्न की और शिक्षालयों के पाठ्यक्रम में वैज्ञानिक विषयों को उचित स्थान दिलवाया। थॉर्नडाइक द्वारा प्रतिपादित सीखने के नियम शीघ्रता से व्यावहारिक शिक्षण में लागू किए गए। उन्नीसवीं शताब्दी के समाप्त होने तक शिक्षा-मनोविज्ञान पूरी तरह वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्राप्त कर चुका था। प्रयोजनवादी विलियम जेम्स (1842-1910) ने शिक्षा मनोविज्ञान की अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं, जैसे—स्मृति, सीखने में स्थानान्तरण, संवेग आदि पर मौलिक प्रयोग करने आरम्भ कर दिए थे। जॉन डेवी (John Dewey) ने विचार प्रक्रिया पर महत्वपूर्ण प्रयोग किए। इन प्रयोगों के फलस्वरूप शिक्षा मनोविज्ञान में संरचनात्मक अध्ययन (Structural Study) के स्थान पर कार्यात्मक अध्ययन (Functional Study) पर अधिक बल दिया जाने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी समाप्त होने से पहले शिक्षा मनोविज्ञान एक और महत्वपूर्ण कदम बुद्धि परीक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ा चुका था। एबिंगहॉस (Ebbinghaus, 1853-1909) द्वारा निर्मित अनेक बुद्धि परीक्षाएँ, आधुनिक बुद्धि परीक्षाओं की अग्रणी थीं। एल्फ्रेड बिने (Afred Binet, 1857-1911) ने डॉ० साइमन के सहयोग से बुद्धि परीक्षा की रचना की। कैटिल (Cattell, 1860-1944) ने व्यक्तिगत भेद और उनका आधार बुद्धिमत्ता का मूल्यांकन करने के लिए वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं की रचना की। इन बुद्धि परीक्षाओं के परिणामों को अधिक विश्वसनीय बनाने के लिए कार्ल पीयरसन (Karl Pearson, 1857-1936) ने अनेक सांख्यिकीय विधियों, जैसे—सहसम्बन्ध गुणांक आदि, को शैक्षिक प्रदत्तों पर लागू किया।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में, बुद्धि परीक्षण के क्षेत्र में बहुत प्रगति हुई और इस क्षेत्र का अत्यधिक विस्तार भी हुआ। अनेक प्रकार की बुद्धि परीक्षाएँ, मनोवैज्ञानिकों द्वारा, शिक्षा और इससे सम्बन्धित क्षेत्रों में प्रयोग की जाने लगीं।

बीसवी शताब्दी के प्रथम दो दशाब्द शिक्षा मनोविज्ञान के क्षेत्र मे नये सिद्धान्तों और वादों के प्रतिष्ठान का समय है। वाटसन (Watson. J. B —1878) और पैवलॉव (Pavlov I P., 1849-1936) ने मनोविज्ञान में व्यवहारवाद (Behaviourism) की स्थापना की। इसी प्रकार कोफ्का (Koffka. 1886-1941), कोहलर (W. Kohler, 1887) तथा लुइन (K. Lewin, 1890-1947) आदि ने अवयवीवाद (Gastalt School) को आगे बढ़ाया। शिक्षा मनोविज्ञान में अवयवीवाद ने चेतना के विश्लेषणात्मक अध्ययन का विरोध किया। इन्होने व्यवहारवादियों के उत्तेजना-अनुक्रिया सिद्धान्त (S-R Theory) का भी खण्डन किया क्योंकि इसमे सीखने की प्रक्रिया का अप्राकृतिक ढग से विश्लेषण किया गया था। इन्होंने सीखने की क्रिया मे अनुभूति और वातावरण की सम्पूर्णता पर विशेष बल दिया।

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक काल मे मनोविज्ञान के एक और सम्प्रदाय मनोविश्लेषणवाद (Psychoanalytical School) का तेजी से उत्थान हुआ। फ्रायड (1856-1939), एडलर (Adler, 1870-1937) और युंग (Jung, 1875-1961) ने इसकी नीव डाली थी, किन्तु शीघ्र ही मनोविश्लेषणवादियों के भी पृथक दल बन गए। इन्होंने चेतन मन की अपेक्षा अचेतन मन की शक्तियों एव प्रेरणाओं के अध्ययन पर विशेष बल दिया। इन्होने अधोचेतन मन (जिसमें व्यक्तित्व विकास की मूल प्रेरणाएँ निहित रहती हैं) के रहस्यो का रोचक ढग से उद्घाटन किया और व्यक्तित्व मे उत्पन्न होने वाले विकारो की युक्तिपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की। इस प्रकार शिक्षा मनोविज्ञान मे व्यक्तित्व अध्ययन और मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्रों मे इस सम्प्रदाय का विशेष योगदान रहा। मैक्डूगल (1871-1938) और नन (T. P. Nunn) ने शिक्षा मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रयोजनवाद (Purposive or Hormic School) का समर्थन किया। मनोविश्लेषणवादियों की भाँति प्रयोजनवादी भी मानव व्यवहार के पीछे जन्मजात प्रवृत्तियां को मानते हैं। ये प्रवृत्तियाँ हमारे स्थायी भावो (Sentiments or Emotional Habits) के मूल में रहती हैं और स्थायी भाव के बनने पर व्यवहार एक विशेष दिशा मे (लक्ष्य की ओर) अग्रसर होता रहता है। शिक्षा मनोविज्ञान के क्षेत्र में इन्होने बालक के चारित्रिक विकास, सामूहिक जीवन, आदतो, रुचियो आदि का अध्ययन प्रस्तुत किया।

विभिन्न सम्प्रदायों के होते हुए भी शिक्षा मनोविज्ञान की तीव्रगति से होने वाली प्रगति मे कोई बाधा नही पड़ी, बल्कि इन विभिन्न वादो के अनुयायियों ने मनोविज्ञान के विभिन्न क्षेत्रो को निरीक्षण, परीक्षण और प्रयोग द्वारा सम्पन्न बनाया। इस काल मे बुद्धि परीक्षा, व्यक्तित्व का मूल्यांकन एव समायोजन, सीखने की प्रक्रिया, प्रेरणा, सीखने में स्थानान्तरण, अभिसंधानित प्रतिक्रिया, पिछड़े एव समस्यात्मक बालको का अध्ययन, बाल विकास की विलक्षणताओं और स्मृति के क्षेत्रों मे वैज्ञानिक खोजें की गई। इन खोजों के परिणामो को शिक्षा मनोवैज्ञानिको ने यथासम्भव शीघ्रता से शिक्षा मे लागू किया। इस प्रकार कहा जा सकता है कि बीसवी शताब्दी का पूर्वार्द्ध शिक्षा-मनोविज्ञान के इतिहास का स्वर्णकाल था।

सक्षेप मे हम कह सकते है कि आधुनिक शिक्षा मनोविज्ञान, एक स्वतन्त्र विज्ञान के रूप मे मनोविज्ञान के सिद्धान्तो को, शिक्षा के क्षेत्र मे, प्रयोग, निरीक्षण

और परीक्षण द्वारा अधिक उपयोगी और विश्वसनीय तो बनाता ही है, साथ ही साथ शिक्षा मनोवैज्ञानिक भी शैक्षिक परिस्थितियों में बाल-मन और बाल-व्यवहार का व्यवस्थित निरीक्षण करके शिक्षा प्रक्रिया को अधिक उपयोगी एवं प्रभावशाली बना रहे हैं।[1]

शिक्षा मनोविज्ञान का अर्थ
(Meaning of Educational Psychology)

शिक्षा मनोविज्ञान का शाब्दिक अर्थ है—शिक्षा प्रक्रिया से सम्बन्धित, अथवा शिक्षा के क्षेत्र में प्रयुक्त मनोविज्ञान। स्पष्ट है कि यह मनोविज्ञान का व्यावहारिक रूप है। आधुनिक शिक्षा मनोवैज्ञानिक इसे मनोविज्ञान की एक व्यावहारिक शाखा मानते हैं जिसमें मनोविज्ञान के सिद्धान्तों, नियमों और विधियों को, शिक्षा जैसी सामाजिक प्रक्रिया पर लागू किया जाता है। इसके अतिरिक्त एन्डरसन के अनुसार शिक्षा मनोविज्ञान की अपनी विषयवस्तु भी है। इसकी अपनी अध्ययन विधियाँ, खोज पद्धतियाँ और अन्वेषण के क्षेत्र हैं। स्किनर के शब्दों में "शिक्षा मनोविज्ञान अपना अर्थ शिक्षा से जोकि एक सामाजिक प्रक्रिया है, और मनोविज्ञान से जोकि एक व्यवहार सम्बन्धी विज्ञान है, ग्रहण करता है।"[2]

जे० एम० स्टीफन के अनुसार—"शिक्षा-मनोविज्ञान शैक्षणिक विकास का क्रमिक अध्ययन है।"[3]

कॉलसनिक के अनुसार—"शिक्षा-मनोविज्ञान, मनोविज्ञान के सिद्धान्तों और अनुसन्धान का शिक्षा में प्रयोग है।"[4]

सी० एच० जुड के अनुसार—"शिक्षा मनोविज्ञान जन्म से लेकर प्रौढ़ावस्था तक, विकास की विभिन्न दशाओं में गुजरते हुए, व्यक्तियों में होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या एवं वर्णन करने वाला विज्ञान है।"[5]

क्रो एवं क्रो के अनुसार—"शिक्षा मनोविज्ञान व्यक्ति के जन्म से वृद्धावस्था तक सीखने के अनुभवों का वर्णन एवं व्याख्या करता है।"[6]

स्किनर ने भी लगभग इसी आशय से शिक्षा मनोविज्ञान की परिभाषा प्रस्तुत की है—"शिक्षा-मनोविज्ञान के अन्तर्गत शिक्षा से सम्बन्धित सम्पूर्ण व्यवहार और व्यक्तित्व आ जाता है।"

---

1 "Educational psychology is a subject to be studied, an area or field of knowledge, a set of applications of laws and principles from a field of knowledge to a social process, a set of tools and techniques and a field of research."
—Anderson G. L. : *Journal of Educational Psychology*, May 1949.

2 "Educational psychology takes its meaning from education, a social process, and from psychology, a behavioural science."—Skinner : *Educational Psychology*

3 "Educational psychology is a systematic study of educational growth."
—J. M. Stephon

4 "Educational psychology is the application of the findings and the theories of psychology in the field of education." —W. B Kolesnik

5 "Educational psychology may be defined as the science which describes and explains the changes that take place in individuals as they pass through various stages of development from birth to maturity." —C. H. Judd

6 "Educational psychology describes and explains the learning experiences of an individual from birth through old age." —Crow and Crow

"शिक्षा-मनोविज्ञान उन खोजों को शैक्षिक परिस्थितियों में प्रयोग करता है जोकि खास-तौर से, शैक्षिक परिस्थितियों में, मनुष्यों के अनुभव और व्यवहार से सम्बन्धित हैं।"[1]

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि शिक्षा मनोविज्ञान मनोविज्ञान की एक व्यावहारिक शाखा है। यह सीखने और सिखाने की परिस्थितियों में मानव-व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन करता है।[2]

स्किनर के अनुसार शिक्षा-मनोविज्ञान के अध्ययन के आवश्यक तत्व

1. मनोविज्ञान की भाँति शिक्षा-मनोविज्ञान के अध्ययन का केन्द्र मानव व्यवहार है।

2. शिक्षा-मनोविज्ञान के तथ्य और सामग्री, खोज और निरीक्षण द्वारा प्राप्त होते हैं।

3. इस प्रकार प्राप्त तथ्य और सामग्री को सिद्धान्तों और नियमों का रूप प्रदान किया जाता है।

4. शिक्षा के क्षेत्र में विद्यमान समस्याओं का समाधान करने के लिए शिक्षा मनोविज्ञान ने स्वयं अपनी खोज प्रणालियाँ और निरीक्षण पद्धतियाँ विकसित की हैं।

5. शिक्षा-मनोविज्ञान के सिद्धान्त और नियम शैक्षिक सिद्धान्तों को वैज्ञानिक आधार प्रदान करते हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर शिक्षा-मनोविज्ञान की कुछ अन्य विशेषतायें इस प्रकार हैं :

6. यह एक व्यावहारिक विज्ञान है जिसकी उपयोगिता और सार्थकता छात्र-छात्राओं के व्यवहार एवं आचरण में संशोधन द्वारा आँकी जा सकती है।

7. शिक्षा-मनोविज्ञान का विधायक स्वरूप (Positive Nature) है क्योंकि यह मनोविज्ञान के सिद्धान्तों और पद्धतियों को अपनाता है और शैक्षिक परिस्थिति में मानव व्यवहार का यथास्थिति अध्ययन करता है। खोज करने, उपकल्पना (Hypothesis) की जाँच करने और सिद्धान्त निरूपण करने को इसको अपनी विधियाँ हैं।

8. इसका सम्बन्ध विद्यार्थियों, अध्यापकों, विद्यालय के वातावरण और सीखने की दशाओं से रहता है।

शिक्षा मनोविज्ञान की प्रकृति
(Nature of Educational Psychology)

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, शिक्षा-मनोविज्ञान एक विधायक विज्ञान है। शिक्षा-मनोवैज्ञानिक अपनी खोजों में वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करते हैं।

1 "Educational psychology covers the entire range of behaviour and personality as related to education. Educational psychology utilizes those findings that deal specially with the experience and behaviour of human beings in educational situation." —Skinner

2 "It is an applied branch of psychology which deals with human behaviour in teaching learning situation, in a scientific way."

कक्षा या शिक्षण से सम्बन्धित किसी भी समस्या का समाधान निरीक्षण, परीक्षण और प्रयोगों के आधार पर विश्वसनीय परिणाम निकाल कर किया जाता है। इसकी एक महत्वपूर्ण शाखा प्रयोगात्मक शिक्षा (Experimental Education) है। इन प्रयोगों के कारण आज यह सम्भव है कि शिक्षा-मनोवैज्ञानिक सीखने से सम्बन्धित प्रश्नों का निश्चित उत्तर दे सकते हैं और शिक्षा की अन्य समस्याओं के बारे में निश्चित रूप से भविष्यवाणी कर सकते हैं। शिक्षा-मनोविज्ञान में एक विज्ञान के सभी आवश्यक तत्व मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं :

1. वैज्ञानिक पद्धति (Scientific Method) का प्रयोग—आज शिक्षा की समस्याओं का समाधान ढूंढने में प्रयोगात्मक विधि का अधिक से अधिक प्रयोग किया जाता है। इन प्रयोगों में यथासम्भव परिस्थितियों पर नियन्त्रण किया जाता है और आवश्यकतानुसार यन्त्रों का प्रयोग सूक्ष्म अवलोकन तथा प्रदत्तों के संग्रह (Data Collection) और विश्लेषण के लिए किया जाता है।

2. शिक्षा मनोविज्ञान तथ्यात्मक है—शैक्षिक परिस्थितियों में तथ्यों और वस्तुगत निरीक्षण के आधार पर निर्णय लिए जाते हैं।

3. शिक्षा-मनोविज्ञान के सिद्धान्त और नियम सार्वभौमिक हैं अर्थात् ये सिद्धान्त और नियम सभी देश और काल में खरे उतरते हैं। जो नियम थॉर्नडाइक ने अमेरिका में स्थापित किये, वे भारत की शिक्षा की परिस्थितियों में भी ठीक उसी प्रकार लागू होते हैं जिस प्रकार अमेरिका में।

4. शिक्षा-मनोविज्ञान के सिद्धान्त एवं नियम प्रमाणिक होते हैं—क्योंकि इन्हें परीक्षण और पुनः परीक्षण के बाद स्थापित किया जाता है। प्रयोग को दोहरा कर इनकी प्रामाणिकता की जाँच कभी भी और कहीं भी की जा सकती है।

5. शिक्षा-मनोविज्ञान में कार्य और कारण के सम्बन्धों की व्याख्या होती है। जैसे—सीखने की क्रिया को प्रभावित करने वाली दशाएं, बालक का संवेगात्मक या सामाजिक विकास, किशोरावस्था की समस्याएँ आदि। शिक्षा-मनोविज्ञान 'क्या' के साथ-साथ 'क्यों' और 'कैसे' पर भी प्रकाश डालता है।

6. शिक्षा-मनोविज्ञान प्रकथन (Prediction) भी करता है—शिक्षा-मनोवैज्ञानिकों के पास व्यक्ति की योग्यताओं, क्षमताओं, कुशलताओं और गुणों का मापन एवं मूल्यांकन करने के अनेक विश्वसनीय साधन उपलब्ध हैं, जिनकी सहायता से उसके आगामी व्यवहार, कार्यक्षमता, योग्यताओं आदि के बारे में सही-सही प्रकथन किया जा सकता है।

शिक्षा मनोविज्ञान के उद्देश्य
(Aims of Educational Psychology)

कुप्पू स्वामी (Kuppuswamy) के अनुसार—"शिक्षा-मनोविज्ञान का उद्देश्य मनोविज्ञान के सिद्धान्तों को शिक्षण और उत्तम ढंग से सीखने में प्रयुक्त करना है।"

केली (Kelly) के अनुसार—शिक्षा-मनोविज्ञान के नीचे लिखे 9 उद्देश्य हैं :—

1. बाल स्वभाव की जानकारी प्रदान करना।

2. बाल्य-कालीन अभिवृद्धि और विकास से परिचित कराना।

3. वातावरण के साथ बालक या शिष्य का सामंजस्य स्थापित करने में सहायता देना।

4. शिक्षा के वास्तविक स्वरूप, उद्देश्यों और प्रयोजनों से परिचित कराना।

5. अधिगम या सीखने के सिद्धान्तों एवं नियमों तथा दशाओं से परिचित कराना।

6. विद्यार्थियों के चारित्रिक विकास की विधियों से परिचित कराना।

7. संवेगात्मक विकास, संवेग नियन्त्रण और शिक्षा में संवेगों के महत्व पर प्रकाश डालना।

8. विभिन्न स्कूली विषयों में छात्रों की योग्यता का मापन करने की विधियाँ सिखाना।

9. शिक्षा-मनोविज्ञान के अध्ययन में प्रयुक्त वैज्ञानिक विधियों का ज्ञान कराना।

"स्किनर ने शिक्षा-मनोविज्ञान का सामान्य उद्देश्य बताते हुए कहा है—शिक्षा-मनोविज्ञान का सामान्य उद्देश्य है—संगठित तथ्यों और सामान्य नियमों का एक ऐसा संग्रह प्रदान करना, जिसकी सहायता से अध्यापक सांस्कृतिक और व्यावसायिक लक्ष्यों को अधिक से अधिक प्राप्त कर सकें।" स्किनर के अनुसार शिक्षा-मनोविज्ञान के आठ विशिष्ट उद्देश्य भी हैं :

1. छात्र-छात्राओं की बुद्धि, ज्ञान और व्यवहार में उन्नति के प्रति विश्वास को दृढ़ बनाना।

2. बालक के प्रति निष्पक्ष और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण विकसित करने में सहायता देना।

3. बालकों के अपेक्षित व्यवहार के अनुरूप शिक्षा के उद्देश्य और स्तर निश्चित करना।

4. शिक्षा की दृष्टि से बालक के सामाजिक सम्बन्धों को समझने में सहायता करना।

5. समस्याओं के समाधान हेतु तथ्य और सिद्धान्तों की जानकारी प्रदान करना।

6. शिक्षण के परिणामों का मूल्यांकन करने में सहायता देना।

7. छात्र व्यवहार का विश्लेषण एवं व्याख्या करने में सहायता देना।

8. प्रगतिशील शिक्षण विधियों, निर्देशन कार्यक्रम तथा विद्यालय संगठन एवं प्रशासन के स्वरूपों को निश्चित करने में सहायता देना।

शिक्षा मनोविज्ञान का क्षेत्र
(Scope of Educational Psychology)

पेर्टसिन आदि के अनुसार—"शिक्षा-मनोविज्ञान की विषय-वस्तु का नियोजन दो प्रकार से किया जाता है :—(1) छात्रों के जीवन को समृद्ध और विकसित

करना एवं (2) शिक्षकों को अपने शिक्षण कार्य में गुणात्मक उन्नति करने में सहायता देने के लिए ज्ञान प्रदान करना।"[1]

क्रो तथा क्रो के अनुसार—"शिक्षा-मनोविज्ञान की विषय-सामग्री का सम्बन्ध सीखने को प्रभावित करने वाली दशाओं से है।"[2]

उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट होता है कि शिक्षा-मनोविज्ञान के क्षेत्र की सीमाएँ अभी भली-भाँति स्पष्ट नहीं हैं। यही कारण है कि शिक्षा-मनोविज्ञान की सभी पाठ्यपुस्तकों में विषयवस्तु की भिन्नता देखने को मिलती है। इसका कारण यह है कि शिक्षा-मनोविज्ञान का जन्म वर्तमान शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ था। अभी यह अपनी शैशवावस्था में होकर गुजर रहा है। यह अन्य विज्ञानों की भाँति पूर्णतः विकसित नहीं है। क्रो तथा क्रो की भाँति स्किनर भी इसके क्षेत्र को सीखने की प्रक्रिया से सम्बन्धित करता है। उसके अनुसार—"शिक्षा-मनोविज्ञान के क्षेत्र में वे सब ज्ञान और विधियाँ सम्मिलित हैं, जो सीखने की प्रक्रिया को भली-भाँति समझने और अधिक कुशलता से निर्देशित करने के लिए आवश्यक हैं।"[3]

संक्षेप में शिक्षा-मनोविज्ञान बाल-व्यवहार के निम्नलिखित क्षेत्रों का अध्ययन करता है :

1. बाल-व्यवहार का विकासात्मक अध्ययन—शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और संवेगात्मक विकास की दशाओं का।

2. बालक की जन्मजात योग्यताओं, प्रवृत्तियों, रुचियों, अभिरुचियों और विशेष योग्यताओं का अध्ययन।

3. बाल-व्यवहार को प्रभावित करने वाले जैविक वंशानुक्रम और परिवेश में विद्यमान कारकों का अध्ययन।

4. बालकों की व्यक्तिगत भिन्नताओं, उनके व्यक्तित्व और चरित्र सम्बन्धी विलक्षणताओं का अध्ययन एवं मूल्यांकन करना।

5. सीखने की प्रक्रिया, सीखने की दशाओं, सीखने को प्रभावित करने वाले कारक (Factors) और सीखने में स्थानान्तरण का अध्ययन करना।

6. बालक के बौद्धिक विकास से सम्बन्धित मानसिक क्रियाओं का अध्ययन। जैसे—अवधान, रुचि, संवेदना, प्रत्यक्षीकरण, विचार, तर्क, कल्पना, स्मृति आदि का अध्ययन।

7. शिक्षण कार्य से सम्बन्धित विधियों, सिद्धान्तों, नियमों, युक्तियों आदि का अध्ययन।

8. विद्यालय की उन समस्याओं का अध्ययन जो शिक्षण कार्य को प्रभावित

---

1 "The subject matter of educational psychology is designed (1) to enhance and enrich the lives of the learner and (2) to furnish teachers with the knowledge and understanding that will help them institute improvements in the quality of instruction."
—Garrison and others

2 "The subject matter of educational psychology is concerned with the conditions that effect learning."
—Crow and Crow

3 "Educational psychology takes for its all information and techniques pertinent to better understanding and a more efficient direction of the learning process."
—Skinner

करती हैं, जैसे—अनुशासन, गुरु-शिष्य सम्बन्ध, विशिष्ट और कुसमायोजित बालकों की समस्याएँ।

अमेरिका की वैज्ञानिक परिषद के "शिक्षा-मनोविज्ञान विभाग" ने 1945 में शिक्षा-मनोविज्ञान के अध्ययन के क्षेत्र इस प्रकार निर्धारित किये थे :

1. मानव विकास (Human Development)
2. अधिगम या सीखना (Learning)
3. व्यक्तित्व और समायोजन (Personality and adjustment)
4. मापन एवं मूल्यांकन (Measurement and evaluation)
5. अध्ययन की विधियाँ (Methods of study)

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. शिक्षा-मनोविज्ञान की परिभाषा दीजिए और उसकी प्रकृति के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त कीजिए।
2. शिक्षा और मनोविज्ञान में क्या सम्बन्ध है ? विस्तारपूर्वक समझाइए। (लखनऊ 1967)
3. भावी अध्यापक को शिक्षा-मनोविज्ञान के द्वारा क्या जानना चाहिए ? शिक्षा के उन क्षेत्रों को निर्दिष्ट कीजिए जिनसे शिक्षा-मनोविज्ञान का सम्बन्ध है। (आगरा 1968)
4. मनोविज्ञान किस प्रकार शिक्षा की विभिन्न समस्याओं को हल करने में सहायता देता है ? उदाहरण सहित उत्तर दीजिए। (प्रयाग 1965)

3

शिक्षा का मनोवैज्ञानिक आधार
(PSYCHOLOGICAL BASIS OF EDUCATION)

शिक्षा के आधार—विद्वानों ने शिक्षा के चार प्रमुख आधार माने हैं :

1. दार्शनिक आधार (Philosophical Basis)
2. सामाजिक आधार (Social Basis)
3. मनोवैज्ञानिक आधार (Psychological Basis)
4. वैज्ञानिक आधार (Scientific Basis)

प्राचीनकाल से जीवन और शिक्षा (Life and Education) का मार्ग प्रदर्शित करने का काम दर्शनशास्त्र करता रहा है। दर्शन के अनुसार जीवन के आदर्श और उन आदर्शों के अनुकूल शिक्षा की व्यवस्था होती रही है। अतः शिक्षा प्रक्रिया का दार्शनिक आधार होना चाहिए। शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है। जिस प्रकार परिवार एक लघु समाज है उसी प्रकार कक्षा और विद्यालय भी समाज का एक लघु रूप है। सीखने' की प्रक्रिया सामाजिक वातावरण में सुचारुरूप से चलती है क्योंकि मानव शिशु मूलतः सामाजिक प्राणी है। अतः बालक के शैक्षिक विकास में सामाजिक वातावरण का विशेष महत्व है। डेवी के अनुसार "सामाजिक चेतना की अनुभूति करते हुए बालक का शैक्षिक विकास होता है।"[1]

स्पष्ट है कि शिक्षा, दूसरा आधार, 'सामाजिक आधार' होना चाहिये।

शिक्षा प्रक्रिया में अध्यापक एक कुशल कलाकार की भाँति कार्य करता है। शिक्षण उसकी कला है और बालक वह कच्चा माल है जिसके माध्यम से उसे अपनी कला की अभिव्यक्ति करनी होती है। आधुनिक शिक्षण कला का आधार वैज्ञानिक है। विभिन्न विषयों के अध्यापन से सम्बन्धित विधियाँ, युक्तियाँ, तकनीकें आदि वैज्ञानिक खोजों की देन हैं। आज का कुशल अध्यापक अपने कक्षा कार्य में अनेक वैज्ञानिक साधनों, मशीनों और तकनीकी युक्तियों (Technical Devices) का प्रयोग करके अध्यापन कार्य को अधिक प्रभावशाली, यत्नपूर्ण और रुचिकर बनाता है। वह अध्यापन में निश्चित विधियों द्वारा निश्चित परिणाम प्राप्त कर सकता है, क्योंकि उसकी शिक्षण कला का आधार वैज्ञानिक है। अतः शिक्षा का तीसरा आधार वैज्ञानिक आधार होना चाहिये। किन्तु 'बालक' किसी भी कारखाने में प्रयोग किए जाने वाले कच्चे

1 "All education proceeds by the participation of the individual in the social consciousness of the race."
—Dewey

मात्र से सर्वथा भिन्न है। वह जीवित शरीरधारी है, स्वचालित है और इसके विकास एवं अभिवृद्धि का एक पूर्व निर्धारित क्रम है। यह आत्मक्रिया (Self Activity) और अनुभवों (Experiences) से युक्त है। इसका अपना स्वभाव (Nature) होता है। प्रत्येक बालक सैकड़ों-हजारों बातों में अन्य बालकों के समान होते हुए भी, उन सबसे भिन्न होता है। वह अपने में स्वयं एक इकाई है, एक विचित्र संगठन है। प्रकृति की एक अनूठी रचना है। अतः किसी भी अध्यापक की पहली आवश्यकता अपने शिष्य (बालक) के स्वभाव के बारे में जानकारी प्राप्त करना है। यह जानकारी शिक्षा मनोविज्ञान प्रदान करता है। अतः शिक्षा मनोविज्ञान का अध्ययन उसके लिए नितान्त आवश्यक है। शिक्षा मनोविज्ञान ही शिक्षा को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करता है।

एक अध्यापक के लिए शिक्षा मनोविज्ञान की आवश्यकता
(Need of Educational Psychology for a Teacher)

संसार के सभी महान् विचारक, जो कि अपने समय के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री भी हुए हैं, इस बात पर विशेष बल देते रहे हैं कि अध्यापक को अपने शिष्यों के प्राकृतिक गुणों एवं शक्तियों को भली-भाँति समझ लेना चाहिए। थॉमस फुलर (Thomas Fullar : Holystate and Profane State) ने एक अच्छे अध्यापक के गुणों का वर्णन करते हुए लिखा था "एक अच्छा अध्यापक वह है जो अपने शिष्यों के स्वभाव का अध्ययन उतनी ही होशियारी से करता है, जितनी होशियारी से वह पुस्तकें पढ़ता है।" इसी प्रकार पेस्टालॉजी वह पहला शिक्षाशास्त्री था जिसने अध्यापकों के प्रशिक्षण पर बल दिया और कहा कि शिक्षण-कला बालक को मानसिक क्रियाओं के ज्ञान पर आधारित होनी चाहिए। सर जॉन एडम्स शिक्षा की व्याख्या करते हुए प्रायः इस वाक्य को दोहराते थे—"The master taught John Latin" इस वाक्य में शिक्षण प्रक्रिया से सम्बन्धित सभी प्रमुख कारण उपस्थित हैं। गुरु या अध्यापक शिक्षा का एक ध्रुव है। शिष्य या जॉन दूसरा ध्रुव है। विषय-वस्तु या लैटिन, गुरु का वह ज्ञान है, जिसे वह किसी प्रकार शिष्य तक स्थानान्तरित करना चाहता है। पढ़ाना वह नैतिक कार्य है जो गुरु और शिष्य को सम्बन्धित करता है। सर जॉन एडम्स ने इस बात पर विशेष बल दिया कि गुरु को लैटिन (विषय-वस्तु) और जॉन (शिष्य) दोनों का अच्छा ज्ञान होना चाहिए तभी वह शिक्षण कार्य को ठीक ढंग से कर सकता है। जॉन या शिष्य के बारे में जानकारी प्राप्त करना ही शिक्षा-मनोविज्ञान है। सर टी० पी० नन के अनुसार केवल वही शिक्षा "प्रकृति के अनुसार शिक्षा है (Education according to Nature) जो मनोविज्ञान पर आधारित है।"

शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधार की आवश्यकता
(Need of psychological Basis of Education)

रूसो के अनुसार—शिक्षा सूचना नहीं है बल्कि बच्चे की प्रकृति का निर्माण है।[1]

---

1 "Education is not information but formation of child's own nat

3

शिक्षा का मनोवैज्ञानिक आधार
(PSYCHOLOGICAL BASIS OF EDUCATION)

शिक्षा के आधार—विद्वानों ने शिक्षा के चार प्रमुख आधार माने हैं :

1. दार्शनिक आधार (Philosophical Basis)
2. सामाजिक आधार (Social Basis)
3. मनोवैज्ञानिक आधार (Psychological Basis)
4. वैज्ञानिक आधार (Scientific Basis)

प्राचीनकाल से जीवन और शिक्षा (Life and Education) का मार्ग प्रदर्शित करने का काम दर्शनशास्त्र करता रहा है। दर्शन के अनुसार जीवन के आदर्श और उन आदर्शों के अनुकूल शिक्षा की व्यवस्था होती रही है। अतः शिक्षा प्रक्रिया का दार्शनिक आधार होना चाहिए। शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है। जिस प्रकार परिवार एक लघु समाज है उसी प्रकार कक्षा और विद्यालय भी समाज का एक लघु रूप है। सीखने' की प्रक्रिया सामाजिक वातावरण में सुचारुरूप से चलती है क्योंकि मानव शिशु मूलतः सामाजिक प्राणी है। अतः बालक के शैक्षिक विकास में सामाजिक वातावरण का विशेष महत्व है। डेवी के अनुसार "सामाजिक चेतना की अनुभूति करते हुए बालक का शैक्षिक विकास होता है।"[1]

स्पष्ट है कि शिक्षा, दूसरा आधार, 'सामाजिक आधार' होना चाहिये।

शिक्षा प्रक्रिया में अध्यापक एक कुशल कलाकार की भांति कार्य करता है। शिक्षण उसकी कला है और बालक वह कच्चा माल है जिसके माध्यम से उसे अपनी कला की अभिव्यक्ति करनी होती है। आधुनिक शिक्षण कला का आधार वैज्ञानिक है। विभिन्न विषयों के अध्यापन से सम्बन्धित विधियां, युक्तियां, तकनीकें आदि वैज्ञानिक खोजों की देन हैं। आज का कुशल अध्यापक अपने कक्षा कार्य में अनेक वैज्ञानिक साधनों, मशीनों और तकनीकी युक्तियों (Technical Devices) का प्रयोग करके अध्यापन कार्य को अधिक प्रभावशाली, बचतपूर्ण और रुचिकर बनाता है। वह अध्यापन में निश्चित विधियों द्वारा निश्चित परिणाम प्राप्त कर सकता है, क्योंकि उसकी शिक्षण कला का आधार वैज्ञानिक है। अतः शिक्षा का तीसरा आधार वैज्ञानिक आधार होना चाहिये। किन्तु 'बालक' किसी भी कारखाने में प्रयोग किए जाने वाले कच्चे

1 "All education proceeds by the participation of the individual in the social consciousness of the race."
—Dewey

माल से सर्वथा भिन्न है। यह जीवित शरीरधारी है, स्वचालित है और इसके विकास एवं अभिवृद्धि का एक पूर्व निर्धारित क्रम है। यह आत्मक्रिया (Self Activity) और अनुभवों (Experiences) से युक्त है। इसका अपना स्वभाव (Nature) होता है। प्रत्येक बालक सैकड़ों-हजारों बातों में अन्य बालकों के समान होते हुए भी, उन सबसे भिन्न होता है। वह अपने में स्वयं एक इकाई है, एक विचित्र संगठन है। प्रकृति की एक अनूठी रचना है। अतः किसी भी अध्यापक को पहली आवश्यकता अपने शिष्य (बालक) के स्वभाव के बारे में जानकारी प्राप्त करना है। यह जानकारी शिक्षा मनोविज्ञान प्रदान करता है। अतः शिक्षा मनोविज्ञान का अध्ययन उसके लिए नितान्त आवश्यक है। *शिक्षा मनोविज्ञान ही शिक्षा को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करता है।*

एक अध्यापक के लिए शिक्षा मनोविज्ञान की आवश्यकता
(Need of Educational Psychology for a Teacher)

संसार के सभी महान् विचारक, जो कि अपने समय के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री भी हुए हैं, इस बात पर विशेष बल देते रहे हैं कि अध्यापक को अपने शिष्यों के प्राकृतिक गुणों एवं शक्तियों को भली-भाँति समझ लेना चाहिए। थॉमस फुलर (Thomas Fullar : Holystate and Profane State) ने एक अच्छे अध्यापक के गुणों का वर्णन करते हुए लिखा था "एक अच्छा अध्यापक वह है जो अपने शिष्यों *के स्वभाव का अध्ययन उतनी ही होशियारी से करता है, जितनी होशियारी से वह पुस्तकें पढ़ता है।*" इसी प्रकार पेस्टालॉजी वह पहला शिक्षाशास्त्री था जिसने *अध्यापकों के प्रशिक्षण पर बल दिया और कहा कि शिक्षण-कला बालक* की मानसिक क्रियाओं के ज्ञान पर आधारित होनी चाहिए। सर जॉन एडम्स शिक्षा की व्याख्या करते हुए प्रायः इस वाक्य को दोहराते थे—"The master taught John Latin." इस वाक्य में शिक्षण प्रक्रिया से सम्बन्धित सभी प्रमुख कारण उपस्थित हैं। गुरु या अध्यापक शिक्षा का एक ध्रुव है। शिष्य या जॉन दूसरा ध्रुव है। विषय-वस्तु या लेटिन, गुरु का वह ज्ञान है, जिसे वह किसी प्रकार शिष्य तक स्थानान्तरित करना चाहता है। पढ़ाना वह शैक्षिक कार्य है जो गुरु और शिष्य को सम्बन्धित करता है। सर जॉन एडम्स ने इस बात पर विशेष बल दिया कि गुरु को लेटिन (विषय-वस्तु) और जॉन (शिष्य) दोनों का अच्छा ज्ञान होना चाहिए तभी वह शिक्षण कार्य को ठीक ढंग से कर सकता है। जॉन या शिष्य के बारे में जानकारी प्राप्त करना ही शिक्षा-मनोविज्ञान है। सर टी० पी० नन के अनुसार केवल वही शिक्षा "प्रकृति के अनुसार शिक्षा है (Education according to Nature) जो मनोविज्ञान पर आधारित है।"

शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधार की आवश्यकता
(Need of psychological Basis of Education)

रूसो के अनुसार—शिक्षा सूचना नहीं है बल्कि बच्चे की प्रकृति का निर्माण है।[1]

---

1 "Education is not information but formation of child's own nature."

यह बाल-स्वभाव क्या है ? इसे कैसे विकसित किया जा सकता है ? इसमें सुधार और परिवर्तन किस प्रकार और कहाँ तक सम्भव है ? आदि प्रश्नों का उत्तर शिक्षा-मनोविज्ञान पढ़कर ही प्राप्त हो सकता है। अतः शिक्षा को मनोवैज्ञानिक आधार की नितान्त आवश्यकता है।

2. मानव-व्यवहार (Human Behaviour)—जैसा कि पिछले अध्याय में बताया जा चुका है मनोविज्ञान 'मानव-व्यवहार' का अध्ययन करता है। शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के व्यवहार में वांछनीय परिवर्तन करके उसे समाज का उपयोगी अंग बनाना है। इस प्रकार 'शिक्षा' और 'मनोविज्ञान' दोनों को जोड़ने वाली कड़ी 'मानव-व्यवहार' है। शिक्षा-मनोविज्ञान शैक्षिक परिस्थितियों में मानव-व्यवहार समझने में सहायता प्रदान करता है। इसके बिना शिक्षा की प्रगति सम्भव नहीं।

3. बौद्धिक विकास (Intellectual Development)—स्टाउट के अनुसार "शिक्षा सिद्धान्त को मनोविज्ञान द्वारा दिया जाने वाला मुख्य सिद्धान्त यह है कि नवीन ज्ञान का विकास पूर्वार्जित ज्ञान के आधार पर किया जाना चाहिए।"[1]

प्रत्येक शिक्षक को यह जानना आवश्यक है कि मानव-मन में ज्ञान किस प्रकार पहुँचता है और यह मस्तिष्क द्वारा किस प्रकार धारण किया जाता है। शिक्षा और ज्ञानार्जन बहुत कुछ समानार्थक हैं। अतः ज्ञानार्जन से सम्बन्धित समस्याओं के समाधान के लिए शिक्षा मनोविज्ञान का ज्ञान आवश्यक है।

4. मानव सम्बन्ध (Human Relations)—जैसा कि पहले बताया जा चुका है, शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है। यदि इसे दो ध्रुवीय प्रक्रिया (Bi-polar Process) माना जाए तो गुरु और शिष्य शिक्षा के दो ध्रुव माने जा सकते हैं। गुरु और शिष्य के परस्पर सम्बन्ध शिक्षा में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। यदि इसे तीन ध्रुवीय प्रक्रिया (Tri-polar Process) माना जाए तो गुरु और शिष्य के अतिरिक्त शिष्यों के आपसी सम्बन्ध, एवं शिक्षक-अभिभावक सम्बन्ध शिक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। शिक्षा का तीसरा ध्रुव समाज है और विद्यालय एक लघु समाज है। किसी भी देश या काल की शिक्षा में इस प्रकार के मानव सम्बन्धों को समझने की आवश्यकता हमेशा बनी रहती है। इन सम्बन्धों पर आधुनिक शिक्षा-मनोविज्ञान यथेष्ट प्रकाश डालता है। किसी भी विद्यालय में सीखने का मानसिक वातावरण इन मानव सम्बन्धों से ही बनता है।

5. शक्तियाँ, योग्यताएँ, और क्षमताएँ (Powers, Abilities and Capacities)—पेस्टालॉजी के अनुसार "शिक्षा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का स्वाभाविक, सामंजस्यपूर्ण और प्रगतिशील विकास है।"[3]

प्रश्न यह है कि मनुष्य की वह कौन-सी जन्मजात शक्तियाँ, योग्यताएँ और क्षमताएँ हैं जिनका विकास करना शिक्षा का उत्तरदायित्व है। इस प्रकार के सभी

---

1 "The main principles which psychology lends to the theory of education is is that new knowledge should be a development of previous knowledge."
—Stout

2 "Education is a natural, harmonious and progressive development of man's innate powers."
—Pestalozzl

प्रश्नों का उत्तर आधुनिक शिक्षा-मनोविज्ञान देता है। शिक्षा-मनोविज्ञान यह भी बताता है कि इनका मापन किस प्रकार किया जाता है।

शिक्षा-मनोविज्ञान द्वारा शिक्षा में किये गए परिवर्तन (Changes brought about in the Fields of Education By Psychology)

1. बाल-केन्द्रित शिक्षा—प्राचीन समय में या तो शिक्षा गुरु-केन्द्रित थी या पुस्तक-केन्द्रित। बालक का स्थान गौण था। शिक्षा-मनोविज्ञान ने इस स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया। अब शिक्षा बालक के लिए है। शिक्षा की प्रत्येक समस्या बालक को दृष्टिकोण में रखकर हल की जाती है। आज का बालक गुरुओं के कठोर नियन्त्रण से मुक्त है।

2. सीखने की प्रक्रिया—शिक्षा-मनोविज्ञान मुख्यतः सीखने का मनोविज्ञान है। जो समस्याएँ अध्यापक के लिए शिक्षण की समस्याएँ हैं, वे ही बालक के लिए सीखने की समस्याएँ हैं। शिक्षा-मनोविज्ञान द्वारा प्रतिपादित सीखने की विधियों, युक्तियों (Devices) और नियमों के प्रयोग से सीखने की प्रक्रिया अब अधिक सरल और रुचिकर हो गयी है।

3. शिक्षण विधियों में सुधार—शिक्षा-मनोविज्ञान, शिक्षा के क्षेत्र में प्रयोग की जाने वाली विभिन्न शिक्षण विधियों, प्रणालियों और पद्धतियों को समझने में सहायता देता है। आजकल विभिन्न स्तरों पर विभिन्न शिक्षण विधियाँ प्रयोग में लायी जाती हैं। शिक्षा-मनोविज्ञान के द्वारा अध्यापन विधियों में बराबर सुधार होते रहते हैं। आज का अध्यापक खोज और नये प्रयोगों में विश्वास रखता है। उसका उद्देश्य शिक्षण विधियों को बालकों की योग्यता, रुचि और झुकावों के अधिक से अधिक अनुकूल बनाना है। यही कारण है कि बालक के लिए विद्यालय जाना और शिक्षा प्राप्त करना एक रुचिकर और आनन्ददायी क्रिया बन गयी है।

4. मापन एवं मूल्यांकन—आधुनिक शिक्षक ज्ञान प्रसार करने के साथ-साथ विद्यार्थियों की उपलब्धियों (Achievements) का मूल्यांकन भी करता है। प्राचीन समय में परीक्षाएँ अधिक कठोर किन्तु कम विश्वसनीय होती थीं। परीक्षा एक भय था जो विद्यार्थियों के मन को सदैव घेरे रहता था। आजकल इन परीक्षाओं का स्थान मूल्यांकन ने ले लिया है। अध्यापक समय-समय पर छात्रों की योग्यता का मूल्यांकन करता रहता है। गत पचास वर्षों में छात्रों के बौद्धिक विकास का मूल्यांकन करने की अनेक युक्तियाँ खोजी गयी हैं, अनेक प्रकार की नवीन परीक्षाओं का निर्माण हुआ है जिनकी सहायता से बालक के मानसिक विकास का मापन एवं मूल्यांकन अधिक कुशलता से किया जाता है और अधिक विश्वसनीय परिणाम प्राप्त होते हैं।

5. अध्यापक की व्यावसायिक वृद्धि (Professional Growth of Teacher)—शिक्षा-मनोविज्ञान अध्यापक के कार्य और उसके कार्य क्षेत्र का विस्तृत विश्लेषण है। शिक्षा-मनोविज्ञान के अध्ययन के बाद उसे अपने कार्य में विशेष अन्तर्दृष्टि (Insight) प्राप्त होती है। बालक के प्रति उसका एक विशेष दृष्टिकोण विकसित होता है। इस प्रकार विशेष दृष्टिकोण और अन्तर्दृष्टि को लेकर जब वह अपने कार्य क्षेत्र में उतरता है तो धीरे-धीरे उसकी व्यावसायिक कुशलता बढ़ती जाती है। उसके अन्दर छिपा हुआ अध्यापक अधिक प्रखर होकर अभिव्यक्ति करने लगता है।

समझा जाता। प्रत्येक बालक अपने वंशानुक्रमीय गुणों के फलस्वरूप अपने साथ कुछ अन्तर्निहित क्षमताएँ, योग्यताएँ और शक्तियाँ लाता है, जिनका विकास उपयुक्त वातावरण और पोषण मिलने पर होता है। अतः अब वातावरण के महत्व को भी भली-भाँति समझा जाने लगा है।

17. बालक का संतुलित व्यक्तित्व विकास—शिक्षा मनोविज्ञान बालक के विकास की विभिन्न अवस्थाओं में उसके व्यक्तित्व के स्वरूप का ज्ञान देता है। इस प्रकार आज का शिक्षक प्रत्येक अवस्था में बालक की व्यक्तित्व सम्बन्धी आवश्यकताओं को समझकर उसका सन्तुलित विकास करने के लिए उपयुक्त वातावरण एवं क्रियाएँ संगठित करता है।

शिक्षा के सिद्धान्त तथा व्यवहार पक्ष (Theory & Practice) पर मनोविज्ञान के प्रभाव को पृष्ठ 31 पर अंकित रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं।

एक अध्यापक के लिए शिक्षा मनोविज्ञान की उपयोगिता
(Utility of Educational Psychology for a Teacher)

स्किनर ने शिक्षक के लिए दो आवश्यकताओं पर बल दिया है—

(i) अपनी संस्कृति को समझने के लिए अपने शिष्यों को समझने की आवश्यकता है।

(ii) शिष्यों को मार्गदर्शन कराने के लिए स्वयं को समझने की आवश्यकता है।[1]

शिक्षा मनोविज्ञान की उपयोगिता एवं आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए हेनरी पी० स्मिथ ने अध्यापकों के लिए इस ज्ञान को नितान्त आवश्यक बताया है। क्योंकि—

1. अध्यापक को अपने छात्र-छात्राओं की प्रवृत्ति और स्वभाव की जानकारी होनी चाहिए।

2. अध्यापक को बाल-विकास की अवस्थाओं और उनसे सम्बन्धित समस्याओं के निदान तथा उपचार की जानकारी होनी चाहिए।

3. इस ज्ञान से अध्यापक को शिक्षा के व्यापक अर्थों और उदार उद्देश्यों का बोध होता है।

4. बालकों के व्यवहार में वांछनीय परिवर्तन लाने का उत्तरदायित्व निभाने के लिए प्रत्येक स्तर पर बालक की क्षमताओं, योग्यताओं और शक्तियों का बोध अध्यापक को होता है।

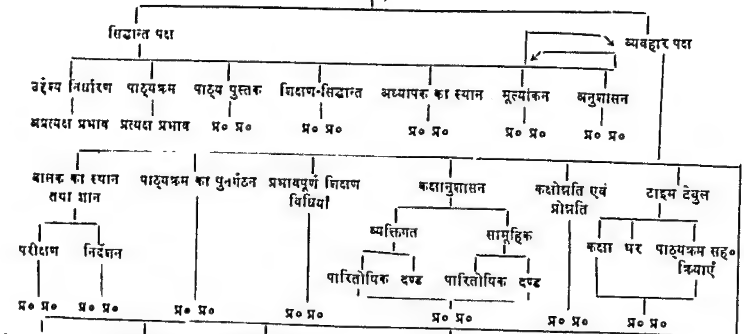
5. शिक्षा मनोविज्ञान का ज्ञान अध्यापक की व्यावसायिक कुशलता में वृद्धि करने में अनेक ढंग से सहायक होता है।

प्रो० लेस्टर एण्डरसन ने अध्यापक की व्यावसायिक कुशलता से सम्बन्धित नीचे लिखी तीन आवश्यकताएँ बताई हैं—

1. कक्षा शिक्षण के लिए सामग्री का चयन, विश्लेषण एवं व्यवस्था (Selection, Analysis and Systematization of Matter for Teaching)—नवीन शिक्षण विधियों और युक्तियों को लागू करने के लिए पाठ्यवस्तु का सही चयन,

---

1 "Teachers need to understand the learner in order to understand our culture, and they need to understand themselves as guides of the young. To such understanding psychology has much to contribute." —Skinner



इस तालिका से स्पष्ट है कि शिक्षा के सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों पक्षों पर मनोविज्ञान का स्पष्ट प्रभाव है। यह बात इससे भी स्पष्ट हो जाती है कि मनोविज्ञान का उद्देश्य व्यवहार का अध्ययन करना है और शिक्षा का उद्देश्य व्यवहार में परिवर्तन करना है। अतः शिक्षा तथा मनोविज्ञान दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

विश्लेषण एवं व्यवस्था करने की आवश्यकता प्रत्येक अध्यापक को रहती है। शिक्षा मनोविज्ञान इन कार्यों के लिए समुचित ज्ञान प्रदान करता है।

2. **सीखने की प्रक्रिया में छात्रों का मार्ग प्रदर्शन**—अध्यापन के विभिन्न सिद्धान्तों और सूत्रों के अनुसार अध्यापक पाठ की तैयारी करके पाठ्यसामग्री को छात्रों के समक्ष प्रस्तुत करता है। पाठ्य-सामग्री का संयोजन सीखने के विभिन्न प्रकारों और सिद्धान्तों के अनुसार किया जाता है जिसका ज्ञान शिक्षा मनोविज्ञान प्रदान करता है।

3. **शिक्षण कार्य का मूल्यांकन**—शिक्षण के परिणामस्वरूप छात्रों के व्यवहार में होने वाले परिवर्तनों और उनकी मानसिक उपलब्धियों का मूल्यांकन किया जाता है। सम्पूर्ण मूल्यांकन करने की विधियों, इसके अन्तर्गत आने वाली अन्य बातों तथा मूल्यांकन के विविध साधनों के बारे में जानकारी शिक्षा मनोविज्ञान से ही प्राप्त होती है।

इनके अतिरिक्त जिन अन्य कार्यों में शिक्षा मनोविज्ञान एक शिक्षक के लिए उपयोगी सिद्ध होता है, वे इस प्रकार हैं—

1. अध्यापक बालकों की सामुदायिक आवश्यकताओं के अनुसार उन्हें समायोजन में सहायता कर सकता है। इस प्रकार छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य में वृद्धि होती है।

2. वह स्वयं अपना मानसिक स्वास्थ्य ठीक रख सकता है और छात्रों के समक्ष सन्तुलित व्यवहार प्रस्तुत कर सकता है।

3. वह समस्यात्मक बालकों का निदान एवं उपचार भी कर सकता है और उन्हें अधिक जटिल होने से बचा सकता है।

4. गैरिसन के अनुसार शिक्षा मनोविज्ञान मनोवैज्ञानिक त्रुटियों से अध्यापक की रक्षा करता है। इस प्रकार गलत शिक्षण विधि या कार्यक्रम से शिक्षा को बचाता है।

5. एक अच्छा अध्यापक बनने में और अध्यापन कार्य की जांच करने में, अध्यापक की सहायता करता है।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. How does psychology help a teacher to be a better teacher. Explain fully and support your answer with concrete examples.
   (आगरा वि० वि० 1959, 1962; पंजाब 1951, 1952)
2. Bring out fully the utility of psychology for a teacher in modern times.
   (आगरा वि० वि० 1948)
3. शिक्षा तथा मनोविज्ञान के सम्बन्धों की व्याख्या कीजिए। आधुनिक मनोविज्ञान का ज्ञान अध्यापक की सहायता कक्षा शिक्षण में किस प्रकार करता है?
   (राजस्थान 1955)
4. शिक्षा मनोविज्ञान ने शिक्षा के सिद्धान्त तथा व्यवहार में किस प्रकार क्रान्तिकारी परिवर्तन किए हैं?
   (आगरा, 1962)

4

शिक्षा मनोविज्ञान : अध्ययन की विधियाँ
(EDUCATIONAL PSYCHOLOGY : METHODS OF STUDY)

स्किनर के अनुसार—"शिक्षा मनोविज्ञान अपने प्रदत्तों के संग्रह तथा वर्गीकरण में विज्ञान की विधियों और साधनों (उपकरणों) का प्रयोग करता है।"[1]

एक वैज्ञानिक विधि
(A Scientific Method)

भौतिकशास्त्र या किसी अन्य पदार्थ विज्ञान की भाँति अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणालियों को कठोरता से शिक्षा मनोविज्ञान में लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि यहाँ तो अध्ययन की विषय-वस्तु जीवित शरीरधारी बालक का शैक्षिक व्यवहार है। अतः शिक्षा मनोविज्ञान गणित या रसायनशास्त्र की भाँति शुद्ध विज्ञान नहीं हो सकता। हाँ, विज्ञान की विधियों की प्रमुख विशेषताएँ, शिक्षा मनोविज्ञान के अध्ययन में, लागू हो सकती हैं जो इस प्रकार हैं :

1. विश्वसनीयता (Reliability),
2. यथार्थता (Reality)
3. विशुद्धता (Purity),
4. वस्तुनिष्ठता (Objectivity),
5. सत्यापन (Verifiability),
6. निष्पक्षता (Impartiality)।

आधुनिक शिक्षा मनोविज्ञान के शोध कार्यों में यह सभी बातें लागू होती हैं।

शिक्षा मनोविज्ञान की विधियाँ : उनका वर्गीकरण
(Methods of Educational Psychology : Their Classification)

सामान्य रूप में इन विधियों को दो भागों में विभाजित किया जाता है :

(क) आत्मनिष्ठ विधियाँ (Subjective Methods)

(1) आत्मनिरीक्षण विधि (Introspective Method)

(2) गाथा वर्णन विधि (Anecdotal Method)

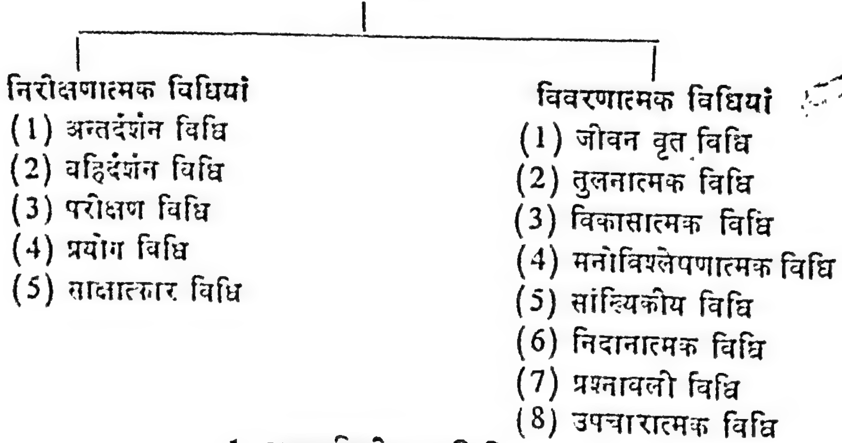
---

1 "In gathering and classifying its data, educational psychology uses the methods and tools of science." —Skinner

(ख) वस्तुनिष्ठ विधियाँ (Objective Methods) :

(1) निरीक्षण विधि (Observation Method)
(2) प्रयोगात्मक विधि (Experimental Method)
(3) जीवनवृत्त विधि (Case History Method)
(4) विकासात्मक विधि (Developmental Method)
(5) तुलनात्मक विधि (Comparative Method)
(6) सांख्यिकीय विधि (Statistical Method)
(7) परीक्षण विधि (Test Method)
(8) साक्षात्कार विधि (Interview Method)
(9) प्रश्नावली विधि (Questionnaire Method)
(10) मनोविश्लेषणात्मक विधि (Psycho-Analytic Method)
(11) निदानात्मक विधि (Clinical Method)

कुछ मनोवैज्ञानिक इन विधियों का वर्गीकरण दूसरे ढंग से, निरीक्षणात्मक और विवरणात्मक प्रणालियों (Observational and Descriptive Methods) के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जो इस प्रकार हैं—



1. आत्मनिरीक्षण विधि
(Introspective Method)

विख्यात दार्शनिक जॉन लॉक के अनुसार "आत्मनिरीक्षण या अन्तर्दर्शन में मस्तिष्क द्वारा अपनी क्रियाओं का स्वयं निरीक्षण किया जाता है।"[1]

ग्रीक दार्शनिकों प्लेटो और अरस्तू के समय से मानसिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मनोवैज्ञानिक अपने ही सुख और दुख, क्रोध और शान्ति, घृणा और प्रेम के क्षणों में अपनी भावनाओं और मनोदशाओं का निरीक्षण करके उनका वर्णन करते थे। इस विधि में मनोवैज्ञानिक स्वयं अपने मन का निरीक्षण करके समय-समय पर उत्पन्न होने वाली भावनाओं, विचारों, कल्पनाओं आदि का निरीक्षण एवं विश्लेषण करते हैं।

1. "The notice which the mind takes of its own operations." —John Locke

मनोविज्ञान के बहुत से ज्ञान की वृद्धि इसी विधि से हुई है। पुराने समय में मनोदशाओं के अध्ययन की यही एकमात्र विधि थी।

आत्मनिरीक्षण विधि के लाभ

1. यह विधि अन्य विधियों द्वारा प्राप्त किए गए मनोवैज्ञानिक ज्ञान की व्याख्या करने में सहायता देती है।

2. व्यक्तिगत् अनुभव (Experience) के अध्ययन एवं विश्लेषण की यह सर्वोत्तम विधि है। इसमें किसी अन्य सामग्री या उपकरण की आवश्यकता नहीं पड़ती इसलिए यह विधि खर्चीली नहीं है। इसमें मनोवैज्ञानिक का अपना मस्तिष्क ही प्रयोगशाला है। वह किसी भी समय अपनी इच्छानुसार निरीक्षण कर सकता है।

दोष एवं कठिनाइयाँ

(1) अन्तर्दर्शन के परिणाम केवल व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) होते हैं। मेरा अनुभव मेरी निजी वस्तु है, इस तक दूसरे की पहुँच सम्भव नहीं। अतः दूसरे व्यक्ति द्वारा मेरे अनुभव को सत्यापित (Verify) नहीं किया जा सकता और न ही दोहराया जा सकता है।

(2) यह विधि वैज्ञानिक नहीं है क्योंकि इस विधि से निकाले गए निष्कर्षों का परीक्षण नहीं किया जा सकता।

(3) इस विधि की प्रमुख कठिनाई यह है कि इसमें निरीक्षण करने वाला और जिसका निरीक्षण किया जा रहा है, एक ही वस्तु है। जैसे—मेरा मन मेरी ही मानसिक प्रक्रिया का अध्ययन करे। दूसरे शब्दों में दृष्टा और दृश्य दोनों एक ही हो जाते हैं। अतः मन द्वारा मन का निरीक्षण सम्भव नहीं।

(4) मानसिक घटनाएँ इतनी शीघ्रता से घटित होती हैं कि मन द्वारा उनका निरीक्षण सम्भव नहीं। बच्चों तथा पशुओं आदि के अध्ययन में यह विधि बिल्कुल लागू नहीं हो सकती।

(5) तत्काल मस्तिष्क की वास्तविक दशा का ज्ञान सम्भव नहीं। उदाहरण के लिए यदि हम क्रोध या भय के समय अपनी मनोदशा का निरीक्षण करने लगें तो क्रोध या भय लुप्त हो जाएगा। इस प्रकार जिस वस्तु का हम निरीक्षण करना चाहते हैं यदि वही लुप्त हो जाए तो निरीक्षण करने से क्या लाभ। जेम्स के अनुसार "आत्म निरीक्षण करने का प्रयास ऐसा है जैसा कि यह जानने के लिए कि अंधकार कैसा लगता है, बहुत सी गैस एक साथ जला दी जाएँ।"

निष्कर्ष—उपर्युक्त कठिनाइयों और दोषों के कारण आत्म-निरीक्षण विधि को अब पहले जैसा सम्मान और मान्यता प्राप्त नहीं है। मनोवैज्ञानिक अध्ययन के लिए अब इससे अधिक उपयुक्त और विश्वसनीय विधियाँ प्रचलित हैं।

2 गाथा वर्णन विधि
(Anecdotal Method)

यह विधि भी अन्तर्दर्शन विधि का बदला हुआ रूप है। इसमें व्यक्ति अपने पूर्व अनुभव या व्यवहार को पुनः स्मरण कर दूसरे व्यक्ति (मनोवैज्ञानिक) के सामने वर्णन करता है, जिसका एक अभिलेख (Record) तैयार कर लिया जाता है। इस प्रकार प्राप्त किये गये अभिलेख के आधार पर मनोवैज्ञानिक

निष्कर्ष निकालता है। विद्यालय में अध्यापक अपने शिष्यों के व्यवहार का जो पक्ष महत्वपूर्ण समझते हैं, उसका एक अभिलेख तैयार कर लेते हैं। ये अभिलेख अध्यापक के स्मरण के आधार पर तैयार होते हैं, इसलिए भूलने की सम्भावना बनी रहती है। यदि छात्रों के व्यवहार का ठीक-ठीक पुनः स्मरण नहीं हो पाता तो यह विधि दोषपूर्ण हो जाती है। स्पष्ट है कि यह विधि भी आत्मनिष्ठता के दोषों से प्रभावित होती है कारण इसके परिणाम कम विश्वसनीय होते हैं।

3. निरीक्षण विधि
(Observation Method)

यह विधि आत्म-निरीक्षण विधि के विपरीत एक वस्तुनिष्ठ विधि है। इसमें एक व्यक्ति या समूह के व्यवहार, जैसे—शारीरिक परिवर्तन, क्रियाएँ, आचरण, आदतों, चेहरे के भावों तथा वाणी के द्वारा उनकी अभिव्यक्ति आदि का निरीक्षण दूसरे व्यक्ति (शिक्षक या मनोवैज्ञानिक) द्वारा किया जाता है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति चिन्तित और भयभीत है, तो उसके चेहरे का पीलापन तथा उसकी बातचीत में घबराहट आदि व्यवहार को देखकर हम उसकी मनोदशा का सही अनुमान लगा सकते हैं और उसकी संवेगात्मक कठिनाई को तुरन्त समझ लेते हैं। व्यवहारवादियों के अनुसार हम मन (Mind) का सीधा निरीक्षण नहीं कर सकते लेकिन व्यक्ति के बाहरी व्यवहार (Outer Behaviour) का निरीक्षण करके मानसिक प्रक्रियाओं का अनुमान कर सकते हैं। निरीक्षण विधि एक पुरानी वैज्ञानिक विधि है, जिसकी सहायता से पदार्थ विज्ञानों की प्रगति हुई है।

निरीक्षण विधि के गुण

1. शिक्षा मनोविज्ञान के लिए यह विधि बहुत उपयुक्त है। शैक्षिक परिस्थितियों में बालकों के सामान्य व्यवहार, उनके आपसी सम्बन्ध और जन्मजात गुणों के प्रकाशन का निरीक्षण किया जा सकता है। निरीक्षण के आधार पर निकाले गये निष्कर्षों की सहायता से छात्रों के समुचित विकास पर ध्यान दिया जाता है।

(2) अध्यापक को एक कुशल निरीक्षक भी होना चाहिए ताकि वह अपने आस-पास की सामाजिक दशाओं, सामाजिक आवश्यकताओं और परम्पराओं के के अनुकूल शिक्षा के कार्यक्रम में परिवर्तन कर सकें। निरीक्षण द्वारा वह पाठ्यक्रम और शिक्षण विधियों आदि में सुधार कर सकता है।

(3) यह एक वैज्ञानिक विधि है, जिसके विभिन्न सोपान इस प्रकार हैं :

(क) छात्र-छात्राओं के व्यवहार का प्रत्यक्ष निरीक्षण—कक्षा में, परीक्षा भवन में, प्रयोगशाला में, खेल के मैदान में वाचनालय में एवं छात्रावास आदि में।

(ख) व्यवहार सम्बन्धी अभिलेख तैयार करना—जो कुछ निरीक्षण किया गया है उसे ज्यों का त्यों सावधानी से और व्यवस्थित ढंग से नोट कर लिया जाये इस प्रकार प्राप्त प्रदत्तों पर सांख्यिकीय प्रविधियाँ भी लागू की जा सकें

(ग) व्यवहार की व्याख्या और विश्लेषण करना—निरीक्षण के फलस्वरूप प्राप्त सामग्री का अनुशीलन करने के लिए उसका विश्लेषण एवं व्याख्या की जाती है

(घ) सामान्यीकरण या सिद्धान्त निरूपण—निरीक्षण से प्राप्त सामग्री [illegible]

पूर्ण अनुशीलन करने के बाद शिक्षक या मनोवैज्ञानिक उपयोगी निष्कर्ष निकालते हैं। ये निष्कर्ष सिद्धान्त या नियम के रूप में होते हैं।

निरीक्षण विधि की कठिनाइयाँ और दोष

(1) बालक के व्यवहार में अस्वाभाविकता आ जाना—यदि बालकों को यह पता चल जाये कि उनके आचरण का सूक्ष्म निरीक्षण किया जा रहा है तो वह स्वाभाविक ढंग का परित्याग कर देते हैं और उनके व्यवहार में बनावटीपन आ जाता है।

(2) अनेक बातों का एक साथ निरीक्षण करने में कठिनाई—शैक्षिक परिस्थितियों में निरीक्षणकर्त्ता को किसी बालक या बालकों के समूह की व्यवहार सम्बन्धी अनेक बातों को एक साथ देखना और नोट करना पड़ता है। इसके साथ-साथ व्यवहार की दशाओं और प्रभावित करने वाले कारकों पर भी ध्यान देना पड़ता है। अतः एक साथ इन सभी बातों का निरीक्षण करने में कठिनाई एवं त्रुटि हो सकती है, जिसकी वजह से उसके निष्कर्ष भी त्रुटिपूर्ण हो सकते हैं।

(3) यह विधि भी आत्मनिष्ठता के दोष से मुक्त नहीं।

(4) स्वाभाविक त्रुटियों के कारण यह विधि अविश्वसनीय है। किन्तु इसे अधिक विश्वसनीय बनाने के लिए अब निरीक्षण में वैज्ञानिक उपकरणों का अधिक से अधिक उपयोग किया जाता है। जैसे—किसी कार्य को करने के लिए अथवा व्यक्तियों की प्रतिक्रिया का समय निश्चित करने के लिए स्टॉप वाच का प्रयोग करना। इस प्रकार मानव प्रेक्षकों द्वारा किये जाने वाले पक्षपात से बचा जा सकता है।

निष्कर्ष—शिक्षा तथा मनोविज्ञान में यह विधि उपर्युक्त कठिनाइयों के होते हुए भी, बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है और शोध कार्यों में इसका बराबर प्रयोग होता है। इसकी कठिनाइयों और कमियों को दूर करने के लिए नीचे लिखी सावधानियाँ बरती जाती हैं :

(क) बालकों के सहज व्यवहार का निरीक्षण करने के लिए एक तरफे पर्दों (One Way Screen) का प्रयोग किया जाता है, जिसके पीछे से निरीक्षक बालकों को देख सकता है, किन्तु बालकों को उसकी (प्रेक्षक या निरीक्षक की) उपस्थिति का ज्ञान नहीं हो पाता।

(ख) प्रत्यक्ष व्यवहार निरीक्षण में, प्रेक्षक पक्षपात से मुक्त होकर, निरीक्षण की वस्तु पर ध्यान देता है। यदि आवश्यकता हो तो निरीक्षण कई प्रेक्षकों से कराया जाता है।

(ग) निरीक्षण कार्य अनुभवी प्रेक्षकों से कराया जाता है और आवश्यकतानुसार अनेक प्रेक्षकों द्वारा किए गए प्रेक्षणों का मिलान किया जाता है।

(घ) प्रेक्षण से पूर्व प्रत्येक प्रेक्षक को आवश्यक निर्देश दे दिए जाते हैं ताकि प्रेक्षण की विषयवस्तु एक सी रहे, व्यवहार के विभिन्न पक्षों पर सबका समान ध्यान रहे और प्रेक्षण करने की अवधि तथा विषय विस्तार (Details of Observation) एक से रहें।

4. प्रयोगात्मक विधि
(Experimental Method)

जर्मन मनोवैज्ञानिक वुंट (Wundt) ने सबसे पहले 1879 में लीपज़िग में

मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला स्थापित की और इस विधि को लोकप्रिय बनाया। बीसवीं शताब्दी के अनेक प्रमुख मनोवैज्ञानिकों ने इसी प्रयोगशाला में प्रशिक्षण प्राप्त करके मनोविज्ञान की उन्नति की और मनोविज्ञान, अन्य पदार्थ विज्ञानों की भाँति, एक विज्ञान समझा जाने लगा।

प्रयोग का अर्थ—चैपिन के अनुसार, 'नियन्त्रित दशाओं में किये गये निरीक्षण ही प्रयोग हैं।"[1] इसी को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि प्रयोग का अर्थ है किसी प्रश्न को व्यवस्थित और स्पष्ट ढंग से सामने रखकर उसका हल निकालना। प्रश्न जितना ही स्पष्ट होगा, उत्तर उतना ही स्पष्ट मिलेगा। प्रयोगकर्ता के समक्ष र कोई प्रश्न बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है तो वह उसे परिकल्पना (Hypothesis) रूप दे देता है। प्रयोग के आधार पर वह उस परिकल्पना को स्वीकृत अथवा स्वीकृत कर देता है। प्रयोग, निरीक्षण विधि का ही सुधरा हुआ रूप है। वा और पानी के प्रभावों या परिणामों को हम विस्तृत प्रकृति में देख सकते हैं, नका निरीक्षण कर सकते हैं। लेकिन जब हम किसी विशेष वस्तु पर पानी या वायु प्रभाव को जानना चाहते हैं तो हम प्रयोगशाला में अनेक प्रयोग करके यह देखते कि किन परिस्थितियों में किसी धातु या खनिज विशेष पर जल या गैसों का या प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार शिक्षा तथा मनोविज्ञान में भी प्रयोग किए ाते हैं। उदाहरण के लिए किसी अध्यापक को यह बात सूझी कि थोड़े मनोरंजन पश्चात् विद्यार्थी अधिक लगन से पढ़ते हैं और सीखने की क्रिया अधिक कुशलता हो सकती है। अब मनोरंजन का सीखने से क्या सम्बन्ध है? यह सम्बन्ध नात्मक है या ऋणात्मक? इस प्रकार के प्रश्न शिक्षक के सामने हैं। वह किसी भी प्रश्न का उत्तर पाने के लिए उसे परिकल्पना का रूप प्रदान कर देता है और उस परिकल्पना की जाँच करने के लिए प्रयोग करता है। प्रयोग का मतलब है, करके देखना। किसी कार्य को नियन्त्रित परिस्थिति में बार-बार करना और परिणामों की जाँच करना। यदि हर बार या अनेक बार परिणाम वही रहे तो परिकल्पना के पक्ष या विपक्ष में उत्तर प्राप्त हो जाएगा। यही परिकल्पना को स्वीकृत या अस्वीकृत करना कहलाता है।

एक चिकित्साशास्त्री रसायन विज्ञान में खोजे गए किसी नए रसायन (Drug) की चिकित्सा के लिए प्रयोग करना चाहता है। पहले वह उस रसायन का प्रयोग कुछ सामान्य पशुओं (चूहे, बिल्ली, बन्दर, खरगोश आदि) पर करता है और देखता है कि स्वस्थ पशुओं पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव लाभदायक भी हो सकता है और हानिकारक भी। इसके उपरान्त वह विभिन्न रोगों से पीड़ित पशुओं पर उस रसायन को दवा के रूप में प्रयोग करता है और उसका प्रभाव देखता है। यदि किसी रोग में उसे इस दवा का प्रभाव पशुओं पर लाभदायक दिखाई देता है तो वह अपने प्रयोगों को अधिक विस्तार से दोहराता है ताकि पूर्व अनुभवों पर आधारित निष्कर्ष सत्यापित हो सकें।

[1] "Experiment is an observation under controlled conditions." —Chapin. *Experimental Designs in Sociological Research*, 1947 p. 206. Harper & Bros.

इसी प्रकार एक शिक्षक भी मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा जीव विज्ञान आदि की खोजों को शिक्षा प्रक्रिया में लागू करना चाहता है। वह सीखने से सम्बन्धित खोजों और नवीन अध्यापन विधियों को कक्षा-शिक्षण में लागू करना चाहता है। लेकिन उसके प्रयोगों की सीमाएँ (Limitations) हैं। जिस प्रकार एक चिकित्सा-शास्त्री अपने प्रयोगों में पशुओं के जीवन से खिलवाड़ करता है, उस प्रकार का खिलवाड़ एक अध्यापक बालकों के साथ नहीं कर सकता। अतः शिक्षा में किए जाने वाले प्रयोग पदार्थों या पशुओं पर किए जाने वाले प्रयोगों से भिन्न होते हैं। किन्तु प्रयोग विधि के सामान्य सोपान शैक्षिक प्रयोगों पर भी लागू किए जाते हैं।

प्रयोग विधि के सामान्य सोपान

(i) **समस्या या प्रश्न का उठाया जाना (Raising a Problems)**—सबसे पहले समस्यात्मक प्रश्न उठाये जाते हैं। उदाहरणार्थ—धूम्रपान करना अथवा *उत्तेजनात्मक औषधि का लेना अध्ययन कार्य में सहायक है अथवा बाधक।*

(ii) **एक परिकल्पना का निर्धारण (Formation of a Hypothesis)**—इसके पश्चात परिकल्पना का निर्माण किया जाता है किसी समस्या के सम्भावित उत्तर को परिकल्पना कहते हैं। उपरोक्त उदाहरण में एक परिकल्पना यह हो सकती है कि धूम्रपान अथवा उत्तेजनात्मक औषधि अध्ययन कार्य पर कोई प्रभाव नहीं डालते हैं। इस परिकल्पना की सत्यता अथवा असत्यता प्रयोग द्वारा निश्चित की जाएगी।

(iii) **स्वतन्त्र तथा आश्रित चरों (Independent and Dependent Variables) को पृथक करना और उनकी परिभाषा करना** यह प्रयोग का तीसरा पद है। *उपरोक्त उदाहरण में सीखने या अध्ययन करने वाले की उपलब्धि आश्रित* चर है। प्रयोग में यही चर स्थिर रहेगा। धूम्रपान करना या उत्तेजनात्मक औषधि का लेना स्वतन्त्र चर हैं। प्रयोग की दशाओं में इनकी उपस्थिति या अनुपस्थिति के प्रभाव की परीक्षा की जाएगी।

(iv) **प्रयोग की दशाओं का नियन्त्रित करना (Controlling the Conditions of Experiment)**—परिस्थितियों या अन्य चरों का नियन्त्रण प्रयोग का सबसे महत्वपूर्ण पद है। मान लीजिए हम यह जानना चाहते हैं कि यदि बुद्धि-परीक्षा करने से पहले विद्यार्थियों को उत्तेजनात्मक औषधि (बैन्जोड्रीन सल्फेट) *की गोली खिला दी जाए, तो उस बुद्धि परीक्षा के परिणाम अधिक अच्छे होंगे।* इस प्रयोग के लिए अन्य प्रभाव डालने वाले चरों के नियन्त्रण हेतु छात्रों को दो समूहों (Groups) में बाँटा जाएगा। ये समूह आयु, शैक्षिक योग्यता, आर्थिक-सामाजिक स्तर आदि की दृष्टि से एक से होने चाहिए ताकि इनके द्वारा प्राप्त प्रदत्तों की तुलना की जा सके। इनमें से एक समूह, प्रयोगात्मक समूह (Experimental Group) कहलाएगा जिसे यह औषधि की गोली कैपसूल में रखकर दे दी जाएगी, किन्तु उन्हें यह नहीं बताया जाएगा कि यह गोली क्या है और इसका क्या प्रभाव होता है। दूसरा समूह नियन्त्रित समूह (Controlled Group) कहलाएगा, *जिसे कैपसूल में रखकर कोई भी मीठी गोली दे दी जाएगी। इन्हें भी यह नहीं* बताया जाएगा कि यह गोली क्या है और इसका क्या प्रभाव होगा। यदि इस प्रयोग में पहला समूह (प्रयोगात्मक समूह) बुद्धि-परीक्षा में दूसरे समूह की अपेक्षा अच्छे या

बुरे परिणाम दिखाता है तो हम कह सकते हैं कि इस औषधि का बुद्धि-मापन के कार्य पर प्रभाव पड़ता है। यदि हमारे पास विद्यार्थियों के दो तुलनात्मक समूह (Comparable Groups) नहीं हैं तो हम एक ही समूह पर दो बार प्रयोग करेंगे। एक बार इस समूह को प्रयोगात्मक समूह मानकर औषधि की वास्तविक गोली दी जाएगी और दूसरी बार इसे नियन्त्रित समूह मानकर औषधि की झूठी कैपसूल दी जाएगी। नियन्त्रित समूह के बिना परिणामों की तुलना नहीं की जा सकती है और इस प्रकार के प्रयोगों के परिणाम विश्वसनीय नहीं होते। ध्यान रहे कि एक समूह वाले प्रयोग में हमें समान स्तर की दो पृथक बुद्धि परीक्षाएँ देनी होंगी।

(v) प्रयोग के परिणामों का विश्लेषण (Analysis of the Results)—विश्लेषण प्रयोग का पाँचवाँ पद है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, प्रयोगकर्ता अपनी सुविधानुसार प्रयोग के पात्रों को एक या दो समूहों में रखता है। वह नियन्त्रित समूह और प्रयोगात्मक समूह को दी हुई परिस्थितियों में रखकर उन पर किए गए प्रयोगों के परिणाम प्राप्त करता है। इन परिणामों का विश्लेषण एवं तुलना की जाती है। इन समूहों पर किए गये प्रयोगों से प्राप्त प्रदत्तों का सांख्यिकीय विश्लेषण करके प्रयोग सम्बन्धी निष्कर्ष निकाले जाते हैं।

(vi) प्रयोग के परिणामों से परिकल्पना की जाँच (Verification of the Hypothesis by the Results of the Experiment)—इस प्रयोग के फल या तो परिकल्पना को स्वीकृत करते हैं अथवा अस्वीकृत करते हैं। उपरोक्त प्रयोग में यदि पहला समूह (प्रयोगात्मक समूह) बुद्धि-परीक्षा पर दूसरे समूह (नियन्त्रित समूह) की अपेक्षा अच्छे या बुरे परिणाम प्रदर्शित करता है तो हमारी परिकल्पना असत्य सिद्ध हो जाती है। यदि दोनों समूह बुद्धि-परीक्षा पर लगभग समान परिणाम प्रदर्शित करते हैं तो हमारी परिकल्पना की सत्यता सिद्ध हो जाती है।

(vii) चरों का नियन्त्रण और बदला जाना (Controlling and Rotating Variables)—निष्कर्ष के सत्यापन के लिए चरों को बदल कर भी प्रयोग कर सकते हैं। उपरोक्त उदाहरण में यदि हमारी परिकल्पना असत्य सिद्ध हो जाती है तो इस प्रयोग को आगे बढ़ाने के लिए हम समूहों को बदल कर प्रयोग दोहरा सकते हैं। मान लीजिए कि पहले समूह ने, जिसे वास्तव में उत्तेजनात्मक औषधि दी गई थी, दूसरे समूह ने बुरे परिणाम दिखाए तो हम कह सकते हैं कि इस औषधि का प्रभाव नकारात्मक (Negative) पड़ता है। इस निष्कर्ष की सत्यता प्रमाणित करने के लिए हम प्रयोग के दूसरे फेरे में समूहों का स्थान बदल देंगे और देखेंगे कि क्या दूसरे समूह के पात्र भी इस औषधि के प्रयोग के कारण पहले की अपेक्षा बुद्धि परीक्षा पर घटिया परिणाम प्रदर्शित करते हैं? इसी प्रकार पहला समूह, जिसे प्रयोग के दूसरे फेरे में औषधि की नकली कैपसूल दी जाती है पहले की अपेक्षा उत्तम परिणाम प्रदर्शित करता है, उसे भी देखेंगे। इससे यह सिद्ध हो जाएगा कि जब-जब इस दवा का प्रयोग किया जाएगा, बुद्धि परीक्षा पर प्राप्तांक कम हो जाएँगे। स्पष्ट है कि निष्कर्षों एवं परिकल्पनाओं की सत्यता एवं असत्यता प्रमाणित करने के लिए प्रयोग के चरों और प्रयोग से सम्बन्धित कारक को बदला जाता है और उनमें हेर-फेर करके प्रयोग को दोहराया जाता है।

प्रयोगात्मक विधि के गुण

(1) यह एक वैज्ञानिक विधि है। पदार्थ विज्ञानों में निरीक्षण ही प्रयोग में बदल जाता है। ताकि किसी कारक के प्रभाव को निश्चित करने लिए सही आँकड़े और तथ्य एकत्र किए जा सकें।

(2) इस विधि में निष्कर्षों की सत्यता प्रमाणित की जा सकती है, जैसा कि ऊपर बताया गया है।

(3) इस विधि से प्राप्त निष्कर्ष अथवा नियम सत्य, विश्वसनीय और व्यावहारिक होते हैं।

(4) शिक्षा की अनेक समस्याओं का सही समाधान प्रयोग द्वारा ही किया गया है।

(5) इस विधि मे अनेक नवीन तथ्यों पर प्रकाश डाला जाता है जोकि व्यावहारिक शिक्षण की दृष्टि से बहुत उपयोगी होते हैं।

प्रयोग विधि की कठिनाइयाँ और दोष

(1) प्रयोग की परिस्थितियो में कृत्रिमता स्वाभाविक है। प्रयोगकर्ता चाहे कितनी ही सावधानी से प्रयोग की परिस्थितियाँ जुटाए, उनमे थोड़ा-बहुत बनावटीपन आना स्वाभाविक है।

(2) प्रयोग की परिस्थितियों का पूरा नियन्त्रण न तो सम्भव है और न उचित ही है। प्रयोग मे सबसे बड़ी कठिनाई परिस्थितियों का विभिन्न समूहों के लिए एक सा बनाए रखना है। कृत्रिम ढंग से छात्रो मे हानिकारक संवेग जैसे भय, क्रोध आदि उत्पन्न करना अनुचित भी है। प्रयोग के लिए उनमें मानसिक तनाव उत्पन्न करना, उनके मानसिक स्वास्थ्य के लिए बहुत हानिकारक होगा।

(3) प्रयोग मे व्यक्ति या समूह, जिस पर प्रयोग किया जा रहा है, का सहयोग प्राप्त करना भी कठिन कार्य है। हमारे प्रयोग और उसके परिणामों मे छात्र-छात्राओं को क्या रुचि हो सकती है ?

(4) प्रयोग के बनावटी वातावरण मे व्यक्ति या समूह की स्वाभाविक प्रतिक्रिया और उसकी वास्तविक मानसिक दशा का पता नही चल पाता।

(5) हम प्रयोग को बाहरी दशाओं को तो किसी हद तक नियन्त्रित कर सकते हैं किन्तु आन्तरिक मानसिक दशाओं को नियन्त्रित नही कर पाते।

स्पष्ट है कि प्रयोग विधि की सबसे बडी कठिनाई बनावटी वातावरण और परिस्थितियों पर नियन्त्रण मे कठिनाई होना है। इन दोषो के होते हुए भी यह विधि अनुसंधान की सर्वोत्तम विधि है।

निष्कर्ष

बहुत सी बातों को जिन्हे हम युक्ति, तर्क और कल्पना के आधार पर सही मानते हैं और शिक्षा में लागू करना चाहते हैं, उनकी सत्यता स्थापित करने के लिए प्रयोग अनिवार्य हो जाता है। स्किनर ने ठीक ही कहा है कि "कुछ अनुसंधानो के लिए प्रयोग विधि को ही बहुधा सर्वोत्तम विधि माना जाता है।"[1]

1 "The experimental method is often considered to be the method par excellence for us in certain researches." —Skinner

5. जीवन-इतिहास विधि
(Case History Method)

इसे जीवन वृत्त विधि भी कहते हैं। शिक्षा में यह विधि बहुधा समस्यात्मक बालकों (अपराधी, झगड़ालू, मन्द बुद्धि, पिछड़े हुए, मानसिक रोगों से ग्रस्त) के अध्ययन पर लागू की जाती है। इसके पीछे मनोवैज्ञानिक विचार यह है कि व्यक्ति की मानसिक कठिनाइयों का कारण या उसके व्यवहार में असन्तुलन के कारण उसके आसपास के वातावरण में तथा पारिवारिक और सामाजिक दशाओं में, विद्यमान रहते हैं। अतः शिक्षा मनोवैज्ञानिक बालक की कठिनाइयों का पता लगाने के लिए उस बालक के जीवन की परिस्थितियों (Conditions of Life) के बारे में पूछ-ताछ और निरीक्षण करके उसका जीवन वृत्त तैयार करता है। इसके सम्बन्ध में लेखक का मत है कि जीवन इतिहास विधि में बालक के ऊपर वातावरण के प्रभाव, उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तथा परिवार में उसके सम्बन्ध के बारे में अध्ययन किया जाता है, जिससे उस बालक की प्रकृति के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक सूझ उत्पन्न हो सके।[1]

बहुधा मानसिक संघर्षों, बुरी आदतों और भावना ग्रन्थियों (Complexes) के पीछे उसके अपने कटु अनुभव होते हैं जिन्हें वह परिवार अथवा समाज में रहकर प्राप्त करता है। इसलिए जीवन इतिहास का सही-सही ब्यौरा तैयार करने के लिए मनोवैज्ञानिक या अध्यापक उन व्यक्तियों से पूछ-ताछ करता है जो प्रारम्भिक बाल्यकाल से लेकर अब तक उसके निकट सम्पर्क में रहे हैं, जो उसके जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं का सही विवरण दे सकते हैं। ऐसे व्यक्ति माता-पिता, भाई-बहिन, गुरुजन और खेल के साथी हो सकते हैं। बहुत सी बातें स्वयं बालक से सहानुभूति दिखाकर और उसका विश्वासपात्र बनकर मालूम की जा सकती हैं। इस प्रकार उस बालक के व्यक्तित्व विकास का एक क्रमिक विकासात्मक कथानक तैयार हो जाता है जिसको पढ़ने से कोई भी मनोवैज्ञानिक यह समझ सकता है कि उस बालक के जीवन के किस काल में कौनसी प्रमुख प्रेरणाएँ और अभिप्रेरणाएँ (Motives and Urges) कार्य कर रही थीं और इनके मार्ग में क्या बाधाएं उत्पन्न हुई हैं एवं उसके जीवन को मोड़ देने वाली घटनाएं क्या थीं ?

यहां उदाहरण के लिए किशोर सदन (Juvenlile Jail) बरेली के एक बाल अपराधी का जीवन वृत्त प्रस्तुत किया जाता है जिसका अध्ययन स्वयं लेखक ने

जीवनवृत्त का एक उदाहरण

1965-66 में किया था। किशोर और उसके परिवार के व्यक्तियों के नाम यहां गुप्त रखे गए हैं।

नाम : एन० ओ० टिकिट संख्या—A B C

(i) अपराध और सजा—स्कूल पढ़ने वाला एक 18 वर्ष का किशोर एन०

[1] "Their environmental field forces including their cultural background and their subtle interaction in the immediate family group are discussed in their individual relationships to gain psychological insight into the nature of the individual boys." K. L. Sharma : *A Psycho-Social study of Juvenile Delinquents*, Unpublished M. Ed. Thesis, Nagpur University, 1966.

पिता के क्रोध से बचाने के लिए उसके अपराधों को छिपा लेती थी। इन दशाओं में एन० डी० की अपराध-प्रवृत्ति अधिक कठोर हो गई। घर मे वह सुरक्षा और देख-भाल का अभाव अनुभव करने लगा। उसकी तुलना में उसके बड़े भाई की प्रशंसा की जाती थी क्योंकि उसका आचरण भी ठीक था और वह हाईस्कूल पास कर चुका था।

विद्यालय के बाहर एन० डी० की रुचि एक और वस्तु मे थी, और वह थी स्थानीय रामलीला मण्डली। इस मण्डली द्वारा प्रस्तुत नाटकों में वह साधारण अभिनय भी कर चुका था लेकिन मण्डली मे भाग लेना उसके माता-पिता को पसन्द नहीं था क्योंकि उनकी दृष्टि में यह काम एन० डी० की शिक्षा के लिए हानिकारक था। उसे इसी डर से पड़ोस के बच्चों के साथ खेलने भी नहीं दिया जाता था। इस प्रकार एन० डी० के पास अपनी रचनात्मक और क्रियात्मक शक्तियों के प्रकाशन का कोई साधन नही था।

(vi) **जीवन में समायोजन**—एन० डी० पर लागू की गई व्यक्तित्व परख (Personality Inventory) के परिणामों के अनुसार, उसके समूह के अन्य किशोरो की अपेक्षा, उसके प्राप्तांक कम हैं? उसका सामान्य समायोजन स्तर नीचा है, विशेषकर स्वास्थ्य, संवेगात्मक और सामाजिक क्षेत्रो मे। इस परख के अनुसार पांच बिन्दु वाले मापक पर उसे 'डी' वर्ग (असन्तोषपूर्ण) में रखा जा सकता है।

(vii) **बुद्धिमत्ता**—उस पर लागू की गई बुद्धि परीक्षा के परिणामों के अनुसार वह सामान्य बुद्धि (Average Intelligence) का किशोर है। केवल तर्क करने की योग्यता (Reasoning Ability) औसत से नीचे है।

(viii) *संगति का प्रभाव*—एन० डी० का एक *बाल्यकालीन साथी* के० के० था। यह दोनों विद्यालय में असफल रहे। के० के० पिताविहीन बिगड़ा हुआ बालक था। वह एन० डी० से पहले ही स्कूल छोड़ चुका था और उस पर कई मुकदमे चल रहे थे। एक दिन विद्यालय मे एन० डी० का झगड़ा एक दूसरे किशोर सी० एस० से हो गया। एन० डी० को पीटने की धमकी दी गई और एक दिन उसे सी० एस० *और उसके समर्थकों ने घेर लिया। अचानक के० के० वहाँ आ गया* और एन० डी० को कठिनाई में देखकर उसने सी० एस० पर चाकू चला दिया। फलस्वरूप सी० एस० 24 घण्टे मे मर गया। लेकिन मरने से पहले बयान मे उसने मारने वालों में एन० डी० तथा के० के० का नाम लिखा दिया। इस प्रकार बुरी संगति के प्रभाव से अपराध चरम सीमा पर पहुँच गया।

किशोर सदन में प्रगति—क्रोधी स्वभाव के कारण एन० डी० को किशोर सदन में प्रारम्भ मे कठिनाई हुई लेकिन धीरे-धीरे उसने स्काउटिंग और खेलों मे रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया। यहाँ उसने दर्जीगीरी का काम सीखा और एन० सी० सी० की 'बी' सर्टीफिकेट परीक्षा पास की तथा सार्जेन्ट पद प्राप्त किया। उसने किशोर सदन के बाहर भी एन० सी० सी० के कैम्पो मे भाग लिया। 1961 में वह *किशोर सदन के जूनियर हाईस्कूल मे भी भर्ती हुआ और 1963 में उसने यह* परीक्षा द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण की। 1965 में वह किशोर सदन के बाहर हाईस्कूल में पढ़ने जाता था। सदन मे उसकी चिन्ता का विषय उसका स्वास्थ्य था क्योंकि वह बहुधा चर्म रोगों से पीड़ित रहता था।

(ix) उसका भविष्य—किशोर सदन का वातावरण और प्रशिक्षण-कार्यक्रम उसके व्यक्तित्व विकास की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध हुआ। सोशियोग्राम (Sociogiam) पर उसकी स्थिति देखने से स्पष्ट होता है कि वह काफी मिलनसार है। उससे बातचीत करने पर जीवन में रचनात्मक दृष्टिकोण की झलक दिखाई पड़ जाती है।

जीवन वृत्त विधि के गुण

(1) यह विधि किसी व्यक्ति के असामान्य व्यवहार के कारणों का पता लगाने की उत्तम विधि है।

(2) इसके द्वारा किसी व्यक्ति की सम्पूर्ण मनोदशा और उसके व्यक्तित्व का खाका प्राप्त हो जाता है।

(3) शिक्षा सम्बन्धी कठिनाइयों की निदानात्मक जांच करने के लिए यह सर्वोत्तम विधि है।

जीवनवृत्त विधि की कठिनाइयां और दोष

(1) जीवन वृत्त का सही रूप संग्रह करने में अनेक कठिनाइयां आती हैं। सम्बन्धित व्यक्ति तथ्यों को घटा-बढ़ा कर बताते हैं।

(2) एक ही घटना या आचरण की व्याख्या करते हुए भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिक अलग-अलग अर्थ लगाते हैं। विशेषकर कारण और प्रभाव (Cause and Effect) को सम्बन्धित करने में।

(3) इस विधि की सफलता, मनोवैज्ञानिक की निष्पक्षता, सूझ-बूझ और मानव स्वभाव में अन्तरदृष्टि पर निर्भर करती है। खोजकर्ता को व्यक्तित्व मनोविज्ञान का अच्छा ज्ञान होना चाहिए।

6. विकासात्मक विधि
(Developmental Method)

इस विधि को जननिक विधि (Genetic Method) भी कहते हैं। किन्तु विकासात्मक विधि उत्पत्तिमूलक विधि से कहीं अधिक व्यापक है। व्यापक क्षेत्र होने के कारण यह विधि जीवन वृत्त विधि से भी मिलती-जुलती है। अन्तर केवल इतना है कि जीवन वृत्त विधि में मनोवैज्ञानिक दूसरों से पूछ-ताछ करके बालक के विकासक्रम की कड़ियों को मिलाता है जबकि विकासात्मक विधि में वह स्वयं लम्बे समय तक निरीक्षण, प्रयोग और परीक्षण द्वारा विकास की प्रक्रिया का अध्ययन करता है। बालक के विकास का समय शैशव से किशोरावस्था तक है। इस काल में उसके व्यवहार में तीव्र गति से होने वाले परिवर्तनों, उसकी जन्मजात् योग्यताओं और क्षमताओं में होने वाली वृद्धि का व्यवस्थित निरीक्षण करके उसके विकास की दिशाओं की व्याख्या की जाती है। इस विधि के द्वारा बालक-बालिकाओं के शारीरिक और मानसिक विकास की दिशाओं के रहस्य का उद्घाटन हुआ है। बीसवीं शताब्दी में अमेरिका आदि अनेक पाश्चात्य देशों में बाल-विकास अध्ययन केन्द्र खोले गए हैं। इन केन्द्रों में जन्म से लेकर किशोरावस्था के अन्त तक होने वाले परिवर्तन का सूक्ष्म निरीक्षण, शारीरिक वृद्धियों की माप, आयु-स्तर के अनुसार क्षमताओं और योग्यताओं का मूल्यांकन करके बालक के क्रमिक विकास की एक वैज्ञानिक रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है।

(1) इस विधि के द्वारा बाल मनोविज्ञान और शिक्षा मनोविज्ञान के क्षेत्रों में बालक सम्बन्धी जानकारियो की व्यापक वृद्धि हुई है।

विकासात्मक विधि के गुण

(2) यह विधि एक वैज्ञानिक विधि है जो जीव विज्ञान के अध्ययन मे भी लागू की जाती है। अध्यापक छात्रों के शैक्षिक विकास के अध्ययन में इसे लागू कर सकता है।

(3) इस विधि में बालक के स्वाभाविक विकास का अध्ययन किया जाता है। इसके परिणामस्वरूप बालकों के बारे में प्रचलित अनेक परम्परागत धारणाओं और रूढ़ियों का खण्डन हुआ है।

(4) इस विधि से प्राप्त जानकारियों के आधार पर शैशव और बाल्य-कालीन शिक्षा मे क्रान्तिकारी परिवर्तन किए गए हैं। यह विधि किशोर-जीवन को समझने में बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है।

विकासात्मक विधि की कठिनाइयाँ और दोष

(1) यह विधि केवल स्वाभाविक विकास के अध्ययन पर बल देती है। इसके द्वारा मनुष्य में उत्पन्न होने वाली अस्वाभाविक बातो का अध्ययन नही किया जाता। चूँकि कठिन परिस्थितियों में रखकर बाल-व्यवहार का अध्ययन नही किया जा सकता।

(2) इस विधि में अध्ययन की विषयवस्तु बहुत व्यापक और बहुमुखी हो जाती है। बालक इतना अधिक व्यवहार प्रस्तुत करता है कि एक निरीक्षक उसका थोड़ा सा भाग ही नोट कर सकता है।

(3) विकास की क्रिया को प्रभावित करने वाले सभी आन्तरिक और बाह्य कारकों को निश्चित और नियन्त्रित करना भी एक कठिन कार्य है।

7. तुलनात्मक विधि
(Comparative Method)

शिक्षा और मनोविज्ञान मे इस विधि का प्रयोग अनुसन्धान के सभी क्षेत्रो में किया जाता है। इस विधि के द्वारा मानव समूहो की, मानव व पशुओ के व्यवहार की, विभिन्न वातावरण मे पाले गए बच्चो के व्यवहार की तुलना की जाती है। इन तुलनाओ के परिणामस्वरूप व्यवहार सम्बन्धी समानताओं और असमानताओं पर प्रकाश डालकर मानव स्वभाव के आश्चर्यजनक तथ्यों का उद्घाटन किया जाता है। बालक और पशु बहुत सी बातो मे समान होते हैं। जो प्रयोग बालकों पर नही किए जा सकते, वे पशुओ पर सरलता से किए जा सकते हैं और इन प्रयोगो के परिणामों की तुलना बाल-व्यवहार में उत्पन्न परिवर्तनो से की जा सकती है। इस प्रकार तुलनात्मक विधि, मनोवैज्ञानिक ज्ञान की वृद्धि में, सहायक है।

8. सांख्यिकीय विधि
(Statistical Method)

यह विधि सभी विषयों मे ज्ञान वृद्धि का साधन है। मानव ज्ञान के सभी क्षेत्रो मे यह विधि अत्यधिक प्रचलित है। शिक्षा और मनोविज्ञान मे इसका प्रयोग किसी भी समस्या से सम्बन्धित आवश्यक प्रदत्तो को एकत्र करने और उनका विश्लेषण

(ix) उसका भविष्य—किशोर सदन का वातावरण और प्रशिक्षण-कार्यक्रम उसके व्यक्तित्व विकास की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध हुआ। सोशियोग्राम (Sociogiam) पर उसकी स्थिति देखने से स्पष्ट होता है कि वह काफी मिलनसार है। उससे बातचीत करने पर जीवन में रचनात्मक दृष्टिकोण की झलक दिखाई पड़ जाती है।

जीवन वृत्त विधि के गुण

(1) यह विधि किसी व्यक्ति के असामान्य व्यवहार के कारणों का पता लगाने की उत्तम विधि है।

(2) इसके द्वारा किसी व्यक्ति की सम्पूर्ण मनोदशा और उसके व्यक्तित्व का खाका प्राप्त हो जाता है।

(3) शिक्षा सम्बन्धी कठिनाइयों की निदानात्मक जाँच करने के लिए यह सर्वोत्तम विधि है।

जीवनवृत्त विधि की कठिनाइयाँ और दोष

(1) जीवन वृत्त का सही रूप संग्रह करने में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। सम्बन्धित व्यक्ति तथ्यों को घटा-बढ़ा कर बताते हैं।

(2) एक ही घटना या आचरण की व्याख्या करते हुए भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिक अलग-अलग अर्थ लगाते हैं। विशेषकर कारण और प्रभाव (Cause and Effect) को सम्बन्धित करने में।

(3) इस विधि की सफलता, मनोवैज्ञानिक की निष्पक्षता, सूझ-बूझ और मानव स्वभाव में अन्तरदृष्टि पर निर्भर करती है। खोजकर्ता को व्यक्तित्व मनोविज्ञान का अच्छा ज्ञान होना चाहिए।

6. विकासात्मक विधि
(Developmental Method)

इस विधि को जननिक विधि (Genetic Method) भी कहते हैं। किन्तु विकासात्मक विधि उत्पत्तिमूलक विधि से कहीं अधिक व्यापक है। व्यापक क्षेत्र होने के कारण यह विधि जीवन वृत्त विधि से भी मिलती-जुलती है। अन्तर केवल इतना है कि जीवन वृत्त विधि में मनोवैज्ञानिक दूसरों से पूछ-ताछ करके बालक के विकासक्रम की कड़ियों को मिलाता है जबकि विकासात्मक विधि में वह स्वयं लम्बे समय तक निरीक्षण, प्रयोग और परीक्षण द्वारा विकास की प्रक्रिया का अध्ययन करता है। बालक के विकास का समय शैशव से किशोरावस्था तक है। इस काल में उसके व्यवहार में तीव्र गति से होने वाले परिवर्तनों, उसकी जन्मजात् योग्यताओं और क्षमताओं में होने वाली वृद्धि का व्यवस्थित निरीक्षण करके उसके विकास की दिशाओं की व्याख्या की जाती है। इस विधि के द्वारा बालक-बालिकाओं के शारीरिक और मानसिक विकास की दिशाओं के रहस्य का उद्घाटन हुआ है। बीसवीं शताब्दी में अमेरिका आदि अनेक पाश्चात्य देशों में बाल-विकास अध्ययन केन्द्र खोले गए हैं। इन केन्द्रों में जन्म से लेकर किशोरावस्था के अन्त तक होने वाले परिवर्तन का सूक्ष्म निरीक्षण, शारीरिक वृद्धियों की माप, आयु-स्तर के अनुसार क्षमताओं और योग्यताओं का मूल्यांकन करके बालक के क्रमिक विकास की एक वैज्ञानिक रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है।

है। आधुनिक शिक्षक अनेक प्रकार की परीक्षाएँ, परख, प्रश्नावलियाँ, अभिसूचियाँ आदि स्कूली जनसंख्या पर लागू करते रहते हैं। इन परीक्षाओं के परिणामों का विश्लेषण करने से शिक्षा मनोविज्ञान की विषयवस्तु और ज्ञान का विस्तार हुआ है। इस ज्ञान के आधार पर बालकों को व्यक्तिगत, शैक्षिक और व्यावसायिक निर्देशन (Guidance) दिया जाता है।

12. साक्षात्कार विधि
(Interview Method)

शिक्षा मनोविज्ञान की यह विधि प्रायः अन्य विधियों (जैसे— जीवनवृत्त उपचारात्मक, निरीक्षण, विकासात्मक आदि) के साथ खोज कार्यों में प्रयोग की जाती है। साक्षात्कार किसी समस्या के बारे में विचार-विमर्श करने, जानकारी प्राप्त करने अथवा जाँच करने की एक बहु-प्रचलित विधि है और सभी सामाजिक विषयों में इसका व्यापक प्रयोग होता है। किन्तु अन्य विधियों की अपेक्षा यह विधि कम वैज्ञानिक और विश्वसनीय है। विद्यार्थियों का चयन, कक्षोन्नति और विविध विषयों में योग्यता की जाँच करने के लिए इस विधि का प्रयोग किया जाता है। व्यक्तित्व सम्बन्धी साधारण जानकारी प्राप्त करने की यह सबसे सरल विधि है।

13. प्रश्नावली विधि
(Questionnaire Method)

यह विधि साक्षात्कार विधि का सुधरा हुआ और लिखित रूप है। इसके द्वारा वे सब सूचनाएँ जो व्यक्तिगत साक्षात्कार द्वारा प्राप्त की जाती हैं थोड़े समय में, कम खर्च पर और अधिक से अधिक व्यक्तियों से एक साथ प्राप्त की जा सकती हैं और एक विशेषता यह भी है कि इनका लिखित अभिलेख भी रहता है। अधिक सुविधाजनक और उपयोगी होने के कारण यह विधि साक्षात्कार के स्थान पर प्रयोग में लाई जाती है। शैक्षिक कार्यक्रम के प्रति छात्रों और अभिभावकों की प्रतिक्रियाएँ, उनकी पसन्द और नापसन्द, स्कूली समस्याओं के बारे में उनकी राय और सुझाव आदि प्राप्त करने की यह सर्वोत्तम विधि है।

प्रश्नावली विधि की सीमाएँ

(1) यदि प्रश्नावली में प्रश्नों की संख्या बहुत अधिक होती है तो उत्तर देने वाला ऊब जाता है।

(2) निष्पक्ष और सही उत्तर न मिलने पर परिणाम भ्रामक हो सकते हैं।

(3) यदि प्रश्नों की भाषा ठीक नहीं है तो प्रश्न समझने में कठिनाई होती है।

(4) डाक से भेजी गई प्रश्नावलियों के उत्तर प्रायः कम प्राप्त होते हैं।

14. जननिक विधि
(Genetic Method)

इसकी चर्चा विकासात्मक विधि में की जा चुकी है। इस विधि से मानव बुद्धि और विकास का आयु के अनुसार क्रमिक अध्ययन किया जाता है, विशेषकर बाल मनोविज्ञान के क्षेत्र में। इसकी दो पद्धतियाँ हैं—

(1) क्षैतिज (Horizontal or Cross Sectional)

(2) लम्ब रूप में (Longitudinal or Vertical)

एवं अनुशीलन करने में किया जाता है। इस विधि ने शिक्षा मनोविज्ञान के ज्ञान को अधिक विश्वसनीय (Reliable) और प्रामाणिक बना दिया है और शिक्षा मनोविज्ञान की भविष्य कथन (Prediction) करने की शक्ति बढ़ी है। शिक्षा मनोविज्ञान के क्षेत्र में इस विधि का व्यापक प्रयोग मानसिक योग्यताओं (Mental Abilities) और निष्पत्ति (Achievement) परीक्षाओं में किया जाता है।

9. मनोविश्लेषण विधि
(Psycho-Analytic Method)

विख्यात मनोचिकित्सक फ्रायड (Freud) इस विधि के जन्मदाता हैं मनोविश्लेषणवादियों के अनुसार 'चेतन मन' की अपेक्षा 'अचेतन मन' (Unconscious Mind) व्यक्ति के व्यवहार को अधिक प्रभावित करता है। यह अचेतन मन अतृप्त इच्छाओं, भावनाओं और आवेगों का पुंज होता है जो अवसर पाकर, चेतन मन में आकर, अपने को सन्तुष्ट करने का प्रयास करता है और चेतन मन के सन्तुलन (अनुशासन) को भंग कर देता है। अतः व्यक्ति के अचेतन मन में छिपी हुई इन इच्छाओं, भावनाओं और आवेगों का पता लगाया जाना अधिक महत्वपूर्ण है। स्वतन्त्र साहचर्य और स्वप्न विश्लेपण (Dream Analysis), मूर्च्छा या अर्ध-निद्रा आदि विधियों से मनोवैज्ञानिक इस अचेतन मन के बारे में जानकारी प्राप्त करता है। तदुपरान्त, हानिकारक इच्छाओं और आवेगों का मार्गान्तरीकरण (Redirection) करके, उस व्यक्ति की मानसिक कठिनाइयों का उपचार किया जाता है। असामान्य व्यवहार को समझने निदानात्मक परीक्षण करने और मानसिक उपचार करने की यह सर्वोत्तम विधि है। किन्तु इसका प्रयोग एक कुशल मनोवैज्ञानिक ही कर सकता है। शिक्षक को इस विधि का अध्ययन करने से समस्यात्मक बालकों को समझने में सहायता मिलती है।

10. निदानात्मक विधि
(Clinical Method)

स्किनर के अनुसार यह विधि विशेष प्रकार से सीखने की क्रियाओं, व्यक्तित्व या आचरण सम्बन्धी जटिलताओं को समझने और व्यक्तित्व समायोजन के क्षेत्रों में लागू की जाती है। शिक्षा मनोविज्ञान में समस्यात्मक बालकों के अध्ययन में यह विधि बहुत सुविधाजनक है। इस विधि में शिक्षक या मनोवैज्ञानिक बालक की मानसिक आवश्यकताओं एवं विशिष्ट आवश्यकताओं के बारे में ज्ञान प्राप्त करता है और इन आवश्यकताओं को उसकी जटिलताओं से सम्बन्धित करके उपचार का मार्ग निर्धारित करता है।

11. परीक्षण विधि
(Test Method)

इसे मूल्यांकन विधि भी कहते हैं। मनोविज्ञान में परीक्षण विधि का प्रयोग व्यक्तिगत भिन्नताओं (Individual Differences) को समझने के लिए किया गया था। इसके लिए विभिन्न प्रकार की परीक्षाएँ समय-समय पर बनाई गईं जिनके द्वारा बुद्धि, व्यक्तित्व, ज्ञान, शारीरिक क्षमता, रुचि आदि का मूल्यांकन किया जाने लगा। शिक्षा मनोविज्ञान में भी छात्रों की मानसिक योग्यता, मानसिक झुकाव, रुचियों एवं शैक्षिक उपलब्धियों आदि का मूल्यांकन करने के लिए परीक्षण विधि लागू की जाती

है। आधुनिक शिक्षक अनेक प्रकार की परीक्षाएँ, परख, प्रश्नावलियाँ, अभिसूचियाँ आदि स्कूली जनसंख्या पर लागू करते रहते हैं। इन परीक्षाओं के परिणामों का विश्लेषण करने से शिक्षा मनोविज्ञान की विषयवस्तु और ज्ञान का विस्तार हुआ है। इस ज्ञान के आधार पर बालकों को व्यक्तिगत, शैक्षिक और व्यावसायिक निदेशन (Guidance) दिया जाता है।

12. साक्षात्कार विधि
(Interview Method)

शिक्षा मनोविज्ञान की यह विधि प्रायः अन्य विधियों (जैसे— जीवनवृत्त उपचारात्मक, निरीक्षण, विकासात्मक आदि) के साथ खोज कार्यों में प्रयोग की जाती है। साक्षात्कार किसी समस्या के बारे में विचार-विमर्श करने, जानकारी प्राप्त करने अथवा जाँच करने की एक बहु-प्रचलित विधि है और सभी सामाजिक विषयों में इसका व्यापक प्रयोग होता है। किन्तु अन्य विधियों की अपेक्षा यह विधि कम वैज्ञानिक और विश्वसनीय है। विद्यार्थियों का चयन, कक्षोन्नति और विविध विषयों में योग्यता की जाँच करने के लिए इस विधि का प्रयोग किया जाता है। व्यक्तित्व सम्बन्धी साधारण जानकारी प्राप्त करने की यह सबसे सरल विधि है।

13. प्रश्नावली विधि
(Questionnaire Method)

यह विधि साक्षात्कार विधि का सुधरा हुआ और लिखित रूप है। इसके द्वारा वे सब सूचनाएँ जो व्यक्तिगत साक्षात्कार द्वारा प्राप्त की जाती हैं थोड़े समय में, कम खर्च पर और अधिक से अधिक व्यक्तियों से एक साथ प्राप्त की जा सकती हैं और एक विशेषता यह भी है कि इनका लिखित अभिलेख भी रहता है। अधिक सुविधाजनक और उपयोगी होने के कारण यह विधि साक्षात्कार के स्थान पर प्रयोग में लाई जाती है। शैक्षिक कार्यक्रम के प्रति छात्रों और अभिभावकों की प्रतिक्रियाएँ, उनकी पसन्द और नापसन्द, स्कूली समस्याओं के बारे में उनकी राय और सुझाव आदि प्राप्त करने की यह सर्वोत्तम विधि है।

प्रश्नावली विधि की सीमाएँ

(1) यदि प्रश्नावली में प्रश्नों की संख्या बहुत अधिक होती है तो उत्तर देने वाला ऊब जाता है।

(2) निष्पक्ष और सही उत्तर न मिलने पर परिणाम भ्रामक हो सकते हैं।

(3) यदि प्रश्नों की भाषा ठीक नहीं है तो प्रश्न समझने में कठिनाई होती है।

(4) डाक से भेजी गई प्रश्नावलियों के उत्तर प्रायः कम प्राप्त होते हैं।

14 जननिक विधि
(Genetic Method)

इसकी चर्चा विकासात्मक विधि में की जा चुकी है। इस विधि से मानव वृद्धि और विकास का आयु के अनुसार क्रमिक अध्ययन किया जाता है, विशेषकर बाल मनोविज्ञान के क्षेत्र में। इसकी दो पद्धतियाँ हैं—

(1) क्षैतिज (Horizontal or Cross Sectional)

(2) लम्ब रूप में (Longitudinal or Vertical)

क्षैतिज पद्धति में एक ही आयुस्तर के अनेक बच्चों की विकास सम्बन्धी विलक्षणताओं का अध्ययन किया जाता है। यह एक प्रकार से तुलनात्मक अध्ययन होता है जिसमें एक बड़े समूह को छोटे उपसमूहों में प्रदत्तों के अनुसार बाँट दिया जाता है।

लम्ब रूप पद्धति में एक ही बालक या समूह का लम्बे समय तक अध्ययन करके विकास की विभिन्न अवस्थाओं से सम्बन्धित विलक्षणताओं का अध्ययन होता है।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. वैज्ञानिक विधि से आप क्या समझते हैं? शिक्षा मनोविज्ञान किन-किन वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करता है?

2. शिक्षा मनोविज्ञान की विभिन्न विधियों का आलोचनात्मक परिचय दीजिए।

3. आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ विधियों से आप क्या समझते हैं? उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिये।

5

मनोविज्ञान के सम्प्रदायों का शिक्षा मनोविज्ञान पर प्रभाव
(INFLUENCE OF THE SCHOOLS OF PSYCHOLOGY ON EDUCATIONAL PSYCHOLOGY)

मनोविज्ञान के सम्प्रदाय और शिक्षा मनोविज्ञान

शिक्षा-मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की एक व्यावहारिक शाखा है। मनोविज्ञान से प्राप्त अनेक सिद्धान्तों और नियमो को शिक्षा में लागू करते समय एक कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि मनोविज्ञान में अनेक विचारधाराएँ और सम्प्रदाय (Schools) हैं। जिनकी वजह से प्राप्त परिणामों में विवाद उत्पन्न हो जाता है। एक ही मनोवैज्ञानिक समस्या का समाधान, भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से, इन सम्प्रदायो द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। किन्तु शिक्षा-मनोविज्ञान किसी संप्रदाय विशेष का अनुगमन नहीं करता बल्कि मनोविज्ञान के सभी सम्प्रदायो के सहयोग से शैक्षिक परिस्थितियो में *बालक के व्यवहार की व्याख्या करता है। शैक्षिक समस्याओं का युक्तिपूर्ण समाधान* करने के लिए शिक्षा-मनोविज्ञान में इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि मनोविज्ञान की विभिन्न विचारधाराओं का सश्लेषण किया जाय। कहीं-कही तो मनोविज्ञान के एक ही संप्रदाय को मानने वाले मनोवैज्ञानिक अपने विश्वासो और सिद्धान्तो मे एक-दूसरे से पृथक दिखाई देते हैं। उदाहरणार्थ—व्यवहारवादी वाटसन (Watson) मूल प्रवृत्तियों के अस्तित्व को स्वीकार नही करता, जबकि दूसरा व्यवहारवादी लैशले (Lashlay) जटिल व्यवहारों के अर्जन में विश्वास नही करता। शिक्षा-मनोवैज्ञानिक का उद्देश्य वाद-विवादों में न पड़कर निश्चित और विधायक निष्कर्षों पर पहुँचना है। इन परिस्थितियों में शिक्षा-मनोवैज्ञानिको का मार्ग निर्देशित करते हुए सी० एच० जुड ने लिखा है—' यह सौभाग्य का विषय है कि शिक्षा पूर्णत. मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला पर निर्भर नही करती और न ही विभिन्न मनोवैज्ञानिक विचारधाराओ की परस्पर विरोधी व्याख्याओ मे ही आश्रय खोजती है। प्रायोगिक शिक्षा स्वतन्त्र रूप से प्रयोग सिद्ध (Empirical) विज्ञान के रूप म विकसित हो रही है।[1]

---

1 "Fortunately education is not entirely at the mercy of laboratory psychology and of the *conflicting interpretations* of rival schools of psychologists Experimental education is developing as an independent empirical science"
—*Judd, C H*

मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों के अध्ययन की आवश्यकता

शिक्षा-मनोविज्ञान का प्रमुख उद्देश्य बालक को समझना है। मनोविज्ञान के संप्रदाय अपने-अपने दृष्टिकोण से मानव मन को समझने की चेष्टा करते हैं। इनका अध्ययन करने से शिक्षा मनोवैज्ञानिक को मनोविज्ञान के विभिन्न दृष्टिकोणों की जानकारी होती है और यह भी पता लग जाता है कि मनोविज्ञान का क्षेत्र विस्तृत है और इन क्षेत्रों का शिक्षा-मनोविज्ञान पर क्या प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक संप्रदाय ने मानसिक समस्याओं का गहरा अन्वेषण किया है और प्रत्येक से शिक्षा-मनोविज्ञान को अनेक उपलब्धियाँ प्राप्त हुई हैं। अतः शिक्षा-मनोविज्ञान की नींव दृढ़ बनाने के लिए इन सम्प्रदायों का अनुशीलन बहुत आवश्यक है। इनमें से कुछ सम्प्रदायों ने सीखने की प्रक्रिया, बौद्धिक विकास और व्यक्तित्व विकास आदि का गहन अन्वेषण करके शिक्षा प्रक्रिया को काफी प्रभावित किया है। शिक्षा-मनोविज्ञान की सम्पूर्ण पृष्ठभूमि को समझने के लिए इन सम्प्रदायों की चर्चा यहाँ की जा रही है।

1. चेतना-रचनावाद
(Structuralism)

चेतना-रचनावाद वह मनोवैज्ञानिक विचारधारा है जो मनोविज्ञान का अध्ययन-विषय चेतना की रचना मानती है और यह स्वीकार करती है कि चेतना में भिन्न-भिन्न मानसिक तत्वों एवं प्रत्ययों का जोड़-तोड़ होता रहता है। व्यक्ति के विभिन्न व्यक्तिगत संवेदनाओं के अनुभव के योग को चेतना कहा गया है और मनोविज्ञान का उद्देश्य चेतना की रचना को जानना तथा उन्हें निर्मित करने वाले तत्वों की खोज करना था। अतः चेतना-रचनावाद के अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु **चेतना की रचना है।** चेतना की व्याख्या करते समय इस विचारधारा के लोग विभिन्न मानसिक क्रियाओं पर अधिक बल देते हैं।

चेतना-रचनावादी मानसिक शक्तियों Mental Faculties) को निरर्थक मानकर उनका अध्ययन नहीं करते। इसके अतिरिक्त वे 'साहचर्य' को भी स्वीकार नहीं करते। इस रूप में यह विचारधारा शक्ति मनोविज्ञान तथा साहचर्यवाद की विरोधी है। इसका लक्ष्य तो मानसिक संरचनाओं और क्रियाओं का अध्ययन करना है। इन लोगों की धारणा थी कि मानव-मस्तिष्क की गति को समझने के लिए चेतना के भिन्न भिन्न तत्वों (संवेदना, संवेग तथा इच्छा) को समझना आवश्यक है। इसमें वे अनुभव को महत्व देते हैं। अनुभव का आधार तन्त्रिकातन्त्र है।

चेतना रचनावादी विचारधारा के प्रवर्तक विलियम वुण्ट और टिचनर हैं। 1879 ई० में वुण्ट ने लिपजिग में सबसे पहली मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला की स्थापना की। इसके साथ ही प्रयोगात्मक मनोविज्ञान की नींव पड़ी, जिसके फलस्वरूप मनोविज्ञान विज्ञान की कोटि में आ सका। इस प्रयोगशाला में इन्होंने मनुष्य के आन्तरिक अनुभवों की खोज करने के लिए संवेदना, विचार, भावना, संकल्प तथा इच्छा आदि पर प्रयोगात्मक रूप से अध्ययन शुरू किया। अपने विभिन्न प्रयासों में यह लोग चेतना की रचना का अध्ययन करते थे। इसी कारण इनकी विचारधारा चेतना-रचनावाद कहलाई।

अध्ययन की विधि के रूप में इन लोगो ने अन्तर्दर्शन को अपनाया। इनका कहना था कि इसी विधि द्वारा चेतना के विभिन्न अंगों का भली प्रकार अध्ययन किया जा सकता है।

चेतना-अनुभव को वुण्ट ने दो प्रकार का बताया है—(1) संवेदनायें—सवेदनायें बाह्य जगत से प्राप्त होती हैं। (2) भावनायें—भावनायें आन्तरिक होती हैं। भावनाएँ सुखद और दुखद दोनों प्रकार की हो सकती हैं। इसी प्रकार भावनाएँ भी शान्त और उत्तेजनात्मक दो प्रकार की होती हैं। इन्ही भावनाओ के योग से अनेक प्रारूप (Patterns) बन जाते हैं। सवेग एक मिश्रित अनुभव है जिसमें विभिन्न भावनाओं तथा शारीरिक सवेदनाओं का मिश्रण होता है। वुण्ट ने अपने प्रयोगों में यह पाया कि सुखद भावना के समय विश्राम तथा शान्ति का अनुभव होता है। इसके विपरीत दुखद भावना के समय तनाव एवं उत्तेजना का अनुभव होता है। इसी प्रकार प्रत्येक भावना के साथ किसी न किसी अनुभव का योग होता है। वुण्ट के अनुसार, "सवेदना उस समय उत्पन्न होती है जब कि इन्द्रियाँ उद्दीपक को प्राप्त करती हैं, चेतना तन्त्रिकार्य-तन्त्रिका प्रणाली को उत्तेजित करती हैं। भावनाओं से प्रभावित होकर व्यक्ति किसी कार्य को करने की प्रेरणा प्राप्त करता है। भावनायें क्रिया हेतु प्रेरित करने के लिए उत्तेजक का कार्य करती हैं।

वुण्ट ने मानसिक क्रियाओ पर बल तो दिया किन्तु उसने मन तथा शरीर की क्रियाओं को अलग माना। ये दोनो एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हुए भी एक-दूसरे की क्रियाओ से प्रभावित नही हैं। इनमें कार्य-कारण सम्बन्ध भी नहीं है। अतः दोनो का अध्ययन अलग-अलग ही होना चाहिए।

टिचनर जो कि वुण्ट का शिष्य था उसने ही इनके कार्य को आगे बढ़ाया तथा इसमें पर्याप्त योगदान दिया है।

चेतना-रचनावाद का शिक्षा पर प्रभाव

(1) चेतना-रचनावाद ने मनोविज्ञान को वैज्ञानिक रूप दिया और इसका प्रभाव शिक्षा-मनोविज्ञान पर पडा।

(2) इनके द्वारा किये गये ध्यान, प्रतिमा, सवेदना तथा भावना आदि सम्बन्धी प्रयोगो के निष्कर्ष शिक्षा-क्षेत्र के व्यवहार मे लाये गये।

(3) चेतना-रचनावादियों ने अनुभव को महत्व प्रदान किया। इसका प्रभाव शिक्षा-क्षेत्र पर भी पड़ा। शिक्षा का उद्देश्य अनुभव का विकास एव परिमार्जन माना जाने लगा।

(4) मानसिक क्रिया के स्वरूप तथा रचना के अध्ययन ने शिक्षा को मानसिक प्रक्रिया के रूप मे बड़ी सीमा तक प्रभावित किया।

(5) इस विचारधारा ने मनोविज्ञान तथा शिक्षा के क्षेत्र में वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहित किया जिसके फलस्वरूप अनेक समस्याओं के वैज्ञानिक निष्कर्ष प्राप्त हुए।

चेतना-रचनावाद की सीमायें—(1) इसका क्षेत्र अत्यन्त सीमित रहा।

(2) इन लोगो ने व्यक्तित्व और अभिप्रेरणा जैसे अत्यन्त महत्वपूर्ण विषयो की ओर बिलकुल ध्यान नही दिया।

मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों के अध्ययन की आवश्यकता

शिक्षा-मनोविज्ञान का प्रमुख उद्देश्य बालक को समझना है। मनोविज्ञान के संप्रदाय अपने-अपने दृष्टिकोण से मानव मन को समझने की चेष्टा करते हैं। इनका अध्ययन करने से शिक्षा मनोवैज्ञानिक को मनोविज्ञान के विभिन्न दृष्टिकोणों की जानकारी होती है और यह भी पता लग जाता है कि मनोविज्ञान का क्षेत्र विस्तृत है और इन क्षेत्रों का शिक्षा-मनोविज्ञान पर क्या प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक संप्रदाय ने मानसिक समस्याओं का गहरा अन्वेषण किया है और प्रत्येक से शिक्षा-मनोविज्ञा को अनेक उपलब्धियाँ प्राप्त हुई हैं। अतः शिक्षा-मनोविज्ञान की नींव दृढ़ बनाने के लिए इन सम्प्रदायों का अनुशीलन बहुत आवश्यक है। इनमें से कुछ सम्प्रदायों ने सीखने की प्रक्रिया, बौद्धिक विकास और व्यक्तित्व विकास आदि का गहन अन्वेषण करके शिक्षा प्रक्रिया को काफी प्रभावित किया है। शिक्षा-मनोविज्ञान की सम्पूर्ण पृष्ठभूमि को समझने के लिए इन सम्प्रदायों की चर्चा यहाँ की जा रही है।

1. चेतना-रचनावाद
(Structuralism)

चेतना-रचनावाद वह मनोवैज्ञानिक विचारधारा है जो मनोविज्ञान का अध्ययन-विषय चेतना की रचना मानती है और यह स्वीकार करती है कि चेतना में भिन्न-भिन्न मानसिक तत्वों एवं प्रत्ययों का जोड़-तोड़ होता रहता है। व्यक्ति के विभिन्न व्यक्तिगत संवेदनाओं के अनुभव के योग को चेतना कहा गया है और मनोविज्ञान का उद्देश्य चेतना की रचना को जानना तथा उन्हें निर्मित करने वाले तत्वों की खोज करना था। अतः चेतना-रचनावाद के अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु **चेतना की रचना है**। चेतना की व्याख्या करते समय इस विचारधारा के लोग विभिन्न मानसिक क्रियाओं पर अधिक बल देते हैं।

चेतना-रचनावादी मानसिक शक्तियों Mental Faculties) को निरर्थक मानकर उनका अध्ययन नहीं करते। इसके अतिरिक्त वे 'साहचर्य' को भी स्वीकार नहीं करते। इस रूप में यह विचारधारा शक्ति मनोविज्ञान तथा साहचर्यवाद की विरोधी है। इसका लक्ष्य तो मानसिक संरचनाओं और क्रियाओं का अध्ययन करना है। इन लोगों की धारणा थी कि मानव-मस्तिष्क की गति को समझने के लिए चेतना के भिन्न भिन्न तत्वों (संवेदना, संवेग तथा इच्छा) को समझना आवश्यक है। इसमें वे अनुभव को महत्व देते हैं। अनुभव का आधार तन्त्रिकातन्त्र है।

चेतना रचनावादी विचारधारा के प्रवर्तक विलियम वुण्ट और टिचनर हैं। 1879 ई० में वुण्ट ने लिपजिग में सबसे पहली मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला की स्थापना की इसके साथ ही प्रयोगात्मक मनोविज्ञान की नींव पड़ी, जिसके फलस्वरूप मनोविज्ञान विज्ञान की कोटि में आ सका। इस प्रयोगशाला में इन्होंने मनुष्य के आन्तरिक अनुभवों की खोज करने के लिए संवेदना विचार, भावना संकल्प तथा इच्छा आदि पर प्रयोगात्मक रूप से अध्ययन शुरू किया अपने विभिन्न प्रयासों में यह लोग चेतना की रचना का अध्ययन करते थे इसी कारण इनकी विचारधारा चेतना-रचनावाद कही गई

अध्ययन की विधि के रूप में इन लोगों ने अन्तर्दर्शन को अपनाया। इनका कहना था कि इसी विधि द्वारा चेतना के विभिन्न अंगों का भली प्रकार अध्ययन किया जा सकता है।

चेतना-अनुभव को वुण्ट ने दो प्रकार का बताया है—(1) संवेदनायें—संवेदनायें बाह्य जगत से प्राप्त होती हैं। (2) भावनायें—भावनायें आन्तरिक होती हैं। भावनाएँ सुखद और दुखद दोनों प्रकार की हो सकती हैं। इसी प्रकार भावनाएँ भी शान्त और उत्तेजनात्मक दो प्रकार की होती हैं। इन्हीं भावनाओं के योग से अनेक प्रारूप (Patterns) बन जाते हैं। संवेग एक मिश्रित अनुभव है जिसमें विभिन्न भावनाओं तथा शारीरिक संवेदनाओं का मिश्रण होता है। वुण्ट ने अपने प्रयोगों में यह पाया कि सुखद भावना के समय विश्राम तथा शान्ति का अनुभव होता है। इसके विपरीत दुखद भावना के समय तनाव एवं उत्तेजना का अनुभव होता है। इसी प्रकार प्रत्येक भावना के साथ किसी न किसी अनुभव का योग होता है। वुण्ट के अनुसार, "संवेदना उस समय उत्पन्न होती है जब कि इन्द्रियाँ उद्दीपक को प्राप्त करती हैं, चेतना तन्त्रिकायें-तन्त्रिका प्रणाली को उत्तेजित करती हैं। भावनाओं से प्रभावित होकर व्यक्ति किसी कार्य को करने की प्रेरणा प्राप्त करता है। भावनायें क्रिया हेतु प्रेरित करने के लिए उत्तेजक का कार्य करती हैं।

वुण्ट ने मानसिक क्रियाओं पर बल तो दिया किन्तु उसने मन तथा शरीर की क्रियाओं को अलग माना। ये दोनों एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हुए भी एक-दूसरे की क्रियाओं से प्रभावित नहीं हैं। इनमें कार्य-कारण सम्बन्ध भी नहीं है। अतः दोनों का अध्ययन अलग-अलग ही होना चाहिए।

टिचनर जो कि वुण्ट का शिष्य था उसने ही इनके कार्य को आगे बढ़ाया तथा इसमें पर्याप्त योगदान दिया है।

चेतना-रचनावाद का शिक्षा पर प्रभाव

(1) चेतना-रचनावाद ने मनोविज्ञान को वैज्ञानिक रूप दिया और इसका प्रभाव शिक्षा-मनोविज्ञान पर पड़ा।

(2) इनके द्वारा किये गये ध्यान, प्रतिमा, संवेदना तथा भावना आदि सम्बन्धी प्रयोगों के निष्कर्ष शिक्षा-क्षेत्र के व्यवहार में लाये गये।

(3) चेतना-रचनावादियों ने अनुभव को महत्व प्रदान किया। इसका प्रभाव शिक्षा-क्षेत्र पर भी पड़ा। शिक्षा का उद्देश्य अनुभव का विकास एवं परिमार्जन माना जाने लगा।

(4) मानसिक क्रिया के स्वरूप तथा रचना के अध्ययन ने शिक्षा को मानसिक प्रक्रिया के रूप में बड़ी सीमा तक प्रभावित किया।

(5) इस विचारधारा ने मनोविज्ञान तथा शिक्षा के क्षेत्र में वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहित किया जिसके फलस्वरूप अनेक समस्याओं के वैज्ञानिक निष्कर्ष प्राप्त हुए।

चेतना-रचनावाद की सीमायें—(1) इसका क्षेत्र अत्यन्त सीमित रहा।

(2) इन लोगों ने व्यक्तित्व और अभिप्रेरणा जैसे अत्यन्त महत्वपूर्ण विषयों की ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया।

(3) इनके द्वारा अपनाई गयी अन्तर्दर्शन की विधि भी सन्दिग्ध ही रही।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इस विचारधारा की तीव्र आलोचनायें होने लगीं। विलियम जेम्स ने आलोचकों का नेतृत्व किया। इनका कहना था कि चेतना में तत्वों का अध्ययन करना व्यर्थ है। चेतना के तत्वों का विश्लेषण करने के बदले हमें इस बात का अध्ययन करना चाहिए कि चेतना का हमारे शरीर के विभिन्न अंगों पर क्या प्रभाव पड़ता है? विलियम जेम्स के इन्हीं विचारों ने एक नवीन विचार-धारा को जन्म दिया जिसे चेतना-कार्यवाद कहते हैं।

चेतना-कार्यवाद (Functionalism)—चेतना-कार्यवाद वह मनोवैज्ञानिक विचारधारा है जो चेतना के कार्य और उसके फलस्वरूप शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करती है। इस विचारधारा के मानने वाले प्रत्येक कार्य का अध्ययन उसकी उपयोगिता को ध्यान में रखकर करते हैं। इस विचारधारा पर डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त का प्रभाव है। डार्विन के प्रभाव के कारण ही मनोवैज्ञानिकों की रुचि शरीर-विज्ञान में बढ़ी। प्राणी किस प्रकार जीवित रहने के लिये संघर्ष करता है तथा किस प्रकार वातावरण से समायोजन करता है। डार्विन के इस पक्ष में डाले गये प्रकाश के कारण मनोविज्ञान में मानसिक क्रियाओं का अध्ययन जीवन-कार्यों की पूर्णता के रूप में होने लगा और मनोविज्ञान दर्शन से दूर हट कर जीव-विज्ञान के निकट आ गया। शरीर-विज्ञान से प्रभावित होकर इन मनोवैज्ञानिकों ने उसके सिद्धान्तों का प्रयोग मनोविज्ञान के अध्ययन में करना आरम्भ किया।

चेतना-कार्यवादियों ने क्यों तथा कैसे का उत्तर देने का प्रयास किया कि कोई प्राणी कार्य क्यों करता है तथा कैसे करता है? इसका उत्तर ढूंढ़ने का प्रयास इस विचारधारा का मूल है। इनका कहना है कि जिस प्रकार हाथ और पैर का विकास किसी प्रयोजन से हुआ है उसी प्रकार चेतना का विकास भी किसी विशेष प्रयोजन से हुआ है। इस प्रयोजन का कार्य जीवन की रक्षा करना है। अतः मनो-विज्ञान का कार्य चेतना की रचना का अध्ययन करना नहीं है, अपितु चेतना के कार्य का अध्ययन करना है। मनुष्य ज्ञानार्जन क्यों करता है? वह क्यों और कैसे इच्छा करता है और क्यों तथा कैसे अनुभव करता है? इनका उत्तर चेतना-कार्यवादी देते हैं। इस प्रकार वे ज्ञानार्जन (Knowing), इच्छा करना (Willing) तथा अनुभव करना (Feeling) तीनों का अध्ययन करते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने संवेग, मूल प्रवृत्तियों तथा अन्य मानसिक क्रियाओं का भी अध्ययन किया है।

चेतना-कार्यवादियों के शिकागो सम्प्रदाय में जॉन ड्यूवी, ऐंजिल तथा कार के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार कोलम्बिया सम्प्रदाय में जेम्स कैटिल, थॉर्नडाइक तथा वुडवर्थ ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। यूरोपीय चेतना-कार्यवादियों में क्लापरेडे, डेविड काज तथा सबिन का नाम आदर के साथ लिया जाता है।

अपनी अध्ययन विधि के रूप में चेतना-कार्यवादियों ने तीन रीतियाँ अपनाई थीं। (1) दैहिक रीति—इसके अन्तर्गत प्रत्येक क्रिया के दैहिक आधार का अध्ययन करने का प्रयास किया गया। (2) विभिन्न अवस्थाओं में अध्ययन की रीति—इसके अन्तर्गत प्राणी की क्रियाओं का निरीक्षण विभिन्न अवस्थाओं में करते थे।

(3) अन्तर्दर्शन विधि—इस विधि का प्रयोग क्रियाओं को अन्तर्दर्शन रिपोर्ट लेने हेतु किया गया।

चेतना-कार्यवाद का शिक्षा पर प्रभाव—

(1) इस विचारधारा ने शिक्षा के क्षेत्र में वातावरण को महत्व प्रदान किया।

(2) इसके प्रभावस्वरूप शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को समायोजन के लिये तैयार करना हो गया।

(3) इस विचारधारा ने सीखने के क्षेत्र में पृष्ठभूमि-अध्ययन को महत्व प्रदान किया।

(4) शिक्षा के क्षेत्र मे बाल-विकास, वैयक्तिक भिन्नता तथा बुद्धि-परीक्षा आदि के महत्वपूर्ण विचार एवं प्रयोगात्मक निष्कर्ष, इसी विचारधारा की महत्वपूर्ण देन हैं।

(5) इसने शिक्षा तथा मनोविज्ञान के अध्ययन में वस्तुनिष्ठता लाने का प्रयास किया।

चेतना-रचनावाद तथा चेतना-कार्यवाद में अन्तर

चेतना-रचनावाद	चेतना-कार्यवाद
(1) चेतना की रचना का अध्ययन करता है।	(1) यह चेतना-कार्य का अध्ययन करता है।
(2) इसने अध्ययन की विधि के रूप में अन्तर्दर्शन को लिया।	(2) इसने अन्तर्दर्शन के साथ अन्य वस्तुनिष्ठ विधियों का प्रयोग किया।
(3) चेतना-रचनावादी विचारवादी हैं।	(3) चेतना-कार्यवादी प्रयोगवादी है।
(4) चेतना-रचनावाद का शिक्षा से विशेष सम्बन्ध नहीं है।	(4) चेतना-कार्यवाद का शिक्षा पर विशेष प्रभाव है। इसके कार्यकर्ता अधिकांश शिक्षाशास्त्री है।
(5) चेतना-रचनावादियों के सिद्धान्तों का उपयोगिता की दृष्टि से विशेष मूल्य नहीं है।	(5) चेतना-कार्यवादियों के कार्यों एवं सिद्धान्तों की उपयोगिता बहुत अधिक है।

चेतना-रचनावाद तथा चेतना-कार्यवाद की सीमाएँ—

(1) दोनों चेतना की रचना तथा उसकी क्रियाओं की ओर विशेष झुके हैं।

(2) वर्तमान चेतना को ही अधिक महत्व देते हैं।

(3) अन्तर्दर्शन विधि द्वारा अनेक क्रियाओं तथा अवस्थाओं का विश्वसनीय अध्ययन सम्भव नहीं है।

2. साहचर्यवाद
(Associationism)

साहचर्यवाद की विचारधारा अति प्राचीनकाल से दर्शन मे चली आ रही थी। अरस्तू ने सबसे पहले स्मृति पर एक

मानसिक जगत का विश्लेषण करते हुए विचार-साहचर्य (Association of Ideas) की चर्चा की थी। उसका कहना था कि विचार मन में परस्पर सम्बन्धित होकर विचार-प्रक्रिया को जन्म देते हैं। किन्तु मनोविज्ञान में साहचर्यवाद ब्रिटिश मनोविज्ञान की देन है जिसकी नींव 1690 में ब्रिटिश दार्शनिक जॉन लॉक ने डाली थी। लॉक ने डेस्कार्टे के मत (आत्मा और शरीर की पृथक-पृथक सत्ता-द्वैतवाद) का खण्डन करते हुए कहा था कि मन में जो कुछ भी पहुँचता है, अनुभव द्वारा पहुंचता है। नवजात शिशु का मन एक कोरी पटिया होता है, जिस पर अनुभव द्वारा लिखा जाता है।

लॉक के इस विचार ने सीखने की प्रक्रिया को बहुत महत्वपूर्ण बना दिया। अब प्रश्न यह था कि बालक बहुत सी बातें, जो जन्म के समय नहीं जानता है, कैसे सीख लेता है? जॉन लॉक ने इस प्रश्न के उत्तर के रूप में साहचर्यवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। वे विचार जो एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं या जिनमें एक दूसरे से सम्बन्धित होने की क्षमता होती है, बालक के मन में अनुभव द्वारा प्रवेश करते हैं और मन में साथ-साथ विद्यमान रहते हैं।

लॉक के इस सिद्धान्त ने मनोविज्ञान में एक प्रकार के मानसिक-रसायन शास्त्र (Mental-Chemistry) को जन्म दिया, जिसमें विचार और प्रत्यक्ष-ज्ञान (Perception) को जटिल अणु (Complex Molecules) समझा जाने लगा। ये जटिल अणु इन्द्रिय संवेदना (Sensation) और प्रतिमाओं (Images) के परस्पर सम्मिश्रण और साहचर्य के परिणाम थे। इस प्रकार परस्पर सम्मिश्रण और साहचर्य के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या बर्कले, ह्यूम, ब्राउन, बेन और जे० एस० मिल ने की। अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक सम्पूर्ण मनोविज्ञान का केन्द्रबिन्दु साहचर्यवाद बन गया था। उस समय मनोविज्ञान की विषयवस्तु, 'चेतना' (Consciousness) थी और मनोवैज्ञानिकों का परम कर्तव्य साहचर्य के नियमों की खोज करना था। यदि 'क' को देखकर 'ख' की याद आ जाती है तो 'क' और 'ख' में अवश्य कोई सम्बन्ध होना चाहिए। ये सम्बन्ध तीन प्रकार के हैं :

(1) ताले को देखकर चाबी पर ध्यान जाना या हल को देखकर बैल का स्मरण हो आना अथवा गुरु के साथ शिष्य की कल्पना मन में आ जाना—इसे सहचारिता का नियम (Law of Contiguity) कहते हैं।

(2) कक्षा में मोटे बालक को देखकर उस कक्षा के दुबले बालक पर ध्यान जाना या बहुत लम्बे व्यक्ति को देखकर छोटे कद के व्यक्ति का ध्यान आ जाना—इसे विपरीतता का नियम (Law of Contrast) कहते हैं।

(3) आगरे के लाल किले को देखकर दिल्ली के लाल किले की स्मृति मन में आ जाना अथवा किसी एक वस्तु को देखकर उससे मिलती-जुलती दूसरी वस्तु की याद आ जाना—यह समानता का नियम (Law of Similarity) कहलाता है।

इन नियमों को शीघ्रता से व्यावहारिक शिक्षण में भी लागू किया जाने लगा।

बर्कले ने अनुभवों को एक सूत्र में पिरोने के लिए आत्मा की सत्ता को आवश्यक समझा। किन्तु ह्यूम ने आत्मा को अस्वीकार करते हुए कहा कि जिस

वस्तु को 'आत्मा' कहा जाता है, वह तो सवेदनाओं का पुज है। ह्यू म के अनुसार : "अनुभूति के विचार के साथ किसी वस्तु के विचार के सम्बन्ध को ही विचार-साहचर्य कह सकते हैं।"[1]

हार्टले (Hartley-1749) ने अरस्तू द्वारा बताये गये साहचर्य के तीन सिद्धान्तो—सहचारिता, विपरीतता और समानता को शरीर रचना सिद्धान्त (*Physiological Principle*) *के अन्तर्गत एक ही नियम में परिणत कर दिया जिसे* अनुभव की सहचारिता (Contiguity of Experience) कहा गया। मन (Mind) *को एक इकाई न मानकर अनेक प्रकार के विचारों, भावनाओं और उद्दीपनों का* सम्मिलित रूप माना गया। ये भाव और विचार सम्बन्ध की प्रणाली (Systems of Association) द्वारा मन में सयुक्त माने गये। हार्टले ने अनुभव के अतिरिक्त चिन्तन-मनन से भी विचारों की उत्पत्ति बताई।

ब्राउन (Brown) तथा बेन (Bain) ने साहचर्य सिद्धान्त को क्रियाशीलता के रूप में स्वीकार किया। उनके अनुसार विचार क्रियाशील होते हैं और एक विचार दूसरे विचार (सम्बन्धित विचार) की ओर संकेत करता है। इस प्रकार विचारों को जोड़ने वाले या मिलाने वाले सिद्धान्तों एवं नियमों की तलाश होती रही। मानसिक इमारत बनाने के लिए ईंटें (विचार) तो थी लेकिन इन्हें जोड़ने वाले सीमेण्ट या गारे की तलाश थी। इन ईंटों को जोड़ने वाले पदार्थ की पूर्ति सवेगों द्वारा हुई जैसे—आनन्द, भय, क्रोध आदि जो बालक की प्रत्येक इन्द्रिय सवेदना के अनुगामी हैं, संवेदना से सम्बन्धित विचारों को जोड़ने में सहायक होते हैं। इससे स्पष्ट हो गया कि विचारो के सम्बन्धो की दृढ़ता इस बात पर निर्भर करती है कि अनुभव के समय सवेग की तीव्रता कितनी थी। साहचर्यवादियों के अनुसार बालक की जटिल आदतों का निर्माण उसकी साधारण आदतों के परस्पर सम्बन्धित होने से होता है। उसकी वे *अनुभूतियाँ (अनुक्रियाएँ) जो तीव्र सवेगों के साथ होती है,* एक दूसरे से सम्बन्धित हो जाती हैं। इस प्रकार शिशु और बालक के सीखने की क्रिया-साहचर्यों की एक प्रणाली है। *साहचर्यवादी सिद्धान्त सीखने की क्रिया को समझने के लिए* एक वर्णनात्मक प्रणाली है।

आगे चलकर साहचर्यवाद *का रूप और नाम बदल गये क्योंकि पशुओं पर* सीखने से सम्बन्धित जो प्रयोग लगातार किये जा रहे थे उनसे प्राप्त सामग्री की *व्याख्या* साहचर्यवाद *के सिद्धान्तो और नियमो द्वारा सम्भव नहीं थी। प्रयोग और* विज्ञान के युग मे साहचर्यवाद या सम्बन्धवाद अपना नाम बदलकर पुन. जीवित हो *गया।* मनोविज्ञान मे चेतना की सरचना (Structure) *के स्थान पर कार्यों* (Functions) के अध्ययन पर बल दिया जाने लगा और अन्त मे मनोविज्ञान ने 'चेतना' का स्थान 'व्यवहार' ने ले लिया।

साहचर्यवाद ने मानव मन का विश्लेपण बड़े रुचिकर ढग म वि[illegible]
मानव मन के सम्पूर्ण तथ्यों और कार्यों की व्याख्या करने मे असमर्थ[illegible]
साहचर्यवाद की इस असमर्थता को इन शब्दों मे स्वीकार किया गया [illegible]

1 "The association could only be the association of [illegible] idea of feeling."

मानसिक जगत का विश्लेषण करते हुए विचार-साहचर्य (Association of Ideas) की चर्चा की थी। उसका कहना था कि विचार मन में परस्पर सम्बन्धित होकर विचार-प्रक्रिया को जन्म देते हैं। किन्तु मनोविज्ञान में साहचर्यवाद ब्रिटिश मनोविज्ञान की देन है जिसकी नींव 1690 में ब्रिटिश दार्शनिक जॉन लॉक ने डाली थी। लॉक ने डेस्कार्टे के मत (आत्मा और शरीर की पृथक-पृथक सत्ता-द्वैतवाद) का खण्डन करते हुए कहा था कि मन में जो कुछ भी पहुँचता है, अनुभव द्वारा पहुँचता है। नवजात शिशु का मन एक कोरी पटिया होता है, जिस पर अनुभव द्वारा लिखा जाता है।

लॉक के इस विचार ने सीखने की प्रक्रिया को बहुत महत्वपूर्ण बना दिया। अब प्रश्न यह था कि बालक बहुत सी बातें, जो जन्म के समय नहीं जानता है, कैसे सीख लेता है? जॉन लॉक ने इस प्रश्न के उत्तर के रूप में साहचर्यवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। वे विचार जो एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं या जिनमें एक दूसरे से सम्बन्धित होने की क्षमता होती है, बालक के मन में अनुभव द्वारा प्रवेश करते हैं और मन में साथ-साथ विद्यमान रहते हैं।

लॉक के इस सिद्धान्त ने मनोविज्ञान में एक प्रकार के मानसिक-रसायन शास्त्र (Mental-Chemistry) को जन्म दिया, जिसमें विचार और प्रत्यक्ष-ज्ञान (Perception) को जटिल अणु (Complex Molecules) समझा जाने लगा। ये जटिल अणु इन्द्रिय संवेदना (Sensation) और प्रतिमाओं (Images) के परस्पर सम्मिश्रण और साहचर्य के परिणाम थे। इस प्रकार परस्पर सम्मिश्रण और साहचर्य के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या बर्कले, ह्यूम, ब्राउन, बेन और जे० एस० मिल ने की। अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक सम्पूर्ण मनोविज्ञान का केन्द्रबिन्दु साहचर्य-वाद बन गया था। उस समय मनोविज्ञान की विषयवस्तु, 'चेतना' (Consciousness) थी और मनोवैज्ञानिकों का परम कर्तव्य साहचर्य के नियमों की खोज करना था। यदि 'क' को देखकर 'ख' की याद आ जाती है तो 'क' और 'ख' में अवश्य कोई सम्बन्ध होना चाहिए। ये सम्बन्ध तीन प्रकार के हैं :

(1) ताले को देखकर चाबी पर ध्यान जाना या हल को देखकर बैल का स्मरण हो आना अथवा गुरु के साथ शिष्य की कल्पना मन में आ जाना—इसे सह-चारिता का नियम (Law of Contiguity) कहते हैं।

(2) कक्षा में मोटे बालक को देखकर उस कक्षा के दुबले बालक पर ध्यान जाना या बहुत लम्बे व्यक्ति को देखकर छोटे कद के व्यक्ति का ध्यान आ जाना—इसे विपरीतता का नियम (Law of Contrast) कहते हैं।

(3) आगरे के लाल किले को देखकर दिल्ली के लाल किले की स्मृति मन में आ जाना अथवा किसी एक वस्तु को देखकर उससे मिलती-जुलती दूसरी वस्तु की याद आ जाना—यह समानता का नियम (Law of Similarity) कहलाता है।

इन नियमों को शीघ्रता से व्यावहारिक शिक्षण में भी लागू किया जाने लगा।

बर्कले ने अनुभवों को एक सूत्र में पिरोने के लिए आत्मा की सत्ता को आवश्यक समझा। किन्तु ह्यूम ने आत्मा को अस्वीकार करते हुए कहा कि जिस

जैसा कि बताया जा चुका है उन्नीसवी शताब्दी में साहचर्यवाद का स्थान संयोजनवाद ने ले लिया। इसका दूसरा नाम उत्तेजना-अनुक्रिया सिद्धान्त (Stimulus Response Theory या S—R Theory) भी है। इस सिद्धान्त के विकास का श्रेय थॉर्नडाइक को है। थॉर्नडाइक हारवर्ड विश्वविद्यालय मे विलियम जेम्स का छात्र था।

साहचर्यवाद से संयोजनवाद (From Associationism to Connectionism)

जेम्स उस समय पशुओं के सीखने का अध्ययन कर रहा था। मनुष्य और पशुओं के सीखने के बारे में वुण्ट के भाषण 1892 मे प्रकाशित हो चुके थे। अतः जेम्स विचार-साहचर्य के नियमों को पशुओं द्वारा सीखने पर लागू करना चाहता था। थॉर्नडाइक साहचर्य-सिद्धान्त को पशुओ पर लागू करके इस सिद्धान्त की सार्थकता सिद्ध करना चाहता था। इस प्रकार थॉर्नडाइक के कार्यों मे दो परम्पराओं—पुरानी निरीक्षण परम्परा और नवीन जैविक परम्परा—का मिश्रण हो गया। उसने साहचर्यवादी भाषा में अपने प्रभाव के नियम को इस प्रकार व्यक्त किया है—"कोई कार्य जो एक परिस्थिति मे सन्तोषप्रद होता है, उस परिस्थिति से सम्बद्ध हो जाता है, जिससे कि उसे उस परिस्थिति के पुनः उत्पन्न होने पर उसी क्रिया के होने की सम्भावना अधिक रहती है।"[1]

इसी प्रकार 'अभ्यास के नियम' मे उसने नवीनता और आवृत्ति (Principles of Recency and Frequency) के साहचर्यवादी नियमो को ही दूसरे शब्दों में दोहराया। मानव-मन के बारे मे उसकी कल्पना, व्याख्या एव परिभाषा सम्बन्धों की प्रणाली के रूप मे ही थी इसलिए उसका सीखने का सिद्धान्त संयोजनवाद कहलाता है। उसके अनुसार बालक, विचार, अनुभूति और कार्यों से सम्बन्धित अनुक्रियाएँ अपने जीवन की परिस्थितियो से प्राप्त उत्तेजनाओं से संयोजित करता है। थॉर्नडाइक का कहना है कि—"मानव मन का एक अच्छा वर्णन यह हो सकता है कि वह सम्बन्धों का एक क्रम है जो किसी उपस्थित परिस्थिति में उसके विचार, अनुभूति और क्रिया से सम्बन्धित होते हैं।"[2]

वुण्ट अन्तःप्रेक्षण विधि का अनुयायी था। उसने साधारण सवेदनाओं को साहचर्य के नियमों द्वारा जोडने का प्रयत्न किया था। व्यवहारवादी वाटसन ने साधारण संवेदना के स्थान पर उत्तेजना-प्रतिक्रिया इकाई को माना जिन्हें सहज क्रिया (Reflex) भी कहते है और बताया कि अनुभव को बार-बार दोहराने से इनमें सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। स्पष्ट है कि वाटसन अपने विचार और धारणाओं मे साहचर्यवादी परम्परा लिए हुए था, किन्तु उसकी विधियाँ व्यवहारवादी और वैज्ञानिक थीं। उसने विषयवस्तु में 'चेतना' के स्थान पर व्यवहार को स्वीकार किया और व्यवहार का विश्लेषण छोटी इकाइयो (उत्तेजना-अनुक्रिया) में करते हुए इन इकाइयों में

1 "Any act which is a given situation produces satisfaction becomes associated, with that situation, so that when the situation recurs the act is more likely than before to recur also." —Thorndike, 1943

2 "A good simple definition or description of man's mind is that it is his connection system, adapting the responses of thought, feeling and action that he makes to the situations that he meets." —Thorndike, 1943.

आशाएँ, नष्ट हो गईं जब हमने इन सिद्धान्तों का विश्लेषण करना चाहा जो हमारे विचार और चेतना में प्रत्यक्षीकरण को संगठित करते हैं।[1]

विवाद इस बात पर भी था कि मानव मन में वास्तव में किस वस्तु का साहचर्य होता है, विचार अथवा इन्द्रिय संवेदना का या उत्तेजनाओं के प्रभावों का। साहचर्यवादी इस मनोवैज्ञानिक गुत्थी को सफलता से नहीं सुलझा सके। मनःशक्तियों के सिद्धान्त के आगे प्रत्यय, ज्ञान और जीवन व्यवहार की व्याख्या के लिए, इनके पास और कोई युक्ति नहीं थी। मिल ने मानव के जटिल भावों को मिश्रित साहचर्य (Compound Association) के नियम द्वारा समझाने की कोशिश की। विचित्र बात यह है कि उन्होंने भूलने की क्रिया को भी साहचर्य के नियम द्वारा समझाते हुए, बतलाया कि मन में बाधक साहचर्य (Obstructive Associations) भी उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सभी मानसिक अवस्थाओं को उन्होंने साहचर्यवाद से युक्त करने का निरर्थक प्रयत्न किया। यही स्थिति संवेगों की व्याख्या करने में रही। संवेग की व्याख्या करने के स्थान पर साहचर्यवादी यह बताकर सन्तुष्ट हो गये कि एक संवेग किस प्रकार 'विचार' में परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार विश्वासों (Beliefs) को, जो कि एक प्रकार के विचार ही होते हैं, अविच्छेद्य साहचर्य (Indissoluble Associations) बताया गया। स्पष्ट है कि इनकी प्रवृत्ति रसायन विज्ञान की तरह मानसिक रचना का विश्लेषण करने की थी।

साहचर्यवाद का शिक्षा पर प्रभाव

(1) शिशु या बालक की सीखने की प्रारम्भिक क्रियाओं की इस सिद्धान्त द्वारा युक्तिपूर्ण व्याख्या हो जाती है।

(2) शिक्षा जगत् को साहचर्य नियमों के रूप में अनेक उपयोगी सिद्धान्त प्राप्त हुए।

(3) इन्द्रिय संवेदना और प्रत्यक्ष ज्ञान (Sensation and Perception), जो बालक के बौद्धिक विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं, पर काफी शोध कार्य किया गया और बालक द्वारा समझने की मानसिक क्रिया की बौद्धिक युक्ति द्वारा व्याख्या की जाने लगी।

(4) साहचर्य के प्रधान और गौण नियमों को सफलता से हरबर्ट की शिक्षण पद्धति में लागू किया गया।

(5) स्मृति के क्षेत्र में साहचर्यवादियों ने महत्त्वपूर्ण परीक्षण और प्रयोग किये।

(6) शिशुओं के सीखने में पूर्वकालीन कारकों का अथवा अनुभवजन्य ज्ञान पर बल दिया जाने लगा।

(7) इन्द्रिय संवेदना की उचित व्याख्या करने के लिए, प्रत्यक्ष इन्द्रियों और ज्ञानवाहक तन्तुओं का निरीक्षण एवं परीक्षण किया जाने लगा।

(8) उच्चस्तर की मानसिक क्रियाओं (तर्क, कल्पना, चिन्तन आदि) का भी विश्लेषण एवं अध्ययन किया जाने लगा।

---

1 "All my hopes vanish when I come to explain the principles that unite our successive perceptions in our thought or consciousness." Hume : *Treatise on Human Nature.*

जैसा कि बताया जा चुका है उन्नीसवीं शताब्दी में साहचर्यवाद का स्थान संयोजनवाद ने ले लिया। इसका दूसरा नाम उत्तेजना-अनुक्रिया सिद्धान्त (Stimulus Response Theory या S—R Theory) भी है। इस सिद्धान्त के विकास का श्रेय थॉर्नडाइक को है। थॉर्नडाइक हारवर्ड विश्वविद्यालय में विलियम जेम्स का छात्र था।

साहचर्यवाद से संयोजनवाद (From Associationism to Connectionism)

जेम्स उस समय पशुओं के सीखने का अध्ययन कर रहा था। मनुष्य और पशुओं के *सीखने के बारे में वुण्ट के भाषण 1892 में प्रकाशित हो चुके थे। अतः* जेम्स विचार-साहचर्य के नियमों को पशुओं द्वारा सीखने पर लागू करना चाहता था। थॉर्नडाइक साहचर्य-सिद्धान्त को पशुओं पर लागू करके इस सिद्धान्त की सार्थकता सिद्ध करना चाहता था। इस प्रकार थॉर्नडाइक के कार्यों में दो परम्पराओं—पुरानी निरीक्षण परम्परा और नवीन जैविक परम्परा—का मिश्रण हो गया। उसने साहचर्यवादी भाषा में अपने प्रभाव के नियम को इस प्रकार व्यक्त किया है—"कोई कार्य जो एक परिस्थिति में सन्तोषप्रद होता है, उस परिस्थिति से सम्बद्ध हो जाता है, जिससे कि उसे उस परिस्थिति के पुनः उत्पन्न होने पर उसी क्रिया के होने की सम्भावना अधिक रहती है।"[1]

इसी प्रकार 'अभ्यास के नियम' में उसने नवीनता और आवृत्ति (Principles of Recency and Frequency) के साहचर्यवादी नियमों को ही दूसरे शब्दों में दोहराया। मानव-मन के बारे में उसकी कल्पना, व्याख्या एवं परिभाषा सम्बन्धों की प्रणाली के रूप में ही थी इसलिए उसका सीखने का सिद्धान्त संयोजनवाद कहलाता है। उसके अनुसार बालक, विचार, अनुभूति और कार्यों से सम्बन्धित अनुक्रियाएँ अपने जीवन की परिस्थितियों से प्राप्त उत्तेजनाओं से संयोजित करता है। थॉर्नडाइक का कहना है कि—"मानव मन का एक अच्छा वर्णन यह हो सकता है कि वह सम्बन्धों का एक क्रम है जो किसी उपस्थित परिस्थिति में उसके विचार, अनुभूति और क्रिया से सम्बन्धित होते हैं।"[2]

वुण्ट *अन्तःप्रेक्षण विधि का अनुयायी था। उसने साधारण संवेदनाओं को* साहचर्य के नियमों द्वारा जोड़ने का प्रयत्न किया था। व्यवहारवादी वाटसन ने साधारण संवेदना के स्थान पर उत्तेजना-प्रतिक्रिया इकाई को माना जिन्हें सहज क्रिया (Reflex) भी कहते हैं और बताया कि अनुभव को बार-बार दोहराने से इनमें सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। स्पष्ट है कि वाटसन अपने विचार और धारणाओं में साहचर्यवादी परम्परा लिए हुए था, किन्तु उसकी विधियाँ व्यवहारवादी और वैज्ञानिक थीं। उसने विषयवस्तु में 'चेतना' के स्थान पर व्यवहार को स्वीकार किया और व्यवहार का विश्लेषण छोटी इकाइयों (उत्तेजना-अनुक्रिया) में करते हुए इन इकाइयों में

---

1 "Any act which is a given situation produces satisfaction becomes associ- ... the act is more
—Thorndike, 1943

2 ... is that it is his ... adapting the responses of thought, feeling and action that he makes to the situations that he meets."
—Thorndike, 1943.

सम्बन्ध ढूँढ़ने का प्रयास किया। टोलमैन (Tolman) ने वाटसन द्वारा किये गये व्यवहार के आणविक विश्लेषण, यानी उत्तेजना-अनुक्रिया व्याख्या (Atomistic Stimulus-response Account) को स्वीकार नहीं किया। उसके अनुसार व्यवहार की व्याख्या की दृष्टि से चेष्टा और प्रयोजन (Conation and Purpose) अधिक महत्वपूर्ण हैं। 'प्रयोजन' की चर्चा दूसरे सम्प्रदाय में की जायेगी। पशुओं में सहज क्रियाओं का अध्ययन एक अन्य वैज्ञानिक पैवलॉव (Pavlov 1849-1936) ने स्वतन्त्र रूप से किया था। कुत्तों पर प्रयोग करने के बाद 1904 में उसने "सम्बद्ध अनुक्रिया सिद्धान्त" (Conditioned Response Theory) को पशुओं के सीखने के सम्बन्ध में प्रतिपादित किया। व्यवहारवादियों ने पैवलॉव के कार्यों को सहर्ष और अविलम्ब अपनाया। लेकिन यह सिद्धान्त भी एक प्रकार से साहचर्य सिद्धान्त ही था। सम्बद्ध अनुक्रिया का अर्थ है—अस्वाभाविक उत्तेजना के साथ स्वाभाविक प्रतिक्रिया का सम्बन्ध स्थापित हो जाना। यह भी एक प्रकार का सम्बन्धवाद था। जैसे—भोजन देखकर (स्वाभाविक उत्तेजना) कुत्ते के मुँह में लार आना (स्वाभाविक प्रतिक्रिया) के स्थान पर घण्टी बजने पर (अस्वाभाविक उत्तेजना) कुत्ते के मुँह में लार आना अथवा स्वाभाविक प्रतिक्रिया का होना, इस सिद्धान्त की विस्तृत चर्चा आगे की जाएगी।

3. व्यवहारवाद
(Behaviourism)

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है व्यवहारवाद की स्थापना, मनोविज्ञान के अन्य समकालीन सम्प्रदायों के साथ, वर्तमान शताब्दी में 1912 के आस-पास वाटसन द्वारा की गई। वाटसन का कहना था कि आप चूहे की 'चेतना' के बारे में कभी नहीं जान पाते लेकिन आप उसकी योग्यताओं और व्यवहार की क्षमताओं का भली-भाँति अध्ययन कर सकते हैं। इस प्रकार का अध्ययन ही वास्तव में मनोविज्ञान की विषय-वस्तु है। इसी विषय-वस्तु के अध्ययन के लिए अन्तःप्रेक्षण (Introspection) का उसने बहिष्कार किया और चेतना को तिलांजलि दे दी। अन्तःप्रेक्षण को उसने केवल मौखिक व्यवहार के रूप में स्वीकार किया। वाटसन द्वारा 'व्यवहार' की परिभाषा मानसिक परीक्षण (Mental Testing) और पशु मनोविज्ञान के अनुकूल थी। मनोविज्ञान में व्यवहार एक नवीन आन्दोलन के रूप में, पशु मनोविज्ञान के क्षेत्र से आरम्भ हुआ किन्तु शीघ्र ही इस आन्दोलन ने मनोविज्ञान के सभी क्षेत्रों की सभी समस्याओं को अपनी लपेट में ले लिया।

व्यवहारवादी आन्दोलन को सबसे बड़ा सहारा पैवलॉव से प्राप्त हुआ। वह सेण्टपीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में शरीर रचना सम्बन्धी खोजें कर रहा था। कुत्तों पर उसने निराले प्रयोग किये। इन प्रयोगों के आधार पर उसने प्रसिद्ध 'सम्बद्ध अनुक्रिया सिद्धान्त' खोज निकाला। उसने कुत्ते के मुँह से लार टपकने की सहज क्रिया को भोजन के अतिरिक्त दूसरी उत्तेजना (घण्टी का बजना) से सम्बद्ध कर दिखाया। परिणाम यह हुआ कि अमेरिका के उन मनोवैज्ञानिकों का ध्यान सहज क्रिया की ओर आकर्षित हुआ जो प्रयोग विधि में विश्वास रखते थे। शिशु और बालक द्वारा सीखे

ए अनेक कार्यों और आदतों की व्याख्या इस नवीन खोज के आधार पर की जाने गी। स्वय वाटसन ने शिशुओ के सवेग सम्बन्धी अनेक दिलचस्प प्रयोग किये।

सक्षेप मे व्यवहारवाद की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(1) पशु विज्ञान की वस्तुनिष्ठ विधियों को पशु व्यवहार के उपजाऊ क्षेत्र र लागू करके मानव-शिशु के व्यवहार की व्याख्या की गई।

(2) व्यवहारवाद के उदय के साथ अत.प्रेक्षण विधि का महत्व घट गया योंकि अब 'अनुभव' के स्थान पर 'व्यवहार' को मनोविज्ञान की विषय-वस्तु माना गया।

(3) 'मन' और 'चेतना' का स्थान 'उत्तेजना-अनुक्रिया' ने ले लिया।

(4) व्यवहारवाद के अध्ययन की विधियाँ वस्तुनिष्ठ थीं। इन विधियों के परिणामस्वरूप शिक्षा और मनोविज्ञान मे वस्तुनिष्ठ मापन या मूल्याकन की नीव पड़ी।

(5) 'सवेदना' या 'विचार' के स्थान पर सहज क्रिया को मनोवैज्ञानिक तत्व समझा जाने लगा।

(6) व्यवहारवाद ने बिना आत्मा वाले मनोविज्ञान को खड़ा किया। यह पदार्थवाद और यन्त्रवाद की विजय थी।

व्यवहारवाद का शिक्षा और शिक्षा मनोविज्ञान पर प्रभाव (Influence of Behaviourism on Edcuation and Educational Psychology)

(1) पशुओ पर व्यापक प्रयोगो के फलस्वरूप सीखने के नियम उत्तेजना अनुक्रिया के रूप मे पुनः प्रस्तुत किए गए। शुओं की प्रयत्न और भूल विधि (Trial and Error Method) को मानव के सीखने की प्रक्रिया मे लागू किया गया।

(2) व्यवहारवाद से बाल मनोविकास के अध्ययन को विशेष प्रोत्साहन मिला, विशेषकर शिशुओ द्वारा भाषा ग्रहण करने, आदत बनाने और भय ग्रहण करने के सम्बन्ध मे निरीक्षण और परीक्षण किये गये। कुशलतापूर्ण कार्यों में गामक अनुक्रियाओं (Motor Responses) का अध्ययन किया गया।

(3) मानव की सीखने और विचार करने की प्रक्रिया पर अनुक्रिया सम्बद्धता को लागू किया गया और अनुक्रिया की सम्बद्धता, पुनः सम्बद्धता और असम्बद्धता (Conditioning, Re-coditioning and Deconditioning) प्रयोग द्वारा सिद्ध किये गये।

(4) शिक्षा जगत की एक महत्वपूर्ण समस्या बुद्धिमता' का समाधान व्यवहारवादियों ने अधिक तर्कपूर्ण ढग से प्रस्तुत किया जिसके परिणामस्वरूप बुद्धि परीक्षाओ का निर्माण हुआ। इस प्रकार व्यवहारवादियों ने शिक्षा जगत की एक महत्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति की।

(5) मानव व्यवहार आचरण, आदतें, सीखे हुए कार्य प्राप्त कुशलताएँ आदि) की युक्तिपूर्ण व्याख्या करने के लिए यान्त्रिक सिद्धान्तों (Mechanicl Principles) को मनोविज्ञान के सभी क्षेत्रों में लागू किया गया, विशेषकर

बालमनोविज्ञान और शिक्षा मनोविज्ञान के क्षेत्रों में। इस प्रकार की आचरण सम्बन्धी अनेक समस्याओं का व्यावहारिक हल निकाला गया।

(6) बालक के विकास, अभिवृद्धि और शैक्षिक प्रगति से सम्बन्धित परिमाणात्मक मनोवैज्ञानिक प्रदत्तों का संग्रह व्यवहारवाद की अमूल्य देन है। मनोविज्ञान के अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा व्यवहारवाद इस कार्य के लिए अधिक उपयुक्त था। इस प्रकार प्राप्त प्रदत्तों का अनुशीलन करने के लिए सांख्यिकीय विधियाँ खोजी गईं जिन्हें लागू करके अधिक विश्वसनीय और उपयोगी निष्कर्ष निकाले गए। इन निष्कर्षों का शिक्षा में सफलता से प्रयोग करके शिक्षा प्रक्रिया को अधिक प्रभावशाली और वैज्ञानिक बनाया गया।

(7) व्यवहारवाद की प्रेरणा से बालक के व्यवहार का विकासात्मक अध्ययन करके बाल-जीवन की अनेक समस्याओं को सुलझाया गया। बालक के संवेगात्मक, सामाजिक और बौद्धिक जीवन का वस्तुनिष्ठ अध्ययन व्यवहारवाद के अन्तर्गत ही सम्भव था। इस प्रकार शिक्षा के लक्ष्यों, पाठ्यक्रम और विधियों को बालक के विकासक्रम के अनुकूल बनाया जा सका।

(8) व्यवहारवादियों ने शिक्षा के क्षेत्र में बालक के व्यवहार का व्यापक अर्थ लिया। इसके अन्तर्गत वे सभी सामाजिक दशाएँ और सांस्कृतिक परिवेश आ जाते हैं जिनमें रहकर बालक के व्यवहार को अभिवृद्धि और परिपक्वता प्राप्त होती है। अन्तर्दर्शनवाद ने शिक्षा मनोविज्ञान की प्रगति को सीमित कर दिया था। व्यवहारवाद ने इसकी प्रगति के अनेक द्वार खोल दिए।

(9) व्यवहारवादियों ने बालक के व्यक्तित्व के अध्ययन को अधिक सरल और वस्तुनिष्ठ बना दिया। व्यक्तित्व की व्यावहारिक परिभाषाएँ प्रस्तुत की गईं। विभिन्न परिस्थितियों में बालक के व्यवहार (प्रतिक्रियाओं) के नमूने (Samples) प्राप्त करके, व्यक्तित्व मूल्यांकन की उपयोगी विधि की स्थापना की गई।

(10) ध्वनि विज्ञान (Phonetics) का अध्ययन करने के लिए महत्वपूर्ण प्रयोग किए गये जिनसे बालक के भाषा विकास सम्बन्धी अनेक रहस्यों का उद्घाटन हुआ और विद्यालयों में छात्रों की भाषा योग्यताओं को विकसित करने का एक नया दृष्टिकोण प्राप्त हुआ। छात्रों की भाषायी आदतों को समझने में विशेष सहायता मिली। इसी प्रकार वाचन योग्यता और वाचन सम्बन्धी आदतों (Reading Abilities and Reading Habits) का वैज्ञानिक अध्ययन किया गया।

व्यवहारवाद के दोष

1. वाटसन द्वारा की गई व्यवहारवाद की संकीर्ण परिभाषा एवं व्याख्या अधिक दिनों तक नहीं टिक सकी। उसके बाद के व्यवहारवादियों ने शीघ्र ही इसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन किए। वाटसन तो प्रभाव के नियम को भी मानने को तैयार नहीं था क्योंकि उसे इसमें 'चेतना' की गन्ध आती थी।

2. पशु मनोविज्ञान और पशुओं पर प्रयोग में अधिक आस्था होने के कारण उन्होंने मनुष्य को भी पशु के समकक्ष खड़ा कर दिया। व्यवहारवादियों की यह प्रवृत्ति शिक्षा के अनुकूल नहीं थी क्योंकि शिक्षा मूलतः एक मानवीय विषय है। पशु-प्रवृत्तियों और मानवीय मूल्यों में बहुत अन्तर है। मनुष्य के सीखने में प्रत्येक

स्थान पर अभ्यास ही काम नहीं देता। बहुत सी बातें बिना अभ्यास के भी सीख ली जाती हैं।

3. थॉर्नडाइक द्वारा प्रतिपादित सीखने की विधि, त्रुटि और प्रयास विधि और सीखने के नियम पशुओं पर सरलता से प्रदर्शित किये जा सकते थे किन्तु मनुष्य द्वारा सीखने की क्रिया की सम्पूर्ण व्याख्या इसके द्वारा सम्भव नहीं थी क्योंकि पशु और मानव की प्रेरणाओं में काफी अन्तर होता है। अतः मैक्डूगल, टॉलमैन तथा हल ने नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत किये, जैसे—मूल प्रवृत्ति सिद्धान्त (Instinc Theory), प्रयोजनवादी सिद्धान्त (Purposive Principles) और पुनर्बलन सिद्धान्त (Re-enforcement Theory)।

4. व्यवहारवादियों ने मानव शिशु के मस्तिष्क के विकास में वंशानुक्रमीय गुणों का कुछ भी अंश स्वीकार नहीं किया। उनका यह विचार भ्रमात्मक था। उन्होंने बालक के बौद्धिक विकास में केवल वातावरण को महत्वपूर्ण माना। मानव के विकास में जो वंशानुक्रम का हाथ रहता है उसकी पूर्णतया अवहेलना नहीं की जा सकती।

5. व्यवहारवादियों ने व्यक्तित्व की बहुत सरल व्याख्या की। यह व्याख्या इतनी सरल थी कि व्यक्तित्व की गूढ़ समस्याओं से इसका कोई वास्ता नहीं था। केवल बाह्य चेष्टाओं से व्यक्तित्व की गहराइयों को न तो समझा जा सकता था न नापा जा सकता था। व्यक्तित्व के पीछे एकीकरण करने वाली आन्तरिक शक्तियों की ओर उनका ध्यान नहीं गया। इन शक्तियों को प्रयोजनवादी (Purposive) तथा मनोविश्लेषणवादी (Psychoanalyist) मनोवैज्ञानिकों ने भली भाँति जाना था।

4. अवयवीवाद
(Gastalt School)

जिस समय अमेरिका में व्यवहारवाद का जन्म हुआ उसी समय जर्मनी में अवयवीवाद का जन्म हुआ। जर्मन भाषा में 'गेस्टाल्ट' शब्द का अर्थ रूप, आकृति, अवयवी सम्बद्ध-प्रत्यक्ष अथवा नमूना या आदर्श (Shape, Form, Whole, Pattern, Configuration) होता है। अंग्रेजी या हिन्दी में गेस्टाल्ट शब्द का ठीक-ठीक अनुवाद नहीं किया जा सकता। अंग्रेजी में निकटतम अर्थ रखने वाले शब्द Configuration या Structure हैं। अवयवीवादियों ने सबसे पहले अनुभव या व्यवहार की एकता (Unity), निरन्तरता (Continuity) और संगठन (Organization) को मनोवैज्ञानिक समस्या का महत्वपूर्ण अंग बताया। उन्होंने साहचर्यवादियों द्वारा आणविक विश्लेषण को अनावश्यक और अनुपयुक्त बताया। उनके अनुसार प्रत्यक्षीकरण के क्षेत्र (Perceptual Field) का विश्लेषण करने से कोई काम नहीं बनता बल्कि मानसिक प्रक्रिया को समझने के लिए सम्पूर्ण क्षेत्र पर एक साथ ध्यान देना होगा। वर्दमीयर (Wertheimer) ने प्रसिद्ध फी-फिनोमिनन (Phi-phenomenon) को उदाहरण के तौर पर इस प्रकार प्रस्तुत किया—हम चलचित्र में परदे पर क्या देखते है? प्रक्षेपण यन्त्र द्वारा अनेक स्थिर चित्र (Still Pictures) एक क्रम में निश्चित वेग से पर्दे पर फेंके जाते हैं। दर्शक इन चित्रों को पर्दे पर पृथक-पृथक नहीं देख पाते बल्कि वे मानव आकृतियों को चलते-फिरते, हँसते-बोलते हुए

परदे पर देखते हैं। यह कैसे सम्भव होता है ? साहचर्यवादी परम्परा में उत्तेजना-अनुक्रिया सिद्धान्त के अनुसार इसकी व्याख्या इस प्रकार थी—पर्दे पर फेंकी गई प्रत्येक उत्तेजना हमारी आँख में सम्बन्धित संवेदना उत्पन्न कर देती है। जब हम पर्दे पर तस्वीर का प्रत्यक्षीकरण करते हैं तो हमारा मन इन संवेदनाओं को संगठित करता जाता है जिसके फलस्वरूप आकृतियां चलती-फिरती दिखाई देती हैं। वर्दमीयर ने इस व्याख्या को अस्वीकार किया। उसने बताया कि हमारी ज्ञानेन्द्रिय (आँख) के सामने संवेदना का क्षेत्र प्रस्तुत होता है न कि पृथक-पृथक संवेदनाएँ। अवयवीवादियों के अनुसार प्रत्यक्षीकरण की 'सम्पूर्णता' अधिक महत्वपूर्ण है न कि इसके खण्डों का योग। हम सम्पूर्ण का प्रत्यक्षीकरण करते हैं न कि अलग-अलग तत्वों का। उन्होंने प्रत्यक्षीकरण के क्षेत्र से सम्बन्धित सैकड़ों प्रयोग किए और इन प्रयोगों में उन सब सिद्धान्तों को भली भाँति दर्शाया जिनके आधार पर 'प्रत्यक्ष क्षेत्र' का संगठन होता है। इन सिद्धान्तों की चर्चा सीखने के अवयवीवादी सिद्धान्तों के अन्तर्गत आगे की गई है। दूसरा उदाहरण लीजिए—एक वर्ग, केवल चार काली रेखाएँ नहीं हैं, बल्कि इससे अधिक कुछ और भी है। ये चार रेखाएँ, एक विशेष क्रम में, विशेष ढंग से, एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। हमारी आँखें जब कागज पर बने हुए वर्ग को देखती हैं तो हम चारों रेखाओं की पृथक-पृथक संवेदनाएँ प्राप्त नहीं करते। प्रत्यक्ष होते ही हमारा मन इनके सम्बन्धों को तुरन्त ग्रहण कर लेता है। हमारी प्रतिक्रिया सम्पूर्ण नमूने के प्रति होती है। यही हमारे मन की सूझ (Insight) है, जो थोड़ी-बहुत पशुओं में भी दर्शायी जा सकती है।

अवयवीवाद की विशेषतायें (Characteristics of Gastalt School)

(1) मनोविज्ञान में अवयवीवाद का विकास साहचर्यवाद के विरोध में हुआ।

(2) इन्होंने इन्द्रिय संवेदना (व्यवहार या अनुभव का छोटा भाग) को अनावश्यक समझा।

(3) ये व्यवहारवादियों की तरह अन्तःप्रेक्षण का विरोध नहीं करते थे। लेकिन विश्लेषणात्मक अन्तर्दर्शन के विरोधी थे।

(4) इन्होंने व्यवहारवादियों के उत्तेजना-अनुक्रिया (S-R) पर विशेष आपत्ति की क्योंकि यह भी एक प्रकार का परमाणुवाद था। इसको उन्होंने ईंट और गारा मनोविज्ञान (Brick and Mortar Psychology) की संज्ञा दी।

(5) बालक या पशु सम्पूर्ण परिस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया करके सूझ द्वारा सीखता है। अनुक्रियाओं को जोड़कर अथवा प्रयत्नभूल विधि से नहीं। इस सम्बन्ध में वनमानुषों पर किए गए प्रयोगों की चर्चा सीखने के अध्याय में की गई है।

(6) प्राणी (पशु या मानव शिशु) एक यन्त्र मात्र नहीं है। उसके व्यवहार के अध्ययन में यान्त्रिकता को लागू करना ठीक नहीं है। वह प्रयास और त्रुटि से ऊपर उठकर भी व्यवहार करता है और सीखता है क्योंकि उसके पास बुद्धि है।

अवयवीवाद का शिक्षा तथा शिक्षा मनोविज्ञान पर प्रभाव (Influence of Gastalt School an Education and Educational Psychology)

(1) अवयवीवाद मनोविज्ञान के क्षेत्रों में एक प्रबल और बहुमूल्य विचार धारा है। इसके अध्ययन से बालक के व्यवहार, उसके सीखने के ढंग और बुद्धि के

रे में अच्छी जानकारी होती है। इस जानकारी को एक कुशल अध्यापक शिक्षा में गू कर सकता है, विशेषकर प्रत्यक्षीकरण सम्बन्धी अवयवीवादी खोजों को।

(2) अवयवीवादियों ने बुद्धि की व्याख्या अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा अधिक ष्ट और युक्तिपूर्ण ढंग से की है। इसकी प्रमुख शक्ति 'सूझ' है। 'बालक अपने आस-पास वातावरण (परिवार, समाज और विद्यालयों के साथ अनुकूलन करते समय सूझ) काम लेता है। यह नवीन दृष्टिकोण शिक्षा मनोविज्ञान और सामाजिक नोविज्ञान मे बहुत उपयोगी है। शिक्षा में वातावरण की उपेक्षा नही की जा कती।

(3) अवयवीवादी बालक या व्यक्ति का अध्ययन एक पूर्ण सत्य (Complete-ntity) के रूप में करते हैं। दूसरे शब्दों में उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर ध्यान दिया ता है जबकि व्यवहारवादी केवल बाह्य चेष्टाओ पर ध्यान देते हैं। बालक उसके वयवो का योगमात्र नही है। शिक्षा का उद्देश्य भी बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व ा विकास करना है। अत बालक के व्यक्तित्व का अध्ययन उसकी सम्पूर्ण परि-र्थतियों में (शैक्षिक, सामाजिक और पारिवारिक) किया जाना चाहिए। उसके र्यक्तित्व पर सम्पूर्ण वातावरण की छाप पड़ती है। इस प्रकार अवयवीवाद ने बालक ः व्यक्तित्व को समझने मे एक नया मोड़ दिया। अब व्यक्तित्व को एक "गतिशील ागठन" समझा जाता है।

(4) अवयवीवाद की एक महत्वपूर्ण देन परीक्षण को कसौटी है। वे सब छ परीक्षण की कसौटी पर कसकर देखना चाहते हैं। जो इस कसौटी पर खरा ही उतरता, वह ग्रहण करने योग्य नही है। शिक्षा मे इस कसौटी को पूरी तरह पनाया गया है। अवयवीवादियो ने प्रयोग द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि बालक को, सके जीवन क्षेत्र (Life Space) से पृथक करके नही समझा जा सकता।

(5) अवयवीवाद की विचारधारा जननिक मनोविज्ञान (Genetic Psychology) से भी मेल नही खाती। बालक या व्यक्ति पृथक-पृथक घटनाओं का ोग नहीं है बल्कि वह एक सुसंगिठत अवयवी (Organised Whole) है। इस ृष्टिकोण ने बाल मनोविज्ञान और शिक्षा मनोविज्ञान को विशेष रूप से प्रभावित किया है।

(6) अवयवीवाद ने सश्लेषण पर बल दिया। अतः शिक्षा में 'सश्लेषण से विश्लेषण की ओर' और पुन. 'विश्लेषण से सश्लेषण की ओर' का महत्व समझा जाने लगा।

(7) अवयवीवादी सामन्जस्य को मानव व्यवहार का केन्द्र मानते हैं। वे मन (Mind) को तनाव-प्रणाली (Tension-System) से युक्त समझते हैं। व्यक्ति के व्यवहार का लक्ष्य मानसिक तनाव से मुक्त होकर मानसिक सन्तुलन स्थापित करना है। लेकिन ये तनाव, दिये हुए जीवन क्षेत्र में ही दूर किए जा सकते हैं। यह क्षेत्र बाहरी और आन्तरिक (मानसिक) दो प्रकार का है। यदि हम बालक के व्यक्तित्व में सामन्जस्य लाना चाहते हैं तो हमे उसके व्यवहार की शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की गतियो को एक साथ देखना होगा क्योंकि समन्वय, उसकी परिवेश

सम्बन्धी आवश्यकताओं और मानसिक आवश्यकताओं के बीच समझौता होना है। उसके जीवन के विभिन्न अंगों का पृथक-पृथक अध्ययन नहीं करना चाहिए।

(8) अवयवीवादी एकीकरण (Integration) पर विशेष बल देते हैं। बालक अपने अनुभव, ज्ञान और घटनाओं का एकीकरण अपने चरित्र में करता है। अत: उसके समुचित चारित्रिक विकास के लिए विविध प्रकार के ज्ञान और अनुभवों से युक्त पाठ्यक्रम (Integrated Curriculum) होना चाहिए।

अवयवीवाद और व्यवहारवाद की तुलना

व्यवहारवाद	अवयवीवाद
1. इसका उदय पुराने मनोविज्ञान द्वारा 'अनुभव' के विश्लेषण के विरोध में हुआ। इनका कहना था कि हमको मानव और पशु के व्यवहार का विश्लेषण करना चाहिए, न कि अनुभव का।	1. इन्होंने मनोविज्ञान में विश्लेषण के विरुद्ध विद्रोह किया। इनका कहना था कि अनुभव और व्यवहार के विश्लेषण से कोई लाभ नहीं हो सकता है।
2. व्यवहारवादियों ने विचार साहचर्य को बिल्कुल अस्वीकार कर दिया। उसके स्थान पर उन्होंने उत्तेजना-अनुक्रिया के सम्बन्ध (साहचर्य) को स्वीकार किया।	2. अवयवीवादियों की धारणा थी कि साहचर्यवाद चाहे वह किसी भी रूप में हो भ्रामक है।
3. इन्होंने संवेदना को त्याग दिया क्योंकि यह गामक प्रतिक्रिया (Motor Response) नहीं थी।	3. इन्होंने भी संवेदना को त्याग दिया क्योंकि यह अनुभव का एक लघु भाग 'एटम' था।
4. इन्होंने मनोवैज्ञानिक तत्व के रूप में सहज-क्रिया को अपनाया।	4. ये जिस कारण से संवेदना के विरोधी थे, उसी कारण से सहज-क्रिया के भी विरोधी थे।
5. व्यवहारवादी अन्त:प्रेक्षण विधि को पसन्द नहीं करते थे क्योंकि इसके द्वारा व्यवहार की अपेक्षा अनुभव का वर्णन होता था।	5. इन्हें अन्त:प्रेक्षण विधि से कोई शिकायत नहीं थी लेकिन विश्लेषणवादी अन्त:प्रेक्षण के विरोधी थे।
6. व्यवहारवादियों ने अपने झण्डे सम्बद्ध अनुक्रिया पर गाड़ दिये थे। उनके अनुसार सभी सीखने की क्रियाएँ इसी प्रकार से होती हैं। ये अनुक्रियाएँ, मानव व्यवहार के टुकड़ों के समान अलग दिखाई देती हैं। व्यवहार को कहीं से भी काटकर (by Dissecting) उसका विश्लेषण किया जा सकता है।	6. अवयवीवादियों ने व्यवहार और सीखने में सम्पूर्ण परिस्थिति पर बल दिया। जिस प्रकार सौरमण्डल एक संगठित इकाई है उसी प्रकार मनुष्य का व्यवहार भी है। जिस प्रकार सौरमण्डल में एक की स्थिति और गति से दूसरा प्रभावित होता है, उसी प्रकार व्यवहार के विकास में भी सम्पूर्ण परिस्थिति के एक अंग का दूसरे अंग पर और मनुष्य पर प्रभाव पड़ता है। उन्होंने व्यवहार की सम्पूर्णता को स्पष्ट करते हुए अन्य उदाहरण भी दिए, जैसे—घूमता हुआ पहिया, पानी में साबुन का बबूला और विद्युत।

5. अन्तर्दर्शनवादी मनोविज्ञान
(Introspective Psychology)

अन्त:प्रेक्षण, मनोवैज्ञानिक अध्ययन की एक विधि है जिस पर किसी सम्प्रदाय शेष का एकाधिकार नही है। उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक इस विधि का काफी ल-बाला रहा। निरीक्षण करने की यह एक विशिष्ट पद्धति थी जिसे मनोविज्ञान त लम्बे समय तक अपनाए रहा। दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत यह विधि आरामकुर्सी बैठकर सोचने की प्रणाली (Armchair Method) थी। अठारहवी और उन्नीसवी ताब्दी में, जब पदार्थ विज्ञानों की तीव्र प्रगति हुई, मनोवैज्ञानिकों ने भी उनके ध्ययन की विधियो को अपनाया। विज्ञान की मुख्य विधि निरीक्षण है। इस विधि व्यक्तिनिष्ठ निरीक्षण (Subjective Observation) का नाम देकर वैज्ञानिक ामा पहनाया गया और भौतिक शास्त्र मे प्रयुक्त निरीक्षण विधि को मनोविज्ञान मे ागू करके प्रदत्त (Datas) एकत्र किए जाने लगे। मनोविज्ञान में यह विधि 'प्रभाव ी विधि' (Method of Impression) कही जाने लगी जिसके अन्तर्गत इन्द्रिय वेदना सम्बन्धी प्रदत्त एकत्र किए गए और उनका विश्लेषण किया गया। स्पर्श, वाद, दृष्टि सवेदना, श्रव्य सवेदना आदि का अध्ययन इसी ढग मे किया गया था। स प्रकार इन्द्रिय सवेदना के क्षेत्र मे मनोविज्ञान ने बहुमूल्य जानकारियाँ प्राप्त की ी। व्यक्ति की सवेदना दो प्रकार की हो सकती थी—व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ। नोविज्ञान की प्रयोगशालाओ मे इस प्रकार के आयोजन किए गए कि प्रयोग की दशाओं व्यक्ति अपनी अनुभूति को व्यक्त कर सके। लेकिन कुछ लोगो ने इस विधि पर आपत्ति ी। वैज्ञानिक प्रयोगशाला मे एक वैज्ञानिक किसी वस्तु के ताप को छूकर मालूम कर कता है अथवा अपने सहायक से यह कार्य ले सकता है या वह ताप की निश्चित मात्रा ज्ञात करने के लिए तापमापक (Thermometer) का प्रयोग कर सकता है। लेकिन मनोविज्ञान में खोज या प्रयोग की विषयवस्तु, पदार्थ विज्ञान की विषयवस्तु से सर्वथा भिन्न होती है। स्मृति, कल्पना, विचार और अनुभूति ये सब व्यक्तिगत अनुभव से जानी जा सकती हैं। किसी यन्त्र द्वारा इनका अभिलेख प्रस्तुत नहो किया जा सकता। व्यवहारवादियो ने अन्त प्रेक्षण पर विशेष आपत्ति की। उनके प्रयोग करने के ढग वही थे लेकिन कहने के ढग मे फर्क था। यह कहने की अपेक्षा कि प्रयोज्य (Subject) को क्या दिखाई दिया या क्या सुनाई दिया, उन्होंने कहा कि प्रयोज्य को प्रकाश के प्रति *क्या प्रतिक्रिया हुई या ध्वनि के प्रति क्या प्रतिक्रिया* हुई। यह शब्दो की लडाई और हेर-फेर मनोविज्ञान मे काफी समय तक जारी रहा। भारोत्तोलन (Weight Lifting) के प्रसिद्ध प्रयोगो मे व्यक्ति को दोनो हाथो मे गेंद उठाकर क्रमश: यह बताना था कि कौनसी गेंद कम भारी और कौनसी ज्यादा भारी थी। अन्त प्रेक्षणवादियो का कहना था कि गेंद को उठाकर भार महसूस कर लेने के बाद, अपने मन मे बनी प्रतिमाओ की सहायता से वह व्यक्ति भार की तुलना करता था। लेकिन व्यवहारवादियो ने इस व्याख्या को अस्वीकार कर दिया। उन्होने तर्क दिया कि वह व्यक्ति प्रत्येक बार भार उठाने की क्रिया मे मांसपेशियो में सामजस्य (Muscular Adjustment) उत्पन्न करता है, न कि भार के सम्बन्ध मे मानसिक प्रतिमाएँ बनाता है। अत. अन्त प्रेक्षण की जाँच बाह्य चेष्टाओ के वस्तुगत निरीक्षण

से होनी चाहिए। इस प्रकार अन्त:प्रेक्षण और वस्तुगत निरीक्षण, इन दोनों विधियों को इविंघौस तथा मुलर आदि ने भूलने के वक्र, स्मृति और पुनश्चेतना से सम्बन्धित प्रयोगों में प्रयुक्त किया। इसी प्रकार अल्फ्रेड विने ने अपनी पुत्री को प्रयोज्य बनाकर विचार प्रक्रिया का अध्ययन किया। भौतिक शास्त्र का काम तथ्यों (Facts) को सम्बन्धित करना है। मनोविज्ञान का काम तथ्यों को व्यक्तिगत् अनुभव से सम्बन्धित करना है। अत: मनोवैज्ञानिक अध्ययन में बाहरी चेष्टाओं सम्बन्धी तथ्य और अनुभव, यह दोनों प्रकार की सामग्री आवश्यक है।

6. प्रयोजनवादी सम्प्रदाय
(Hormic School)

पुराने अन्त:प्रेक्षणवादी मनोविज्ञान का अधिक व्यवस्थित ढंग से खण्डन करने का श्रेय मैकडूगल (Mc Dougall) को प्राप्त है। विचार अथवा इन्द्रिय-संवेदना और उत्तेजना-अनुक्रिया के स्थान पर उसने जीवन में व्याप्त प्रयोजन के विचार को आगे बढ़ाया। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक मैकडूगल तथा टोलमैन के मुख्य विचार इस प्रकार हैं :

(1) शरीरधारियों (मनुष्य और पशु) का सम्पूर्ण व्यवहार प्रयोजन से युक्त है। दूसरे शब्दों में व्यवहार निश्चित लक्ष्यों (Goals) की ओर अग्रसरित होता है। प्राणी जब तक अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर लेता है, बेचैन और क्रियाशील रहता है। वह गन्तव्य तक पहुँचने के लिए लगातार प्रयत्न करता रहता है। इसे लक्ष्यगामी चेष्टा (Goal seeking Activity) कहते हैं। टोलमैन ने अन्त:प्रेक्षण को अस्वीकार करते हुए बताया कि सप्रयोजन व्यवहार में प्रयत्न और भूल विधि से वह लक्ष्य की ओर ले जाने वाली क्रियाओं को तत्परता से करता रहता है।

(2) मैकडूगल के अनुसार प्रत्येक शरीरधारी में कुछ जन्मजात आदतें अथवा मूलप्रवृत्तियाँ (Instincts) होती हैं। इनके पीछे जो प्रेरणादायक शक्ति है, उसका नाम हार्म (Horme) है। कुछ लोग इसे जीवित रहने का संकल्प (Will to Live) भी कहते हैं। बर्गसन (Bergson) ने इस जीवन शक्ति को इलन-वाइटल (Elan-vital) कहा था और फ्रायड ने इसे लिबिडो (Libido) की संज्ञा दी थी। जीवन को आगे ले जाने वाली इस शक्ति का प्रकाशन प्राणियों में प्रवृत्तिजन्य व्यवहार के द्वारा होता है। मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया के तीन अंग होते हैं—ज्ञानात्मक, अनुभव करना और संकल्प करना (Willing or Conation)। मैकडूगल ने पहले सात और बाद में चौदह मूल प्रवृत्तियों का उल्लेख किया। मूल प्रवृत्तियों के अतिरिक्त बाद की रचनाओं में उसने जन्मजात योग्यताओं (Innate Abilities) की चर्चा भी की थी। मूल प्रवृत्ति-जन्य व्यवहार में संवेग सदा उपस्थित रहता है। प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ एक विशेष संवेगात्मक अनुभूति रहती है। उसने चौदह प्रवृत्तियों के साथ चौदह संवेगों का वर्णन किया है।

मूल प्रवृत्तियों की परिभाषा देते हुए मैकडूगल ने कहा है कि—यह एक वंशानुगत अथवा आन्तरिक मनोशारीरिक प्रवृत्ति है जोकि उसके रखने वाले को एक विशेष प्रकार की वस्तुओं को देखने के लिए और उसकी ओर ध्यान देने के लिए बाध्य करती है और इस प्रकार की वस्तु को देख कर एक विशेष गुण से पूर्ण

संवेगात्मक उत्तेजना अनुभव करने के लिए और उसके प्रति एक विशेष प्रकार का व्यवहार करने के लिए वाध्य करती है ।[1]

मैकडूगल की इस परिभाषा के अनुसार मूल प्रवृत्तिजन्य व्यवहार की मूल विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(1) यह एक जन्मजात मानसिक प्रवृत्ति (Innate Disposition) है जो जाति के सभी प्राणियों में समान रूप से देखी जा सकती है ।

(2) यह प्रवृत्ति प्राणी को कुछ विशेष वस्तुओं के प्रति ध्यान देने (ज्ञानात्मक क्रिया करने) को वाध्य करती है।

(3) उस वस्तु की ओर ध्यान देने पर वह प्राणी एक प्रकार का संवेग (जो उस प्रवृत्ति से जुड़ा हुआ है) महसूस करता है ।

(4) ज्ञानात्मक तथा संवेगात्मक अनुभूति के साथ-साथ वह प्राणी कुछ करने का आवेग या प्रेरणा भी प्राप्त करता है, जिसका प्रकाशन उस वस्तु से सम्बन्धित विशिष्ट क्रियाओं में होता है । उदाहरण—प्रत्येक माता में शिशु को प्यार करने की प्रवृत्ति (Parental Instinct) जन्मजात होती है, चाहे वह मानव हो या पशु । संध्याकाल को जब गाय जंगल से लौटती है तो अपने बछड़े (विशेष वस्तु) की ओर ध्यान देती है—उसकी सुगन्ध लेती है और ध्वनि सुनती है । तत्काल उसमे वात्सल्य का संवेग संचारित हो जाता है । ध्वनि या गन्ध से उसे मालूम हो जाता है कि बछड़ा अमुक स्थान पर है । वात्सल्य संवेग के साथ उसके अन्दर अपने बछड़े को देखने, प्यार करने का आवेग उत्पन्न होता है और उसी के अनुकूल वह चेष्टाएँ करती है । घरों पर माता-पिता भी अपने बच्चों के प्रति इसी प्रकार का व्यवहार प्रदर्शित करते हैं ।

मनुष्य का सम्पूर्ण व्यवहार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में स्थायी भावों (Sentiments) द्वारा प्रेरित तथा नियन्त्रित होता है । स्थायी भाव संवेगात्मक आवेगों की एक प्रणाली होती है जो किसी वस्तु, स्थान या व्यक्ति पर केन्द्रित रहती है । जैसे—ऊपर के उदाहरण में माता का अपने शिशु (बछड़े) के प्रति प्रेम का स्थायी भाव । दूसरे शब्दों में इन्हें संवेगात्मक आदत कह सकते हैं । प्रवृत्तिजन्य व्यवहार को शक्ति संवेग से ही प्राप्त होती है । टोलमैन ने इस शक्ति को चालक (Drive) नाम दिया । मैकडूगल ने प्रवृत्तिजन्य व्यवहार के किसी शारीरिक आधार का वर्णन नहीं किया था और इसी बात पर उसकी कटु आलोचना हुई । टोलमैन ने इसे चालक नाम देकर शारीरिक आधार प्रदान किया । टोलमैन के इस अपूर्ण और अस्पष्ट विचार को मनोविश्लेषणवादी फ्रायड ने लिबिडो शक्ति के रूप मे अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त किया । इसकी चर्चा मनोविश्लेषणवादी सम्प्रदाय मे की गई है । व्यवहार मे संवेगात्मक प्रेरणा के महत्व को टोलमैन तथा हल (Hull) ने भली-भाँति समझ

---

1 "An instinct is an innate psycho-physical disposition which determines the organism to perceive or pay attention to an object of certain class and to experience in its presence certain emotional excitement and an impulse to action which find expression in a specific mode of behaviour in relation to that object." —Mc Dougall

कर इसे अपने सीखने के सिद्धान्तों में उचित स्थान दिया। इससे पूर्व (साहचर्यवादियों द्वारा) सीखने की प्रक्रिया पर अधिक बल दिया जाता था किन्तु टोलमैन तथा हल ने सीखने वाले (बालक को उसकी संवेगात्मक प्रेरणाओं के आधार पर) को सीखने के कार्य में अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया।

शिक्षा-मनोविज्ञान को प्रयोजनवादी सम्प्रदाय की देन (Contributions of Purposive Psychology to Educational Psychology)

(1) मनोविज्ञान के नवीन सिद्धान्त और उसके व्यावहारिक क्षेत्रों के विकास की दृष्टि से प्रयोजनवादी सम्प्रदाय एक बड़ी प्रगति थी। मैकडूगल ने यह नवीन दृष्टिकोण उस समय प्रस्तुत किया जबकि संवेदनावादी और साहचर्यवादी सम्प्रदाय आगे प्रगति का कोई मार्ग ढूंढ़ने में असफल हो रहे थे और उनकी प्रगति लगभग समाप्त हो चुकी थी।

(2) मानव या पशु व्यवहार के प्रति मैकडूगल की धारणाएँ और विचार गम्भीर अध्ययन, निरीक्षण और प्रयोगों पर आधारित थे। उसने अपने व्यक्तित्व और और प्रभावशाली लेखनी से खोज कार्यों को प्रेरणा दी। जो उसके दृष्टिकोण और विचारों से सहमत नहीं थे, उन्हें भी उसके तर्कों को काटने के लिए व्यापक प्रयोग, परिश्रम और गहन अध्ययन करना पड़ा। इस प्रकार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रयोजनवाद ने मनोविज्ञान के सभी क्षेत्रों में हलचल उत्पन्न कर दी। प्रयोजनवादियों के अनुसार बालक की शिक्षा का अर्थ है मूल प्रवृत्तियों का शोधन अर्थात् इनकी शक्ति को उपयोगी कार्यों एवं शैक्षिक विकास के लिए प्रयोग करना।

(3) मनोविज्ञान में अध्ययन और विश्लेपण की वस्तु 'संवेदना' और 'विचार' के स्थान पर मूल प्रवृत्ति (Instinct) बन गई किन्तु यह विषय-वस्तु संवेदना और विचार की तरह स्थिर न होकर क्रियाशील थी। मानव शिशु में मूल प्रवृत्तिजन्य व्यवहार को मोड़ देकर (मार्गान्तरीकरण एवं शोधन द्वारा) उपयोगी कार्यों में लगाया जा सकता है। उचित स्थायी भावों के निर्माण से बालक के चरित्र का सुन्दर विकास किया जा सकता है।

(4) मैकडूगल ने सीखने की क्रिया के बारे में क्रान्तिकारी विचार दिए। अब तक सीखने की अपेक्षा स्मृति पर अधिक बल दिया गया था। मैकडूगल ने सीखने की समस्या पर सीधा आक्रमण किया। इसके विचारों का सदुपयोग टोलमैन तथा हल द्वारा प्रतिपादित सीखने के नवीन सिद्धान्तों में किया गया।

(5) मैकडूगल ने सबसे पहले मनोविज्ञान को 'व्यवहार' का विज्ञान बताया और इसके अध्ययन में वस्तुनिष्ठ विधियों पर बल दिया लेकिन व्यवहारवादियों की तरह अन्तःप्रेक्षण को बिल्कुल त्यागा नहीं। उसने जिस मानव और पशु व्यवहार की व्याख्या की है, वह यान्त्रिक व्यवहार नहीं है। हम अपने व्यवहार को अपने अन्दर देखकर भलीभाँति समझ सकते हैं और यह भी जान सकते हैं कि यह व्यवहार सप्रयोजन है।

(6) मानव और पशु का व्यवहार लक्ष्यगामी (Goal Seeking) या लक्ष्यों की ओर अग्रसरित होता है। बालक के सीखने की क्रिया भी इसी प्रकार का व्यवहार है, जिसकी मुख्य विशेपताएँ इस प्रकार हैं।

(क) यह क्रिया या व्यवहार लगातार होता रहता है।

(ख) क्रिया या व्यवहार लगातार होने के बावजूद उसमें पर्याप्त परिवर्तनशीलता या विचरणशीलता होती है।

(ग) लक्ष्य पर पहुँचकर क्रियाशीलता समाप्त हो जाती है।

(घ) बार-बार दोहराने पर उस क्रिया में सुधार होता है।

मैकडूगल द्वारा प्रतिपादित व्यवहार की सप्रयोजनता और लक्ष्यगामी क्रियाओं सिद्धान्तों को आधुनिक समय में आर० बी० कैटिल (R. B. Cattell) ने व्यक्तित्व के बहु तत्व विश्लेषण (Multivariate factor analysis of personality) सम्बन्धी खोजों से सत्य प्रमाणित कर दिया है। उसकी खोजों में मैकडूगल द्वारा बताई गई 6 जन्मजात योग्यताओं की संपुष्टि हो जाती है। आधुनिक कम्प्यूटर्स की कार्य-प्रणाली भी इसी सिद्धान्त पर आधारित है।

(7) प्रयोजनवाद ने जीवन में प्रेरणाओं का महत्व स्पष्ट कर दिया है। मैकडूगल ने सामाजिक विज्ञानों के लिए जीवन की प्राकृतिक प्रेरणाओं पर आधारित

[illegible]

है। मनुष्य सामाजिक व्यवहार क्यों और कैसे सीखता है इसकी व्याख्या प्रयोजनवादी बहुत अच्छी तरह करते हैं।[1]

बालक जैसे-जैसे मानवीय और सामाजिक व्यवहार सीखता है उसकी प्रवृत्तियाँ परिवर्तित होती जाती हैं।

(8) प्रयोजनवादियों ने मनोविज्ञान की एक नवीन शाखा सामाजिक मनोविज्ञान को जन्म दिया। शिक्षा में भी बालक के सामूहिक जीवन (Group Life) और सामाजिक व्यवहार का अध्ययन किया जाने लगा, क्योंकि बालक के शैक्षिक विकास में सामूहिक व्यवहार और समूह की प्रेरणाओं का महत्व हो गया था।

प्रयोजनवाद की आलोचना (Criticism of Purposive School)

(1) कोई भी दो प्रयोजनवादी प्रवृत्तियों की संख्या के प्रश्न पर सहमत न हो सके। स्वयं मैकडूगल ने पहले सात, फिर बारह, फिर चौदह और फिर अठारह मूल प्रवृत्तियों का उल्लेख किया। फलतः प्रवृत्ति सम्बन्धी सम्पूर्ण धारणा ही संदिग्ध हो गई। थॉर्नडाइक और वाटसन जैसे मनोवैज्ञानिकों ने इसे कभी स्वीकार नहीं किया।

(2) मनुष्य के सम्पूर्ण व्यवहार को प्रवृत्तिजन्य बताकर उसे पशुओं की श्रेणी में खड़ा कर दिया गया। मनुष्य जन्मजात् प्रवृत्तियों का दास नहीं है। वह बहुत सा व्यवहार परिवेश में रहकर सीखता है। बरनार्ड (Bernard) के अनुसार जिसे प्रवृत्तिजन्य व्यवहार कहा गया है वह तो जटिल क्रियाएँ ही हैं जिनमें सांस्कृतिक भिन्नता देखी जा सकती है।

1

(3) मैकडूगल का विश्वास था कि प्रवृत्तिजन्य व्यवहार का केन्द्र संवेग है। उसका यह कहना रहस्यमय था कि मनुष्य के सम्पूर्ण कार्यों में चालक शक्ति संवेग ही है। उसके द्वारा प्रतिपादित मूल प्रवृत्तियों और उनसे संलग्न संवेगों में से कुछ ही स्वीकार किए गये। वर्नार्ड के अनुसार मानव प्रेरणा का स्रोत सामाजिक वातावरण है।

(4) मूल प्रवृत्तियाँ ही मनुष्य के सामाजिक व्यवहारों के लक्ष्यों को निर्धारित नहीं करतीं बल्कि बहुत सा सामाजिक व्यवहार सामाजिक परिवेश में रहकर सीखा जाता है। समाजशास्त्रियों ने मूल प्रवृत्ति सिद्धान्त को बिल्कुल अस्वीकार कर दिया और बताया कि मनुष्य के सामाजिक व्यवहार का कारण मानव संस्कृति और संस्थाएँ हैं।

(5) प्रयोजनवाद ने एक नया प्रश्न खड़ा कर दिया : जन्मजात प्रवृत्तियाँ या वातावरण ? मानव व्यवहार के लिए इन दोनों में से कौन अधिक उत्तरदायी है ? इस प्रश्न के उत्तर में वातावरण का पक्ष अधिक दृढ़ होता गया क्योंकि प्रत्येक शिशु अपने वातावरण से ही आचरण के ढंग ग्रहण करता है।

(6) मैकडूगल द्वारा प्रतिपादित "स्थायी भाव" का सिद्धान्त भी तत्कालीन मनोवैज्ञानिकों ने स्वीकार नहीं किया क्योंकि संवेगों की भाँति यह भी रहस्यमय वस्तु थी।

(7) मैकडूगल, व्यवहार के पीछे "चालक शक्ति" को स्पष्ट करने में असफल रहा। उसके द्वारा प्रतिपादित जन्मजात योग्यता (Inborn Ability) में कोई चालक शक्ति नहीं है। वह प्रेरणा और व्यवहार की पृथक-पृथक व्याख्या सफलतापूर्वक नहीं कर सका।

(8) प्रयोजनवादियों ने मानव व्यवहार की प्रत्येक समस्या का समाधान मूल प्रवृत्ति के एकमात्र सूत्र से हल करने का प्रयत्न किया। बालक कक्षा में झगड़ते हैं, क्योंकि उनमें झगड़ने की जन्मजात् प्रवृत्ति है। एक बालक के चोट लगने पर दूसरा बालक उसके प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करता है क्योंकि उसमें सहानुभूति दिखाने की जन्मजात आदत है, इत्यादि। इस प्रकार हर मनोवैज्ञानिक प्रश्न के उत्तर में एक मूल प्रवृत्ति गढ़ ली गई, अतएव इन जन्मजात् प्रवृत्तियों की संख्या बढ़ती ही गई।

7. मनोविश्लेषणवाद
(Psychoanalytic School)

प्रकृति और स्वरूप (Nature and Forms) मनोविज्ञान में मनोविश्लेषण-वाद के दो अभिप्राय हैं :

(क) वह युक्तियाँ जो फ्रॉयड आदि ने मानवमन का विश्लेषण करने के लिए निकालीं।

(ख) इस पद्धति से मन का गहन विश्लेपण करके जो तथ्य प्राप्त हुए उनके आधार पर जिन सिद्धान्तों का निरूपण किया गया, वे मनोविश्लेपणवादी विचारधाराएँ कहलाईं।

फ्रॉयड के शिष्य तथा अनुयायी जुंग तथा एडलर क्रमशः अपने मनोवैज्ञानिक विचारों को 'विश्लेषणवादी मनोविज्ञान' तथा व्यक्तिगत मनोविज्ञान (Analytical Psychology and Individual Psychology) के नाम से पुकारने लगे, इन तीनों के दृष्टिकोण एवं अध्ययन विधियों में बहुत सी समानतायें होते हुए भी कुछ साधारण अन्तर हैं। समानताओं के आधार पर ये तीनों इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते हैं और इसके प्रवर्तक माने जाते है।

फ्रॉयड ने मानव व्यवहार के अध्ययन की समस्या को 'कारण और कार्य' (Cause and Effect) की कसौटी पर कसा। प्रत्येक मानसिक घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। उस घटना को उत्पन्न करने वाली विशेष परिस्थितियाँ, अनुभव या वातावरण से प्राप्त उत्तेजनाएँ होती हैं। ये कारण (Causes) शारीरिक और मानसिक दोनो प्रकार के होते हैं। स्पष्ट है कि फ्रायड के विचारों की गहराई मे 'निश्चयवाद' (Determinism) सर्वत्र व्याप्त है। फ्रायड का विचार करने और विचार व्यक्त करने का ढंग इतना वस्तुनिष्ठ, निष्पक्ष, तर्कपूर्ण और वैज्ञानिक था कि उसके द्वारा किया गया आत्मगत् (आत्मनिष्ठ) निरीक्षण भी पूर्ण वैज्ञानिक और स्वाभाविक जान पड़ता है।

मुख्य विचारधारा—यह सम्प्रदाय मुख्य रूप से अज्ञात मन की चेष्टाओं का अध्ययन करता है। फॉयड के अनुसार अज्ञात या अचेतन मन की अपेक्षा चेतन मन कही अधिक छोटा है। मनुष्य के अचेतन मन मे अनेक अतृप्त भावनाएँ, इच्छाएँ और आवेग आदि दबे पडे रहते हैं। शैशव और बाल्यकाल से ही अनेक कटु अनुभव और स्मृतियाँ इस अधोचेतन मन में संग्रहीत होती रहती हैं। यह अचेतन मन एक हिम खण्ड (Iceberg) के उस विशाल भाग के समान है जो जलमग्न और अदृश्य रहता है। चूंकि हिमखण्ड का 1/9 भाग जल के ऊपर और 8/9 भाग जलमग्न रहता है, मानव का ज्ञात मन या चेतन मन भी, अचेतन मन की तुलना में, बहुत छोटा भाग है। अत: अचेतन मन अधिक प्रबल और प्रभावशाली है जो चेतन मन की अपेक्षा मनुष्य के आगामी व्यवहार को कही अधिक नियन्त्रित एवं प्रभावित करता है। मन के ये दोनों भाग क्रियाशील (Dynamic) रहते हैं। अचेतन और चेतन मन की शक्तियों मे बराबर सघर्ष जारी रहता है। सघर्ष का कारण अचेतन मन से उठने वाली अतृप्त इच्छाएँ, महत्वाकाक्षाएँ, अभिप्रेरणाएँ, भय, ईर्ष्या, द्वेष आदि की भावनाएँ हैं जो चेतन मन मे आकर मानसिक तनाव (Mental Tension) उत्पन्न कर देती हैं और चेतन मन के सन्तुलन (Equilibrium) को बिगाड़ती रहती हैं। सन्तुलन बिगड़ने पर मानसिक स्वास्थ्यहीनता (कुसमायोजन, मानसिक रोग, स्नायविक रोग) उत्पन्न हो जाती है उसके गुरु चारकोट (Charcot) का यह दृढ़ विश्वास था कि मानसिक रोग के लक्षणों के मूल मे सदैव कामभावना (Sex) रहती है। स्पष्ट है कि मनोविश्लेषणवाद की उत्पत्ति के लिए उपजाऊ भूमि मानसिक चिकित्सालय थे, जहाँ असामान्य व्यक्तियो के व्यवहार का निरीक्षण एव अध्ययन, निदान एव उपचार की दृष्टि से किया जाता था।

मानसिक धरातल की रचना के विषय में इनकी दो मुख्य धारणाएँ हैं—

मनोविश्लेषणवादियों के अनुसार मन (mind) की रूपरेखा

(1) मानसिक धरातल तीन स्तरों में बँटा हुआ है—चेतन, अर्द्धचेतन और अचेतन (Conscious, Preconscious and Unconscious)।

(2) मन पर शासन करने वाली तीन शक्तियाँ, हैं—इड, इगो तथा सुपर इगो (Id, Ego and Super Ego), जिसमें इड पूर्णतः पशु प्रवृत्ति है और इसका कार्यक्षेत्र अचेतन मन है। इगो को हम सामान्य अन्तःकरण या विवेक कह सकते हैं। यह अच्छी और बुरी सभी प्रकार की इच्छाओं और कामनाओं का पुंज है। अचेतन से चेतन तक इसका कार्यक्षेत्र है। इसकी क्रियाओं का लक्ष्य आसपास के वातावरण में, वास्तविकता के अनुसार, इड की प्रेरणा से प्राप्त इच्छाओं और आवेगों को यथासम्भव सन्तुष्ट करना है। सुपर इगो का काम, इगो पर शासन करना है—अर्थात बुरी इच्छाओं को चेतन मन में आने से रोकना तथा दबा देना। फ्रायड ने मन की कल्पना इस प्रकार प्रस्तुत की है कि इसके धरातल को लम्बवत् तीन स्तरों में और तीन समतलीय क्षेत्रों में बाँटा जा सकता है।

लिबिडो—फ्रॉयड समस्त मानसिक और शारीरिक व्यवहार के पीछे जिस मूल प्रेरणा (शक्ति) की कल्पना करता है, उसे लिबिडो नाम दिया गया है। लिबिडो उन समस्त प्रवृत्तियों को शक्ति प्रदान करती है जो प्रेम के व्यापार, आनन्द की प्राप्ति, अनुभूति और प्रकाशन से सम्बन्धित हैं। यह काम प्रवृत्ति (sex) से कहीं अधिक व्यापक है। प्रेम के सभी रूप एवं भाव—मित्रता, स्नेह, सहानुभूति, आत्मप्रेम, वात्सल्य, कामुकता आदि लिबिडो से उत्पन्न हैं, एवं इसी में ही निहित हैं। लिबिडो शरीर के सभी अवयवों में आजीवन व्याप्त रहती है। अचेतन मन में छिपे हुए सभी विचार, भावनाएँ और आवेग, काम (sex) से सम्बन्धित रहते हैं क्योंकि लिबिडो प्रेरणाओं का मूल स्थान अचेतन मन है।

मनोविश्लेषणवाद की अध्ययन विधियाँ

इस सम्प्रदाय का प्रवर्तक फ्रॉयड (1856—1939) वियना में मूर्च्छा, मिर्गी, वातोन्माद आदि रोगों की चिकित्सा करता था। उसकी चिकित्सा की प्रधान विधि मोह-निद्रा (Hypnotism) अथवा सम्मोहन थी। पैरिस में जैनेट (Janet) भी मोह-निद्रा के सहारे रोगियों की चिकित्सा करता था। मोह-निद्रा में रोगी कुछ ऐसी बातें कह डालता था जिनसे उसके रोग का कारण प्रकाश में आ जाता था। प्रायः रोग का कारण बाल्यकालीन अथवा पुराना अनुभव होता था। जिस समय रोगी को मानसिक धक्का (Mental Shock) लगा था। यह अप्रिय घटना रोगी के लिए विस्मृति में डूबकर उसके अचेतन मन में कहीं छिपी पड़ी रहती थी और वहीं से उस व्यक्ति की मनोवृत्ति और आचरण को नियन्त्रित करती थी। जब मोह-निद्रा में रोगी अपने अचेतन मन की बहुत सी बातें स्पष्ट करता था तो यह बात भी प्रकाश में आ जाती थी। उस समय चिकित्सक तर्क द्वारा या संकेत देकर उसका उचित उपचार करता था। फ्रॉयड ने इस विधि से बहुत से रोगियों को ठीक किया। लेकिन कुछ रोगी जो अधिक हठी थे, मोह-निद्रा

से प्रभावित न हो सके। ऐसे लोगों की अज्ञात मन की बातों को प्रकाश में लाना कठिन कार्य था। उसका मित्र ब्रुअर (1842-1935) एक दूसरी विधि का प्रयोग कर रहा था। वह मिर्गी रोग से पीड़ित एक स्त्री की चिकित्सा कर रहा था। मोह-निद्रा के समय रोगी सब कुछ कह देना चाहता था अपने समस्त विचार व्यक्त कर देने के बाद उसका रोग कुछ हल्का पड़ जाता था। हिस्टीरिया रोग का उपचार करने में बातचीत करने की विधि (Talkout Method) अधिक सफल हुआ। ब्रुअर ने इस विधि को बार-बार दोहराकर उस रोगी को मिर्गी रोग से बिल्कुल ठीक कर दिया। फ्रॉयड को यह विधि अधिक जँची। उसने इस विधि को स्वतन्त्र-साहचर्य (Free Association) नाम दिया। इस विधि से व्यक्ति के दबे हुए विचार (Repressed Ideas) जोकि अचेतन मन में स्थान बना लेते हैं, प्रकाश में आ जाते हैं। अवदमित इच्छाएं (Repressed Wishes) जिन्हें हम लोकलाज या सामाजिक मान्यताओ की सीमा में व्यक्त नही कर सकते, मरती नही हैं, अपितु अज्ञात चेतना में अपना घर बना लेती हैं। हम स्वयं इनका अवदमन करके इन्हें अज्ञात चेतना में धकेल देते हैं। सुपर इगो इन्हें पुनः चेतन मन में आने से रोकता है। लेकिन मानसिक दुर्बलता के क्षणों में या निद्रावस्था में, यह हमारे चेतन मन में आकर अपने अस्तित्व का परिचय दे देती हैं। प्रायः स्वप्न में इनका प्रकाशन हो जाता है अथवा मोह-निद्रा या स्वतन्त्र साहचर्य के समय रोगी इनकी अभिव्यक्ति कर देता है। इस प्रकार 'स्वतन्त्र साहचर्य' के सहारे रोगी अपनी अनेक अवांछनीय इच्छाओं, भावनाओं और आवेगों का प्रकाशन कर रोगमुक्त हो जाता है। इस प्रक्रिया को शोधन (Catherisis) भी कहा गया है।

अचेतन मन की बातों तक पहुँचने के लिए मोह-निद्रा या स्वतन्त्र साहचर्य के अतिरिक्त स्वप्न विश्लेषण (Dream Analysis) भी अच्छा साधन है। फ्रायड के अनुसार इच्छाएं क्रियाशील होती है। बार-बार दबाए जाने पर इनकी शक्ति बढ़ जाती है। ये अतृप्त इच्छाएँ अज्ञात मन में संगठित होकर मानसिक गुत्थी (Complex) को जन्म देती हैं जिसे फ्रॉयड 'भावना ग्रन्थि' कहता है। ये भावना ग्रन्थियाँ व्यक्ति के चरित्र, व्यक्तित्व और दिन-प्रतिदिन के आचरण पर गहरी छाप छोड़ती हैं। वह निराशावादी, हठी, उग्र एकाकी अथवा भयभीत बन सकता है। इसके अतिरिक्त उसके व्यवहार में छोटे-छोटे विकार उत्पन्न हो सकते हैं, जैसे—प्रतिदिन के कार्यों में भूल या त्रुटियाँ होना, अनावश्यक सन्देह करना, मन में भ्रान्तियाँ उत्पन्न होना, स्वप्न में भागना या चिल्लाना, मूर्छित हो जाना आदि।

फ्रॉयड के इन विचारो में अनेक सारभूत कल्पनाएँ दिखाई देती हैं। उसके द्वारा मानी गई (Assumed) बहुत सी बातें युक्तिपूर्ण और वैज्ञानिक ढंग से किए गए चिन्तन का परिणाम हैं। उसने मनुष्य के सम्पूर्ण व्यवहार में एक 'प्रयोजन' (Purpose) दर्शाया है, जिसके सहारे मानसिक जगत की घटनाएं और उनकी व्याख्याएँ एक दूसरे से भलीभाँति सम्बन्धित होती चली जाती हैं। मानसिक चिकित्सा के क्षेत्र में अनेक व्यावहारिक उदाहरण देकर उसने मानव-मन की गति, प्रेरणा, कार्य, विकार एवं विचारों का निदान एवं चिकित्सा का सुन्दर, रोचक और विश्वसनीय वर्णन किया है। उसने काम सम्बन्धी भावनाओं और चेष्टाओं का, शैशव काल से प्रौढ़ावस्था

तक का वर्णन करते हुए दर्शाया है कि किस प्रकार इसके प्रकाशन तथा अवरुद्ध होने से व्यक्तित्व प्रभावित होता है।

एडलर 1912 तक फ्रॉयड के साथ ही कार्य करता रहा किन्तु सैद्धान्तिक मतभेद होने के कारण वह पृथक हो गया। वह कामभावना (Sex Impulse) को जीवन की प्रधान शक्ति या प्रेरणा मानने को तैयार नहीं था। उसने यह स्वीकार किया कि जीवन एक संघर्ष है। इन संघर्षों में कटु अनुभव भी होते हैं और असफलताएँ भी मिलती हैं जिनके कारण हीनता की भावना (Inferiority Complex) उत्पन्न हो जाती है जिसका प्रभाव यह होता है कि व्यक्ति का व्यवहार स्वाभाविक या सामान्य नहीं रह जाता। उसके व्यवहार में वनावटीपन आ जाता है। प्रत्येक व्यक्ति में वड़ा वनने, सफलताएँ प्राप्त करने, शक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा तथा मान्यता अथवा प्रशंसा प्राप्त करने की इच्छा आदि मानसिक आवश्यकताएँ होती हैं। इन अभिलाषाओं की पूर्ति में कठिनाइयाँ आ जाने से हीनता की भावना उत्पन्न हो जाती है जो अनेक मानसिक रोगों का कारण वन जाती है। एडलर ने कामप्रवृत्ति की अपेक्षा इन अभिलाषाओं की पूर्ति को अधिक महत्व दिया। उसका कहना था कि वाल्यकाल से ही व्यक्ति अपने 'जीवन का ढंग' वनाना शुरू कर देता है। बचपन में जो जीवन का ढंग या जीवन की प्रणाली पाँच वर्ष की आयु तक वन जाती है, उसकी छाप जीवन पर्यन्त व्यवहार पर दिखाई देती है। अतः एडलर रोगी का निदानात्मक परीक्षण करने के लिए पहले 'हीनता की भावना' का परीक्षण करता था और फिर जीवन का ढंग (Style of Life) या जीवन शैली का पता लगाता था। रोगी की जीवन शैली के अन्तर्गत उसकी पसन्द-नापसन्द, रुचि-अरुचि, उठना-वैठना, खेल, मानसिक झुकाव आदि वाल्यकालीन अनुभवों का पता लगाया जाता था। फ्रॉयड के स्वप्न सिद्धान्त से भी एडलर सहमत नहीं था। उसके अनुसार स्वप्न भूतकालीन अनुभवों का परिणाम न होकर भविष्य की ओर संकेत करते हैं। एडलर, फ्रॉयड के समान मन की गहराइयों में प्रवेश नहीं कर पाया। उसके अनुसार व्यक्ति के व्यवहार को आगे वढ़ाने में, ज्ञात और अज्ञात दोनों प्रकार की चेतनाओं का समान हाथ रहता है। 'हीनता की भावना' अज्ञात चेतना में रहती है किन्तु यही ज्ञात चेतना में 'श्रेष्ठता की भावना' के रूप में दिखाई देती है। एडलर के सिद्धान्तों का केन्द्र व्यक्ति है जो अपनी निर्वलता छिपाने के लिए और श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए व्यवहार की विचित्र शैली अपनाता है। इसीलिए एडलर के विचारों को वैयक्तिक मनोविज्ञान (Individual Psychology) कहा गया है।

एडलर (1870-1937)

जूरिच में कार्लजुंग सवसें पहला मनोविश्लेपणवादी था जिसने शव्द साहचर्य परीक्षा वनाकर प्रयोग शुरू किए। इस परीक्षा के द्वारा व्यक्ति के संवेगों से प्रभावित विचारों को पृथक किया जा सकता था। इस प्रकार के विचारों की सहायता से व्यक्ति की मानसिक ग्रन्थियों का अनुमान किया जा सकता था। शीघ्र ही फ्रॉयड और जुंग मित्र वन गए और मनोविश्लेपणवादियों की अन्तर्राष्ट्रीय परिपद् का गठन किया गया। जुंग इस संस्था के प्रथम अध्यक्ष थे।

कार्लजुंग (Carl Jung 1870-1961)

कुछ वर्षों तक जुंग ने फ्रॉयड के विचारों का अनुकरण किया किन्तु शीघ्र ही उसके सामने कुछ कठिनाइयाँ ऐसी आईं कि उसे कुछ बातो मे फ्रॉयड से भिन्न रास्ता अपनाना पड़ा।

उसने चेतन और अचेतन, मन के विरोधी खण्डों को तो माना किन्तु लिबिडो को केवल काम या लैंगिक प्रेरणाओं का पुंज नही माना। उसके अनुसार लिबिडो एक सामान्य जीवनी शक्ति है, जो बर्गसन की 'इलन वाइटल' (Elan Vital) या शोपन हावर की 'विल टु लिव' (Will to Live) के समान है और जो शरीर की अभिवृद्धि, विकास, प्रजनन तथा अन्य क्रियाओं में प्रकाशित होती है। फ्रॉयड के समान उसकी अज्ञात चेतना केवल अवदमित विचारों का पुंज नही है। इसमें प्रजातिगत (Racial) अनुभवों की स्मृतियाँ भी छिपी पड़ी रहती हैं जुंग के अनुसार अज्ञात चेतना, ज्ञात चेतना की क्षतिपूरक है। यदि कोई व्यक्ति ज्ञात चेतना मे डरपोक है तो वह अज्ञात चेतना में वीर और साहसी हो सकता है। अज्ञात चेतना केवल बुरी भावनाओं का शरणालय नहीं है, इसमें बुरी ओर अच्छी दोनों प्रकार की बातें रहती हैं क्योंकि हम कभी-कभी अच्छी भावनाओं का भी अवदमन कर देते हैं। इसके अतिरिक्त जातीय स्मृति (Racial Memory) भी अज्ञात चेतना का अंग होती है। अतः स्पष्ट है कि जुग के विचार फ्रॉयड तथा एडलर की अपेक्षा अधिक दार्शनिक हैं। उसके अनुसार स्वप्न अज्ञात मन में अप्रकाशित लिबिडो शक्तियों के 'संचय का प्रकाशन होता है। रोगी चेतन अवस्था मे जिन बातो के प्रति उदासीन, निश्चेष्ट और ध्यानरहित होता है, वही बातें उसके स्वप्न में अधिक स्थान पाती है। उसने *अज्ञात मन को भी लम्बवत् दो खण्डों में विभाजित किया—निचला खण्ड* जातीय अचेतन है और ऊपरी खण्ड व्यक्तिगत अचेतन है, अर्थात इसमें क्रमशः जातीय और व्यक्तिगत अनुभवों से सम्बन्धित विचार, स्मृतियाँ, भावनाएँ आदि समाई रहती हैं।

मनोविश्लेषणवाद का शिक्षा मनोविज्ञान पर प्रभाव
(Influence of Psychoanalytical School on Educational Psychology)

1. मनोविश्लेषणवाद ने बालक के व्यवहार पर 'अज्ञात चेतना' के प्रभाव को स्पष्ट कर दिया है। अज्ञात मन की शक्तियों और क्रियाओं को समझे बिना अध्यापक बालको के व्यक्तित्व के समुचित विकास मे सहायक नही हो सकता और न वह छात्रों की मानसिक कठिनाइयों को समझ सकता है।

(2) मनोविश्लेषणवादियो की व्यावहारिक और युक्तिपूर्ण व्याख्याओं से बालक के जीवन मे बाल्यकालीन अनुभवों और सस्कारों का महत्व स्पष्ट हो गया है। शैशव और बाल्यकाल में बनी भावना ग्रन्थियाँ बालक के सम्पूर्ण आगामी व्यवहार को प्रभावित करती रहती हैं। अध्यापक के अतिरिक्त माता-पिता तथा अभिभावक भी इससे लाभ उठाकर बच्चों के प्रति उचित दृष्टिकोण अपना सकते हैं। वे भली-भाँति समझ सकते हैं कि बालकों की त्रुटियों के लिए वे कहाँ तक उत्तरदायी हैं।

(3) मनोविश्लेषणवाद बाल मन की उलझनो पर सविस्तार प्रकाश डालता है और बताता है कि उसके स्वाभाविक कार्यों मे बाधा पडने से किस प्रकार संवेगात्मक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती है। किन परिस्थितियों मे बालक मानसिक स्वास्थ्य

खोकर ध्वंसात्मक, असामाजिक या समाजविरोधी दृष्टिकोण अपना लेते हैं। वे किन बाधाओं के कारण उद्दण्ड, चंचल, हठी और उग्र हो जाते हैं। स्पष्ट है कि मनोविश्लेषणवाद ने बालकों का सबसे अधिक कल्याण किया है।

(4) मनोविश्लेषणवाद के प्रभाव से ही अब सर्वत्र बालक के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण अपनाया जा रहा है। समाज कल्याण, शिक्षा, पारिवारिक देख-रेख कानून, सुधार-गृह, राष्ट्रीय खेल-कूद नीति आदि सभी में यह दृष्टिकोण व्याप्त है।

(5) शिक्षक के सामने ज्ञात-चेतना और अज्ञात-चेतना का महत्व स्पष्ट हो गया है। अज्ञात-चेतना में छिपे हुए भावों और विचारों को, ज्ञात-चेतना में लाकर प्रकाशित करने का अवसर देना शिक्षा का कार्य है। शिक्षाशास्त्री इस दृष्टि से अपना उत्तरदायित्व समझने लगे हैं। विद्यालयों में ऐसे कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं कि छात्रों को अवदमित विचारों के प्रकाशन का भी अवसर मिले। बालक शोधन (Cathor) द्वारा मानसिक स्वास्थ्य लाभ करें। यहाँ शिक्षक का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने व्यवहार को इतना सहानुभूतिपूर्ण बनाए कि बालक अपनी भावनाग्रन्थि को निस्संकोच उसके सामने रख सकें। शिक्षक बालक की इस प्रकार सहायता करे कि वह अपनी ज्ञात चेतना से अज्ञात चेतना पर नियन्त्रण रख सके।

(6) मनोविश्लेषणवाद की सहायता से बालक की मानसिक शक्ति को शिक्षा के लिए उपयोगी, समाजोपयोगी और रचनात्मक कार्यों में लगाया जा सकता है। शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य शिशु या बालक को मानव बनाना है अर्थात उसकी पशुप्रवृत्तियों में निहित शक्तियों को मानवीय गुणों के विकास में लगाना है। इस कार्य में मनोविश्लेषणवाद शिक्षा का मार्गदर्शन करता है। बालक के जटिल और समस्यात्मक व्यवहार को समझने में सहायता देता है।

(7) मनोविश्लेषणवाद के प्रभाव से ही अब विद्यालयों में मनोवैज्ञानिकों की सेवाएँ नियमित रूप से प्राप्त की जाती हैं। विशेषकर व्यक्तिगत निर्देशन के क्षेत्र में तथा समस्यात्मक बालकों को समझने और उनका कल्याण करने में।

(8) मनोविश्लेषणवाद बालक की समायोजन प्रक्रिया को समझने में बहुत सहायक सिद्ध हुआ है। वह अपने आसपास की परिस्थितियों से किस प्रकार समझौता करता है, वह किस प्रकार के अनुकूलन के ढंग अपना सकता है, समायोजन की यान्त्रिकताएँ (Mechanism of Adjustment) किस प्रकार कार्य करती हैं, समायोजन में बाधाओं को पार करके वह किस प्रकार व्यक्तित्व को खण्डित होने से बचाता है, आदि बातों पर मनोविश्लेषणवादी व्यावहारिक और उपयोगी विचार प्रस्तुत करते हैं। इस सम्बन्ध में 'व्यक्तित्व विकास' अध्याय का भी अवलोकन करें।

(9) मनोविश्लेषणवाद ने बालक-बालिकाओं की काम भावनाओं पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। अब इसकी अवहेलना नहीं की जाती। आधुनिक शिक्षक भलीभाँति जानता है कि कामभावना का व्यक्तित्व निर्माण में कितना हाथ है। मनोविश्लेषणवादियों ने इसकी ओर उचित ही ध्यान आकर्षित किया है। बालक की अनेक दुश्चिन्ताओं, भय, हीनता की भावना या आत्मविश्वास की कमी का कारण सैक्स के प्रति अपराध भावनाएँ होती हैं, जिन्हें अध्यापक और माता-पिता को समझना बहुत जरूरी है।

अब शिक्षा में डाट-फटकार, दबाव डालना और दण्ड देना बुरा समझा जाता

। प्रकृतिवादियो की भाँति मनोविश्लेषणवाद भी बालक की स्वतन्त्रता में बाधा को रा मानता है । अब विद्यालयो मे बालक को अधिक स्वतन्त्रता से कार्य करने का वसर दिया जाता है तथा इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है कि जहाँ तक ो सके बालक की भावनाओ का अवदमन कम से कम हो ।

(11) मनोविश्लेषणवादियों ने बालक के क्रमिक लैंगिक विकास की ओर शक्षाशास्त्रियो का ध्यान आकर्षित किया । उन्होने विकास की विभिन्न अवस्थाओं मे मप्रवृत्ति के प्रकाशन के विभिन्न रूपो की व्याख्या की और बताया कि शैशवकाल से किशोरावस्था तक बालक के व्यक्तित्व-गठन मे इनका क्या हाथ रहता है । उसे किन वस्तुओ से प्रेम होता है और उसका ध्यान और रुचि किन वस्तुओं में रहता है । इसमें इड, इगो तथा सुपरइगो का प्रकाशन कैसे होता है । इस प्रकार मनोविश्लेषणवाद बालक के स्वभाव और व्यवहार को समझने के लिए असीमित सामग्री प्रस्तुत करता है ।

(12) मनोविश्लेषणवादी मनोचिकित्सकों ने व्यक्तित्व के परीक्षण के लिए अनेक उपयोगी परीक्षाएँ जैसे—प्रक्षेप विधियाँ (Projective Techniques) प्रस्तुत की हैं । इन विधियो मे स्याही के धब्बों की विधि (Rorschach Test), कथानक विधि (T. A. T.), वाक्यपूर्ति विधि तथा समायोजन परख (Adjustment Inventories) विद्यालय के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुई हैं ।

मनोविश्लेषणवाद की आलोचना
Criticism of Psychoanalysis)

(1) प्रारम्भ मे फ्रॉयड का मनोविश्लेषणवाद मानसिक गुत्थियो को समझने में बहुत रुचिकर और युक्तिपूर्ण प्रतीत हुआ लेकिन बाद में स्वयं फ्रॉयड ने अपने सिद्धान्तों और उपकल्पनाओ में सुधार किया । उसने नई कल्पनाएँ गढी और लिबिडो के अतिरिक्त जीवन और मृत्यु से सम्बन्धित प्रवृत्तियों (Life and Death Instincts) की कल्पना प्रस्तुत की । उसके सहयोगियों और अनुयायियो ने अपने अनुभवो के आधार पर फ्रॉयड की बहुत सी बातों को स्वीकार नही किया ।

(2) मनोविश्लेषणवादियों की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि इसमे अध्ययन तो असामान्य (Abnormal) व्यक्तियो या मानसिक रोगियों का किया जाता है और इससे निकाले गए परिणामों को सामान्य व्यक्तियों पर लागू किया जाता है ।

(3) फ्रॉयड द्वारा प्रस्तुत मन की बनावट और कार्यों की कल्पना, तीन समतलीय और तीन लम्बवत् खण्डो में सर्वमान्य नही हैं । उसकी परिकल्पनाओं की कठोर सीमाएँ भी हैं, जैसे—इड हमेशा अचेतन मन मे ही निवास करती है, इगो जो कि इड का ही विकसित और परिवर्तित रूप है, अचेतन, अर्द्धचेतन और चेतन तीनो स्तरो पर कार्य करती है । इनको पढने से ऐसा प्रतीत होता है कि फ्रॉयड ने जहाँ जैसा आवश्यक और उचित समझा वैसी ही उपकल्पना बना ली ।

(4) मनोविश्लेषणवादियो ने अचेतन मन के अध्ययन पर इतना अधिक बल दिया कि उनके चेतन मन का कोई महत्व नही रह गया । उनके अनुसार रंगमच पर जो कुछ सामने प्रस्तुत किया जा रहा है, उसकी अपेक्षा परदे के पीछे की घटनाएँ अधिक महत्वपूर्ण हैं और वे अपनी सम्पूर्ण शक्ति इन्ही की खोज मे लगा देते हैं ।

(5) मनोविश्लेषणवादी एक ही परिकल्पना से मानसिक बनावट (Structure of the Mind) तथा मन के कार्यों (Functions of Mind) की व्याख्या करते हैं। उदाहरण के लिए लिबिडो, अचेतन मन की संरचना करने वाली मुख्य वस्तु है। यह मन की शक्ति भी है और काम आवेग (Sex urge) भी है। जहाँ तक इड का सम्बन्ध है, यह भी बहुत सी बातों में (बनावट, शक्ति और कार्यों में) लिबिडो से मिलती-जुलती है, फिर भी इससे भिन्न एक पृथक कल्पना है।

(6) फ्रॉयड ने सम्पूर्ण व्यवहार को एक प्रेरणा—काम प्रेरणा-से संचालित माना है। यह सर्वथा सत्य नहीं है। मानव-व्यवहार के पीछे काम (Sex) एक महत्व-पूर्ण प्रेरणा हो सकती है, एकमात्र प्रेरणा नहीं। उन्होंने सामाजिक प्रेरणाओं की ओर से आँखें मूंद ली हैं। बाद के मनोविश्लेषणवादियों ने इस कमी को दूर करने का प्रयास भी किया।

(7) इन्होंने ज्ञात और अज्ञात मन को एक दूसरे के विरोधी प्रतिद्वन्द्वी के रूप में चित्रित किया है। मन के अनेक खण्ड करके उन्हें पृथक कर दिया गया जब कि मन एक संगठित इकाई के रूप में कार्य करता है।

(8) मनोविश्लेषणवादी अन्तःप्रेक्षण विधि पर पूरी तरह आश्रित हैं क्योंकि उनकी मुख्य विधियाँ मोह-निद्रा, स्वतन्त्र साहचर्य और स्वप्न-विश्लेषण आदि हैं। किन्तु यह विधि वस्तुनिष्ठ और वैज्ञानिक नहीं है। उनके बहुत से सिद्धान्त और नियम प्रयोग द्वारा सिद्ध नहीं किए जा सकते। उनकी बहुत सी बातों को प्रयोग की कसौटी पर कस कर नहीं देखा जा सकता। उन्होंने 19वीं और 20वीं शताब्दी में किए गये मनोवैज्ञानिक प्रयोगों से कोई लाभ नहीं उठाया। वास्तव में मनोविश्लेषणवाद की उत्पत्ति चिकित्सा विज्ञान में, मनोचिकित्सकों के प्रयास से हुई। अतः यह सम्प्रदाय प्रयोजनवाद को छोड़कर अन्य किसी अन्य मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय से कहीं भी मेल नहीं खाता। स्वयं फ्रॉयड ने अपनी परिकल्पनाओं की सीधी जाँच कभी नहीं की वल्कि वे कल्पनाएँ और अनुमानित (Assumed) बातें जो रोगी के उपचार में सफल सिद्ध नहीं हुई, उन्हें वह छोड़ता गया और नवीन परिकल्पनाएँ गढ़ता गया।

(9) प्रयोजनवादियों की तरह विश्लेषणवादी भी मनुष्य को पशु समझते हैं। उनके अनुसार मानव शरीर में अब भी पशुओं के हजारों लक्षण जैविक परम्परा से प्राप्त हैं। उसका अज्ञात मन तो पशु प्रवृत्तियों का पुंज है। मनुष्यों और पशुओं के व्यवहार को संचालित करने वाली एक ही शक्ति काम (Sex) या लिबिडो है।

(10) मनोविश्लेषणवादियों ने व्यक्तित्व की व्याख्या एवं वर्गीकरण के अनेक आधार बताए जैसे-जुंग का मनोवैज्ञानिक प्रकार (Jung's Psychological Types) अन्तर्मुखी या वहिर्मुखी होना। लेकिन इससे काम नहीं चला। तीसरा वर्ग उभय-मुखी (Ambivert) बताया गया। इस सिद्धान्त को और आगे विस्तृत बनाकर भावना प्रधान, विचार प्रधान, संवेदना प्रधान तथा अर्न्तदृष्टि प्रधान आदि अनेक वर्गों का उल्लेख किया गया। लेकिन व्यक्तित्व के विकास के बारे में इनकी परिकल्पनाएँ पृथक-पृथक हैं। फ्रॉयड संघर्ष को अधिक महत्व देता है। एडलर के अनुसार 'श्रेष्ठता

(5) मनोविश्लेषणवादी एक ही परिकल्पना से मानसिक बनावट (Structure of the Mind) तथा मन के कार्यों (Functions of Mind) की व्याख्या करते हैं। उदाहरण के लिए लिविडो, अचेतन मन की संरचना करने वाली मुख्य वस्तु है। यह मन की शक्ति भी है और काम आवेग (Sex urge) भी है। जहाँ तक इड का सम्बन्ध है, यह भी बहुत सी बातों में (बनावट, शक्ति और कार्यों में) लिविडो से मिलती-जुलती है, फिर भी इससे भिन्न एक पृथक कल्पना है।

(6) फ्रॉयड ने सम्पूर्ण व्यवहार को एक प्रेरणा—काम प्रेरणा-से संचालित माना है। यह सर्वथा सत्य नहीं है। मानव-व्यवहार के पीछे काम (Sex) एक महत्व-पूर्ण प्रेरणा हो सकती है, एकमात्र प्रेरणा नहीं। उन्होंने सामाजिक प्रेरणाओं की ओर से आँखें मूंद ली हैं। बाद के मनोविश्लेषणवादियों ने इस कमी को दूर करने का प्रयास भी किया।

(7) इन्होंने ज्ञात और अज्ञात मन को एक दूसरे के विरोधी प्रतिद्वन्द्वी के रूप में चित्रित किया है। मन के अनेक खण्ड करके उन्हें पृथक कर दिया गया जब कि मन एक संगठित इकाई के रूप में कार्य करता है।

(8) मनोविश्लेषणवादी अन्तःप्रेक्षण विधि पर पूरी तरह आश्रित हैं क्योंकि उनकी मुख्य विधियाँ मोह-निद्रा, स्वतन्त्र साहचर्य और स्वप्न-विश्लेपण आदि हैं। किन्तु यह विधि वस्तुनिष्ठ और वैज्ञानिक नहीं है। उनके बहुत से सिद्धान्त और नियम प्रयोग द्वारा सिद्ध नहीं किए जा सकते। उनकी बहुत सी बातों को प्रयोग की कसौटी पर कस कर नहीं देखा जा सकता। उन्होंने 19वीं और 20वीं शताब्दी में किए गये मनोवैज्ञानिक प्रयोगों से कोई लाभ नहीं उठाया। वास्तव में मनोविश्लेपणवाद की उत्पत्ति चिकित्सा विज्ञान में, मनोचिकित्सकों के प्रयास से हुई। अतः यह सम्प्रदाय प्रयोजनवाद को छोड़कर अन्य किसी अन्य मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय से कहीं भी मेल नहीं खाता। स्वयं फ्रॉयड ने अपनी परिकल्पनाओं की सीधी जाँच कभी नहीं की बल्कि वे कल्पनाएँ और अनुमानित (Assumed) बातें जो रोगी के उपचार में सफल सिद्ध नहीं हुईं, उन्हें वह छोड़ता गया और नवीन परिकल्पनाएँ गढ़ता गया।

(9) प्रयोजनवादियों की तरह विश्लेषणवादी भी मनुष्य को पशु समझते हैं। उनके अनुसार मानव शरीर में अब भी पशुओं के हजारों लक्षण जैविक परम्परा से प्राप्त हैं। उसका अज्ञात मन तो पशु प्रवृत्तियों का पुंज है। मनुष्यों और पशुओं के व्यवहार को संचालित करने वाली एक ही शक्ति काम (Sex) या लिविडो है।

(10) मनोविश्लेपणवादियों ने व्यक्तित्व की व्याख्या एवं वर्गीकरण के अनेक आधार बताए जैसे-जुंग का मनोवैज्ञानिक प्रकार (Jung's Psychological Types) अन्तर्मुखी या बहिर्मुखी होना। लेकिन इससे काम नहीं चला। तीसरा वर्ग उभय-मुखी (Ambivert) बताया गया। इस सिद्धान्त को और आगे विस्तृत बनाकर भावना प्रधान, विचार प्रधान, संवेदना प्रधान तथा अर्न्तदृष्टि प्रधान आदि अनेक वर्गों का उल्लेख किया गया। लेकिन व्यक्तित्व के विकास के बारे में इनकी परिकल्पनाएँ पृथक-पृथक हैं। फ्रॉयड संघर्ष को अधिक महत्व देता है। एडलर के अनुसार 'श्रेष्ठता

की अभिलाषा की पूर्ति', हीनता की भावना ग्रन्थि (Inferiority Complex), और जीवन शैली (Style of Life) व्यक्तित्व विकास में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. शिक्षा मनोविज्ञान के लिए मनोविज्ञान के विभिन्न सम्प्रदायों का क्या प्रयोजन है ?

2. शिक्षा मनोविज्ञान के विकास में किस सम्प्रदाय का सबसे अधिक योगदान है, स्पष्ट कीजिये।

3. सीखने की प्रक्रिया के बारे में मनोविज्ञान के विभिन्न सम्प्रदायों का क्या मत है ?

4. व्यवहारवादियों ने शिक्षा मनोविज्ञान को कहाँ तक प्रभावित किया है ? व्यवहारवादियों की शिक्षा-जगत के लिये मुख्य देन क्या है ?

5. मनोविश्लेषणवाद तथा अवयवीवाद के दृष्टिकोणों में क्या अन्तर है ? इसको शिक्षा मनोविज्ञान की किसी समस्या के सन्दर्भ में स्पष्ट कीजिये।

द्वितीय खण्ड

मानव व्यवहार के आधार

6

वंशानुक्रम और वातावरण
(HEREDITY AND ENVIRONMENT)

विषय प्रवेश—वंशानुक्रमवादी और वातावरणवादियों का विवाद—बालक के विकास क्रम का शिक्षाशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों दोनों ने ही अपने-अपने दृष्टिकोण से अध्ययन करके यह बताने का प्रयत्न किया है कि बालक के विकास और शिक्षा में किसका महत्व अधिक है। कुछ विद्वान वंशानुक्रम को अधिक महत्व देते हैं, तो कुछ वातावरण को सर्वोपरि मानते हैं। जीव वैज्ञानिक पारकर के अनुसार "*हम जो कुछ भी हैं उसका 9/10 भाग जन्मजात है और केवल 1/10 भाग ही प्राप्त किया हुआ है।*"[1]

दूसरी ओर जे० एस० मिल जैसे वातावरणवादी हैं, जिनकी आस्था पूरी तरह शिक्षा प्रक्रिया और सामाजिक वातावरण के प्रभावों में है। मिल के अनुसार, इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि उपयुक्त शिक्षा द्वारा व्यक्ति में कोई भी गुण या योग्यता उत्पन्न की जा सकती है।[2]

इसी प्रकार दूसरे वातावरणवादी जे० बी० वाटसन हैं। वाटसन का यह दृढ़ मत है कि "इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि व्यक्ति के जीवन में प्राप्त गुण वंशानुक्रम से आते हैं। मुझे एक दर्जन स्वस्थ शिशु दीजिये और मेरी इच्छा के अनुसार वातावरण (परिस्थितियाँ) भी प्रदान कीजिये और फिर देखिये कि मैं उनमें से किसी को भी बिना इस बात की परवाह किये हुए कि उनके पूर्वज क्या थे और उनमें कौनसी प्रवृत्तियाँ, योग्यताएँ, व्यावसायिक गुण एवं क्षमताएँ आदि थीं, मैं उन्हें निश्चित रूप से जो चाहूँ—डॉक्टर, वकील, कलाकार, सौदागर, नेता या भिखारी, चोर आदि—बना सकता हूँ।"[3]

---

1 "I have often tried to evaluate that which we have by birth and that which we have acquired from social contact and I have concluded that we are perhaps about 9/10 inborn and 1/10 acquired."

—G. H. Parker, *a Biologist*, 1946.

2 "Enough is ascertained to prove, beyond doubt, that if education does not perform everything, there is hardly anything that it does not perform."

—J. S. Mill.

3 "We have *no real evidence of the inheritance of traits* ... *Give me a dozen* healthy infants, well-formed, and my own specified world to bring them (Contd.)

ऐनी अनास्तसी के अनुसार "वंशानुक्रम का प्रभाव वालक के विकासक्रम पर जन्म के वाद काफी समय तक रहता है, यहाँ तक कि मृत्युपर्यन्त भी बना रहता है। मृत्यु का समय भी किसी हद तक वंशानुक्रम द्वारा निर्धारित होता है।"[1]

वास्तव में यह प्रश्न करना कि वातावरण का अधिक महत्व है या वंशानुक्रम का, निरर्थक वात है। यह दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। एक के विना दूसरे का अस्तित्व ही नहीं है। वालक का वर्तमान शरीर, उसके जीवन की संरचना (Life-Structure) भूतकाल के वातावरण और उसमें किए गए अनुभवों का ही परिणाम है। वातावरण जीवन के प्रारम्भ से ही उपस्थित रहा है और उचित वातावरण के परिणामस्वरूप ही उत्पादक कोषाणु माता के गर्भ में निषेचन-क्रिया (Fertilization) द्वारा एक नए जीवन को प्रारम्भ करते हैं।

वातावरण के परे जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। वंश परम्परा के नियम एक विशेष आकार (Pattern) या रूप निश्चित करते हैं, और व्यक्ति के विकास एवं अभिवृद्धि की सीमायें निश्चित करते हैं, जिनके आगे मनुष्य नहीं जा सकता, चाहे वातावरण कितना ही अच्छा क्यों न हो। लेकिन वातावरणवादी वाटसन का मत इस धारणा के विलकुल विपरीत है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

इस समस्या का मानव जीवन पर प्रभाव

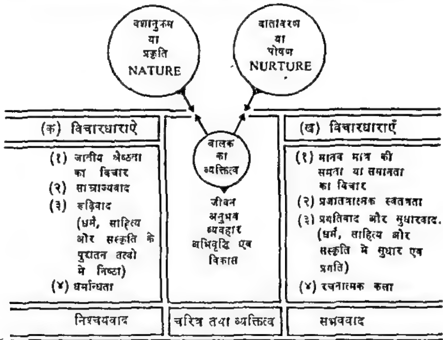
जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में वंशानुक्रम और वातावरण, प्रकृति अथवा पोषण की समस्या मनुष्य के विचार एवं धारणाओं को प्रभावित करती रही है। कुछ जातियों (मानव समुदायों) ने वंश परम्परा की आड़ में अपना प्रभुत्व वनाये रखने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार के समुदाय जातीय श्रेष्ठता की धारणा से प्रेरित रहते हैं। इस विचारधारा के अनेक दुष्परिणाम हैं, जैसे—गोरे-काले का भेद-भाव, अस्पृश्यता की रूढ़िवादी परम्पराएँ, बड़े राष्ट्रों की उपनिवेशवादी नीतियाँ और साम्राज्यवाद। दूसरी ओर वातावरणवादी समता, समानता और स्वतन्त्रता के हामी हैं। उनका कहना है कि सभी नागरिकों को उनके विकास के लिए, समान अवसर और वातावरण (पोषण) मिलना चाहिये। प्रजातन्त्र-वाद, प्रगतिवाद, सुधारवाद और समाजवाद इसी मूल धारणा पर आधारित विचार-धाराओं के नाम हैं जिन्हें प्रगतिशील मानव समुदाय समय-समय पर अपनाते रहे हैं।

---

up in and I will guarantee to take any one at random and train him to become any type of specialist I might select doctor, lawyer, artist, merchant, chief and even beggar-man and thief, regardless of his talents, tendencies, abilities, vocations and race of his ancestors." —J. B. Watson.

1 "Heredity factors may influence the development of the individual long after birth, aud infact throughout his life span. Even the onset of death itself may determined partly by hereditary factors, as is suggested by the observation that longevity tends to run in families."—Anne Anastasi : *Foundations Psychology*. Edited by Boring and others. p. 441.

वशानुक्रम और वातावरण की समस्या का मानव चिन्तन पर प्रभाव



इस चित्र में वर्ग (क) में दी गई विचारधाराएँ वशानुक्रम में विश्वास रखने वाले निश्चयवादियो (Determinists) की भावनाओ एव आकाक्षाओ को व्यक्त करती है। निश्चयवादी विचारक स्वभाव से ही रूढिवादी और पुरातनपथी होते हैं। उनके अनुसार जन्म के समय वशानुक्रम द्वारा सब कुछ निश्चित कर दिया जाता है। मनुष्य प्रकृति द्वारा किये गए निश्चयो को बदल नही सकता। इसके विपरीत सम्भावितवादी विचारधाराएँ (Possibilism Views) वर्ग (ख) मे दी गई है। मानव-शिशु प्रकृति तथा पोपण, दोनों की अन्तर्क्रिया (Interaction) का परिणाम है। वह एक जीवित शरीरधारी है जो अनुभव तथा व्यवहार द्वारा आन्तरिक अभिवृद्धि और विकास प्राप्त करता हुआ अपने चरित्र एव व्यक्तित्व का निर्माण करता है। उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व लम्बे समय तक अनुकूलन का परिणाम होता है।

वंशानुक्रम का अर्थ और परिभाषा
(Meaning and Definition of Heredity)

वंशानुक्रम का साधारण अर्थ है माता-पिता तथा पूर्वजो के गुणों का सन्तान में पहुँचना। लेकिन इस अर्थ के साथ कई प्रश्न जुडे हुए हैं। क्या माता-पिता के सभी गुण सन्तान में पहुँचते हैं? क्या यह आवश्यक है कि एक ही माता-पिता से उत्पन्न सन्तानों में समान गुण हों? क्या सभी भाई-बहिनों का नाक-नक्शा आपस मे मिलना आवश्यक है अथवा माता-पिता से मिलना आवश्यक है? सहोदर भाई-बहिनो

(Siblings) की अपेक्षा यमजों (Twins) में इतनी अधिक समानता क्यों होती है? वंशानुक्रम से प्रायः यही समझा जाता है कि जैसे माता-पिता वैसी सन्तान। अंग्रेजी की एक कहावत है—*Like Begets Like.* लेकिन इसके अपवाद भी देखने को मिलते हैं। मूर्ख माता-पिता का लड़का विद्वान हो सकता है और विद्वान माता-पिता के मूर्ख पुत्र भी देखे गये हैं। इन सब प्रश्नों का उत्तर जैविक वंशानुक्रम के अध्ययन से प्राप्त होता है जिसे वंश परम्परा, पैत्रिकता, आनुवंशिकता आदि नामों से पुकारते हैं।

वंशानुक्रम की परिभाषाएँ

थॉम्पसन के अनुसार—"परम्परागत सन्तति के मध्य उत्पत्ति के सम्बन्ध दर्शाने वाला उपयुक्त शब्द वंशानुक्रम है।"[1]

वुडवर्थ के अनुसार—"वंशानुक्रम में वे सभी बातें आ जाती हैं जो जीवन का आरम्भ करते समय अथवा जन्म के समय नहीं अपितु गर्भाधान के समय, अर्थात जन्म से लगभग नौ माह पूर्व व्यक्ति में उपस्थित थीं।"[2]

अनास्तसी (Anastasy) के अनुसार—"वंशानुक्रम जन्म के पश्चात् भी व्यक्ति के विकास को अनेक प्रकार से प्रभावित करता रहता है। यह प्रभाव जीवन भर चलता है और यहाँ तक कि व्यक्ति की मृत्यु का समय भी आंशिक रूप में वंशानुक्रम द्वारा पहले ही निश्चित कर दिया जाता है। निरीक्षण द्वारा यह ज्ञात किया गया है कि दीर्घायु होने का गुण कुछ ही परिवारों में चलता है।"

डगलस तथा हालैण्ड के अनुसार—"एक व्यक्ति के वंशानुक्रम में वे सब शारीरिक बनावटें, शारीरिक विशेषताएँ, क्रियाएँ या क्षमताएँ सम्मिलित रहती हैं, जिनको वह अपने माता-पिता, अन्य पूर्वजों अथवा प्रजाति से प्राप्त करता है।"[3]

मानव-शिशु का जीवन माता के गर्भ में दो उत्पादक कोषाणुओं (पिता के शुक्र–Sperm–और माता के अंड–Ovum) के संयोग से प्रारम्भ होता है। इन दो कोषाणुओं के परस्पर मिलने की क्रिया को निषेचन (Fertilization) कहते हैं। उचित वातावरण पाकर यह निषेक्ति अण्डकोष (Fertilized Cell) तेजी से बढ़ने लगता है। पहले यह दो टुकड़ों में विभक्त होता है और फिर दो से चार, चार से आठ, इस क्रम में इनकी संख्या बढ़ती रहती है। जन्म के समय तक इनकी संख्या लगभग दो अरब हो जाती है। शुक्र और अंड दोनों ही पिता और माता के कुछ गुणों को उस बीजकोष तक पहुँचाने के लिए उत्तरदायी

जैविक वंशानुक्रम की यंत्ररचना और नियम (Mechanism and Laws of Heredity)

---

1 "Heredity is mainly a convenient term for the genetic relation between successive generations."—Thompson

2 "Heredity covers all the factors that were present in the individual when he began life, not at birth, but at the time of conception, about nine months before birth."—Woodworth

3 "Ones heredity consists of all the structures, physical characteristics, functions or capacities derived from parents other ancestory, or species"
—Douglas and Holland

हैं, जिससे नवजात-शिशु का जीवन प्रारम्भ होता है। प्रत्येक उत्पादक कोष की आन्तरिक सरचना मे कुछ वशसूत्रों (Chromosomes) के जोड़े होते हैं। बहुत समय से वैज्ञानिको की यह धारणा रही है कि प्रत्येक मानव उत्पादक कोष मे वंशसूत्रों के चौबीस जोड़े होते हैं किन्तु कुछ आधुनिक वैज्ञानिको के अनुसार इनकी संख्या तेईस जोड़े भी मानी गई है। इन वशसूत्रों में बहुत छोटे-छोटे पदार्थों के केन्द्र भी होते हैं जिन्हें पित्र्यैक (Genes) कहते हैं। यह पित्र्यैक ही वास्तव में माता और पिता के गुणों (Traits) का सन्तान तक परिवहन करते है, जैसे—आंख का काला, नीला या भूरा होना; नाक लम्बी या चपटी होना, कनपटी की हड्डियों का उठा हुआ होना आदि।

निषेचन क्रिया के समय माता और पिता के वशसूत्र मिल जाते हैं किन्तु निषिक्त अंड मे इनकी सख्या केवल अड़तालीस होती है। एक विशेष प्रक्रिया द्वारा 48 वंशसूत्र अलग हो जाते हैं। इन अलग होने वाले वंशसूत्रों में माता और पिता दोनों के वंशसूत्र सम्मिलित रहते हैं। विभाजन के समय प्रत्येक वंशसूत्र के लम्बाई में दो टुकड़े हो जाते हैं। स्पष्ट है कि निषिक्त अड में माता और पिता के सम्पूर्ण वंशसूत्र नही पहुंचते, पर कुछ वंशसूत्र अवश्य पहुँचते हैं। यही कारण है कि एक ही माता-पिता की सन्तानों में परस्पर काफी असमानता देखी जाती है और माता-पिता तथा सन्तान की आकृति एवं रूप-रंग में भी अन्तर हो जाता है। इसे भिन्नता का नियम (Law of Variation) कहते हैं। इस नियम के अनुसार एक ही माता-पिता की सन्तानों मे एक दूसरे से भिन्नता—बुद्धि, रग, नाक-नक्शा और स्वभाव-के आधार पर—हो सकती है। इसका कारण यह है कि उत्पादक कोष में पहुँचने वाले पित्र्यैक भिन्न-भिन्न होते हैं जिसके कारण सन्तान मे भिन्न-भिन्न गुणों का सम्पादन होता है। दूसरे शब्दों मे हम कह सकते हैं कि हर बच्चे के गर्भाधान के समय पित्र्यैक भिन्न-भिन्न प्रकार से सयुक्त होते हैं, जिसके फलस्वरूप भाई-बहिनो मे भिन्नता दिखाई देती है।

कभी-कभी बालक में अपने माता-पिता से अधिक समानता न होकर, दादा-दादी या नाना-नानी से या चाचा-ताऊ से अधिक समानता होती है। इस तथ्य की व्याख्या वैज्ञानिक प्रत्यागमन के नियम (Law of Regression) द्वारा की जाती है। इस नियम के अनुसार महान या प्रतिभाशाली माता-पिता की सन्ताने साधारण या अल्पबुद्धि हो सकती हैं। इतिहास मे इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं। प्रतिगमन दो परिस्थितियों मे होता है—

(क) माता या पिता में से किसी एक के पित्र्यैक का अधिक शक्तिशाली या प्रभावशाली होना। इस दशा में उन पित्र्यैक से सम्बन्धित गुण (Traits), व्यक्त-गुण कहलाते हैं।

(ख) माता या पिता में से किसी एक के पूर्वजो के पित्र्यैक अधिक शक्तिशाली होते हैं। इस प्रकार माता-पिता अपने पूर्वजो के प्रमुख शारीरिक एवं मानसिक गुणों को पित्र्यैक के रूप मे प्राप्त करके अपने आगे की पीढ़ी मे पहुँचा देते हैं। अगली पीढ़ी में इन पित्र्यैक के फलस्वरूप वे गुण व्यक्त हो जाते हैं।

जुड़वाँ बालक
(Twins)

माता के गर्भ में एक समय में प्रायः एक ही अंड, पिता के शुक्र से सायुज्यन (Fusion) करने के लिए तैयार होता है। किन्तु कभी-कभी दो या दो से अधिक अंड भी एक साथ परिपक्व हो जाते हैं और शुक्र द्वारा निषिक्त (Fertilized) भी हो जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप दो या दो से अधिक बच्चों के जीवन का प्रारम्भ होता है। इस प्रकार उत्पन्न होने वाले जुड़वाँ शिशु (Fraternal Twins) सहोदर जुड़वाँ बालक कहलाते हैं। परन्तु इस पर भी यह आवश्यक नहीं है कि इनके वंशसूत्र आपस में बिल्कुल मिलते हों। यह जुड़वाँ बालक भी एक ही माता-पिता के दो पृथक बच्चों के समान होते हैं जिनका जीवन अकस्मात ही प्रारम्भ होता है। यह भी आवश्यक नहीं है कि ये बालक समलिंगी ही हों।

जुड़वाँ बालक दूसरी प्रकार से भी उत्पन्न होते हैं। एक निषिक्त अंडकोष जब दो टुकड़ों में विभक्त होता है तो इनसे कभी-कभी दो शिशुओं का जीवन प्रारम्भ हो जाता है। ऐसी दशा में दोनों शिशुओं के वंशसूत्र बिल्कुल समान होंगे क्योंकि एक एक ही निषिक्त अंड विभक्त होकर दो निषिक्त अंड बन जाते हैं। दूसरे शब्दों में उनका वंशानुक्रम एक दूसरे से शत-प्रतिशत मिलता-जुलता होगा। इसके परिणाम-स्वरूप उनका शारीरिक और मानसिक विकास भी समानान्तर ही होगा। इस प्रकार जन्म लेने वाले शिशुओं को समान-यमज (Identical Twins) कहते हैं। समान-यमज एक दूसरे के बिल्कुल अनुरूप होते हैं और इनका लिंग भी समान ही रहता है। यदि जन्म के बाद इनके शारीरिक और मानसिक लक्षणों में कोई अन्तर आता है तो यह समझना चाहिए कि इसका कारण वातावरण या पोषण का प्रभाव ही हो सकता है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक बालक वंशानुक्रम के अनुसार केवल वंशसूत्र एवं पित्र्यैक ही प्राप्त करता है। शिशु में पूर्वजों के गुणों को पहुँचाने के लिए ये पित्र्यैक ही उत्तरदायी हैं। प्रजनन–विज्ञान (Genetics) के अनुसार "प्रत्येक शिशु एक नया शरीरधारी होता है जिसमें अपने माता-पिता के अतिरिक्त अनेक पूर्वजों के गुणों (Traits) का एक विचित्र सम्मिलन होता है।" जीव-शास्त्र के अनुसार "एक निषिक्त अंड में विद्यमान विशेष गुणों का योग ही वंशानुक्रम (Heredity) है।"

जुड़वाँ बालकों का अध्ययन वंशानुक्रम और वातावरण पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। जन्म के समय तक समान-यमज में वंशानुक्रम और वातावरण दोनों ही एक दूसरे के समान होते हैं इसलिए वातावरण के प्रभाव को परिलक्षित करने के लिए समान-यमजों का अध्ययन विशेष महत्व रखता है। ऐसे अध्ययन प्रजनन शास्त्र, समाज शास्त्र और पारिस्थिकी (Ecology) में किए गए हैं जो इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि वातावरण के प्रभाव से समान-यमजों में कहाँ तक भिन्नता उत्पन्न होती है यह समान-यमजों को भिन्न-भिन्न वातावरण में रख कर भी देखा गया है। इन

अध्ययनों से इस बात की पुष्टि होती है कि वातावरण की भिन्नता से व्यवहार अस्परण और व्यक्तित्व मे भिन्नता उत्पन्न हो जाती है।

बीजकोषों की सनातनता या निरंतरता का नियम
(The Law of continuity of Germplasms)

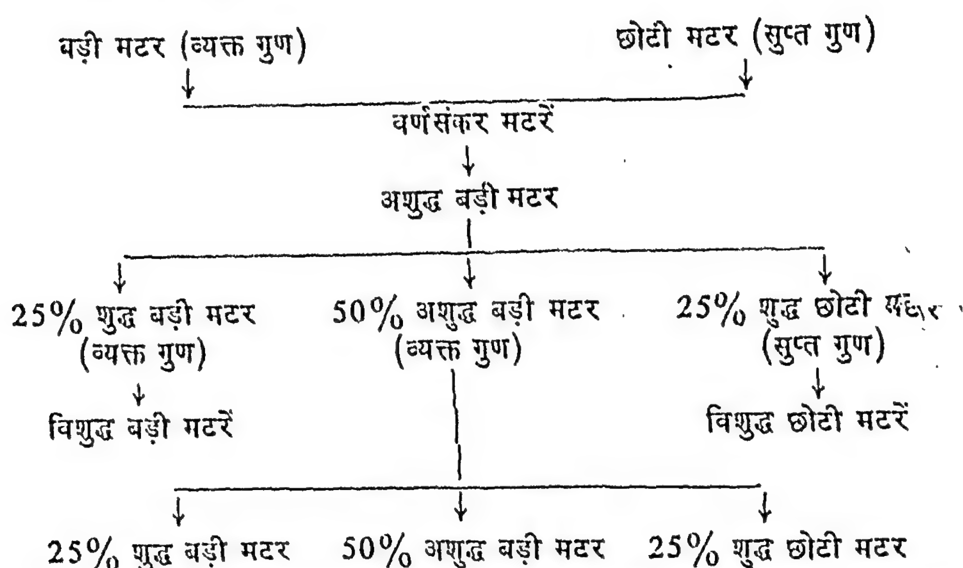
वीजमैन (Weismann) का सिद्धान्त—प्रत्येक उत्पादक कोष मे जो द्रव पदार्थ होता है वही वशानुक्रम के गुणो को निर्धारित करता है। वीजमैन के अनुसार "यह पित्र-द्रव्य नवशिशु के निर्माण के पश्चात नष्ट नही होता अपितु एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी मे विना किसी परिवर्तन के संक्रमित होता रहता है। विभाजन-क्रिया द्वारा गर्भाशय मे निषिक्त-अण्ड की वृद्धि होती है, जिससे नव-जात शिशु का निर्माण होता है। उसी समय बीजकोषो का निर्माण भी हो जाता है जो कि आगे चलकर नई पीढ़ी मे पहुँच जाते हैं। इस प्रकार पित्र-द्रव्य वृद्धावस्था मे शरीर नष्ट होने से पहले ही सन्तान में पहुँच जाते हैं और उनकी सनातनता बनी रहती है। माता-पिता इस पित्र-द्रव्य के केवल रक्षक मात्र हैं।

जीवन में अर्जित गुणों का संक्रमण

वीजमैन के अनुसार "एक व्यक्ति द्वारा जीवन मे अर्जित गुण उसके बीज-कोषों (Generative Cells) पर कोई प्रभाव नही डालते। इनका प्रभाव तो केवल काय-कोषो (Sometic Cells) पर पड़ता है जो कि शरीर के साथ नष्ट हो जाते हैं। गर्भाधान के समय अंकुरित अड पर भी इनका कोई प्रभाव नही होता।" किन्तु आधुनिक खोजों के आधार पर वीजमैन का यह सिद्धान्त भ्रामक प्रतीत होता है। मैक्ब्राइड (Macbride) ने वीजमैन के इन विचारो का खडन करते हुए बताया है कि कुछ प्राणियो मे पितृ-द्रव्य शरीर से पृथक नही रह पाता और शरीर विकसित होने पर, एक विशेष आयु प्राप्त करने के बाद, बीज-कोषो का पुन.निर्माण होता है। यह भी सम्भव नही है कि एक ही पितृ-द्रव्य अथवा बीज-कोष अपने मूलरूप मे ही कई पीढ़ियों तक संक्रमित होता रहे। अत: स्पष्ट है कि कालान्तर मे अर्जित गुण वशानुक्रम द्वारा वहन करने की वस्तु बन जाते हैं।

मैण्डलवाद और वंशानुक्रम
(Mendalism and Heredity)

ग्रेगर जॉन मैण्डल (Gregor Johann Mendal, 1822-1884) आस्ट्रिया का निवासी था और चार्ल्स डारविन का समकालीन। उसने हरी मटरों पर कुछ परीक्षण किए और इन परीक्षणों के परिणाम सिद्धान्त रूप मे 1865 में प्रकाशित भी किए। छोटी और बडी मटरों पर किए गए परीक्षणो का निष्कर्ष ही मैण्डलवाद कहलाता है। मैण्डल के सिद्धान्त को आधार मानकर उसका पुनः परीक्षण करने के लिए चूहे बिल्ली एव खरगोश आदि पशुओं पर भी ये प्रयोग दोहराए गए जिनसे मैण्डल द्वारा निकाले गए निष्कर्षों की पुष्टि होती है। यह देखा गया कि चूहों मे भी जैविक गुणो का संक्रमण अगली पीढ़ियो मे लगभग उसी प्रकार से होता है जिस प्रकार छोटी और बड़ी मटर को साथ-साथ उगाने से होता है। सक्षेप मे मैण्डल के प्रयोग का वर्णन अग्रांकित रेखाचित्र में किया गया है।



बड़ी और छोटी मटरों के परस्पर निषेचन से जो मटर उत्पन्न हुई, वह सब बड़ी परन्तु वर्णसंकर मटरें थीं। इसलिए मटरों के इस गुण (Trait) को व्यक्त गुण (Dominent Trait) नाम दिया गया। छोटी मटर का छोटापन अगली पीढ़ी में प्रकाशित नहीं हुआ इसलिए इस गुण को सुप्त-गुण (Recessive Trait) कहा गया। इससे अगली पीढ़ी में इन समस्त बड़ी किन्तु वर्णसंकर मटरों को फिर से उगाया गया और परिणामों को उनके गुण के अनुसार तीन भागों में विभाजित किया गया :—

(1) विशुद्ध बड़ी मटर 25%
(2) मध्यम बड़ी मटर 50%
(3) विशुद्ध छोटी मटर 25%

इनमें से विशुद्ध बड़ी और छोटी मटरों में से सदैव क्रमशः बड़ी और छोटी मटरें उत्पन्न होती रही हैं। दूसरे शब्दों में इनके प्रजातीय गुणों की विशुद्धता बनी रही है। इस परीक्षण से कई उपयोगी निष्कर्ष निकाले गए जो इस प्रकार है :—

(1) कालान्तर में शुद्ध गुणों (मटरों का छोटा और बड़ा होना) का पृथक्करण (Segrigation) होना है।

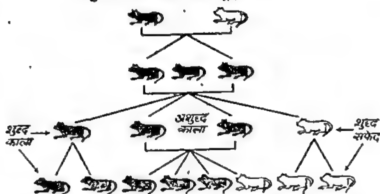
(2) वर्णसंकर मटरों से, व्यक्त और प्रसुप्त गुणों का प्रकाशन क्रमशः 3:1 के अनुपात में या 75% तथा 25% मात्रा में होता रहता है।

(3) प्रकृति द्वारा, कालान्तर में शुद्ध गुण वाली मटरों की संख्या बढ़ाकर प्रजातीय स्वभाव की रक्षा की जाती है।

(4) इस परीक्षण के परिणामों पर विचार करने से 'समानता', 'भिन्नता' तथा 'प्रत्यागमन' के नियमों (Laws of Resemblance, Variation and Regression) पर भी यथेष्ट प्रकाश पड़ता है।

मेण्डल के उपरोक्त प्रयोगों को चूहों पर भी दोहराया गया जिसके परिणाम आगे दिये गए चित्र से स्पष्ट हैं :—

मेंडलवाद के अनुसार काले और सफेद चूहों पर प्रयोग के परिणाम



पारिवारिक इतिहास का अध्ययन और वंश परम्परा
(Study of Family Histories and Heredity)

वंश-परम्परा का प्रभाव दिखाने के लिए डार्विन के भाई गाल्टन[1] ने पारिवारिक इतिहास की खोजें शुरू की। उसने ब्रिटेन के 300 परिवारों में से 997 प्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवन-चरित्र से सम्बन्धित सामग्री और आँकड़े एकत्रित किए और उनकी विस्तृत व्याख्या की। अन्त में उसने इन खोजों से यह निष्कर्ष निकाला कि व्यक्तियों के प्राकृतिक गुण, जैसे—कुशाग्र बुद्धि होना, प्रतिभाशाली होना अथवा कुछ अन्य शारीरिक गुण एवं कौशल आदि उन्हें अपने शरीर के साथ ही वंशानुक्रम में प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार डग्डेल[2] ने ज्यूक परिवार, और गोडार्ड[3] ने कालीकाक परिवारों में परम्परागत चलने वाले अवगुण या दुर्गुण, जैसे—मन्दबुद्धि होना, अपराधी होना, निर्धनताग्रस्त रहना एवं समाज विरोधी प्रवृत्तियों आदि की खोज की। उसने बताया कि ये अवगुण इन परिवारों में परम्परागत रूप से कई पीढ़ियों तक चलते रहे। इस प्रकार की खोजों से समानता के नियम की पुष्टि होती है। इस नियम का अर्थ है जैसा बाप तैसा बेटा (*Like tends to beget like*)। इन परिवारों में मन्दबुद्धि और अपराधी माता-पिता की सन्तानें कई पीढ़ियों तक लगातार मन्दबुद्धि और अपराधी होती रहीं। इस सम्बन्ध में गोडार्ड की दूसरी पुस्तक मन्दबुद्धिता के बारे में 1914 में प्रकाशित हुई।[4] इन खोजों का समाजशास्त्र में कुछ महत्व अब भी हो सकता है, किन्तु इससे वंशानुक्रम की मूल समस्या पर वास्तव में कोई प्रकाश नहीं डाला जा सकता। ये खोजें पूर्णतः वैज्ञानिक और विश्वसनीय भी नहीं हैं।

विकासवाद और वंशानुक्रम (Evolution and Heredity)

विकासवाद की विचारधारा भी वंशानुक्रम और वातावरण की विचारधारा पर यथेष्ट प्रकाश डालती है, अतएव यहाँ पर विकासवाद के सिद्धान्तों का उल्लेख करना लाभप्रद होगा। विकासवाद की दो प्रमुख विचारधाराएँ हैं :—

1

(1) लेमार्क का मत

(2) डार्विन का मत

इन मतों का अनुशीलन करने से पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि विकास किसे कहते हैं। इस पृथ्वी पर पाए जाने वाले सभी जीव प्राचीन काल में वर्तमान आकृति के नहीं थे बल्कि उनकी यह आकृति सैकड़ों पीढ़ियों के अनुभवों और क्रमिक परिवर्तनों के परिणाम हैं। वैज्ञानिक इस बात को भी मानते हैं कि मनुष्य के शारीरिक विकास के साथ-साथ उसका मानसिक विकास भी हुआ है। हजारों वर्ष तक इस पृथ्वी पर रहकर उसने अपने अनुभवों के आधार पर अनेक समस्याओं को हल किया है और ऐसा करने में उसकी आदतों, रहने-सहने के तरीकों आदि में क्रमिक परिवर्तन हुए हैं। इस बात से तो सभी विद्वान सहमत हैं कि "प्राणियों का विकास हुआ है," किन्तु विकास किस प्रकार हुआ है; विकास प्रक्रिया के पीछे मूलप्रेरणा क्या थी, विकास के कारण क्या रहे होंगे; इन प्रश्नों पर विद्वानों में अब भी मतभेद हैं।

(1) लेमार्क का मत—(1744-1829) लेमार्क का कथन था कि प्रत्येक प्राणी में अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने की और स्वयं को परिवेश के अनुकूल बनाने की आन्तरिक प्रेरणा होती है। ऐसा करने में उसकी प्राकृतिक आदतों में परिवर्तन होने के साथ-साथ उसकी शारीरिक रचना में भी परिवर्तन हो जाता है। इसका उपयुक्त उदाहरण जिराफ नामक अफरीकी पशु है। लेमार्क ने दो बातों पर अधिक बल दिया है—

(अ) प्राणियों में वातावरण से समायोजन (Adjustment) करने की आन्तरिक प्रेरणा (Inner Urge)।

(ब) पूर्वजों द्वारा प्रयोग किए गये परिवर्तनों एवं गुणों का अगली पीढ़ियों में संक्रमण होना। यह लेमार्क का मूल सिद्धान्त है।

(2) डार्विन का मत (1809-1882)—डार्विन की विचारधारा की मुख्य बातें इस प्रकार हैं :—

(अ) स्वभावतः सभी प्राणियों की संख्या में तीव्र गति से वृद्धि होती है।

(ब) संख्या में वृद्धि होने के बाद उन्हें जीवित रहने के लिए स्पर्धा और युद्ध (संघर्ष) करना पड़ता है।

(स) स्पर्धा और संघर्षमय जीवन में जो सशक्त है, कुशल है, कुशाग्र बुद्धि है, वही सफल और विजयी होता है और अन्त में सशक्त, सबल और बुद्धिमान ही जीवित रहते हैं, शेष नष्ट हो जाते हैं। यही प्राकृतिक चयन (Natural Selection) का सिद्धान्त कहलाता है।

(द) शरीरधारियों के जीवन में परिवर्तन होते हैं और ये अगली पीढ़ियों में संक्रमित भी होते हैं। ये परिवर्तन दो प्रकार से होते हैं—

(1) क्रमिक परिवर्तन, (2) अक्रमिक परिवर्तन।

डार्विन के अनुसार "परिवर्तनों का मुख्य कारण शरीरधारियों पर वातावरण का प्रभाव है। शरीरधारियों के जीवन में साधारण आकस्मिक परिवर्तन से ही उनके जीवित रहने की क्षमता में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है और ये परिवर्तन अगली पीढ़ियों में संक्रमित होते हैं।"

वीजमैन इस प्रकार अर्जित गुणों के स्थानान्तरण के विचार से सहमत नहीं हुआ और उसने चूहों पर कई पीढ़ियों तक उनकी दुम काटकर एक परीक्षण किया। अन्त में उसने निष्कर्ष निकाला कि दुमरहित होने का शारीरिक गुण सन्तानों में नहीं पहुँचता। किन्तु वीजमैन का यह कथन तर्कसंगत नहीं था। विलियम मैक्डूगल ने चूहों पर ही एक और अधिक उपयोगी प्रयोग किया। उसने चूहों को एक छोटे तालाब से बच निकलने के लिए दो मार्गों की व्यवस्था की। इसमें से एक मार्ग अन्धकारपूर्ण था और दूसरा मार्ग प्रकाशमान था। लेकिन प्रकाशमान मार्ग से गुजरने पर चूहों को बिजली के धक्कों का कटु-अनुभव होता था। पहली पीढ़ी के चूहों ने औसतन 165 त्रुटियाँ करने के बाद प्रकाशमान मार्ग को छोड़ कर अँधेरे मार्ग से बच निकलना सीख लिया। क्रमशः अगली पीढ़ियों में इस कार्य को सीखने में त्रुटियों की संख्या कम होती गई। तेईसवीं पीढ़ी के चूहों ने औसतन 25 त्रुटियाँ करने के बाद सही मार्ग से बच निकलना सीख लिया।

इस परीक्षण से सिद्ध होता है कि जीवन में प्राप्त किए हुए गुणों का किसी न किसी रूप में अगली पीढ़ियों मे स्थानान्तरण अवश्य होता है। मैक्डूगल के अनुसार "वे ही गुण संक्रमित होते हैं जिन्हें कोई शरीरधारी आन्तरिक प्रेरणा के फलस्वरूप प्राप्त करता है और जो गुण जीवन रक्षा में सहायक होते हैं।"

संक्षेप में वंशानुक्रम के नियम या सिद्धान्त जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, इस प्रकार हैं :—

(1) विभिन्नता का नियम (Law of Variation)

(2) प्रत्यागमन का नियम (Law of Regression)

(3) मेण्डल का नियम (Mendel's Law)

(4) बीज कोषों की निरन्तरता का नियम (Law of Continuity of Germ Plasm)

(5) समानता का नियम (Law of Resemblance)

(6) अर्जित गुणों के संक्रमण का नियम (Law of Transmission of Aquired Traits)

विकासवाद और शिक्षा

अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में विकासवाद की नई विचारधारा ने वैज्ञानिकों और दार्शनिकों को एक नए दृष्टिकोण से विचार करने के लिए आन्दोलित कर दिया। इसके फलस्वरूप कुछ ऐसे सिद्धान्त भी सामने आए जिनका शिक्षा से विशेष सम्बन्ध है। मूलप्रवृत्तियों को प्रजातीय-आदत (Racial Habit) बताया गया जिनका एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संक्रमण होता है। 'बलवान को ही जीवित रहने का अधिकार है'—यह सिद्धान्त जीवन और शिक्षा में लागू किया जाने लगा। लेकिन तुरन्त ही इसके भयानक परिणाम दृष्टिगोचर होने लगे। जर्मन राष्ट्रवादियों ने अपने आपको अधिक शक्तिशाली बनाना शुरू कर दिया जिसके कारण संसार को दो विश्वयुद्ध देखने पड़े। दार्शनिकों ने तथा शिक्षा-शास्त्रियों ने भी इस पर विचार किया और बताया कि शिक्षा में ऐसे सिद्धान्त को कोई स्थान नहीं दिया जा सकता। शिक्षा तो सबके लिए है चाहे वह धनी हो या निर्धन, सबल हो या

निर्बल, स्वस्थ हो अथवा रोगी। वर्तमान शिक्षा-शास्त्री मनुष्य को वातावरण का दास मानने को तैयार नहीं है। वातावरण मानव की शैक्षिक प्रगति के लिए एक उपयोगी तथ्य या साधन अवश्य है, किन्तु अन्तिम लक्ष्य नहीं है। अपने को वातावरण के अनुकूल बना लेना शिक्षा या जीवन का उद्देश्य नहीं होना चाहिए। अतः इसकी तुलना में वातावरण को मानव के लिए उपयोगी और कल्याणकारी बनाना कहीं अधिक महत्वपूर्ण बात है। पशुओं की भाँति मनुष्य जन्म से ही प्रवृत्तियों का दास नहीं होता। वह अपने व्यवहार को मूलप्रवृत्तियों के स्तर से ऊपर उठाकर अपनी बुद्धि के प्रयोग से वातावरण और प्रकृति पर विजय प्राप्त करके जीवन को सरल, कल्याणकारी और आनन्ददायक बनाने की आकांक्षा रखता है। रॉस ने भी वातावरण की दासता का विरोध करते हुए लिखा—"शिक्षा को वातावरण से समायोजन के रूप में वर्णन करना केवल एक आंशिक सत्य है क्योंकि किसी भी सन्तोषप्रद शैक्षिक क्रिया के परिणामस्वरूप व्यक्ति तथा जाति की शक्ति में वृद्धि इस प्रकार होती है, जिससे कि वह मनोवांछित रूप में वातावरण को परिवर्तित कर सके।"[1]

स्पष्ट है कि वंशानुक्रम और वातावरण से भी अधिक महत्वपूर्ण स्थान स्वयं बालक का है जो अपना शारीरिक और मानसिक विकास करने के लिए स्वचालित और स्वप्रेरित रहता है तथा जिसका तन और मन सृजनात्मक शक्तियों का केन्द्र है।

यदि जीवन में प्राप्त गुणों का संक्रमण होता है तो शिक्षा का महत्व इसलिए अधिक हो जाता है कि आगामी पीढ़ियों में शिक्षा के द्वारा अच्छे गुणों और आदतों का समावेश हो। यदि जीवन में प्राप्त गुणों का संक्रमण नहीं होता है तो फिर शिक्षा का विशेष-उत्तरदायित्व यह है कि हर पीढ़ी को उचित शिक्षा द्वारा असभ्य और बर्बर होने से बचाया जाए। शिक्षा जगत को विकासवाद की एक महत्वपूर्ण भेंट है—पुनरावृत्ति का सिद्धान्त। व्यावहारिक शिक्षण में इस सिद्धान्त का प्रयोग व्यापक रूप से होता है। आधुनिक शिक्षा-मनोविज्ञान भी विकासवाद का ऋणी है। बालक का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करते समय उसके क्रमिक विकास पर विशेष ध्यान दिया जाता है। मनोवैज्ञानिक इस बात को स्वीकार करते हैं कि बालक का व्यक्तिगत विकास जातीय विकास के समानान्तर होता है। इस तथ्य से यह सिद्धान्त निकाला गया कि बालक को भी उसी प्रकार सिखाया जाना चाहिए जिस प्रकार प्रजाति ने सीखा है। स्पेंसर के अनुसार—"बालक की शिक्षा का रूप तथा उसकी व्यवस्था ऐतिहासिक रूप से मानव जाति द्वारा निश्चित व्यवस्था के अनुरूप होनी चाहिये।"[2]

दार्शनिक हैग्ड के विचार भी उपरोक्त सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं—"विद्यालय-कक्ष की प्रगति में हमें विश्व की शैक्षिक व्यवस्था की प्रतिबिम्बित रूप-रेखा दिखाई पड़ सकती है।"[3]

---

1 "To speak of education as 'adaptation to environment' is only a very partial truth, for any satisfactory educative process will result in increased power, in the individual and in the race, to mould the environment nearer the hearts desire." —Ross J, S. : *Groundwork of Educational Psychology*, p. 90.

2 "The education of the child must accord both in mode and arrangement with the education of mankind considered historically."—Spencer

3 "In the progress of the school room we may recognize the course of the education of the word, drawn, as it were, in shadowy outline." —Hegd

वंशानुक्रम का बालक के शारीरिक, मानसिक विकास पर प्रभाव
(Influence of Heredity on Child's Physical and Mental Development.)

1. व्यक्तिगत भेद (Individual Differences)—जैविक वंशानुक्रम की यान्त्रिकता का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि एक ही परिवार, समाज और वातावरण में जन्मे और पालन-पोषण प्राप्त करने वाले बालकों में व्यक्तिगत भेद पित्र्यैकों के विचित्र सगठन और संक्रमण के कारण होते हैं। लिंगभेदों के लिए भी वंशानुक्रम उत्तरदायी है।

2. बालक की मूलशक्तियों पर प्रभाव (Influence on Childs Innate Powers)—थॉर्नडाइक के अनुसार, "बालक अपनी मूलशक्तियाँ वंशानुक्रम से प्राप्त करता है विशेषकर बुद्धिमत्ता तथा अन्य मानसिक योग्यताएँ।" गोडार्ड के विचार से मन्द-बुद्धि माता-पिता के वंश-वृक्षों के अध्ययन से भी इस विचार की पुष्टि होती है। उसके अध्ययन मे एक सैनिक परिवार के कालीकाक नामक व्यक्ति ने एक मन्द-बुद्धि स्त्री से विवाह किया जिसकी अधिकांश सन्तति मन्द-बुद्धि और चरित्रहीन पाई गई। कालीकाक ने दूसरा विवाह एक तीव्रबुद्धि स्त्री से किया। जिससे उत्पन्न अधिकांश सन्तानें उच्च व्यवसायो मे लगी हुई पाई गईं।

3. शरीर, आकृति और रंगरूप पर प्रभाव (Influence on Body Forms, Features and Colour)—कार्ल पीयर्सन के अध्ययनो से स्पष्ट हो जाता है कि माता-पिता के कद (लम्बाई) का प्रभाव बच्चो के कद पर भी पडता है। प्राय: लम्बे कद के माता-पिता की सन्तान लम्बी और छोटे कद के माता-पिता की सन्तान छोटे कद वाली होती है। इसी प्रकार साधारणत: बच्चों की मुखाकृति तथा रूप-रंग भी माता या पिता से मेल खाते हैं। यही कारण है कि किसी भी प्रजाति वर्ग (Racial Group) के सदस्यों का रूप-रंग, मुखाकृति और बहुत सी बातें समान होती हैं।

4. प्रजाति की श्रेष्ठता का विचार (*Idea of Racial Superiority*)—क्लिनबर्ग आदि समाजशास्त्रियो का मत है कि बौद्धिक श्रेष्ठता कुछ प्रजातियों की जैविक परम्परा है—विशेषकर अमेरिका और योरोप की श्वेत जातियो की। किन्तु अब इस मत का खण्डन भी हो चुका है। उदाहरणार्थ—यदि अमेरिका के नीग्रो लोगो को भी पर्याप्त अवसर दिया जाता है तो वे भी बौद्धिक श्रेष्ठता का प्रकाशन करने मे किसी श्वेत व्यक्ति से पीछे नहीं रहते।

5. बालक के व्यक्तित्व एवं संरचना पर प्रभाव (Influence on Childs Personality's Makeup)—वंशानुक्रम से प्राप्त बालक की शारीरिक रचना अपरिवर्तित रहती है। इसके साथ ही उसकी शारीरिक क्षमताएँ भी अपरिवर्तित रहती हैं, लेकिन उनका अधिक से अधिक सदुपयोग करने की सुविधा और अवसर वातावरण ही प्रदान करता है। इनका लाभ उठाकर व्यक्ति में एक सीमा तक पर्याप्त परिवर्तन किए जा सकते हैं, जैसा कि हैलन कैलर (Helen Keller) के उदाहरण से स्पष्ट है—वह बाल्यकाल से ही अन्धी और बहरी थी। लेकिन सात वर्ष की आयु मे उसे यह ज्ञान होने लगा कि वस्तुओ के नाम एव चिह्न होते हैं। इन चिह्नों को सीखकर वह अन्य लोगों के विचारो मे भाग ले सकती है। उसने इस दिशा मे प्रयत्न [illegible]

आरम्भ किया, इससे उसकी शारीरिक रचना में तो कोई अन्तर नहीं हुआ, किन्तु उसका व्यक्तित्व एकदम वदल गया।

6. **वालक के स्वभाव पर प्रभाव (Influence on Childs Temperament)**—पिछले कुछ दशकों में मनुष्य की अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ (Endocrine Glands) के विषय में भी काफी खोज हुई है। ये ग्रन्थियां व्यक्ति के स्वभाव पर विशेष प्रभाव डालती हैं। इन ग्रन्थियों द्वारा रस-स्राव करने की क्षमता वंशानुक्रम द्वारा शरीर रचना के साथ ही निश्चित हो जाती है। इस प्रकार ये ग्रन्थियां व्यक्ति के आन्तरिक चालकों (Inner Drives) की गति को प्रभावित करती हैं और व्यक्ति का स्वभाव बहुत कुछ इन आन्तरिक चालकों पर ही निर्भर करता है। लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकालना भ्रामक होगा कि मानव स्वभाव पूर्णरूप से इन ग्रन्थियों के रसस्राव द्वारा ही नियन्त्रित होता है। यद्यपि इन ग्रन्थियों द्वारा उत्पन्न रसों का अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति के स्वभाव पर विशेष प्रभाव पड़ता है, अतएव इन ग्रन्थियों द्वारा रस-स्राव को उत्तेजित करने के लिए उपयुक्त सामाजिक और सांस्कृतिक पर्यावरण भी आवश्यक है। इस सम्वन्ध में मानव-स्वभाव पर वातावरण के प्रभाव की चर्चा आगे की जायगी।

7. **वालक की कुशलताओं तथा व्यावसायिक योग्यताओं पर प्रभाव (Influence on Childs Skills and Professional Abilities)**—कैटल (Cattell) का यह दृढ मत है कि वालक की शारीरिक कुशलताएँ और व्यावसायिक योग्यताएँ मुख्यरूप से वंशानुक्रम पर निर्भर करती हैं। इस सम्वन्ध में अमेरिका में व्यावसायिक परिवारों पर व्यापक अध्ययन किए गए हैं। एक अध्ययन के अनुसार 885 वैज्ञानिकों के परिवारों में से 2/5 व्यवसायी वर्ग के थे, 1/2 उत्पादक वर्ग के थे और केवल 1/4 कृषि वर्ग के थे। इस सम्वन्ध में वातावरणवादियों द्वारा किए गए अध्ययनों की चर्चा आगे वातावरण के प्रभाव के अन्तर्गत की जायगी।

8. **वालक की सामाजिक स्थिति पर प्रभाव (Influence on Child's Social Status)**—यह देखा गया है कि गुणवान और प्रतिष्ठित माता-पिता की सन्तान भी ज्यादातर गुणवान और प्रतिष्ठित वनती है। इस सम्वन्ध में रिचर्ड एडवर्ड (पिता) तथा ऐलिजावेथ (माता) के वंशजों की खोज की गई है। ये दोनों स्त्री-पुरुष गुणवान और प्रतिभा-सम्पन्न थे। इनके वंशज भी योग्य सिद्ध हुए। वे अच्छे पदों पर आसीन थे—कुछ विधानसभा के सदस्य वने, कुछ महाविद्यालयों के अध्यक्ष वने और इनमें से एक तो अमेरिका का उपराष्ट्रपति वना। गाल्टन का भी दृढ़ मत था कि व्यक्ति की महानता का कारण उसका वंशानुक्रम होता है। उसने अपने इस विश्वास के समर्थन में महान् सेनापतियों, राजनीतिज्ञों, न्यायाधीशों, साहित्यकारों, वैज्ञानिकों और खिलाड़ियों के वंश-वृक्षों के उदाहरण प्रस्तुत किये थे। परन्तु फिर भी यह नहीं भूलना चाहिए कि इन व्यक्तियों को उच्चकोटि का सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण भी प्राप्त था जो इनकी महानता के लिए एक और महत्वपूर्ण कारक था।

वंशानुक्रम का शिक्षा में महत्व (Importance of Heredity in Education)

1. कक्षा में पढ़ने वाले सभी वालक लगभग समान आयु के होते हुए भी एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। अतः उनकी शिक्षा की उचित व्यवस्था करने के लिए अध्यापक को उनके व्यक्तिगत भेदों को समझना भी नितान्त आवश्यक है। इनमें

से अनेक भेद वंशानुक्रम के कारण होते हैं। उनमें से कुछ प्रमुख भेद जिनकी ओर अध्यापक को ध्यान देना आवश्यक है, इस प्रकार हैं—

(क) बालकों की जन्मजात क्षमताओं में अन्तर—शिक्षक इनकी जानकारी बहुयोग्यता परख (Mutliple Aptitude Test) लागू करके कर सकता है।

(ख) बालक-बालिकाओं में लिंग-भेद—लिंग-भेद के कारण भी विभिन्न विषयों मे उनकी रुचि, कार्यक्षमता आदि में अन्तर आ जाता है। विशेषकर किशोरावस्था में लिंग-भेद के कारण गम्भीर अन्तर उत्पन्न होते हैं जिनकी ओर शिक्षक को विशेष ध्यान देना चाहिए।

(ग) वंशानुक्रम के कारण विकासक्रम में भिन्नता—वास्तव में वंशानुक्रम की अभिव्यक्ति विकास प्रक्रिया में भी होती है। सभी बच्चों का विकास एक सी गति से नहीं होता और न ही उनके विकास की दिशाएँ एक दूसरे के समानान्तर होती हैं। यदि आठ वर्ष के एक बालक मे कोई विशेष क्षमता उत्पन्न हो गई है तो यह आवश्यक नहीं है कि वही क्षमता आठ वर्ष के अन्य सभी बालकों में दिखाई दे। अतएव अध्यापक को वशानुक्रम और विकासक्रम दोनों की जानकारी होनी चाहिए।

उपरोक्त अन्तरों के कारण छात्रो के सीखने और समझने की योग्यता मे भी भिन्नता रहती है। इन भिन्नताओं को समझकर ही अध्यापक अपने छात्रो के प्रति उचित दृष्टिकोण अपना सकता है।

2. जातीय आदतें अथवा प्रवृत्तियाँ (Tendencies) भी वशानुक्रम से प्राप्त होती हैं। शिक्षक को इनकी पर्याप्त जानकारी होनी चाहिए ताकि वह वांछनीय और अवांछनीय दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों को शैक्षिक कार्य मे लगा सके।

3. मानसिक श्रेष्ठता भी वशानुक्रम के अनुसार चलती है। कौन से बालक मानसिक दृष्टि से श्रेष्ठ हो सकते हैं? उनकी शिक्षा की क्या विशेष व्यवस्था होनी चाहिए? इन प्रश्नों के उत्तरो का ज्ञान प्रत्येक अध्यापक को होना आवश्यक है।

4. अध्यापक को वशानुक्रम के नियमो का वैज्ञानिक ज्ञान होना चाहिए ताकि वह छात्रो मे वशानुक्रम के बारे में फैली हुई भ्रान्तियों को यथासमय दूर कर सके। जिससे जातीय श्रेष्ठता या भेद-भाव विद्यालय मे न पनप सकें।

5. अध्यापक को वंशानुक्रम और वातावरण का सापेक्षिक ज्ञान होना चाहिए। उसे भलीभाँति समझना चाहिए कि वंशानुक्रम का प्रभाव और कार्य-क्षेत्र शैक्षिक प्रक्रिया मे कहाँ तक हो सकता है और वातावरण का क्षेत्र कहाँ से प्रारम्भ होता है।

वातावरण का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Environment)

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वातावरण उन समस्त प्रेरणाओं और उद्दीपकों Stimulations) का योग है जो कि एक शरीरधारी गर्भाधान के समय से लेकर मृत्युपर्यन्त प्राप्त करता रहता है। सक्षेप में वातावरण के अन्तर्गत वे सब वस्तुएँ आ जाती हैं जो पित्र्यैक के अतिरिक्त समस्त शरीर पर अपना प्रभाव डालती हैं। पित्र्यैक से व्यवहार करने वाले अवयव और यन्त्र (Organs and Mechanisms) विकसित होते हैं। व्यवहार कराने और उसे क्रियाशील रखने का श्रेय वातावरण को है।

वोरिंग लैंगफील्ड तथा वैल्ड के अनुसार वातावरण की परिभाषा इस प्रकार है—"एक व्यक्ति का वातावरण उसके गर्भाधान से लेकर मृत्यु पर्यन्त प्राप्त उत्तेजनाओं का पूर्ण योग होता है।"[1]

अनास्तसी के अनुसार—व्यक्ति पर उसके पित्र्येक के अतिरिक्त वातावरण का प्रभाव सभी प्रकार से पड़ता है।[2]

डगलस तथा हॉलैन्ड के अनुसार—"वातावरण शब्द का प्रयोग उन सब वाह्य शक्तियों, प्रभावों और दशाओं का सामूहिक रूप से वर्णन करने के लिए किया जाता जाता है, जो जीवित शरीरधारियों के जीवन, स्वभाव, व्यवहार अभिवृद्धि, विकास और परिपक्वता पर प्रभाव डालते हैं।"[3]

साधारणतः वातावरण से हमारा अभिप्राय भौगोलिक वातावरण से होता है किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक ही नगर, गाँव या मकान में रहने वाले वालकों का वातावरण समान नहीं कहा जा सकता। एक ही परिवार के सदस्य एक दूसरे के लिए भिन्न-भिन्न वातावरण उपस्थित करते हैं, यही कारण है कि वंशानुक्रम में वहुत कुछ समान होने पर भी परिवार के वालकों में समान गुण विकसित नहीं होते। एक ही कक्षा में पढ़ने वाले छात्रों में विचारणीय व्यक्तिगत अन्तर होते हैं। वातावरण की छाप भी सभी वालकों पर एक सी नहीं पड़ती है। अध्ययन और संगठन की दृष्टि से वातावरण को भिन्न-भिन्न नामों से सम्वोधित किया जाता है, जैसे—सांस्कृतिक वातावरण, सामाजिक वातावरण, आर्थिक, अथवा धार्मिक, या राजनैतिक वातावरण एवं घरेलू वातावरण, स्कूली वातावरण आदि।

यह वात सभी वैज्ञानिक मानते हैं कि व्यक्तिगत संरचना एवं व्यवहार की विलक्षणताएं वातावरण और वंशानुक्रम के परस्पर सहयोग से ही उत्पन्न होती हैं। साधारणतः व्यक्ति की गतिवाही (Motor) एवं संवेदना क्षमताओं के विकास में वंशानुक्रम का अधिक योगदान रहता है। संवेगात्मक और सामाजिक व्यवहार के लक्षणों, नैतिक व्यवहार का स्तर, अभिवृत्तियाँ तथा व्यक्तित्व सम्वन्धी अन्य विशेषताओं के विकास में वातावरण का महत्वपूर्ण योगदान होता है।

जुड़वाँ वालकों का अध्ययन और वातावरण का प्रभाव
(Study of Twins and Influence of Environment)

गाल्टन ने 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में यह जानने के लिए कि जुड़वाँ वालकों की अभिवृद्धि पर वातावरण का कितना और कैसा प्रभाव पड़ता है, जुड़वाँ वालकों का अध्ययन प्रारम्भ किया। किन्तु गाल्टन का अध्ययन अधिक वैज्ञानिक

---

1 "A person's environment consists of the sum total of the stimulation which he receives from his conception until his death."
—Boring, Long Field and Welled

2 "The environment is everything that affects the individual exept his genes."
—Anastasi

3 "The term environment is used to describe, in the aggregate, all the external forces, influences and conditions, which affect the life, nature, behaviour and the growth, development and maturity of living organisms."
—Douglas and Holland

नहीं था। उसके बाद अमेरिका मे थॉर्नडाइक ने जुड़वाँ बालकों का अध्ययन अधिक वैज्ञानिक और वस्तुनिष्ठ ढंग से किया। इस अध्ययन के मुख्य निष्कर्ष इस प्रकार हैं :

(1) भाइयों और बहिनों की अपेक्षा जुड़वाँ बालकों में शारीरिक और मानसिक समानता कही अधिक पाई जाती है।

(2) छोटी उम्र के जुड़वाँ बालकों में बड़ी उम्र के जुड़वाँ बालकों की अपेक्षा अधिक समानता रहती है अर्थात् उम्र के साथ-साथ वातावरण का प्रभाव बढ़ता जाता है जिसके कारण विषमताएँ भी उत्पन्न हो जाती हैं।

इसी प्रकार का एक और अध्ययन 1937 में तीन वैज्ञानिकों ने मिलकर किया। इनमें न्यूमैन जीवशास्त्री था, फ्रीमैन मनोवैज्ञानिक था और होलजिजर सांख्यशास्त्री था। इन तीनों ने मिलकर 19 जोड़ों (जुड़वाँ बालकों) पर अध्ययन किया। ये जोड़े एक दूसरे से अलग करके भिन्न प्रकार के वातावरण में पाले गये थे। अध्ययन के बाद ये वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वातावरण का सबसे कम प्रभाव शारीरिक संरचना (Physical Structure) पर पड़ता है। इसकी अपेक्षा जीवन में सीखे जाने वाले कुशलतापूर्ण कार्यों और आदतों पर वातावरण की साधारण छाप पड़ती है। वातावरण का सबसे अधिक प्रभाव व्यक्ति के चरित्र और व्यक्तित्व के विकास पर पड़ता है।

बुद्धिमत्ता पर वातावरण का प्रभाव

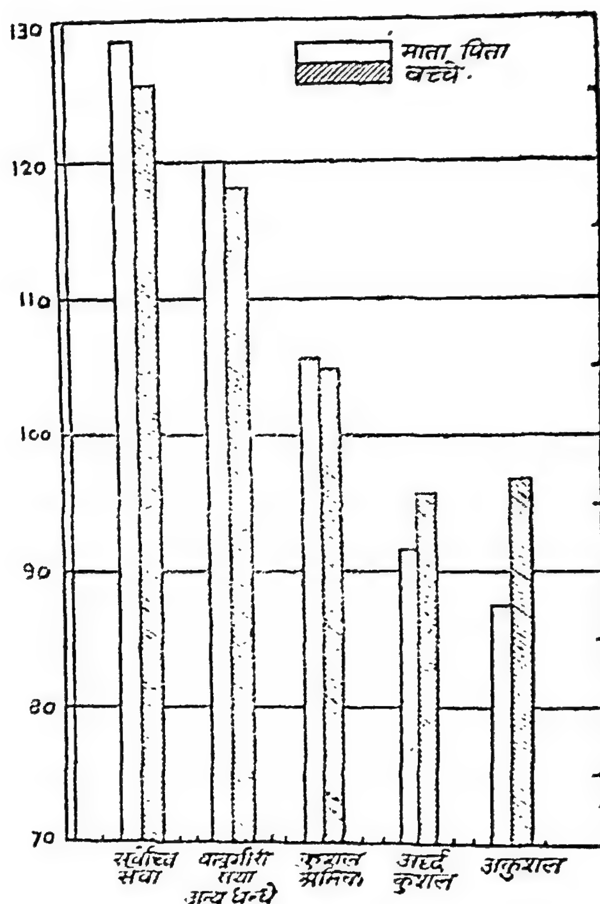
शिक्षाशास्त्रियों ने यह भी जानने का प्रयत्न किया है कि वातावरण का प्रभाव बालक की बुद्धिमत्ता पर कहाँ तक पड़ सकता है। उपयुक्त और सुसगठित वातावरण मिलने पर वातावरण की श्रेष्ठता के प्रभावस्वरूप बालक की बुद्धि लब्धि (I. Q.) को लगभग 10 अंकों तक एक से दो वर्षों के काल में बढ़ते देखा गया है।

घरेलू वातावरण और बुद्धि लब्धि—वातावरण का प्रभाव परिलक्षित करने के लिए बालकों का घरेलू स्तर, अभिभावकों का शैक्षिक स्तर और उनकी व्यावसायिक कुशलता को ध्यान मे रखकर टरमैन और मैरिल ने एक उपयोगी अध्ययन किया। उनकी खोजों से स्पष्ट होता है कि वातावरण के इन अगों का बालक की बुद्धिमत्ता से क्या सम्बन्ध है।

पिता का व्यवसाय	बालक की बुद्धि लब्धि
सर्वोच्च सेवा	116
उच्च सेवा एवं प्रबन्ध कार्य	111
लिपिक कार्य, कुशल कार्यकर्ता एव फुटकर व्यापारी	107
अर्द्धकुशल, उप-लिपिक और छोटा धन्धा	104
साधारण कुशलता का कार्य	99
दैनिक श्रमिक	96

ऊपर लिखी हुई तालिका से स्पष्ट होता है कि पिता के व्यवसाय तथा उनकी आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति का बालक की कार्यकुशलता और बुद्धिमत्ता पर यथेष्ट प्रभाव पड़ता है।

इसी प्रकार का एक और अध्ययन ऊथिट (Outhit) ने 1933 में विभिन्न व्यावसायिक वर्गों के बालकों और उनके माता-पिता के सामान्य बुद्धिमत्ता स्तर पर किया। इस अध्ययन के परिणाम नीचे के चित्र में तुलनात्मक ढंग से दर्शाए गये हैं :



उपरोक्त चित्र को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उच्चकोटि के व्यवसायों लगे हुए माता-पिता की अपेक्षा उनके बच्चों का बौद्धिक स्तर कुछ निम्न श्रेणी क.. है। इनकी तुलना में अकुशल व्यवसायों में लगे हुए माता-पिता की अपेक्षा उनके बालकों का बुद्धिस्तर कहीं अधिक उच्च श्रेणी का है। स्पष्ट है कि यह सुधरे हुए वातावरण का प्रभाव है।

पारिवारिक बालकों की बुद्धि लब्धि

यह देखा गया है कि एक ही परिवार के सदस्यों में परस्पर सम्बन्ध के समानान्तर वातावरण की भी समानता रहती है। इस प्रकार उनकी बुद्धिलब्धि में

सम्बन्ध ज्ञात करके यह दर्शाया जा सकता है कि वातावरण कहाँ तक बौद्धिक ानता प्रदान करता है। जैसा कि निम्नांकित तालिका में दिखाया गया है :—

पारिवारिक सम्बन्ध	सह-सम्बन्ध-गुणांक[1]
1. समान यमज (Identical Twins)	·90
2. सहोदर यमज (Fraternal Twins) समान लिंग के	·70
3. सहोदर यमज असमान लिंग के	·59
4. सहोदर भाई-बहिन (Siblings)	·50
5. माता-पिता एवं सन्तान	·31
6. चचेरे भाई-बहिन	·27
7. पितामह और पौत्र	·16
8. असम्बन्धित बालक	·00

बालक के शारीरिक एवं मानसिक विकास पर वातावरण का प्रभाव
(Influence of Environment on Child's Bodily and Mental Development)

(1) बालक के सीखने के ढंग और उनका विषय-वस्तु पर प्रभाव (Influence on Methods and Matter of Childs Learning)—कैण्डोल के अध्ययन से पता चलता है कि बालक को अच्छी बातें सिखाने के लिए वातावरण भी अच्छा होना चाहिए। कैण्डोल ने फ्रांस के 552 विद्वान व्यक्तियों का अध्ययन किया था। ये व्यक्ति अच्छे वातावरण में पले थे और इनकी शिक्षा-दीक्षा का भी समुचित प्रबन्ध था। इसी प्रकार गोर्डन ने नाविकों के बालको का अध्ययन किया था। ये बालक सभ्य समाज से दूर नदियों के किनारे पले थे। वहाँ के गन्दे रहन-सहन और अनुपयुक्त वातावरण के कारण ये बालक अच्छी बातें नही सीख सके और न ही इनका समुचित मानसिक विकास हो सका। एक अन्य प्रयोग मे कलांग तथा कैलांग (Kellong and Kellong) ने चिम्पांजी के एक साढ़े सात माह के बच्चे को अपने दस माह के बालक के साथ रखकर पाला। नौ माह तक दोनों को समान वातावरण, समान सुविधाएँ और समान ही सीखने के अवसर दिए गए। इस काल में बालक चिम्पांजी ने अनेक मानवोचित क्रियाएँ सीख ली; जैसे खड़े होकर चलना, चम्मच से खाना, गिलास से पानी पीना, साधारण आज्ञाओं का पालन करना। इस अवधि में वह पशु दैनिक व्यवहार के 50 शब्द भी सीख गया था।

(2) बालक की शारीरिक बनावट पर प्रभाव (Influence on Childs Bodily Makeup)—जुड़वाँ बालकों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि आयु बढ़ने के साथ-साथ ही जुड़वाँ बालकों में विषमता बढ़ती जाती है, क्योंकि उनका वातावरण भिन्न होता जाता है। वातावरण के अनेक तत्व जैसे जल, तापमान, भोजन आदि का प्रभाव शरीर की बनावट, रंग, रूप आदि पर पड़ता है। फ्रेंजबोस (Franzboas) के अनुसार—"प्रजातियों के शारीरिक अन्तर (जैसे चीनी, जापानी, यहूदी, अफ्रीकी, बंगाली, पंजाबी आदि) का कारण वंशानुक्रम न होकर वातावरण ही होता है। वातावरण की भिन्नता अपनी छाप व्यक्तियों पर छोड़ती है।

[1] ए. एन. विंगफील्ड की बुद्धिमत्ता सम्बन्धी खोजों का परिणाम।

(3) **बालक के व्यक्तित्व पर प्रभाव** (Influence on Childs Personality)—जुड़वाँ बालकों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वातावरण का सबसे अधिक प्रभाव बालक के व्यक्तित्व विकास, चरित्र और आदतों पर पड़ता है। समाजशास्त्रियों ने भेड़ियों द्वारा पाले गये बच्चों का भी अध्ययन किया है। 1921 में मिदनापुर के जंगल में भेड़ियों की माँद से अमला और कमला नाम की दो बालिकाएँ प्राप्त हुई थीं। इन्हें बचपन में भेड़िये उठा ले गये थे। अमला तो मर गई लेकिन कमला इस खोज के आठ वर्ष बाद तक जीवित रही। उसमें पशुओं जैसी आदतें विकसित हो गई थीं, जैसे कच्चा मांस खाना, चारों हाथ-पैरों से दौड़ना आदि। कमला को प्रशिक्षण द्वारा पैरों के बल चलना सिखाया गया। इसे कई वर्षों के कठिन परिश्रम के पश्चात् केवल 45 शब्द ही बोलना सिखाया जा सका था। अतः स्पष्ट है कि वातावरण का जो प्रभाव बाल्यकाल में उसके मन और शरीर पर पड़ चुका था, उसे दूर करना लगभग असम्भव ही था। शहरी और देहाती बालकों के आचरण, आदतों और काम करने के ढंग में जो अन्तर देखा जाता है, वह भी वातावरण की भिन्नता का ही परिणाम है।

(4) **बालक के बौद्धिक विकास और बुद्धिमत्ता पर प्रभाव** (Influence on Childs Intellectual Development and Intelligence)—फ्रीमैन ने 1927 में 71 अनाथ बच्चों पर एक प्रयोग किया था। प्रारम्भ में ही इनकी बुद्धि लब्धि का मापन कर लिया गया था जिसका मध्यमान (Mean) 101·4 था। इसके बाद इन्हें अनाथ आश्रम से निकाल कर सुधरे हुए वातावरण में रखा गया। बदले हुए वातावरण के प्रभाव से इन बच्चों की बुद्धिलब्धि में 10 अंकों तक की वृद्धि हुई। अमेरिका में छोटे बच्चों पर इस प्रकार के अनेक प्रयोग हो चुके हैं जिनमें प्रायः देखा गया है कि पिछड़े हुए बच्चों को सुसंस्कृत और अच्छे वातावरण में रखने से उनके बौद्धिक विकास में तीव्र प्रगति होती है। उनकी बुद्धिलब्धि का सामान्य स्तर भी ऊँचा उठ जाता है। कैण्डोल का उपर्युक्त अध्ययन भी इस बात की पुष्टि करता है।

(5) **बालक के विकास पर बहुमुखी प्रभाव** (Many Sided Influence on Childs Development)—बालक का शारीरिक एवं मानसिक विकास एक जटिल प्रक्रिया (Complex Process) है। सैकड़ों-हजारों प्रकार से वातावरण में विद्यमान अनेक तत्व, बालक के विकास को प्रेरित करते हैं। भाषा का प्रयोग, संवेगों का प्रकाशन, मनोरंजन के ढंग, रुचियों और ध्यान का क्षेत्र वातावरण से प्रभावित होते हैं। जीवन के आदर्श, धर्म, राष्ट्रीयता, राजनैतिक दृष्टिकोण, मान्यताएँ और विश्वास वंशानुक्रम से या पित्र्यैक द्वारा प्राप्त नहीं होते बल्कि वातावरण में रहकर अनुभव और सीखने की क्रिया द्वारा ही ग्रहण किए जाते हैं।

वातावरण का शिक्षा में महत्व (Importance of Environment in Education)

(1) छात्र-छात्राओं में व्यक्तिगत भिन्नता का कारण वातावरण भी है। हरबर्ट के अनुसार व्यक्तिगत भिन्नता केवल वंशानुक्रम पर ही नहीं अपितु वातावरण पर भी निर्भर करती है। एक ही कक्षा में पढ़ने वाले बालक आयु, कद और भार में

लगभग समान होते हुए भी बहुत-सी बातों में एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। हरबर्ट के अनुसार इसका कारण उनके पारिवारिक, सामाजिक, मानसिक, आर्थिक और सांस्कृतिक वातावरण की भिन्नता ही है। प्रत्येक बालक का जीवन-क्षेत्र (Life Space) एक-दूसरे से भिन्न होता है। अतः अध्यापक को छात्रों के व्यक्तिगत भेदों को समझते समय उनके परिवार एवं पड़ोस आदि की ओर भी ध्यान देना चाहिए।

(2) अध्यापक का प्रमुख उत्तरदायित्व बालक के लिए उपयुक्त शैक्षिक वातावरण का निर्माण करना है। यह वातावरण ऐसा हो जिसमे छात्रों को ज्ञानार्जन के लिए पर्याप्त प्रेरणा मिलती रहे।

(3) जॉन लॉक का मत है कि जन्म के समय बालक का मस्तिष्क एक कोरी पटिया के समान होता है। अभिभावक, माता-पिता और अध्यापक उस पर जो चाहे लिख सकते हैं। वास्तव में अध्यापक या माता-पिता बालक के मस्तिष्क पर प्रत्यक्ष रूप से तो कुछ नहीं लिख सकते। परन्तु वे बालक के मन को विशिष्ट अनुभवों द्वारा सस्कारित अवश्य कर सकते हैं, जिसके लिए उपयुक्त शैक्षिक कार्यक्रम होना चाहिए। ये कार्यक्रम बालक की रुचियो, प्रवृत्तियों और क्षमताओं के अनुकूल ही होने चाहिए अन्यथा उसका जीवन विकास और उत्कर्ष की ओर नही बढ़ सकेगा।

(4) धर्म, समाज, साहित्य और संस्कृति बाल्यकाल से ही बालक के चारो ओर विद्यमान रहते हैं। इनके द्वारा निर्मित विशिष्ट वातावरण बालक के जन्म से पूर्व ही विद्यमान रहता है जो कि समाज की परम्परागत सम्पत्ति होता है। इस वातावरण का प्रयोग बालक अपने आत्म-विकास के लिए करता है और इसमें अपना रचनात्मक योगदान भी देता है। शिक्षक या विद्यालय का कार्य बालक के इस विशिष्ट वातावरण के साथ अनुकूलन मे सहायता देना है।

(5) वातावरण (भौतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक) बालक की आत्माभिव्यक्ति के लिए नितान्त आवश्यक है। उसकी अन्तर्निहित शक्तियों एवं योग्यताओं को प्रकाशित करने का अवसर वातावरण ही प्रदान करता है। बालक के शारीरिक और मानसिक विकास की दिशाएं वातावरण द्वारा ही निश्चित होती हैं। बाल्यकालीन वातावरण मे प्राप्त किए गए अनुभवो द्वारा बालक के चरित्र की नींव रखी जाती है। वह आगे चलकर क्या बनेगा—व्यवसायी या साहित्यकार, नेता या वैज्ञानिक, चरित्रवान् या चरित्रहीन आदि बातें—जीवन के प्रारम्भ में ही निश्चित हो जाती हैं। इसलिए परिवार और विद्यालयों में स्वस्थ-वातावरण का सृजन नितान्त आवश्यक है।

(6) बालक के सामाजिक और भावात्मक विकास का मुख्य क्षेत्र उसके आसपास का वातावरण ही होता है। बाल्यकाल मे बनी हुई भावनाएँ, स्थायीभाव और सामाजिक दृष्टिकोण जीवनपर्यन्त उसके व्यक्तित्व मे समाये रहते हैं। अतः विश्वशान्ति की भावना, मानवमात्र के प्रति आदर का भाव और जीवन मे उदार दृष्टिकोण का निर्माण भी उचित वातावरण द्वारा बाल्यकाल के प्रारम्भ मे ही होना चाहिए।

(7) बालक के आस-पास के वातावरण मे अच्छाइयां और बुराइयां दोनो

ही वर्तमान रहती हैं। परिवार और विद्यालय का प्रमुख कार्य बालक को बुरी बातों के कुप्रभाव से बचाना है। इसके लिए केवल रोक-टोक (यह मत करो, वह मत करो) ही पर्याप्त नहीं है। बालक को इन प्रभावों से बचाने के लिए क्रियात्मक रुचियों (Active Interests), सौन्दर्यबोध (Aesthetic Sense) और रचनात्मक प्रेरणाओं को विकसित करना चाहिए, जिससे कि आस-पास के वातावरण से वह अपनी शारीरिक, मानसिक वृद्धि के लिए स्वस्थ पोषण प्राप्त करता रहे।

वंशानुक्रम सम्बन्धी प्रचलित अनुचित धारणाएँ

(1) उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में लेमार्क ने यह विचार प्रचलित किया कि जीवन में प्राप्त गुणों का अगली पीढ़ियों में भी संक्रमण होता है। किन्तु जीव-विज्ञान की आधुनिक खोजें इस सिद्धान्त को असत्य सिद्ध करती हैं।

(2) कुछ लोगों में यह भी अन्ध-विश्वास है कि गर्भकाल में माता-पिता के अनुभवों और व्यवहार को बालक ग्रहण कर लेता है। किन्तु इस विश्वास का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है।

(3) अधिकतर लोग वंश-परम्परा का अभिप्राय केवल माता-पिता और बालक की समानता को ही समझते हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि मैण्डलवाद के अनुसार अनेक पित्र्यैक सुप्त या व्यक्त होते हैं, अतः यह आवश्यक नहीं कि बालक माता या पिता के ही अनुरूप हो।

(4) कुछ व्यक्ति वंश-परम्परा की सीमा और कार्यकाल बालक के जन्म तक ही मानते हैं और इसके बाद जो कुछ भी वृद्धि होती है उसे वातावरण का प्रभाव समझते हैं। किन्तु वास्तव में वंशानुक्रम का प्रभाव जन्म के बहुत समय बाद तक अथवा जीवनपर्यन्त भी दिखाई देता है। इसी प्रकार वातावरण का प्रभाव भी जन्म के पहले से ही बालक पर पड़ने लगता है।

वंशानुक्रम और वातावरण की समस्या

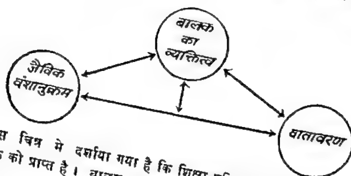
वास्तव में वंशानुक्रम और वातावरण एक-दूसरे के विरोधी तत्व नहीं हैं, अपितु एक-दूसरे के पूरक हैं। कोई भी बीज उपयुक्त वातावरण के बिना अंकुरित नहीं हो सकता। सृष्टि की रचना में वातावरण (भौतिक संसार) का निर्माण पहले हुआ था और शरीरधारियों की उत्पत्ति तथा विकास बाद में। विकासवाद की विचारधारा, शरीरधारियों और वातावरण के संघर्ष, और इस संघर्ष से उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों की कहानी है। वर्तमान वंशानुक्रम, जीवन और शरीरधारी, पूर्व-स्थित वातावरण (भौतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ) और उस वातावरण में व्यतीत किए गए जीवन, संघर्ष और अनुकूलन का ही परिणाम है। वातावरण के बिना जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। जीवन प्रारम्भ होते समय ही नहीं अपितु उससे भी पहले वातावरण विद्यमान रहता है। विशिष्ट वंशानुक्रम वाले शरीरधारियों को जीवन व्यतीत करने के लिए वातावरण भी विशिष्ट होना चाहिए। शीत-जलवायु के पशु, पक्षी या पौधे गर्म जलवायु में जीवित नहीं रहते। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि वंशानुक्रमीय

विलक्षणताओं में भूतकालीन वातावरण की विशिष्टताएँ संचित रहती हैं। अतः यह प्रश्न करना कि दोनों में किसका महत्व अधिक है, एक भ्रामक प्रश्न है।

वंशानुक्रम और वातावरण का सापेक्षिक महत्व (Comparative Importance of Heridity and Environment)—शिक्षा में वंशानुक्रम और वातावरण दोनों ही प्रधान तत्व या कारक हैं। किन्तु आधुनिक शिक्षा में इन दोनों से अधिक प्रधानता हम बालक को देना चाहते हैं। स्वयं बालक की क्रियाशीलता पर प्रकृति (Nature) और पोषण (Nurture) की उपयोगिता निर्भर करती है। बालक आत्मक्रिया द्वारा दोनों से लाभ उठाकर अपने व्यक्तित्व का सुन्दर संगठन कर सकता है। टी० पी० नन के शब्दों मे—मानव शरीर तथा मस्तिष्क रचनात्मक शक्ति का केन्द्र है, जोकि वंश-परम्परा तथा वातावरण का उपयोग कार्य की सामग्री के रूप में करता है जिससे कि प्रकृति एवं परिपोषण द्वारा प्राप्त तत्व उसे वैसा नहीं बनने देते जैसा कि वह बन गया है।[1]

वंशानुक्रम और वातावरण के सहयोग से ही जीवन क्रम आगे बढ़ता है, उन्नति होती है और विकास होता है। जिस पात्र को इन दोनों के सहयोग से नई शक्ति, सुन्दरता और संगठन प्राप्त होता है, वह पात्र स्वयं बालक है। मर्फी के अनुसार—वंश-परम्परा का ज्ञान, वंश-परम्परा से प्राप्त शक्ति को वातावरण के प्रभाव से पृथक कर प्राप्त करते हैं, और जो कुछ पृथक किया जाता है वह भी जन्मजात क्षमता और वातावरण के प्रभाव की अन्त.क्रिया का फल होता है।[2]

वंशानुक्रम, वातावरण और बालक तीनों ही परिवर्तनशील कारक या इकाइयाँ हैं; जोकि परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। जैसा कि नीचे के चित्र मे दर्शाया गया है।



इस चित्र मे दर्शाया गया है कि शिक्षा प्रक्रिया मे अधिक महत्वपूर्ण स्थान स्वयं बालक को प्राप्त है। बालक का क्रियाशील व्यक्तित्व केवल प्रभाव ग्रहण नही

1 "The human organism, body and mind, is a centre of creative energy that uses endowments and environment as its working material, so that the elements, it receives from nature and nurture do not make it what it becomes."—T P Nun *Education*—Its Data and First Principles p 118.

2 "Heredity is known only by the liberation of the heredity potentials through specific environmental forces, and what is liberated is as much a function of the environing pressures as it is of the latent or potential disposition."
—Murphy

करता बल्कि वातावरण और वंशानुक्रम को भी प्रभावित करता है। वंशानुक्रम और वातावरण से कहीं अधिक क्रियाशील, प्रगतिशील और चैतन्य स्वयं बालक है।

इसीलिए किसी भी शिक्षा योजना में वंशानुक्रम को परिवर्तित करने का प्रयत्न नहीं किया जाता है। बल्कि उपयुक्त पोषण द्वारा बालक के समुचित शारीरिक और मानसिक विकास की ओर ध्यान दिया जाता है। जब हम मानव जाति में अच्छी सन्तान की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य वास्तव में अच्छे पालन-पोषण से होता है।[1] फिर भी शिक्षा की दृष्टि से अध्यापकों को वंशानुक्रम और वातावरण का पृथक्-पृथक् महत्व समझ लेना चाहिए। इसके बाद इन दोनों का सापेक्षिक महत्व भी समझना चाहिए, जो नीचे स्पष्ट किया जाता है—

1. प्रत्येक बालक वंशानुक्रम और वातावरण की उपज होता है। यहाँ बालक=वंशानुक्रम+वातावरण नहीं समझना चाहिए। वुडवर्थ के अनुसार, बालक=वंशानुक्रम×वातावरण। अतः बालक इन दोनों तत्वों का गुणनफल होता है, योगफल नहीं। इसलिए यह पूछना कि बालक के जीवन में इन दोनों में से किसका योगदान अधिक रहता है, एक निरर्थक प्रश्न है।

2. वंशानुक्रम और वातावरण को पृथक् नहीं किया जा सकता। एक के बिना दूसरे की कल्पना ही नहीं की जा सकती। जीवन की प्रत्येक घटना इन दोनों का परिणाम होती है। अतः शैक्षिक कार्यक्रम में भी इन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता।

3. वंशानुक्रम और वातावरण एक दूसरे पर आश्रित हैं अर्थात जीवन को आगे ले जाने के लिए यह एक दूसरे के पूरक और सहयोगी तत्व हैं। बालक को जो शक्तियाँ और क्षमताएँ वंशानुक्रम से प्राप्त होती हैं उन्हीं का विकास एवं प्रकाशन वह अपने आस-पास के वातावरण में करता है। जो गुण वंशानुक्रम से अप्राप्त हैं, उन्हें वह विकसित नहीं कर सकता, चाहे वातावरण कितना ही अच्छा क्यों न हो। इसी प्रकार यदि [illegible]लक को वंशानुक्रम से कोई क्षमता या योग्यता प्राप्त होती है, किन्तु उसे [illegible] सित करने के लिए उचित वातावरण या पोषण नहीं मिलता तो उस [illegible] सित और अप्रकाशित ही रह जाएगी।

[illegible] वातावरण एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। वंशानुक्रम [illegible] वरण वंशानुक्रम के विरोध में प्रभाव नहीं छोड़ता। [illegible]र देखना भी सम्भव नहीं। बालक के शैक्षिक [illegible]ोग और समान प्रभाव रहता है। वुडवर्थ [illegible] प्रभाव-क्षेत्र इतने मिश्रित और जटिल हैं कि

[illegible] म और वातावरण दोनों का ही

[illegible] uman beings, we reffer really to [illegible] nurture—39th *Year-book of Educa-*

समान महत्व है। इनसे भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण कारक (Factor) स्वयं बालक है, जो आत्म-विकास के लिए दोनों का सदुपयोग करने की क्षमता रखता है।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. बालक की शिक्षा में वंशानुक्रम तथा वातावरण के सापेक्षिक महत्व का विवेचन कीजिये।

2 वंशानुक्रम की यन्त्र रचना का वर्णन कीजिये। मुख्य नियम तथा सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिये।

3. विकासवाद का शिक्षा जगत पर क्या प्रभाव पड़ा है?

4. जुड़वाँ बालकों के अध्ययन का शैक्षिक दृष्टि से क्या महत्व है?

5. बुद्धिमत्ता के विकास पर वंशानुक्रम तथा वातावरण का क्या प्रभाव पड़ता है? इसके सम्बन्ध मे किये गये अध्ययनों के आधार पर उत्तर दीजिये।

6. वंशानुक्रम और वातावरण का ज्ञान शिक्षक के लिये क्यों आवश्यक है?

7. "वंशानुक्रम और वातावरण एक दूसरे के पूरक हैं विरोधी नहीं।" इस कथन का विवेचन कीजिये।

7

मूल प्रवृत्ति और सहज क्रिया
(INSTINCT AND REFLEX-ACTION)

मूल प्रवृत्तियाँ—वंशानुक्रम के अध्याय में विकासवाद की चर्चा करते हुए यह बताया जा चुका है कि मूल प्रवृत्तियाँ शरीरधारियों में संक्रमण होने वाली प्रजातीय आदतें हैं। मूल प्रवृत्ति (Instinct) प्रारम्भ में प्राणीविज्ञान में प्रयोग किया जाने वाला एक पारिभाषिक शब्द था। इसलिए मानव व्यवहार की व्याख्या के लिए इस शब्द का प्रयोग सावधानी से होना चाहिए। मानव, मूलतः पशु होते हुए भी, पशुओं से कितना भिन्न है—उसका व्यवहार पूर्णतः प्रवृत्तिजन्य नहीं है अपितु उसका व्यवहार तो बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता, अनुभव और प्रशिक्षण से अधिक प्रभावित होता है। शिक्षा मनोविज्ञान में प्रवृत्तिवाद के समर्थकों में मैक्डूगल, रॉस और नन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

प्रवृत्तिजन्य व्यवहार और सहज क्रिया
(Instinctive behaviour and Reflex Action)

मूल प्रवृत्तियों के समान ही कुछ अन्य क्रियाएँ भी जन्मजात होती हैं। ये क्रियाएँ शरीरधारी बिना सीखे हुए ही यन्त्रवत् ढंग से करता है। इनमें विचार करने या सोचने-समझने की आवश्यकता ही नहीं रहती है क्योंकि शरीर रक्षा के लिए इन क्रियाओं का तुरन्त होना नितान्त आवश्यक है, जैसे—आँख की ओर कोई तिनका या कीड़ा हवा से उड़कर आता है तो पलकें तुरन्त झपक जाती हैं। यदि आँख में कोई भी धूल-मिट्टी आदि गिर जाती है तो आँख में तुरन्त पानी आ जाता है जिससे पानी के साथ ही वह गंदगी भी आँख से बाहर आ जाती है। इसी प्रकार, यदि कमरे में शिशु लेटा है और बिजली की तेज बत्ती जला दी जाती है तो उसकी आँखें तुरन्त बन्द हो जाती हैं क्योंकि तेज प्रकाश उसकी आँखों के लिए हानिकारक है। आँख की रक्षा के लिए प्रकृति ने ये सहज क्रियाएँ (Reflex Actions) जन्म से ही प्रदान की हैं। सहज क्रियाओं के अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं :—

(क) पैर में कोई नुकीली वस्तु चुभने पर हम तुरन्त पैर पीछे खींच लेते हैं।

(ख) मुँह में स्वादिष्ट वस्तु रखते ही लार आ जाती है—यह भी सहज क्रिया ही है।

(ग) बिजली के तार (करेंट) से हाथ छूते ही हाथ स्वतः ही पीछे खिंच जाता है।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सहज क्रिया एक साधारण, स्वाभाविक एवं स्वतः ही होने वाली एक शारीरिक प्रतिक्रिया है जो शरीर के किसी न किसी अंग से सम्बन्धित रहती है। प्रवृत्तिजन्य व्यवहार के समान इसमे बुद्धि के प्रयोग का कोई स्थान नही है। प्रवृत्यात्मक व्यवहार या क्रिया मे ज्ञानात्मक, रागात्मक और चेष्टात्मक, तीन स्पष्ट पहलू होते हैं और उस क्रिया के साथ सवेग की भी अनुभूति होती है, किन्तु सहज क्रिया मे ऐसा नही होता। सहज क्रिया तो केवल क्रियात्मक प्रतिक्रिया ही है। हमारे शरीर मे अनेक सहज क्रियाएँ अचेतन स्तर पर भी होती रहती हैं, जैसे—हृदय की धड़कन, श्वांस का अन्दर लेना और बाहर निकालना तथा पाचन प्रणाली से सम्बन्धित अनेक आन्तरिक क्रियाएँ आदि। अनेकों मूल प्रवृत्तियाँ तो बड़ी उम्र मे ही विकसित होती हैं परन्तु अनेकों सहज क्रियाएँ शिशु जन्म के समय से ही करता है जोकि जीवन रक्षा के लिए नितान्त आवश्यक हैं।

मूल प्रवृत्तियों की विशेषताएँ

(क) यह प्राणी मे व्यवहार करने की जन्मजात आदत होती है, अतएव सीखकर या अनुकरण द्वारा प्राप्त नही होती। जैसे—पशुओं का पानी मे तैरना तथा पक्षियो का घोंसला बनाना, आदि।

(ख) यह एक प्रजातीय आदत होती है, अतः प्रजाति के सभी प्राणियो मे समान होती है। अर्थात प्रजाति के सभी सदस्यो मे उस प्रवृत्ति के प्रकाशन का ढंग एक समान ही रहता है।

(ग) मूल प्रवृत्तियो का लक्ष्य प्राणी को जीवित रखना, सुरक्षा प्रदान करना पोषण प्राप्त कराना और प्रजनन द्वारा प्रजाति को आगे ले जाना है। इनमे कोई न कोई प्रयोजन अवश्य छिपा रहता है।

(घ) आपत्तिकाल मे इनसे प्राणी को अतिरिक्त शक्ति (प्रेरणा) प्राप्त होती है। जैसे जीवन के लिए असुरक्षा उत्पन्न होने पर भागने या बच निकलने की शक्ति अथवा पशुओं से लड़ने की शक्ति में वृद्धि होना।

(ङ) मूल प्रवृत्ति के प्रकाशन मे सभी प्राणी थोड़ा-बहुत बुद्धि का प्रयोग करते हैं तथा अनुभव और परिस्थिति के अनुसार व्यवहार मे परिवर्तन भी करते हैं।

परिभाषाएँ

वाटसन मूल प्रवृत्ति को मानसिक शक्ति का योग (Total) मानता है।[1]

वुडवर्थ इसे बिना सीखी हुई क्रिया मानता है।[2]

मैक्डुगल इसे परम्परागत या जन्मजात मनोशारीरिक प्रवृत्ति मानता है, जिसके कारण प्राणी आसपास की वस्तुओं को प्रत्यक्ष करता है और उसके साथ ही क्रियात्मक तथा सवेगात्मक आवेग का अनुभव करता है।

---

1 "The instincts are the sum total of psychic energy."
2 "An instinct is an acquired form of activity."

के अनुभव करने एवं उस वस्तु के सम्वन्ध में विशेष व्यवहार की प्रेरणा प्रदान करती है।"[1]

उसने 14 मूल प्रवृत्तियों के साथ 14 संवेगों का भी उल्लेख किया है। (जिनका वर्णन पृष्ठ 115 पर किया गया है) प्रवृत्तिजन्य व्यवहार में संवेग अद्भुत प्रेरणाओं (Motives) के स्रोत हैं, जिससे व्यवहार को दृढ़ता और अतिरिक्त शक्ति प्राप्त होती है। जैसा कि टी० पी० नन का कथन है—"मूल प्रवृत्तियाँ मानव शक्ति की स्रोत·······चाल-चलन तथा सीखने से सम्वन्धित शैक्षिक प्रगति की सूचक हैं।"[2]

(6) पशुओं की अपेक्षा मनुष्यों में प्रवृत्तियों का प्रकाशन अधिक बुद्धिमत्ता-पूर्ण ढंग से चेतन स्तर पर (Conscious Level) पर होता है। मानव, पशुओं की भाँति, इन मूल प्रवृत्तियों का दास नहीं है, अपितु वह इनसे प्रेरणा लेकर जीवन के उच्च आदर्शों की प्राप्ति के लिए अपने व्यवहार को स्वयं नियन्त्रित करता है। वह अपनी मूल प्रवृत्ति के आवेग को प्रकट होने से रोक सकता है, जैसे—वह अपने क्रोध को दवा सकता है। इसे ही मूल प्रवृत्ति का दमन करना (Repression) कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य किसी हानिकारक मूल प्रवृत्ति के जाग्रत होने पर 'विरोध के सिद्धान्त' (Principle of Opposition) द्वारा उसे निर्वल वना देता है। उदाहरणार्थ—काम प्रवृत्ति के विरोध में निवृत्त (Repulsion) की प्रवृत्ति जाग्रत की जा सकती है तथा पलायन के विरोध में युयुत्सा प्रवृत्ति को उत्तेजित किया जाता है।

(7) मानव की मूल प्रवृत्तियों का विकास-क्रम पशुओं से भिन्न है। पशुओं की अपेक्षा मानव शिशु अधिक लम्वे समय तक असहाय और निर्वल रहता है। क्योंकि उसमें प्रवृत्तियों का विकास विलम्व से होता है। प्रत्येक मूल प्रवृत्ति के उदय के लिए निश्चित आयु-स्तर होता है। पशुओं से भिन्न, मानव शिशु की शिक्षा का रहस्य भी यही है। यह विलम्व ही उसके लिए वरदान है। क्योंकि इस प्रकार उसे अन्य प्राणियों की अपेक्षा कहीं अधिक मानसिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। प्रवृत्तिजन्य व्यवहार की तीन प्रावस्थाएँ (Phases) होती हैं—

(अ) वाहरी परिवेश में स्थित वस्तु विशेप की ओर ध्यान आकर्पित होना और उस वस्तु में रुचि उत्पन्न होना। इसे ज्ञानात्मक चेष्टा (Cognation) कहते हैं।

(व) शरीर में क्रियात्मक चेष्टा (Impulse to Action) का अनुभव

1 "An instinct is an innate disposition which determines the organism to perceive or pay attention to an object of certain class and to experience in its presence certain emotional excitement and an impulse to action which find expression in a specific mode of behaviour in relation to that object."
—MacDougal

2 "Instincts are proximate source of human energy . ...the real springs of educational progress both in conduct and in learning." —T. P. Nunn

करना, शारीरिक चेष्टा करना अथवा पारिवेशिक परिस्थिति में परिवर्तन करना। इसे चेष्टा (Conation) अथवा इच्छा (Willing) कहते हैं।

(स) ध्यान आकर्षित होने और चेष्टा करने के साथ-साथ ही संवेगात्मक अनुभूति का होना। इसे रागात्मक चेष्टा (Affection अथवा Feeling) कहते हैं। प्रारम्भिक रागात्मक चेष्टा दुखद या सुखद अनुभूति (Primary Feeling of Pleasure or Pain) के रूप मे होती है।

(8) कुछ मनोवैज्ञानिक मूल प्रवृत्तियों को शृंखलाबद्ध सहज-क्रियाएँ मानते हैं। किन्तु प्रवृत्तिजन्य व्यवहार सहज-क्रिया की भांति एकदम यान्त्रिक नही होता। बल्कि मूल प्रवृत्ति तो मनुष्य के सम्पूर्ण व्यवहार को प्रेरणा देने का एक जन्मजात, प्राकृतिक साधन है।

(9) मनोविश्लेषणवादियो के अनुसार प्रवृत्तिजन्य व्यवहार के अवदमन तथा निरोध (Repression and Inhibition) से उसके व्यक्तित्व को हानि पहुँचती है। अवदमन के कारण मानसिक ग्रन्थियाँ जटिल (Complexes) बन जाती हैं। दबाई गई प्रवृत्तियाँ हानिकारक मार्गो से प्रकाशित होने का प्रयत्न करती रहती हैं। हमारी सामाजिक व्यवस्था और मान्यताएँ भी इस प्रकार की हैं कि इनमें भी कुछ मूल प्रवृत्तियो के प्रकाशन का निरोध (Inhibition) होता रहता है। निरोध का अर्थ है रुकावट या प्रतिबन्ध। उदाहरणार्थ—काम प्रवृत्ति के सक्रिय प्रकाशन पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए सभी समाजों मे कुछ मान्यताएँ और मर्यादाएँ निर्धारित होती हैं जैसे कि—हमारे यहाँ किशोर-किशोरियों को एक दूसरे से पृथक (Segregation of Sex) रखा जाता है। दमन (Repression) प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से होता है। किसी भावना को हानिकारक या बुरा समझकर उसका दमन किया जाता है। किन्तु निरोध या निषेध सचेत (प्रत्यक्ष) रूप से होता है।

(10) प्रवृत्तिजन्य प्रेरणाएँ बालक-बालिकाओं को क्रियाशील बनाए रखती हैं। एक कुशल शिक्षक कक्षा-शिक्षण मे बालक की क्रियाशीलता का समुचित उपयोग करके ही उसका विकास करने में सफल होता है। कुछ विद्वान तो मूल प्रवृत्तियों को शिक्षा का आधार ही मानते हैं— 'उनका विचार है कि मूल प्रवृत्तियाँ चरित्र की अपक्व सामग्री है और अपनी समस्त क्रियाओं मे शिक्षक को उनके साथ कार्य करना पड़ता है।"[1] इनके द्वारा बालको मे नवीन रुचियाँ (Interests) विधायकता (Constructiveness) एवं कलात्मकता (Artistic Taste) जाग्रत की जा सकती हैं।

मैक्डुगल ने जिन 14 मूल प्रवृत्तियों और उनके संवेगों की व्याख्या की है, उनका वर्णन अगले पृष्ठ पर अंकित सारिणी में किया गया है।

---

1 "The instinct are the raw material of character, and throughout his task the educator must deal with them"

मूल प्रवृत्ति	संवेग
1. पलायन (Escape)	भय (Fear)
2. युयुत्सा, झगड़ना (Combat or Pugnacity)	क्रोध (Anger)
3. निवृत्ति (Repulsion)	घृणा (Disgust)
4. पुत्र-कामना (Parental Will)	वात्सल्य, स्नेह (Tender Emotion, love)
5. शरणागति (Appeal)	करुणा, दुःख (Distress)
6. काम-प्रवृत्ति (Sex-Mating)	कामुकता (Lust)
7. कौतूहल, जिज्ञासा (Curiosity)	आश्चर्य (Wonder)
8. दैन्य (Submission)	आत्महीनता (Negative Self feeling)
9. आत्मगौरव या आत्मप्रकाशन (Self-Assertion)	आत्माभिमान (Positive Self-feeling)
10. सामूहिकता सामाजिकता (Gregariousness)	एकाकीपन (Loneliness)
11. भोजनान्वेषण (Food Seeking)	भूख (Appetite)
12. संग्रह (Acquisition)	अधिकार भावना (Feeling of Ownership)
13. विधायकता (Construction)	कृतिभाव (Feeling of Creativeness)
14. हास (Laughter)	आमोद, हँसी (Amusement)

मनुष्य के प्रवृत्तिजन्य व्यवहार की उपरोक्त विशेषताओं के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य में मूल प्रवृत्तियों का स्वरूप पशुओं की भाँति स्थिर एवं अपरिवर्तनशील नहीं होता है. अपितु इसके विपरीत मनुष्य का प्रवृत्तिजन्य व्यवहार बुद्धिमत्ता के प्रयोग के कारण अधिक लचीला होता है जिसमें जीवन की परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। संक्षेप में मूल प्रवृत्तियों के रूप में परिवर्तन लाने की प्रमुख विधियाँ नीचे दी गई हैं, जिनकी सहायता से अध्यापक एवं अभिभावक बालक के व्यवहार में वांछनीय परिवर्तन लाने में उसकी सहायता कर सकते हैं।

मूल प्रवृत्तियों का रूप परिवर्तन करने की विधियाँ या सिद्धान्त
(Principles and Methods of Modification of Instincts)

(1) सुख या दुख का सिद्धान्त (Principle of Pleasure or Pain)—इसे आनन्द सम्बन्धी सिद्धान्त (Hedonic Principle) भी कहते हैं। किसी भी कार्य या अनुभव से हमें सुख अथवा दुःख में से किसी एक की अनुभूति होती है। जो कार्य या व्यवहार सुखदायी होते हैं उन्हें हम दोहराना चाहते हैं अथवा उनको नियमित रखते हैं और जिन कार्यों से दुःखद अनुभूति होती है उन्हें हम स्वाभाविक रूप से त्यागना चाहते हैं अथवा उनसे बचने का प्रयत्न करते हैं। भोजनान्वेषण (भूख) की प्रवृत्ति उत्तेजित होने पर बालक खाने की वस्तुएँ चुराकर खाता है लेकिन यदि इस कार्य के परिणामस्वरूप उसे दुःखद अनुभूति (निरादर, पिटाई, पेट में दर्द आदि) होती है तो वह इस कार्य का त्याग सकता है। थॉर्नडाइक के सीखने के नियमों

को उत्तेजित करना चाहिए। लेकिन विद्यालय के वातावरण में इसकी उपयोगिता वहुत सीमित है।

(8) रेचन का सिद्धान्त (Principle of Catharsis)—रेचन के सिद्धान्त का उल्लेख अरस्तू ने नाटक के सम्बन्ध में किया था। नाटक खेलते समय या देखते समय अनेक नैतिक और अनैतिक भावनाएँ एवं आवेग प्रवाहित होते हैं। उस समय मनोरंजन तो होता ही है साथ ही अनेक दुर्वृत्तियाँ भी प्रकाशित हो जाती हैं। इनके निकल जाने से हमारा मानस परिष्कृत हो जाता है। वालक-वालिकाएँ खेल की क्रिया में क्रोध, स्पर्धा, युयुत्सा एवं भय आदि दुर्वृत्तियों का स्वाभाविक ढंग से विना हानि के ही प्रकाशन कर देते हैं। अतः खेल या नाटक उनके लिए एक रेचक क्रिया है। हमारे यहाँ कुछ ऐसे त्योहार भी हैं जिनमें सामूहिक ऊधम-दंगे होते हैं। इनसे समाज का रेचन होता है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यह सिद्धान्त पूर्णतः उपयोगी ही है।

मैक्डुगल के मूल प्रवृत्ति सिद्धान्त की आलोचना
(Criticism of Mc Dougalls Inistnct Theory)

मैक्डुगल के मूल प्रवृत्ति सिद्धान्त पर मनोविज्ञान के प्रयोजनवादी सम्प्रदाय के अन्तर्गत यथेष्ट प्रकाश डाला जा चुका है। मैक्डुगल द्वारा प्रतिपादित प्रवृत्तियों और संवेगों के सिद्धान्त युक्तिपूर्ण और व्यावहारिक जान पड़ते हैं। उसके समकालीन और उसके वाद के मनोवैज्ञानिकों ने भी किसी न किसी रूप में इन्हें स्वीकार किया है। परन्तु उसके आलोचकों की भी कमी नहीं है। संक्षेप में इस सिद्धान्त से सम्बन्धित जिन वातों की आलोचना की जाती है, वे इस प्रकार हैं:—

(1) जिन्सवर्ग (Ginsberg) द्वारा मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार का तीन पहलुओं (ज्ञानात्मक, संवेगात्मक और चेष्टात्मक) में विभाजित किया जाना अनुचित प्रतीत होता है। व्यवहार या अनुभव एक वस्तु है, उसे विभाजित नहीं किया जा सकता।

(2) अनेक समाजशास्त्री मूल प्रवृत्तियों को सार्वभौमिक नहीं मानते, विशेषकर मानव समुदायों के वारे में। उदाहरणार्थ—कुछ आदिम प्रजातियों में संचय की प्रवृत्ति नहीं पाई गई है।

(3) मूल प्रवृत्तियाँ सभी व्यक्तियों में समान रूप से (समान वेग या तीव्रता के साथ) नहीं पाई जातीं। जैसे कि कुछ व्यक्तियों में वात्सल्य भाव अधिक होता है और कुछ में कम।

(4) व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक प्रत्येक मूल प्रवृत्ति के साथ एक विशेष संवेग को नहीं मानते। शैण्ड के अनुसार एक मूल प्रवृत्ति के साथ अनेकों संवेग संलग्न हो सकते हैं।

(5) आधुनिक समाजशास्त्र मूल प्रवृत्तियों को मानव व्यवहार का एकमात्र नहीं मानता, अपितु सामाजिक रीति-रिवाज और परम्पराओं को मानव का प्रमुख आधार मानता है।

(6) मैक्डुगल के अनुसार—"मूल प्रवृत्ति का स्नायविक आधार (Neurolo-) होता है।" किन्तु वह भी इसकी व्याख्या न कर सका। इसके लिए प्रयोग होने चाहिए थे। उसके विचारों में कल्पना का पुट अधिक है।

(7) अधिकतर मनोवैज्ञानिको के अनुसार मानव व्यवहार के पीछे एक ही केन्द्रीय शक्ति रहती है. जैसा कि फ्रॉयड आदि ने बताया है। बर्ट ने भी इसे स्वीकार किया है कि चौदह या चालीस शक्तियाँ नही हो सकती।

(8) ऑलपोर्ट (Allport) मानव व्यवहार की व्याख्या के लिए अर्जित प्रेरकों (Drives) पर बल देता है। उसके अनुसार "मूल प्रवृत्तियों का सहारा लेने के बजाय व्यक्ति के पारिवारिक और सामाजिक जीवन तथा परिस्थितियों की व्याख्या अधिक उपयुक्त है।"

मूल प्रवृत्ति सिद्धान्त की आलोचना मनोविज्ञान के प्रयोजनवादी सम्प्रदाय के अन्तर्गत की जा चुकी है। अब अगले अध्याय में उन मूल प्रवृत्तियों के विषय में सविस्तार चर्चा की जायगी, जोकि बालक के शैक्षिक-विकास की दृष्टि से विशेष महत्व रखती हैं।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. मूल प्रवृत्ति और सहज क्रिया में क्या अन्तर है ? मैक्डुगल के प्रवृत्ति सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।
2. प्रवृत्तिजन्य व्यवहार की विशेषताओं का वर्णन करिये तथा शिक्षा में इनकी उपयोगिता पर प्रकाश डालिये।
3. एक शिक्षक के लिए मूल प्रवृत्तियो का क्या उपयोग हो सकता है ? उदाहरण सहित उत्तर दीजिए।
4. प्रवृत्तिजन्य व्यवहार में रूपान्तर करने के मुख्य सिद्धान्तो की व्याख्या कीजिए।

8

कुछ मूल प्रवृत्तियाँ : जीवन और शिक्षा में उपयोग
(SOME INSTINCTS : THEIR USE IN LIFE & EDUCATION)

सभी शरीरधारियों में उनके चेतना स्तर के अनुसार जिज्ञासा प्रवृत्ति का कम या अधिक प्रकाशन देखा गया है। मनुष्य, प्राणियों में सर्वाधिक विकसित होने के कारण अपने वातावरण के प्रति अत्यधिक चैतन्य है। मानव शिशु जीवन के आरम्भ में ही इस रहस्यमयी सृष्टि को देखकर आश्चर्य में पड़ जाता है। वातावरण में स्थित उपकरणों की गति, रंग, रूप, आकार, ध्वनियों आदि की ओर उसका ध्यान आकर्षित होने लगता है। शिशु प्रत्येक वस्तु को निकट से देखकर, छूकर, उठाकर, मुँह से लगाकर या पटककर अपनी जिज्ञासा को शान्त करने का प्रयत्न करता है। जब वह बोलने लगता है तो घर में बड़ों से अनेक प्रश्न पूछने लगता है। कभी-कभी माता-पिता बच्चों की इस पूंछ-तांछ से तंग आकर उन्हें डांट भी देते हैं। ऐसा व्यवहार अमनोवैज्ञानिक एवं हानिकारक है। बच्चों की जिज्ञासा का थोड़ा-बहुत समाधान अवश्य कर देना चाहिए।

1. जिज्ञासा (Curiosity)

सभ्यता और सांस्कृतिक विकास की दौड़ में 'जिज्ञासा' सदैव से ही मानव-जाति के लिए एक अद्भुत प्रेरणा का स्रोत रही है। मानव विकास क्रम में ही 'बुद्धिमत्ता' और 'संस्कृति' से पूर्व 'जिज्ञासा' का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके परिणामस्वरूप इस जगत में उसकी रुचियों का विस्तार हुआ और विधायकता का प्रकाशन बुद्धिमत्ता-पूर्ण एवं सांस्कृतिक निर्माण के कार्यों में होने लगा। ज्ञान की खोज में मानव सदैव से भटकता रहा है! विज्ञान की आश्चर्यजनक सफलता का रहस्य भी मानव मन को क्रियाशील रखने वाली जिज्ञासा प्रवृत्ति में ही निहित है। इस दृष्टि से 'जिज्ञासा' और विधायकता का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिक्षा में इस स्वाभाविक प्रेरणा का समुचित उपयोग किया जाना चाहिए। कक्षा-शिक्षण के समय अध्यापक द्वारा उचित सहायक सामग्री एवं शिक्षोपकरणों की सहायता से छात्रों की जिज्ञासा उत्पन्न करना वांछनीय है। ज्ञान में वृद्धि के साथ-साथ ही छात्रों की विषय की रुचि में भी वृद्धि होनी चाहिए। तभी वे स्वप्रयत्न से नवीन ज्ञान प्राप्त करने में जुट सकेंगे। जो शिक्षक शिक्षण के समय जिज्ञासा उत्पन्न करने में असमर्थ रहते हैं उनकी कक्षा का अनुशासन ठीक नहीं रहता। शिक्षक को एक बाजीगर की भाँति विद्यार्थियों का ध्यान अपनी ओर, या श्यामपट पर अथवा पाठ्य वस्तु की ओर आकर्षित कर लेना

चाहिए। यह तभी सम्भव है, जब कि वह सफलता से जिज्ञासा प्रवृत्ति को उत्तेजित कर सके, अन्यथा उसे पाठ में सफलता प्राप्त नहीं होगी।

किसी भी परिस्थिति में इस प्रवृत्ति का अवदमन करने से लाभ के स्थान पर हानि की ही अधिक सम्भावना रहती है। मनोविश्लेषणवादियों का कथन है कि, बालकों की कामेन्द्रियों सम्बन्धी जिज्ञासा को दबा देने से काम सम्बन्धी अनेक कुचेष्टाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। अतएव अध्यापकों एवं अभिभावकों का यह उत्तरदायित्व है कि वे यथासमय उचित ढंग से उनके लिंग सम्बन्धी कौतूहल को शान्त कर दें। पाठ्य विषयों में छात्रों की रुचि बढाने के लिए उन्हें रचनात्मक कार्यों में लगाना चाहिए। शिक्षा की दृष्टि से उपयोगी स्थानों पर भ्रमण एवं प्रकृति-निरीक्षण के लिए ले जाना चाहिए। शैक्षिक जिज्ञासा में वृद्धि के लिए दृश्य-श्रव्य साधनों का अधिक प्रयोग किया जाना चाहिए। कुशाग्र बुद्धि बालक में अपने वातावरण में स्थित वस्तुओं, व्यक्तियों एवं घटनाओं का परस्पर आन्तरिक सम्बन्ध समझने की जन्मजात प्रेरणा होती है। वह वातावरण की भिन्न-भिन्न इकाइयों को एकसूत्र में पिरोकर उसमें सम्बन्ध परिलक्षित करके एकात्मता का अनुभव करना चाहता है। यही कारण है कि कुशाग्र-बुद्धि बालक अधिक पूँछ-ताँछ भी करते हैं। वैज्ञानिक ज्ञान के प्रसारण में 'जिज्ञासा' का सबसे अधिक उपयोग होता है। यह तभी सम्भव है जब ज्ञान के व्यावहारिक पहलू पर पढाते समय इस पर भी बल दिया जाये।

2. सामूहिकता (Gregariousness)

मनुष्य को पशु से सभ्य बनाने में 'सामूहिकता' की प्रवृत्ति का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। मनुष्य के लिए सामाजिक जीवन एक मुख्य आवश्यकता है। मानव-शिशु अन्य पशुओं की अपेक्षा इस प्रवृत्ति का सर्वोत्तम उपयोग करता है। वह सामाजिक माध्यम द्वारा अपनी प्रजातीय संस्कृति को प्राप्त करता है। सामुदायिक पोषण द्वारा उसकी पशुवत् जन्मजात प्रवृत्तियों का समाजीकरण (Socialization) होता है।

स्कूल एक छोटा समुदाय है और शिक्षा प्रक्रिया वस्तुतः एक सामाजिक प्रक्रिया है। इसलिए शिक्षा में सामूहिकता की प्रवृत्ति का सुन्दर उपयोग किया जाना स्वाभाविक ही है। बालक में सामूहिकता के लक्षण शैशवावस्था में ही दिखाई देने लगते हैं। बाल्यावस्था में उसके खेल प्रायः सामूहिक ही होते हैं। बालक सामूहिक खेलों में अपनी ही आयु के साथियों के साथ अधिक आनन्दित रहता है। प्रौढ़ों के सम्पर्क की अपेक्षा वह समवयस्कों के सम्पर्क से अधिक बातें सीख सकता है। उसके भाषा-ज्ञान में तीव्रगति से वृद्धि होती है। अध्यापकों एवं अभिभावकों को चाहिए कि वे उसे सामूहिक-जीवन में भाग लेने से न रोकें। केवल इस बात का ध्यान रखें कि बालक अच्छे समुदाय में ही खेलता और उठता-बैठता है। स्कूल के सामूहिक जीवन में गन्दे तत्वों का प्रवेश नहीं हो। पाठशाला की सामूहिक क्रियाओं में सभी विद्यार्थी अपनी-अपनी योग्यतानुसार भाग ले सकें। यदि अध्यापक चाहे तो प्रश्न-प्रणाली द्वारा सोशियोग्राम (Sociogram) बनाकर व्यक्तिगत बालक की सामाजिकता का अध्ययन कर सकता है। इससे यह पता लगाया जा सकता है कि कौन विद्यार्थी कक्षा में आकर्षण का केन्द्र है तथा कौन विद्यार्थी एकाकी है। लगभग आठ वर्ष की आयु में बालक किसी न किसी मित्र-मण्डली का सदस्य बन जाता है और फिर

अपनी इस मण्डली के कार्यों का पूर्ण समर्थन करता है। ये मण्डलियाँ जाति एवं वर्ग के आधार पर नहीं बननी चाहिए। किशोर बालक प्रायः घनिष्ठ मित्रों की मण्डली बनाते हैं। लेकिन किसी भी स्तर पर समूहों का निर्माण संकीर्ण भावनाओं पर आधारित नहीं होना चाहिए। सामूहिकता के स्वस्थ विकास के लिए छात्रों में सहयोग (Co-operation), सहनशीलता, सामूहिक-प्रतिस्पर्धा (Group-Competition), सामूहिक-खेल और सामूहिक-कार्यों को विद्यालय में उचित स्थान मिलना चाहिए। सदन प्रणाली (House System) इसका सुन्दर उदाहरण है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, 'विधायकता' और 'जिज्ञासा' की प्रवृत्तियों में परस्पर सहयोग रहता है। लगभग एक वर्ष की आयु से बालक अपने वातावरण में खोज एवं प्रहस्तन (Manipulation) की क्रियाएँ करके आत्म-प्रकाश करने लगता है। थॉर्नडाइक के अनुसार

3. विधायकता या सृजनात्मकता (Construction)

"बाल्य-कालीन ध्वंसात्मक क्रियाएं 'विधायकता' का ही प्रकाशन हैं। नवनिर्माण द्वारा एक ओर उसकी जिज्ञासा शान्त होती है, दूसरी ओर उसकी कल्पना साकार होती है। प्रत्येक शरीरधारी को जीवित रहने के लिए, तथा सन्तान का संरक्षण करने के लिए घर या घोंसला बनाना होता है। मानव-शिशु अनुकरण द्वारा अनेक रचनात्मक कार्य करना सीखता है जोकि जीवन रक्षा में सहायक होते हैं।"

रचनात्मक कार्यों में बालकों की स्वाभाविक रुचि होती है। यदि उन्हें रचनात्मक खेल (Constructive Games) खेलने को मिलते हैं तो उनकी विधायकता का स्वाभाविक प्रकाशन होता है। इन खेलों में मनोरंजन के साथ-साथ सीखने की क्रिया भी होती है। रचनात्मक-खेल बुद्धिमत्ता के प्रकाशन एवं परीक्षण का सुन्दर साधन हैं। रचनात्मक-कार्यों में भाग लेने से बालक का आत्मविश्वास भी बढ़ता है। सी० बर्ट (C. Burt) द्वारा लन्दन में की गई खोजों के अनुसार "1 से 13 वर्ष के बालक सबसे अधिक रुचि हस्तकला में और इसके बाद चित्रकला में लेते हैं। बालकों की अपेक्षा बालिकायें नृत्य एवं गीतों में सर्वाधिक रुचि लेती हैं, तत्पश्चात हस्तकला, गृहविज्ञान आदि में। पाठन विधियों में बालक रचनात्मक पाठन विधि को अधिक पसन्द करते हैं।" लैम्ब (Lamb) ने इस सम्बन्ध में एक व्यावहारिक परीक्षण किया और यह निष्कर्ष निकाला कि रचनात्मक विधि से बालक जल्दी सीखते हैं और पाठ्य विषय में उनकी रुचि बढ़ती है।

अतः स्पष्ट है कि शिक्षा योजना में विधायकता की प्रवृत्ति का समुचित प्रयोग किया जाना चाहिए। कक्षा-शिक्षण में बालकों को स्वयं समस्याएँ हल करने एवं आत्म-प्रकाशन का अधिकाधिक अवसर देना चाहिए। आजकल शिक्षा में सृजनात्मक-शिक्षण पर विशेष बल दिया जा रहा है, अतएव शिक्षा में 'सृजनात्मकता' के उपयोग पर विस्तार से विचार करेंगे।

सृजनात्मकता और शिक्षा
(Constructiveness & Education)

सृजनात्मकता मानव क्रिया-कलापों का प्रमुख गुण है। कवि से लेकर बढ़ई तक, चित्रकार से लेकर राज-मजदूर तक और इन्जीनियर से लेकर कुम्हार तक सभी

श्रेणी के कार्यकर्त्ता सृजन की भावनाओं से प्रेरित रहते हैं। सृजनात्मकता आधुनिक समाज और संस्कृति की आवश्यकता है। विद्यालय पर इस आवश्यकता की पूर्ति करने का पूरा उत्तरदायित्व है। स्कूली जीवन में प्रत्येक छात्र की सृजनात्मक प्रतिभा का समुचित विकास होना चाहिए।

(1) **सृजनात्मकता का मनोवैज्ञानिक अर्थ और लक्षण**—कवि रॉबर्ट फ्रॉस्ट (Robert Frost) के अनुसार "वे विचार या वस्तु जो आपको आन्दोलित करते हैं, और जिनमे पहले से कोई सम्बन्ध नही देखा गया है. यदि आप उन्हे सम्बन्धित कर देते हैं और यह सम्बन्ध उपयोगी और आनन्ददायी होता है तो इसे हम मौलिकता (Originality) कहेंगे।" कक्षा-शिक्षण मे अध्यापक भी बहुत कुछ यही कार्य करता है। वह वस्तु और विचारो मे सम्बन्ध स्पष्ट करता है और स्थापित करता है। इसलिए कक्षा-शिक्षण एक सृजनात्मक कार्य है। अध्यापक छात्रो के मन मे नवीन विचारों और उनके सम्बन्धों की उत्पत्ति करता है।

(2) **सृजनात्मकता का आधार चिन्तन है**—चिन्तन सप्रयोजन मानसिक क्रिया है। इसका लक्ष्य किसी समस्या का सन्तोषपूर्ण ढंग से समाधान है। गिलफर्ड के अनुसार "किसी समस्या को हल करने में चिन्तन की गति दो प्रकार की होती है (क) अपसारी—अर्थात किसी केन्द्र से चारो ओर, (ख) अभिसारी—अर्थात चारों ओर से किसी केन्द्रीय विचार या वस्तु की ओर। गिलफर्ड ने इस प्रकार के चिन्तन का मूल्यांकन करने के लिए परीक्षाएँ भी बनाई हैं। उदाहरणार्थ—आगे बढ़ती हुई सेना को नदी पार करनी है, सेना के इन्जीनियर तुरन्त आस-पास से उपलब्ध सामग्री की सहायता से ही एक काम चलाऊ पुल बना देते हैं। चिन्तन में मूल्यांकन भी आवश्यक है; समस्या का हल सन्तोषप्रद ढग से हुआ अथवा असन्तोषप्रद (मूल्यांकन) ढंग से ? यदि सेना उस पुल पर से गुजर जाती है, तो परिणाम सन्तोषप्रद होगा। दूसरे शब्दों मे हम कह सकते है कि चिन्तन द्वारा व्यक्ति अपनी परिस्थितियों के साथ उपयोगी ढग से अनुकूलन करता है और परिस्थितियों की पुनः व्याख्या समस्या के समाधान हेतु करता है। कक्षा-शिक्षण मे भी विचारक्रम की लगभग यही प्रक्रिया अपनाई जाती है। अध्यापक जो भी नवीन विचार या व्याख्या प्रस्तुत करता है, उसकी उपयोगिता भी दर्शाता है।

(3) **सृजनात्मकता में बुद्धिमत्ता का उपयोग होता है**—यह देखा गया है कि उच्च बुद्धिलब्धि वाले बालक ऐसे व्यवसाय पसन्द करते हैं जिनमे सृजनात्मकता या मौलिकता की प्रधानता हो, जैसे—डॉक्टर, इन्जीनियर, प्रोफेसर, वैज्ञानिक, साहित्यकार, वकील, या उच्च श्रेणी के व्यवसायी बनना। यही कारण है कि बुद्धि परीक्षाओ में सृजनात्मकता का मूल्यांकन किसी न किसी रूप मे अवश्य किया जाता है। जैसे—वाक्यपूर्ति, चित्रपूर्ति, बिल्डिंग ब्लाक्स (Building Blocks), रचनात्मक-कार्य (Construction Tasks), चित्र-निर्माण आदि। इस प्रकार की परीक्षाओं से जिन मानसिक तत्वों का मूल्यांकन होता है, वे इस प्रकार हैं—(1) मौलिकता (Originality), (2) निरन्तरता (Fluency), (3) लोचनीयता (Flexibility), (4) विस्तार (Elaboration), (5) दूरस्थ विचारो को जोड़ना (Associating Remote Ideas), (6) कलात्मकता (Artistic Ability)।

सृजनात्मक शिक्षण कार्य के लक्षण
(Characteristics of Creative Teaching)

(1) सृजनात्मक-शिक्षण में समस्याओं का समाधान होता है। कक्षा में अध्यापक प्रश्न-विधि से या किसी अन्य युक्ति द्वारा समस्या प्रस्तुत करता है। उस समस्या की ओर छात्रों का ध्यान आकर्षित करता है और छात्रों की सक्रिय-सहायता से उसका समाधान भी प्रस्तुत करता है। इस विधि से छात्र एक प्रकार के सन्तोष का अनुभव करते हैं और उस ज्ञान को तुरन्त अपनाते हैं।

(2) सृजनात्मक-शिक्षण में अगमन विधि (Inductive Method) का उपयोग होता है। समस्या से सम्बन्धित सूचनायें, वर्णन या निरीक्षण या परीक्षण विधि से एकत्रित की जाती हैं। सम्बन्धित तथ्यों के आधार पर छात्र किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

(3) सृजनात्मक-शिक्षण से ज्ञान की भावी उपयोगिताओं पर प्रकाश डाला जाता है। बालकों को भौतिकशास्त्र या जीव-विज्ञान केवल इसलिए नहीं पढ़ाये जाते कि वे प्रकृति के रहस्यों को जान सकें, अपितु इसलिए पढ़ाये जाते हैं कि उन्हें भावी जीवन में, जीवन की परिस्थितियों में, कहाँ और किस समय इस ज्ञान की क्या उपयोगिता हो सकती है। यदि रसायन-शास्त्र का स्नातक अपने कपड़ों पर गन्दे दाग-धब्बों को दूर करने की युक्ति नहीं निकाल सकता तो ऐसे ज्ञान की उसके लिए क्या उपयोगिता रह जाती है ?

(4) सृजनात्मक-शिक्षण में विचारों और तथ्यों के वर्गीकरण की योजना रहती है। उदाहरण के लिए भूगोल के पाठ में भारत की नदियों का अध्ययन किया जा रहा है। उत्तर और दक्षिण भारत की नदियों में क्या समानतायें हैं—ये सब बातें एक वर्ग (Class) में रखी जायेंगी। उनमें क्या असमानतायें हैं—ये सब बातें दूसरे वर्ग में रखी जायेंगी। इस प्रकार पाठ्य-वस्तु के अनुसार वर्गीकरण या तथ्यों को किसी व्यवस्था में रखने की योजना रहती है।

(5) सृजनात्मक-शिक्षण का मूल खोज पद्धति या अन्वेषण विधि है। इसे शिक्षा शास्त्र में 'स्वयं ज्ञान विधि' (Hueristic Approach) भी कहते हैं। अध्यापक की सहायता से बालक कक्षा या प्रयोगशाला में नवीन ज्ञान की सृष्टि स्वयं करते हैं। सामाजिक विषयों के अध्ययन में भी उन्हें यह प्रतीत होता रहता है कि समस्याओं का समाधान वे स्वयं कर रहे हैं।

(6) सृजनात्मक-शिक्षण सुधारवादी होता है। इसमें छात्रों के विचारों का सुधार (Reformation of Ideas) और विचारों का पुनर्गठन (Reorganisation of Ideas) निरन्तर होता रहता है। मानव संस्कृति का विकास भी इसी पद्धति से हुआ है। और इससे वस्तुओं तथा क्रियाओं के बारे में उनके प्रत्यक्ष ज्ञान (Percepts) अधिक स्पष्ट, धनी और अर्थपूर्ण बनते जाते हैं।

4. आत्म-प्रदर्शन (Self Assertion)

आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति दैन्य (Submission) के सर्वथा विपरीत है। ज्यों ही शिशु में आत्म-चेतना उत्पन्न होती है, वह अपनी शक्तियों, योग्यताओं एवं कुशलताओं का प्रदर्शन करना आरम्भ कर देता है। दूसरों

का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए की गई चेष्टाएँ भी आत्म-प्रदर्शन के अन्तर्गत ही आती हैं। मानव-शिशु का आत्म-प्रदर्शन एक सामाजिक क्रिया है। आत्म-प्रदर्शन व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिए आवश्यक है। समाज का नेतृत्व करने वालों में स्वभावतः आत्म-प्रदर्शन की मात्रा अधिक होती है। यदि आधुनिक शिक्षा का उद्देश्य छात्रों में सामाजिक नेतृत्व के गुण उत्पन्न करना है तो यह आवश्यक हो जाता है कि इस प्रवृत्ति का समाजयोपयोग की दृष्टि से पाठशालाओं में समुचित विकास किया जाय। जनतन्त्र की सफलता भी इसी में निहित है।

यदि घर अथवा पाठशाला में बालक की इस प्रवृत्ति का उपयोग नहीं किया जाता है, तो बालक स्वयं इसका दुरुपयोग करने लगता है। इस प्रवृत्ति का अवदमन करने के परिणाम हानिकारक होते हैं। बालक अनैतिक एवं अकल्याणकारी कार्यों द्वारा दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता है। उदाहरणार्थ—उद्दण्डता द्वारा दूसरों पर अपना प्रभाव जमाने का प्रयत्न करता है। इसलिए स्कूली वातावरण में सभी छात्रों को अपनी योग्यताओं एवं कुशलताओं को प्रदर्शित करने का यथासम्भव अवसर दिया जाना चाहिए। उनके अच्छे कार्यों एवं गुणों की प्रशंसा एवं मान्यता भी होनी चाहिए। पाठ्यक्रम के अतिरिक्त खेल-कूद, व्यायाम-प्रदर्शन, प्रतियोगिताएँ नाटक, साहित्यिक रचनाएँ, समाज सेवाएँ आदि आयोजित की जानी चाहिए। इस प्रवृत्ति के अवदमन से चरित्र का पतन होता है। बच्चों में आत्मसम्मान की भावना के साथ ही चरित्र का विकास भी होता है। आत्मसम्मान का भाव उदय होने पर बालक स्वयं अच्छे कार्य करता है और बुरे कार्यों से बचता है। शिक्षक को अपने आदर्श व्यवहार से छात्रों में आत्मसम्मान को प्रेरित करना चाहिए। छात्रों को यह अनुभव कराना चाहिए कि उनसे किन कार्यों की आशा की जाती है। उनमें श्रेष्ठता और महानता की कौन-कौन सी बातों का होना आवश्यक है।

लगभग दो वर्ष के बालक में दूसरोंपर प्रभाव जमाने की प्रवृत्ति काम करने लगती है। बालक दूसरों पर प्रभाव जमाने के लिए झूठ बोलता है और गप्पें लड़ाता है। प्रदर्शन हेतु कुछ व्यक्तियों में बात को बढ़ा-चढ़ा कर कहने की बुरी आदत पड़ जाती है। अन्य बुरी आदतें, जैसे—चोरी करना, धूम्रपान करना, अशिष्ट वार्तालाप करना आदि इस प्रवृत्ति के दुरुपयोग का ही परिणाम हैं। एडलर (Adler) के अनुसार बाल्यकालीन अनुशासन सम्बन्धी समस्याओं के मूल में आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति ही होती है। मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि प्रेम और सहानुभूति के अभाव में यह प्रवृत्ति अवांछनीय कार्यों में प्रकाशित होने लगती है। किशोर बालक में आत्म समर्पण का भाव अधिक प्रबल होता है। यदि अध्यापक विद्वान्, परिश्रमी और ईमानदार है और उसका व्यवहार भी सहानुभूतिपूर्ण है तो वह किशोर बालकों का नेतृत्व सफलता से कर सकता है। विद्यालय में खेलकूद, परीक्षायें, वाद-विवाद, भाषण तथा लेखन-प्रतियोगिता, नाटक, स्काउटिंग, एन० सी० सी० आदि के कार्यक्रमों में इस प्रवृत्ति का मार्गान्तीकरण किया जाना चाहिए।

प्रवृत्तियों में काम प्रवृत्ति सबसे अधिक प्रबल होती है। फ्रॉयड तो काम प्रवृत्ति को जीवन की प्रमुख प्रेरणा मानता है। शरीरधारियों में लैंगिक कामनाएँ सन्तुष्ट करने की आवश्यकता भोजन की आवश्यकता के समान होती

5. काम प्रवृत्ति (Sex Instinct)

मनोविश्लेषणवादी फ्रॉयड ने काम के अनेक रूपों की व्याख्या की है। उसके अनुसार काम (Libido) जीवन के आरम्भ से ही विद्यमान रहता है। बालक की शारीरिक अभिवृद्धि के साथ 'काम' का विकास होता है। कामुकता का उदय प्रायः किशोरावस्था में होता है जबकि बालक-बालिकाओं में प्रजनन इन्द्रियाँ पूर्ण विकसित हो जाती हैं और वे विपरीत लिंगियों के प्रति आकर्षित होकर प्रेम समर्पण के लिए तैयार होते हैं। किन्तु फ्रॉयड ने 'काम प्रवृत्ति' के व्यापक अर्थ की व्याख्या की है। उसके अनुसार आनन्द (Pleasure) देने वाले सभी अनुभव मूलतः काम से सम्बन्धित होते हैं। शरीर में आनन्द के उद्गम क्षेत्र तीन हैं मुंह, मलद्वार एवं प्रजनन इन्द्रियाँ। शैशव-कालीन कामुकता (Infantile Sexuality) प्रौढ़कालीन कामुकता के समान प्रबल और व्यक्त नहीं होती। किन्तु शैशव से प्रौढ़ावस्था तक शारीरिक अभिवृद्धि के साथ-साथ कामुकता का आवेग प्रबल होता जाता है। फ्रॉयड के अनुसार 'काम' विकास की अवस्थायें इस प्रकार हैं—

(1) शैशवकाल—2 वर्ष की आयु तक बालक-बालिकायें मुँह से खाकर या चूसकर, त्वचा पर स्पर्श द्वारा एवं गुदा से मलत्याग कर आनन्द की अनुभूति करते हैं। प्रौढ़ावस्था में मौखिक आनन्द के परिवर्तित रूप अंगूठा या पेंसिल चूसना, चुम्बन, पान चबाना, ओठों पर जीभ फिराना, धूम्रपान करना, चटपटे व्यंजन सेवन करना आदि हैं।

(2) प्रारम्भिक बाल्यकाल—(3 से 7 वर्ष की आयु तक)—इसमें बालक बालिकायें प्रजनन इन्द्रियों से आनन्द लेने का प्रयत्न करते हैं। खेल में वे अपनी इन्द्रियों का प्रदर्शन करते हैं। स्वयं नग्न होकर या दूसरों को नग्न देखकर भी आनन्दित होते हैं।

(3) बाल्यकाल—(7 से 11 वर्ष की आयु तक)—इस काल में काम प्रसुप्तावस्था में रहता है। प्रजनन इन्द्रियों की ओर उनका ध्यान आकर्षित नहीं होता और इन इन्द्रियों का प्रहस्तन भी प्रायः नहीं होता। बालक-बालिकाओं का सम्पर्क समलिंगी (Homo Sexual) होता है।

(4) किशोरावस्था—यह काम की विषमलिंगी (Hetro-Sexual Stage) अवस्था है। इस अवस्था में काम का आवेग अत्यधिक प्रबल हो जाता है। विषम-लिंगियों में एक-दूसरे के प्रति आकर्षण एवं रुचि बढ़ जाती है। बालक-बालिकायें प्रजनन इन्द्रियों के प्रहस्तन द्वारा काम सन्तुष्टि का प्रयत्न करते हैं। नोरमैन हेअर (Normon Haire) तथा प्रो० स्टेकिल (Stekel) के अनुसार "लगभग 99% व्यक्ति 13 से 19 वर्ष की आयु में किसी न किसी प्रकार से मैथुन करके काम-सन्तुष्टि करते हैं। किन्तु यह आदतें स्थायी होने से पहले यदि विपरीत लिंगी सम्पर्क मिल जाता है तो व्यक्ति इन बुरी आदतों से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है और विपरीत लिंगी साथी के साथ स्वाभाविक रूप से काम-सन्तुष्टि करने लगता है।"

काम प्रवृत्ति और शिक्षा

वस्तुतः शिक्षा का उद्देश्य बालकों की जन्म-जात प्रेरणाओं, शक्तियों और

योग्यताओं का उपयोग करके उन्हें इस प्रकार प्रशिक्षित करना है कि उनके व्यवहार व्यक्ति और समाज के लिए कल्याणकारी हों। इसलिए काम प्रशिक्षण का उद्देश्य भी मानव मे अन्तर्निहित इस महान् शक्ति स्रोत का सही-सही उपयोग करना एवं मूल्यांकन द्वारा बालक-बालिकाओं को इस योग्य बनाना है कि वह इस शक्ति पर स्वय-नियन्त्रण कर सकें। इस शक्ति से प्रेरित व्यवहार के ज्ञान द्वारा अपना मानसिक व शारीरिक स्वास्थ्य-लाभ प्राप्त कर सकें।

किशोर बालक-बालिकाओं मे काम के आवेग से अध्यापकों एवं अभिभावकों के समक्ष कई जटिल समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है। यदि काम प्रवृत्ति का अवदमन किया जाय तो वह भी बहुत हानिकारक ही सिद्ध होता है। हमारे यहाँ बालक-बालिकाओं को समाज में स्वतन्त्रता से मिलने-जुलने की प्रथा नही है, इसलिए भारतीय बालक-बालिकाएँ 'काम चेतना' (Sex Consciousness) के दुष्परिणामों से पीड़ित रहते हैं। काम के अवदमन से मानसिक द्वन्द्व आरम्भ हो जाता है जिसके कारण व्यक्तित्व के विकास में बाधा पड़ती है। उनमें विपरीत लिंगियों के प्रति जिज्ञासा बढ़ती जाती है। अनेक बालक-बालिकाएँ समलिंगियों के सहयोग से काम-सन्तुष्टि करते हैं। शिक्षा की वर्तमान परिस्थिति मे समलिंगी प्रवृत्तियो का प्रादुर्भाव होता है। बालिकाएँ किसी अध्यापिका की ओर विशेष आकर्षित हो जाती हैं एवं पूर्ण समर्पण की भावना के साथ उस अध्यापिका से घनिष्ठ संवेगात्मक सम्बन्ध स्थापित करती हैं। किन्तु बालकों में, बड़े बालक अपने से छोटे बालको की ओर इस प्रकार के आकर्षण का अनुभव करते है और प्रेम-प्रदर्शन भी करते है। काम का प्रकाशन अवांछित ढंग से होने लगता है, जैसे विपरीत लिंगियों को चिढ़ाना या हानि पहुँचाना, दिवास्वप्न देखना, अश्लील एव अभद्र वार्तालाप में समय बिताना, अश्लील साहित्य पढ़ना, छिपकर नग्न चित्र देखना, धूम्रपान करना, चित्रपट द्वारा अत्यधिक मनोरंजन करना, कामोत्तेजक गीतों का गुनगुनाना आदि। इन सबका घातक परिणाम यह होता है कि बालक का मन पाठ्य-सामग्री मे केन्द्रित नही हो पाता। पाठशाला के कार्यक्रमों मे उसकी रुचि नही रहती, उसका मन अस्थिर रहता है, क्रोध अधिक आता है और वह नित्य के कार्यों मे भी भूल करता है। दूसरी ओर उसकी लिंग सम्बन्धी जिज्ञासा बढ़ती जाती है। दुर्भाग्य से उसे अपने साथियो से अथवा सस्ता अश्लील साहित्य पढ़ने से काम सम्बन्धी गलत सूचनाये मिलती हैं, जिससे उनमे विपरीत लिंगियो के प्रति गलत धारणाये बन जाती हैं ऐसे व्यक्ति विपरीत लिंगियो के साथ उचित समायोजन करने मे असफल रहते हैं और समाज की दृष्टि में भी एक समस्या बन जाते हैं। उन्हें शारीरिक और मानसिक रोग घेर लेते हैं।

सह-शिक्षा द्वारा काम प्रवृत्ति के अवदमन और उसके दुष्परिणामों को बहुत कम किया जा सकता है। किन्तु इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि बालक-बालिकाओं की जिज्ञासा का उचित समय पर निस्संकोच समाधान किया जाय। कभी-कभी माता-पिता बालक की लिंग सम्बन्धी चेष्टाओं या प्रश्नों को झिड़क कर दबा देते हैं। यह अमनोवैज्ञानिक एव हानिकारक है। प्रजनन प्रणाली के प्रति कौतूहल उत्पन्न होते ही उन्हे प्रजनन सम्बन्धी साधारण ज्ञान करा देना चाहिए। स्त्री-पुरुषों की शरीर रचना का ज्ञान भी कक्षा मे ही कराया जा सकता है। इसमें अध्यापक

को संकोच नहीं करना चाहिए। यह ज्ञान कराने का उत्तरदायित्व अभिभावकों एवं अध्यापकों को ही निभाना चाहिए। अध्यापक को यह उत्तरदायित्व निभाने के लिए स्वयं लिंग सम्बन्धी भावना ग्रन्थियों से मुक्त होना चाहिए। उसका दृष्टिकोण वस्तुगत, निस्संकोच और स्पष्ट होना चाहिए।

पाठशाला के कार्यक्रमों में बड़ी सुन्दरता से काम प्रवृत्ति का मार्गान्तरीकरण एवं शोधन किया जा सकता है। जीवन की अभिलाषाओं से रहित निष्क्रिय-व्यक्ति को काम अधिक सताता है। इसलिए बालक-बालिकाओं के समक्ष रुचिकर रचनात्मक कार्यक्रम होने चाहिए। पाठशालाओं में कविता, कहानी, नाटक, चित्रकला, संगीत, नृत्य आदि ललित-कलाओं के कार्यक्रमों में विद्यार्थियों को भाग लेने का अवसर मिलना चाहिए। इससे उनकी 'काम प्रवृत्ति' का स्वाभाविक रूप से मार्गान्तरीकरण होता है। हमारे यहाँ गत कुछ वर्षों से पाठशालाओं की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई है, परन्तु इनके पास यथेष्ठ क्रीड़ा-स्थल का अभाव होने से विद्यार्थियों को खेलने का अवसर ही नहीं मिलता। खेल किशोर बालकों के मनोरंजन एवं शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ के लिए सर्वोत्तम साधन है। मनोरंजन के अभाव में बालक छुपकर प्रजनन इन्द्रियों के प्रहस्तन से आनन्द प्राप्त करता है। इन लज्जाप्रद कार्यों की स्मृतियों का बोझ उसके मन पर बना रहता है। परिणामस्वरूप वे निर्भीकता और आत्म-विश्वास खोकर अनेक दुर्वृत्तियों और बुरी आदतों का शिकार बन जाते हैं।

6. पलायन (Escape)

पलायन का सहगामी संवेग भय है। बालक प्रत्येक दुःखद अनुभव से भागना चाहता है। यदि विद्यालय में उसे कटु-अनुभव होते हैं तो वह भगोड़ा बालक (Truant) बन जाता है। एक भगोड़े बालक के लिए विद्यालय और अध्यापक भय के प्रतीक होते हैं। इसलिए जहाँ तक सम्भव हो सके विद्यालय का वातावरण मनोरम और वहाँ की क्रियाएँ आनन्ददायी होनी चाहिए। कुछ माता-पिता और अध्यापक बालक को भय दिखाकर नियन्त्रण में रखना चाहते हैं, या उससे मनचाहा कार्य कराना चाहते हैं। भय की विधियाँ बालक के लिए बहुत हानिकारक होती हैं। शिशु जहाँ जीवन के लिए खतरा देखता है, उस परिस्थिति से भाग कर वह अपनी माँ के पास आता है। माँ की गोद में अथवा माँ के निकट वह अपने आप को सुरक्षित अनुभव करता है। 'भय' को दूर करना मनुष्य की जन्म-जात आवश्यकता होती है। इसीलिए समाज ने सुरक्षा प्रदान करने के लिए अनेक व्यवस्थाएँ की हैं। समाज चाहता है कि प्रत्येक नागरिक 'कानून' का उल्लंघन करने से भयभीत रहे, क्योंकि 'कानून' का आदर करने में ही सामूहिक सुरक्षा है। परिवार और विद्यालय में बुरी बातों और खतरों से पलायन और भय की प्रवृत्ति को उत्तेजित किया जाना चाहिए।

7. युयुत्सा (Pugnacity)

इसका आशय 'झगड़ालूपन' या 'आक्रामकता' से है। जब किसी शरीरधारी की स्वाभाविक आवश्यकताओं के मार्ग में बाधा पड़ती है तो वह उग्र होकर आक्रमणकारी व्यवहार अपनाता है। यदि बालक से उसका खिलौना छीना जाता है या उसका खेल बिगाड़ा जाता है तो वह आक्रमणकारी हो जाता है, जैसे—प्रायः बच्चे खाने-पीने की वस्तुओं पर झगड़ बैठते हैं, अथवा मारपीट भी करते हैं। परिवार और विद्यालय

में इस प्रवृत्ति का सदुपयोग प्रतियोगी खेलों और प्रतिस्पर्धापूर्ण कार्यों में किया जाना चाहिए। सामूहिक खेलों से बालक में *आत्म-त्याग* की भावना जागृत होती है। *मार्गान्तरीकरण एवं शोधन* द्वारा युयुत्सा की प्रवृत्ति को *अन्याय, अत्याचार* और अनैतिकता के प्रति संघर्ष में लगाया जा सकता है। इस प्रवृत्ति का निश्चित रूप से शोधन होना चाहिए, अवदमन नहीं। अवदमन से बालक भीरु बन जाता है।

छात्रों में आक्रामकता और उसके दूर करने के उपाय--कुछ बालक अधिक आक्रामक बनकर समस्यात्मक बन जाते हैं। क्या उन्हें दण्डित किया जाना चाहिए? आक्रामकता का प्रमुख कारण असन्तोष होता है। इसके अतिरिक्त अन्य कारण भी हो सकते हैं, जैसे—भय, ईर्ष्या, इच्छा के विरुद्ध कार्य होना आदि। आक्रामकता का प्रदर्शन तोड़-फोड़, मार-पीट, चीजें फेंकना, नियम या आज्ञा के विरुद्ध कार्य करना, दूसरों को सताना आदि कार्यों में होता है। दण्ड से कोई लाभ नहीं होता अतः इनके निवारणार्थ अध्यापक को निम्न लिखित उपायों का प्रयोग करना चाहिए :

(i) बालक को ऐसी अन्य प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करना जोकि आक्रामकता के विरोधी प्रभाव बालक पर डालती हैं।

(ii) बालक के जीवन में असन्तोष के क्षेत्रों का पता लगाकर यथासम्भव उन्हें दूर करना।

(iii) बालक में ऐसे संवेग उत्तेजित करना जो प्रेम, सहयोग, सहकारिता, सहानुभूति एवं दया आदि भावनाओं को विकसित करें।

(iv) छात्र को यथासम्भव आत्म-प्रकाशन का अवसर देना और उसमें आत्म-गौरव के भाव की वृद्धि करना।

(v) जिन कार्यों में वह अधिक योग्य कुशल और रुचि लेता हुआ दिखाई दे, उन कार्यों में उसे नेतृत्व का अवसर प्रदान करना।

(vi) बालक की संघर्ष-शक्तियों को खेल की ओर परिवर्तित करना।

(vii) बालक में आत्म-त्याग और निस्वार्थ-भाव जागृत करना जिससे उसके आत्म-केन्द्रित व्यवहार का शोधन हो सके।

(viii) छात्र का उत्साहवर्धन और आत्म-विश्वास बढ़ाने के लिए उसे समय-समय पर मान्यता प्रदान करना।

(ix) प्रशंसा एवं निन्दा द्वारा छात्रों के सामूहिक व्यवहार को नियन्त्रित करना।

(x) छात्र के जीवन में रचनात्मक कार्यक्रमों पर बल देना।

8. पैतृक मूल प्रवृत्ति (Parental Instinct)

इसे पुत्र-कामना प्रवृत्ति भी कहते हैं। रॉस के अनुसार यह प्रवृत्ति मानव समाज में बुद्धिमत्ता और नैतिकता की जन्मदात्री है। बाल्यकाल और किशोरावस्था में इस प्रवृत्ति का प्रकाशन प्रेम, दया और सहानुभूति की अभिव्यक्ति के साथ ही होता है। बड़े बच्चे छोटे बच्चों के प्रति स्नेहपूर्ण व्यवहार करते हैं। जिस प्रकार अपने से बड़ों का स्नेह प्राप्त करना बालक की मानसिक आवश्यकता है उसी प्रकार अपने से छोटों के प्रति प्रेम और सहानुभूति

व्यक्त करना भी उसकी मानसिक आवश्यकता रहती है। इस प्रवृत्ति का सहगामी संवेग 'वात्सल्य' या 'स्नेह रस' है। बिल्ली, गाय, कुत्ता आदि पशुओं के छोटे बच्चों को प्यार करने, उन्हें भोजन कराने और गोद में उठाने में उसे असीम आनन्द की प्राप्ति होती है। लड़कियाँ गुड़ियों से खेलती हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि सन्तानोत्पत्ति से बहुत पहले इस प्रवृत्ति का प्रकाशन होने लगता है। इस प्रवृत्ति का सदुपयोग जीव-जन्तुओं के प्रति दया-भाव उत्पन्न करने के लिए होना चाहिए। विद्यालय में, खेल के मैदान में और प्रयोगशाला में अपने से छोटे बच्चों के प्रति स्नेह और सहानुभूति दिखाने के लिए उन्हें प्रेरित किया जाना चाहिए जिससे कि विद्यालय में भी छात्रों के आपसी सम्बन्ध स्वस्थ और कल्याणकारी हो सकें। यह प्रवृत्ति पारिवारिक जीवन का आधार रहती है। कक्षा अथवा विद्यालय भी एक प्रकार से परिवार ही है। बालक में छोटे परिवारों से बड़े परिवारों (समाज) की अनुभूति उत्पन्न होनी चाहिए।

9. भोजनान्वेषण (Food Seeking)

भोजन प्राप्त करना सभी शरीरधारियों की आजीवन आवश्यकता है। जब बालक का विद्यालय जाने का मन नहीं होता तो माता-पिता प्रायः उसे किसी खाने की वस्तु का लालच देकर स्कूल भेज देते हैं। मध्यान्तर (जो खाने का समय होता है) की बच्चे उत्सुकता से प्रतीक्षा करते हैं। मध्यान्तर की घन्टी बजते ही वे घर से दिये गये पैसों का उपयोग करते हैं। छोटे बच्चों को किसी भी कार्य के प्रति उत्साहित करने के लिये मन-पसन्द खाने की वस्तु का आश्वासन मिलना ही पर्याप्त होता है। शिक्षा और खेल में यह प्रेरणा बहुत प्रभावशाली सिद्ध होती है। परन्तु यह तो इस प्रवृत्ति का बहुत ही सीमित उपयोग है। प्रत्येक अध्यापक को भोजनान्वेषण की प्रवृत्ति को आजीविका के कमाने से सम्बन्धित करना चाहिए। शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य बालक को इस योग्य बनाना है कि वह अपनी आजीविका स्वयं कमा सके और गौरवपूर्ण ढंग से जीवन व्यतीत कर सके। इसके लिए आत्म-गौरव की प्रवृत्ति को भोजनान्वेषण से सम्बन्धित करना चाहिए। इस प्रकार जिस बालक को अपना भविष्य उज्ज्वल बनाने की चिन्ता लग जाती है वह पढ़ने-लिखने में अच्छी प्रकार से मन लगाकर परिश्रम करता है।

10. संचय प्रवृत्ति (Acquisitiveness)

यह प्रवृत्ति भी छात्रों में बाल्यकाल से ही उदित हो जाती है। बालक अपने थैलों में या जेबों में काँच की गोलियाँ, दियासलाई या सिगरेट के खाली डिब्बे, अनेक प्रकार के पत्थर या काँच के टुकड़े या मशीनों के पुर्जे एकत्र करते रहते हैं। यह उनकी एक अनोखी सम्पत्ति होती है जिसके लिए वे आपस में झगड़ते भी हैं। माता-पिता और अध्यापक इस संचय प्रवृत्ति में मार्गान्तरीकरण द्वारा परिवर्तन करके उनमें डाक टिकट, चित्र, मानचित्र एवं पुराने सिक्के आदि एकत्रित करने की रुचि जाग्रत कर सकते हैं। पाठशाला में भी विभिन्न विषयों के संग्रहालय होने चाहिए जिनमें उस विषय से सम्बन्धित उपयोगी सामग्री एकत्रित रहे। जो बालक धनी परिवारों से आते हैं वे अपना निजी पुस्तकालय या संग्रहालय बना सकते हैं।

यह प्रवृत्ति केवल मनुष्य को ही प्राप्त है। जीवन में इस प्रवृत्ति का प्रकाशन आमोद-प्रमोद और मनोरंजन के कार्यों में होता है। हँसना स्वास्थ्य के लिए भी बहुत लाभदायक है। बच्चे जोकि प्रौढ़ों की अपेक्षा कम गम्भीर होते हैं, छोटी-छोटी बातों पर हँसते हैं। चतुर शिक्षक कक्षा में बालकों को हँसाता रहता है। इसका बालकों पर विशेष प्रभाव होता है और बच्चे उस शिक्षक से शीघ्र ही प्रभावित होते हैं। हँसी के वातावरण में बच्चों से कठिन से कठिन कार्य करवाया जा सकता है और वे थकान भी महसूस नहीं करते। लेकिन कक्षा का मनोरंजन करने के लिए किसी बालक पर व्यंग नहीं करना चाहिए। किसी की भावनाओं को ठेस पहुँचाकर मनोरंजन नहीं होना चाहिए।

11. हास (Laughter)

इस प्रवृत्ति से सम्बन्धित संवेग 'घृणा' है। भोजन के समय मुँह में कोई कंकड़ या बाल आते ही हम तुरन्त भोजन को उगल देते हैं। इसी प्रकार बालक भी किसी अरुचिकर वस्तु को नहीं निगल सकते। भोजन के अतिरिक्त व्यवहार और बातचीत में जो भी बात, वस्तु अथवा व्यक्ति घृणास्पद होती है उससे हमारा मन तुरन्त हट जाता है अर्थात हम उस स्थिति से तुरन्त दूर हो जाते हैं। कोई भी गन्दा या घिनौना व्यक्ति हमारे मन मे घृणा का भाव जाग्रत कर देता है। अतएव बालकों को प्रारम्भ से ही यह बताना चाहिए कि जीवन में कौन सी बातें घृणास्पद हैं।

12. निवृत्ति (Repulsion)

गौतम बुद्ध को हिंसा से घृणा हो गई थी, इसी प्रकार महात्मा गाँधी को भी असत्य से घृणा थी। ईसा मसीह को निर्दयता या क्रूरता से घृणा थी। इस प्रकार इस प्रकृति के शोधन से व्यक्ति और समाज का बड़ा कल्याण हो सकता है।

यह युयुत्सा की सहगामी प्रवृत्ति है। मनुष्य जिन परिस्थितियों के साथ युद्ध (संघर्ष) करने मे असफल रहता है, उनमें वह 'शरणागति' द्वारा काम निकालता है। असफल होता हुआ व्यक्ति सफलता तक पहुँचने के लिए शरणागति प्रवृत्ति को भी अपनाता है। पानीपत के मैदान में पराजय को सामने खड़ा देख कर बाबर ने भी इसी प्रवृत्ति का सहारा लिया था और विजय प्राप्ति के लिए उसने अपने सैनिकों को सम्बोधित किया और ललकारा था। लेकिन इस प्रकार शरणागति से सबको सफलता नही मिलती। सफलता इस बात पर ही निर्भर करती है कि पुकारने और ललकारने की शैली कहाँ तक परिस्थितियों के अनुकूल थी। इस प्रवृति का सहगामी भाव करुणा या दुःख है। करुणा-भाव की प्रेरणा किसी उच्च उद्देश्य या महान आदर्श की पूर्ति के लिए की जानी चाहिए। बाढ़-पीड़ितों के लिए भोजन, वस्त्र, धन और दवाएँ एकत्रित करना भीख माँगना नही है। अध्यापक और छात्रों को इस कार्य मे तो आत्माभिमान की अनुभूति होनी चाहिए। विद्यार्थियों को आर्मी-डे या अध्यापक दिवस पर चन्दा एकत्रित करने का कार्य सौंपने से पहले उनमें पर्याप्त आत्माभिमान तथा आत्म-त्याग की भावना जाग्रत कर देनी चाहिए अन्यथा यह कार्य उनके लिए एक बेगार अथवा बोझ मात्र होगा।

13. शरणागति (Appeal)

दैन्य से सम्बन्ध संवेग 'आत्महीनता' है। मैकडुगल ने इस प्रवृत्ति के शुद्ध रूप में कुत्ते के व्यवहार का उदाहरण प्रस्तुत किया है। स्वामी को देखते ही कुत्ता उसके पैर चाटने लगता है। अपने से अधिक शक्तिशाली और बड़े कुत्ते को देखकर भी वह ऐसा ही व्यवहार करता है। बालक में यह प्रवृत्ति अपने से बड़ों की उपस्थिति में (जैसे—माता-पिता, गुरुजन, अधिकारी आदि) कार्य करने लगती है। वह अपने बड़ों की उपस्थिति में अधिक विनम्र, सहयोगी और आज्ञाकारी दिखाई देता है। हम जिस व्यक्ति के व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित होते हैं (उसकी विद्वता या किसी अन्य गुण से प्रभावित होकर), उसके सामने जाते ही हमारे मन में समर्पण का भाव जाग्रत हो जाता है। सामूहिक जीवन के लिए इस भाव का जाग्रत होना नितान्त आवश्यक है। कक्षा में प्रवेश करते ही अध्यापक के व्यक्तित्व का यह जादू काम करता है, छात्र अनुशासित रूप से संभल कर बैठ जाते हैं। किसी समूह में उस समूह के मान्य नेता के उपस्थित होते ही अनुशासन स्थापित हो जाता है। यदि ऐसा न होता तो सामूहिक जीवन बहुत कठिन हो जाता और समाज में कोई व्यवस्था स्थापित नहीं होती। इसीलिए प्रत्येक समाज में बच्चों को बड़ों का आदर करना सिखाया जाता है। व्यवस्थित समाज में रहकर ही बच्चे अधिक से अधिक सीखते हैं। प्रेम और सहानुभूति के अभाव में बालक की दैन्य-भावना संघर्ष में बदल सकती है। जिन बच्चों को अधिक डाट-डपट सुननी पड़ती है वे अपना आत्म-सम्मान खो देते हैं और उनमें मानसिक दासता आ जाती है। इस प्रकार की मनोदशा वाला बालक अपने आपको किसी काम के लिए योग्य नहीं समझता। वह आत्मविश्वास खो देता है और समाज में कभी प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सकता, इसीलिए "दैन्य" को आवश्यकता से अधिक प्रेरित नहीं करना चाहिए। इसकी विरोधी या विपरीत प्रवृत्ति आत्म-गौरव अथवा आत्म-प्रदर्शन है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। सामूहिक जीवन में जो व्यक्ति नेता का स्थान लेते हैं उनमें आत्म-प्रदर्शन अधिक प्रबल होता है और जो व्यक्ति नेता के प्रबल समर्थक या अनुयायी होते हैं उनमें 'दैन्य' विशेष रूप से कार्य करता है। कक्षा में अध्यापक की स्थिति नेता की स्थिति के समान होती है।

14. दैन्य (Submission)

कुछ विशेष मूल प्रवृत्तियाँ और उनका शिक्षा में उपयोग

मूल प्रवृत्तियाँ शिक्षक के लिये पूंजी के समान हैं। वे ऐसी आधार शिला हैं जिन पर उनके भावी जीवन का महल खड़ा होगा। अतः इनके उदय के समय उनकी प्रकृति और उपयोगिता के बारे में स्पष्ट रूप से जानकर शिक्षक अपनी शिक्षा-व्यवस्था को सुचारु रूप से आयोजित करने में सफल होगा और सरलतापूर्वक बालक का सर्वांगीण विकास कर सकेगा। नीचे कुछ महत्वपूर्ण मूल प्रवृत्तियों की चर्चा की जाती है—

(1) **संग्रह की प्रवृत्ति**—संग्रह की मूल प्रवृत्ति का उदय लगभग 3 वर्ष की अवस्था में होता है। इस आयु में बालकों के थैले को देखें तो उसमें केवल पत्थर, लकड़ी के टुकड़े और न जाने क्या-क्या भरे होते हैं। वे आलमारियों तथा घर के कोनों को इन्हीं चीजों से भरते रहते हैं। इस प्रवृत्ति को मार्गान्तरीकरण द्वारा सन्तुष्ट करके शिक्षा के लिये बहुत ही उपयोगी बना सकते हैं। इन छात्रों से चित्रों

के एलबम, विभिन्न प्रकार की पत्तियाँ, जड़ें, फल-फूल, महापुरुषों के आदर्श वाक्य आदि का संग्रह करवाकर शिक्षण को सजीव बनाने में उनका उपयोग कर सकते हैं। विद्यालय का विचित्रालय एवं संग्रहालय सजा सकते हैं।

(2) पलायन—बच्चे कठिन परिस्थितियों और कार्यों से दूर न भागना चाहें अपितु वे बुराई, गन्दगी, अहंकार, घृणा-द्वेष एवं धोखा आदि से दूर भागें, ऐसे मार्ग पर उन्हें मोड़ा जा सकता है।

(3) युयुत्सा—बच्चे स्वभावतः आपस में छोटी-छोटी बातों के लिये लड़ते-झगड़ते रहते हैं। परिशोधन द्वारा उस प्रवृत्ति का उपयोग बुराइयों, अन्धविश्वासों, अत्याचार, देश-द्रोह तथा सामाजिक कुरीतियों से लड़ने में करके बच्चों का समुचित विकास तथा समाज का कल्याण कर सकते हैं। इसके लिये उचित अवसर देखकर उनके संवेगों को उभाड़ना होगा तथा प्रतियोगिताओं और सामाजिक सप्ताह आदि का आयोजन करके अनुकूल परिस्थिति का निर्माण करना होगा।

(4) सामूहिकता—सामूहिकता की प्रवृत्ति का सदुपयोग करके छात्रों में उचित सामाजिक-जीवन तथा सामाजिक-सहनशीलता का विकास कर सकते हैं जिससे कुशल नागरिक उत्पन्न हो सकें।

(5) काम की मूल प्रवृत्ति—किशोरावस्था मे इस प्रवृत्ति का उदय बच्चे में एक नया परिवर्तन उत्पन्न कर देता है। इस समय अनेक बुराइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो छात्र के शारीरिक, मानसिक और सामाजिक जीवन को नष्ट करने वाली होती हैं। अतः इसका मार्गान्तरीकरण अथवा परिशोधन करना आवश्यक है। इसके लिये छात्रों की प्रवृत्ति को कला-प्रेम, साहित्य-प्रेम, उद्यान-प्रेम आदि की ओर परिवर्तित किया जा सकता है। विभिन्न प्रकार के खेल, प्रतियोगिताएँ, सरस्वती-यात्राएँ, स्काउटिंग, उत्सवों का आयोजन, कविता तथा कहानियों की रचना, चित्र प्रतियोगिताएँ, अच्छे साहित्य के अध्ययन की व्यवस्था तथा लिंग-शिक्षा और नैतिक शिक्षा आदि की समुचित व्यवस्था करना अत्यन्त आवश्यक है।

(6) रचनात्मकता—रचनात्मकता की मूलप्रवृत्ति का उदय होने पर बालक हर समय किसी न किसी वस्तु के बनाने-बिगाड़ने मे लगे रहते हैं। मिट्टी-पत्थर आदि उनकी सामग्री होती है। इस प्रवृत्ति की सन्तुष्टि के लिये बच्चों को करके सीखने का अवसर देना आवश्यक है। वे चार्ट, नक्शे तथा मॉडल आदि बनाने के लिये प्रोत्साहित किये जायें। बच्चों को अपनी रुचि के अनुसार क्रिया के लिये प्रोत्साहित किया जाय और उसकी व्यवस्था भी की जाय। उन्हें स्वयं कार्य करने के लिये स्वतन्त्रता दी जाय जिससे मौलिकता प्रकट हो सके। गलतियों पर उन्हें डाँट-फटकार या निराश न करके उचित निर्देशन एवं प्रोत्साहन दिया जाय।

(7) जिज्ञासा—बच्चे स्वभाव से जिज्ञासु होते हैं। सारा संसार उनके लिये नवीन है। वे उससे परिचय प्राप्त करना चाहते हैं। अनेक प्रश्न करते हैं। वस्तुओं को तोड़ते-फोड़ते हैं। यदि उनके प्रश्नों का ठीक उत्तर न दिया जाय और उनकी जिज्ञासा का दमन कर दिया जाय तो वे इस महत्वपूर्ण प्रवृत्ति के सदुपयोग से वंचित रह जायेंगे। अतः इनका उपयोग करने के लिये पाठ को रुचिकर बनाया जाय। उचित वातावरण का निर्माण करके शिक्षण में उत्सुकता एवं नवीनता बनाये रखें। छात्रों

के सम्मुख समस्यापूर्ण परिस्थितियाँ रख कर उन्हें सोचने का अवसर दें। व्याख्यान-विधि द्वारा शिक्षण से वचें, शिक्षण छात्र की आवश्यकता को सन्तुष्ट करने वाला हो। ह्यूरिस्टिक विधि, प्रोजेक्ट-विधि तथा समस्यापूर्ति विधि द्वारा शिक्षण हो। इस प्रकार शिक्षण में छात्रों की उत्सुकता को जगाने, उसे बनाये रखने तथा उससे लाभ उठाने का प्रयास हो सकता है।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. एक शिक्षक के दृष्टिकोण से जिज्ञासा प्रवृत्ति की क्या उपयोगिता है? उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिये।
2. विधायकता की प्रवृत्ति के क्या लक्षण हैं? इनका रचनात्मक शिक्षण में क्या उपयोग हो सकता है?

9

संवेग और स्थायी भाव
(EMOTIONS AND SENTIMENTS)

संवेग और मूल प्रवृत्ति

संवेगों की चर्चा मूल प्रवृत्तियो के सन्दर्भ मे पिछले दो अध्यायों मे की जा चुकी है। मैक्डुगल के अनुसार "संवेग प्रवृत्यात्मक व्यवहार का आवश्यक अंग हैं।" लेकिन बहुत से विद्वान मैक्डुगल की इस धारणा से सहमत नहीं हुए। संवेग का वास्तविक स्वरूप जानने के लिए मनुष्य ओर पशुओं पर भी अनेक परीक्षण किये गए, जिनके आधार पर संवेगों के सम्बन्ध में नवीन, विस्तृत और उपयोगी जानकारियाँ प्राप्त हुई हैं। अतः इस अध्याय मे संवेग तथा संवेगों से सम्बन्धित स्थायी भावों पर पृथक विचार किया जायेगा।

शाब्दिक अर्थ

अंग्रेज़ी का इमोशन (Emotion) शब्द लैटिन भाषा के इमोवर (Emovere) से बना है जिसका अर्थ है—आन्दोलित करना, हिला देना या उत्तेजित होना। लगभग इसी अभिप्राय से वुडवर्थ ने संवेग की परिभाषा इस प्रकार की है—"संवेग व्यक्ति की उत्तेजित दशा है।"[1]

यह स्वाभाविक ही है कि संवेग की स्थिति मे मनुष्य एवं अन्य प्राणी बेचैनी का अनुभव करता है। उदाहरणार्थ—'भय' की दशा में घबराहट होती है और बुद्धि भी काम नही करती। हृदय की धड़कन जोर से होने लगती है, हाथ-पैर कांपने लगते हैं और व्यक्ति भय की वस्तु से दूर हटने का प्रयत्न करता है। चेहरा उदास हो जाता है। छोटे बच्चे और स्त्रियाँ तो रोने भी लगते हैं। वुडवर्थ ने संवेग के समय मे आन्तरिक अनुभूति और व्यवहार की बाहरी चेष्टाओं को अन्यत्र इस प्रकार व्यक्त किया है—संवेग प्राणी एव व्यक्ति की उत्तेजित दशा है। यह अनुभूति की उत्तेजित दशा है। इसी रूप मे यह व्यक्ति को स्वयं दिखाई पड़ती है। यह एक उत्तेजित मांसपेशीगत तथा ग्रन्थि सम्बन्धी क्रिया है अतएव यह इसी रूप मे बाह्य दर्शक को दिखाई पड़ती है।[2]

---

1 Emotion is a moved or Stirred-up State of the individual —Woodwirth

2 Emotion is a 'moved' or 'Stirred up' State of the organism. It is a Stirred up State of feeling. That is the way it appears to the individual himself. It is a disturbed muscular and glandular activity. That is the way it appears to an external observer. —Woodwirth

अन्य मनोवैज्ञानिक भी संवेग की परिभाषा करते समय शारीरिक (वाहरी) और मानसिक (आन्तरिक) लक्षणों का उल्लेख करते हैं, जिनमें से कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

1. जेम्स ड्रेवर के अनुसार—"संवेग शरीरधारी की एक जटिल दशा जिसमें शारीरिक परिवर्तन, उत्तेजना की दशा के साथ प्रवल भावना और ए निश्चित प्रकार का व्यवहार करने का आवेग रहता है।"[1]

2. किवल यंग के अनुसार—"संवेग, किसी शरीरधारी की उत्तेजि मनोवैज्ञानिक और शारीरिक दशा है, जिसमें वढ़ी हुई शारीरिक क्रियाओं के स प्रवल भावनाएँ, किसी निश्चित लक्ष्य (वस्तु) की ओर निर्देशित होती हैं।"[2]

संवेग का संकीर्ण और व्यापक अर्थ
(Broad and Narrow Meanings of Emotion)

रॉस के अनुसार—संकीर्ण अर्थ में संवेग से हमारा अभिप्राय केवल आन्तरिक अनुभूति (सुखद या दुखद) से होता है। इस अनुभूति को हम अन्तःप्रेक्षण द्वारा जान सकते हैं जो हमारे अनुभवों को रागात्मक वना देती है।"[3]

व्यापक अर्थ में संवेग से हमारा अभिप्राय संवेग की अनुभूति और प्रकाशन से सम्वन्धित सभी आन्तरिक और वाहरी शारीरिक परिवर्तनों से रहता है, जिनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

इन परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि संवेग की दो दशायें होती हैं—

संवेग की दशाएँ
(Conditions of Emotions)

आन्तरिक तथा वाह्य, जिनमें होने वाले शारीरिक परिवर्तन इस प्रकार हैं :—

1. वाह्य शारीरिक परिवर्तन—चेहरे की मुद्रा में परिवर्तन, स्वर में परिवर्तन तथा शरीर के आसनों में परिवर्तन आदि। इसके साथ ही कुछ विशिष्ट शारीरिक क्रियायें भी होती हैं—जैसे, आंखों का लाल होना, शरीर का रोमांचित हो जाना, दांत पीसना, मुट्ठी वँधना और हाथ-पैर फैंकना आदि।

2. आन्तरिक शारीरिक परिवर्तन—श्वास का हल्का-भारी होना, नाड़ी की गति अति मन्द, अथवा तीव्र होना, हृदय-गति में भी परिवर्तन के साथ ही रक्त-चाप में भी अन्तर, रक्त में आन्तरिक रसों का सम्मिश्रण तथा पाचन-क्रिया का मन्द होना आदि। क्रोध और भय में भी हृदय-गति वढ़ जाती है। आपत्ति-काल में गुर्दे के पास स्थित एक ग्रन्थि से ऐड्रनेलीन (एक प्रकार का रस) का प्रवाह होकर रक्त में मिल जाता है जिससे हमारा शरीर आपत्ति का सामना करने के लिये विशेष रूप से तैयार हो जाता है। दुःख के समय शरीर शक्तिहीन और शिथिल हो जाता है।

---

1 "Emotion is a complex State of the organism, involving bodily changes a State of excitement marked by Strong feeling, and an impulse towards a definite form of behaviour." James Drever : *A Dictionary of Psychology* p. 82.

2 "Emotion is the aroused Psychological State of the organism, marked by increased bodily activity and strong feelings directed to some definite object." —Kimball Young : *Hand book of Social Psychology* p. 560.

3 "Merely the feeling tone of a particular quality, the affective colouring of experience that we find by introspection." —Ross.

जब एक ग्रन्थि तीव्रता से कार्य करती है तो अन्य ग्रन्थियों द्वारा रस उत्पन्न करने का कार्य रुक जाता है, जैसे क्रोध या भय में मुख की ग्रन्थियाँ कार्य करना बन्द कर देती हैं, जिससे मुख सूख जाता है और प्यास लगती है। कण्ठ में स्थित 'थायरॉयड' नामक ग्रन्थियाँ 'थायरोक्सिन रस' बनाना बन्द कर देती हैं जिससे पाचन क्रिया मन्द हो जाती है। यही कारण है कि भोजन के समय भय या क्रोध नहीं करना चाहिये। इसके विपरीत मनोरंजन एवं हँसी-विनोद से पाचन-क्रिया की वृद्धि होती है।

जेम्स लँग का संवेग सम्बन्धी सिद्धान्त (James-Lange Theory of Emotion)

कुछ मनोवैज्ञानिकों ने संवेग की उत्पत्ति का कारण केवल शारीरिक क्रिया या शारीरिक परिवर्तनों को माना है। जेम्स लँग का कथन था कि हम डर कर नहीं भागते अपितु भागते हैं, इसलिये डरते हैं, इसी प्रकार हम क्रोधित हो कर किसी को नहीं पीटते बल्कि पीटते हैं इसलिये क्रोध आता है। उनके अनुसार शारीरिक क्रिया या परिवर्तन की अनुभूति ही संवेग है।

लेकिन जेम्स-लँग का यह सिद्धान्त भ्रामक है। इसे अब स्वीकार नहीं किया जाता। लेकिन संवेग के समय शारीरिक परिवर्तनों की ओर ध्यान आकर्षित करने का श्रेय जेम्स-लँग को ही है। इस सिद्धान्त का दोष यह है कि इसमें संवेग को संवेदनाओं का पुंज (Cluster of Sensations) माना गया है। इस सिद्धान्त में बाह्य शारीरिक चेष्टाओं को प्रधानता दी गई है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि आन्तरिक संवेग और बाह्य चेष्टाओं में सम्बन्ध अवश्य हो रहे। उदाहरणार्थ—एक अभिनेता बाह्य शारीरिक चेष्टाओं से दर्शकों के मन में संवेग उत्पन्न करने में सफल हो जाता है, लेकिन स्वयं अपने मन को संवेग की अनुभूति से मुक्त रखता है। जेम्स के सिद्धान्त की त्रुटि दिखाने के लिये शेरिंगटन (Sherington) ने कुत्ते पर प्रयोग किये। उसने कुत्ते की उन ग्रन्थियों को निकाल दिया जो संवेदना के ज्ञान का अनुभव कुत्ते को करा सकती थीं। लेकिन जब कुत्ते के सामने भोजन लाया गया या उसके सामने से हटाया गया तो वह पहले की भाँति भय, क्रोध, प्रसन्नता आदि का प्रकाशन करता रहा। बिल्ली पर भी यही प्रयोग दोहराया गया और यह निष्कर्ष निकला कि पशु के संवेग और संवेदना में कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता।

संवेग की विशेषताएँ
(Characteristics of Emotion)

1. संवेग की वैयक्तिकता—स्टाउट के अनुसार "प्रत्येक संवेग की अपनी विशिष्टता और विचित्रता होती है।"[1] यह व्यक्ति का व्यक्तिगत अनुभव होता है। स्वादिष्ट भोजन और मिष्ठान को देख कर बालक के मुँह में लार आ जाती है। किन्तु अन्य व्यक्ति जो पेट का रोगी है, इसे देख कर उदासीन हो जाता है। संवेग का प्रकाशन भी व्यक्ति की स्वयं की अनुभूति होती है जोकि उसकी विशिष्ट मनोदशा पर निर्भर करती है। कुछ लोग गम्भीर दुःख में भी शान्त दिखाई देते हैं और कुछ लोग

1 "Each specific Kind of emotion has something in it peculiar and undefinable."
—Stout

साधारण दुःख में भी ऐसा व्यवहार करते हैं कि मानों दुःख से उनका हृदय फट रहा है।

2. **संवेग की तीव्रता (Intensity) में अन्तर**—संवेग की तीव्रता ही व्यक्ति को आन्दोलित कर देती है। परन्तु तीव्रता की मात्रा में अन्तर होता है। एक ही वस्तु या घटना एक व्यक्ति को अधिक आन्दोलित करती है और दूसरे को कम। तीव्रता में लिंग भेद के अनुसार भी अन्तर होता है।

3. **संवेग की व्यापकता (Universality)**—संवेग सभी प्राणियों में देखा जा सकता है, जैसे—वात्सल्य भाव (सन्तान प्रेम और रक्षा) बिल्ली, बन्दर तथा मनुष्य आदि सभी प्राणियों में पाया जाता है।

4. **प्रत्येक संवेग में अनुभूति (Feeling)**—एक महत्वपूर्ण अंग होता है। वैसे संवेगात्मक व्यवहार को तीन अंगों में बाँटा जा सकता है—

(क) भावात्मक अंग (Feeling)।

(ख) शारीरिक ग्रन्थियों और अवयवों में परिवर्तन (Physiological Changes)।

(ग) संवेगात्मक आवेग (Emotional Impulse)।

भाव, संवेग का हृदय होता है। प्रत्येक अनुभव का प्रारम्भिक भाव, सुखद या दुखद होता है। भाव, शुद्ध मानसिक अनुभव होता है जो संवेग के कारण उत्पन्न होता है। संवेग के क्रियात्मक अंग की चर्चा मूल प्रवृत्ति के अन्तर्गत की जा चुकी है। जैसे—क्रोध के साथ लड़ने का आवेग निहित रहता है।

5. **संवेग में सम्बन्ध या अनुबन्ध (Bond or Relationship)**—संवेग में सम्बन्ध या अनुबन्ध की स्थापना होती है। हमारी संवेगात्मक अनुभूति किसी वस्तु, व्यक्ति या विचार के प्रति होती है और उस वस्तु, व्यक्ति या विचार के प्रति हमारा संवेगात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। जैसे—माता का पुत्र के साथ, बालक का खिलौने के साथ और खिलाड़ी का खेल के साथ आदि।

6. **संवेग का स्थानांतरण (Transferance)**—होता है। संवेग किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति होता है। जैसे—माँ का प्रेम अपनी पुत्री के प्रति होता है परन्तु पुत्री से यह प्रेम स्थानान्तरित हो कर पुत्री की सहेलियों के प्रति भी हो सकता है। इसी प्रकार क्रोध का संवेग भी एक व्यक्ति या परिस्थिति से दूसरे व्यक्ति या परिस्थिति तक स्थानान्तरित हो जाता है। जब एक अधिकारी घर से ही क्रुद्ध हो कर आता है तो कार्यालय में आकर वह अपने अनुचरों पर भी क्रोधित हो जाता है।

7. **संवेग से संवेगात्मक मनोदशा (Emotional Mood) का निर्माण** होता है। घर का मुखिया यदि नौकर पर क्रोध करता है तो गृहस्वामिनी और बच्चे भी क्रोध का प्रदर्शन करते हैं। जब दो व्यक्ति या दल आपस में झगड़ते हैं तो क्रोध का वातावरण उत्पन्न हो जाता है और सभी सम्बन्धित व्यक्तियों की मनोदशा क्रोधपूर्ण बन जाती है।

8. **संवेग के समय विचार शक्ति (Thinking Power) का लोप** हो जाता है। यही कारण है कि क्रोध में व्यक्ति को उचित-अनुचित का ध्यान नहीं रहता और

वह दूसरे व्यक्ति की हत्या तक कर देता है। विचार संवेग का शत्रु है। विचारवान् व्यक्ति भावावेश मे आकर कोई ऐसा कार्य नही करता।

9. प्रत्येक संवेग के पीछे एक मूल प्रवृत्ति (Instinct) कार्य करती है। पिछले अध्यायों मे इस पर सविस्तार विचार किया जा चुका है।

10. संवेग कुछ करने की प्रेरणा (Tendency to Act) देता है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, सवेग का तीसरा अंग सवेगात्मक आवेग होता है। जैसे—क्रोध के साथ मारने-पीटने और झगड़ने का आवेग। भय के साथ भागने, बच निकलने या सुरक्षा का प्रबन्ध करने का आवेग।

11. संवेग व्यवहार में परिवर्तन (Changes in Behaviour) लाता है। सवेग के वशीभूत व्यक्ति का व्यवहार बिल्कुल बदल जाता है। भाई, भाई का दुश्मन हो जाता है। ईर्ष्या या द्वेष के कारण घनिष्ठ मित्रो का व्यवहार भी बिल्कुल बदल जाता है।

12. संवेग व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। (Influences on Personality)—संवेग के कारण होने वाले आन्तरिक और बाहरी शारीरिक परिवर्तन व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यवहार पर अपनी छाप छोड़ते हैं। सवेग की अनुभूति इतनी प्रबल होती है कि सम्पूर्ण व्यक्तित्व को झकझोर देती है। संवेग के दबाये जाने से व्यक्तित्व का ह्रास होता है।

संवेग का शैक्षिक महत्त्व
(Educational Importance of Emotions)

मनोवैज्ञानिक सवेग को शक्ति का श्रोत और क्रियाशीलता का निर्झर मानते हैं। इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि इस स्वाभाविक शक्ति का प्रयोग बालक के शैक्षिक विकास के लिये किया जाए। रॉस के शब्दों में "सामान्य ज्ञान यह बताता है कि मानव तथा उच्च स्तरीय जानवरों मे प्रेरणाएँ ही सवेग हैं।"[1] संक्षेप में संवेगो की शैक्षिक उपयोगिता इस प्रकार है—

(1) बालकों को सवेगो पर नियन्त्रण की शिक्षा देकर उन्हें शिष्ट और सभ्य बनाना। बालक के सामाजिक विकास में संवेग प्रशिक्षण का विशेष महत्व है। अधिकांश सवेगों का प्रकाशन सामाजिक परिस्थितियों मे ही होता है।

(2) सवेगों को आवश्यकतानुसार जाग्रत करते हुए पाठ मे छात्रों की रुचि की वृद्धि करना और ध्यान एकाग्र कराना।

(3) छात्रों के सवेगात्मक विकास मे सहायता करना।

(4) छात्रों में चारित्रिक विकास करना।

(5) छात्रो के हानिकारक सवेगों का मार्गान्तिरीकरण करके उन्हे मानसिक स्वास्थ्य लाभ कराना। टामसन के अनुसार "सवेग के तर्कहीन होने के कारण ही उनका मार्गान्तिरीकरण करना कठिन कार्य है।"[2]

---

1 "Common Sense, then, says that motives, in men and higher animals are emotions" —Ross

2 "Emotional behaviour is often irrational and as a result more difficult to redirect."—Tompson ; *Page—275*

(6) छात्रों के संवेगों को प्रोत्साहित करके उन्हें शैक्षिक कार्यों तथा अन्य रचनात्मक कार्यों में लगाना।

(7) छात्रों को संवेगों के प्रकाशन की उचित ढंग की शिक्षा देकर उनके व्यवहार को सुसंस्कृत बनाना। जीवन में सफलता के लिये विभिन्न संवेगों में सामंजस्य की आवश्यकता रहती है।

(8) छात्रों में कला, संगीत, साहित्य आदि के प्रति रुचि उत्पन्न करना। विद्यालय के सभी विषयों की शिक्षा में संवेग का अपना स्थान है। कला, साहित्य और संगीत तो संवेग-प्रधान विषय ही हैं।

(9) छात्रों के संवेगों को परिष्कृत करके उनके व्यवहार का समाजीकरण (Socialization) करना। भय दिखाने या उन पर क्रोध करने से लाभदायक परिणाम नहीं होते।

(10) संवेगात्मक अनुबन्धों (Bonds) की सहायता से छात्रों में महान् आदर्शों तथा उच्च विचारों की स्थापना करना।

स्थायी भाव : अर्थ व परिभाषा (Sentiments : Meaning and Definition)

शैन्ड (Shand) के अनुसार—"स्थायी भाव किसी वस्तु पर केन्द्रित संवेगात्मक प्रवृत्तियों की एक संगठित व्यवस्था है।" मैक्डुगल स्थायी भाव को किसी वस्तु के अनुभव तथा ज्ञान से उत्पन्न एक चिरस्थायी कृतिमूलक मनोवृत्ति मानता है। अतः स्पष्ट है कि स्थायी भाव एक मानसिक संगठन है। जिसका आधार संवेगात्मक अनुभूतियाँ होती हैं। संवेग अस्थिर या क्षणिक होता है जबकि स्थायी भाव हमारे मानसिक जीवन का स्थायी अंग होता है। उमंग (Mood) भी संवेगजनित एक मानसिक प्रवृत्ति होती है जिसका प्रभाव अधिक समय तक नहीं रहता। उमंग को हम संवेग का प्रभाव या छाप भी कह सकते हैं। जब उमंग बहुत प्रबल होती है तो उसे व्यसन (Passion) कहते हैं। किन्तु उमंग या व्यसन स्थायी भाव के समान दीर्घकालीन नहीं होते। मैक्डुगल के अनुसार "प्रत्येक मूल प्रवृत्ति के साथ एक संवेग संलग्न रहता है और वही संवेग स्थायी भाव को जन्म देता है। जैसे—माँ के मन में बच्चे के प्रति प्रेम का स्थायी भाव। स्थायी भाव व्यक्तियों के अतिरिक्त किसी वस्तु, स्थान, आदर्श या सिद्धान्त के प्रति भी बनते हैं। स्थायी भाव की कुछ अन्य परिभाषाएँ इस प्रकार हैं :—

रॉस के अनुसार—"स्थायी भाव मानसिक ढाँचे में अर्जित प्रवृत्तियों का संगठन है।"[1]

वेलेन्टाइन के अनुसार—"स्थायी भाव किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति संवेगात्मक प्रवृत्तियों और भावनाओं का बहुत कुछ स्थायी और संगठित स्वरूप है।"[2]

---

1 "A Sentiment is an acquired organization of dispositions in the mental structure"—Ross. p. 121

2 A Sentiment is more or less permanent and organized system of emotional tendencies and impulses centered about some object or Person."—Valentine : p. 163.

स्थायी भाव का निर्माण

स्थायी भाव का निर्माण व्यक्ति के सांसारिक अनुभवों का परिणाम होता है। यह एक अर्जित वृत्ति है जो किसी व्यक्ति, वस्तु, स्थान या विचार के प्रति बराबर होने वाली संवेगात्मक अनुभूतियों का परिणाम होती है। यदि हमें 'प्रसाद' या 'निराला' की कवितायें पढ़ने का अवसर बार-बार मिलता रहे तो यह स्वाभाविक ही है कि कविता पाठ के साथ-साथ हमारी संवेगात्मक अनुभूतियों का आवर्तन भी होगा। हम उस कवि की प्रत्येक रचना को पढ़ने का प्रयत्न करेंगे तथा उसकी प्रशंसा में कुछ कहने या लिखने की भी इच्छा उत्पन्न होगी। हम अपने विचारों में उस कवि के विचारों को विशेष स्थान देंगे। इस प्रकार उस कवि के प्रति हमारे मन में एक स्थायी भाव संगठित हो जायेगा। यह स्थायी भाव हमारे संवेगात्मक अनुभवों की एक व्यवस्थित प्रणाली होगी, जोकि हमारे मानसिक जीवन में अपेक्षाकृत अधिक स्थायी रूप से विद्यमान रहेगा। स्पष्ट है कि स्थायी भाव एक क्रियाशील संवेदना-पूर्ण प्रवृत्ति होती है, जिसका निर्माण केवल विचारशील प्राणी में ही हो सकता है।

एक व्यक्ति या बालक के मन में अनेक स्थायी भाव उदय हो सकते हैं जैसे—स्वच्छता का स्थायी भाव, किसी खेल से सम्बन्धित स्थायी भाव और किसी नेता या महान् व्यक्ति के प्रति सम्मान का स्थायी भाव आदि। एक बार स्थायी भाव बन जाने पर उस व्यक्ति, वस्तु या स्थान के प्रति हमारी संवेगात्मक अनुभूतियाँ प्रबल होती जाती हैं। उनके ध्यान मात्र से हमारा व्यवहार उस स्थायी भाव के वशीभूत हो जाता है। जैसे—बच्चे की उपस्थिति में माँ का सम्पूर्ण व्यवहार प्रेम के स्थायी भाव से प्रभावित होता है। इसी प्रकार युद्ध के समय दो राष्ट्रों के बीच शत्रुता का स्थायी भाव स्थापित हो जाता है। उस समय शत्रु के दर्शन, नाम या प्रसंग से मन में शत्रुता का संवेग संचारित हो जाता है। शत्रु राष्ट्र की पराजय, वहाँ के नेताओं की आलोचना अथवा उन पर किये गये व्यंग सुनकर हम आनन्दित होते हैं। इस प्रकार स्थायी भाव के अन्तर्गत व्यक्ति के विचार, क्रिया और संवेग एक ही दिशा में अग्रसर होते हैं। उसकी मानसिक, शारीरिक शक्तियाँ एक ही बिन्दु (वस्तु या व्यक्ति) केन्द्रित हो जाती हैं।

स्थायी भावों के प्रकार (Kinds of Sentiments)

(1) साधारण स्थायी भाव (Simple Sentiment)—किसी एक भावना या संवेग से सम्बन्धित रहता है, जैसे—पुत्र के प्रति माँ के प्रेम का स्थायी भाव, बच्चों का खिलौनों के प्रति प्रेम का स्थायी भाव अथवा बिल्ली के प्रति भय का स्थायी भाव।

(2) जटिल स्थायी भाव (Complex Sentiment)—इसमें एक से अधिक भावनाएँ या संवेग संलग्न रहते हैं, जैसे—देशभक्ति का स्थायी भाव, इसमें प्रेम, आदर, अपनत्व एवं आत्म-गौरव आदि के संवेग सम्मिलित रहते हैं।

(3) मूर्त स्थायी भाव (Concrete Sentiment)—इस प्रकार का स्थायी भाव किसी मूर्त अथवा बड़ी वस्तु के प्रति होता है, जैसे भोजन के समय बालक में अपनी छोटी गिलास, छोटी कटोरी, अथवा छोटी थाली के प्रति स्थायी भाव, अपने घर अथवा विद्यालय के प्रति भी स्थायी भाव होता है।

(4) **अमूर्त स्थायी भाव** (Abstract Sentiment)—इस प्रकार का स्थायी भाव किसी अमूर्त या सूक्ष्म वस्तु के प्रति होता है, जैसे—सत्य और अहिंसा के प्रति स्थायी भाव, स्वच्छता या देश प्रेम का स्थायी भाव।

(5) **नैतिक स्थायी भाव** (Moral Sentiment)—इन स्थायी भावों का सम्बन्ध बालक के नैतिक चरित्र से रहता है। अमूर्त और नैतिक स्थायी भावों में कोई विशेष अन्तर नहीं रहता। जैसे—बेईमानी के प्रति घृणा का स्थायी भाव एक अमूर्त तथा नैतिक स्थायी भाव है।

बालक में स्थायी भाव धीरे-धीरे विकसित होते हैं जिनका अध्ययन संवेगात्मक विकासक्रम में किया जाता है। विकासक्रम के अनुसार उनके स्थायी भावों को तीन स्तरों पर रखा जा सकता है—

(1) **प्रत्यक्षात्मक स्तर**—प्रारम्भिक जीवन में ज्ञान और अनुभव का आधार स्थूल वस्तुएँ होती हैं। अतः प्रारम्भिक स्थायी भाव स्थूल वस्तुओं के प्रति उत्पन्न होते हैं, जैसे—गेंद के प्रति तथा ट्राइसिकिल के प्रति स्थायी भाव।

(2) **विचारात्मक स्थायी भाव**—जब बालक भाषा की सहायता से अमूर्त विचारों को ग्रहण करने योग्य हो जाता है तो अमूर्त गुणों के प्रति स्थायी भाव बनाता है, जैसे—स्वच्छता, वीरता और देशभक्ति आदि के प्रति स्थायी भाव।

(3) **विवेकात्मक स्तर के स्थायी भाव**—इस प्रकार के स्थायी भावों में व्यक्ति के विचारों का संगठन किसी आदर्श अथवा महान् सत्य के प्रति होता है। आत्म-गौरव का स्थायी भाव (Sentiment of Self-regard) इसी स्तर का स्थायी भाव है। ड्रेवर स्थायी भावों का निर्माण प्रत्यक्षात्मक स्तर पर नहीं मानता। उसका कहना है कि जब बालक अमूर्त विचार करने योग्य हो जाता है तब स्थायी भावों का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है।

वास्तव में मानसिक विकास के ये तीनों स्तर एक ही मानसिक धारा के तीन अंग हैं। एक अंग दूसरे अंग से समिश्रित रहता है।

स्थायी भावों की उपरोक्त व्याख्या से नीचे लिखी विशेपतायें स्पष्ट होती हैं :

स्थायी भावों की विशेषताएँ (Characteristics of Sentiments)

(1) स्थायी भाव, मूल प्रवृत्ति या संवेग के समान जन्मजात नहीं होते अपितु अर्जित की हुई संवेगात्मक आदतें ही होते हैं।

(2) स्थायी भाव किसी व्यक्ति की मानसिक संरचना का महत्वपूर्ण अंग होते हैं। जिस प्रकार आदतें या सीखी हुई बातें हमारी मानसिक संरचना का अंग बन जाती हैं, उसी प्रकार स्थायी भाव भी मानसिक ढाँचे में स्थान पाते हैं और उपयुक्त अवसर पर उत्तेजित हो जाते हैं।

(3) स्थायी भाव अनेक प्रकार के हो सकते हैं—अच्छे भी और बुरे भी। अच्छा या बुरा होना इस बात पर निर्भर करता है कि वह किस वस्तु, व्यक्ति, स्थान या विचार के प्रति होता है।

(4) व्यक्तित्व और शारीरिक विकास में स्थायी भावों का महत्वपूर्ण स्थान रहता है। किशोरावस्था उच्चकोटि के स्थायी भावों के बनने का समय है।

(5) स्थायी भावो के जन्मदाता सवेग हैं। एक स्थायी भाव के निर्माण मे क या अनेक संवेग हो सकते हैं।

(6) स्थायी भाव अनुभवजन्य होते हैं। व्यक्ति की ज्ञानात्मक चेष्टाओ ौर वातावरण का प्रभाव भी इस पर पड़ता है। यह एक प्रकार की सीखने की क्रया है।

(7) सवेगो के समान स्थायी भाव भी प्रेरणा के स्रोत होते हैं।

(8) स्थायी भाव भी आयु, अनुभव और शिक्षा के साथ परिवर्तित होते हते हैं।

(9) स्थायी भाव की तुलना में मूल प्रवृत्ति निम्नकोटि की होती है। स्थायी ााव मे व्यक्ति विवेक और बुद्धि से काम लेता है। वह जो कुछ भी करता है समझ र और जान-बूझकर करता है।

(10) स्थायी भाव बिना उत्तेजना के भी जाग्रत हो जाते हैं।

स्थायी भावों का शिक्षा में महत्व
(Importance of Sentiments in Education)

शिशु मूल प्रवृत्तियों का पुज होता है। किन्तु जैसे-जैसे उसके ज्ञान, अनुभव ौर आयु मे वृद्धि होती है, मूल प्रवृत्तियो का स्थान सीखी हुई आदतें अर्थात स्थायी ाव ले लेते हैं। प्रौढावस्था मे स्थायी भाव ही अधिकाश व्यवहार का नियन्त्रण रते हैं। अतः शिशु को मानव बनाने में एवं अनेक मानवीय प्रेरणाओं और आदर्शों युक्त करने मे स्थायी भावो का विशेष योग रहता है। बुरे स्थायी भाव बालक को ुराचारी या दानव प्रकृति का बना देते हैं। प्रत्येक व्यक्ति में आत्म गौरव का ्थायी भाव (Sentiment of Self-regard) होता है जो एक व्यक्ति से दूसरे यक्ति में भिन्न प्रकार का होता है। यह व्यक्ति के आदर्शों या सिद्धान्तो का पुंज होता । चोर और दुराचारी व्यक्तियो के भी अपने आदर्श होते हैं। स्थायी भाव जिस काई के अन्तर्गत सगठित होते है उसे आत्म (Self) कहते हैं। बालक का आत्म-वकास, भला या बुरा, स्थायी भावो के अनुसार होता है। बालक के स्थायी ावो पर वातावरण का गुणात्मक (Qualitative) प्रभाव पड़ता है। देहाती और नपढ़ माता-पिता की देख-रेख मे रहने वाले बालक के स्थायी भाव उस शहरी ालक से भिन्न होते हैं जो विद्वान माता-पिता के साथ नगर में रहता है। इसी प्रकार ुरुजनों के विचार, आचरण और जीवन के आदर्शों का बालक के स्थायी भावो के नर्माण पर विशेष प्रभाव पडता है। शैक्षिक-कार्यक्रमो का उद्देश्य बालक के 'आत्म' ो अच्छे स्थायी भावो से सम्पन्न बनाना है। अतः अब इस प्रश्न पर विचार किया जायेगा कि शिक्षक को छात्रो मे अच्छे स्थायी भावो का निर्माण करने के लिये क्या करना चाहिये और स्थायी भावो का वह शिक्षा मे क्या उपयोग कर सकता है। इस सम्बन्ध में कुछ सुझाव इस प्रकार हैं :—

(1) देश के महान वीरों की कथाएँ सुनाकर बालकों में देश-प्रेम के स्थायी भाव का निर्माण करना।

(2) छात्रो के समक्ष नैतिक गुण और आदर्श व्यवहार के अनुकरणीय उदाहरण रखना।

(3) छात्रों में खेल, कविता, संगीत और साहित्य आदि के प्रति रुचि उत्पन्न करके उसके 'आत्म' को स्वस्थ स्थायी भावों से युक्त करना।

(4) महान् व्यक्तियों की आत्म-कथाएँ पढ़ने के लिये छात्रों को प्रेरित करना।

(5) भूगोल, इतिहास, भाषा और साहित्य के अध्यापक छात्रों के जीवन में सुन्दर स्थायी भावों का निर्माण करने में विशेष सहयोग दे सकते हैं।

(6) विद्यालय की प्रार्थना-सभा के कार्यक्रमों की इस दृष्टि से विशेष उपयोगिता है। इन कार्यक्रमों में समय का पालन, अनुशासन, संगीत या सामूहिक गीत, ओजस्वी वार्ताएँ और प्रेरणादायक सम्बोधन होने चाहिए।

(7) खेल का मैदान भी स्वस्थ स्थायी भावों के निर्माण का साधन हो सकता है।

(8) विद्यालय में आयोजित विशेष उत्सव या समारोह, अच्छे स्थायी भावों के निर्माण में सहायक हो सकते हैं।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. संवेगात्मक व्यवहार की विलक्षणताओं का वर्णन कीजिये और बताइये कि बालक की शिक्षा में संवेगों का क्या महत्व है?
2. स्थायी भाव से आप क्या समझते हैं? अध्यापक किस प्रकार के स्थायी भावों का निर्माण विद्यालय के वातावरण में कर सकता है।
3. जेम्सलैंग के सिद्धान्त की क्या विशेषता है? संवेगों के समय वाह्य शारीरिक परिवर्तनों से इस सिद्धान्त का क्या सम्बन्ध है?
4. "स्थायी भाव व्यक्ति के चरित्र के आधार हैं।" एक अध्यापक होने के नाते इस कथन की समीक्षा कीजिये।

सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ—1 (GENERAL TENDENCIES—1)

10

संकेत अनुकरण और सहानुभूति (Suggestion, Imitation and Sympathy)

मूल प्रवृत्तियों के समान ही कुछ जन्मजात प्रेरणायें हैं जिन्हें सामान्य प्रवृत्ति कहते हैं। ये सामान्य प्रवृत्तियाँ संकेत या निर्देश, अनुकरण तथा खेल की प्रवृत्तियाँ हैं। इन सामान्य प्रवृत्तियों के व्यवहार में एक साथ कई मूल प्रवृत्तियों का प्रकाशन होता है। मूल प्रवृत्तियों के समान इनके साथ कोई विशेष संवेग सम्बन्धित नही होता, अपितु सामान्य प्रवृत्तियो के व्यवहार मे अनेक संवेगों की अनुभूति होती है। मूल प्रवृत्तियों के समान ही ये प्रेरणाये बिना सीखे हुए उचित समय पर और अनुकूल परिस्थितियों मे प्रकाशित होती हैं।

मूल प्रवृत्तियों और सामान्य प्रवृत्तियों में अन्तर

(1) प्रत्येक मूल प्रवृत्ति के साथ एक संवेग सम्बद्ध रहता है जोकि उस प्रवृत्ति की केन्द्रीय वस्तु होती है। किन्तु सामान्य प्रवृत्ति मे अनेक संवेगो की अनुभूति होती है। कोई विशेष संवेग सम्बन्धित नही रहता।

(2) मूल प्रवृत्तियाँ वातावरण से प्राप्त उत्तेजनाओं (परिस्थिति विशेष) द्वारा जाग्रत होती हैं। सामान्य प्रवृत्तियाँ सामाजिक परिस्थितियो मे कार्य करती हैं।

(3) ये दोनो ही जन्मजात प्रवृत्तियाँ हैं। मूल प्रवृत्तियाँ व्यवहार का आधार हैं। सामान्य प्रवृत्तियाँ व्यवहार को जाग्रत करने वाली प्रेरणायें हैं।

(4) सामान्य प्रवृत्तियाँ अधिक व्यापक होती हैं क्योंकि इसमे अनेक प्रवृत्तियों का प्रकाशन एक साथ होता है। मूल-प्रवृत्ति का क्षेत्र सीमित रहता है।

(5) मूल प्रवृत्ति पशुवत् व्यवहार का आधार है। जबकि सामान्य प्रवृत्तियाँ सामाजिक व्यवहार का आधार हैं।

खेल ही खेल मे बालक-बालिकायें एक दूसरे के विचार से प्रभावित होते हैं (संकेत द्वारा), वे अपने साथियो से प्रत्यक्षीकरण (Perception) और प्रत्यय (Concepts) ग्रहण करते हैं। प्राय: हम देखते हैं कि किसी भी खेल मे कुशल खिलाड़ी की शारीरिक चेष्टाओ का अनुकरण अन्य खिलाड़ियों द्वारा किया जाता है। अनुकरण द्वारा बालक अनजाने में

बोलचाल और व्यवहार सम्बन्धी अनेक कुशलताएं सीखता है। वह अपने साथियों के सुख-दुख में भी हाथ बटाने लगता है। अपने साथियों को हँसता-खेलता देखकर वह अपना व्यक्तिगत दुःख-सुःख भी भूल जाता है और प्रसन्नता से खेल में सम्मिलित हो जाता है। इस प्रकार वह सहानुभूति की सामान्य प्रेरणा द्वारा दूसरों की अनुभूति को अपनी अनुभूति बना लेता है।

यह सर्वविदित है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिक पोषण द्वारा ही मानव शिशु समाज के विचारों को अपने विचार बना लेता हैं। सामाजिक कार्यक्रमों को वह अपने कार्यक्रम समझने लगता है। वह समाज की भावनाओं का आदर करना भी सीख जाता है। इस प्रकार उसकी कृति, विचार और अनुभूति का समाजीकरण क्रमानुसार संकेत, अनुकरण और सहानुभूति की सामान्य जन्मजात प्रेरणाओं के आधार पर ही होता है।

शिक्षा में इन सामान्य प्रेरणाओं का सुन्दर उपयोग किया जा सकता है। पाठशाला भी एक छोटा सा समाज है जिसमें बालक-बालिकाओं को दूसरों के विचारों, कार्यों और भावनाओं का अनुकरण करके, नित्य नई-नई बातों को सीखने का यथेष्ट अवसर मिलता है। शैक्षिक दृष्टि से यह आवश्यक है कि पाठशाला का सामाजिक वातावरण इस प्रकार संगठित किया जाये कि बालक-बालिकायें अपने समाज की आदर्श परम्पराओ और सांस्कृतिक विशेषताओं को सरलतापूर्वक ग्रहण करके अपने व्यक्तित्व का समुचित विकास कर सकें। शिक्षा में इन सामान्य प्रवृत्तियों का पूर्ण उपयोग करने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को इनकी मनोवैज्ञानिक विशेषताओं से परिचित होना चाहिये। टी० पी० नन केवल तीन सामान्य प्रवृत्तियों—सहानुभूति, संकेत और अनुकरण—को ही स्वीकार करता है और तीनों को मिमिसिस (Mimesis) के नाम से पुकारता है क्योंकि तीनों में व्यवहार के किसी न किसी अंग का अनुकरण होता है। कुछ मनोवैज्ञानिक 'खेल' (Play) को भी सामान्य प्रवृत्ति मानते हैं। रॉस ने आदत (Habit or Routine) को भी एक सामान्य प्रवृत्ति माना है।

निर्देश-संकेत
(Suggestions)

किंबल यंग के अनुसार—संकेत एक प्रकार का संदेशवाहक चिह्न है, जो शब्दों, चित्रों या किसी दूसरे माध्यम द्वारा अस्पष्ट एवं तर्कहीन आधार होते हुए भी इस बात (चिह्न) को स्वीकार करने के लिये प्रेरित करता है।"[1]

निर्देश का अर्थ—मनोविज्ञान में बिना स्वेच्छा या स्वप्रयत्न के आन्तरिक अनुकरण द्वारा दूसरों के विचारों या धारणाओं को अपनाना निर्देश (Suggestion) कहलाता है।

मैकडुगल के अनुसार—"संकेत संदेशवाहन की वह क्रिया है जिसके फलस्वरूप

---

1 "Suggestion is a form of symbol communication by words, pictures or some other similar mediums inducing acceptance of the symbol without any self evident or logical ground for its acceptance." —Kimbal Youg

एक व्यक्ति द्वारा व्यक्त किया हुआ विचार, उचित तार्किक आधार के अभाव मे भी स्वीकार कर लिया जाता है।"[1]

जब हम किसी प्रभावशाली नेता का भाषण सुनते हैं तो उसके विचारों को सहज ही अपना लेते है। चाहे उन विचारों की सत्यता अप्रमाणित एवं सन्दिग्ध ही क्यों न हो। मनोविश्लेषणवादियों ने इस बात का सदुपयोग सम्मोहन क्रिया (Hypnotising) द्वारा व्यक्तियों के मानसिक विकार दूर करने के लिये किया है। सम्मोहन के समय सम्मोहक (Hypnotiser) द्वारा दिये गए निर्देश से सम्मोहित व्यक्ति (Hypnotised Person) से वे कार्य भी कराये जा सकते हैं जिन्हें वह व्यक्ति अपने चैतन्य जीवन मे करने मे भय, सकोच या घृणा के कारण असफल रहता है। किन्तु जाग्रत जीवन मे भी सकेत का प्रभाव एक परीक्षण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। बच्चों को दस सेकेण्ड तक कोई चित्र दिखाइये। इसके बाद अलग-अलग बच्चे से यह प्रश्न पूछिये—

1. आपने इस चित्र मे कौन सा पशु देखा ?
2. आपने इस चित्र मे कौन सा पक्षी देखा ?

यद्यपि इस चित्र मे न तो कोई पशु दिखाया गया है और न पक्षी ही परन्तु फिर भी इसमे अनेक पशुओ और पक्षियो के नाम आयेंगे। हम संकेत का सुन्दर उपयोग *पत्र-पत्रिकाओ में वस्तुओ के प्रचार हेतु चित्रों मे और व्यग चित्रों मे नित्य* देखते हैं। दन्त मजन के प्रचार के लिये आकर्षक वेशभूषा मे किसी सुन्दर युवक या युवती के मुस्कुराते हुए चित्र मे उसके सफेद चमकदार दाँत दिखाई देते हैं। इससे दर्शक को यह सकेत मिलता है कि अमुक दन्त मजन विशिष्ट व्यक्तियो द्वारा प्रयोग *किया जाता है।*

कुछ विद्वान सकेत की मनोवैज्ञानिक परिभाषा इस प्रकार देते हैं—टी० पी० नन के अनुसार "बिना किसी इच्छा या सकल्प के दूसरो के विचार ग्रहण करना।"[2]

स्टर्न के अनुसार "सकेत आन्तरिक अनुकरण द्वारा दूसरों की अभिवृत्ति जाग्रत करता है।"[3]

शैक्षिक दृष्टिकोण से भी निर्देश का महत्व कम नही है। पाठशाला के शानदार भवन, स्वच्छ एव शान्त वातावरण, आकर्षक मेज-कुर्सियाँ एव पुस्तकों से सजी हुई पुस्तकालय की अल्मारियाँ, कर्मचारियो का सहानुभुतिपूर्ण शिष्ट-व्यवहार और इन सबसे ऊपर है अध्यापक का प्रतिभाशाली व्यक्तित्व। इनका बालक के लिए सम्मिलित निर्देश है—पाठ्य विषय मे अधिक रुचि लेना। अपने बच्चे को नई किताब या कापी लाकर दीजिये और फिर देखिये कि उसको पढ़ने मे कैसी रुचि है।

निर्देश का शैक्षिक महत्व

---

1 "A process of communication resulting in the acceptance with conviction of the communicated proposition in the absence of logically adequate grounds for its acceptance" —MacDougal

2 "Adoptation of another person's idea's unwilled by oneself." —T. P. Nunn

3 *"Suggestion is the awakening of like mental attitude by means of inner immitation.,"* —S

अंग्रेजी की एक कहावत है कि वहुधा आदेश से सुझाव (संकेत) उत्तम होता है।[1] वालक की शिक्षा में यह वात पूरी तरह लागू होती है। इसी प्रकार गुरु और शिष्य के आदर्श सम्बन्ध संकेत द्वारा वनते हैं, अधिक नकारात्मक संकेत देने वाला अध्यापक छात्रों की निकटता (Closeness) खो देता है।

एक वालक के लिए नैतिक शिक्षा की दृष्टि से भी निर्देशन वहुत महत्वपूर्ण होता है। शिक्षक का प्रभावशाली व्यक्तित्व वालक को निर्देशन देने में सफल रहता है। किशोरावस्था वालक-वालिकाओं के लिए सौन्दर्यानुभूति का समय होता है। वे चित्ताकर्षक परिस्थितियों में अपने गरिमामय अध्यापक की सहायता से कला, साहित्य और संगीत के अध्ययन द्वारा सहज ही में असीम सौन्दर्य की अनुभूति कर लेते हैं। वालक घर के स्नेहपूर्ण वातावरण में अपने माता-पिता द्वारा निर्देशन पाता है। अतएव यदि पाठशाला में अध्यापक वर्ग अपने सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार और प्रभावशाली व्यक्तित्व से वालक का मन अपनी ओर आकर्षित करने में सफल होते हैं, तो वही वालक अध्यापक द्वारा दिए गए निर्देश को शीघ्र ही ग्रहण कर लेता है। वालक-वालिकायें जिस व्यक्ति को अपने स्नेह, आदर और प्रशंसा का पात्र वनाते हैं उसमें उसके विचारों से भी सहमत होने की उनकी हार्दिक इच्छा रहती है। जे० एस० रॉस का कथन है कि "वह व्यक्ति जिसे सहानुभूति की ईश्वरीय देन प्राप्त नहीं है उसे शिक्षक नहीं वनना चाहिये।"[2]

अध्यापक के व्यक्तित्व में निर्देश-योग्यता (Suggestibility) का होना नीचे लिखे गुणों पर निर्भर करता है—

(1) वच्चों के साथ मित्रवत् व्यवहार करने का गुण। परन्तु इसका आशय यह भी नहीं है कि अध्यापक वच्चों का निकट-मित्र ही वन जाये। मित्रवत् व्यवहार करते हुए भी उसे अपने पद की मर्यादा, गरिमा और गम्भीरता का ध्यान रखना चाहिए। वह छात्रों का मित्र, पथ-प्रदर्शक और विश्वासपात्र व्यक्ति का स्थान ग्रहण करके उनके समुचित मानसिक विकास में सहायक हो सकता है। वालक संकेत द्वारा ही उसके विचार, अभिवृत्ति और जीवन के आदर्श को अंगीकार करता है।

(2) अध्यापक को छात्रों के समक्ष अपने व्यक्तिगत जीवन की व्याख्या नहीं करनी चाहिए। उसे अपनी प्रतिष्ठा का भी ध्यान रखना चाहिये जिससे कि छात्र उससे 'आप्त-संकेत' प्राप्त करते रहें। अनुशासन अथवा अनुशासनहीनता उसके आदेश और वार्तालाप द्वारा सुलझाये जाते हैं।

(3) शिक्षक ज्ञान और अनुभव में भारी (गुरु) होना चाहिये। उसके व्यक्तित्व में अपने समाज और संस्कृति के समस्त अच्छे तत्वों का समावेश होना चाहिये। क्योंकि उसके व्यवहार और वातचीत द्वारा ही वालक के चरित्र और व्यक्तित्व का निर्माण होता है। कालान्तर में सुझाव द्वारा ही उसके विचार छात्र के विचार वन जाते हैं।

---

1 A suggestion is usually better than a command."

2 "The person from whom a gift of sympathy is withheld should not become a teacher."
—Ross

(4) जीवन में, जीवन के आदर्शों और शिक्षण कार्य में उसकी व्यावहारिक रुचि होनी चाहिये। अन्यथा वह संकेतों द्वारा भी छात्रों मे रुचियाँ जाग्रत नहीं कर सकता।

(5) नैतिक निर्देश देने के लिए शिक्षक के मन मे स्वतन्त्रता, स्वाभिमान, सच्ची लगन, धैर्य और उत्साह का होना आवश्यक है। उसके मन में दृढ़-संकल्प (Strong-Will) होनी चाहिये, तभी वह छात्रों से सम्मान पाकर उन्हें 'प्रतिष्ठा-सुझाव' देने की स्थिति प्राप्त कर सकता है। 'आप्त-संकेत' द्वारा वह छात्रों में निम्नांकित गुण स्थानान्तरित कर सकता है।

(6) उसका आकर्षक व्यक्तित्व, स्पष्ट वाणी और स्वच्छ वेशभूषा होनी चाहिये। उसके सम्बोधन में भी आत्म-विश्वास होना चाहिये। उसकी उपस्थिति मात्र से कक्षा का वातावरण बदल जाता है। संकेत द्वारा शैक्षिक वातावरण का निर्माण होता है।

निर्देशों के प्रकार तथा उद्गम
(Kinds and Sources of Suggestions)

(1) भावात्मक निर्देश (Ideomotor Suggestion)—जैसे नृत्य देखकर पैर थिरकाना या गीत सुनकर उसकी धुन को गुनगुनाना। प्रायोगिक विषयों में इसका उपयोग होता है।

(2) प्रतिष्ठा निर्देश (Prestige Suggestion)—किसी प्रतिष्ठावान् व्यक्ति के विचारों का स्वाभाविक अनुकरण होता है। जैसे—प्रधानाचार्य के भाषण का प्रभाव। इसे 'आप्त-निर्देश' भी कहते हैं।

(3) आत्म-निर्देश (Auto-Suggestion)—व्यायाम करने वाला किशोर इस प्रकार का आत्म-संकेत प्राप्त करता है कि उसकी भुजायें बलिष्ठ हो रही हैं।

(4) समूह निर्देश (Group or Mass Suggestion)—विद्यालय में सामूहिक रूप से विद्यार्थियों द्वारा छुट्टी की माँग करना।

(5) विपरीत निर्देश (Contra-Suggestion)—यदि बच्चे को रेडियो छूने को मना किया जाये तो वह उसे अवश्य छूता है।

(6) प्रत्यक्ष निर्देश (Direct Suggestion)—स्कूल में अध्यापक या प्रधानाचार्य द्वारा बहुत सी बातें सीधे संकेतों के द्वारा ही बताई जाती हैं।

(7) अप्रत्यक्ष निर्देश (Indirect Suggestion)—खाने की वस्तु प्रत्यक्ष रूप से न माँगकर उसकी प्रशंसा करना।

(8) सकारात्मक निर्देश (Positive Suggestion)—जैसे, "प्रार्थना सभा में "सीधे खड़े हो जाओ", "कक्षा 10 के विद्यार्थी अपनी पंक्ति सीधी करें" आदि।

(9) नकारात्मक निर्देश (Negative Suggestion)—जैसे—यह मत करो, वह मत करो, वहाँ पर अथवा उसके पास न बैठो।

हमें यह नहीं समझ लेना चाहिये कि बालक अध्यापक के सभी संकेतों को ग्रहण कर लेता है। संकेत की विरोधी प्रवृत्ति है—'आत्म-प्रकाशन' (Self-assertion)। बालक में 'आत्म-प्रकाशन' की प्रवृत्ति बहुत छोटी आयु में ही कार्य करने लगती है। जब कोई बात बालक-बालिकाओं से उनके लिये अरुचिकर ढंग से कही जाती है,

चित्ताकर्षक नहीं होती, तो वाल-मन में उसका विरोध होना स्वाभाविक ही है। इसके फलस्वरूप वाल-मन में 'विरोधी-संकेत' या "प्रतिषेध-सुझाव' (Contra-Suggestions) उदय होते हैं। वालकों को डाँटते-फटकारते समय उनका स्वाभिमान उभर आता है, अत: ऐसे समय में वे किसी का प्रभुत्व (Domination) स्वीकार नहीं करना चाहते। वे आत्म-निर्णय (Self-judgement) से काम लेते हैं और दूसरे के थोपे हुए विचारों का विरोध करते हैं। इस अवस्था में उनका व्यवहार आत्म-संकेत (Auto-suggestion) से प्रभावित होता है। यदि वालक में आत्म-निर्देश की प्रवृत्ति प्रवल होती है तो वह दूसरे के विचारों को सहज में ही मान्यता नहीं देता। वह अपना स्वतन्त्र मार्ग चुनकर ही उन्नति के शिखर को अग्रसर होता है। किन्तु यह भी आवश्यक नहीं है कि आत्म-निर्देश सदैव ही लाभकारी हों। कभी-कभी आत्म-निर्देशन के कारण वालक आगे आने वाले काल्पनिक भय और चिन्ताओं से दुखी हो जाता है।

अध्यापक के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों—जैसे, माता-पिता, अभिभावक, धार्मिक या राष्ट्रीय नेताओं में वालकों की अटूट श्रृद्धा हो सकती है। यदि किसी विवादास्पद प्रश्न पर अध्यापक के विचार इन व्यक्तियों के विचार से भिन्न हो जाते हैं, तो ऐसी परिस्थितियों में वालक उसी व्यक्ति के विचार ग्रहण करता है जो उसकी अटूट श्रृद्धा का पात्र है। ऐसे निर्देश आप्त-निर्देश (Prestige Suggestions) कहलाते हैं।

वालक के निर्देश का उद्गम उसके साथी भी हो सकते हैं। यह पहले ही वताया जा चुका है कि पाठशाला में वालक किसी दल या समुदाय का सदस्य वन जाता है और इन समुदायों के कार्यक्रमों में पूर्ण सहयोग देकर वह आनन्द का अनुभव करता है। इस समुदाय के व्यक्तियों के विचारों और धारणाओं को वह सहर्ष मान्यता देता है। अतएव सामूहिक शिक्षण में व्यक्तिगत शिक्षण की अपेक्षा वालक-वालिकाओं को अधिक लाभ पहुँचाया जा सकता है। इस प्रकार के निर्देश सामूहिक-निर्देश (Mass Suggestions) कहलाते हैं। हमारा मन स्वभावत: एक व्यक्ति के विचारों की अपेक्षा अनेक व्यक्तियों के विचारों को अधिक मान्यता देने लगता है। प्राय: वालक-वालिकायें अपने खेल के साथियों से सामूहिक-निर्देश ग्रहण करते हैं। प्राय: वाल्यकाल में माता-पिता वच्चों के मन में संकेत द्वारा अधिक भय उत्पन्न कर देते है—उदाहरणार्थ, वन्दर, विल्ली या 'वावा' से वच्चों को भयभीत करना। ये भय दीर्घकाल तक वच्चों में वने रहते है, और वहुत प्रयत्न करने पर भी वालक इनसे मुक्त नहीं हो पाता। वाल्यकाल में मिलने वाले संकेत ही आगे चल कर व्यक्ति के जीवन में आत्म-संकेत का आधार वनते हैं। इस कथन से जीवन में संकेतों का महत्व स्पष्ट हो जाता है। अतः पाठशाला में अध्यापक को वालक को संकेत देने के लिये सावधानीपूर्वक ही अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व का प्रयोग करना चाहिये। उसे इस वात को भी भली प्रकार समझ लेना चाहिये कि उसके द्वारा किसी सम्प्रदाय विशेष या किसी राजनैतिक दल का समर्थन तो नहीं हो रहा है। शिक्षा का उद्देश्य वालक-वालिकाओं में स्वतन्त्र विचार करने की क्षमता उत्पन्न करना है। शिक्षा-प्रक्रिया द्वारा उसके मस्तिष्क को विचारों से सम्पन्न वना कर उनमें उपयुक्त विचार करने का आवश्यक

विवेक उत्पन्न करना चाहिये। जीवन में ग्रहण करने योग्य बातों की प्रशंसा करने से भी छात्रों को उन बातों के करने का अप्रत्यक्ष सुझाव प्राप्त होता है और वे उन्हें अपने जीवन मे ग्रहण करने का यत्न करते हैं।

सहानुभूति
(Sympathy)

दूसरे के भावों का अनुकरण करने की प्रवृत्ति मनोविज्ञान मे सहानुभूति की प्रवृत्ति (Sympathy) कहलाती है। सहानुभूति शब्द दो शब्दो से मिलकर बना है : सह+अनुभूति। इसका शाब्दिक अर्थ है दूसरो के समान अनुभूति (Feeling) करना। वुडवर्थ ने भी सहानुभूति की व्याख्या इसी प्रकार की है। "स्वयं भी वैसा ही अनुभव करो, जैसा कि दूसरे करते हैं" (To feel as others feel.)। अतएव स्पष्ट है कि सहानुभूति द्वारा हमारे और अन्य व्यक्तियों के मध्य सवेगात्मक-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। अतः कुछ मनोवैज्ञानिक सहानुभूति को सवेग ही मानते हैं। पशुओ की अपेक्षा मनुष्यों में सहानुभूति का प्रकाशन अधिक स्पष्ट और व्यापक होता है। यह एक जन्मजात सहज प्रवृत्ति है। उदाहरणार्थ—एक चिड़िया की चूँ-चूँ सुनकर दूसरी चिड़ियाँ भी चूँ-चूँ करने लगती हैं। एक कुत्ते की आवाज सुनकर अन्य कुत्ते भी भौंकने लगते हैं। परन्तु मनुष्य में अनुभव, निरीक्षण और अभिव्यक्ति का क्षेत्र पशुओं से अधिक विस्तृत है। वह भाषा में ही दूसरों के सुख, दुःख, हानि, लाभ, प्रसन्नता और अप्रसन्नता को तुरन्त समझ लेता है। समाचार पत्रो मे देश-विदेश में होने वाली दुर्घटनाओ के समाचार पढकर किसी भी मनुष्य में वैसी ही मर्मान्तिक अनुभूति होती है जैसी कि उक्त घटना को आँखो से देखने वाले के हृदय में हो सकती है। इससे स्पष्ट होता है कि मानव की सामाजिक अनुभूतियो का क्षेत्र कितना व्यापक है। मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धो का आधार सहानुभूति ही है। दूसरों की अनुभूति में सहयोग करने से ही सामाजिक सम्बन्ध (प्रेम-सम्बन्ध) दृढ होते हैं। इसीलिये रॉस इसे सामाजिक प्रवृत्ति का भावात्मक पहलू मानता है।[1]

बाल्यावस्था मे ही बालक-बालिकाएँ एक-दूसरे के सवेगों का अनुसरण करने लगते हैं। एक बालक को हँसता देखकर दूसरा बालक हँसी का कारण न जानता हुआ भी हँसने लगता है। आपने देखा होगा कि अध्यापक की अनुपस्थिति मे बच्चे कक्षा से बाहर आकर शोर मचाते हैं, परन्तु जैसे ही प्रधानाध्यापक या अध्यापक उनमे से किसी को भी दिखाई पड़ता है, वह कक्षा की ओर भागता है और उसके घबराहटपूर्ण कार्य का अनुकरण अन्यों के द्वारा भी तुरन्त ही होना है अर्थात् सभी विद्यार्थी घबरा कर भागते हैं, और कक्षा मे अपना स्थान ले लेते हैं। इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सहानुभूति के लिए कल्पना और भावुकता (भाव ग्रहण करने की क्षमता) दोनो ही आवश्यक हैं। परन्तु यह भी आवश्यक नही है कि वह दूसरे के सवेग को भी भली प्रकार समझे। इसमे तो सवेग के बाहरी प्रकाशन जैसे रोना, चिल्लाना, भागना एवं हँसना आदि का अनुकरण होता है।[2]

---

1 [illegible] —Ross
2 [illegible] the feeling is [illegible] —Ross p. 251.

सहानुभूति का अनुभव दो प्रकार से होता है—

1. निष्क्रिय सहानुभूति (Passive Sympathy)
2. सक्रिय सहानुभूति (Active Sympathy)

दूसरों को दुखी या सुखी देखकर, तदनुसार ही हम भी दुःख अथवा सुख का अनुभव करने लगते हैं। परन्तु एक समान परिस्थिति में भी सभी व्यक्ति समान

1. निष्क्रिय सहानुभूति

मात्रा में दुःख अथवा सुख का अनुभव नहीं करते। उदाहरणार्थ—एक विद्यार्थी के परीक्षा में असफल होने पर अभिभावकों को वास्तविक दुःख होता है जबकि उसके सहपाठी और पड़ोसी सहानुभूति ही प्रदर्शित करते हैं। परन्तु अध्यापक तो यह जानता है कि उस विद्यार्थी ने पर्याप्त परिश्रम ही नहीं किया था, फिर सफलता कैसे मिलती। अतः उसे दुःख नहीं होता। वह दो-चार शब्द कहकर ही निष्क्रिय सहानुभूति प्रदर्शित करता है। पशु स्वभाव से ही निष्क्रिय सहानुभूति व्यक्त करते हैं। वे अन्य पशुओं के दुःख या सुख का कारण समझे बिना, उसकी संवेगात्मक प्रतिक्रिया का अनुकरण करते हैं।

परन्तु ऊपर के उदाहरण में पड़ोसी तथा परिवार के अन्य मित्र एवं परिचित व्यक्ति सक्रिय सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं। बच्चे के असफल होने पर उसकी माँ दुःखी होती है। पड़ोसी की स्त्रियाँ भी इस दुःख में सहयोगी होती हैं। स्त्रियों में

2. सक्रिय सहानुभूति

पुरुषों की अपेक्षा सक्रिय सहानुभूति अधिक होती है। परन्तु वे निष्क्रिय-सहानुभूति के अभाव में सक्रिय-सहान्भूति उत्पन्न नहीं कर सकतीं।

सभी व्यक्तियों में सहानुभूति को अनुभव करने और उसे प्रदर्शित करने की क्षमता भी समान नहीं होती। पशु केवल निष्क्रिय सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं। उनकी सक्रिय सहानुभूति का क्षेत्र बहुत सीमित होता है और सहानुभूति की प्रतिक्रियाएँ बहुत ही साधारण होती हैं। इसके विपरीत जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मानव की सहानुभूति का क्षेत्र बहुत व्यापक होता है। बालक को नैतिक और नागरिकता के गुणों से युक्त करने के लिए यह अति आवश्यक है कि पाठशाला के वातावरण में उसे अन्य व्यक्तियों के साथ संवेगात्मक सहानुभूति प्राप्त करने का अवसर मिले। उसमें दूसरों की सेवा, रक्षा और उनका कल्याण करने की तत्परता जाग्रत हो। उसे बड़े विद्यार्थियों तथा अध्यापक के नेतृत्व में सक्रिय सहानुभूति के लिये प्रेरित किया जाना चाहिये, तभी वह योग्य नागरिक बन सकेगा। दुर्बल और असहाय साथियों की रक्षा करने के लिये उसकी वात्सल्य, युयुत्सा और आत्मप्रकाशन की मूल प्रवृत्तियों का सुन्दर ढंग से मार्गान्तरीकरण किया जा सकता है।

पाठशाला में नैतिक शिक्षा एवं सौंदर्यानुभूति की दृष्टि से निष्क्रिय सहानुभूति का विशेष महत्व है। यदि अध्यापक का अपने विषय से संवेगात्मक सम्बन्ध है और उसे विषय को पढ़ाने में वास्तविक आनन्द की प्राप्ति होती है, तो यह स्वाभाविक ही है कि विद्यार्थी भी उस विषय को आनन्द और रुचि के साथ पढ़ेंगे। कविता, कहानी, नाटक, संगीत कला आदि विषयों में अनेक स्थल ऐसे भी आते हैं, जहाँ पर

अध्यापक स्वयं रसानुभूति में तल्लीन होकर, विद्यार्थियों में निष्क्रिय रसानुभूति प्रेरित कर देते हैं। अतएव छात्रों का उन पंक्तियों से संवेगात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। जीवन में जब कभी भी वह पंक्तियाँ दोहराई जाती हैं, वही रस, वही सौन्दर्य और वही आनन्द पुनः प्राप्त होता है।

सहानुभूति का एक और वर्गीकरण—(क) वैयक्तिक रूप में, तथा (ख) सामूहिक रूप मे किया जाता है। इनके अर्थ स्वत: ही स्पष्ट हैं। हम दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति के प्रति वैयक्तिक सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं। प्रेसीडेण्ट कैनेडी की मृत्यु पर मिसेज कैनेडी को अनेक व्यक्तियों ने शोक संवेदनाएँ भेजीं, शरणार्थियों के प्रति (चाहे वे किसी देश के हों), सामूहिक सहानुभूति जाग्रत होती है। बांगलादेश के प्रति समस्त भारत की सामूहिक सहानुभूति थी।

सहानुभूति और शिक्षा (Sympathy and Education)

सहानुभूति सामूहिक क्रियाओं की प्राण होती है। कक्षा या विद्यालय भी एक समूह ही है, अतः बालक के शैक्षिक विकास में इस सहज प्रवृत्ति का समुचित उपयोग होना चाहिए। छात्रों में एक-दूसरे के प्रति प्रेम और समानता का आभास कराया जाना चाहिए। तभी वे एक-दूसरे के दुःख-दर्दों एवं हितों को समझ सकेंगे। एक-दूसरे की सहायता करने में उनकी बुद्धि का स्वाभाविक-विकास होगा। बालक के संवेगात्मक विकास में भी यह प्रवृत्ति बहुत लाभदायक है। रॉस के अनुसार—दूसरों की अनुभूति का सहभागी बनने में इतनी शक्ति है जो अनेक व्यक्तियों को एक समूह मे मिला देती है।[1]

दूसरों की भावनाओं मे हिस्सा बँटाने की इस जन्मजात शक्ति का उपयोग शिक्षा में अवश्य किया जाना चाहिये। बालक का दृष्टिकोण जितना उदार होगा इस शक्ति में भी उतनी ही अधिक वृद्धि होगी। मानवता का विकास भी इसी शक्ति के द्वारा हुआ है। जब तक मनुष्य में उदार-भावनाओं का प्रादुर्भाव नही हुआ तब तक वह समूह बना कर ही युद्ध करता रहा। आज भी हमारे देश के समक्ष युद्ध, उत्पीड़न और दासताओं से मुक्ति की समस्या वर्तमान है। इससे छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय मानवमात्र के हृदय मे सच्ची सहानुभूति की प्रेरणा जाग्रत करना ही है। अतएव प्रत्येक देश के भावी नागरिक को प्रारम्भ से ही सहानुभूति की प्रेरणा देनी चाहिए। जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण को अधिक से अधिक उदार बनाना चाहिए। इसीलिये कहा गया है कि "विश्व शान्ति की स्थापना करने का उत्तरदायित्व राजनीतिज्ञों की अपेक्षा अध्यापकों पर ही अधिक है। शिक्षा में सहानुभूति का उपयोग करने के लिए निम्नलिखित बातो को ध्यान मे रखना आवश्यक है :

(1) छात्रों में सामाजिक सम्बन्ध सुधारने हेतु उनमें प्रेम, सहयोग, दया और सामूहिकता के भाव जाग्रत किये जायें।

(2) सहानुभूति का उपयोग नैतिकता के विकास के लिये किया जाये।

(3) छात्रों मे पाठ्य-विषय में रुचि जाग्रत कराने के लिये सहानुभूति का

1 "The power to share the feelings of other's is a most potent force for welding a number of individuals into a social group." —R[illegible], 251.

सदुपयोग किया जाना चाहिए। कुछ पाठ ऐसे भी होते हैं जिनमें भावात्मक अनुशीलन (Appreciation of Feelings) की प्रधानता रहती है। उदाहरणार्थ—कविता, नाटक, इतिहास, संगीत, यात्रा का वर्णन आदि के पाठ। इन पाठों के माध्यम से बालकों के मन में सहानुभूति की सहज प्रवृत्ति को जाग्रत करने हेतु पूर्ण उपयोग होना चाहिए।

(4) छात्रों में सामाजिक गुणों का विकास करके, सामाजिक जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिये।

(5) कक्षा तथा विद्यालय के कार्य में छात्रों का सक्रिय सहयोग प्राप्त करने के लिये। रॉस के अनुसार—"सहानुभूति से रहित व्यक्ति को अध्यापक नहीं बनना चाहिए क्योंकि वह अपने छात्रों के दृष्टिकोण को कभी नहीं समझ सकेगा।"[1]

(6) छात्रों का संवेगात्मक विकास करने के लिये।

(7) छात्रों में स्वाभाविक अनुशासन उत्पन्न करने के लिए।

(8) छात्रों के चरित्र और व्यक्तित्व का विकास करने के लिए।

(9) देश-प्रेम और नागरिकता का विकास करने के लिए।

(10) छात्रों में निःस्वार्थ भाव, सेवा भाव और कर्तव्यपरायणता उत्पन्न करने के लिये सहानुभूति का उपयोग किया जा सकता है।

अनुकरण
(Imitation)

अनुकरण सामाजिकता की प्रवृत्ति का क्रियात्मक अंग है। अन्य लोगों के व्यवहार को देखकर वैसा ही आचरण करना अनुकरण कहलाता है। प्रायः सभी शरीरधारी अपने सजातियों के व्यवहार को अनुकरण द्वारा ही सीखते हैं। थॉर्नडाइक अनुकरण प्रवृत्ति को नहीं मानता। वह तो आविष्कार द्वारा ही सीखने को अधिक महत्व देता है। किन्तु ड्रेवर और मैकडुगल इसे एक जन्मजात प्रवृत्ति ही मानते हैं। बिल्ली का बच्चा अपनी माँ को छिपकर, दौड़कर और झपटकर शिकार पकड़ता हुआ देखता है। वह तुरन्त ही इन क्रियाओं का अनुकरण करने लगता है और वह भी अपना शिकार पकड़ने में कुशल हो जाता है। पशुओं के जीवन में अनुकरण का उपयोग केवल उन कार्यों तक सीमित रहता है जो व्यक्तिगत और जातीय सुरक्षा के लिये आवश्यक हैं। परन्तु मनुष्य केवल पशुवत अनुकरण ही नहीं करता अपितु वह बुद्धिमता से काम लेकर अपने व्यवहार को और भी अधिक कुशल और उपयोगी बना सकता है। मानव संस्कृति की प्रगति और नवीन खोज अनुकरण द्वारा ही की गई है।

मनोविज्ञान में अनुकरण की परिभाषाएँ इस प्रकार की गई हैं—

(1) मैकडुगल के अनुसार—"अनुकरण व्यक्ति की उन क्रियाओं पर लागू होता है जो दूसरे के कार्यों तथा शारीरिक चेष्टाओं की नकल होते हैं।"[2]

---

1 "The person from whom a gift of sympathy is withheld should not become a teacher." —Ross, p. 251.

2 "Imitation is applicable only to copying by one individual of the actions, the bodily movements of another." —MacDougal

(2) **मीड के अनुसार**—"दूसरे के कार्य या व्यवहार को जान-बूझकर अपनाना ही अनुकरण है।"[1]

बालक के अधिकांश कार्य अनुकरण द्वारा ही सीखे हुए होते हैं। वह सबसे पहले अपने माता-पिता तथा परिवार के अन्य सदस्यो का अनुकरण करता है। मानव सस्कृति की सबसे अधिक मूल्यवान वस्तु भाषा है। मानव के जीवन मे भाषा का विकास अनुकरण द्वारा ही होता है। इसके अतिरिक्त बोलने का ढंग, आदतें और दैनिक कार्यक्रम भी वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अनुकरण द्वारा ही सीखता है। बालक के अनुकरण का क्षेत्र जितना अधिक विस्तृत होता जाता है, उतना ही अधिक उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। अनुकरण के कार्यों मे बालक की मूल प्रवत्तियों को सहज ही प्रकाशन मिलता है, जैसे खेल मे बच्चा दूसरे बच्चों का अनुकरण करता है। इन खेलों में उसकी आत्म-प्रदर्शन, आत्म-समर्पण, विधायकता, जिज्ञासा और युयुत्सा की प्रवृत्तियाँ सन्तुष्ट होती हैं। अपने समकक्ष और समआयु साथियो के बीच बालक द्वारा अनुकरण करने की सम्भावना सर्वाधिक रहती है। अनुकरण द्वारा प्रत्येक बालक शीघ्रता से सीखता है। उचित अवसर पर खोज एवं अनुभव द्वारा भी वह अपने मस्तिष्क का विकास करता है। *टी० पी० नन अनुकरण को बालक की वैयक्तिता के विकास का साधन मानते हैं।* बालक के अनुकरण का क्षेत्र जितना व्यापक और सम्पन्न होगा, बालक का व्यक्तित्व भी उतना ही अधिक विकसित होगा।[2]

अनुकरण के प्रकार और उनकी शिक्षोपयोगिता

(1) **अर्थहीन या निरर्थक अनुकरण (Meaningless Imitation)**—बालक की शैशवकालीन अनेक प्रतिक्रियाएँ निरर्थक होती हैं। इस काल में बालक को उन क्रियाओ की उपयोगिता और अनुपयोगिता का ज्ञान नही रहता। वह बिना किसी उद्देश्य के अनुकरण करता है। कुछ काल पश्चात् ज्ञानोदय होने पर वह इन निरर्थक प्रतिक्रियाओं को त्याग देता है। अतः उपयोगिता की दृष्टि से हम यह कैसे कह सकते हैं कि बालक निरर्थक अनुकरण द्वारा अपने अवयवों को सचेष्ट और शरीर को क्रियाशील बनाता है।

(2) **विचाररहित अनुकरण (Imitation Without deliberation)**—बाल्यावस्था में अनुकरण प्रवृत्ति शीघ्रता से कार्य करती है। उदाहरणार्थ—बालक रसोई में माँ को आग जलाते हुए देखकर, स्वय भी आग जलाना चाहता है। पिताजी को हजामत बनाते हुए देखकर उसका भी हजामत बनाने का मन करता है, किन्तु इन बातो के भयंकर परिणामों को वह नही समझ पाता। यदि घर में कोई व्यक्ति बीमार हो और दवा लेता हो तो उसे देखकर बच्चे का मन भी दवा खाने को करता है। अतः अध्यापको को बालक-बालिकाओं पर विशेष दृष्टि रखनी पड़ती है। थोड़ी सी चूक हो जाने पर भी बच्चा आर्थिक हानि का कोई कार्य कर बैठता है अथवा अपने शरीर को ही हानि पहुँचाता है।

---

1 "Imitation is self-conscious assumption of another's acts or roles." —Mead

2 "Imitation at first, biological, then reflective, is in fact the first stage in the creation of individuality and the richer the scope for imitation the richer the developed individuality will be." —Sir T. P. Nunn

(3) विचारपूर्वक अनुकरण (Deliberate Imitation)—इस प्रकार के अनुकरण बालक स्वप्रयत्न से करता है। जब वह किसी का महत्व, उसकी उपयोगिता या श्रेष्ठता से परिचित हो जाता है, तो वह उसे स्वयं भी अपनाना चाहता है। विदेशी भाषा का उच्चारण भी इसी प्रकार अनुकरण द्वारा ही सुधारा जाता है। यदि एक बालिका किसी अन्य बालिका को नृत्य करते देखती है तो उसके मन में भी नृत्य करने की इच्छा प्रबल हो जाती है। वह दूसरों की नृत्य मुद्राओं और हाव-भावों का विचारपूर्वक अनुकरण करती है। पाठशाला में जिन गुणों को मान्यता दी जाती है अथवा जिन कार्यों के करने की प्रशंसा की जाती है या जिसके द्वारा पुरस्कार मिलते हैं उन गुणों अथवा कार्यों की ओर विद्यार्थियों का ध्यान स्वतः ही आकर्षित हो जाता है। सामूहिक शिक्षण का एक महत्वपूर्ण लाभ बालक-बालिकाओं द्वारा सविचार एवं प्रयत्नपूर्वक अनुकरण करना होता है।

(4) विचारजन्य गामक अनुकरण (Ideomotor Imitation)—कक्षा में कभी-कभी अध्यापक बोलता है और विद्यार्थी अपनी पुस्तिकाओं में लिखते हैं। इस परिस्थिति में विद्यार्थी से लिखने के साथ-साथ बोलने की आशा नहीं की जा सकती परन्तु फिर भी कुछ विद्यार्थी लिखने के साथ-साथ शब्दों का उच्चारण भी करते जाते हैं। इसका कारण विचारजन्य गामक प्रतिक्रिया है। इसे भावचालक अनुकरण भी कहते हैं, यदि इसे न रोका जाये तो यह आदत बन जाती है। विचारों से ही कार्य उत्पन्न होते हैं। दूसरे के विचार का अनुकरण करते समय व्यक्ति उस विचार से सम्बन्धित रचनात्मक आवेग (Impulse) का भी अनुभव करता है। अनुकरण करने का यह ढंग बालक, युवा और प्रौढ़ों सभी में ही देखा जा सकता है। खेल के मैदान में दर्शकों की प्रतिक्रियायें अधिकतर इसी प्रकार की होती हैं। इस प्रकार के अनुकरण मे कठिन विषय भी सरल और स्पष्ट हो जाते हैं।

(5) सहज अनुकरण (Sympathatic Imitation)—जीवन के प्रारम्भ में ही व्यक्ति सहज अनुकरण द्वारा अधिकांश बातें सीख लेता है। जिन लोगों के साथ उसका सहानुभूतिपूर्ण सम्बन्ध होता है उनके भाव, विचार और क्रियात्मक आवेगों को वह सहज ही में ग्रहण कर लेता है। अपने दल या समुदाय के साथ व्यक्ति का सम्बन्ध इसी प्रकार का होता है। कक्षा में बालक प्रत्येक कार्य में कक्षा का साथ देना चाहता है। यदि सब विद्यार्थी खड़े होते हैं तो वह भी खड़ा हो जाता है। यदि वे कतार बनाते हैं तो वह भी कतार में खड़ा हो जाता है। किन्तु जिस बालक में नेतृत्व का गुण होता है वह सहज ही में खड़ा नहीं होता अपितु कक्षा से अपना अनुकरण कराना चाहता है। कक्षा-शिक्षण के समय भी बालक सहज अनुकरण द्वारा नवीन ज्ञान ग्रहण करता है।

वेलेन्टाइन (Valentine) ने अनुसरण को दो वर्गों में विभाजित किया है—(क) ध्येययुक्त अनुकरण (Purposive Imitation), (ख) प्राथमिक अनुकरण (Primary Imitation), इसी प्रकार ड्रेवर (Drever) भी अनुकरण को दो वर्गों में विभाजित करते हैं—(क) अचेतन अनुकरण (Unconscious Imitation) (ख) विवेकपूर्ण या विचारात्मक अनुकरण (Deleberate Imitation)।

अनुकरण सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक नियम
(Psychological Laws of Imitation)

(1) *अनुकरण की क्रिया उच्च श्रेणी से निम्न श्रेणी की ओर अग्रसित होती है।* उदाहरणार्थ—धनिकों के आचार-व्यवहार का अनुकरण निर्धन लोग करते हैं। विद्यालय में बड़ी कक्षाओं के छात्रों का अनुकरण छोटी कक्षाओं के छात्र करते हैं। आर्थिक, राजनैतिक और व्यावसायिक नेतृत्व जिन लोगों के हाथ में होता है, उनके आचरण और वेशभूषा आदि का अनुकरण समाज में अन्य लोग करते हैं। विद्यालयों में अध्यापकों के बोलने के ढंग, शब्दोच्चारण, आदतें तथा सामान्य व्यवहार का अनुकरण छात्रों द्वारा किया जाता है। लड़कियों के विद्यालयों में, अध्यापिकाओं का अनुकरण छात्राओं द्वारा अधिक होता है।

(2) **विचार से क्रिया की ओर**—सप्रयोजन या विचारयुक्त अनुकरण में पहले किसी कार्य का अनुकरण करने का विचार उत्पन्न होता है और उसके बाद वह क्रिया होती है। शास्त्रीय संगीत सीखने में भी अनुकरण का यही क्रम रहता है। सीखने वाला पहले उस राग की सैद्धान्तिक व्याख्या ग्रहण करता है तत्पश्चात् गाना सीखने से पहले लिपि तैयार करता है। क्रिकेट, टेनिस, बैडमिंटन, हॉकी एवं फुटबाल आदि खेलों में भी व्यक्ति अनुकरण द्वारा ही बहुत सी कुशलतायें प्राप्त करता है।

(3) **तीव्रता का नियम**—अनुकरण द्वारा ही किसी भी फैशन, कार्यपद्धति अथवा व्यवहार में रेखागणितीय अनुपात से (in Geometrical Proportion) वृद्धि होती है। इसका प्रसार बहुत तीव्रता से होता है, जैसे पोशाकें। सर्वप्रथम, इनका प्रसार समाज के सर्वोच्च वर्ग अथवा सम्भ्रान्त परिवारों में होता है और तुरन्त ही समाज का शेष भाग इनका अनुकरण करने लगता है। सामाजिक रीति-रिवाज भी अनुकरण द्वारा ही परिवर्तित होते हैं। उदाहरणार्थ—आज से कुछ दिन पूर्व चाय प्याले-प्लेट में दी जाती थी, किन्तु अब मगों का प्रयोग होने लगा है।

अनुकरण और शिक्षा
(Imitation and Education)

(1) विद्यालयों में छात्रों के चरित्र का विकास अनुकरण द्वारा होता है *विद्यार्थी परिवार में माता-पिता तथा विद्यालय में गुरुजनों का अनुकरण करता है।*

(2) बालक अनेक कुशलतायें अनुकरण द्वारा ही प्राप्त करता है। जैसे—शब्दोच्चारण, लिखना तथा खेलना इत्यादि। समाज में रहना और सामाजिक कुशलतायें भी अनुकरण द्वारा ही सीखी जाती हैं।

(3) बालक अनेक प्रकार के नवीन व्यवहार अनुकरण द्वारा सीखता है। उसकी अनेक आदतों का निर्माण भी अनुकरण के आधार पर ही होता है।

(4) आविष्कारों का आधार भी अनुकरण होता है।

(5) *वालक के लिए आत्माभिव्यक्ति का साधन अनुकरणात्मक क्रियायें होती* हैं इसलिये अनुकरण को बुरा नहीं समझना चाहिये।[1]

---

1 "Imitation is the only means to original self expression" —Ross

(6) मानव संस्कृति और सभ्यता का विकास भी अनुकरण द्वारा ही हुआ है, अतएव बालक को भी अनुकरण द्वारा सांस्कृतिक बातें ग्रहण कराई जानी चाहिए।

(7) बालकों की अनुकरण क्रियाओं में 'स्पर्द्धा' निहित रहती है। अतएव स्पर्द्धा की भावना का शिक्षा में सदुपयोग होना चाहिए। किन्तु इस भाव को ईर्ष्या में बदलने से बचाना भी आवश्यक है।

(8) अनुकरण बालक के सम्पूर्ण विकास (ज्ञानात्मक, भावात्मक और रचनात्मक) का साधन है। अतः अनुकरण बालक के व्यक्तित्व निर्माण के मार्ग का प्रथम कदम है।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्ति और मूल प्रवृत्ति में क्या अन्तर है? बालक के जीवन में स्वाभाविक प्रवृत्तियों का महत्व स्पष्ट कीजिए।
2. बालक के सामाजिक विकास में स्वाभाविक प्रवृत्तियों की उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।
3. शिशु के जीवन में अनुकरण का क्या प्रयोजन है? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिये।
4. "वह व्यक्ति जिसके पास सहानुभूति नहीं है, उसे अध्यापक नहीं बनना चाहिए।" इस कथन की विवेचना कीजिए।
5. सुझाव कितने प्रकार के होते हैं? प्रत्येक का शैक्षिक महत्व स्पष्ट कीजिये।
6. सामूहिक जीवन में सहानुभूति का क्या कार्य है? विद्यालय के सामूहिक जीवन में इसकी उपयोगिता स्पष्ट कीजिए।

सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्ति—2

आवर्तन, खेल और आदत
(Routine and Play)

आवर्तन और खेल (Routine and Play)—अधिक विकसित शरीरधारियों में निर्देश, सहानुभूति और अनुकरण के अतिरिक्त आवर्तन, खेल की प्रवृत्तियाँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। टी० पी० नन ने आवर्तन और खेल दोनों को समान स्तर की प्रवृत्तियाँ माना है। आवर्तन द्वारा प्रत्येक शरीरधारी सीखी हुई प्रतिक्रियाओं एव कुशलताओं को अपने जीवन मे स्थायी बनाता है। इस प्रकार आवर्तन प्रवृत्ति, अनुभवों को सचय (Conserve) करने में सहायक होती है। मानव शिशु जब नई ध्वनि का उच्चारण करना सीखता है तो वह उसे बार-बार दुहराकर अभ्यास करता है। दुहराने से उसे आनन्दानुभूति होती है। खेल में बालक नई आनन्ददायी प्रतिक्रियाओं का सृजन (Creation) या विधान करता है। इसमे कल्पना, अनुकरण, विधायकता और आत्मप्रदर्शन का योग होता है। जीवन में सचय (Conservation) और सृजन (Creation) शरीरधारियों की क्रियाशीलता के दो पहलू हैं। ये दोनों एक दूसरे के पूरक भी हैं।

टी० पी० नन के अनुसार आवर्तन प्रवृत्ति भौतिक शरीर में भी व्यापक है। हृदय की धड़कन, श्वासक्रिया, रक्तचाप आदि अनेक शारीरिक प्रतिक्रियाओं का आवर्तन जीवन पर्यन्त रहता है। ये शारीरिक प्रतिक्रियाएँ आवर्तन द्वारा शरीर में शक्ति-संचय, निर्माण एव वितरण करती हैं। हमारे मानसिक जीवन में भी आवर्तन का महत्व कम नही है। 'करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान'। जीवन, मरण और सृष्टि आवर्तन से युक्त है। प्रातःकाल, दोपहर, सायंकाल और रात्रि, इसी क्रम से आवर्तन करते हुए जीवन सरिता प्रवाहित होती है।[1]

पाठशाला मे बालक-बालिकाएँ समयानुसार कार्यक्रमो मे भाग लेते हैं। याद की हुई कविता को दोहराने मे उन्हें आनन्द आता है। बालक-बालिकाएँ उन खेलों और कहानियों मे अधिक रुचि लेते हैं, जिनमें एक ही घटना, पात्र या कथन

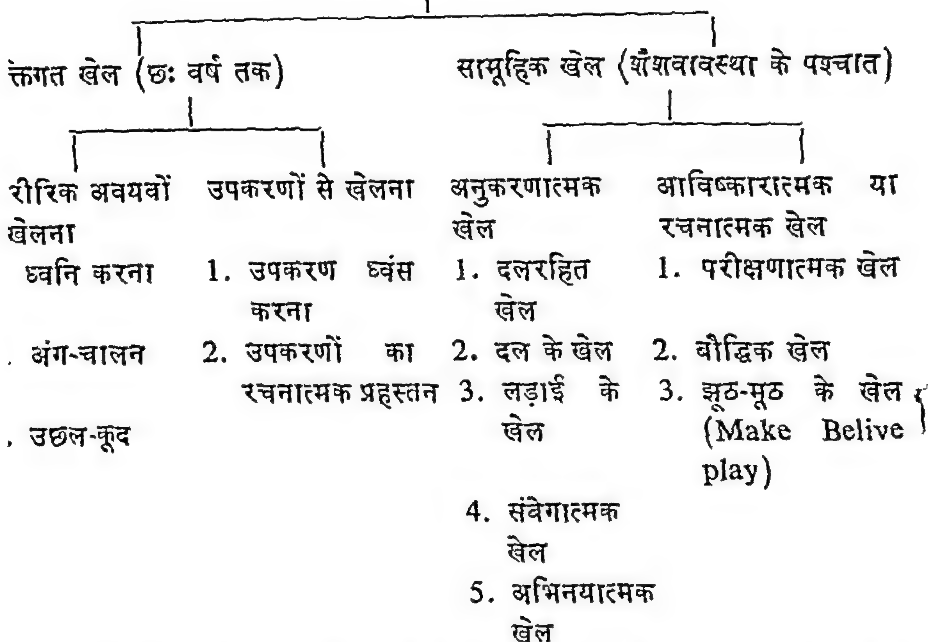
---

1 "In many ways, obvious or hidden, the life of man keeps steps with the ...n, that the percep- ...hould, among other
—Sir T. P. Nunn :

ासे के लिये गाता है। इस प्रकार खेल और कार्य के बीच कोई निश्चित -रेखा नहीं है। यह तो कर्ता की भावनाओं पर ही निर्भर होता है।

खेल के प्रकार—मोटे तौर पर खेल की क्रिया दो वर्गों में विभक्त की ाकती है।

(1) व्यक्तिगत खेल
(2) सामूहिक खेल



प्रत्येक जीवधारी क्यों खेलता है? खेल की क्रियाओं का लक्ष्य क्या है? ोल का जीवन में क्या प्रयोजन है? खेल सम्बन्धी इन प्रश्नों के उत्तर भी भिन्न-भिन्न हैं। दार्शनिक वैज्ञानिक, और मनोवैज्ञानिक भी खेल की व्याख्या एक मत से ्यों नहीं करते इस तथ्य का कारण जानने के लिये हमें खेल के विभिन्न सिद्धान्तों पर ृष्टिपात करना होगा।

खेल के सिद्धान्त

1. अतिरिक्त शक्ति का सिद्धान्त (Surplus Energy Theory)—जर्मन ाार्शनिक शिलर तथा हरबर्ट स्पेंसर इस सिद्धान्त के प्रवर्तक एवं समर्थक थे। इनके अनुसार बच्चों के शरीर में आवश्यकता से अधिक शक्ति उत्पन्न होती है। प्रकृति ने इस अतिरिक्त शक्ति को शरीर से बाहर निकालने के लिये खेल की प्रवृत्ति का आविष्कार किया है। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिये वाष्प-इंजन का उदाहरण दिया जाता है. जिसमें अतिरिक्त वाष्प-शक्ति एक सुरक्षित द्वार (Valve) से बाहर निकाल दी जाती है। किन्तु यह सिद्धान्त खेल की सम्पूर्ण व्याख्या नहीं करता है। हम

थकावट और शक्तिहीनता की दशा में भी खेलना पसन्द करते हैं। खेल में शक्ति का केवल व्यय ही नही होता अपितु नई शक्ति का संचार भी होता है। खेल में शक्ति केवल नष्ट ही नही होती वरन् मासपेशियाँ भी पुष्ट होती हैं। शारीरिक प्रतिक्रियायें सीखी ही नही जाती वरन् उनका अभ्यास भी होता है।

2. पुनः प्राप्ति का सिद्धान्त (Recreation Theory)—उपरोक्त सिद्धान्त की कमियों को पूरा करने के लिये जर्मन विद्वान लेजारस (Lazarus) ने पुनः प्राप्ति के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। खेल के द्वारा बालक-बालिकाएँ खोई हुई शक्ति को नित्यप्रति पुनः प्राप्त करते हैं। किन्तु यह सिद्धान्त भी खेल की सम्पूर्ण व्याख्या नही करता। मनोरंजन के अतिरिक्त खेल के अन्य प्रयोजन भी हैं जोकि आगे के सिद्धान्त में व्यक्त किये गये हैं।

3. पूर्वाभिनय का सिद्धान्त (Preparation or Practice Theory or Anticipatory Theory)—कार्लग्रूस (Karlgroos) ने पशुओं और मनुष्यों के खेलों का सविस्तार अध्ययन किया। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि खेल द्वारा प्रत्येक शरीरधारी अपने भविष्य जीवन की तैयारी करता है। खेल ही खेल मे चिड़िया का बच्चा दाना चुगना और उड़ना सीख लेता है। बिल्ली का बच्चा भी खेल ही खेल मे अपना शिकार पकड़ना सीख लेता है। मानव शिशु भी अपने खेलो में प्रौढ़ आचरण का अनुकरण करता है। लड़के अपने खेलो मे चोर, सिपाही, मास्टर, डॉक्टर आदि का अभिनय करते हैं। वे खेल ही खेल मे मकान बनाते हैं; दुकान सजाते हैं, कुँआ खोदते हैं और पेड लगाते हैं। इस प्रकार के खेल इस बात के द्योतक हैं कि बच्चा भावी-जीवन की तैयारी कर रहा है। वह खेल ही खेल मे अपने वातावरण मे विद्यमान सांस्कृतिक तत्वो को ग्रहण करके प्रौढ जीवन के उत्तरदायित्व को निभाने के लिये तैयार होता है। खेल द्वारा बालक का सुन्दर शारीरिक एवं मानसिक सगठन होता है उसके प्रवृत्तिजन्य आवेगों का समाजीकरण होने लगता है। उसमे शारीरिक परिपक्वता उत्पन्न होती है और अन्तर्निहित योग्यताओ का अभ्यास द्वारा विकास होता है। किन्तु यह कहना भी सर्वथा सत्य नही है कि बच्चो के सभी खेल भविष्य जीवन से सम्बन्धित होते हैं, अथवा उन मे भविष्य की झलक होती है।

4. पुनरावृत्ति का सिद्धान्त (Recapitulatory Theory)—खेल के सम्बन्ध मे स्टैनले हॉल (Stanley Hall) के विचार विकासवाद (Evolutionism), मानवशास्त्र (Anthropology) और प्रजनन शास्त्र (Genetics) से प्रभावित हैं। जातीय विकास के इतिहास मे प्रत्येक शरीरधारी ने विकास की विभिन्न सीढ़ियों को पार किया है। प्रत्येक नवजात-शिशु, अब भी शारीरिक और मानसिक दृष्टि से पूर्ण विकसित होने से पूर्व, विकास-क्रमानुसार उन सभी अवस्थाओं को पार करता है। बालक की गर्भकालीन आकृतियाँ मानव जाति के पूर्वजो से काफी मिलती-जुलती हैं। शरीर की भाँति मन का भी क्रमिक विकास होता है। बालक के पूर्वजो की मानसिक अपरिपक्वता की झलक, उनके खेलों मे दृष्टिगोचर होती है। खेल की क्रियाओं में वह अपने जातीय इतिहास की पुनरावृत्ति करता है। शैशव से प्रौढ़ावस्था तक उसके खेलों का सांस्कृतिक स्तर ठीक उसी ढंग से उन्नति करता है, जिस ढग से मानव ने बर्बरता से सभ्यता की ओर प्रगति की है।

में वालक, आदि काल के व्यापार, जैसे—मकान वनाना, पेड़ पर चढ़ना, शिकार खेलना, छिपना, खोजना आदि क्रियाओं को दोहराकर आनन्दित होते हैं। यदि पूर्वाभिनय का सिद्धान्त भविष्य की ओर संकेत करता है तो पुनरावृत्ति का सिद्धान्त भूतकालीन, जातीय संस्कारों पर आधारित है।

5. **परिष्कार या रेचन सिद्धान्त** (Catharsis Theory)—इस सिद्धान्त की व्याख्या मूल प्रवृत्तियों के सम्वन्ध में की जा चुकी है। खेल द्वारा अनेक अवांछनीय आवेगों का प्रदर्शन एवं प्रकाशन करके व्यक्ति का मन और शरीर स्वास्थ्य लाभ करता है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत, उपर्युक्त चारों सिद्धान्तों का सुन्दर सामंजस्य परिलक्षित होता है। अन्त में यह कहा जा सकता है कि यह पाँचों सिद्धान्त एक दूसरे के विरोधी नहीं अपितु पूरक हैं।

खेल का शैक्षिक महत्व

प्राय: शिक्षक और अभिभावक यह शिकायत करते हैं कि बच्चे पाठ्य-विषयों में रुचि न लेकर खेलों की ओर अधिक आकर्षित होते हैं। यदि खेल इतना ही आकर्षक है तो हम विद्यालय के कार्यक्रमों को खेलमय ही क्यों न बनाएँ। जिससे प्रत्येक विद्यार्थी पाठशाला की ओर आकर्षित हो और वहाँ के कार्यक्रमों में रुचि से भाग ले सके।

वालक के लिए ज्ञानार्जन एक कठिन कार्य है। खेल विधि से इसे सरल, आकर्षक और आनन्ददायी वनाया जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में अध्यापक को छात्रों का पूर्ण सहयोग प्राप्त होगा और विद्यार्थी स्वप्रयत्न से, अपनी सम्पूर्ण शक्तियों का प्रयोग करके शिक्षा ग्रहण कर सकेंगे।

क्रान्तिकारी विचारक रूसो ने खेल के इस महत्व को भली-भाँति समझ कर वालक के लिए स्वच्छन्दता, स्वतन्त्रता व आत्म-प्रदर्शन की माँग की थी। कार्लग्रूस के अनुसार, खेल शरीरधारियों के शिक्षण की प्राकृतिक विधि है। शिक्षा का उद्देश्य मानव-शिशु की प्राकृतिक शक्तियों का मार्गान्तरीकरण करना और उसके व्यवहार को व्यक्ति और समाज के लिए कल्याणकारी वनाना है। हम इन शक्तियों को शैक्षिक खेलों के द्वारा जीवन की रचनात्मक क्रियाशीलता की ओर अग्रसर करते हैं। खेल में अनुकरण, कल्पना और विधायकता लिप्त रहती है। खेल द्वारा वालक की अनुकरणात्मक अभिव्यक्ति, सौन्दर्यानुभूति एवं कलात्मक रचनाओं में व्यक्त होती है। इसलिए कहानी, नाटक, कविता, साहित्य, विज्ञान एवं कला आदि सभी विषयों के अध्यापन में खेल का सुन्दर ढंग से समावेश किया जाना चाहिए। मनुष्य की उत्कृष्ट सफलताओं का रहस्य खेल की भावना ही है।

खेल का शिक्षण में उपयोग

काल्डवैल कुक ने खेल की महान् उपयोगिता को ध्यान में रखकर ही खेल द्वारा शिक्षा (Play way in Education) देने की पद्धति खोज निकाली है। इसके अतिरिक्त अन्य शिक्षाशास्त्रियों ने खेल का सदुपयोग अनेक शिक्षा पद्धतियों एवं प्रणालियों में किया है। प्रोफेसर आर्मस्ट्रांग की स्वयं-ज्ञान पद्धति (Heuristic Method) द्वारा शिक्षा देने के लिए विद्यार्थियों को ऐसी परिस्थिति में रखा जाता है

ह वे स्वयं नवीन ज्ञान की सृष्टि करते हैं। उन्हें स्वयं खोज करने का आनन्द प्राप्त होता है। इसलिए इस विधि से शिक्षण एक आनन्ददायी कार्य बन जाता है।

पुनरावृत्ति का सिद्धान्त भी व्यावहारिक शिक्षण में प्रयोग किया जाता है। जिस प्रकार खेल में जातीय सस्कारो का पुनरावर्तन करके बच्चे आनन्द प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार कक्षा मे सीखी हुई बातों का पुनरावर्तन भी आनन्ददायी एव उपयोगी क्रिया है। बालक एक स्वचालित शरीरधारी है। उसे बाहरी नियन्त्रण की अपेक्षा आत्मनियन्त्रण करने में अधिक खुशी होती है। और वह आत्म-नियन्त्रण से कार्य करना चाहता है। इसीलिए पाठशालाओं मे स्वशासन (Self Government) स्थापित किया जाता है। इससे बालक-बालिकाएँ स्वतन्त्रतापूर्ण एवं आनन्दमय वातावरण में पूर्ण उत्तरदायित्व का अनुभव करते हैं।

फ्रोबेल ने खेल को बच्चे की स्वाभाविक क्रिया माना था। इसीलिये बालोद्यान विधि (Kindergarten Method) से बालक-बालिकाएँ गीत एवं नृत्य द्वारा अपना मनोरजन करते हुए शिक्षा ग्रहण करते हैं। फ्रोबेल ने बच्चों को सामूहिक खेल तथा गीतो का उपहार दिया और पाठ्यक्रम मे रचनात्मक विषयों,—जैसे, चित्रकारी, बागवानी, सामूहिक ड्रिल आदि—का समावेश किया। मोन्टेसरी-शिक्षा मे भी खेल का सुन्दर समावेश किया गया है। शिक्षोपकरणों से खेलते हुए बालक-बालिकाएँ लिखने पढ़ने और गिनती गिनने की कला सीख लेते हैं। उन्हें अपना स्कूल कारावास की तरह यन्त्रणादायक नही लगता, अपितु वे प्रसन्नता और उत्साह से स्कूल की ओर आकर्षित होते हैं। आधुनिक पाठशालाओं में सरस्वती यात्राओं (Educational Excursions) का प्रचलन बढ़ रहा है। स्कूल से दूर प्रकृति के अचल में, पर्वत, झील, घाटी या सागर के तट पर प्राचीन खण्डहरो या आधुनिक कारखानों को देखकर बाल-मन हर्ष से रोमांचित हो उठता है। उसकी ज्ञान-पिपासा में वृद्धि होती है और मन मे अधिक कौतूहल जाग्रत होता है।

योजना पद्धति (Project Method) तथा डाल्टन योजना विधि (Dalton Plan Method) मे भी खेल की प्रवृत्ति का उपयोग दिखाई देता है। यहाँ बालक-बालिकाओं को कक्षा और समय-चक्र के बन्धनों से मुक्त किया गया है। इन पद्धतियों में बालक को अपना कार्य स्वयं ही चुनकर अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करते हुए स्वतन्त्रतापूर्वक करने का अवसर दिया जाता है।

पाठशाला में स्काउट आन्दोलन के प्रचलित होने का कारण इसमें निहित खेल की भावना ही है। स्काउटो के दल वन में जाकर डेरा डालते हैं, रात मे अग्नि जला कर अभिनयात्मक खेल खेलते हैं। इन खेलों मे आत्मप्रदर्शन और सहानुभूति तो होती ही है, साथ ही उन्हें इन खेलो मे खोज करने का आनन्द प्राप्त होता है। सहभोज तथा सहगान मे भाग लेते हुये वे आत्मनियन्त्रण एव आत्म-निर्भरता प्राप्त करके समाज सेवा के लिये तत्पर रहते हैं।

संक्षेप मे हम यह कह सकते हैं कि पाठशाला के वातावरण में बालक-बालिकाओं की खेल प्रवृत्ति का समुचित प्रयोग किया जा सकता है। खेल प्रवृत्ति का सदुपयोग करके एक कुशल अध्यापक खेल के मैदान में कक्षा में, वाचनालय में और पुस्तकालय मे, छात्रावास मे, प्रयोगशाला अथवा कार्यशाला में तथा पाठशाला में होने

वाले जलसों और नाटकों में तथा पाठशाला के बाहर भी अपने छात्रों की जन्मजात प्रेरणाओं को व्यक्ति और समाज के लिये कल्याणकारी मार्गों की ओर प्रेरित कर सकता है।

खेल, जीवन और शिक्षा
(Play, Life and Education)

खेल की क्रिया का जीवन और शिक्षा में क्या प्रयोजन हो सकता है इसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। अब संक्षेप में उन बातों पर प्रकाश डाला जाएगा जो बालक के जीवन और शिक्षा को खेल से सम्बन्धित करती हैं।

(1) खेल शारीरिक-विकास का साधन है। इससे बालक को शारीरिक स्वास्थ्य लाभ होता है। उसका शरीर सुन्दर और सुडौल बनता है तथा वह अनेक बीमारियों से भी बचा रहता है। उसकी मांसपेशियाँ क्रियाशील रहती हैं। शरीर में रक्त संचार, बल और स्फूर्ति की वृद्धि होती है।

(2) खेल मानसिक विकास का साधन है। खेल में बालक नवीन मानसिक शक्ति प्राप्त करता है और थकान से मुक्त रहता है। खेल ही खेल में वह नये शब्द, भाषा और विचार ग्रहण करता है। उसे 'कल्पना' और 'खोज' का अवसर मिलता है।

(3) खेल बालक के व्यवहार का समाजीकरण करता है। वह खेल ही खेल में अन्य लोगों के साथ सहयोग करना, आज्ञा पालन, नियमों का सम्मान करना, सामूहिक हितों का ध्यान रखना, सामंजस्य करना और सहिष्णुता दिखाना सीख लेता है। उसमें आत्मत्याग और उत्तरदायित्व की भावनाओं का विकास होता है।

(4) खेल की क्रिया से बालक को संवेगात्मक प्रशिक्षण प्राप्त होता है। वह अपने संवेगों पर नियन्त्रण करना सीख जाता है। जिन बच्चों को खेल का पर्याप्त अवसर नहीं मिलता वे दिवा-स्वप्नों में अपना समय व्यतीत करते हैं। स्किनर के अनुसार खेल बालक के संवेगों को स्थिरता प्रदान करता है।

(5) खेल प्राकृतिक शिक्षा का ढंग है। खेल ही खेल में बालक अपने वातावरण की बहुत सी बातें जान लेता है। उसके ज्ञान की वृद्धि होती है। वह वस्तुओं की उपयोगिता से परिचित हो जाता है। उसमें सामाजिक सम्बन्धों और रुचियों का भी विकास होता है।

(6) खेल बालक के व्यक्तित्व के विकास का साधन है। खेल की क्रिया में बालक का सम्पूर्ण आत्म (Self) संलग्न रहता है। उसे खेल में आत्माभिव्यक्ति का पूरा अवसर मिलता है। उसमें नैतिक गुणों का विकास होता है। उसे अपनी आयु के बच्चों का नेतृत्व करने का अवसर मिलता है। हरलॉक के अनुसार खेल बालक के नैतिक प्रशिक्षण का अनोखा साधन है।

(7) खेल जीवन में मानसिक स्वास्थ्य-लाभ प्राप्त करने का साधन है। आजकल मनोवैज्ञानिक खेलों का उपयोग अनेक प्रकार के मनोविकारों को दूर करने के लिये भी करते हैं। जिसे खेल-चिकित्सा तथा मनोरंजन-चिकित्सा (Play Therapy & Recreation Therapy) कहते हैं। खेल ही खेल में बालक अनेक

हानिकारक संवेगों से मुक्त होकर मानसिक सन्तुलन प्राप्त करता है जिससे मानसिक तनाव दूर होते हैं।

आदत
(Habit)

मनुष्य का स्वभाव दो प्रवृत्तियों में विभाजित किया जा सकता है : (1) जन्मजात प्रवृत्तियाँ एवं (2) जीवन में अर्जित प्रवृत्तियाँ या आदतें।

अर्जित प्रवृत्तियो का आधार जन्मजात प्रवृत्तियाँ ही होती हैं। हमारी आदतें मूल प्रवृत्तियों का वातावरण के अनुसार परिवर्तित रूप हैं। जैसे गेहूँ या चावल खाने की आदत, चाय, कॉफी या दूध पीने की आदत। यह सभी आदतें भोजनान्वेषण की मूल प्रवृत्ति का परिवर्तित किन्तु स्थायी रूप हैं। जेम्स के अनुसार—"आदत व्यक्ति का दूसरा स्वभाव है। 'आदत' समाज की बहुत सी बातों को प्रचलित करने एवं उनका संग्रह करके उन्हें सुरक्षित रखने वाला प्रबल साधन है।"[1]

मैक्डुगल और नन के अनुसार आदत आवर्तन प्रवृत्ति का प्रकाशन है। आदतों को समझने के लिये उनकी मनोवैज्ञानिक विलक्षणताओं की ओर ध्यान देना आवश्यक है।

आदत की मनोवैज्ञानिक विलक्षणताएँ

(1) आदतें व्यक्ति के लिये लाभदायक अथवा हानिकारक दोनों ही सिद्ध हो सकती है। जैसे—समाचार पत्र पढ़ने की आदत और जुआ खेलने की आदत। अपने इन गुणों के कारण आदतें अच्छी या बुरी कही जा सकती हैं। जीवन को समृद्ध बनाने के लिए अच्छी आदतों की नींव बाल्यकाल से ही पड़नी चाहिए।

(2) आदत के कार्यों मे एकरूपता या समानता (Uniformity) होती है। जैसे किसी व्यक्ति की लिखावट का ढंग, चलने का ढंग या बोलचाल की आदत। बालक को शिष्टाचार एव आकर्षक ढग से वार्तालाप सिखाने के लिए, उसकी दैनिक जीवन की आदतों को बाल्यकाल से ही सुधारना चाहिए।

(3) आदत के कार्यों में सुगमता या सरलता (Facility) होती है। प्रारम्भ मे बच्चे को अक्षर मिलाकर लिखने में कठिनाई होती है किन्तु अभ्यास करने पर यह कठिनाई दूर हो जाती है और उसे शीघ्रता से पढ़ने की आदत पड़ जाती है। *लम्बे अभ्यास के बाद टाइप करना भी कितना सरल पड़ जाता है। अच्छी आदतों* वाले व्यक्ति का जीवन सरल और सुखी होता है।

(4) आदत के कार्यों मे रोचकता (Interest) बनी रहती है। जैसे—कोई विशेष खेल खेलने की आदत, पत्र-पत्रिका पढने की आदत, घूमने की आदत। आदत के कार्यों को पूरा करने मे व्यक्ति का मनोरंजन होता है। यदि बालक मे अच्छी आदतें बनी हुई हैं तो वह अपने अवकाश के क्षणो का सदुपयोग अच्छे-अच्छे कामो मे कर सकता है।

(5) आदत के कार्यों मे व्यक्ति को ध्यान की स्वतन्त्रता (Independence

---

1 *"Habit is the enormous flywheel of society, its most conservative agent."*
—James

of Attention) मिलती है। एक कुशल टाइपिस्ट या साइकिल चलाने वाला व्यक्ति कार्य भी करता रहता है और दूसरों से बातचीत भी करता रहता है। अपना कार्य करते हुए भी उसका मन अन्य समस्याओं को सुलझा सकता है। अतः मानसिक दृष्टि से भी आदतें बहुत लाभदायक तथा आवश्यक हैं।

(6) मनुष्य की आदतें परिवर्तनशील होती हैं। यद्यपि व्यक्ति की अधिकांश आदतें प्रौढ़ावस्था तक (20 से 30 वर्ष की आयु तक) परिपक्व हो जाती हैं तथापि प्रयत्न और अभ्यास द्वारा उन्हें छुड़ाया जा सकता है। अध्यापक को आदतों की परिवर्तनशीलता का लाभ उठाना चाहिये। यदि घर पर बालक ने बुरी आदतें ग्रहण की हैं तो उन्हें छुड़ाने का प्रयत्न करना चाहिये। और इनके स्थान की पूर्ति अच्छी आदतों से करनी चाहिये। मनुष्य आदतों का दास नहीं है, अतः वह अपने दृढ़ संकल्पों की शक्ति से बुरी आदतों को भी छोड़ सकता है। नाइट डनलप (Knight Dunlope) को एक बुरी आदत थी, कि वह टाइप करते समय "the" के स्थान पर "hte" टाइप करता था। उसने जान-बूझकर बार-बार (hte) अर्थात अशुद्ध टाइप किया और कुछ काल पश्चात् परिणाम यह निकला कि टाइप करने में "the" शब्द की अशुद्धि लुप्त हो गई।

(7) मनोविश्लेषणवादी आदतों का सम्बन्ध भावना-ग्रन्थियों से सम्बन्धित करते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक भली या बुरी आदत के पीछे संवेगात्मक प्रेरणा होती है। संवेगों के अवदमन से जो शक्ति अवरुद्ध हो जाती है वह बुरी आदतों या कुचेष्टाओं के मार्ग से प्रकाशित हो जाती है। इन बुराइयों को समझते हुए भी व्यक्ति इनसे मुक्त नहीं हो पाता। जैसे—एक शिष्ट, सम्पन्न और विद्वान व्यक्ति में दूसरों का कलम चुराने की आदत, या निन्दा करने की आदत, या डींग मारने की आदत। इन बुरी आदतों को छुड़ाने के लिये भावना-ग्रन्थि को समूल नष्ट करना आवश्यक है।

आदतों की मनोवैज्ञानिक परिभाषायें इस प्रकार हैं—

(1) मार्गन तथा गिलिलैण्ड के अनुसार—"अनुभव द्वारा प्राप्त व्यवहार के सभी परिवर्तन आदत कहलाते हैं। सीखना इन परिवर्तनों को ग्रहण करने की प्रक्रिया है।"[1]

(2) गैरेट के अनुसार—"आदत उस व्यवहार का नामकरण है जो इतनी बार दोहराया गया है, कि यन्त्रवत् हो गया है।"[2]

(1) आदतें हमारी शारीरिक एवं मानसिक शक्ति को संचित करने का सुन्दर साधन हैं। आदतानुसार कार्यों में प्रेरणा या उद्दीपकों (Motivation) की आवश्यकता नहीं होती।

शैक्षिक दृष्टि से आदतों का महत्व

(2) सीखने की प्रक्रिया में आदतों

1 "All changes of behaviour acquired through experience are called habits, learning is the process of acquiring these changes" —Morgan and Gilliland

2 "Habit is the name given to behaviour so often repeated as to be automatic". —Garrett (p. 282)

के सहयोग से सीखने का काम सरल हो जाता है। जेम्स के अनुसार—"आदते हमारे कार्यों को सरल, सुनिश्चित एवं थकानरहित बनाती हैं।[1]

(3) आदतो से बालक के व्यवहार को समझने मे सहायता मिलती है। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बालक कौन-सी परिस्थिति मे कौन-सी प्रक्रिया करेगा।

(4) आदतों से बालक के मस्तिष्क को उच्चस्तरीय विचार करने की सहूलियत मिलती है।

(5) अच्छी आदतो के प्रादुर्भाव से पाठशाला का अनुशासन सुधारा जा सकता है। छात्रों के जीवन मे अनुशासन (Discipline) की स्थापना की जा सकती है।

(6) आदतें डालकर कठिन से कठिन विषय को भी सरल एव रोचक बनाया जा सकता है। बालको की कार्य प्रणाली को सुनिश्चित एवं कुशल बनाया जा सकता है। सुन्दर चरित्र अच्छी आदतों का पुज है।

वांछनीय आदतें डालने के उपाय

विलियम जेम्स ने आदत डालने के चार नियमो का उल्लेख किया है जो इस प्रकार हैं—

1. दृढ़ सकल्प (Strong Will)--जब हम किसी बात की उपयोगिता और महत्व समझ लेते हे तो उसे अपने जीवन मे अंगीकार करना चाहते हैं। उदाहरणार्थ—प्रातःकाल उठकर पढने या व्यायाम करने की आदत को नियमानुसार सम्पन्न करने के लिए व्यक्ति का दृढ संकल्प होना चाहिए और उसे समय-समय पर अपना यह सकल्प दोहराते रहना चाहिए। अन्यथा थोडे से ही आलस्य के कारण वर्षों का अभ्यास छूट सकता है। इस कार्य के लिए छात्रो को दृढ-सकल्पी महापुरुषो के जीवन चरित्र से शिक्षा लेनी चाहिए।

2. सतत् प्रयत्न (Constant Efforts)—किसी विचार को कार्यान्वित करने के लिए केवल ज्ञान या संकल्प से काम नही चलता, बल्कि उसकी प्राप्ति के लिए लगातार प्रयत्न भी होना चाहिए। कोई भी अच्छा कार्य अविलम्ब प्रारम्भ कर देना चाहिए।

3. संलग्नता या निरन्तरता (Continuity)—किसी भी आदत को स्थायी बनाने के लिए संलग्नता से काम लेना चाहिए। एक दिन की चूक से लम्बे समय का परिश्रम व्यर्थ हो सकता है। आदत को बनाने मे व्यक्ति को सम्पूर्ण रूप से आत्म-सलग्न रहना चाहिए।

4. अभ्यास (Practice or Execrcise)--अभ्यास के अभाव मे आदत लुप्त हो सकती है। इसलिए अच्छी आदतो का थोड़ा बहुत अभ्यास अवश्य होते रहना चाहिए। अभ्यास उस समय तक करते रहना चाहिए जब तक कि आदत दृढ और स्थायी न हो जाये।

1 "Habit simplifies our movements, makes them accurate, and diminishes fatigue." —James. p. 13

इन चार नियमों के अतिरिक्त अध्यापकों एवं अभिभावकों को निम्नलिखित बातों पर भी ध्यान देना चाहिए।

5. बच्चों को समय-समय पर अच्छी आदतों का महत्व और जीवन में उनकी उपयोगिता के विषय में बताना चाहिए। उनके सामने अच्छी आदतों के उदाहरण रखने चाहिए।

6. कुछ अच्छे गुणों पर सत्याचरण करने के लिये बच्चों को सार्वजनिक ढंग से शपथ ग्रहण करानी चाहिए।

7. बालक-बालिकाओं में अच्छी आदतें ही विकसित हों इसके लिये उनके जीवन में अच्छे स्थायी भाव (Sentiments) और संवेगात्मक प्रेरणायें भी होनी चाहिए।

8. पाठशाला में उचित आदतें डालने के लिए अध्यापक वर्ग पुरस्कार और दंड का प्रयोग भी कर सकता है।

उपर्युक्त नियमों का प्रयोग बुरी आदतों से मुक्त होने के लिए भी किया जा सकता है।

कठोर आदतें बनाना क्यों अच्छा नहीं होता? इसके निम्नलिखित कारण हैं—

1. कठोर आदतें कठिनता से ही लुप्त होती हैं, इसलिए व्यक्ति को बदलते हुए वातावरण में समायोजन (Adjustment) करने में बहुत कठिनाई होती है।

2. आदत के लिए किये गए कार्य यन्त्रवत् होते हैं, उनमें नवीनता की झलक नहीं होती।

3. नित्यप्रति की आदतों के कार्य में संवेदनात्मक या संवेगात्मक अनुभूति नहीं होती।

बुरी आदतों के मनोवैज्ञानिक आधार

मनोविश्लेषणवादी अधिकांश बुरी आदतों का मूल स्रोत काम-प्रवृत्ति के अवदमन को ही मानते हैं। किन्तु हम सभी बुरी आदतों का एक ही कारण नहीं मान सकते हैं। दूसरे बच्चों को चिढ़ाने की आदत काम प्रवृत्ति का दुष्परिणाम हो सकती है। किन्तु इसके अतिरिक्त परिस्थितियों में भी यह बुरी आदत पड़ सकती है। जैसे—एक बालक अपमानित होने पर, या मान्यता न मिलने पर अथवा सामाजिक अवहेलना के कारण या ईर्ष्यावश अपने स्कूल के साथियों को चिढ़ाने में आनन्द लेता है।

आत्म-प्रकाशन का यथेष्ट अवसर न मिलने पर भी कुछ बालक कुचेष्टाओं को दोहराकर, दूसरों का ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न करते हैं। यही कुचेष्टाएँ उसकी बुरी आदतें बन जाती हैं, जिनसे मुक्त होना कठिन हो जाता है। बच्चों की अधिकांश बुरी आदतों का कारण अभिभावकों का अमनोवैज्ञानिक व्यवहार होता है। अधिक लाड़-प्यार या कठोर अनुशासन दोनों ही अमनोवैज्ञानिक हैं। इनसे बालक में भावना-ग्रन्थियाँ बन जाती हैं जिनका प्रकाशन बुरी आदतों के रूप में होता है। पाठशाला और घर में बालक-बालिकाओं को अपने बढ़ते हुए व्यक्तित्व का समायोजन करने में पूरी सहायता मिलनी चाहिए।

आन्तरिक प्रेरणाओं के अतिरिक्त बालक-बालिकाएँ बहुत सी बुरी आदतें ग्रहण करते हैं। जैसे—झूठ बोलना, निन्दा करना, डींग मारना, भय करना, धूम्रपान

करना, आदि। अधिकांश व्यसन बुरी संगति और अनुकरण का परिणाम होते हैं। अध्यापकों को छात्रों की बुरी आदतो का कारण केवल बालक के व्यक्तित्व में ही न खोजकर, उसके वातावरण में भी (निरीक्षण करके) खोजना चाहिये।

विद्यालय पहुँचने से पूर्व बालक-बालिकाएँ अनेक बुरी आदतें भी ग्रहण कर लेते हैं। अतः अध्यापक का कार्य केवल अच्छी आदतो का निर्माण करना मात्र ही नहीं है। उसे छात्रों की बुरी आदतों को भी यथा-सम्भव दूर करना चाहिये। इस सम्बन्ध में उपयोग मे आने वाली कुछ इस विधियाँ इस प्रकार हैं :

बुरी आदतों को तोड़ना (Breaking bad Habits)

(1) दृढ संकल्प—जिस प्रकार अच्छी आदतें बनाने के लिये दृढ संकल्प आवश्यक है, उसी प्रकार बुरी आदतों को तोड़ने के लिए भी पहले बालक के मन में इस विचार की दृढ़ता स्थापित होनी चाहिए।

(2) आत्म सुझाव—किसी बुरी आदत के विरोध में 'आत्म सकेतो' को दोहराना चाहिए। जैसे—"चोरी करना बुरी बात अथवा पाप है।" इस प्रकार बुरी आदत को तोड़ने के लिए मानसिक तैयारी आवश्यक होती है।

(3) स्थानापन्न आदतों का विकास—बुरी आदतें छुड़ाने के लिए नई आदतें डालनी पड़ती हैं। जैसे—भाँग पीने, या शराब पीने की आदत छुड़ाने के लिए किसी पेय की आदत डालना।

(4) वातावरण में परिवर्तन—छोटे बच्चो की बहुत सी आदतें वातावरण परिवर्तन या सगत का प्रभाव बदलने से परिवर्तित हो जाती हैं। जो आदतें किसी खास वातावरण मे उत्पन्न होती हैं वे इसी प्रकार दूर की जा सकती हैं।

(5) अभ्यास में सुधार—कुछ त्रुटि-पूर्ण आदतें गलत अभ्यास के कारण उत्पन्न होती हैं। उन्हे अभ्यास को क्रिया में सुधार करके ठीक किया जा सकता है। जैसे—शब्दोच्चारण।

(6) बुरी आदतों पर अधिक ध्यान देना—अनेक गलत आदतें लापरवाही के कारण बनती हैं। अतः उन आदतो से सम्बन्धित कार्यों पर विशेष ध्यान देने से वे त्रुटि-पूर्ण आदतें दूर हो जाती है। जैसे—खुला हुआ कलम जेब में लगा लेने की आदत, साइकिल की चाबी खो देने की आदत।

(7) मानसिक स्वास्थ्य द्वारा सुधार—कुछ बुरी आदत सवेगात्मक असन्तुलन या सवेगात्मक जटिलता के द्वारा पड़ती हैं। जैसे नाखून चबाना, कलम बार-बार मुंह मे देना, बटन चबाना आदि। अतः सवेगात्मक कठिनाइयाँ दूर करने से इनका निवारण हो सकता है।

(8) दण्ड और पुरस्कार के प्रयोग से अवाछनीय आदतें दूर करने और सही आदतें डालने में सहायता मिलती है। जैसे—राष्ट्रीय गान के समय हिलने-डुलने या बात-चीत करने की आदत। किन्तु ध्यान रखना चाहिए कि दण्ड से पुरस्कार उत्तम है और निन्दा से प्रशंसा उत्तम है।

(9) अभावात्मक विधि—जिस वस्तु की बुरी आदत पड़ जाए उसका अभाव

12

अभिवृद्धि, विकास और परिपक्वता तथ विकास की अवस्थाए

(GROWTH, DEVELOPMENT, AND MATURIT AND STAGES OF DEVELOPMENT

मनुष्य एक ऐसा शरीरधारी है जो निरन्तर विकसित होता रहता है। दूस शब्दों में, मनुष्य में निरन्तर आन्तरिक और वाहरी परिवर्तन होते रहते हैं। इ परिवर्तनों के आधार पर इनमें दूरगामी परिवर्तन भी होते हैं, जो परिवर्तन की दिश और गति निर्धारित करते हैं। शिक्षा प्रक्रिया का लक्ष्य भी वालक के जीवन वांछनीय परिवर्तन करना है। अत: अध्यापक को वालक के स्वभावगत परिवर्तनों, भलीभाँति परिचित होना चाहिए। इनको समझे बिना वह वालक में शैक्षिक विक लाने में सफल नहीं हो सकता।

अभिवृद्धि और विकास का अर्थ
(Meaning of Growth and Development)

शिक्षा मनोविज्ञान में प्राय: अभिवृद्धि और विकास समानार्यक शब्द मा जाते हैं। किन्तु फिर भी इनके अर्थ में साधारण अन्तर है। अभिवृद्धि से हमा तात्पर्य किसी वालक की शारीरिक लम्बाई, चौड़ाई और भार में वृद्धि से होता है प्राय: हम कहते हैं कि वालक के हाथ पैर वढ़ रहे हैं, उसका शरीर वढ़ता हुआ है स्पष्ट है कि अभिवृद्धि का मापन किया जा सकता है। विकास से हमारा अभिप्र आकृति या रूप में परिवर्तन से होता है। आयु वृद्धि के साथ ही व्यक्ति के वाह रूप-रंग और आकृतियों में भी अन्तर आ जाता है। शारीरिक संरचना या ढाँचे परिवर्तन का कारण वृद्धि होता है। परन्तु विकास का तात्पर्य इससे कुछ और अधिक है। विकास शरीर के गुणात्मक (Quatitative) परिवर्तनों का नाम है जिसके कारण व्यक्ति की कार्य-क्षमता, कार्य-कुशलता और व्यवहार में प्रगति अथ अवनति होती है। जब कोई बच्चा बाल्यावस्था से किशोरावस्था में प्रवेश करता तो उसके हाथों की लम्बाई अधिक हो जाती है। इसे हम उसके हाथों की अभिवृ कहेंगे। परन्तु किशोर के हाथ केवल लम्बे ही नहीं होते अपितु उनमें कार्यक्षमत वल और कुशलता में भी वृद्धि हो जाती है। जिसके कारण किशोर उन कार्यों क कर सकता है जो वालक के लिए कठिन या असम्भव है। 'अभिवृद्धि' और 'विकास'

की प्रक्रिया गर्भाधान के समय से ही प्रारम्भ हो जाती है और बालक के जन्म के बाद तक चलती रहती है। हरलॉक के शब्दों में—"विकास अभिवृद्धि तक ही सीमित नहीं है। इसके बजाय, इसमें प्रौढ़ावस्था के लक्ष्य की ओर परिवर्तनों का प्रगतिशील क्रम निहित रहता है। विकास के परिणामस्वरूप व्यक्ति में नवीन विशेषतायें और नवीन योग्यतायें प्रकट होती हैं।"[1]

बालक में विकास और अभिवृद्धि की प्रक्रिया लगभग साथ-साथ चलती है। उसके शारीरिक ढांचे में परिवर्तन या वृद्धि के साथ ही कार्य करने की क्षमताओं में से भी वृद्धि होती है। परन्तु शरीर की वृद्धि सदैव विकास से ही सम्बन्धित नहीं होती। कुछ लोग मांस की वृद्धि से अधिक मोटे हो जाते हैं। परन्तु उनकी कार्य-क्षमता में वृद्धि नहीं होती। कभी-कभी बिना अभिवृद्धि के भी विकास सम्भव हो जाता है। जैसे—बौना व्यक्ति, उसका शरीर की लम्बाई में वृद्धि नहीं होती परन्तु अवयवों की कार्यक्षमता में वृद्धि होती रहती है। बालक के विकास में कुछ काल ऐसे भी होते हैं जब केवल अभिवृद्धि होती है, विकास नहीं होता और कुछ काल ऐसे होते हैं जबकि केवल विकास होता है, अभिवृद्धि नहीं होती। प्रौढ़ावस्था में जब शारीरिक अभिवृद्धि रुक जाती है तब भी विकास प्रक्रिया जारी रहती है। जिसके कारण प्रौढ़ व्यक्ति अनेक नवीन कार्य, आदतें और कुशलताएँ ग्रहण करते हैं।

परिपक्वता का अर्थ
(Meaning of Maturity)

परिपक्वता से हमारा अभिप्राय उस 'विकास' और 'अभिवृद्धि' को प्राप्त करना है, जिसके बिना कोई विशिष्ट व्यवहार नहीं किया जा सकता है। कुछ विद्वान 'परिपक्वता' को आंतरिक अभिवृद्धि की प्रक्रिया (Inner Growth Process) मानते हैं जोकि प्रशिक्षण से प्रभावित नहीं होती। परिपक्वता शरीर की वह दशा है जिसको प्राप्त किये बिना शरीरधारी कोई भी नवीन क्रिया या कार्य कुशलता-पूर्वक नहीं सीख सकते।

दूसरे शब्दों में परिपक्वता वह अपरिवर्तनीय आंतरिक विकास की प्रक्रिया है जिसके द्वारा शरीर के अवयवों में किसी नवीन क्रिया को सीखने की तत्परता उत्पन्न होती है। छोटे बच्चे अपने हाथ की अंगुलियों से अनेक कुशलतापूर्ण कार्य प्रौढ़ों के समान करने में असमर्थ रहते हैं। क्योंकि उनका स्नायु मण्डल (Nervous System) और मांसपेशियाँ उस अवस्था तक परिपक्व नहीं होती हैं। बालक की शारीरिक 'अभिवृद्धि' और 'विकास' वातावरण की दशाओं से भी प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होते हैं। किन्तु परिपक्वता पर वातावरण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। परिपक्वता ही सामान्य जीवन-क्रम का अनिवार्य अंग है।

ड्यूवी (Dewey) के अनुसार परिपक्वता प्राप्त करने के लिए तीन दशायें होती हैं—

---

1 [illegible] a pro- [illegible] results [illegible]
—Hurlock : (p. 1)

(क) अपरिपक्वता (Immaturity)
(ख) निर्भरता (Dependance)
(ग) लचीलापन (Elasticity)

(क) मानव शिशु जन्म के समय अपरिपक्व होता है। उसका परिपक्वता प्राप्त करने का काल बहुत लम्बा है। मानव शिशु की अपेक्षा अन्य शरीरधारी जन्म के समय अधिक परिपक्व होते हैं। अतः उनके शारीरिक अवयव अधिक कुशलता-पूर्वक कार्य कर सकते हैं। जैसे-मुर्गी का बच्चा अंडे से निकलने के कुछ ही समय बाद भोजन के टुकड़े को चोंच मारता है, और चोंच मार कर पकड़ने में सफल हो जाता है। परन्तु मानव शिशु को अपनी आँखों से किसी वस्तु को देखने में छः माह का समय लग जाता है। लेकिन कालान्तर में मानव शिशु की क्षमताएँ (Capacities) और योग्यताएँ (Abilities) किसी भी पशु से अधिक विकसित हो जाती हैं। पशुओं में प्राप्त जन्मकालीन परिपक्वता, उनके विकास, अभिवृद्धि और सीखने तथा प्रगति करने की सम्भावनाओं को बहुत सीमित बना देती है। मानव शिशु का लम्बे काल तक अपरिपक्व होना उसके अन्दर निरन्तर चलने वाली अभिवृद्धि और विकास की प्रक्रिया का आधार है।

(ख) जन्म के समय मानव शिशु पूरी तरह असहाय और दूसरों पर निर्भर रहता है। उसे आत्म-निर्भरता प्राप्त करने में 15 से 20 वर्ष तक का समय लग जाता है। वह असहाय होता है परन्तु शक्तिहीन नहीं होता। मानव शिशु में सामाजिक क्षमताओं के कारण ही शारीरिक क्षमताओं का अभाव रहता है। पशुओं में सामाजिक क्षमताओं के अभाव के कारण ही उनमें शारीरिक क्षमताएँ जन्म के समय विद्यमान रहती हैं। मानव एक संवेदनशील प्राणी है। अतः मानव शिशु में सामाजिक सम्पर्क प्राप्त करने की जन्मजात शक्ति होती है। इसीलिए वह सहानुभूतिपूर्ण ढंग से वातावरण का प्रभाव ग्रहण करता है। उसकी असहाय अवस्था और निर्भरता, उसे सामाजिक सम्पर्क प्राप्त करने और उसका प्रभाव ग्रहण करने को विवश करती है। इस प्रकार मानव शिशु अपने वातावरण में क्रियाशील, सम्पर्कशील और अनुभवशील रहकर ही अपनी निहित योग्यताओं और क्षमताओं का विकास करता हुआ परिपक्वता की विभिन्न दशाओं में से विचरण करता हुआ परिपक्वता प्राप्त करता है।

(ग) अपरिपक्वता के कारण मानव शिशु का मन और शरीर अधिक लचीला और नमनीय होता है। परन्तु उसका लचीलापन मोम या बेंत के समान नहीं होता। लचीलेपन के कारण उसमें बाह्य प्रभावों के अनुसार आकार परिवर्तन की क्षमता नहीं होती। यहाँ पर लचीलेपन से हमारा अभिप्राय अनुभवों से शिक्षा ग्रहण करना अथवा संस्कारयुक्त होने से है, क्योंकि वह पूर्व अनुभवों के आधार पर ही अपनी आगामी क्रियाओं को सुधारने तथा परिष्कृत करने की क्षमता रखता है। यह लचीलापन ही उसके जीवन में सीखने और वातावरण तथा क्रियाओं का प्रभाव ग्रहण करने का आधार है। इस लचीलेपन के कारण ही उसके अन्दर सामंजस्य स्थापित करने की शक्ति निहित है। वह धीरे-धीरे अपनी समन्वित क्रियाओं द्वारा अपनी भावी प्रगति, अभिवृद्धि और विकास के लिए वातावरण का सदुपयोग करना सीख

जाता है। उसकी क्रियाओं की प्रगति निर्बलता से सफलता की ओर, सामाजिक निर्भरता से आत्म-निर्भरता की ओर तथा हीनता से आत्म-विश्वास की ओर होती है।

वृद्धि की सामान्य प्रकृति
(General Nature of Growth)

वृद्धि की सामान्य प्रकृति निम्नलिखित है :

(1) शरीर की वृद्धि कोशिका (Cell) की वृद्धि से होती है। अतएव जन्म के पश्चात कोशिकाओं की वृद्धि होने से ही शरीर के अंगों की भी वृद्धि होती है।

(2) वृद्धि सदैव नही होती और न सदैव एक ही गति से होती है। एक निश्चित गति से निश्चित समय में वृद्धि होती रहती है और एक सीमा प्राप्त करने पर रुक जाती है।

(3) हम वृद्धि की गति अथवा मात्रा में परिवर्तन नही कर सकते।

(4) वृद्धि की प्रक्रिया आन्तरिक है। इसमें जन्मजात शक्तियों की वातावरण के साथ अन्तःक्रिया भी होती रहती है।

(5) वृद्धि की प्रक्रिया क्रमिक है। यह अचानक नही होती।

(6) शैशव-काल में वृद्धि तीव्र गति से होती है, परन्तु बाद में गति मन्द हो जाती है। पुन. 11 वर्ष की आयु में एक बार फिर इसकी गति तीव्र हो जाती है।

(7) लडकियों की वृद्धि लडकों की अपेक्षा तीव्र गति से होती है, अतएव वे शीघ्र ही पूर्णता प्राप्त कर लेती हैं। जबकि लडके उनकी अपेक्षा बडी आयु में पूर्णता प्राप्त करते है।

(8) लगभग 20 वर्ष की आयु में शारीरिक वृद्धि पूर्ण हो जाती है।

(9) लगभग 18 वर्ष की आयु में मानसिक वृद्धि भी पूर्ण हो जाती है।

(10) आयु की वृद्धि के साथ ही शरीर के गठन का स्वरूप भी बदलता जाता है।

(11) आयु वृद्धि के साथ-साथ ही विकास की प्रक्रिया भी चलती रहती है।

(12) आयु वृद्धि के परिणामस्वरूप होने वाले परिवर्तन चार प्रकार के होते हैं : (1) शरीर के आकार में परिवर्तन, (2) शरीर के अवयवों के अनुपात में परिवर्तन, (3) पुराने लक्षणों का समाप्त होना, तथा (4) नये लक्षणों का उत्पन्न होना।

(13) शरीर-वृद्धि की प्रकृति मस्तिष्क पुच्छीय (Cephalo-Coudal) होती है अर्थात् पहले मस्तिष्क का विकास होता है तत्पश्चात् निचले अंगों का विकास होता जाता है।

(14) शरीर-वृद्धि केन्द्र से सीमा की ओर होती है। इसे Proxima distal sequence कहते हैं। शरीर-वृद्धि की गति हृदय से हड्डियों तथा पेशियों की ओर होती है।

विकास की सामान्य प्रकृति
(General Nature of Development)

विकास की प्रकृति निम्नलिखित होती है :

(1) विकास का एक निश्चित क्रम (Pattern) होता है जोकि अव्यवस्थित नही अपितु एक व्यवस्था के अनुरूप ही होता है। इसका रूप अग्रलिखित होता है :

4 से 16 सप्ताह के बीच—हाथ-पैर की पेशियों पर सामान्य नियन्त्रण होता है।

16 से 28 सप्ताह के बीच—सिर और हाथ की पेशियों पर सामान्य नियन्त्रण होता है।

28 से 40 सप्ताह के बीच—धड़ पर नियन्त्रण होता है और शिशु बैठना प्रारम्भ करता है।

40 से 52 सप्ताह के बीच—पैर की पेशियों पर नियन्त्रण हो जाता है और शिशु खड़ा होना तथा चलना प्रारम्भ करता है।

दूसरे वर्ष के अन्त तक—चलना और दौड़ना प्रारम्भ करता है।

तीसरे वर्ष में—वाक्य बोलने लगता है तथा विचार अभिव्यक्ति करने के लिए भाषा का प्रयोग करता है।

चौथे वर्ष में—जानकारी हेतु अनेक प्रश्न करने लगता है।

(2) विकास सामान्य से विशिष्ट की ओर ही होता है। इसका वर्णन आगे किया जायगा।

(3) विकास रुकता नहीं अपितु जन्म भर होता ही रहता है।

(4) विकास की गति और प्रकृति में व्यक्तिगत भिन्नताएँ होती हैं।

(5) शरीर के विभिन्न अंगों के लिए विकास की गति भिन्न-भिन्न होती है।

(6) विकास में गुणों का भी समन्वय होता है।

(7) विकास के सम्बन्ध में भविष्य-कथन भी किया जा सकता है।

(8) विकास की प्रत्येक अवस्था की अपनी निजी विशेषताएँ होती हैं।

(9) अनेकों तथाकथित असामान्य व्यवहार उस अवस्था के अनुरूप सामान्य ही होते हैं परन्तु हम उन्हें अपनी अवस्था की दृष्टि से असामान्य समझने लगते हैं।

(10) लगभग सभी व्यक्ति विकास की इन सभी अवस्थाओं से विचरण करते हैं।

वृद्धि और विकास के ज्ञान का महत्व
(Significance of the Knowledge of Growth and Development)

विकास का ज्ञान निम्नलिखित तीन रूपों में सहायक होता है—

(1) हमें इस बात का ज्ञान हो जाता है कि किस आयु वर्ग के बालक से किस प्रकार के व्यवहार की आशा की जानी चाहिए। अन्यथा इस ज्ञान के अभाव में वास्तविकता के विपरीत आशा करने से हम परेशान होते रहेंगे।

(2) इसका ज्ञान यह बताता है कि कब और किस प्रकार के वातावरण का निर्माण करना आवश्यक है, जोकि हमारे लिए लाभदायक हो।

(3) इस बात का भी ज्ञान हो जाता है कि विकास की सामान्य अवस्था क्या है, और इसके द्वारा हमें असामान्य विकास की जानकारी भी हो जाती है जिससे हम सतर्क हो सकते हैं।

विकास को प्रभावित करने वाले तत्व
(Factors Influencing Development)

विकास की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले तत्व अग्रलिखित हैं—

(1) बुद्धि-स्तर (Intelligence)—विकास की प्रक्रिया पर बौद्धिक स्तर का प्रभाव पड़ता है। टरमन के अनुसार उच्च बुद्धि स्तर के बालक 3 माह में, सामान्य बुद्धि स्तर के 14 माह में तथा मन्द बुद्धि स्तरयुक्त 22 माह मे तथा जड़ बुद्धि स्तर वाले बालक 30 माह मे चलते हुए पाये गये हैं। इसी प्रकार उच्च बुद्धि वाले बालक 11 माह मे, सामान्य बुद्धि वाले 16 माह में, मन्द बुद्धियुक्त 34 माह में तथा जड़ बुद्धि वाले बालक 51 माह में बात करना शुरू करते हैं।[1]

(2) लिंग (Sex)—जन्म के समय लड़के, लड़कियों की अपेक्षा बड़े होते है, किन्तु लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा तीव्रगति से बढ़ती हैं और जल्दी ही परिपक्व हो जाती हैं।

(3) स्राव ग्रन्थियाँ (Glands)—ग्रन्थियों के स्राव तथा उनकी क्रियाशीलता का भी विकास पर प्रभाव पड़ता है। इन विशेष ग्रन्थियों के स्राव के अनुसार ही कुछ लोग लम्बे तथा कुछ नाटे आदि होते हैं।

(4) खान-पान (Food)—विकास की गति पर खान-पान का भी प्रभाव पड़ता है। उचित खाना-पीना मिलने पर विकास की गति भी उचित रूप मे होती है। इसके विपरीत उपयुक्त भोजन के अभाव मे विकास भी रुक जाता है।

(5) रुग्णता (Disease)—जो बच्चे बहुत रुग्ण रहते हैं उनका विकास सामान्य रूप से नही हो पाता और जो रोगग्रस्त नही होते उनका विकास भी सन्तुलित रूप से होता है।

(6) उपरोक्त तत्वो के अतिरिक्त विकास की गति प्रजाति, (Race) संस्कृति (Culture) तथा परिवार मे बच्चे की स्थिति से भी प्रभावित होती हुई पाई जाती है।

विकास और अभिवृद्धि का शैक्षिक महत्व
(Educational Importance of Growth & Development)

(1) शिक्षा वास्तव मे निदेशित विकास और अभिवृद्धि है। प्रत्येक शिक्षक कक्षा में, प्रयोगशाला में, अथवा विद्यालय मे अपने कार्यक्रम को इस प्रकार सुनियोजित करता है जिससे कि उसमे भाग लेने वाले छात्र-छात्राओ की स्वाभाविक, मानसिक, शारीरिक, अभिवृद्धि और विकास तीव्र गति से हो सके।

(2) शिक्षा-प्रक्रिया का लक्ष्य बालक की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति करके उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना है। अत. उसे विद्यालय मे वे सब दशाएँ उत्पन्न करनी चाहिए जोकि छात्रो के नैसर्गिक विकास और अभिवृद्धि को उत्तेजित करें। उसका स्वास्थ्य सुन्दर रहे, उसके ज्ञान और विचारो में निरन्तर वृद्धि होती रहे, उसे सवेगात्मक स्थिरता प्राप्त हो और उसमें सामाजिक कुशलताओं की वृद्धि होती रहे। इस प्रकार अभिवृद्धि और विकास के विभिन्न पहलुओ की पूरी देख-रेख करने का उत्तरदायित्व अध्यापक का ही है जिसके लिए उसे आवश्यक परिस्थितियाँ जुटानी चाहिए।

---

1 Terman (1926)

(3) बालक के लिए शिक्षा का अर्थ अनेक प्रकार की कुशलताएँ (Skills) ग्रहण करना है। जैसे—लिखने की कुशलता, वाचन की कुशलता, गिनती गिनने की कुशलता। इन कुशलताओं के अतिरिक्त उसे ज्ञान संग्रह करने की कुशलता भी ग्रहण करनी चाहिए, अन्यथा वह अपने पूर्वजों के अनुभव—(जोकि इतिहास, भूगोल, विज्ञान, साहित्य आदि विषयों के रूप में परम्परा से चले आ रहे हैं) जोकि इस संसार में जीवन व्यतीत करने के लिए अति आवश्यक हैं—ग्रहण नहीं कर सकेगा।

(4) अध्यापक का प्रमुख कर्तव्य प्रत्येक छात्र-छात्रा को अधिक से अधिक व्यक्तिगत विकास और अभिवृद्धि प्राप्त कराना है। शिक्षा के लक्ष्य भी देश, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं किन्तु अध्यापक के इस उत्तरदायित्व में अन्तर नहीं आता। विद्यालय की व्यवस्था, पाठ्यक्रम और अध्यापन प्रणाली चाहे कुछ भी हो, बालक को ज्ञान, कुशलतायें, सामाजिक और मानसिक योग्यतायें प्राप्त कराना अध्यापक का प्रमुख कर्तव्य है। बालक की बहुमुखी प्रतिभाओं और व्यक्तिगत योग्यताओं की अभिवृद्धि एवं विकास नितान्त आवश्यक है।

(5) शिक्षा बालक के व्यवहार में वांछनीय परिवर्तन उत्पन्न करने वाली प्रक्रिया है परन्तु व्यवहार में परिवर्तन आन्तरिक क्रियाओं के द्वारा और आन्तरिक विकास एवं अभिवृद्धि का परिणाम होता है। अतः प्रत्येक अध्यापक को विकास की अभिवृद्धि और परिपक्वता की आन्तरिक दशाओं तथा कारकों (Factors) से सुपरिचित होना चाहिए, क्योंकि इनके द्वारा ही वह उनके व्यवहार में वांछनीय परिवर्तन करने में सफल हो सकता है।

(6) जीवन और शिक्षा वातावरण के अनुकूलन का परिणाम हैं। शिक्षा-प्रक्रिया में भी बालक (सीखने वाले) और शिक्षक वातावरण में परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया (Interaction) होती है। जिसका परिणाम सीखने की क्रिया है। परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा ही बालक नवीन विचार, कुशलतायें, अभिवृद्धियाँ और रुचियाँ ग्रहण करता है। जैसे-जैसे बालक की प्रतिक्रियायें विस्तृत और व्यापक होती जाती हैं वैसे ही वह अधिक विकसित और परिपक्व होता जाता है। सीखना, अभिवृद्धि, विकास और परिपक्वता एक ही शैक्षिक प्रक्रिया के अनेक पहलू हैं। बालक के सीखने की प्रक्रिया को उचित रूप से समझने के लिये उसकी अभिवृद्धि और विकास को समझना भी अति आवश्यक है। अध्यापक को प्रत्येक पाठ पढ़ाते समय यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि बालक कहाँ तक विकसित हो चुका है और आगे उसकी अभिवृद्धि और विकास की सम्भावना कहाँ तक है।

(7) शिक्षा मनोविज्ञान मानव विकास और अभिवृद्धि के सिद्धान्तों की व्याख्या करता है। शिक्षा मनोविज्ञान में विकास और अभिवृद्धि के नियमों, सिद्धान्तों और क्रम का वर्णन किया जाता है। इस ज्ञान का उपयोग अध्यापक शिक्षा के व्यवहार को अधिक प्रभावशाली बनाने में कर सकता है।

(8) मानव-शिशु का विकास और अभिवृद्धि एक बहुमुखी प्रक्रिया है। उसके विकास तथा अभिवृद्धि के अनेक पहलू होते हैं, जैसे—शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, संवेगात्मक, और नायक आदि। विकास के ये समस्त पहलू अन्तर्संम्बन्धित और एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं। बालक की शिक्षा के विभिन्न लक्ष्य इन पहलुओं

से सम्बन्धित रहते हैं। विकास के प्रत्येक स्तर पर बालक की क्या योग्यताएँ और क्षमतायें होती हैं? इनके आधार पर उन्हें और कौन-कौन सी उपलब्धियाँ प्राप्त कराई जा सकती हैं? इन क्षमताओं के अनुसार उनकी शैक्षिक उपलब्धियाँ क्या होनी चाहिए? किन्तु बालक इकाई रूप से विकसित होता है। इन पहलुओं की पृथक व्याख्या केवल अध्ययन की सुविधा के लिये ही की जाती है। इस विकास क्रम को विभिन्न स्तरों में विभाजित करके उनका सविस्तार अध्ययन किया जाता है।

(9) अभिवृद्धि और विकास की प्रक्रियाएँ बहुत धीमी गति से चलती हैं। बालक की शारीरिक क्षमतायें और कुशलताएँ, जैसे—देखना, पकड़ना, खड़े होना चलना एवं कूदना आदि बहुत धीरे-धीरे प्रकट होती हैं। इसी प्रकार उसकी मानसिक योग्यताएँ भी क्रमश धीरे-धीरे ही विकसित होती हैं। अतएव अध्यापकों और अभिभावकों को यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि अल्प समय में ही बहुत अधिक ज्ञान बालक के मन में नहीं ठूँसा जा सकता। लम्बे भाषणों से छात्रों के व्यवहार में कोई परिवर्तन उत्पन्न नहीं हो सकता। बालक के समझने, संवेगों को नियन्त्रित करने, सामाजिक गुणों को ग्रहण करने, और नवीन आदतों को ग्रहण करने में पर्याप्त समय की आवश्यकता होती है। वे धीरे-धीरे ही अनुभव और अनुकूलन द्वारा इन सब बातों को विकसित करते हैं।

(10) बालक के सीखने की क्रिया उसके व्यवहार का प्रगतिशील और क्रमबद्ध अनुकूलन है। उसके लिए सीखना क्रियाशीलता, अनुभव और अभिवृद्धि का सम्मिलित परिणाम होता है। दूसरे शब्दों में लम्बे समय तक चलने वाली अभिवृद्धि ही बालक की शिक्षा है। अभिवृद्धि एक नियमित और क्रमबद्ध क्रिया है। एक चरण के बाद दूसरा चरण आता है, जिसमें पहला 'चरण' दूसरे 'चरण' का आधार होता है। व्यवहार में अभिवृद्धि के क्रम के समानान्तर ही शिक्षा का क्रम होना चाहिए। अतएव अध्यापक को विकास-क्रम का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है।

(11) अभिवृद्धि भविष्य की ओर संकेत करती है। इसकी दिशा और लक्ष्य निश्चित होता है। शिक्षा की समस्यायें भी बालक के भविष्य से सम्बन्धित होती हैं। शिक्षा की सभी प्रक्रियायें आगामी परिवर्तनों की ओर प्रक्षेपित रहती हैं। शिक्षा के सभी लक्ष्य विकास और अभिवृद्धि में निहित होते हैं। इन्हीं के द्वारा उनकी प्राप्ति होती है।

(12) शिक्षा-प्रक्रिया का अन्तिम लक्ष्य बालक को व्यक्तिगत अभिवृद्धि प्राप्त कराना है। अत. शिक्षा का केन्द्र बालक है। शिक्षा की दृष्टि से उसकी आवश्यकताएँ, समस्याएँ और रुचियाँ सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। उसके लिए पाठ्य-वस्तु, अध्यापन विधियाँ और शैक्षिक कार्यक्रमों का चुनाव उसकी आवश्यकताओं, समस्याओं और रुचियों के अनुसार ही किया जाना चाहिए। यद्यपि स्कूली शिक्षा एक सामूहिक-प्रक्रिया है, परन्तु बालक के प्रति अध्यापक का दृष्टिकोण व्यक्तिगत ही होना चाहिए और प्रत्येक बालक को एक विचित्र इकाई समझना चाहिए।

अभिवृद्धि और विकास : सिद्धान्त तथा लक्षण
(Principles and Characterstics of Growth and Development)

(1) विकास तथा अभिवृद्धि, शरीरधारी (वंशानुक्रम) तथा वातावरण की

अन्तः क्रिया (Interaction of Heredity and Environment) **का परिणाम होती** है। इस सिद्धान्त पर यथेष्ट प्रकाश ऊपर की पंक्तियों में डाला जा चुका है।

(2) **प्रारम्भिक जीवन में (प्रथम 5 वर्षों में) शारीरिक अभिवृद्धि की गति वहुत तीव्र रहती है**—जन्म से पूर्व गर्भ-काल में यह गति और भी अधिक तीव्र होती है। गर्भाधान के समय अंकुरित कोषाणु का भार नहीं के वरावर ही होता है, जोकि 9 माह में नियमानुसार वढ़ते हुए तीन किलोग्राम से चार किलोग्राम तक हो जाता है। गर्भकाल में भ्रूण, प्रथम माह के वाद तीस दिन में ही 12 गुना अधिक लम्वा हो जाता है। जन्म के वाद अभिवृद्धि की यह गति अपेक्षाकृत कुछ धीमी हो जाती है किन्तु फिर भी शिशु के शारीरिक विकास में अन्तर वहुत जल्दी ही दिखाई देने लगता है। आठ और वारह माह के वच्चे में अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है : जवकि 15 वर्ष और 16 वर्ष के वच्चे में शारीरिक दृष्टि से अन्तर नहीं किया जा सकता। शैशवकालीन तीव्र अभिवृद्धि का भी वालक के आगामी जीवन में विशेप महत्व रहता है। इस काल में वालक व्यवहार और संवेग-प्रदर्शन के जो ढंग अपना लेता है वे चिरकाल तक स्थायी रहते हैं। यही कारण है कि विश्व भर में शैशव-कालीन शिक्षा (6 वर्ष की आयु तक) पर विशेप ध्यान दिया जा रहा है।

(3) **विकास निरन्तर (Growth in Continuous) होता रहता है**—वालक का शारीरिक और मानसिक विकास कभी तीव्र तो कभी मन्द गति से विना रुके वरावर होता रहता है। प्रथम पाँच वर्षों में शारीरिक विकास वहुत तीव्र गति से होता है। इसी प्रकार शरीर के कुछ अवयवों का विकास वहुत तीव्र गति से होता है और कुछ का मन्द गति से। व्यक्ति में कोई भी शारीरिक या मानसिक परिवर्तन अचानक ही उत्पन्न नहीं होता।

(4) **प्रत्येक व्यक्ति के विकास की अपनी गति होती है** (Individual Rate of Growth)—इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि एक ही दिन जन्में दो वच्चों का विकास समान गति से तथा समान प्रकार से ही हो। जो वालक जन्म के समय लम्वा होता है वह वड़ा होने पर भी लम्वा ही रहता है। व्यक्ति की अपनी विकासात्मक गति लगभग एक समान ही (Uniform) रहती है।

(5) **विकास एक क्रमवद्ध प्रक्रिया है** (Growth is Orderly and Sequental)—वालक का गामक विकास और भापा-विकास एक निश्चित क्रम में होता है। जाति के सभी सदस्य लगभग इसी क्रम के अनुसार ही विकसित होते हैं, कोई भी वालक वैठने की क्रिया सीखने से पहले लुढ़कना या रेंगना ही सीखता है; इसी प्रकार दौड़ना सीखने से पहले खड़ा होना ही सीखता है। जव वालक के सामने कोई चमकदार चीज लाई जाती है तो वह दोनों हाथ हिलाकर पकड़ने की प्रतिक्रिया करता है। किन्तु वाद में वस्तु को पकड़ने के लिए एक हाथ प्रयोग में लाना सीख जाता है। शिशुओं के लिए वताई गति द्वारा वुद्धि परीक्षाओं में क्रमवद्ध विकासात्मक व्यवहार से सम्वन्धित प्रतिक्रियाओं का मूल्यांकन किया जाता है।

(6) **वालक के विकास की दिशा** (Direction of Development) **निश्चित रहती है**। उदाहरण के लिये वालक का शारीरिक विकास सिर से पैरों की दिशा में ही होता है। जीवन के प्रथम सप्ताह में वह अपना सिर उठाने लगता है। तीसरे

माह में वह नेत्रों की गति पर नियन्त्रण कर लेता है। छठे माह में वह हाथों की क्रियाओं पर कुछ अधिकार प्राप्त कर लेता है और 9 माह के आसपास वह सहारा लेकर बैठने लगता है। लगभग एक वर्ष की आयु में उसके पैर इस योग्य होते हैं कि वह खड़े होने और चलने की क्रियाओं को कर सके।

(7) विकास में व्यवहार का एकीकरण तथा विभिन्नीकरण (Integration and Differentiation of Behaviour) होता है—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है बालक का सम्पूर्ण शरीर और भिन्न-भिन्न अवयव तीव्र या धीमी गति से किन्तु क्रमबद्ध ढंग से विकसित होते हैं। विकास एक सुसगठित प्रक्रिया है जिसमें एक अवयव का विकास दूसरे अवयव को प्रभावित करता है। जैसे—किसी वस्तु को पकड़ने के लिए बालक पूरा हाथ घुमाता या हिलाता है, फिर कुछ दिन बाद उँगलियों को चलाता है और अन्त मे हाथ और उँगलियों को एक-साथ चलाना सीख जाता है। इस प्रकार विभिन्न अवयवों के व्यवहार का एकीकरण होता रहता है। अपनी ओर आती हुई किसी वस्तु को पकड़ने के लिए उसका कौन-सा हाथ उठना या हिलना चाहिए यह भेद भी वह कुछ दिन बाद समझने लगता है। विभिन्नीकरण की प्रक्रिया द्वारा वह अपने हाथ-पैरों से अधिक जटिल प्रक्रियायें करना (जैसे—सितार बजाना, टाइप करना, साइकिल चलाना आदि) सीख जाता है। सीखने की प्रक्रिया में भी एकीकरण तथा विभिन्नीकरण (या भेद देखना) का विशेष महत्त्व रहता है। एकीकरण-प्रक्रिया मे बालक विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों के मार्ग से प्राप्त सूचनाओं को अपने मन मे संगठित एवं सम्बन्धित करता है। वह संश्लेषण द्वारा ज्ञान मे एकात्मकता उत्पन्न करता है। विभिन्नीकरण का सिद्धान्त बालक के संवेगात्मक विकास पर भी लागू होता है। जन्म के समय बालक के संवेगों की संख्या बहुत कम होती है। कुछ माह बाद वह संवेगात्मक परिस्थितियों में भेद समझकर उनके अनुकूल भय, क्रोध, और आनन्द का प्रदर्शन विभिन्न प्रकार की क्रियाओं और ध्वनियों के द्वारा करने लगता है। आयु और अनुभव के साथ उसके व्यवहार में संवेगों की संख्या में भी वृद्धि होती जाती है।

(8) प्रशिक्षण का प्रभाव परिपक्वता के स्तर के अनुसार होता है (Effect of Training according to the Stage of Maturation)—परिपक्वता पर ऊपर की पंक्तियों में प्रकाश डाला जा चुका है। जब तक बालक में यथेष्ट परिपक्वता द्वारा शारीरिक तत्परता उत्पन्न नहीं होती तब तक उसे न तो कोई नवीन कुशलता सिखाई जा सकती है, न ही उसके मन में किसी नवीन ज्ञान की सृष्टि ही की जा सकती है, और न ही उसे कोई नवीन व्यवहार सिखाया जा सकता है। अतएव इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आवश्यक परिपक्वता के अभाव में प्रशिक्षण या अध्यापन से कोई लाभ नहीं होता है।

(9) व्यवहार का विकास सामान्य से विशिष्ट प्रक्रियाओं की ओर (From General to Specific Responses) होता है—उदाहरण के लिए नवजात शिशु की प्रारम्भिक क्रियायें सम्पूर्ण शरीर के संचालन द्वारा होती हैं। लेकिन कुछ काल के बाद सम्पूर्ण शारीरिक प्रतिक्रिया का स्थान उसके हाथों की क्रिया, पैरों की क्रिया, या सिर घुमाने की क्रिया अथवा आँख फेरने की क्रिया ले लेती है। जैसे बालक

अधिक विकसित होता है वैसे ही उसके हाथ या पैर की क्रियायें भी सामान्य से विशिष्ट की ओर पदार्पण करती हैं।

(10) बालक का विकास व्यक्तिगत भिन्नता (Individual Difference) के आधार पर होता है—प्रत्येक बालक में विकास के अनेक पहलू होते हैं। जैसे—शारीरिक, सामाजिक, मानसिक आदि। व्यक्तिगत भिन्नता का सिद्धान्त प्रत्येक बालक के विकास के इन नवीन पहलुओं पर लागू होता है। एक ही आयु या परिवार के दो बालक अथवा बालिकाओं के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और संवेगात्मक विकास पर उनकी व्यक्तिगत परिस्थितियों और जीवन की दशाओं का प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि विकास की प्रक्रिया में अनेक समानतायें, क्रमबद्धता, समान गति और समान शिक्षा के होते हुए भी व्यक्तिगत भिन्नतायें देखने को मिलती हैं।

वृद्धि और विकास को सामान्य रखने के लिए क्या करें ?

वृद्धि और विकास सामान्य हो जिससे समन्वित व्यक्तित्व का विकास हो, यही शिक्षा का उद्देश्य भी है। इसके लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान रखना आवश्यक है :

(1) शिक्षक और अभिभावक सामान्य विकास के लिये उचित वातावरण का निर्माण करें।

(2) छात्रों को अनुभव करने, कार्य करने और प्रयोग करने का पर्याप्त अवसर दिया जाय।

(3) विद्यालय के अन्दर और बाहर की क्रियाओं द्वारा अनुभव को सम्पन्न बनाया जाय।

(4) अभिभावकों एवं शिक्षकों द्वारा बालक की क्षमता के अनुरूप प्रोत्साहन दिया जाय।

(5) अच्छे कार्य के लिए प्रशंसा की जाय तथा प्रोत्साहित किया जाय।

(6) सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए सर्वांगीण प्रयास किये जाएँ।

(7) बालक के विकासक्रम को ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम का गठन हो।

(8) शिक्षा की योजना बनाते समय तथा शिक्षा देते समय व्यक्तिगत भिन्नता पर ध्यान दिया जाय।

(9) विकास का क्रम चलता रहता है, अतः शिक्षा भी चलती रहनी चाहिए।

(10) बालक के सर्वांगीण विकास के लिए पाठ्यक्रम में विभिन्न प्रकार की क्रियाओं की व्यवस्था की जाय।

(11) शिक्षा का आयोजन करते समय परिपक्वता एवं अंगों की पुष्टता का ध्यान रखा जाय।

(12) शिक्षण-विधि में सामान्य से विशिष्ट की ओर के नियम का पालन किया जाय।

(13) आदतों में स्वयं सुधार हेतु उचित वातावरण का निर्माण किया जाय और पर्याप्त अवसर भी प्रदान किया जाय।

विकास की प्रक्रिया में बालक कुछ विशेष स्तरों में होकर आगे बढ़ता है।

इन स्तरो की सख्या के बारे मे मनोवैज्ञानिकों में मतभेद है। कुछ विद्वान मोटे तौर पर विकास क्रम को तीन वर्गों—शैशवावस्था, बाल्यावस्था और किशोरावस्था—मे विभाजित करते है। कुछ विद्वान, जैसे कॉलसनिक (Kolesnic) विकास प्रक्रिया को आठ चरणो में विभाजित करते हैं। परन्तु शिक्षा मनोविज्ञान की दृष्टि से निम्नलिखित चार वर्गों का विभाजन अधिक उपयुक्त है :

विकास की मुख्य अवस्थायें (Main Stages of Development)

(1) गर्भ-काल (Prenatal Period) गर्भाधान से जन्म तक।

(2) शैशवकाल (Infancy) जन्म से पाँच वर्ष की आयु तक।

(3) बाल्यकाल (Childhood) छः से बारह वर्ष की आयु तक।

(4) किशोरावस्था (Adolescence) तेरह से उन्नीस वर्ष की आयु तक।

विकास की प्रत्येक अवस्था में बालक के व्यवहार का वर्णन अनेक पहलुओं में विभाजित करके किया जा सकता है। इस पुस्तक मे केवल उन पहलुओ पर ही विचार किया जायेगा जोकि शिक्षा मनोविज्ञान की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हैं, अथवा जिनका बालक के शैक्षिक विकास से घनिष्ट सम्बन्ध है।

विकास के मुख्य पहलू (Main Aspects of Development)

(1) शारीरिक तथा गामक विकास (Physical and Motor Development)।

(2) मानसिक तथा भाषा विकास (Mental and Language Development)।

(3) सवेगात्मक विकास (Emotional Development)।

(4) सामाजिक विकास (Social Development)।

(5) चारित्रिक विकास (Character Development)।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. "अभिवृद्धि ही शिक्षा है।" इस कथन का विवेचन कीजिए।
2. विकास प्रक्रिया क्या है ? इसका परिपक्वता से क्या सम्बन्ध है ?
3. अभिवृद्धि और विकास के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।
4. विकास के विभिन्न पहलुओ और अवस्थाओ का सक्षिप्त परिचय दीजिए।

13

विकास की अवस्थाएँ : शैशवावस्था

(STAGES OF DEVELOPMENT : INFANCY)

शैशवकाल का महत्व

आधुनिक शिक्षा बालकेन्द्रित शिक्षा कही जाती है। यही कारण है कि 'क्रो एण्ड क्रो' ने बीसवीं शताब्दी को 'बालक की शताब्दी' कहा है। वास्तव में बालक के बाल्य-काल का जितना गहन अध्ययन इस शताब्दी में हुआ है, उतना इससे पहले कभी नहीं हुआ। इस शताब्दी के प्रारम्भ में ही महान् विचारक फ्रॉयड ने कहा था कि मनुष्य को जो कुछ बनना होता है वह चार-पाँच वर्ष की आयु में ही बन लेता है।[1]" फ्रॉयड के अनुयायी एडलर ने भी मानव जीवन के प्रारम्भिक काल को ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण काल माना है। उसके अनुसार "बालक के जन्म के कुछ माह बाद ही यह निश्चित किया जा सकता है कि वह जीवन में कौनसा स्थान ग्रहण करेगा।"[2]

आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी प्रारम्भिक वर्षों को ही भावी जीवन की नींव मानते हैं। प्रारम्भिक वर्षों में जैसी नींव पड़ जाती है वैसी ही इमारत आगे चल कर बनती है। स्ट्रॉग के अनुसार "जीवन के प्रथम दो वर्षों में बालक अपने भावी-जीवन की बुनियाद डालता है। यद्यपि परिवर्तन किसी भी आयु में हो सकता है, किन्तु प्रारम्भिक प्रवृत्तियाँ और प्रतिमान स्थायी बने रहते हैं।"[3]

बालक की अभिवृद्धि और विकास के अन्तर्गत हम देख चुके हैं कि वह तीन वर्ष की आयु तक अपनी सम्पूर्ण लम्बाई का आधा भाग प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार गुडएनफ का विश्वास है कि "व्यक्ति अपने सम्पूर्ण मानसिक विकास का आधा भाग तीन वर्ष की आयु तक प्राप्त कर लेता है।"[4]

जीवन के प्रारम्भिक तीन वर्षों में विकास और अभिवृद्धि की गति सबसे

---

1 "The little human being is frequently a finished product in his forth or fifth year."
—Freud

2 "One can determine how a child stands in relation to life a few months after his birth."
—Adler

3 "The first two years of life, the child lays the foundation for his future although change is possible at any age, early trends and patterns tend to persist."
—Strang (p. 51)

4 "One half on an individual's mental stature has been attained by the age of three years."
—Goodenough

अधिक तीव्र रहती है । इस काल में मस्तिष्क और नाड़ी-मण्डल की वृद्धि तीव्र गति से होती है और शिशु की शारीरिक क्रियाएँ भी स्थायी और आत्म-नियन्त्रित बनती जाती हैं तथा उसका शारीरिक और गामक विकास भी अत्यधिक तीव्र गति से होता है । शिशु अपने पहले साल मे दस इंच और दूसरे साल मे पाँच इंच लम्बाई प्राप्त करता है । शारीरिक अवयवों की अनियन्त्रित क्रियाओं पर भी नियन्त्रण प्राप्त करता है । उसकी ज्ञानेन्द्रियों में होने वाला आन्तरिक-विकास और परिपक्वता भी फ्रॉयड तथा एडलर की धारणाओं की पुष्टि करते हैं । यही कारण है कि आजकल अन्तर्राष्ट्रीय-स्तर पर शिशु की शिक्षा और उसकी देख-भाल पर विशेष बल दिया जा रहा है और अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन भी इस दिशा में कार्य कर रहे हैं । भारतीय शिक्षा आयोग ने भी शिशु शिक्षा का विस्तार करने की जोरदार सिफारिश की है । उसने अपनी रिपोर्ट में यह भी लिखा है कि "तीन और दस वर्ष के बीच का काल बालक के शारीरिक, संवेगात्मक और मानसिक विकास के लिये सबसे अधिक महत्वपूर्ण है । अतः हम पूर्व प्राथमिक शिक्षा के अधिक से अधिक सम्भव विस्तार की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं ।"[1]

शैशवावस्था की मुख्य विशेषताएँ
(Chief Characteristics of Infancy)

(1) शिशु की शारीरिक अभिवृद्धि बहुत तीव्र गति से होती है । प्रथम दो वर्षों में उसका शरीर तीव्र गति से भार और लम्बाई प्राप्त करता रहता है । उसके अवयवों और ज्ञानेन्द्रियों का आन्तरिक अभिवृद्धि के कारण क्रमिक विकास होता है ।

(2) शिशु असहाय और निर्भर रहता है । तीव्र अभिवृद्धि के होते हुए भी शिशु अनेक वर्षों तक माता-पिता तथा अन्य लोगो पर निर्भर रहता है । उसे अपने पैरो पर खड़ा होने मे कई वर्ष लग जाते हैं । व्यक्तिगत कार्यों के लिये भी वह दूसरों पर ही निर्भर रहता है, यहाँ तक कि वह बिना दूसरों के प्रेम, दया और सहानुभूति के जीवित भी नही रह सकता ।

(3) शिशु मे आत्मप्रेम (Self Love) की भावना भी प्रबल रहती है । वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता है । वह चाहता है कि सभी की प्रेम-दृष्टि उस पर होती रहे । मनोविश्लेषणवादी फ्रॉयड के अनुसार शिशु की इस प्रवृत्ति का कारण उसकी लैंगिक भावना का इस काल में आत्मकेन्द्रित होना है, जिसे वह आत्मप्रेम कहता है । माता का स्तन-पान उसकी काम प्रवृति का प्रतीक है ।

(4) शिशु का व्यवहार पशुवत् होता है । रूसो उसे जगली (Sevage) के समान मानता है । उसका सम्पूर्ण व्यवहार प्रवृत्तिजन्य होता है । अतएव उसका आचरण मानवीय न होकर पशुओं से अधिक मिलता-जुलता हुआ होता है । किन्तु शनैः-शनैः उसकी पशु प्रवृत्तियों का समाजीकरण होने लगता है और वह परिस्थितियों

---

1 "The years between three and ten are of the greatest importance in the child's physical, emotional and intellectual development. We therefore recognise the need to develop preprimary education as extensively as possible."—*Education Commission Report* p.p. 148-149.

के साथ समझौता करना तथा आत्म-नियन्त्रण करना भी सीख लेता है। जन्म के कुछ समय बाद ही कुछ सामाजिक प्रतिक्रियाएँ भी प्रारम्भ हो जाती हैं।

(5) शिशु खेल से आनन्दित होता है। शिशु का अधिकांश समय सोने में ही व्यतीत होता है। किन्तु जागने पर वह चाहता है कि सब लोग उसके साथ ही खेलते रहें। उसके प्रारम्भिक काल में तो खेल व्यक्तिगत ही होते हैं परन्तु दो वर्ष की आयु के उपरान्त वह भाई-बहिनों के साथ खेलने लगता है और अपनी वस्तुओं में से भी दूसरों को हिस्सा बँटाने लगता है। खेल की क्रिया में वह सामाजिकता, सहानुभूति, संकेत और अनुशासन का प्रकाशन करता है।

(6) मानसिक शक्तियों का तीव्र विकास होता है। शिशु की मानसिक क्रिया अवधान (ध्यान) से प्रारम्भ होती है। वह चमकदार वस्तु पर आँखें केन्द्रित करता है। जिस ओर से ध्वनि आती है उसी ओर अपना सिर घुमा देता है। अवधान के बाद संवेदना और प्रत्यक्षीकरण (Sensation and Perception) द्वारा वह मानसिक वृद्धि करता है। वह कल्पना और स्मृति से भी काम लेता है। लगभग तीन वर्ष की आयु में उसकी मानसिक शक्तियाँ भी कार्य करने लगती हैं। इस कार्य में 'इन्द्रिय-ज्ञान' की प्रमुखता रहती है।

(7) शिशु अनुभवों के आधार पर तीव्र गति से सीखता है। जो शिशु जितना अधिक क्रियाशील रहता है वह उतना ही अधिक सीखता है। जन्म के समय उसका मस्तिष्क कोरी पटिया के समान होता है। अतः इस आयु में शिशु की सीखने की क्षमता सबसे अधिक होती है। वह अनुभव और अनुकरण द्वारा सीखता है।

(8) शिशु कल्पना और वास्तविकता में भेद नहीं कर पाता है। उसकी कल्पना बहुत सजीव होती है। यही कारण है कि वह कभी-कभी कल्पना और वास्तविकता में अन्तर नहीं कर पाता।

(9) शिशु में नैतिकता का अभाव होता है। वह प्रारम्भ में नैतिक-अनैतिक का ज्ञान नहीं कर सकता, क्योंकि उसका सम्पूर्ण व्यवहार पशुवत् तथा मूल प्रवृत्तिजन्य ही होता है। उसका सम्पूर्ण व्यवहार आत्मप्रेम की भावना से प्रेरित रहता है किन्तु तीन वर्ष की आयु के लगभग उसमें भले-बुरे और उचित-अनुचित में भेद करना प्रारम्भ हो जाता है। वह सामाजिक अनुकरण द्वारा प्रारम्भिक नैतिकता ग्रहण करता है।

(10) शिशु में सामाजिक भावना का विकास होता है। तीन या चार वर्ष की आयु में उसे अकेलापन खलने लगता है। वह दूसरे बच्चों और व्यक्तियों में निःस्वार्थ भाव से रुचि लेने लगता है। वह खेल द्वारा भी सामाजिक सम्पर्क स्थापित करता है। एक वर्ष की आयु के बाद वह दूसरे बच्चों में अपनी रुचि या अरुचि व्यक्त करने लगता है।

(11) शिशु संवेगों पर नियन्त्रण करने में असमर्थ रहता है। जन्म के समय शिशु कोई स्पष्ट संवेग अनुभव नहीं करता। अतः उस समय की उसकी इस संवेगात्मक अनुभूति को सामान्य उत्तेजना कह सकते हैं। परन्तु लगभग दो वर्ष की आयु में वह अनेक संवेगों की स्पष्ट अनुभूति करता है। शिशु के संवेग सीमित होते

है। प्रारम्भ में केवल भय, क्रोध, प्रेम और दु:ख इन चारों संवेगों का ही प्रकाशन उसके व्यवहार में होता है।

(12) शिशु में दोहराने की प्रवृत्ति (Tendency to Repeat) पाई जाती है। वह अनेक ध्वनियों और शारीरिक क्रियाओं को भी खेल ही खेल में दोहराता रहता है। यह प्रवृत्ति उसके सीखने तथा गामक विकास (Motor Development) में सहायक होती है। इसके बिना शिशु का भाषा-विकास सम्भव नहीं होता। ध्वनि अथवा क्रिया को दोहराना, उसके लिये व्यक्तिगत खेल अथवा आनन्ददायी क्रिया होती है।

(13) शिशु में जिज्ञासा या कौतूहल का बाहुल्य होता है। वह अपने खिलौनों के विषय में भी उनको मुंह से चखकर, हाथ से छूकर, पृथ्वी पर पटक कर, अथवा उनसे ध्वनि करके ही उनके बारे में जानना चाहता है। जिज्ञासावश ही वह वस्तुओं की ओर लुढ़ककर, रेंगकर या खिसककर पहुँचने का प्रयत्न करता है। वह ज्ञानेन्द्रियों के मार्ग से उसके बारे में जानकारियाँ प्राप्त करता है।

(14) शिशु का भाषा विकास पहले धीमी और फिर तीव्र गति से होता है। इस विकास का क्रम निम्नांकित प्रकार से होता है :

जन्म के समय : शिशु केवल रुदन-ध्वनि करता है। यही उसकी पहली भाषा होती है।

पच्चीस सप्ताह की आयु में : शिशुओं द्वारा की जाने वाली ध्वनियों में स्वरों की प्रधानता रहती है।

दस माह की आयु में शिशु पहला शब्द बोलता है।

एक वर्ष की आयु में : वह दो या तीन शब्द बोलने लगता है।

चार वर्ष की आयु में . वह लगभग 1500 शब्द बोलने लगता है।

शिशु के भाषा विकास पर उसकी बुद्धि, ध्वनि, अवयवों के स्वभाव और सांस्कृतिक वातावरण का विशेष प्रभाव पड़ता है।

शैशवावस्था में शिक्षा का स्वरूप
(Nature of Education in Infancy)

किसी भी राष्ट्र के बच्चे अपने राष्ट्र के भावी निर्माता होते हैं। वे अपने राष्ट्र की पवित्र धरोहर होते हैं। उनकी देख-भाल करना माता-पिता तथा गुरुजनों का परम कर्तव्य होता है। शिशु का शरीर और मन दोनों ही पवित्र तथा स्वच्छ रहते हैं। अत: इस बात की सावधानी बरतना अति आवश्यक है कि उसके मन और शरीर में विकार उत्पन्न न हों, किन्तु खेद का विषय है कि हमारे देश में शिशुओं की स्वास्थ्य-रक्षा, देख-भाल और समुचित विकास पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता। माता-पिता अपने अमनोवैज्ञानिक व्यवहार से बालक में बुरी आदतें डाल देते हैं। जिसके फलस्वरूप उनकी अज्ञानता के कारण ही शिशु में अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार राष्ट्र की भावी शक्ति निर्बलता का शिकार बनती है। शिशु के छोटे शरीर में बहुत शक्ति होती है। उसमें सीखने और विकसित होने की असीम क्षमतायें होती हैं। विकार रहित होने के कारण ही उसके मुख पर असीम कान्ति झलकती है। यदि माता-पिता या अभिभावक अज्ञानी होते हैं तो उनके व्यवहार के कुपरिणाम शिशु में भी दृष्टिगोचर होते हैं। शिशु की अधिकांश बुराइयाँ और

त्रुटियों के लिए माता-पिता ही उत्तरदायी होते हैं। अतएव माता-पिता को चाहिए कि शिशु में निहित गुणों और क्षमताओं को जाग्रत करें और शिशु के व्यवहार को कुप्रवृत्तियों से बचाएं। शिशु की शिक्षा तथा देख-भाल से सम्बन्धित कुछ गुण (Traits) तथा लक्ष्य इस प्रकार हैं—

(1) **अच्छी आदतों का निर्माण**—आदत मनुष्य का दूसरा स्वभाव होती है (Habit is second nature of man)। बालक के अच्छे स्वभाव की नींव अच्छी आदतों द्वारा पड़ती है। शिशु के जीवन को व्यवस्थित बनाने के लिये कुछ आदतें बहुत आवश्यक हैं। जैसे—समय पर भोजन करना, आंख, नाक एवं दांत इत्यादि अंगों की सफाई रखना, नियमित ढंग से शौच आदि जाना, मल-मूत्र विसर्जन के लिए शौचस्थान का प्रयोग करना। एक वर्ष की आयु के बाद शिशु को ये आदतें सिखानी प्रारम्भ कर देनी चाहिए। लेकिन आदत डलवाने के लिये दण्ड या कठोरता से काम नहीं लेना चाहिए। शिशु की भूख, प्यास, भोजन तथा शौचादि से सम्बन्धित आवश्यकताओं की पूर्ति और आदतों का उसके मानसिक स्वास्थय से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। अतः यदि माता-पिता का कार्य-क्रम अनियमित रहा तो शिशु में भी बुरी आदतें पड़ जायेंगी।

(2) **शिशु को स्वस्थ्य, सुरक्षित तथा सांस्कृतिक वातावरण प्रदान करना**—जहां तक सम्भव हो सके शिशु के खेलने और सोने का स्थान स्वास्थ्य वर्द्धक होना चाहिए, उसे प्रेम, सहानुभूति और दया का पोषण भी निरन्तर मिलते रहना आवश्यक है। जहां तक सम्भव हो सके उसे मानव संस्कृत की अभद्र और अश्लील वस्तुओं से बचाया जाये।

(3) **प्रवृत्तिजन्य व्यवहार को प्रेरित करना तथा मार्गान्तरीकरण करना**—शिशु का समस्त व्यवहार प्रवृत्तिजन्य होता है। इसका दमन किसी भी रूप में हानिकारक होता है। दमन से शिशु के मन में हानिकारक ग्रन्थियां बन जाती हैं, जिसके कारण उसके विकास में बाधा उत्पन्न होती है। उसका व्यक्तित्व विकृत हो जाता है। अतएव जहां तक सम्भव हो सके प्रवृत्तिजन्य व्यवहार का मार्गान्तरीकरण एवं शोधन किया जाना चाहिए। इसकी चर्चा पिछले अध्यायों में की जा चुकी है।

(4) **शिशु की जिज्ञासा प्रवृत्ति का सदुपयोग**—शिशु की ज्ञानेन्द्रियां तीव्र होती हैं। वह आंख, कान, नाक एवं त्वचा (स्पर्श) द्वारा अपने आस-पास की वस्तुओं के बारे में अनुभवजन्य ज्ञान प्राप्त करता है। वह कौतूहलवश वस्तुओं का प्रहस्तन (Manipulation) करता है। माता-पिता तथा परिवार के अन्य सदस्यों से अनेक प्रश्न करता है। अपने आस-पास की वस्तुओं के बारे में उसकी जिज्ञासा शान्त होनी चाहिए। यही उसका मानसिक पोषण है।

(5) **खेल एवं क्रिया द्वारा शिक्षा**—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, शिशु का प्रारम्भिक जीवन अनुभवजन्य होता है शिशु की खेल के प्रति जन्मजात रुचि होती है। यही उसकी क्रियाशीलता और अनुभवों का आधार होता है। बालक को स्वतन्त्र वातावरण में शैक्षिक उपकरणों तथा खिलौनों से खेलना बहुत अच्छा लगता है। खेल की क्रियाओं में उसका सम्पूर्ण-आत्म ही संलग्न रहता है। वह अनुकरण द्वारा बहुत सी बातें सीखता है। यही कारण है कि शिशु-शिक्षा प्रणालियों में

भी खेल (उपकरणों की सहायता से), अनुभव, एवं क्रियाशीलता पर ही बल दिया जाता है।

(6) शिशु के साथ उचित व्यवहार से उसकी शारीरिक एवं मानसिक आवश्यकता की पूर्ति—शिशु को डाँटने-फटकारने अथवा मारने से कोई लाभ नहीं होता, अपितु हानि ही अधिक होती है। समय-समय पर उसकी शारीरिक आवश्यकताएँ पूरी होनी चाहिए अन्यथा उसके अचेतन मन में अतृप्ति का भाव प्रबल हो जाता है। प्रेम, दया, सहानुभूति एवं सुरक्षा प्रदान करके उसकी मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के अभाव में शिशु का नैसर्गिक विकास अवरुद्ध हो जाता है।

(7) आत्मनिर्भरता की शिक्षा—जन्म के समय शिशु असहाय और पूर्ण रूप से दूसरों पर ही आश्रित रहता है। परिवार और समाज की सहायता से वह धीरे-धीरे जीवन में प्रवेश करके आत्मनिर्भरता ग्रहण करता है। जिन बच्चों को आवश्यकता से अधिक सहारा दिया जाता है वे आत्मनिर्भरता के विकास में पिछड़ने लगते हैं। आत्मनिर्भरता के लिए दूसरी आवश्यकता अनुकूल परिस्थिति की है। जिन बच्चों पर नियन्त्रण रखा जाता है वे हर बात में दूसरों का ही मुख देखते रहते हैं। जैसे, अपने आप एक गिलास पानी भी नहीं पी सकते हैं। इसी प्रकार बड़ी आयु में भी जीवन की साधारण समस्याओं को बिना किसी दूसरे की सहायता से हल नहीं कर सकते हैं। अर्थात उनमें आत्म-विश्वास की कमी बनी ही रहती है।

(8) शिशु के जीवन में कल्पना और वास्तविकता का सामंजस्य—शिशु का मानस कल्पना प्रधान होता है। वह कभी-कभी अपने काल्पनिक जगत को ही वास्तविकता मान बैठता है जिसके कारण वह अनेक भ्रांतियों का शिकार होता है। जो शिशु क्रियाशील या खेल में संलग्न होता है उसे काल्पनिक जगत मे विचरण करने का अवसर भी कम ही मिलता है। अतएव यह नितान्त आवश्यक है कि शिशु को अपने आसपास की वस्तुओं का प्रहस्तन करने, उनसे खेलने और क्रियाशील रहने का पर्याप्त अवसर दिया जाय जिससे उसका मानस जीवन की वास्तविकता के निकट रहे। मॉन्टेसरी शिक्षा-प्रणाली में परीकथाओं (Fairytales) को इसलिए स्थान नहीं दिया गया है क्योंकि इनके द्वारा बालक काल्पनिक जगत मे विचरण करने लगता है और जीवन की वास्तविकता से दूर हो जाता है। लेकिन शिशु की 'कल्पना' को बिल्कुल दबा देना भी अनुचित होता है क्योंकि 'कल्पना' मानसिक विकास का उपयोगी साधन है अतएव शिशु को कल्पना तथा वास्तविकता दोनो ही में सामंजस्य स्थापित करने का प्रशिक्षण प्राप्त होना चाहिए।

(9) शिशु में आत्म प्रदर्शन एवं आत्माभिव्यक्ति का विकास—यद्यपि शिशु मनुष्य नहीं होता किन्तु मनुष्य के सभी गुण, शक्तियाँ और योग्यतायें उसमें बीजरूप में विद्यमान रहती हैं। इनके प्रकाशन तथा विकास का अवसर आस-पास के वातावरण से ही प्राप्त होना है। इन निहित गुणों के विकास मे शिशु की आत्म-प्रदर्शन की भावना का विशेष महत्व रहता है। जिन बच्चो को आत्म-प्रकाशन का यथेष्ट

अवसर दिया जाता है उनके निहित गुणों का समुचित विकास होता है। वे विविध क्रियाओं में भाग लेकर आत्माभिव्यक्ति को व्यक्त करते हैं।

(10) **शिशु के व्यवहार का समाजीकरण करना**—जैसा कि पहले बताया जा चुका है शिशु के व्यवहार का विकास पशुवत् व्यवहार से मानवीय व्यवहार की ओर होता है। सामाजिक भावना के विकास के साथ-साथ ही उसके पशुवत् आवेगों के प्रकाशन का ढंग भी बदल जाता है। वह समाज की मर्यादाओं को धीरे-धीरे स्वीकारने लगता है। इस दिशा में उसे मार्ग-निर्देशन की विशेष आवश्यकता होती है।

(11) **शिशु की कर्मेन्द्रियों का प्रशिक्षण**—शारीरिक, मानसिक और संवेगात्मक विकास की दृष्टि से शैशवावस्था बहुत महत्वपूर्ण है। इस काल में बालक बहुत तीव्र गति से विकास और अभिवृद्धि प्राप्त करते हुए परिपक्वता की एक दशा से दूसरी दशा तक पहुँचते हैं। लेकिन परिपक्वता के साथ-साथ सीखने की क्रिया भी संलग्न रहती है। शिशु अपनी कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के सतत प्रयोग से नवीन जानकारियाँ प्राप्त करता है। वह नवीन क्रियाओं को करने में कुशलता प्राप्त करता है। यही कारण है कि मॉन्टेसरी और किंडरगार्टन शिक्षा प्रणालियों में इन्द्रिय-प्रशिक्षण तथा कर्मेन्द्रियों की शिक्षा पर बल दिया जाता है। शैशवास्था में ही यह निश्चित हो जाता है कि बालक वाम-हस्ता बनेगा या दक्षिण-हस्ता। जीवन में बहुत से कार्य उसे अपने हाथों से कुशलतापूर्वक करने होते हैं। यही कारण है कि आजकल 'हाथों की शिक्षा (Education of Hands) का शिक्षा में नया नारा चल पड़ा है। रूसो का भी यही कथन था—"बालक के हाथ-पैर और नेत्र उसके प्रारम्भिक शिक्षक हैं। इन्हीं के द्वारा ही वह पाँच वर्ष की अवस्था में ही पहचान सकता है, सोच सकता है और याद कर सकता है।"

(12) **दृश्य श्रव्य सामग्री द्वारा शिशु शिक्षा**—'क्रो एन्ड क्रो' के अनुसार—"पाँच वर्ष की आयु का शिशु कहानी सुनते समय उससे सम्बन्धित चित्रों को पुस्तक में देखना पसन्द करता है।"[1]

शिशु के सीखने की क्रिया में खेल, कथानक और आवर्तन (Repetition) का रुचिकर मिश्रण रहता है। शिशु उन खेलों में बहुत रुचि लेता है जिनमें खेल की क्रिया के साथ-साथ कोई मौखिक तुकबन्दी भी दोहराई जाये। इन तुकबन्दियों में या तो कोई लघु कथानक होता है या अर्थहीन शब्द जैसे—

"अटकन बटकन दही चटोकन....... .. .."
मामा लाए सात कटोरी, एक कटोरी फूट गई,
मामा की बहू रूठ गई .... ।"

अतः स्पष्ट है कि बालक के सीखने की प्रक्रिया के महत्वपूर्ण अंग हैं—

(क) खेलने की भावना।
(ख) कथानक या कहानी।
(ग) आवर्तन।

[1] बाल-मनोविज्ञान पृष्ठ 52.

(घ) शारीरिक (इन्द्रिय) क्रियाशीलता।

(ङ) वस्तु या चित्र।

शिशु-शिक्षा में आँख और कान इन दोनों ज्ञानेन्द्रियों का विशेष उपयोग होता है। अत. कहानियों तथा सचित्र पुस्तकों का शिशु-शिक्षा में अधिकाधिक उपयोग होना चाहिये। शिशु का अविकसित मस्तिष्क संगीत से शीघ्र ही प्रभावित होता है। यदि संगीत के साथ-साथ क्रियाशीलता या खेल को सम्बन्धित कर दिया जाये तो वह बहुत अधिक आनन्दित और प्रभावित होता है। इसलिये शिशुशालाओं मे सामूहिक नृत्य तथा क्रियाशील गायन (Action Song) अथवा कविता पाठ पर बल दिया जाता है।

(13) **सामाजिक सम्बन्धों का प्रशिक्षण**—शिशु पूरी तरह माता पर ही निर्भर करता है। उसकी निर्भरता उसे सामाजिक प्रतिक्रियाएं करने और सामाजिक *सम्बन्ध बनाने के लिये विवश कर देती है। माता अपने शिशु के समाजीकरण का* प्रथम और सबसे महत्वपूर्ण 'कारक' होती है। प्रथम माता ही बालक की सामाजिक और संवेगात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। अतः माता या माता के समान व्यवहार करने वाली अन्य स्त्रियों या पुरुषों के प्रति शिशु आकर्षित होता है। उनकी उपस्थिति से वह आनन्दित होता है। माता से पृथक होकर शिशु का विकास अवरुद्ध हो जाता है और ऐसे बहुत से शिशु जीवित भी नही रह पाते। प्रत्येक शिशु अपने माता-पिता और भाई-बहिनो से मधुर सामाजिक सम्बन्ध बनाना सीखता है। इन सम्बन्धों के विकास के साथ-साथ ही शिशु का संवेगात्मक विकास भी सम्पन्न होता है। एक वर्ष की आयु का शिशु अन्य शिशुओं की ओर आकर्षित होता है और उनके साथ खेलते हुए सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करता है। परन्तु इस कार्य मे भी उसे सहायता और निर्देशन की आवश्यकता रहती है। औपचारिक ढग से शिशु-*कार्यक्रम आयोजित करके उनकी सहायता की जा सकती है। सामाजिक वातावरण* और सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर ही शिशु के मन मे नैतिकता और न्याय की भावना का उदय होता है।

(14) **बौद्धिक विकास में सहायता करना**—शिशु की मानसिक क्रियाएँ तीव्र गति से होती हैं। वह मानसिक दृष्टि से अधिक चैतन्य, संवेदनशील और जिज्ञासु होता है। लेकिन उसके बौद्धिक विकास का एक निश्चित मनोवैज्ञानिक क्रम रहता है। जैसे किसी बात की ओर ध्यान देना (अवधान केन्द्रित करना), इन्द्रिय संवेदनाएँ ग्रहण करना, प्रत्यक्ष ज्ञान का निर्माण करना और प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर स्मृति और कल्पना की क्रियायें करना। शिशु की देखभाल करने वाले और शिक्षा से सम्बन्धित सभी व्यक्तियों को इस मनोवैज्ञानिक क्रम को भली-भांति समझकर ही शिशु के साथ उचित व्यवहार करना चाहिए। वस्तु और चित्रों की सहायता से भी उसके प्रत्यक्ष ज्ञान को घनी और स्पष्ट बनाया जा सकता है। शिशु में अनेक मानसिक गुण और शक्तियाँ प्रसुप्तावस्था में रहती हैं, अतएव माता-पिता तथा शिक्षकों का

यह कर्तव्य है कि इन निहित गुणों को खोजकर जाग्रत करें और उन्हें प्रकाश में लाएँ। शिशु के बौद्धिक विकास का साधन और मापदण्ड मातृभाषा ही है। शिशु की विचार शक्ति बहुत कुछ मातृभाषा के विकास पर ही निर्भर रहती है।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. शैशवकालीन अनुभवों का बालक के जीवन में क्या महत्व है ?
2. शैशवकाल की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए और उनके अनुसार शैशव कालीन शिक्षा व्यवस्था का वर्णन कीजिए।

14

विकास की अवस्थाएँ : बाल्यावस्था
(STAGES OF DEVELOPMENT : CHILDHOOD)

बाल्यावस्था को प्रायः दो भागों में विभक्त किया जाता है :

(क) प्रारम्भिक बाल्यकाल—3 से 6 वर्ष तक

(ख) प्रमुख बाल्यकाल—6 से 12 वर्ष तक

प्रारम्भिक बाल्यकाल में बहुत-सी बातें शैशवावस्था के समान ही रहती हैं परन्तु विकास और परिपक्वता के कारण उसका व्यवहार अनेक बातों में शिशु से भिन्न भी होता है। प्रारम्भिक बाल्यकाल में भी वृद्धि शैशवावस्था के समान तीव्र गति से ही होती है और क्रियाशीलता भी उसी प्रकार रहती है, परन्तु भाषा-विकास में प्रमुख रूप से अन्तर उत्पन्न हो जाता है। बाल्यावस्था में सामाजिक और संवेगात्मक व्यवहार का स्तर भी शिशु अवस्था के व्यवहार की अपेक्षा काफी भिन्न होता है। बाल्यकाल तीव्र शारीरिक क्रियाशीलता और अभिवृद्धि का समय है। बालक का शरीर तीव्र गति से परिपक्व होता है और खेलने की क्रिया द्वारा अनेक गामक कुशलताएँ—जैसे, कूदना, पेड़ पर चढ़ना, गेंद लपकना या फेंकना, दौड़ना आदि—प्राप्त कर लेता है। शिशु की अपेक्षा बालक में संवेगों की संख्या अधिक होती है, जैसे—चिन्ता, भय, शर्म आशा-निराशा, द्वेष, प्रेम, स्पर्धा आदि। शिशु की अपेक्षा बालक अपने संवेगों पर अधिक नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है तथा उसके अनेक प्रकार के भय भी कम हो जाते हैं और क्रोध का प्रकाशन भी कम हो जाता है। शैशवकाल में वह आत्मकेन्द्रित रहता है परन्तु बाल्यावस्था में सामाजिकता के विकास के फलस्वरूप वह अपनी आयु के तीन-चार बच्चों के साथ खेलना पसन्द करता है। यद्यपि प्रारम्भिक बाल्यकाल में उसका माता से लगाव बना रहता है। यही कारण है कि घर से दूर, दूसरे प्रकार के सामाजिक वातावरण में वह अपने आप को सुखी अनुभव नहीं करता। इससे पहले कि बालक को किसी शिशुशाला में भेजा जाए, कुछ अन्य बच्चों को बुलाकर घर में उसे उनके साथ खेलने का अवसर दिया जाना चाहिए क्योंकि इस अभ्यास के पश्चात् शिशुशाला में उसे अपने साथियों के साथ रहने में सहायता मिलेगी।

कुछ मनोवैज्ञानिक बाल्यकाल को जीवन का 'अनोखाकाल' मानते हैं। इस काल में बालक की मनोदशाओं को समझना कठिन होता है क्योंकि बालक के शरीर और व्यवहार में शीघ्रता से अनोखे परिवर्तन उत्पन्न होने लगते हैं। लगभग छः वर्ष की

आयु में उसका स्वभाव उग्र रहता है। सामाजिक भावना प्रबल होने से पहले उसमें कुछ समय के लिए अकेलापन या उदास रहने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। दस-बारह वर्ष की आयु में वह रोमांचकारी कार्य (Adventure) करना चाहता है और नियमित या घिसे-पिटे कार्यों में उसका मन नहीं लगता।

बाल्यावस्था की विशेषताएँ

(1) रॉस के अनुसार बाल्यकाल 'मिथ्या परिपक्वता' (Pseudo-maturity) का समय है। 6 या 7 वर्ष की आयु के बाद बालक के सामान्य विकास की गति कुछ समय के लिए धीमी पड़ जाती है, ताकि उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियों में दृढ़ता आ सके। परिपक्वता के कारण वह वयस्क सा दिखाई पड़ता है। उसकी यह वयस्कता मिथ्या और अस्थायी होती है परन्तु इसके तुरन्त बाद ही विकास, वृद्धि और परिपक्वता का नया चक्र आरम्भ हो जाता है।

(2) **बाल्यकाल में कुछ मूल प्रवृत्तियाँ प्रबलता से प्रकाशित होती हैं**—जैसा कि पिछले अध्यायों में बताया जा चुका है सभी मूल प्रवृत्तियाँ जीवन में एक साथ प्रकाशित नहीं होतीं। बाल्यकाल में जिज्ञासा, विधायकता, सामाजिकता और संग्रह की प्रवृत्तियाँ तीव्र हो जाती हैं। शिशु जिज्ञासावश यह जानना चाहता है कि 'यह वस्तु क्या है ?' किन्तु बालक केवल 'क्या' से ही सन्तुष्ट नहीं होता, वह इसके अतिरिक्त 'क्यों ? भी जानना चाहता है। वह प्रत्येक वस्तु और घटना के विषय में प्रश्न पूछता है, जैसे ऐसा क्यों हुआ ? अथवा ऐसा क्यों किया जाता है ? इत्यादि।

शिशु की विधायकता का प्रकाशन ध्वंसात्मक क्रियाओं में होता है, किन्तु बाल्यकाल में वह रचनात्मक कार्यों में भी विशेष आनन्द लेने लगता है। लड़के और लड़कियाँ अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने के लिए लालायित रहते हैं, जैसे—लड़कियाँ रसोई में भोजन आदि बनाने के लिए या सीने-पिरोने अथवा कढ़ाई का काम करने के लिए तथा लड़के बगीचे में काम करने या औजारों का प्रयोग करके कोई वस्तु बनाने के लिए। वे लकड़ी के टुकड़ों या दफ्ती से वस्तुएँ बनाना चाहते हैं। लड़के और लड़कियाँ माता-पिता के रचनात्मक कार्यों का बड़े मनोयोग से अनुकरण करते हैं, इसीलिए उनके सभी रचनात्मक कार्यों पर अनुकरण की छाप रहती है।

बाल्यकाल में संग्रह करने की प्रवृत्ति भी बहुत तीव्र रहती है। बालकों की जेब बस्तों और आलमारियों में उसके द्वारा एकत्रित वस्तुएँ देखी जा सकती हैं, जैसे—कल-पुर्जे, गोलियाँ, कांच के टुकड़े, लकड़ी के टुकड़े, चित्र खिलौने, डाक-टिकट तथा रेल-टिकट आदि।

बालक की बढ़ी हुई क्रियाशीलता और जिज्ञासा को सन्तुष्ट करने में जिज्ञासा, विधायकता और संग्रह ये तीनों जन्मजात प्रवृत्तियाँ अपूर्व सहयोग करती हैं। बालक एक वैज्ञानिक की भांति बहुत-सी बातों को स्वयं करके देखना चाहता है और अपने प्रयोगों के आधार पर मौलिक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

(3) **भ्रमण तथा साहसिक कार्य करने की प्रवृत्ति**—सिरिलबर्ट (Cyril Burt) के अनुसार 9 वर्ष के बालक में निरुद्देश्य भ्रमण की प्रवृत्ति तीव्र रहती है। यही प्रवृत्ति उसे कभी-कभी विद्यालय से भागने के लिए भी प्रेरित करती है। जब

बालक पारिवारिक गप-शप में नवीन स्थानों की चर्चा सुनता है तब उसके मन में उन्हें स्वयं देखने की प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है। जब भी उसे अवसर मिलता है वह अपने नगर, गाँव, मोहल्ले के आस-पास के उन नवीन स्थानों को भ्रमण द्वारा देखता है। इस प्रकार के भ्रमण कार्यों में उसकी साहसिक कार्य करने की इच्छा भी सन्तुष्ट होती है। शैशवकाल में बालक का संसार बहुत छोटा है जोकि केवल परिवार तक ही सीमित होता है। बाल-मन में संसार के बारे में जो चित्र बनते हैं उनमें कल्पना की प्रधानता रहती है। किन्तु बाल्यावस्था में वह भ्रमण एवं साहसिक यात्राओं के द्वारा एक अति विशाल संसार का चित्र अपने मन में बनाता है। वह अपने आस-पास के अति विशाल संसार के बारे में शीघ्रातिशीघ्र जानकारी प्राप्त करना चाहता है। इसीलिए मनोवैज्ञानिक बाल्यकाल को वास्तविक जगत में प्रवेश करने का समय मानते हैं। बालक निर्भीकता से मौलिक ज्ञान जुटाना चाहता है।

(4) सामूहिक कार्यों और खेलों में रुचि—बालक 6, 7, 8 वर्ष की आयु में छोटे समूहों मे खेलता है या विचरण करता है। तदुपरान्त 10, 11, 12 वर्ष की आयु में यह लघु समूह ही दल के रूप में परिणत हो जाते हैं। वह दस वर्ष की आयु तक अपने आस-पास के वातावरण में खेले जाने वाले सभी खेलों से भली-भाँति परिचित हो जाता है। खेल की क्रिया में आत्माभिमान, संघर्ष, अनुकरण, संचय तथा निर्माण आदि प्रवृत्तियों का प्रकाशन होता है और इस प्रकार खेल की क्रिया में उसकी अनेक मूल प्रवृत्तियों का व्यवस्थापन और शोधन हो जाता है। शिशु का अधिकांश समय माता के साथ अथवा परिवार के अन्य सदस्यों की देखरेख में ही व्यतीत होता है, परन्तु बालकावस्था प्राप्त करने पर उसे पारिवारिक नियन्त्रण अप्रिय लगने लगते हैं और वह अपना अधिक समय अपनी समान आयु के बच्चों के साथ ही व्यतीत करना चाहता है। इस समूह के साथ उसका व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। वह समूह की बातों को अधिक मान्यता प्रदान करता है और परिवार के लोगों से अपने समूह की बातें छिपाने लगता है। समूह में सहयोग, विरोध, सहानुभूति, आज्ञापालन, सहनशीलता आदि सामाजिक गुणों का विकास एवं प्रकाशन होता है। बालक का खेल के समूह के साथ मिलने का स्थान और समय निश्चित होता है, जहाँ समूह के सदस्य नियमित रूप से मिलते और खेल खेलते हैं। वह अनुकरण द्वारा नवीन आदतें ग्रहण करता है तथा अनुकरण द्वारा ही समूह की क्रियाएँ, विचार और भावनाएँ स्वय भी अपना लेता है।

(5) बालक की मानसिक योग्यताओं में निरंतर वृद्धि होती है—बालक शिशु की अपेक्षा अधिक समय तक अपने ध्यान को केन्द्रित कर सकता है। उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ और मस्तिष्क अधिक तीक्ष्णतापूर्वक कार्य करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप प्रत्यक्षीकरण की शक्ति बढ़ जाती है। शिशु की अपेक्षा बालक का प्रत्यक्ष ज्ञान भी अधिक स्पष्ट और अर्थपूर्ण होता है। बालक अपने स्वभाव और ज्ञान के अनुसार तर्क करता है और छोटी-मोटी समस्याओं पर विचार भी व्यक्त करता है। स्मरण शक्ति के आधार पर वह पूर्व अनुभवों को अपने तर्क और विचारों मे प्रयोग करता है। बालक में लौकिक व्यवहार से सम्बन्धित निम्नलिखित चार प्रकार की भाषा योग्यताओं का विकास भी दृष्टिगोचर होता है :

(i) अन्य व्यक्तियों द्वारा बोली गई भाषा को समझना।

(ii) अपना शब्द ज्ञान विस्तृत करना।

(iii) शब्दों का सही उच्चारण सीखना।

(iv) व्यवहार और व्याकरण की दृष्टि से मान्य वाक्यों का निर्माण करना।

(6) **बाल्यकाल में व्यक्तित्व का व्यापक विकास होता है**—शैशवकाल में उसका व्यवहार आत्मनिष्ठ होता है। वह अधिकांश समय एकान्त में ही व्यतीत करता है। केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता है। संक्षेप में शैशवकालीन व्यवहार अन्तर्मुखी (Introvert) होता है। इसके विपरीत बाल्यकाल में उसके व्यवहार, अनुभव और सामाजिक परिचय का क्षेत्र व्यापक हो जाता है। इस प्रकार बाल्य-काल में उसका व्यक्तित्व वहिर्मुखी (Extrovert) हो जाता है। अपने से बाहर सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण में उसकी रुचियाँ जाग्रत हो जाती हैं। उसके व्यक्तित्व में अनेक नवीन गुण (traits) दिखाई देने लगते हैं। उसमें अनेक नवीन रुचियों का भी विकास होता है। चरित्र की नींव भी इसी काल में पड़ती है।

(7) **संवेगात्मक और नैतिक विकास**—शिशु के संवेग अनियन्त्रित रहते हैं किन्तु वाल्यावस्था में बालक-बालिकाओं के संवेग प्रकाशन के ढंग में भी काफी परिवर्तन दिखाई देता है। वह संवेगों पर नियंत्रण करना सीख लेता है और बुरी समझी जाने वाली भावनाओं को स्वयं दवा सकता है। उसमें अच्छे-बुरे तथा उचित-अनुचित का भाव भी जाग्रत हो जाता है। 6 से 8 वर्ष का बालक न्याय, अन्याय, ईमानदारी, बेईमानी आदि सामाजिक मूल्यों तथा नैतिक भावनाओं को समझने लगता है। वह प्रत्येक सामाजिक और संवेगात्मक घटना के प्रति सजीव रहता है और उसके बारे में अपने नैतिक विचार व्यक्त करता है। इस काल में ही उसमें अनेक स्थायी भाव धारणायें और अभिवृत्तियाँ भी उत्पन्न होने लगती हैं।

(8) **बालक में काम-प्रवृत्ति की न्यूनता रहती है**—बाल्यावस्था में शारीरिक क्रियाशीलता और खेल-कूदों में वृद्धि हो जाने के कारण, शैशवकालीन काम-चेष्टाएं (जैसे—स्तनपान, जननेन्द्रियों का स्पर्श आदि) लुप्त हो जाती हैं। फ्रायड के अनुसार बाल्यकाल काम (Sex) की प्रसुप्तावस्था है। बालक काम-सम्बन्धी भावनाओं का शीघ्रता से दमन कर सकता है। इस काल में चरित्र और नैतिक-आत्म (Self-moral) की नींव पड़ती है। काम की ओर से उसका ध्यान हटने का दूसरा कारण अन्य रुचियों का तीव्र विकास भी है। 6 से 12 वर्ष तक की आयु में बालक की रुचियाँ शीघ्र ही परिवर्तित होती रहती हैं।

(9) **बाल्यकाल में प्रतिस्पर्धा की भावना प्रबल रहती है**—परिवार में वह अपने भाई-बहिनों से प्रत्येक कार्य में प्रतिस्पर्धा करता है। माता-पिता बच्चों में होड़ उत्पन्न करके इसका उपयोग अच्छे कार्यों के लिए कर सकते हैं। जैसे—प्रातःकाल पहले कौन उठता है किसके दांत अधिक चमकते हैं, परीक्षा में किसको अधिक अंक प्राप्त होते हैं, किसके कपड़े गंदे नहीं होते एवं किसकी वस्तुएँ नहीं खोतीं, आदि।

लड़के खेल-कूद भाग-दौड़ आदि के कार्यों में शीघ्र चुनौती स्वीकार कर लेते हैं। उनका रचनात्मक कार्यों में भी प्रतिस्पर्धा का भाव रहता है। विद्यालय में इस

सदुपयोग किया जाना चाहिए। लडकियों में प्रतिस्पर्द्धा का प्रकाशन नृत्य, गायन एवं परिधान आदि से सम्बन्धित कार्यों में होता है।

(10) स्थूल एवं कार्यसाधक कल्पना का विकास—बालक शैशव अथवा प्रारम्भिक बाल्यकाल मे कल्पना लोक में ही विचरण करता है और परियों आदि की कहानियो में विशेष आनन्द लेता है। इसके विपरीत बाल्यकाल में वास्तविक जगत में उसकी रुचि बढ़ जाती है। वह अपने आस-पास की वस्तुओं जैसे—पेड़, पौधों, पशुओं, पक्षियो, यातायात के साधनों, रेडियो, एवं कैमरा आदि उपकरणों का सूक्ष्म निरीक्षण करता है। कुम्हार द्वारा मिट्टी के बर्तन बनाना। पतंग बनाना और उड़ाना, बढ़ई या लुहार को काम करते देखना, कलई वाले को कलई करते देखना आदि कार्य उसे बहुत अच्छे लगते हैं। वह स्वय भी स्थूल वस्तुओ की सहायता से कुछ वस्तुएँ बनाने का प्रयत्न करता है। स्थूल वस्तुओ को पात्र मानकर खाना और चाय आदि बनाता है। बाल्यकालीन खेलो और कार्यों मे उसकी विधायकता और सृजनात्मक कल्पना का प्रकाशन होता है। वह स्वतन्त्र रूप से कार्य करता हुआ अनेक नवीन कौशल सीखता है।

बाल्यकालीन शिक्षा की विशेषताएँ
(Characteristics of Child-hood Education)

(1) बाल्यकालीन शिक्षा-प्रणाली में शिक्षा क्रियाशीलता से पूर्ण होनी चाहिए—बालक की जिज्ञासा, विधायकता, खेल, सचय आदि प्रवृत्तियो की दृष्टि से शिक्षा की सामग्री और विधियाँ ऐसी होनी चाहिए जिनके द्वारा बालक को अधिक से अधिक क्रियाशील रखा जा सके।

(2) बालक की जिज्ञासा प्रवृत्ति का सदुपयोग—इस काल में बालक की जिज्ञासा तीव्र रहती है, अतएव उसे दी जाने वाली शिक्षा द्वारा इस प्रवृत्ति की तुष्टि होनी चाहिए। पाठ्यक्रम मे जीवन की वास्तविकताओ को उचित स्थान मिलना चाहिए। प्रारम्भ से ही पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए जो कि बालक के जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण उत्पन्न कर सके।

(3) रोचक विषय-वस्तु या शिक्षण विधियाँ—बाल्यकाल में रुचियो मे भिन्नता और परिवर्तनशीलता बनी रहती है। अतएव बालक के लिए चुनी जाने वाली विषय-सामग्री और पाठन विधि में रोचकता और भिन्नता होनी चाहिए। संक्षेप मे शिक्षा का पूर्ण कार्यक्रम आकर्षक होना चाहिए। पाठ्य-पुस्तकों में चित्र, साहसिक कार्यों का वर्णन, आस-पास के पशु जीवन और आश्चर्यजनक बातों का भी रोचक वर्णन होना चाहिए। पाठन विधियो में खेल, हास्य, अभिनय, कथा वर्णन और प्रयोगात्मक विधि की प्रधानता होनी चाहिए।

(4) भाषा शिक्षण पर बल—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, बाल्यकालीन शिक्षा द्वारा बालक में चारो प्रकार की भाषा योग्यताओ का समुचित विकास हो जाना चाहिए। क्योंकि भाषा ही मानसिक विकास का प्रथम उपकरण है।

(5) शिक्षा द्वारा सामाजिक गुणों का विकास—मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बाल्यावस्था "प्रतिद्वन्द्वात्मक-समाजीकरण" का समय है। बालक की प्रतिद्वन्द्वता या स्पर्धा की भावना का शिक्षा मे समुचित उपयोग होना चाहिए। विद्यालय मे इस

प्रकार के खेल-कूद, मनोरंजनपूर्ण सामूहिक कार्यक्रम आयोजित किये जायें जिनके द्वारा बालक के जीवन में अच्छी आदतें, अनुशासन, आत्मनियन्त्रण, सहयोग और सहानुभूति का अधिकतम विकास हो सके। वह नागरिक उत्तरदायित्वों को समझ सके और प्रजातन्त्रात्मक जीवन प्रणाली का महत्व समझ सके।

(6) **शिक्षा द्वारा सामूहिक जीवन का विकास**—बालक समूह में ही रहना पसन्द करता है। अतएव बाल्यकाल की शिक्षा द्वारा सामूहिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति होनी भी आवश्यक है। स्काउटिंग को शिक्षा का अभिन्न अंग बनाया जाना चाहिए। विद्यालय के कार्यक्रमों में सामूहिक-खेल, सामूहिक-प्रतिद्वन्द्वताएँ एवं प्रजातन्त्रीय प्रणाली को अनेक रूपों में स्थान मिलना चाहिए। राष्ट्रीय पर्व और अनेक कार्यक्रमों के माध्यम से अन्य बालकों से मिलना-जुलना, सहयोग और सहानुभूति व्यक्त करना आदि कार्य भी बाल्यकाल से ही सिखाए जाने चाहिए।

(7) **संवेगों का प्रशिक्षण**—बाल्यकाल में सामाजिक व्यवहार के क्षेत्र का विस्तार होने के साथ ही साथ संवेगात्मक विकास भी होता है। अतः इस काल में संवेगों के दमन से हानिकारक भावना-ग्रंथियाँ बन जाती हैं। अतः बालक को संवेगों की अनुभूति, प्रकाशन एवं नियन्त्रण का समुचित अवसर मिलना चाहिए। सामाजिक मर्यादाओं की परिधि में ही संवेगों का प्रदर्शन करना सिखाया जाना चाहिए।

(8) **विद्यालय में पाठ्यक्रम-सहगामी क्रियाओं की व्यवस्था**—बालक की विभिन्न योग्यताओं और रुचियों के अनुसार विद्यालय में पाठ्यक्रम के अतिरिक्त क्रियाओं की व्यवस्था होनी चाहिए। इन क्रियाओं का लक्ष्य बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना है। इनके द्वारा बालक की छिपी हुई शक्ति को प्रकाश में लाया जाता है।

(9) **बाल्यकालीन शिक्षा प्रेम और सहानुभूति पर आधारित होनी चाहिए**—शारीरिक दण्ड या डाँट-फटकार से बालक शिक्षा से विमुख हो जाता है। उसे उपदेश न दे कर प्रेम और सहानुभूति से उसके समक्ष आदर्श व्यवहार प्रस्तुत करना चाहिए। नैतिकता का पाठ भी व्यावहारिक होना चाहिए।

(10) **बालक की संग्रह प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करना**—बालकों की इस प्रवृत्ति का सदुपयोग शैक्षिक कार्यों के लिए किया जाना चाहिए। विभिन्न देशों के राष्ट्रीय-ध्वजों के चित्र, डाक-टिकट, मानचित्र, पशु-पक्षियों के चित्र आदि व्यवस्थित ढग से एकत्रित करने का प्रोत्साहन देकर भी उनकी रुचियों और बुद्धि का विकास किया जा सकता है।

(11) **रचनात्मक कार्यों की शिक्षा**—जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, बालक रचनात्मक कार्य में विशेष रुचि लेते हैं। मस्तिष्क की शिक्षा के साथ-साथ ही उसके हाथों की शिक्षा (Education of Hands) भी इसी काल में प्रारम्भ हो जाती है। अतएव केवल पुस्तकीय-शिक्षा ही पर्याप्त नहीं होती अपितु उसके साथ ही लड़कियों के लिए सीना-पिरोना, कढ़ाई, भोजन बनाना तथा कलात्मक कार्यों की शिक्षा व्यवस्था होनी चाहिए। लड़कों को कोई भी हस्त-शिल्प, औजारों का उपयोग, बागवानी आदि की व्यवहारिक शिक्षा दी जानी चाहिए।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि बाल्यकाल शिक्षा की दृष्टि से

बहुत महत्वपूर्ण समय होता है। बालक के जीवन की सफलता और असफलता की नींव इसी काल में पड़ती है। इस काल में जीवन सबसे अधिक क्रियाशील और अनुभवशील होता है। अतः सीखने और जानने की क्षमता तथा नवीन शक्तियों के प्रस्फुटित होने की सम्भावना सबसे अधिक रहती है। बालक का जीवन अनेक चिन्ताओं से मुक्त होता है। अतएव इस काल में पड़े हुए संस्कार उसके मानव-पटल पर चिरस्थायी रहते हैं। वास्तव में बाल्यकाल में ही बालक का सम्पूर्ण जीवन प्रतिबिम्बित हो जाता है। उसका शैशवकालीन भूत, वर्तमान में दिखाई देता है। शैशव काल में जितना प्रेम, देख-भाल और पोषण उसे प्राप्त होता है, उसी के अनुसार ही बाल्यकाल की मस्ती और क्रियाशीलता रहती है। किशोर और प्रौढ़ जीवन की आकांक्षाओं की झलक भी बाल्यकाल में देखी जा सकती है। अभिभावकों पर उसकी निर्भरता कम हो जाती है। वह आत्म-नियन्त्रण और सहनशीलता प्राप्त कर लेता है। वह बिना थके अधिक समय तक क्रियाशील रह सकता है। ये सब शारीरिक मानसिक दशाएँ उसके बौद्धिक विकास के लिए बहुत उपयुक्त होती हैं। भाषाज्ञान और अंकगणित का ज्ञान उसकी महत्वपूर्ण मानसिक आवश्यकता बन जाती है। अतः बाल्यकालीन शिक्षा में भाषा एवं अंकगणित की शिक्षा को प्रमुख स्थान दिया गया है।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. प्रारम्भिक और मुख्य बाल्यकाल की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए। इनका शैशवकालीन अनुभवों से क्या सम्बन्ध रहता है?
2. बाल्यकालीन शिक्षा की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. बाल्यकाल में सामूहिक जीवन की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

15

विकास की अवस्थाएँ : किशोरावस्था
(STAGES OF DEVELOPMENT : ADOLESCENCE)

किशोरावस्था—परिवर्तन एवं संघर्ष

स्टैनलेहाल के अनुसार किशोरावस्था जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन, कठिन संघर्ष और तूफानी दौर का समय है। प्रायः किशोरावस्था की परिभाषा सांस्कृतिक और जैविक, दो दृष्टिकोणों से की जाती है। जैविक दृष्टि से किशोरावस्था जीवन का वह संगम है, जबकि प्रजनन अंग एवं प्रणाली तीव्र गति से अभिवृद्धि प्राप्त कर परिपक्व हो जाते हैं। स्टैनलेहाल ने सबसे पहले जीवन के इस नाजुक समय की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए बताया था कि तीव्र शारीरिक अभिवृद्धि के कारण इस काल में किशोर और किशोरियों के मानसिक जीवन में भयंकर उथल-पुथल होती है। उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व ठीक उसी प्रकार बदल जाता है जिस प्रकार भारी भूकम्प के धक्कों के बाद भूपटल की आकृतियाँ बदल जाती हैं। मनोविश्लेषणवादी मनोवैज्ञानिक भी किशोरावस्था में होने वाले जैविक परिवर्तनों पर विशेष बल देते हैं। किशोर और किशोरियों में लैंगिक अभिवृद्धि के साथ-साथ प्रबल काम प्रेरणाएँ (Sex-drives) भी उनके व्यवहार को विलक्षण बना देती हैं। जीवन में काम प्रेरणाओं के संचार के साथ-साथ ही मानसिक तनाव और संघर्ष में भी वृद्धि हो जाती है। यही कारण है कि किशोरावस्था को तूफानी-दौर का समय कहा गया है।

सांस्कृतिक दृष्टि से किशोर न तो बालक ही होता है और न हम उसे प्रौढ़ ही कह सकते हैं। इस प्रकार किशोर को कहीं बालक का तो कहीं प्रौढ़ का अभिनय करना पड़ता है। बहुत सी बातों में उसे प्रौढ़ों के उत्तरदायित्व निभाने पड़ते हैं, परन्तु समाज या परिवार में उसे प्रौढ़ों के समान स्थान नहीं मिलता है। अर्थात प्रौढ़ों के समान सभी सुविधाएँ भी उसे प्राप्त नहीं होती हैं, मानसिक दृष्टि से वह बहुत सी बातों में बच्चों के समान होता है परन्तु वह बच्चों में मिल-बैठ नहीं सकता। इस प्रकार किशोर जीवन अनेक अनिश्चितताओं, चिन्ताओं, तनावों और संघर्षों से युक्त रहता है। प्रौढ़ उसे बच्चा समझते हैं और बच्चे उसे अपने से बड़ा मानते हैं। किशोर-किशोरियों के मन में इस कठिन परिस्थिति के कारण शर्मीलापन, झिझक अथवा संकोच तथा अस्वीकार किए जाने का भय और भविष्य की चिन्ता बराबर बनी रहती है। उन्हें इन विलक्षण परिस्थितियों के कारण परिस्थितियों से समंजन करने में भी कठिनाई होती है और इस काल में अधिकांश किशोर-किशोरियों में

कुसमायोजन के लक्षण भी दिखाई पड़ते हैं। आदि संस्कृति वाले समूहों में जहाँ पर कि कम आयु में विवाह और विषमलिंगी सम्पर्क में कोई प्रतिबन्ध नहीं है वहाँ के किशोरों में इस प्रकार की मानसिक कठिनाइयाँ देखने को नहीं मिलती। आधुनिक औद्योगिक एवं सांस्कृतिक वातावरण के कारण भी किशोरों की मानसिक कठिनाइयों में अधिक वृद्धि हुई है। किशोर-किशोरियों के अधिकांश मानसिक तनाव, चिन्तायें और संघर्षों का कारण समाज एवं संस्कृति द्वारा थोपी गई सीमाएँ हैं। आज के किशोर और किशोरियों को समाज की मान्यताओं एवं आवश्यकताओं के अनुसार अपना भविष्य सुधारने के लिए कठिन परिश्रम और संघर्ष करना पड़ता है।

किशोरावस्था की अवधि

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में किशोरावस्था मुख्य रूप से वह आयु है, जोकि बाल्यावस्था के समाप्त होते ही प्रारम्भ होती है और जिसकी समाप्ति प्रौढ़ावस्था प्राप्त होने पर होती है। साधारणतः यह काल 7 या 8 वर्ष का होता है अर्थात 12-13 वर्ष की आयु से लेकर 18-19 वर्ष की आयु तक। इसे भी दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(क) पूर्व-किशोरावस्था, (ख) किशोरावस्था।

पूर्व-किशोरावस्था को 'एज ऑफ प्यूबर्टी' (Age of Puberty) भी कहते हैं। यह काल 12 से 15 वर्ष की आयु तक होता है जिसमें कैशोर वृद्धि (Pubic Growth) तीव्र गति से होती है। किशोरावस्था के प्रारम्भ होने की आयु देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार भिन्न हो सकती है। लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में कैशोर वृद्धि के लक्षण एक या दो वर्ष पूर्व ही दिखाई देने लगते हैं। इसी प्रकार जलवायु, सांस्कृतिक वातावरण एवं प्रजाति (Race) आदि का प्रभाव भी किशोरावस्था के प्रारम्भिक समय पर ही पड़ता है। कुछ लोगों का विचार है कि ठण्डे देशों की अपेक्षा भारत जैसे गर्म देश में किशोरावस्था का प्रारम्भ कुछ कम आयु में ही हो जाता है।

किशोरावस्था : एक समस्याकाल
(Adolescence : The Period of Problems in Life)

इस बात पर सभी आधुनिक मनोवैज्ञानिक सहमत हैं कि किशोरावस्था जीवन का सबसे कठिन और समस्यात्मक काल है। जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, इस काल में बालक-बालिकाएँ एक तूफानी दौर से गुजरते हैं, अतएव यह स्वाभाविक ही है कि अनेक किशोर और किशोरियों को मानसिक यातनाएँ, तनाव और दबाव सहन करने पड़ते हैं और जो इन्हें सहन नहीं कर पाते उनका व्यक्तित्व दुर्बल तथा विखण्डित हो जाता है। अतएव अब किशोरावस्था की कठिन समस्याओं पर प्रकाश डाला जायगा, जो निम्न प्रकार हैं

(1) **समायोजन की समस्या**—इस काल में जो किशोर-किशोरी अपने सांस्कृतिक वातावरण के साथ समायोजन करने में असमर्थ रहते हैं, उनमें मानसिक विकार भी उत्पन्न हो जाते हैं। जिसके फलस्वरूप वे शीघ्र ही मानसिक सन्तुलन भी खो देते हैं। इस काल में मानसिक रोग होने की सम्भावना अधिक हो जाती है।

(2) **संवेगों की परिवर्तनशीलता**—किशोर के संवेग और आवेग तीव्र गति

से विकसित होते हैं, जिसके कारण उसके व्यवहार और मनोदशाओं को समझना कठिन हो जाता है।

(3) **तीव्र गति से शारीरिक विकास**—किशोरावस्था में प्रजनन-अवयवों में तथा अन्य प्रकार की शारीरिक अभिवृद्धि इतनी तीव्र गति से होती है कि वह स्वयं पर नियन्त्रण करने में असमर्थ रहता है। उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। वह जल्दी ही ऊब जाता है, इसके अतिरिक्त उसके व्यवहार में क्रोध, घृणा एवं उदासीनता आदि दुर्गण भी दिखाई देने लगते हैं।

(4) **अपराध प्रवृत्ति**—इस काल में उनमें नियम विरुद्ध कार्य करना, पारिवारिक नियन्त्रण का विरोध एवं सामाजिक मर्यादाओं को भंग करना आदि समाज-विरोधी प्रवृत्तियां भी उत्पन्न हो जाती हैं जिनके फलस्वरूप किशोर अपराध की ओर अग्रसर होता है।

(5) **अनिश्चित स्थिति**—किशोर को न तो बालक समझा जाता है और न प्रौढ़ ही। अतएव वह दोनों अवस्थाओं के बीच में रहकर कभी प्रौढ़ के समान व्यवहार करता है तो कभी बालकों के समान व्यवहार करता है।

(6) **स्वतन्त्रता की अभिलाषा**—किशोर स्वतन्त्रता चाहता है परन्तु परिवार और समाज में उसे वांछित स्वतन्त्रता नहीं मिलती है जिसके फलस्वरूप वह खिन्न हो जाता है।

(7) **पारिवारिक कठिनाइयाँ**—किशोर की पारिवारिक निर्भरता कम हो जाती है परन्तु फिर भी उसे बड़ों के निर्देश का पालन करना आवश्यक होता है जिसके कारण उसे एक प्रकार की घुटन सी प्रतीत होती है।

(8) **मन में दुविधाएँ**—प्राय: किशोर यह निश्चित नहीं कर पाता कि उसे क्या करना चाहिए। वह अपने मूल्यों, विचारों और संवेगों में संघर्ष का अनुभव करता है। वह यह नहीं समझ पाता कि उसके परिवार के लोग उससे क्या आशा रखते हैं।

(9) **निर्णय में कठिनाई**—किशोर स्वतन्त्र रूप से निर्णय करने की योग्यता रखता है परन्तु उसे इसके लिए अवसर नहीं दिये जाते हैं। अत: दूसरों के निर्णय (Judgements) स्वीकार करने में उसे घोर मानसिक क्लेश होता है।

(10) **आकस्मिक विकास**—किशोरावस्था में जो भी आकस्मिक परिवर्तन और विकास होता है उसका पूर्व अवस्थाओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वह इन परिवर्तनों के कारण उपयुक्त व्यवहार करने में असमर्थ रहता है।

(11) **दृष्टिकोण में अस्थिरता**—किशोरावस्था में तीव्र गति से होने वाले शारीरिक और मानसिक परिवर्तनों के कारण ही उसकी रुचियों और भावनाओं में भी जल्दी ही परिवर्तन होता है। उसमें नवीन संवेग और स्थायीभाव जाग्रत होते हैं। इसी के परिणामस्वरूप उसके दृष्टिकोणों, धारणाओं और विचार में परिवर्तन होते रहते हैं।

(12) **समाज विरोधी प्रवृत्तियां**—किशोरावस्था में अनेक समाजविरोधी भावनाएँ जन्म लेती हैं जिनके परिणामस्वरूप किशोर एवं किशोरियाँ सामाजिक मर्यादाओं और कठोर अनुशासन को भंग करना चाहते हैं।

(13) अस्तव्यस्त मनोदशा—किशोर की मनोदशा ऐसी होती है कि उसमें अनेक अप्रिय बातें दिखाई देती हैं,—जैसे छोटी-मोटी बातों को भूल जाना, भुक्खड़-पन, पशुओं के प्रति निर्दयता, दिवास्वप्न देखना आदि।

(14) आत्मप्रदर्शन की अधिकता—किशोरावस्था में आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति तीव्र हो जाती है जिसके फलस्वरूप किशोर के व्यवहार में अस्वाभाविकता और उद्दंडता भी आ जाती है।

(15) नवीन सम्बन्ध स्थापित करने में कठिनाई—किशोर अपने पारिवारिक नियन्त्रण से मुक्त होकर स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना चाहता है। इसके लिए उसे नये सिरे से सम्बन्ध स्थापित करने पड़ते हैं। अपनी समकक्ष आयु के बालक-बालिकाओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में उसे कठिनाई होती है। इसी काल में वह पारिवारिक जीवन, नागरिकता, विवाह एवं व्यवसाय आदि के बारे में नवीन दृष्टिकोण प्राप्त करता है।

किशोरावस्था की मुख्य विशेषताएँ

बिगे एवं हण्ट के अनुसार "किशोरावस्था की सर्वोत्तम व्याख्या करने वाला केवल एक शब्द है "परिवर्तन"। किशोर में शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक सम्बन्धों और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं में इतनी तीव्र गति से परिवर्तन होते हैं कि एक परिवर्तन स्थायी होने से पूर्व ही दूसरा परिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है।"[1]

यदि किशोरावस्था को जीवन की वसन्त ऋतु कहा जाए तो अतिशयोक्ति न होगी। जिस प्रकार वसन्त के आगमन पर आम के पेड़ में नित नवीन परिवर्तन होते हैं उसी प्रकार किशोर-किशोरियों के मन और शरीर मे निरन्तर परिवर्तन दिखाई देते हैं। प्रकृति जिस प्रकार वसन्त ऋतु मे वृक्षों को पल्लवित करके उन्हें सुन्दर और सम्पन्न बनाती है उसी प्रकार किशोरावस्था मे शरीर स्वस्थ, सुन्दर और शक्तिशाली बनता है। प्रकृति मे वसन्त के यौवनागमन के पश्चात् जिस प्रकार वृक्ष फल और फूलों से लद जाते हैं, ठीक उसी प्रकार किशोरावस्था मे यौवन का प्रारम्भ होता है और लड़के-लड़कियाँ सन्तान प्राप्ति के लिए सब प्रकार से योग्य बन जाते हैं। इस काल मे अनेक परिवर्तन एक साथ होते हैं। अतः अध्यापकों को इन परिवर्तनों तथा इनसे सम्बन्धित विलक्षणताओं मे भली-भाँति परिचित होना चाहिए।

किशोरावस्था में विकास सम्बन्धी विशेषताएँ
(Chief Characteristics Pertaining to Development in Adolescence)

(1) शारीरिक विकास—इस काल मे होने वाले शारीरिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप लड़के और लड़कियाँ क्रमश: पुरुष और स्त्री बन जाते हैं। लड़कों की आवाज भारी हो जाती है, दाढ़ी और मूँछें निकल आती हैं तथा सन्तानोत्पत्ति के लिए शुक्राणु बनने लगते हैं। लड़कियों मे मासिक स्राव प्रारम्भ हो जाता है, उनके कूल्हे की हड्डियाँ चौड़ी हो जाती हैं तथा वे गर्भधारण करने के योग्य हो जाती हैं। ये परिवर्तन लड़कों में 12 से 17 वर्ष की आयु में प्रारम्भ हो जाते हैं

1 "The one word which best characterizes adolescence is change. The change is psysiological, sociological and psychological" —Bigge and Hunt (p

और लड़कियों में 11 से 16 वर्ष की आयु में। इन परिवर्तनों का किशोर और किशोरियों के मनोवैज्ञानिक और सामाजिक व्यवहार पर पूरा प्रभाव पड़ता है। किशोर-बालक के शरीर की 12-13 वर्ष की आयु में तीव्र गति से वृद्धि होती है। पहले उसके हाथ और पैर लम्बे होते हैं जिसके कारण किशोर कुछ दुबला परन्तु अधिक लम्बा और भद्दा दिखाई देता है। चेहरे की गोलाइयाँ बदल जाती हैं और कुछ नए दांत भी निकलते हैं। वे लड़के जो कद में जल्दी बढ़कर माँसपेशियों से गठ जाते हैं। वे अपने साथियों का नेतृत्व करते हैं। शरीर विज्ञान के अनुसार इस तीव्र शारीरिक वृद्धि के लिए अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ उत्तरदायी होती हैं।

(2) **मानसिक विकास**—शारीरिक विकास की अपेक्षा मानसिक विकास कुछ विलम्ब से होता है। आधुनिक बुद्धि परीक्षाओं के आधार पर किए गए बुद्धि के मूल्यांकनों से ज्ञात होता है कि पूर्व-किशोरावस्था में बुद्धि का विकास कुछ मन्द रहता है, परन्तु किशोरावस्था के अन्तिम चरण (15 से 18 वर्ष) में बुद्धिमत्ता में तीव्र गति से वृद्धि होती है। कम बुद्धिलब्धि (I. Q.) वाले बालक मानसिक विकास में चरम परिपक्वता कुशाग्र बुद्धि वाले बालकों की अपेक्षा जल्दी प्राप्त कर लेते हैं। बालकों के मानसिक विकासक्रम में विस्तृत व्यक्तिगत भिन्नताएँ देखी गई हैं। किशोरावस्था में मानसिक क्रियाओं के प्रकारों में भी वृद्धि हो जाती है। बालक अपने अनुभवों के आधार पर अमूर्त विचार एवं धारणाएँ बना सकता है। उसके विचार करने का क्षेत्र, चिन्तन की समस्याएँ और समझने की सीमाएँ भी अधिक विस्तृत हो जाती हैं। अवधान, कल्पना, दिवास्वप्न, स्मृति और तर्क आदि शक्तियाँ अधिक प्रखर हो जाती हैं। यही कारण है कि बालक की अपेक्षा एक किशोर की पुनश्चेतना (Recall) अधिक प्रबल होती है।

(3) **सामाजिक विकास**—शिशु की दुनियाँ परिवार के भीतर सीमित रहती है। बालक केवल 'खेल' के लिए परिवार के बाहर जाता है किन्तु किशोर और किशोरियों की रुचियाँ परिवार के बाहर, अनेक क्षेत्रों में बढ़ जाती हैं। अपने समकालीन साथियों में वे अति आनन्दित होते हैं। अपने वय-समूह में उसे आदर, मान्यता और एक ऐसा स्थान प्राप्त होता है जोकि उसे परिवार में नहीं मिलता। घर में, परिवार के अन्य सदस्यों की अपेक्षा, उसे निम्न स्थान ही प्राप्त होता है जबकि घर से बाहर वह बराबरी और समानता प्राप्त कर सकता है। यही कारण है कि बच्चे इस आयु में माता-पिता से दूर होते जाते हैं और धीरे-धीरे उनके नियन्त्रण से बाहर हो जाते हैं। यदि माता-पिता उन्हें समझने में असफल रहते हैं तो वे विद्रोही बन जाते हैं, परिवार के कार्यों में उनकी रुचि कम हो जाती है और उनकी आदतें और व्यवहार माता-पिता की आकांक्षाओं के विपरीत भी हो जाते हैं। इस आयु में किशोर-किशोरियों के मन में अपने वय-समूह के समान बनने और उनके द्वारा पसन्द किए जाने की प्रबल इच्छा रहती है जोकि प्रायः माता-पिता के साथ क्लेश का कारण बनती है। बालक की अपेक्षा किशोर अधिक स्वतन्त्र और स्वावलम्बी होता है और यदि माता-पिता उसकी बदली हुई आवश्यकताओं और रुचियों को नहीं समझ पाते तो परिवार में किशोरों के झगड़े उत्पन्न हो जाते हैं। विषम सामाजिक परिस्थितियों में किशोर में अवांछनीय गुण दिखाई

देते हैं, जैसे—घुमक्कड़पन, भुलक्कड़पन, उत्तरदायित्व का अभाव, झक्की या चिड़चिड़ा होना तथा व्यवहार में रूखापन आदि) किशोर अपने वय-समूह में मान्यता एवं प्रशंसा प्राप्त करने के लिए लालायित रहता है। इसीलिए उसे इस बात की बहुत चिन्ता रहती है कि वह देखने में कैसा लगता है। वह अपनी बातचीत की शैली और वेशभूषा को सम्भालने तथा सुधारने में प्रयत्नशील रहता है। किन्तु शीघ्र निर्णय लेने में वह असमर्थ रहता है। उसे मार्गदर्शन अथवा निर्देशन (Guidance) की आवश्यकता रहती है। अतएव जो माता-पिता यह उत्तरदायित्व सहानुभूतिपूर्ण ढंग से नहीं निभा पाते, वे अपने बच्चो से दूर होते जाते हैं। परिणामस्वरूप जिन समूहों से किशोर का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, उन्ही से वह निर्देशन प्राप्त करता है और उनसे ही अधिक प्रभावित होता है। विगे तथा हन्ट के अनुसार "समूह उसकी भाषा, नैतिक मूल्यों, वस्त्र पहनने की आदतों और भोजन करने की विधियों को प्रभावित करते हैं।"

(4) संवेगात्मक विकास—प्रायः किशोर तथा किशोरियों के समक्ष एक दुविधाजनक परिस्थिति यह रहती है कि अपने वय समूहों की प्रभुता को मान्यता दें अथवा माता-पिता (प्रौढ़ों) की प्रभुता को स्वीकार करें। कुछ किशोर माता-पिता के नियन्त्रण को अस्वीकार कर देते हैं और कुछ दोहरा व्यवहार करते हुए दोनों के साथ समझौता करने का प्रयत्न करते रहते हैं। कुछ किशोर माता-पिता के दबाव के कारण उनका नियन्त्रण तो स्वीकार कर लेते हैं परन्तु छिपकर अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रौढ़ अनुशासन के प्रति विद्रोह करने मे आनन्द लेते हैं।

किशोरावस्था में तीव्र किन्तु अनियमित शारीरिक अभिवृद्धि और लैंगिक परिपक्वता के कारण शारीरिक ओर मानसिक स्वास्थ्य की समस्याएँ उभर आती हैं। वह अपने को असुरक्षित अनुभव करता है और अपने बारे मे अनेक चिन्ताएँ उसे घेर लेती हैं। भारतीय समाज में प्रचलित रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों के कारण भी किशोर के मन की संवेगात्मक उलझनों में भी वृद्धि हो जाती है। यदि माता-पिता का नियन्त्रण कठोर हुआ और उन्होने बच्चे पर उसकी क्षमताओं से अधिक पढ़ाई का भार लादने का प्रयत्न किया तो स्थिति और भी अधिक गम्भीर हो जाती है। माता-पिता के समक्ष प्रमुख प्रश्न यह होता है कि यह बालक को कितनी सीमा तक स्वतन्त्रता दें और किस सीमा तक उसको नियन्त्रित करें। जो माता-पिता स्वतन्त्रता और नियन्त्रण मे सही सन्तुलन नही रखते, उन्हें बच्चों की ओर से अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता है। प्राय. अध्यापक किशोरों को अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करने मे झिझकते हैं। पर्याप्त स्वतन्त्रता के अभाव मे किशोर एव किशोरियों में आत्मनिर्णय तथा आत्मप्रकाशन की क्षमताएं विकसित नहीं हो पातीं। इसके विपरीत ये अपने मन के तनावो, दुश्चिन्ताओ और अनेक प्रकार के भय को व्यक्त नही कर पाते और मन ही मन में घुटते रहते हैं। भारतीय समाज में किशोरियों के साथ यह समस्या और भी अधिक गम्भीर है। लड़कियों को किशोरावस्था में अनेक मनोरोग घेर लेते हैं। काम (Sex) से सम्बन्धित सभी बातें हमारे समाज में 'पाप' या बुरी समझी जाती हैं। इन परिस्थितियों मे किशोर एवं किशोरियाँ अपने काम सम्बन्धी आवेगो की चर्चा भी नहीं कर पाते और उनकी काम-प्रेरणाओं पर

दमन (Repression) होता रहता है। फ्रॉयड की खोजों एवं काम सम्बन्धी व्याख्याओं के फलस्वरूप अब किशोरों की काम सम्बन्धी समस्याओं को समझने का प्रयत्न किया जाता है।

हमारी दोषपूर्ण शिक्षा-प्रणाली भी किशोर और किशोरियों की संवेगात्मक कठिनाइयों के लिए उत्तरदायी है। इस शिक्षा में परीक्षा और पुस्तकों का बोझ अधिक रहता है। हमारे विद्यालयों में आजकल अधिकांश बच्चे मध्यम तथा निम्न वर्ग के होते हैं, जिन्हें शिक्षा द्वारा अपना सामाजिक और आर्थिक भविष्य सुधारने की चिन्ता हमेशा बनी रहती है। किशोर-मन में भविष्य की चिन्ताएँ, विशेषकर व्यावसायिक सफलता के बारे में बनी रहती हैं।

किशोरावस्था की अन्य विशेषताएँ

(1) **घनिष्ठ मित्रता**—किशोर और किशोरियाँ अपने वय-समूह के कुछ सदस्यों को अपना परम मित्र बना लेते हैं। इस मित्र मण्डली में वे अपनी समस्याओं और गुप्त बातों को स्पष्ट रूप से रखते हैं।

(2) **व्यवहार में अनियमितता**—किशोर किस परिस्थिति में क्या व्यवहार प्रस्तुत करेगा तथा किसी घटना के प्रति उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी। इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। कभी वह अधिक उत्साही तो कभी वह अकारण निराश और सुस्त दिखाई पड़ता है।

(3) **विषम लिंगियों के प्रति चेतना**—इस अवस्था की महत्वपूर्ण बात काम-शक्ति का विकास है। कामेन्द्रियों की परिपक्वता के कारण विषमलिंगियों के प्रति उनकी रुचि बढ़ना स्वाभाविक है। कुछ किशोर और किशोरियाँ विषमलिंगी सम्पर्क प्राप्त करके अथवा अन्य किसी प्रकार से लिंगीय संभोग का आनन्द लेने लगते हैं। यदि उन्हें विषमलिंगी सम्पर्क से बिलकुल ही वंचित कर दिया जाता है तो समलिंगीय व्यवहार (Homosexual Behaviour) के लक्षण दिखाई देने लगते हैं।

(4) **समायोजन में कठिनाइयाँ**—किशोर का व्यवहार शिशु के समान अस्थिर होता है। बाल्यकालीन स्थिरता समाप्त हो जाती है और व्यवहार में उद्विग्नता के कारण वह समाज एवं परिवार में समायोजन करने में असमर्थ रहता है। रॉस के अनुसार किशोरावस्था में समायोजन का कार्य फिर नए सिरे से आरम्भ होता है।

(5) **स्वच्छन्दता की भावना**—शारीरिक और मानसिक दृष्टि से प्रबल एवं परिपक्व होने के कारण ही किशोर बहुत सी बातों में मनमानी करना चाहता है, यहाँ तक कि वह आदर्शों, नियमों और मर्यादाओं का भी लापरवाही से उल्लंघन करता है और प्रौढ़ अनुशासन के प्रति विद्रोह करना चाहता है।

(6) **समाज सेवा का आदर्श**—किशोरावस्था में अनेक आदर्श जीवन में ग्रहण किये जाते हैं और उनमें समाज सेवा या परोपकार की भावना प्रबल हो जाती है। रॉस के शब्दों में "उसका उदार हृदय मानव जाति के प्रेम मे ओत-प्रोत होता है और वह आदर्श समाज का निर्माण करने में सहायता देने के लिए उद्विग्न रहता है।"[1]

---

1. Ross : (p. 151)

(7) जीवन दर्शन का निर्माण—इस काल में बालक सत्य और असत्य, अच्छा और बुरा, नैतिक और अनैतिक आदि के बारे में स्वयं सोच सकता है और इन विषयों पर की गई चर्चाओं को समझ सकता है। वह स्वयं निर्णय लेकर अपने लिए उपयुक्त जीवन दर्शन का निर्माण करता है। इस कार्य में माता-पिता, अध्यापक तथा शिक्षा के साधन किशोरों की सहायता कर सकते हैं।

(8) नवीन रुचियों का विकास—स्ट्रॉग के अनुसार 15 वर्ष की आयु तक किशोरों की रुचियों में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं और इसके बाद उनमें स्थिरता आ जाती है। उनकी प्रमुख रुचियाँ रेडियो सुनना, खेलकूद तथा व्यायाम, विपरलिंगियों में दिलचस्पी, पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ना, प्रेम और जासूसी कथानकों के उपन्यास पढ़ना, कविता करना, नृत्य और संगीत आदि में होती हैं। किशोर और किशोरियों की अनेकों रुचियों में समानता होती है, जैसे -शरीर को अलकृत करना एवं सिनेमा देखना आदि।

(9) अपराध प्रवृत्ति की प्रबलता—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है किशोरावस्था जीवन का सबसे नाजुक समय होता है। जीवन की परिस्थितियाँ विषम होने पर किशोर शीघ्र ही कुसमायोजित हो जाता है। यदि इस समय उसके साथ कठोरता बरती जाती है, तो वह अपराध का मार्ग ग्रहण करता है।

(10) प्रभुता एवं श्रेष्ठता की अभिलाषा—किशोर के मन में भी महत्वपूर्ण व्यक्ति बनने की अभिलाषा जाग्रत होती है। वह अपने समूह में, कक्षा में और खेल के मैदान में अपनी श्रेष्ठता स्थापित करना चाहता है। अपने से छोटों के ऊपर प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है।

किशोरावस्था में शिक्षा का स्वरूप
(Nature of Education in Adolescence)

किशोरावस्था की शारीरिक और मानसिक विलक्षणताओं को ध्यान में रखते हुए ही इंगलैण्ड की हैडो कमेटी की रिपोर्ट ने किशोर की बढ़ती हुई शक्तियों का समय पर सदुपयोग करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिया था—"ग्यारह या बारह वर्ष की आयु में बालक की नसों में ज्वार उठना प्रारम्भ होता है। इसी को किशोरावस्था कहा जाता है। यदि इस ज्वार का उपयोग बाढ़ के समय ही कर लिया जाय तथा इसकी शक्तिपूर्ण धारा के साथ नई यात्रा प्रारम्भ कर दी जाये तो सफलता प्राप्त की जा सकती है।[1]

स्पष्ट है कि बालक की शिक्षा की दृष्टि से किशोरावस्था का प्रारम्भिक काल बहुत महत्वपूर्ण होता है। किशोरावस्था अनेक दृष्टिकोणों से बालक को जीवन में प्रवेश कराने का समय है, अतः इस काल की शिक्षा का स्वरूप भी इसी तथ्य के अनुरूप होना चाहिए। उपरोक्त विशेषताओं को ध्यान में रखकर इस काल की शिक्षा में निम्नलिखित बातों पर विशेष बल दिया जाना चाहिए—

"There is a tide which begins to rise in the veins of youth at the age of eleven or twelve. It is called by the name of adolescence. If that tide can be taken at the flood, and a new voyage begun in the strength and along the flow of its current, we think that it move on to future."

—Hadow Committee

(1) शारीरिक विकास और शिक्षा—किशोरों के शरीर को सबल और सुडौल बनाने के लिए विद्यालय में खेलकूद, व्यायाम तथा सामूहिक योग (P. T.) की व्यवस्था होनी चाहिए। उनके लिए कितना और कैसा व्यायाम उपयुक्त और लाभ दायक है इसकी जानकारी शिक्षकों द्वारा दी जानी चाहिए और शारीरिक ब बढ़ाने में उनकी रुचि जाग्रत की जानी चाहिए। किशोरों के लिए 'शारीरिक स्वास्थ ज्ञान' एक अनिवार्य विषय होना चाहिए। विद्यालय में प्रतियोगिताएँ आयोजि करके, खेलकूद तथा व्यायाम में उनकी रुचि बढ़ाई जा सकती है। विद्यालय पाश्चात्य और भारतीय दोनों प्रकार के खेलों का आयोजन होना चाहिए।

(2) मानसिक विकास और शिक्षा—किशोरावस्था में मानसिक शक्तिय अधिक प्रबल एवं तीक्ष्ण हो जाती हैं, अतएव इन शक्तियों का समुचित विकास कर के लिए किशोरों की शिक्षा में उचित व्यवस्था होनी चाहिए। पाठ्यक्रम में वे विष रखे जायें जो बालक की कल्पना, स्मृति, तर्क, समझ आदि का अधिकतम विका करें। किशोर मन की जिज्ञासा को सन्तुष्ट करने के लिए, उसे विद्यालय के बाहर जाकर प्रकृति निरीक्षण, कारखाने तथा अन्य उत्पादन केन्द्र, विद्युत योजनाएँ एवं बाजा आदि का भी निरीक्षण कराना चाहिए। ऐतिहासिक तथा रमणीक स्थानों पर खेल मनोरंजन आदि के कार्यक्रम आयोजित करने चाहिए। सुन्दर इमारतों तथा अन्य प्रकार की कला-कृतियों की ओर उनका ध्यान आकर्षित करना चाहिए ताकि उनकी जिज्ञासा शान्त हो सके और उनके मन में रचनात्मक तथा कलात्मक कार्य करने की प्रेरणा उत्पन्न हो और वे अपने आसपास के वातावरण की वास्तविकताओं से परिचित हो जाएँ। उनकी रुचियों, रुझानों और दृष्टिकोणों को विकसित करने के लिए अन्य प्रकार की पाठ्योत्तर क्रियाएँ, जैसे—वाद-विवाद, साहित्यिक गोष्ठी चित्र प्रतियोगिता, कविता या लेख लिखना, भाषण तथा संगीत प्रतियोगिताओं के आयोजन आदि विद्यालय में होते रहने चाहिए। पाठ्यक्रम के मुख्य विषय—विज्ञान गणित, कला, भाषा एवं साहित्य, भूगोल तथा इतिहास होने चाहिए।

(3) संवेगात्मक विकास और शिक्षा—किशोरावस्था में छात्र-छात्राओं का समुचित संवेगात्मक विकास करने के लिए खेल, कला प्रदर्शन, सांस्कृतिक कार्यक्रम कविता एवं संगीत गोष्ठियाँ सर्वोत्तम साधन हैं। इन कार्यक्रमों में सक्रिय भाग लेकर उसके हानिकारक संवेगों का स्वाभाविक ढंग से दमन या मार्गान्तरीकरण हो सकता है। इन कार्यक्रमों में उसे संवेग प्रकाशन का प्रशिक्षण भी प्राप्त होगा और वह संवेग नियन्त्रण भी सीखेगा। किशोर मन को संवेगों के संघर्ष से मुक्त करने में भी ये क्रियाएँ सहायक होती हैं और इनमें भाग लेकर उसका मन परिष्कृत होता है। किशोरावस्था में संवेगात्मक कठिनाइयों से मुक्त रहने के लिए किशोर एवं किशोरियों के सामने एक निश्चित कार्यक्रम और उसके अनुसार व्यस्तता रहनी चाहिए अन्यथा आवश्यक चिन्ताएँ और भय उसे घेर लेंगे।

(4) सामाजिक विकास और शिक्षा—इस काल में सामूहिक जीवन की प्रधानता रहती है, अतः विद्यालय में भी किशोर एवं किशोरियों के औपचारिक संगठन होने चाहिए। इन संगठनों के कार्यक्रम अध्यापकों की देख-रेख में ही सम्पन्न

होने चाहिए ताकि इनमें भाग लेकर वे उचित आचार-व्यवहार सीख सकें। खेल, स्काउटिंग तथा यात्राएँ कुछ ऐसी सामूहिक क्रियाएँ हैं जिनमें भाग लेकर विद्यार्थी अपने साथियों के साथ या समूह के साथ निकट सम्बन्ध स्थापित करता है और समूह के आचरण को ग्रहण करता है।

(5) आर्थिक स्वतन्त्रता और शिक्षा—हमारे विद्यालयों मे अधिकांश विद्यार्थी मध्यम तथा निम्न वर्ग से आते हैं जिनकी शिक्षा का मुख्य ध्येय अपने आर्थिक भविष्य को सुधारना तथा समाज में अपना स्तर ऊँचा उठाना होता है। उनके लिए शिक्षा, अच्छी जीविका उपार्जन करने का एक साधन है, अलंकरण नही। अतएव शिक्षा प्राप्त करते समय किशोर-मन मे उस शिक्षा का भविष्य में उपयोग करने से सम्बन्धित अनेक अभिलाषाएँ उत्पन्न होती हैं। यदि इन अभिलाषाओं की पूर्ति में सन्देह उत्पन्न होने लगता है तो किशोरो के मन मे एक अज्ञात भय, चिन्ता तथा निराशा उभर आती है। वैसे भी किशोरावस्था के पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति को प्रौढ जीवन के उत्तरदायित्व ग्रहण करने पड़ते हैं। अतएव इस काल की शिक्षा की सबसे बड़ी विशेषता किशोर को प्रौढ जीवन की आर्थिक, सामाजिक समस्याओं से निपटने के लिए तैयार करना ही होनी चाहिए। अध्यापको का दृष्टिकोण उनके प्रति समझदारी और सहानुभूति से युक्त होना चाहिए ताकि वे उनकी चिन्ता, भय और निराशाओं को ठीक प्रकार से समझकर दूर कर सकें।

(6) जीवन और शिक्षा की प्रयोजनता (Purposiveness)—भारतीय विद्यालयों तथा कॉलेजों में बहुत से किशोर और नवयुवक केवल अपना समय व्यतीत कर रहे हैं। उन्हें इस बात की चिन्ता या ज्ञान नही है कि उनकी शिक्षा उन्हें कहाँ ले जायेगी। वे केवल परीक्षा पास करने के लिए थोड़ा-बहुत पुस्तकीय ज्ञान इकट्ठा कर लेते हैं। ऐसे विद्यार्थियों को सदैव विफलताओं का सामना करना पड़ता है। वे न तो अपने जीवन को सुन्दर एवं कल्याणकारी ही बना सकते हैं और न ही समाज को। अतएव उन्हें शिक्षा की निरर्थकता की भावना से बचाने के लिए शिक्षा को सप्रयोजन बनाया जाना बहुत आवश्यक है। निराशा से बचाने के लिए शिक्षा कार्यात्मक अनुभवों (Work Experience) पर आधारित होनी चाहिए। किशोरों को पूर्व-व्यावसायिक शिक्षा दी जानी चाहिए ताकि वे किसी व्यवसाय में प्रवेश करने की योजना बना सकें। इस दिशा में पहला कदम बहुद्देशीय विद्यालय हैं। व्यक्तिगत भिन्नताओं को ध्यान मे रखते हुए उनके लिए पाठ्यक्रम अधिक लचीला होना चाहिए।

(7) धार्मिक व नैतिक शिक्षा का प्रबन्ध—किशोर मे आध्यात्मिक विकास की क्षमता रहती है। वह ईश्वर, सृष्टि, मनुष्य और प्राणियों की वास्तविकता और इनके परस्पर सम्बन्धों को जानना चाहता है। वह 'आत्म' विवेक तथा बुद्धि से काम लेता है। नैतिक-अनैतिक, उचित-अनुचित, भले-बुरे, पाप-पुण्य आदि की चर्चा अपने अध्यापकों तथा साथियों से सुनता है और उनमे रुचि लेता है। अतएव उसे उदार मानवता तथा धार्मिकता और नैतिकता की शिक्षा घर, अथवा विद्यालय में अवश्य दी जानी चाहिए। इस प्रकार की शिक्षा के अभाव में वह समाज के नैतिक मूल्यों को जीवन में उतारने के लिए कृत संकल्प नहीं होता।

(8) **यौन शिक्षा का प्रबन्ध**—किशोरावस्था ही यौन जीवन का भी तूफानी दौर है। उसकी अधिकांश समस्याएँ काम प्रवृत्ति से सम्बन्धित रहती हैं। अतः विद्यालय तथा घर में यौन शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। विद्यालय में शारीरिक विज्ञान के साथ ही यौन प्रक्रिया का अध्ययन कराना चाहिए तथा घर में यौन जीवन के सामाजिक तथा नैतिक पहलू पर बच्चों के साथ चर्चा करने में कोई झिझक नहीं होनी चाहिए।

(9) **क्रियाशील शिक्षण विधियाँ**—किशोरों को पढ़ाते समय निष्क्रिय विधियाँ लागू नहीं करनी चाहिए। पढ़ाते समय शारीरिक या मानसिक क्रियाशीलता बनी रहनी चाहिए। पढ़ाते समय इन पाँच बातों पर बल देना चाहिए—परीक्षण, निरीक्षण, तर्कपूर्ण विचार, अनुभव और समस्याओं का व्यावहारिक हल।

(10) **किशोरों तथा किशोरियों का भिन्न-भिन्न पाठ्यक्रम**—लिंगभेद के कारण उनके भावी जीवन की तैयारी भी भिन्न-भिन्न ही होनी चाहिए। किशोर बालकों और बालिकाओं की रुचियाँ भी एक-दूसरे से भिन्न होती हैं। अतएव पाठ्यक्रम में उनके लिए उपयुक्त वैकल्पिक विषयों की व्यवस्था होनी चाहिए।

(11) **निर्देशन (Guidance) की व्यवस्था**—विद्यालयों में व्यक्तिगत तथा व्यावसायिक निर्देशन दिए जाने की व्यवस्था होनी चाहिए ताकि परामर्श द्वारा किशोरों की समस्याओं को दूर किया जा सके, जिससे उनका मानसिक स्वास्थ्य ठीक रहे।

(12) **अपराध से मुक्ति के लिए शिक्षा**—इस काल में अपराध की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं, अतएव शिक्षा का कार्यक्रम भी ऐसा होना चाहिए जिसके द्वारा किशोरों की पशु प्रवृत्तियाँ दबी रहें। उन्हें उत्तरदायित्वपूर्ण सामाजिक क्रियाओं में भाग लेने के लिए प्रेरित किया जाए। विद्यालय में स्वशासन प्रणाली को व्यावहारिक रूप दिया जाए। युवक कार्यक्रम, गोष्ठियाँ, खेल, मनोरंजन आदि को विद्यालय कार्यक्रमों का अनिवार्य अंग बनाया जाना चाहिए।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. किशोरावस्था को मनोवैज्ञानिक जीवन का सबसे कठिन काल क्यों मानते हैं ?
2. किशोरावस्था में होने वाले प्रमुख शारीरिक परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए और बताइए कि इनका किशोरों के संवेगात्मक तथा सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है ?
3. किशोरों की शैक्षिक आवश्यकताओं का उल्लेख कीजिए। इनके अनुसार इस काल की शिक्षा का क्या स्वरूप होना चाहिए ?

16

शारीरिक अभिवृद्धि और गामक विकास
(BODILY GROWTH AND MOTOR DEVELOPMENT)

अध्ययन विधियाँ

बालकों की शारीरिक अभिवृद्धि और विकास का अध्ययन करने के निम्न-लिखित दो प्रकार हैं :

(1) क्षैतिज रूप में अध्ययन (Cross-sectional or Horizontal Study)—इस विधि के अन्तर्गत प्रत्येक आयु स्तर के बच्चों के एक बड़े समूह का अध्ययन किया जाता है और उनकी शारीरिक अभिवृद्धि का मापन करके आँकड़े प्राप्त किए जाते हैं। इन प्रदत्तों के आधार पर निष्कर्ष निकाले जाते हैं। इस प्रकार विभिन्न आयु-स्तरों के लिए 'आदर्श' अथवा 'प्रतिमान' (Norms) निर्धारित किए जाते हैं।

(2) समयान्तर विधि (Longitudinal Approach)—इस विधि में बच्चों के एक ही समूह को (उनकी आयु में जैसे-जैसे वृद्धि होती है) समय-समय पर माप लिया जाता है। इस प्रकार तिमाही, छमाही या वार्षिक अन्तर से लिए गए मापों की तुलना की जाती है। ऐसे अध्ययनों से शारीरिक अभिवृद्धि की गति, दर तथा प्रगति की मात्रा निश्चित की जाती है।

ये दोनों विधियाँ वृद्धि के स्तर (Growth Status) का ज्ञान कराती हैं। अमेरिका में हार्वर्ड तथा येल विश्वविद्यालयों में विकासात्मक अध्ययन के केन्द्र खोले गये हैं जिनमें, जन्म से लेकर किशोरावस्था पर्यन्त, बालक के विकास और अभिवृद्धि के प्रत्येक पहलू पर खोजें की जा रही हैं।

जन्म के पूर्व अभिवृद्धि
(Prenatal Growth)

पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि किस प्रकार अण्ड (Ovum) और शुक्र (Sperm) के संयोग से माता के गर्भ में नवशिशु का जीवन प्रारम्भ होता है। प्रोटोप्लाज्म का पिण्ड (यह मानव शरीर) अपने प्राकृतिक नियमों के अनुसार अभिवृद्धि करने के साथ-साथ अनेक प्रकार की क्रियाएँ प्रतिक्रियाएँ करता है और अनुभव भी प्राप्त करता है। गर्भाधान के पश्चात् के दो सप्ताह का समय अंकुरित होने का समय है। दो सप्ताह बाद इसका प्रारम्भिक स्वरूप भ्रूण (Embryo) कहलाता है। भ्रूण पाँच सप्ताह तक पूर्ववत् बढ़ता रहता है।

भ्रूण के प्रथम सप्ताह में ही वे कोषाणु धड़कने लगते हैं जोकि आगे चलकर मानव हृदय बनते हैं। लगभग दो मास के पश्चात् यह भ्रूण मानव-आकार धारण करने लगता है और अगले सात महीनों में शरीर के विभिन्न अंग जैसे—भुजाएँ,

अंगुलियाँ, पैर और मुखाकृति आदि अधिक स्पष्ट हो जाते हैं। शिशु की गर्भकालीन क्रियाओं के क्षेत्र में भी वृद्धि हो जाती है।

जन्म के समय मानव शिशु सर्वथा असहाय होता है। संसार की भाषाएँ उसके लिए मूक हैं, धार्मिक मत-मतान्तरों से वह अनभिज्ञ है, और जीवन-दर्शन उसके लिए अर्थहीन है। यह नवजात शिशु तर्क करने के लिए विचाररहित नियमों से अपरिचित और विज्ञान के प्रति कौतूहलरहित प्रौढ़ों से कितना भिन्न होता है। परन्तु धीरे-धीरे वह भाषा, धर्म, दर्शन, विचार, नियम, ज्ञान और विज्ञान सभी कुछ इसी जीवन में ही सीख लेता है। वह क्रियाशील होकर निरन्तर विकास और अभिवृद्धि प्राप्त करता रहता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि मानव शिशु के सीखने का क्षेत्र कितना व्यापक है, उसके विकास की सीमाएँ भी कितनी विस्तृत हैं।

जन्म के समय बालक की दशा

अभिवृद्धि : क्षेत्र एवं परिभाषा

शिक्षा मनोविज्ञान मनुष्य के विकासक्रम के रहस्यों का उद्घाटन करता है। विकास-मनोविज्ञान इस बात पर भी प्रकाश डालता है कि गर्भाधान के समय से लेकर वृद्धावस्था तक कौन-कौन से परिवर्तन होते हैं, तथा किस अवस्था में कौन सी शारीरिक एवं मानसिक कुशलताएँ प्रकाशित होती हैं। बालकों की व्यक्तिगत अभिवृद्धि एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी, उनमें सामान्य विशेषताएँ कौन सी होती हैं। किन्तु विकास क्रम का विवेचन करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि अभिवृद्धि (Growth), विकास (Development) और प्रौढ़ता या परिपक्वता (Maturity) किसे कहते हैं। इसके बारे में हरलॉक का कथन है—मनुष्य के शारीरिक तथा मानसिक विकास की प्रक्रिया साथ-साथ चलने वाली समन्वीकरण तथा विभेदीकरण की क्रिया है। व्यक्ति लगातार जटिल विकास की ओर बढ़ता है तथा उसकी क्षमताओं में समन्वय होता जाता है।[1]

उपरोक्त परिभाषा से अभिवृद्धि के बारे में निम्नलिखित तीन बातें स्पष्ट होती हैं :

1. अभिवृद्धि शरीर के विभिन्न अवयवों के विभिन्नीकरण की प्रक्रिया है।
2. इसमें शरीर का आन्तरिक संगठन भी होता है।
3. अभिवृद्धि के साथ-साथ व्यक्ति की जटिलताएँ बढ़ती जाती हैं किन्तु वे जटिलताएँ समन्वित ही रहती हैं।

अभिवृद्धि से हमारा अभिप्राय शरीर की लम्बाई, चौड़ाई और भार की वृद्धि से ही है। शरीर के साथ ही भिन्न-भिन्न अवयवों की भी वृद्धि होती रहती है। उनके कार्य करने की जटिलताएँ बढ़ती जाती हैं परन्तु यह जटिलताएं विकास में बाधक नहीं होतीं क्योंकि ये एक-दूसरे से संश्लिष्ट रहती हैं। विकास से हमारा अभिप्राय उन निरन्तर होने वाले शारीरिक परिवर्तनों से है, जिनके कारण अवयवों की कार्य-

1 "The growth of human individual physical, mental, physiological—can be regarded as a process of simultaneous differentiation and integration. The individual is constantly growing more complex and the complexities are be coming better synthesized."
—Hurlock

प्रणाली अधिक संगठित एवं सशक्त बनती है। शारीरिक और मानसिक अभिवृद्धि के साथ ही व्यक्ति में अधिक जटिल कार्य करने की योग्यता उत्पन्न होती जाती है और उसका जटिल व्यवहार भी अधिक संगठित होता जाता है। अभिवृद्धि को मापा जा सकता है और विकासगत परिवर्तनों का भी निरीक्षण किया जा सकता है। प्रौढ़ता अथवा परिपक्वता से हमारा अभिप्राय शारीरिक अभिवृद्धि और विकास की उस स्थिति से है जोकि कोई भी नवीन व्यवहार सीखने के लिए परमावश्यक है। शिशु अनेक कार्य बिना सीखे हुए भी करता है जैसे—सिर ऊपर उठाना। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए भी उसमें यथेष्ट शारीरिक परिपक्वता का होना आवश्यक है।

सुन्दर शैक्षिक विकास के लिए शारीरिक स्वास्थ्य नितान्त आवश्यक है। अतएव शिक्षक के लिए बालक के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष शारीरिक परिवर्तनों का विशेष महत्व है। शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य बालकों का पूर्ण शारीरिक विकास करना भी है। समाज, अभिभावक और राष्ट्रीय स्वास्थ्य योजना के अतिरिक्त शिक्षकों को भी यह उत्तरदायित्व निभाना होता है। अतः शिक्षक को बालकों के स्वास्थ्य संकटों (Health Hazards) के प्रति सदैव जागरूक रहना चाहिए। शिक्षा कार्यक्रमों का संगठन इस प्रकार होना चाहिए कि छात्रों को खेलकूद और व्यायाम का पर्याप्त अवसर मिले। छात्रों को स्वस्थ-जीवन के नियम और स्वास्थ्यवर्धक भोजन के विषय में भी पर्याप्त ज्ञान कराना आवश्यक है। उनके शारीरिक विकारों को बढ़ने से पहले ही रोकथाम होनी चाहिए। बालक की शारीरिक अभिवृद्धि का उसकी सामान्य मानसिक अभिवृद्धि से विशेष सम्बन्ध रहता है। समुचित शारीरिक अभिवृद्धि के लिए निम्नलिखित परिस्थितियों का होना आवश्यक है :

बालक की शारीरिक अभिवृद्धि का शिक्षक के लिए महत्व

(1) भोजन—जन्म से पहले और जन्म के पश्चात्, शारीरिक वृद्धि के अनुसार यथेष्ट मात्रा में सन्तुलित भोजन मिलना चाहिए।

(2) वाहिनीविहीन ग्रन्थियों से पर्याप्त रस उत्पन्न होने चाहिए।

(3) वंशानुक्रम से प्राप्त पूर्वजों के गुण, जिनके अनुसार व्यक्ति का लिंग, रंग, आकार और जाति आदि निश्चित होते हैं।

(4) शारीरिक अवयवों का प्रयोग एवं व्यायाम।

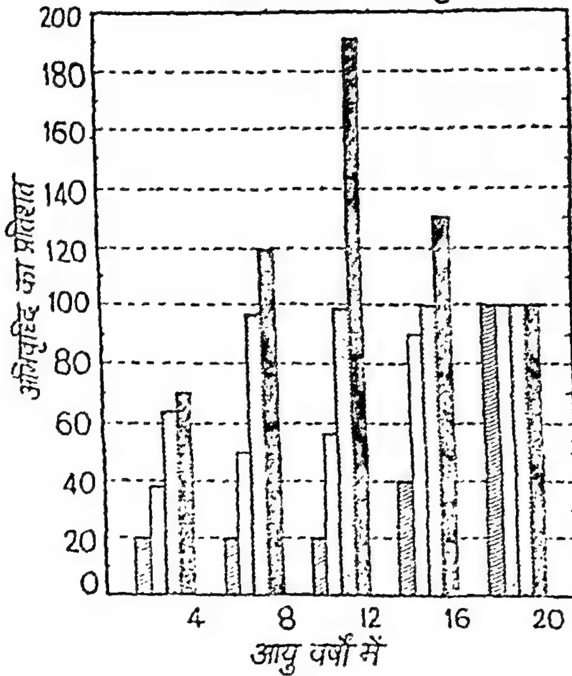
शैशव एवं बाल्यकालीन अभिवृद्धि
(Growth during Infancy and Childhood)

शरीर के विभिन्न अवयव जैसे-जैसे प्रौढ़ता प्राप्त करते जाते हैं, उनकी कार्य-कुशलता बढ़ती जाती है। स्कूल में भिन्न-भिन्न कक्षाओं में पढ़ने वाले बच्चों की शारीरिक अभिवृद्धि का निरीक्षण किया जा सकता है। उच्च कक्षा के छात्रों की अपेक्षा छोटी कक्षा के छात्रों में कार्य-कुशलता कम होती है क्योंकि उनके अवयव अपेक्षाकृत कम परिपक्व होते हैं। यही कारण है कि उनके सीखने की गति भी धीमी होती है। बालक जब माता के गर्भ में यथेष्ट परिपक्वता प्राप्त कर लेता है, तब उसका जन्म होता है। यह परिपक्वता का स्तर प्रत्येक जाति के शरीरधारियों में भिन्न-भिन्न होता है। मानव-शिशु जन्म के समय अन्य पशुओं की अपेक्षा कम परिपक्व होता है। जन्म के पश्चात् यह अपने आन्तरिक विकास और बाह्य-

वेशिक-पोषण के सम्मिलन से ही तीव्र गति से परिपक्व होने लगता है परन्तु उसे पूर्ण रूप से अपने पैरों पर खड़ा होने में लगभग 20 वर्ष का समय लगता है। अभिवृद्धि, विकास, सीखना और प्रौढ़ता की ये सम्मिलित प्रक्रियाएँ समाज, अभिभावक और शिक्षकों की देख-देख में जीवनपर्यन्त ही चलती रहती हैं।

जन्मोपरान्त शारीरिक अभिवृद्धि

जन्मोपरान्त शारीरिक अभिवृद्धि के प्रकार और उनकी गतियाँ नीचे के चित्र में दर्शाई गई हैं। बालक की शारीरिक अभिवृद्धि को हम मोटे-तौर पर चार प्रकारों में विभाजित कर सकते हैं, जोकि इस चित्र में प्रदर्शित चार प्रकार की स्तम्भाकृतियों से स्पष्ट होती हैं :



क — प्रजनन अवयवों की अभिवृद्धि-अण्डकोष अण्डाशय, गर्भ नली, वीर्य नली आदि

ख — सामान्य प्रकार की अभिवृद्धि-सिर और गर्दन के अतिरिक्त शेष शरीर-अस्थि पंजर, मांस पेशियाँ श्वास क्रिया, पाचन प्रणाली, रक्त परिभ्रमण

ग — स्नायविक प्रकार की अभिवृद्धि-मस्तिष्क और उसके भाग सुषुम्ना, दृष्टि इन्द्रिय और नाड़ी, सिर की लम्बाई चौड़ाई

घ — लिम्फाइड प्रकार की अभिवृद्धि-थायमस ग्रन्थि लसीका ग्रन्थि (LYMPHNODES) अंतड़ियों के लसीका पिण्ड

[पीटरसन, हैरिस, जैक्सन और स्कैमन द्वारा. "The Measurement of Man" (1930) पर आधारित]

जैसा कि ऊपर के चित्र में प्रदर्शित किया गया है शारीरिक अभिवृद्धि को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

शारीरिक अभिवृद्धि के प्रकार (Kinds of Bodily Growth)

(क) प्रजनन अवयवों की अभिवृद्धि—चित्र को देखने से ज्ञात होता है कि बारह वर्ष की आयु तक प्रजनन अवयवों में कोई वृद्धि नहीं होती। 12 से 16 वर्ष की आयु तक साधारण अभिवृद्धि होती है और 16 से 20 वर्ष की आयु में तीव्र गति से वृद्धि होती है। लड़कों की अपेक्षा लड़कियों के प्रजनन अवयव एक या दो वर्ष पूर्व ही परिपक्व हो जाते हैं और अपनी सम्पूर्ण अभिवृद्धि प्राप्त कर लेते हैं।

(ख) सामान्य प्रकार की अभिवृद्धि—इसके अन्तर्गत शरीर की लम्बाई-चौड़ाई, भार, अस्थिपंजर और मांस-पेशियों की अभिवृद्धि होती है। चित्र को देखने से स्पष्ट होता है कि प्रथम चार वर्षों में इस प्रकार की अभिवृद्धि तीव्र गति से होती है। बाल्यकाल में आठ से बारह वर्ष तक इसकी गति मन्द रहती है और बारह से सोलह वर्ष तक यह अभिवृद्धि पुनः तीव्र गति से होती है। इसके पश्चात् सोलह से बीस वर्ष तक यह अभिवृद्धि बहुत साधारण मात्रा में ही होती है। अर्थात् बीस वर्ष की आयु तक सम्पूर्णता को प्राप्त कर लेती है।

(ग) स्नायविक प्रकार की अभिवृद्धि—इसमें मस्तिष्क, उसके भाग, ज्ञानेन्द्रियाँ और सिर की अभिवृद्धि सम्मिलित रहती है। इस प्रकार की अभिवृद्धि शैशव और प्रारम्भिक बाल्यकाल में बहुत ही तीव्र गति से होती है। लगभग 95% अभिवृद्धि आठ वर्ष की आयु तक पूर्ण हो जाती है। शेष 5% अभिवृद्धि आठ से बारह वर्ष की आयु तक पूर्ण होती है। बारह वर्ष की आयु अर्थात् बाल्यकाल के पश्चात् इसमें कोई अभिवृद्धि नहीं होती।

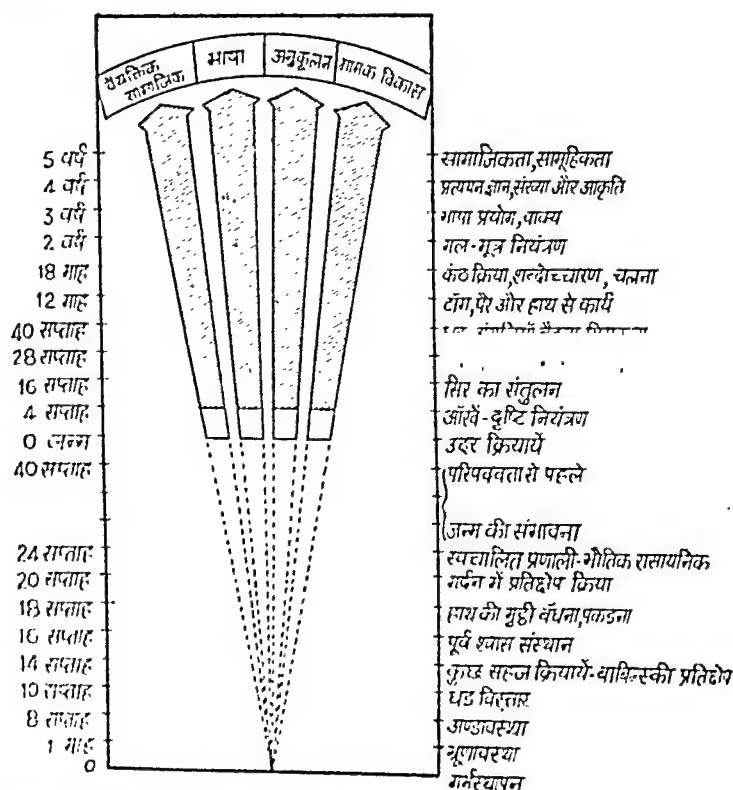
(घ) लिम्फॉयड प्रकार की अभिवृद्धि—इसके चरम विकास का समय बारह वर्ष की आयु के आसपास ही होता है, जो कि किशोरावस्था का प्रारम्भिक काल होता है। इस काल में किशोर के शरीर में अनेक नई ग्रन्थियाँ विकसित होती हैं जिनके कारण किशोर बालक-बालिकाओं के व्यवहार में विशेष परिवर्तन होने लगते हैं तथा इन ग्रन्थियों के कारण ही उनकी सामान्य अभिवृद्धि भी प्रभावित होती है।

मानव मस्तिष्क की अभिवृद्धि अन्य अवयवों की अपेक्षा अधिक तीव्रगति से होती है। यद्यपि जन्म के समय मस्तिष्क का बोझ (भार) शरीर के अनुपात में बहुत अधिक होता है, तथापि यह अपरिपक्व ही होता है। पाचन प्रणाली, रक्तचाप एवं श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया जन्म से लगभग आठ दिन पहले ही अपना कार्य करने के लिए परिपक्व हो जाती हैं किन्तु मेरुदण्डात्मक वल्क (Cerebral Cortex) जन्म के कुछ सप्ताह पश्चात् ही कार्य करने की लिए परिपक्व होता है। जन्मोपरान्त ज्ञानेन्द्रियाँ और स्नायुमण्डल तीव्रगति से परिपक्व होते हैं। एक सामान्य मानव शिशु लगभग 5-6 वर्ष की आयु तक मस्तिष्क के सम्पूर्ण भार का 90% भार ग्रहण कर लेता है। मैक्ग्रो (Macgrow) और गैसिल (Gesell) द्वारा किए गए बाल अभिवृद्धि निरीक्षण भी इस बात की पुष्टि करते हैं। गैसिल ने निरीक्षण के लिए बालक के व्यवहार को चार वर्गों में विभाजित किया है—

(1) गामक व्यवहार।

(2) भाषा सम्बन्धी व्यवहार।
(3) अनुकूलन या समायोजन सम्बन्धी व्यवहार।
(4) वैयक्तिक सामाजिक व्यवहार।

गैसिल ने जन्म के बाद मासिक क्रमानुसार शिशु के व्यवहारों का विकासात्मक वर्णन भी किया है। जन्म के कुछ दिन बाद तक परिवर्तन इतनी तीव्रगति से होते हैं कि एक या दो सप्ताह में ही इनका अन्तर स्पष्ट दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार जन्म से पूर्व भी इन परिवर्तनों का वर्णन सप्ताहों की अवधि में किया गया है। एक वर्ष की आयु के बाद ये परिवर्तन वर्षों के अन्तर पर दिखाई देते हैं, जैसा कि नीचे के चित्र में दर्शाया गया है—



बालक-बालिकाओं की शारीरिक अभिवृद्धि के जिस पहलू पर सर्वप्रथम ध्यान दिया जाता है, वह बालक की लम्बाई और भार में वृद्धि है। परन्तु इनसे ही सम्बन्धित और इतना ही महत्वपूर्ण एक दूसरा पहलू भी है—आयु वृद्धि के साथ-साथ शारीरिक अनुपातों में परिवर्तन। विभिन्न अनुसन्धानकर्ताओं द्वारा किए गए खोज कार्यों के परिणामस्वरूप बालक की शारीरिक अभिवृद्धि सम्बन्धी कुछ विशेषताएँ प्रकाश में आई हैं जोकि इस प्रकार हैं :

लम्बाई और भार में वृद्धि (Growth in Height and Weight)

(क) वृद्धि नियमित रूप से समान गति से नहीं होती अपितु अनियमित रूप से ही होती है, बालक के जीवन में अभिवृद्धि चक्र (Growth Cycles) उत्पन्न होते

रहते हैं। चक्र के समय में अभिवृद्धि की गति तीव्र रहती है। वृद्धि की तीव्र गति की अवधि के पश्चात् वृद्धि की धीमी गति की अवधि आती है। उदाहरणार्थ—जन्म से दो वर्ष की आयु तक वृद्धि की गति बहुत रहती है और इसके पश्चात् क्रमशः मन्द होती रहती है। परन्तु किशोरावस्था से एक या दो वर्ष पूर्व अभिवृद्धि पुनः तीव्र गति से होने लगती है और 17 या 18 वर्ष की आयु के आस-पास पुनः मंद हो जाती है। जन्म के समय तक कोई भी शिशु अपने जीवनकाल में प्राप्त होने वाली अधिकतम ऊँचाई का $\frac{1}{4}$ भाग लगभग (20·5") प्राप्त कर लेता है और उसका $\frac{1}{2}$ भाग तीन वर्ष की आयु तक प्राप्त कर लेता है। तीसरे वर्ष के बाद, केवल किशोरावस्था को छोड़कर, वृद्धि की गति मंद रहती है। लम्बाई में वृद्धि की अपेक्षा भार में वृद्धि अधिक अनियमित रहती है क्योंकि भार में वृद्धि को प्रभावित करने वाले अनेक कारक होते हैं। एक बालक अपनी अधिकतम लम्बाई 17 या 18 वर्ष की आयु में प्राप्त कर लेता है परन्तु अधिकतम भार इस आयु के कई वर्ष बाद प्राप्त कर पाता है। तीन वर्ष की आयु में बालक अधिकतम लम्बाई का $\frac{1}{2}$ भाग प्राप्त कर लेता है लेकिन अधिकतम भार का $\frac{1}{2}$ भाग वह 13 या 14 वर्ष की आयु तक प्राप्त कर पाता है। ऊँचाई या लम्बाई में वृद्धि होने के बाद पुनः घटती नही परन्तु भार में वृद्धि स्थायी नहीं रहती।

(ख) लड़के और लड़कियों की अभिवृद्धि में असमानता रहती है। यद्यपि लड़के और लड़कियों में वृद्धि का सामान्य वक्र (Curve) एक समान ही बनता है परन्तु किशोरावस्था में लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ अधिक तीव्र गति से अभिवृद्धि प्राप्त करती हैं। लड़कों की अपेक्षा लड़कियों का रक्त दाब भी 10 से 13 वर्ष की आयु में अधिक रहता है। किशोरावस्था में अभिवृद्धि की तीव्रता जीवन के प्रथम दो वर्षों की अभिवृद्धि की गति की अपेक्षा मंद रहती है। विदेश के आंकड़ों के अनुसार जन्म के समय एक सामान्य शिशु की लम्बाई लगभग 20·5 इंच होती है जो 5 वर्ष की आयु तक बढ़कर 42 इंच हो जाती है और 18 वर्ष आयु तक सामान्य ऊँचाई 68·5 इंच तक पहुँच जाती है। जन्म के समय एक सामान्य बालक का भार 7·5 पौण्ड होता है परन्तु लड़कों यह औसत भार, लड़कियों के औसत भार से 0·2 पौण्ड अधिक रहता है। पहले 6 माह में बालक का भार लगभग दूना हो जाता है और जब तक बालक $28\frac{1}{2}$ इंच की लम्बाई प्राप्त करता है, उसका भार 19·7 पौण्ड हो जाता है। किन्तु इस लम्बाई तक पहुँचने पर एक सामान्य बालिका का भार लड़कों की अपेक्षा 0·4 पौण्ड कम रहता है। यह निष्कर्ष सामान्य बालक-बालिकाओं के बारे में है। इसमें व्यक्तिगत अन्तर हो सकते हैं। लम्बाई और ऊँचाई के औसत प्रतिमान (Norms) माता-पिता तथा अध्यापकों के पथ-प्रदर्शन के लिए हैं। सामान्यतः लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ जल्दी परिपक्व होती हैं और वे अपनी अधिकतम ऊँचाई या भार भी लड़कों की अपेक्षा कम उम्र में ही प्राप्त कर लेती हैं।

(ग) शरीर के विभिन्न अंगों (अवयवों) की वृद्धि और विकास अपने नियमों के अनुसार होते हैं। उदाहरणार्थ—नवजात शिशु की खोपड़ी (Skill) का भाग अधिक बड़ा होता है। इसकी तुलना में उसके हाथ और पाँव कहीं अधिक छोटे होते हैं। परन्तु जैसे-जैसे शिशु की आयु में वृद्धि होती है उसके हाथ और पैर की हड्डियाँ

खोपड़ी की हड्डियों की अपेक्षा, अधिक तीव्र गति से बढ़ती हैं। इसी प्रकार दाँतों की वृद्धि का भी अपना पृथक नियम है। जन्म के समय शिशु के दाँत नहीं होते। इसके बाद दूध के दाँत या बच्चे-दाँत निकलते हैं और इसके पश्चात् चबाने वाले, और काटने वाले दाँतों के जोड़े निकलते हैं। चार वर्ष की आयु तक सभी झड़ने वाले दाँत निकल चुकते हैं। दाँत निकलने के क्रम में भी व्यक्तिगत भिन्नताएँ रहती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि शरीर के भिन्न-भिन्न अवयव अपनी-अपनी विकासात्मक दिशा के नियम (Law of Developmental Direction) का अनुसरण करते हैं जिसके कारण शारीरिक अंगों के अनुपात में भी परिवर्तन होता रहता है।

(घ) प्रत्येक बालक-बालिका की आन्तरिक अभिवृद्धि (Internal Growth) भी होती है। मानव-शरीर में अनेक ऐसी आन्तरिक प्रणालियाँ (Systems) हैं जिनकी अभिवृद्धि पर भी ध्यान देना आवश्यक है। इनमें प्रमुख प्रणालियाँ हैं—पाचन प्रणाली, श्वास-प्रश्वास प्रणाली, रक्त परिभ्रमण प्रणाली, वाहिनीहीन ग्रन्थियाँ;[1] प्रजनन प्रणाली आदि। बालक की माँस-पेशियाँ, जो शारीरिक क्रियाओं को नियन्त्रित करती हैं, उनके भार और बल में शनैः-शनैः वृद्धि होती है और इसी के साथ ही शिशु की कार्य-कुशलता में भी वृद्धि होती है। शिशु की अस्थियाँ अधिक मुलायम और लचीली होती हैं और उनके जोड़ भी कमजोर होते हैं। जन्म से पूर्व शिशु श्वास नहीं लेता। जन्म होते ही वह श्वास लेने लगता है और श्वास लेते ही रक्त परिभ्रमण की क्रिया होने लगती है। जन्म के पूर्व शिशु के हृदय की धड़कनें बहुत हल्की होती हैं परन्तु जन्म के साथ श्वास-प्रश्वास की क्रिया के प्रारम्भ होते ही हृदय की धड़कनें भी अधिक बलवती हो जाती हैं। आयु वृद्धि के साथ-साथ जब शिशु का हृदय विकसित होता है तो हृदय की धड़कनें भी तीव्र गति से होने लगती हैं और रक्त चाप भी बढ़ जाता है। एक सामान्य प्रौढ़ की धड़कनें एक मिनट में 72 बार होती हैं परन्तु शिशु की धड़कनें प्रथम माह में 140 होती हैं जो कि शनैः-शनैः घटते हुए 6 वर्ष की आयु में 100 के लगभग ही रह जाती हैं। 12 वर्ष की आयु में धड़कनों की संख्या केवल 85 रह जाती है। बालक की शारीरिक अभिवृद्धि के लिए उसकी कुछ ग्रन्थियाँ विशेष रूप से उत्तरदायी हैं जैसे पीयूष ग्रन्थि (Pituitary Gland) जो कि शैशव और बाल्यकालीन अभिवृद्धि को नियन्त्रित करती है। यह ग्रन्थि अन्य ग्रन्थियों के कार्यों को भी उत्तेजित करती है लेकिन किशोरावस्था के आगमन पर लैंगिक ग्रन्थि (Sex Gland) कार्य करने लगती है जिसका विरोधी प्रभाव पीयूष ग्रन्थि के कार्यों पर पड़ता है और इसके परिणामस्वरूप शरीर की लम्बाई में भी वृद्धि होना रुक जाता है। लड़के-लड़कियों में जब तक लैंगिक ग्रन्थि का विकास प्रारम्भ नहीं होता तब तक उनकी लम्बाई में वृद्धि होती रहती है और उनके शरीर दैत्याकार हो जाते हैं। शिशु के मूत्राशय में अधिक समय तक मूत्र रखने की क्षमता नहीं होती किन्तु आयु वृद्धि के साथ-साथ उसकी इस क्षमता में भी वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार आन्तरिक वृद्धि अनेक प्रकार से सामान्य वृद्धि को प्रभावित करती है।

1 Ductless Glands.

गामक विकास
(Motor Development)

शिशु के गामक विकास का सूत्रपात माता के गर्भ में ही नवें सप्ताह में हो जाता है। किन्तु इस काल की गतिविधियाँ बहुत ही क्षीण और मन्द होती हैं। गर्भ काल में भी बालक का व्यवहार सामान्य से विशिष्ट की ओर अग्रसर होता है। उसके हाथ, पाँव और सिर की प्रतिक्रियाओं मे परस्पर सामंजस्य नहीं होता। चौबीसवें सप्ताह में बालक का प्रारम्भिक गामक विकास सम्पन्न हो जाता है। बालक की गर्भकालीन प्रतिक्रियाओं को माताएँ भी अनुभव करती हैं।

गामक विकास से हमारा अभिप्राय सम्पूर्ण शरीर और उसके विभिन्न अवयवों द्वारा की जाने वाली क्रियाओं में सामंजस्य स्थापित होने से है। जैसे-जैसे शिशु की विभिन्न क्रियाओं में सामंजस्य स्थापित होता जाता है, वैसे ही उसके कार्य करने की गति, शक्ति और कुशलता में भी वृद्धि होती जाती है और वह कठिन शारीरिक क्रियाओं को करने तथा दोहराने के लिए भी अधिक प्रयत्नशील हो जाता है। गामक विकास के अध्ययन का लक्ष्य यह ज्ञात करना है कि शारीरिक विकास का बालक की गामक क्रियाओं पर क्या प्रभाव पड़ता है तथा बालक की गामक कुशलताओं को किस प्रकार अधिक से अधिक विकसित किया जा सकता है। इसको समझे बिना अध्यापक अथवा माता-पिता बालक के गामक व्यवहार में कुशलता, आत्मविश्वास, गति तथा निश्चितता उत्पन्न नही कर सकते। प्रत्येक शिशु को प्रारम्भ मे अपने हाथ, पैर, ज्ञानेन्द्रिय तथा अन्य अवयवों की क्रियाओं में सामंजस्य लाने के लिए सहायता एवं मार्ग निर्देशन की आवश्यकता रहती है। शारीरिक अभिवृद्धि के साथ ही उसके अवयवों में नई गामक शक्तियाँ भी उत्पन्न होती हैं जिनका अधिक से अधिक सदुपयोग जीवन और शिक्षा मे किया जाना चाहिए। बालक का बहुत सा बौद्धिक तथा सामाजिक विकास उसकी गामक शक्तियों तथा योग्यताओं पर ही निर्भर करता है।

नवजात शिशु अपने समस्त शरीर से अनेक प्रकार की शीघ्रगामी प्रतिक्रियाएँ करता है। उसका अधिकांश समय निद्रा मे ही व्यतीत होता है। भूख लगने पर वह तीव्र गति से प्रतिक्रियाएँ करता है, अथवा रोता है। नवजात शिशु मे जीवित रहने के लिए कुछ आवश्यक सहज क्रियाएँ (Reflex Actions) भी होती हैं जैसे आँखों का बन्द होना, पाचन-क्रिया होना, श्वास लेना और हृदय की धड़कन आदि। इन क्रियाओं के अतिरिक्त वह अन्य विशेष प्रतिक्रियाएँ भी कर सकता है, जैसे दुग्ध-पान करना, आँखों की पुतलियाँ फिराना, सिर उठाना या फेरना और हाथ-पैर हिलाना। पहिले महीने में वह कभी-कभी अपना सिर भी उठाता है। दूसरे महीने में वह कुछ क्षणों के लिए सिर ऊपर उठाता है। शिशु का यह अभ्यास पाँचवें महीने तक चलता रहता है, जबकि वह सहारा देने पर बैठने लगता है। आठवें महीने मे वह बिना सहारे के बैठने लगता है और लगभग बारहवें महीने तक वह सहारा लेकर चलने लगता है। शैशव काल में सिर का भाग अपेक्षाकृत जल्दी परिपक्व होता है। तत्पश्चात् शरीर के निचले भागों की प्रगति शीघ्रता से होती है।

जिन वस्तुओं में बालक की रुचि होती है, उन्हें वह पहले सिमटकर लेने का प्रयत्न करता है। नवें-दसवें महीने में वह दूसरों की सहायता से स्वयं चलकर वस्तुओं

तक पहुँचता है। चलने की कुशलता सभी बालक-बालिकाओं में एक ही आयु में समान ढंग से नहीं आती। यह कुशलता सीखने में उनकी शारीरिक संरचना (Bodily Structure), स्वास्थ्य, शरीर का भार तथा वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है। जीवन के द्वितीय वर्ष में बालक दौड़ने और सीढ़ियों पर चढ़ने-उतरने की कुशलताएँ सीखता है तथा तृतीय वर्ष में कूदना-फाँदना आदि। पाँच वर्ष की आयु तक वह चलना-फिरना सभी गामक क्रियाओं के करने में पूर्ण अभ्यस्त हो जाता है।

जन्म के समय भी बालक में मुट्ठी से पकड़ने की कुशलता होती है। पाँच मास की आयु में वह हाथ के अँगूठे का प्रयोग करने लगता है और नवें महीने में हथेली से वस्तुएँ पकड़ना सीख लेता है। प्रारम्भिक शैशवावस्था में बालक के हाथ और आँख की क्रियाओं में परस्पर सामंजस्य नहीं होता, यद्यपि चौथे महीने से ही शिशु घूमती हुई रोशनी के साथ अपनी पुतलियाँ घुमाने लगता है। लगभग दस मास की आयु में उसके हाथ और आँखें साथ-साथ काम करने लगते हैं। लगभग एक वर्ष की आयु में वह अँगूठे और उँगलिओं से वस्तुएँ पकड़ने लगता है। इस तरह वह प्याला या चम्मच पकड़ना सीख लेता है। पाँच वर्ष की आयु में वह भोजन करने के साथ-साथ बातें भी सफलता से कर सकता है तथा अपने हाथ-पैर एवं मेज और कुर्सी आदि भी स्वयं ही साफ कर सकता है।

बालक के गामक विकास में खेलों का विशेष स्थान है। खेल में वह नई गामक कुशलताएँ सीखता है और सीखी हुई कुशलताओं को दोहराता रहता है। खेल की क्रिया में गति (Movement), प्रहस्तन (Manipulation) तथा रचना (Construction), तीनों का समावेश रहता है। खेल की क्रिया से हाथ-पैरों का खूब अभ्यास होता है। बालक वातावरण का प्रहस्तन करते हुए स्वयं अपना गामक विकास करता है। चार वर्ष की आयु में बालक मुलायम पैंसिल पकड़ कर कागज पर चला सकता है। इससे पहले उसकी अँगुलियाँ पैंसिल या कलम को पकड़ने के लिए पर्याप्त परिपक्व नहीं होतीं। चौथे वर्ष में बालक पेंसिल से कुछ आकृतियाँ भी बनाने लगता है। उसके हाथ की गतिशीलता प्रारम्भ में कंधे द्वारा ही होती है, इसके बाद कुहनी से, तत्पश्चात कलाई में भी होने लगती है। 6 वर्ष की आयु में, लिखते समय उसकी कलाई और अँगुलियाँ ठीक ढंग से मुड़ने लगती हैं। लगभग 12 वर्ष की आयु तक व्यक्ति के लिखने का ढंग स्थिर हो जाता है। दूसरे से चौथे साल तक बालक वाम-हस्ता (Left Handed) अथवा दक्षिण-हस्ता (Right Handed) बन जाते हैं। जीवन के प्रथम वर्ष में न तो कोई बालक वाम-हस्ता होता है न दक्षिण-हस्ता। यदि कोई बालक वाम-हस्ता बन जाता है तो अभिभावकों या शिक्षकों को चिन्तित नहीं होना चाहिए। शैशव-काल के बाद वाम-हस्तता को परिवर्तित करने का प्रयत्न करने से बालक को मानसिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और उसे सांवेगिक कठिनाई होती है। छः वर्ष की उम्र के बाद बालक का गामक विकास दो दिशाओं में होता है—

(1) मूल गामक योग्यताओं का विकास।

(2) अधिक कुशलतापूर्ण कार्यों को स्थिरता, तीव्रता और आत्म-विश्वास के साथ पूर्ण करना।

बालक के गामक विकास को प्रभावित करने वाले मुख्य कारक इस प्रकार हैं—

(1) लिंग भेद—अनेक क्रियाओं में जैसे—ऊपर चढ़ना, उछलना, गेंद फेंकना आदि में, लड़कियों की अपेक्षा लड़कों के प्राप्तांक अधिक रहते हैं। परन्तु अँगुलियों के कुशलतापूर्ण कार्यों में लड़कों की अपेक्षा लड़कियों के प्राप्तांक अधिक रहते हैं।

(2) अभ्यास का प्रभाव—एक निश्चित आयु तथा परिपक्वता स्तर प्राप्त करने से पूर्व ही अभ्यास कराने से कोई लाभ नहीं होता। जैसे-जैसे स्नायुमण्डल परिपक्व होता जाता है, सम्बन्धित क्रियाओं के अभ्यास से तुरन्त कुशलता प्राप्त होती है। जब परिपक्वता के परिणामस्वरूप बालक कुछ नवीन क्रियाएँ करने लगे तभी उसे नवीन कुशलतापूर्ण कार्यों का अभ्यास कराना चाहिए अन्यथा अभ्यास से कोई लाभ नहीं होगा।

(3) वातावरण का प्रभाव—शैशवावस्था के पश्चात बालक की गामक कुशलताओं पर वातावरण में विद्यमान वस्तुओं एवं क्रियाओं आदि का अधिक प्रभाव पड़ता है। बालक का शैशवकालीन वातावरण सीमित ही रहता है, अतएव इस काल में वातावरण का प्रभाव बालक की गामक कुशलताओं पर स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया जा सकता है।

(4) शारीरिक वृद्धि का प्रभाव—बालक की गामक क्रियाओं पर उसके शारीरिक विकास और अभिवृद्धि का सीधा प्रभाव पड़ता है। अतएव अध्यापक को बालक के शारीरिक अभिवृद्धि-चक्रों से भलीभाँति परिचित होना चाहिए।

(5) आयु का प्रभाव—आयु में वृद्धि के साथ ही परिपक्वता उत्पन्न होती है और बिना परिपक्वता के नवीन गामक कुशलताएं ग्रहण नहीं की जा सकतीं।

(6) अभिवृत्तियों (Attitudes) का प्रभाव—बालक का सम्पूर्ण व्यवहार और उसके सीखने की क्रिया माता-पिता तथा गुरुजनों की अभिवृत्तियों से प्रभावित होती है क्योंकि इन्हीं के द्वारा वह रुचियाँ, साहस, धैर्य तथा अन्य संवेगात्मक आदतें ग्रहण करता है।

(7) पोषण और सीखने के अवसर—एक निश्चित आयु प्राप्त करने पर बालक के ध्वनि-अवयव परिपक्व हो जाते हैं। किन्तु विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न करना इन अवयवों के गामक सामंजस्य (Moter coordination) पर निर्भर करता है। यदि बालक को भाषा सीखने का अवसर ही नहीं मिले तो उसकी ये गामक योग्यताएँ भी अविकसित ही रह जाएंगी। अतएव स्पष्ट है कि गामक योग्यताओं के विकास के लिए शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार का पोषण महत्वपूर्ण है। सुगम शारीरिक कौशल परिपक्वता का परिणाम होते हैं पर जटिल कौशलों के लिए प्रशिक्षण और पोषण की आवश्यकता होती है।

(8) स्वास्थ्य की दशा—शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का बालक के गामक विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। नवीन गति अथवा नवीन क्रियाओं के सीखने में बालक को दो ज्ञानेन्द्रियाँ—आँख और कान का सबसे अधिक उपयोग होता है। बालक की आँखों और कानों में रोग-संक्रमण की सम्भावना अधिक रहती है।

रोग की दशा में ये दोनों ज्ञानेन्द्रियाँ शीघ्र ही प्रभावित होती हैं और शिथिल हो जाती हैं। अतएव आँख और कान के रोगों के प्रति विशेष सावधान रहना चाहिए।

(9) **मानसिक विकास का प्रभाव**—बालक के गामक और मानसिक विकास में चोली-दामन का साथ है। शिशु अपनी जिज्ञासा के कारण ही क्रियाशील रहता है और गत्यात्मक व्यवहार का विकास करता है।

(10) **गति-योग्यता का विकास**—प्रायः यह प्रश्न पूछा जाता है कि गामक योग्यता एक ही वस्तु है अथवा अनेक योग्यताओं से मिलकर बनी है। इस विषय पर अब तक की गई खोजों का निष्कर्ष यह है कि कुछ गामक क्रियाओं या कुशलताओं में कोई सह-सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरणार्थ—कूदने की क्रिया और गेंद फेंकने की क्रिया में कोई धनात्मक सह-सम्बन्ध नहीं पाया गया है। अतएव यह भी सम्भव है कि बालक अनेक प्रकार की गति-योग्यताएँ (Motor Abilities) प्राप्त करता हो। किन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात है बालक की विभिन्न शारीरिक क्रियाओं में सामंजस्य स्थापित होना, इसके लिए उसे विभिन्न अंगों की क्रियाओं और गति में समन्वय स्थापित करने का पर्याप्त अवसर मिलना चाहिए।

शैशव एवं बाल्यकालीन विकास का महत्व

अधिकांश मनोवैज्ञानिक इस बात को भी मानते हैं कि बालक के आगामी व्यक्तित्व सम्बन्धी मूल विशेषताओं की नींव भी इसी काल में पड़ती है। फ्रॉयड एवं अन्य मनोविश्लेषणवादी भी जीवन के प्रारम्भिक काल को ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण बताते हैं। व्यवहारवादियों (Behaviourists) के दृष्टिकोण से भी शैशव-कालीन अनुकूलित अनुक्रियाओं (Conditional Responses) का बालक के आगामी जीवन में विशेष महत्व रहता है।

शैशव और किशोरावस्था के बीच बाल्यकाल का समय लगभग 2 वर्ष से 12 वर्ष की आयु तक का होता है। सभी सभ्य देशों में बाल्यकालीन जीवन पाठशालाओं के शैक्षिक वातावरण से प्रभावित होता है। इस काल में भी बच्चों की अभिवृद्धि तीव्र गति से होती है जिसके परिणामस्वरूप उनमें कुछ महीने अथवा 1-2 वर्ष के अन्तर पर ही विशेष परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। उनके शारीरिक बल में तीव्रता से वृद्धि होती है। शक्ति और स्फूर्ति में वृद्धि होने से बालक अधिक क्रियाशील हो जाता है। वह अपने परिवेश को स्वयं खोजना चाहता है तथा वातावरण के उपकरणों का अधिक से अधिक प्रहस्तन करता है। बालिकाएँ बालकों की अपेक्षा शीघ्र विकसित होती हैं। बालकों से सामान्यतः उनका भार भी अधिक होता है और उनके लैंगिक अंग लगभग 1 वर्ष पहले ही विकसित हो जाते हैं। बालिकाओं का लड़कों से पहले प्रौढ़ हो जाना अनेक मनोवैज्ञानिक समस्याएँ उत्पन्न करता है। उनमें विपरीत लिंगियों के प्रति आकर्षण भी लड़कों की अपेक्षा कम आयु में ही उत्पन्न होता है। सह-शिक्षा वाली पाठशालाओं में शिक्षकों को बालिकाओं की मनोवैज्ञानिक समस्याओं को सदैव ध्यान में रखना चाहिए। इस आयु में बालक एवं बालिकाओं के लिए एक ही प्रकार का पाठ्यक्रम अधिक उपयोगी नहीं होता है। इस काल में सभी छात्रों की शारीरिक अभिवृद्धि भी समान गति से नहीं होती है। इसमें

अनेक प्रकार के व्यक्तिगत भेद रहते हैं। एक ही बालक की भिन्न-भिन्न योग्यताओं की प्रगति भी सदैव एक सी नहीं होती है।

किशोरावस्था में अभिवृद्धि और विकास

किशोरावस्था का उदय सामान्यतः बाल्यकाल में ही होने लगता है जिसका अन्त प्रौढ़ावस्था प्राप्त करने पर होता है। यह काल 12 से 20 वर्ष की आयु तक होता है। इस काल मे सामान्य शारीरिक अभिवृद्धि की गति मंद हो जाती है परन्तु प्रजनन प्रणाली शीघ्रता से परिपक्व होकर अप्रत्यक्ष रूप से अपना कार्य संचालन करने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। किशोरावस्था ही प्रौढ़ जीवन के लिए सम्पूर्ण तैयारी का समय है। शैशवकालीन शरीर मे कोमल अस्थियों की संख्या 270 होती है किन्तु किशोरावस्था में (13-14 वर्ष) इनकी संख्या 350 हो जाती है। यह अस्थियां पहले से अधिक मोटी, सुदृढ़ और संगठित हो जाती हैं। प्रौढ़ावस्था तक कुछ छोटी हड्डियाँ, बड़ी हड्डियों के साथ संगठित हो जाती हैं जिसके फलस्वरूप प्रौढ़ावस्था में शारीरिक अस्थियों की संख्या केवल 206 रह जाती है। इस काल मे भोजन और स्वास्थ्य का भी बालक की शारीरिक अभिवृद्धि पर विशेष प्रभाव पड़ता है। किशोरावस्था, बाल्यकाल और प्रौढ़ावस्था से सर्वथा भिन्न होती है। भारतीय बालिकाओं में लिंगीय प्रौढ़ता प्रायः 12-13 वर्ष की आयु में और बालकों में 13-14 वर्ष की आयु मे प्रारम्भ हो जाती है। इस आयु मे उनमें स्त्रीत्व और पुरुषत्व के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगते हैं।

जन्म के समय सामान्यतः बालक की लम्बाई 20.5 इंच और औसत बालिका की लम्बाई 20·3 इंच होती है। बालक लगभग 10 वर्ष की आयु तक बालिकाओं की अपेक्षा अधिक लम्बे रहते हैं। 10 वर्ष की आयु मे बालक-बालिकाओं की लम्बाई लगभग बराबर होती है। परन्तु अगले तीन या चार वर्षों मे लड़कियों की लम्बाई लड़कों से अधिक हो जाती है। बालक इस कमी को 17-18 वर्ष की उम्र में पूरी ही नहीं कर लेते हैं अपितु लड़कियों से अधिक लम्बे हो जाते हैं। शारीरिक विकास के इस क्रम मे देश, काल और वातावरण के अनुसार व्यक्तिगत विभिन्नताएँ भी हो सकती हैं। किशोर बालक का शरीर लम्बा दिखाई देने लगता है और उसके भार मे भी तीव्र गति से वृद्धि होती है। आवाज में भारीपन और दाढ़ी तथा मूँछें निकलने के कारण उसे भद्दापन अनुभव होता है। इसी प्रकार लड़कियों में भी विशेष शारीरिक परिवर्तन होते हैं। उनमे रज-स्राव होने लगता है और वे गर्भधारण करने योग्य हो जाती हैं। उरोज विकसित होने लगते हैं। लड़कों की लिंग ग्रन्थियों मे शुक्र स्राव होने लगता है। ग्रन्थियों से रसनिष्पत्ति अनियमित होती है और संवेगात्मक संतुलन बिगड़ जाता है। इन परिवर्तनों के कारण ही किशोर बालक के मानस में अनेक समस्याएँ और कौतूहल एवं उलझनें प्रकट होती हैं। वह कभी-कभी घबराहट अनुभव करता है और चिड़चिड़ा भी हो जाता है। ऐसी दशा मे स्वाभाविक रूप से बच्चे घर और पाठशाला मे एक समस्या बन जाते हैं। उन्हें सोचने-विचारने के लिए अधिक समय चाहिए इसलिए वे एकान्तप्रिय भी हो जाते हैं। तारुण्य आने पर उनका स्वभाव चंचल हो जाता है। वे विपरीत लिंगियों के प्रति आकर्षण अनुभव करते हैं और इसके साथ-साथ ही उनके आत्मप्रकाशन मे भी वृद्धि हो जाती है।

का उदय होता है। यह समय बालक-बालिकाओं के बनने और बिगड़ने का समय है। वे अपने अधिकार और कर्तव्यों को पहचानने लगते हैं। किशोर बालक के मन में नई-नई प्रेरणाएं और आवश्यकताएँ उत्पन्न होती हैं। यह काल धार्मिक परिवर्तनों की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। होलिंगवर्थ के अनुसार उसकी मूल आवश्यकताएँ निम्नलिखित चार प्रकार की हैं :

(1) पारिवारिक दासता से मुक्त होकर स्वतन्त्र आचरण करना।
(2) विपरीत लिंगियों से साहचर्य और सम्पर्क स्थापित करना।
(3) आत्मनिर्भर होना।
(4) जीवन के कुछ आदर्श और सिद्धान्त स्थिर करना।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. शारीरिक और गामक विकास का शिक्षा में क्या महत्व है? उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।
2. शैशवकालीन अभिवृद्धि की तुलना बाल्यकालीन अभिवृद्धि से कीजिए।
3. बाल्यकाल और किशोरावस्था में गामक विकास को प्रभावित करने वाले कारकों का उल्लेख एक शिक्षक के दृष्टिकोण से कीजिए।

17

संवेगात्मक विकास
(EMOTIONAL DEVELOPMENT)

संवेग : अर्थ एवं परिभाषा

संवेगों की चर्चा पिछले अध्यायों में मूल प्रवृत्ति तथा स्थायी भावों के साथ की जा चुकी है। घर और स्कूल में बालक का व्यवहार अनेक संवेगात्मक प्रेरणाओं से प्रभावित होता है। जीवन के आरम्भ से ही उसका व्यवहार सुख-दुःख, भय, क्रोध, ईर्ष्या, प्रेम और सहानुभूति आदि आवेगिक प्रेरणाओं से ही प्रेरित होता है। संवेग से हमारा अभिप्राय शरीरधारी की आन्तरिक विकलता और उत्तेजना से है।[1]

रॉस के अनुसार 'संवेग, अनुभव का रागात्मक पहलू है, जिसको हम अन्तः दर्शन द्वारा ही प्राप्त करते हैं।"[2] नन भी संवेग को संवेदना का एक रूप मानता है जोकि संसार से हमारे सम्बोधन व्यवहार को प्रभावित करता है।"[3]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संवेग के अन्तर्गत भाव (Feeling), आवेग (Impulse) तथा अन्य शारीरिक परिवर्तन (Physiological Changes) आते हैं। संवेगात्मक उत्तेजना दो बातों से प्रभावित होती है—

(1) प्रेरणा की तीव्रता,

(2) हमारी अभिवृत्तियाँ (Attitudes)

एक समान प्रेरणा से भी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में अथवा एक ही व्यक्ति में भिन्न-भिन्न अवसरों पर समान आवेग ही उत्पन्न नहीं होते। एक सुनसान मकान में रहस्यमय ध्वनि ही बालक में भय का संवेग उत्पन्न कर सकती है जिससे डर कर बालक भागने का प्रयत्न करता है परन्तु परिवार के अन्य सदस्यों के साथ बालक इसी ध्वनि का कारण जानने के लिए कौतूहलवश ध्वनि की दिशा में ही बढ़ता है। जब तक इस प्रेरणा पर बालक का मन केन्द्रित रहता है, तब तक उसे संवेगात्मक अनुभूति होती रहती है। यही कारण है कि कक्षा में कठोर दण्ड मिलने के भय से बालक घर पर भी सशंकित और सहमा हुआ सा ही रहता है।

संवेगात्मक अनुभूति के समय अनेक शारीरिक परिवर्तन होते हैं जिनका

---

1 "Stirred up states of organism."

2 "The affective colouring of experience that we find by introspection."—Ross

3 "Local differentiations of the feeling that colours all the organism's hormic dealings with the world." —T. P. Nunn

निरीक्षण किया जा सकता है तथा उनका मापन भी किया जा सकता है, जैसे—पाचन क्रिया का मंद होना, रक्तचाप में वृद्धि होना, मुँह में लार का सूखना, श्वास की गति का तीव्र होना; चेहरा और आँखें लाल होना, आँसू आना, गला रुँधना तथा हृदय की गति बढ़ जाना आदि आदि। जेम्स (1884) और लैंग (1885) के सिद्धान्तानुसार संवेग के समय पहले शारीरिक परिवर्तन होते हैं, उसके बाद में मानसिक प्रतिक्रिया होती हैं। हम इसलिए नहीं चिल्लाते कि दुखी हैं बल्कि हम चिल्लाते हैं इसलिए दुखी होते हैं। शरीरधारियों में संवेग एक महत्वपूर्ण प्रेरणा का कार्य करते हैं। संवेग जीवन की आवश्यकताओं से सम्बन्धित होते हैं। शरीरधारियों की इन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए प्रेरणाएँ एक अतिरिक्त शक्ति प्रदान करते हैं। आंतरिक शारीरिक परिवर्तनों द्वारा एवं ग्रन्थियों के रस के रक्त में मिलने से शरीर को अतिरिक्त शक्ति एवं स्फूर्ति की प्राप्ति होती है। इस प्रकार संवेगात्मक आवेग से जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने में सहायता मिलती है। किन्तु मानव जीवन में यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य का प्रत्येक कार्य संवेगपूर्ण ही हो। विचार और संवेग परस्पर विरोधी हैं। ज्यों ही हम किसी गम्भीर समस्या पर सोच-विचार करने लगते हैं; संवेग तुरन्त लुप्त हो जाते हैं। व्यक्ति पर संवेगों का प्रभाव बहुत काफी समय तक रहता है। यह प्रभाव उमंग (Mood) के रूप में भी व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करता रहता है।

शैशव में संवेगात्मक विकास

नवजात् बालक के संवेग स्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं होते। उसकी प्रतिक्रिया को सामान्य उत्तेजना, कष्ट अथवा बेचैनी कहा जा सकता है। स्वस्थ शिशु पेट भरने पर सन्तुष्ट हो जाता है और फिर आराम से सोता है। परन्तु शारीरिक दुःख या भूख में वह चिल्लाता है और बेचैनी प्रकट करता है। कुछ ही दिनों में शिशु अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु परिवार के सदस्यों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना सीख लेता है। माताएँ शिशु के भूख रुदन, क्रोध रुदन और कष्ट रुदन को पहचान लेती हैं। जीवन के इस प्रारम्भिक काल में बालक के संवेगों का पृथक-पृथक वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। बालक की प्रारम्भिक संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं के मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं—

(1) सुखद या दुखद अनुभूति (Pleasure or Pain)।

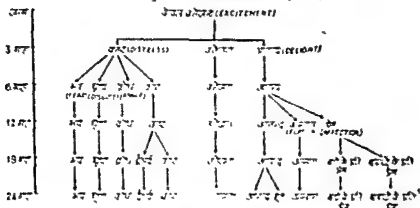
(2) उत्तेजनापूर्ण या स्तब्धतापूर्ण अनुभूति (Excitement or Numbeness)।

(3) तनाव की अवस्था या विश्रामावस्था (Tension or Relaxation)।

(4) शिशु के संवेगात्मक व्यवहार में अत्यधिक तीव्रता तथा अस्थिरता होती है। किन्तु इसमें क्रमशः परिवर्तन होते रहते हैं। आयु में वृद्धि के साथ ही तीव्रता कम हो जाती है और स्थिरता आ जाती है।

(5) आयु के साथ संवेग प्रकाशन में भी स्पष्टता में वृद्धि हो जाती है। माताएँ उसका अर्थ समझ लेती हैं।

ब्रिजेज (Bridges) के अनुसार, संवेगात्मक व्यवहार का क्रमिक विकास, जन्म से 24 माह की आयु तक अग्र पृष्ठांकित तालिका में दर्शाया गया है।



संवेगात्मक दशा में बालक का व्यवहार अमद, स्पष्ट तथा निष्कपट होता है। बालक अपने संवेगात्मक आवेग को छिपाना नहीं जानता, जबकि प्रौढ़जन क्रोध में भी मुस्करा सकते हैं तथा श्रम करके अप्रत्यक्ष रूप से मूल संवेग को प्रकाशित करते हैं। जैसे-जैसे बालक की आयु में वृद्धि होती है वह संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं, वातावरण, स्थानीय संस्कृति एवं भाषा शैली से प्रभावित होता है। शैशव-कालीन मुस्कान हँसी का रूप धारण कर लेती है। दो वर्ष की आयु तक उसमें सभी प्रधान संवेग विकसित हो जाते हैं। तीन वर्ष का शिशु अपने साथियों के साथ प्रेम और प्रसन्नता व्यक्त करता है, तीन से पाँच वर्ष की आयु में वह भयभीत होना भी सीख जाता है और पशु, अँधेरे स्थान अथवा अकेलेपन से भयभीत हो जाता है।

बाल्यकाल में संवेगात्मक व्यवहार का उदय

शैशव-कालीन उत्तेजना धीरे-धीरे स्पष्ट संवेगात्मक अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट होने लगती है। वाटसन के अनुसार बालक में सबसे पहले भय, क्रोध और प्रेम के संवेग प्रकट होते हैं। प्रारम्भ में बालक मुस्कराकर, चिल्लाकर या हँसकर अपने संवेगों को प्रकट करता है। उसके प्रारम्भिक अनुभव केवल उत्तेजनापूर्ण, दुखद या सुखद ही होते हैं परन्तु प्रौढ़ों के सम्पर्क में रहने पर वह, अनुकरण द्वारा संवेग प्रकाशन के नए ढंग सीखता है। यदि माता-पिता का संवेगात्मक संतुलन ठीक है तो बालक भी शीघ्र ही अपने संवेगों पर नियन्त्रण करना सीख लेता है। स्कूली वातावरण में बालक के संवेगों पर शिक्षकों की संवेगात्मक अभिवृत्तियों का विशेष प्रभाव पड़ता है, अतएव अभिभावकों और शिक्षकों को बच्चों के समक्ष संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ बड़ी सावधानीपूर्वक करनी चाहिए।

बालक के संवेगात्मक विकास पर निम्नांकित दो बातों का विशेष प्रभाव पड़ता है :

(1) शारीरिक अभिवृद्धि एवं परिपक्वता।

(2) सीखने की प्रक्रिया, विशेषकर समूह में रहकर।

गेट्स तथा अन्य ने लिखा है—

"बालक का संवेगात्मक व्यवहार उसके विकास के अन्य पहलुओं के अनुरूप होता है और उनसे उसका अन्तः सम्बन्ध होता है।"[1]

बालक जैसे-जैसे अपने आसपास के व्यक्तियों, वस्तुओं और परिस्थितियों से अपने सम्बन्धों का अनुभव करने लगता है, वैसे-वैसे ही उसके संवेग प्रकाशन का ढंग भी परिपक्व होता जाता है और उसके संवेगों की संख्या में भी वृद्धि होती जाती है। 6 वर्ष का बालक अपने भय और क्रोध पर नियन्त्रण करने लगता है। बालक का उचित संवेगात्मक विकास करने के लिए आवश्यक है कि उसको अपने शैक्षिक वातावरण में उन सभी सुन्दर संवेगों को अनुभव करने के लिए यथेष्ट अवसर दिया जाय जोकि एक स्वस्थ मानव के लिए आवश्यक है। अध्यापकों का आदर्श व्यवहार तथा विद्यालय का स्वतन्त्र एवं स्वस्थ वातावरण भी छात्रों के संवेगों को परिष्कृत करके उनके व्यवहार को शिष्ट बनाता है। इसके विपरीत भय, दंड और तनाव से पूर्ण वातावरण बालकों में मानसिक ग्रन्थियों का निर्माण करता है।

बाल्यावस्था के प्रारम्भ में मूल संवेगों की संख्या कम होती है, तुमुलनाद से अथवा अकस्मात् सहारा छूट जाने से भी शिशु भयभीत हो जाता है। अभिभावकों के स्नेहमय व्यवहार से वह प्रेम का अनुभव करता है। वाटसन का दृढ़ विश्वास था कि बच्चों के अधिकांश भय सीखे हुए ही होते हैं, जन्मजात् या प्रवृत्तिजन्य नहीं।

बालक एवं प्रौढ़ों के संवेगात्मक व्यवहार की तुलना

(1) संवेग की दशा में प्रौढ़ों की अपेक्षा बालक शारीरिक प्रतिक्रियाओं का प्रकाशन अधिक करता है, जैसे गुस्से में ठोकर मारना, वस्तुएँ फेंक देना, भूमि पर लेट जाना अथवा तोड़-फोड़ करना आदि।

(2) प्रौढ़ों की अपेक्षा बालक जल्दी झुंझला जाता है और उसका स्वभाव भी चिड़चिड़ा हो जाता है। ऐसी दशा में साधारण प्रेरणा भी उसमें तीव्र संवेग उत्पन्न करती है।

(3) बालकों के संवेग प्रौढ़ों की अपेक्षा अधिक भड़कने वाले, असंगठित और असन्तुलित होते हैं। सामाजिक सम्पर्क और प्रशिक्षण से बालक अपने संवेगों को सन्तुलित करना सीखते हैं।

संवेगों का शैक्षिक महत्व

1. स्वस्थ जीवन व्यतीत करने के लिए बालक में सुन्दर संवेगों का उदय होना नितान्त आवश्यक है।

2. भय, घृणा और क्रोध के बुरे संवेग बालक के व्यक्तित्व को अप्रिय बना देते हैं, अतएव वह समाज में भी उचित स्थान प्राप्त नहीं कर सकता। उसे अपने व्यक्तित्व समायोजन में पग-पग पर कठिनाइयां होती हैं।

3. सुन्दर चारित्रिक विकास के लिए बालकों में प्रेम, दया, सहानुभूति, सहिष्णुता और नैतिकता के संवेग उदय होने चाहिए। उसके जीवन में कल्याणकारी स्थायी भावों का सृजन होना चाहिए।

---

1 "The development of emotional behaviour paralles and is interrelated with other aspects of a child's growth." —Gates and others. p. 114

4. बालक में शिक्षा के प्रति रुचि उत्पन्न करने के लिए भी उसके जीवन में सुन्दर संवेगों एवं स्थायी भावों का समावेश आवश्यक है। सीखने की प्रक्रिया में संवेग एक प्रबल प्रेरणा है। जीवन को अनुशासित, सुखमय और व्यवस्थित बनाने के लिए यह आवश्यक है कि छात्रों को अपने संवेगों को नियन्त्रित और सन्तुलित करने का यथेष्ट अवसर मिले। उनके समक्ष शिक्षकों और अभिभावकों को असन्तुलित संवेग का प्रकाशन नहीं करना चाहिए।

5. उचित मानसिक विकास के लिए छात्रों को स्कूल तथा घर में स्वतन्त्रता से सोचने और आत्म-प्रकाशन करने का पूर्ण अवसर मिलना चाहिए।

6. शिक्षा प्रक्रिया में संवेगों की शक्ति का सुन्दर उपयोग किया जा सकता है। मार्गान्तरीकरण एवं शोधन द्वारा अवांछनीय भावों को समाजोपयोगी ढंग से प्रकाशित किया जा सकता है। रेचन (Catharsis) द्वारा इन अवांछनीय संवेगों से बालकों को मुक्ति दिलाकर उनको मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति कराई जा सकती है।

किशोरावस्था में संवेगात्मक विकास
(Emotional Development in Adolescence)

किशोरावस्था के आगमन पर भी एक बार पुनः शैशवावस्था के समान ही संवेगों में तीव्रता और अस्थिरता आ जाती है और किशोर के संवेगात्मक व्यवहार पर नियन्त्रण का अभाव दिखलाई देने लगता है। किन्तु शैशवावस्था से भिन्न किशोरावस्था में संवेगों की संख्या अधिक होती है। वह ज्ञान और बुद्धिमत्ता का भी प्रयोग करता है। शारीरिक दृष्टि से निर्बल किशोर में भी अस्थिरता की मात्रा अधिक होती है। शिशु या बालक की अपेक्षा किशोर के संवेग प्रकाशन का ढंग काफी परिवर्तित हो जाता है। किशोर का संवेग प्रकाशन ज्ञान, अनुभव तथा रुचियों से प्रभावित होता है। उसकी संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं के बारे में पहले से कुछ अनुमान नहीं लगाया जा सकता। उसकी संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ बहुत विविध होती हैं और वह एक ही परिस्थिति के प्रति भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ कर सकता है।

हरलॉक के शब्दों में— "संवेगशीलता की दशा उसके स्वास्थ्य, दिन के समय और वातावरण सम्बन्धी प्रभावों और कारकों पर निर्भर रहने के कारण समय-समय पर परिवर्तित होती रहती है।"[1]

किशोरों में बाल्यकाल की अपेक्षा एक विशेष अन्तर काम प्रवृत्ति की तीव्रता के कारण भी उत्पन्न हो जाता है। काम सम्बन्धी आवेग किशोर तथा किशोरियों के संवेगात्मक व्यवहार पर असाधारण प्रभाव डालते हैं। लैंगिक विकास के कारण उनके मन में अनेक भय, चिन्ताएँ और निराशाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। किशोर तथा किशोरियों के मनोरंजन के साधनों में भी परिवर्तन हो जाते हैं। जीवन की उलझनों के प्रति भी उनकी प्रतिक्रिया तथा दृष्टिकोण बालकों से भिन्न होते हैं। किशोर किसी भी अन्याय को सहन नहीं कर सकता। अन्याय तथा अत्याचार को देखकर क्रोध से

---

1 "The state of emotionality varies from time to time, depending on such factors as health, time of day and environmental stages." —Hurlock p. [illegible]

उसका रक्त उबलने लगता है। असफल एवं निराशाजनक परिस्थितियों में वह बहुत जल्दी खिन्न हो जाता है। लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ जल्दी शर्माती हैं और दुखी होती हैं। उन्हें लड़कों की अपेक्षा चिन्ताएँ भी अधिक सताती हैं। किशोर दूसरे की भावनाओं और संवेगों का भी अनुभव करता है और उनका आदर करता है। अतः वह चाहता है कि उसकी भावनाओं का भी आदर किया जाए। किशोरावस्था में अनेक संवेग स्थायीभावों में परिवर्तित हो जाते हैं। जरसील्ड (Jersild) के अनुसार किशोर के संवेगों को निम्नलिखित दो संकल्पनाएँ विशेष रूप से प्रभावित करती हैं—

(1) **आत्म-स्वीकृति की संकल्पना**—इसका अभिप्राय है, दूसरों पर भरोसा करना और विश्वास करना। स्वस्थ जीवन और आत्मप्रतिष्ठा की अभिवृत्तियाँ जाग्रत करना। इस संकल्पना की सहायता से ही बालक अपनी क्षमताओं को फलीभूत करता है।

(2) **आत्म-तिरस्कार की संकल्पना**—इसे आत्मअस्वीकृति भी कहते हैं। शिकायत, अपराध, हीनता की भावना तथा आत्मनिन्दा आदि की अभिवृत्तियाँ अपनी क्षमताओं का उपयोग करने में बाधक सिद्ध होती हैं। इसके कारण निम्न-निष्पत्ति (Low Achievement) युक्त बालक अपनी क्षमता के अनुसार भी कार्य करने में असफल रहते हैं और पिछड़ते जाते हैं। अतएव स्पष्ट है कि किसी हद तक विद्यार्थियों की बौद्धिक सम्भाव्यताएँ भी उनके संवेगों से सम्बद्ध रहती हैं।

बालकों के प्रमुख संवेग

जीवन में संवेगों का अनुभव करना एक साधारण बात है परन्तु संवेगों की परिभाषा एवं व्याख्या करना कठिन है और इससे भी कठिन कार्य है मानव संवेगों की संख्या निश्चित करना। शैशवास्था से प्रौढ़ावस्था तक बालक के संवेगों का क्षेत्र विस्तृत होता रहता है। शैशवकालीन संवेगात्मक विकास क्रम और प्रमुख संवेगों की संख्या ब्रिजिज की सारणी में पृष्ठ 229 पर दी जा चुकी है। मैक्डुगल 14 मूलप्रवृत्तियों के साथ 14 संवेगों की व्याख्या करता है परन्तु किसी भी देश की साहित्यिक भाषा में मानव संवेगों का वर्णन करने के लिए हमें सैकड़ों शब्द मिल सकते हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिक खोजों एवं निरीक्षणों के प्रकाश में मैक्डुगल का प्रवृत्तिवाद सीमित और भ्रामक जान पड़ता है। बालक का अधिकांश संवेगात्मक व्यवहार सीखा हुआ होता है, जन्मजात नहीं। अब हम बालक के प्रमुख संवेगों की चर्चा करते हैं :

(1) **क्रोध**—क्रोध की आवृति उत्तर-किशोरावस्था (16 वर्ष से 20 वर्ष तक) में अधिक होती है। जरसील्ड तथा हरलॉक के अनुसार क्रोध के दो सामान्य कारण होते हैं—

(i) बच्चे के आग्रह की पूर्ति न होना। बच्चे की इच्छा या आग्रह में रुकावट पैदा करने वाली परिस्थितियाँ इस प्रकार हैं—उस पर अनुचित दोष लगाया जाना, उसके साथ अपमानजनक व्यवहार करना, उसके कार्यों की आलोचना करना, उसे अनावश्यक परामर्श देना तथा उस पर बार-बार व्यंग करना।

(ii) उसकी नित्यप्रति की क्रियाओं में बाधा पड़ना जैसे पढ़ने के कार्य में

रुकावट डालना, नींद में परेशान करना अथवा खेल में बाधा डालना आदि।

बाल्यकाल में क्रोध पर नियन्त्रण कम होता है परन्तु किशोरावस्था में क्रोध पर नियन्त्रण बढ़ जाता है। बाल्यकालीन क्रोध का प्रकाशन हाथ-पैर चलाकर ही होता है परन्तु किशोर जवान के कोड़े मारकर ही तसल्ली कर लेता है, जैसे गाली देना, व्यंग करना, खिल्ली उड़ाना, चिढ़ाना और आरोप लगाना। क्रोध में बालक की प्रतिक्रिया बहुत उग्र होती है किन्तु किशोरावस्था में यह उग्रता कम हो जाती है। किशोरावस्था में क्रोध का आवेग अधिक समय तक बना रहता है। सामाजिक परिस्थितियों में भी लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में क्रोध-प्रदर्शन की आवृत्ति अधिक होती है। छोटे बालक क्रोध के समय हाथ की वस्तु तुरन्त फेंक देते हैं और जमीन पर गिरकर लेटने लगते हैं। कुछ बालक क्रोध का प्रकाशन रुष्ट होकर करते हैं। वे माता-पिता से वार्तालाप बन्द कर देते हैं, खाने की वस्तु अस्वीकार कर देते हैं और आज्ञाओं की अवहेलना करते हैं। निर्बल और बीमार व्यक्ति शीघ्र ही क्रोधित हो जाते हैं। कुछ व्यक्ति स्वभाव से ही क्रोधी होते हैं और क्रोध के समय अपना होश-हवाश बिल्कुल खो देते हैं और उनका व्यवहार पागलों की भाँति हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों को क्रोध के दौरे आते रहते हैं।

बालक को क्रोध पर विजय पाने के लिए प्रारम्भ से ही आत्म नियन्त्रण का प्रशिक्षण दिया जाना आवश्यक है। थकावट और भूख-प्यास की दशा में भी व्यक्ति का क्रोध उग्ररूप धारण कर लेता है। वे व्यक्ति जो हीनता की भावना-ग्रन्थि का शिकार होते हैं या जिनके मन में तीव्र दुराग्रह या पूर्वधारणाएँ (Prejudices) होती हैं वे जल्दी क्रोधित होते हैं। अत. छात्रों में दुराग्रह और पूर्वधारणाओं को यथा-सम्भव दूर करना चाहिए। क्रोध के संवेग का सदुपयोग भी किया जा सकता है।' छात्रों के क्रोध का सदुपयोग आलस्य को भगाने, दृढ़ प्रतिज्ञा करने, कार्यों की निश्चित रूपरेखा बनाने, बाधाओं को पार करने और हिम्मत बढ़ाने में किया जा सकता है। प्राय: क्रोध के संवेग के पश्चात् आत्मग्लानि तथा शर्मिंदगी के भाव उभरते हैं। इस संवेग के समय बहुत सी शारीरिक शक्ति नष्ट हो जाती है इसीलिए क्रोध को एक हानिकारक संवेग माना गया है।

(2) ईर्ष्या—बालक अपने माता-पिता के प्रति विशेष रूप से अपनापन अनुभव करता है किन्तु परिवार में अन्य बालक के आते ही उसकी भावनाओं में कुछ अनिश्चितता का भाव आ जाता है और उसे यह सन्देह होने लगता है कि माता-पिता का सम्पूर्ण स्नेह उसे नहीं मिल रहा है। अतएव ऐसी स्थिति में ईर्ष्या प्रारम्भ हो जाती है। किशोरावस्था में भी ईर्ष्या का कारण सन्देह ही होता है। किशोर जिसके प्रति अपनापन अनुभव करता है उसे वह अपनी आँखों से ओझल नहीं होने देना चाहता। किशोरावस्था में लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में ईर्ष्या अधिक रहती है क्योंकि लड़के अपनी मनचाही वस्तु बल प्रयोग द्वारा भी प्राप्त कर लेते हैं। जबकि लड़कियों को निष्क्रिय भूमिका अपनानी पड़ती है। ईर्ष्या का प्रकाशन प्राय: वाक्-युद्ध द्वारा होता है अथवा पीठ-पीछे बुराइयों द्वारा होता है। ईर्ष्यावश ही एक-दूसरे के चरित्र और नैतिकता पर आरोप लगाए जाते हैं। ईर्ष्या के समय कष्ट तथा क्रोध के

मिश्रित संवेगों की अनुभूति होती है। ईर्ष्यायुक्त व्यवहार का लक्ष्य अपने प्रतिद्वन्द्वी को हानि पहुँचाना होता है। कुछ बच्चे ईर्ष्या के कारण अपने को ही हानि पहुँचाने वाले कार्य करने लगते हैं। यदि विद्यालय में कुछ बच्चे अध्यापकों के अधिक निकट हो जाते हैं और कुछ बच्चे उपेक्षित रूप में रहते हैं तब भी छात्रों में ईर्ष्या का विष फैल जाता है। क्रोध के समान ईर्ष्या भी एक हानिकारक संवेग ही है। इसको दूर करने का एकमात्र उपाय प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार है।

(3) स्पर्धा—प्रारम्भिक बाल्यकाल में सहोदरों से स्पर्धा का मुख्य कारण खाने-पीने की वस्तुएँ होती हैं। बच्चे घर में स्वादिष्ट फल या मिठाई अधिक खाने के लिए एक-दूसरे से स्पर्धा करते हैं और एक-दूसरे पर झूठे आरोप भी लगाते हैं। धीरे-धीरे उनका स्पर्धात्मक भाव अन्य वस्तुओं की ओर भी विकसित हो जाता है, जैसे—सुन्दर और मँहगे वस्त्र, आकर्षक कलम, खेल में स्पर्धा तथा प्रतिष्ठाजनक अन्य वस्तुओं के बारे में स्पर्धा। किशोर बालक को अपनी प्रतिष्ठा का विशेष ध्यान रहता है, किशोर और किशोरियाँ उन सब वस्तुओं को प्राप्त करना चाहते हैं जो प्रतिष्ठा-जनक हैं जैसे—रेडियो, कलाई की घड़ी, अँगूठी, प्रचलित फैशन के कपड़े आदि। क्योंकि ये वस्तुएँ विषम लिंगियों से सम्पर्क तथा सम्बन्ध स्थापित करने हेतु तथा सामाजिक लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहायक होती हैं। अतएव यह स्वाभाविक ही है कि किशोर तथा किशोरियाँ भौतिक-सुख, सुविधा तथा आलंकारिक वस्तुओं को प्राप्त करने में स्पर्धापूर्ण व्यवहार करें। जिन किशोरोंको ये वस्तुएँ उपलब्ध नहीं होतीं वे अपने दुर्भाग्य को कोसते रहते हैं और जिनके पास ये वस्तुएँ होती हैं उन्हें वे 'भाग्यशाली' कहते हैं। इन प्रतिष्ठाजनक वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए कुछ किशोर कठिन परिश्रम करते हैं और कुछ चोरी आदि निन्दनीय कार्य करने लगते हैं।

(4) प्रसन्नता या आनन्द—प्रसन्नता या आनन्द का प्रकाशन मुस्कराकर, हँसकर, ताली बजाकर, उछल-कूद द्वारा अथवा खिलखिलाहट द्वारा होता है। अधिक प्रसन्नता में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को गले भी लगा लेता है। बाल्यकाल की सामान्य प्रसन्नतादायक परिस्थितियाँ इस प्रकार हैं—सुन्दर स्वास्थ्य, बेतुकी बातें, हल्ला-गुल्ला, छोटी विपत्तियाँ, नवीन खोजें, चिढ़ाना या छेड़छाड़ करना। खेल की क्रिया में इनमें से अनेक परिस्थितियाँ एक साथ ही उपस्थित रहती हैं, अतएव बालक खेलकूद में सर्वाधिक आनन्द प्राप्त करता है।

किशोरावस्था में आनन्ददायक परिस्थितियाँ बदल जाती हैं। हरलॉक के अनुसार किशोर के लिए चार प्रकार की परिस्थितियाँ विशेष रूप से प्रसन्नतादायक होती हैं :

(i) किशोर अपनी परिस्थितियों के साथ अच्छा समायोजन पसन्द करता है। यदि किशोर अपने समूह में "ठीक बैठ जाता है" तो प्रसन्न रहता है परन्तु यदि "ठीक नहीं बैठता" तो दुखी और असन्तुष्ट रहता है।

(ii) किसी परिस्थिति के हास्यप्रद पहलू को समझ लेने की क्षमता किशोर के बौद्धिक स्तर पर निर्भर करती है। कहानी या उपन्यास पढ़ते समय भी पारिस्थितिक कथन के अनुसार वह स्वयं ही हँस पड़ता है।

(iii) किशोर दूसरों का मजाक बनाने में खूब आनन्द लेता है परन्तु यदि उसका ही मजाक बनाया जाता है तब वह अपने आप को असुरक्षित अनुभव करता है।

(iv) किशोर श्रेष्ठतादायक परिस्थितियों में प्रसन्नता का अनुभव करता है। इन परिस्थितयो में उसकी रुकी हुई संवेगात्मक ऊर्जा (शक्ति) का प्रकाशन क्रोध, भय, ईर्ष्या आदि अप्रिय संवेगों के साथ होता है। किशोर के लिए श्रेष्ठता की भावना पैदा करने वाली परिस्थितियाँ इस प्रकार हैं—व्यावहारिक मजाक, निषिद्ध वस्तुओ का खान-पान, जैसे सिगरेट-बीड़ी पीना, शराब पीना आदि। वे किशोर और किशोरियाँ जोकि सदैव आनन्द प्राप्ति की धुन में रहते हैं, आत्मकेन्द्रित बन जाते हैं तथा अपने कर्तव्यों तथा सामाजिक उत्तरदायित्व की भी अवहेलना करने लग जाते हैं। अतः आनन्द प्राप्ति के लक्ष्य और साधन भी सामाजिक मर्यादाओं तथा सीमाओं तक ही सीमित होने चाहिए।

(5) स्नेह—शैशव तथा बाल्यकाल में अपने को सुख-सन्तोष तथा सुरक्षा प्रदान करने वालों के प्रति बालक का स्वाभाविक स्नेह होता है। बालक अपने खिलौनों तथा पालतू जानवरों के प्रति भी स्नेह का व्यवहार करता है। स्नेह की अभिव्यक्ति, शरीर और वाणी द्वारा अनेक प्रकार से होती है। हरलॉक के अनुसार जिस बालक को घर के अतिरिक्त बाहर वालों का स्नेह नही मिलता, वह "आत्म-केन्द्रित" हो जाता है। परिवार के बाहर वालो का स्नेह चाहने की अभिलाषा ही बाद में उनका अनुमोदन या स्वीकृति चाहने की अभिलाषा में परिणत हो जाती है। बाल्य-काल में बालक चूमना या चिपटना पसन्द नही करता इसीलिए वह अपने स्नेह प्रकाशन मे भी इस व्यवहार का प्रदर्शन नहीं करता है। कुछ लड़के-लड़कियाँ व्यक्तियों की अपेक्षा पालतू जानवरो के प्रति स्नेह का प्रदर्शन अधिक करते हैं। किशोरावस्था मे अपने प्रिय व्यक्ति (मित्र, सखा या सहेली) के साथ अधिक से अधिक समय व्यतीत करने की इच्छा रहती है। किशोरावस्था मे स्नेह अप्रत्याशित समय में उद्गार के साथ प्रकट होता है। इस आयु में स्नेह सम्बन्धों का दूसरा नाम ही मित्रता है। ये सम्बन्ध पत्रव्यवहार या टेलीफोन वार्ताओं द्वारा भी बने रहते हैं।

(6) भय एवं चिन्ता—भय की दशा मे स्वचालित नाड़ी मण्डल शीघ्रता से प्रभावित होता है। भय की अभिव्यक्ति के मुख्य लक्षण, काँपना, चीखना, पसीना आना, भागना, रक्तचाप बढना, पेट का बैठना, कपन, निर्बलता, मूर्च्छा, तनाव और मुख का विवर्ण होना आदि हैं। बालकों के अधिकांश भय सीखे हुए होते हैं। भय की दशा में अनेक शारीरिक प्रक्रियाएँ अवरुद्ध हो जाती हैं, व्यक्ति की कार्यकुशलता क्षीण हो जाती है और जीवन की शांति नष्ट हो जाती है। भय का कारण विपत्ति की उपस्थिति अथवा विपत्ति की सम्भावना होती है, जिससे बालक बचना चाहता है और उससे दूर भागने का प्रयत्न करता है। कभी-कभी बालकों के भय का कारण अप्रत्यक्ष एवं काल्पनिक भी होता है। किशोरावस्था में काल्पनिक परिस्थिति से उत्पन्न होने वाले भयो की वृद्धि हो जाती है। आयु और अनुभव में वृद्धि के साथ-

साथ भी वालक में ऐसे भय कम हो जाते हैं जोकि वाह्य वातावरण की वस्तुओं या सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न होते हैं। भयग्रस्त वालक चिन्तित रहता है। काल्पनिक भय का दूसरा नाम चिन्ता है। वालक की अपेक्षा किशोर को चिन्ताएँ अधिक सताती हैं। वह अपने आपको छिपाना चाहता है। जव वालक से कोई अपराध हो जाता है तो उसे आन्तरिक भय सताता रहता है। अभिभावकों तथा शिक्षकों को ऐसी दशा में वालक पर विशेप ध्यान रखना चाहिए। आयु वृद्धि के साथ-साथ वालक के भयों की संख्या में वृद्धि हो जाती है। किशोरावस्था में लिंग-सम्बन्धी भय उत्पन्न होते हैं। वालक इस सम्बन्ध में सामाजिक स्वीकृति-अस्वीकृति तथा सफलता-असफलता के विपय में चिन्तित रहता है। वाल्यकाल में माता-पिता द्वारा उत्पन्न किये गये भय भी जीवन में स्थायी संवेग वन जाते हैं। अधिकतर काली-कुरूप वस्तुओं से अथवा अंधकार से बच्चों को डराकर नियन्त्रण में लाने का प्रयत्न किया जाता है। इसके परिणामस्वरूप भी वालक अंधकार में या अकेलेपन में भयभीत हो जाता है। इसी प्रकार पशुओं, भूत-प्रेत आदि से भी वालकों को डराया जाता है और जव वालक अपने को अरक्षित और एकाकी पाता है तो वे भय उसे घेर लेते हैं। भय से चिन्ता और चिन्ता से भय मरीचिका (Fobia) उत्पन्न होते हैं। भय वाह्य कारणों से और चिन्ता अभ्यन्तर परिस्थितियों से उत्पन्न होती है। सदैव भयभीत रहने वाला वालक डरपोक वन जाता है। वह आत्मविश्वास खो देता है। वालक के भय को दूर करने के कुछ उपाय निम्नलिखित हैं :—

(i) नवीन अनुभवों द्वारा वालक के संवेगों का पुनः प्रशिक्षण किया जाना चाहिए। भय की वस्तुओं और पशुओं से उसका निकट सम्पर्क कराना चाहिए।

(ii) वालक को अपने साथियों के साथ स्वतन्त्रता से खेलने का अवसर मिलना चाहिए।

(iii) उसे रोमांचकारी परिस्थितियों का अनुभव कराना चाहिए।

(iv) तर्क, विश्लेपण तथा वैज्ञानिक ज्ञान से अनेक भय दूर किए जा सकते हैं।

(v) वालक में अधिक से अधिक आत्मविश्वास जाग्रत कराना चाहिए।

(7) प्रेम—मैक्डुगल के अनुसार वात्सल्य प्रकृति द्वारा आविष्कृत सवसे सुन्दर उपहार है। यही वात्सल्य भावना अन्वेपण और नैतिकता की जन्मदात्री है। जन्म से ही वालक माता-पिता का स्वाभाविक प्रेम प्राप्त करता है। किन्तु सभी माता-पिता संतान के प्रति सदैव एक सा प्रेम प्रदर्शन नहीं करते। परिवार की आर्थिक दशा, सदस्यों की संख्या, माता-पिता की संवेगात्मक दशा और घर की शान्ति पर ही माता-पिता का प्रेम प्रकाशन निर्भर करता है। दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों में वालक को यथेष्ट प्यार न मिलने से उसका विकास सुन्दर नहीं हो पाता। जिस वालक को माता-पिता का वास्तविक अनुराग मिलता है, वह सरलता से अपने व्यक्तित्व का समायोजन समाज के साथ कर लेता है। उसमें अच्छी आदतों की नींव पड़ती है। वालक भी माता-पिता के साथ स्नेह सम्बन्ध जोड़कर उनकी इच्छा के विरुद्ध कार्य करना अच्छा नहीं समझता। वालक को माता-पिता के प्रति श्रद्धा होती है और

माता-पिता के हृदय में उसके लिए अगाध प्रेम, सहानुभूति और आदर होता है। जब बालक घर का स्नेहपूर्ण वातावरण छोड़कर विद्यालय में प्रवेश करता है तो उसे माता-पिता की अनुपस्थिति बहुत अखरती है। अध्यापकों को इस समय अपने सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार से बालकों द्वारा अनुभव की जाने वाली इस कमी की पूर्ति करनी चाहिए। कक्षा के अनेक विद्यार्थियों के साथ प्रेम सम्बन्ध स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि अध्यापक न्यायप्रिय, दृढ़ और सत्य आचरण करने वाला हो। अध्यापक अपने परिश्रम और ईमानदारी से ही बालकों की श्रद्धा का पात्र बन सकता है। टी० पी० नन् के अनुसार अध्यापक एवं विद्यालय का मुख्य कार्य छात्र-छात्राओं में अनेक प्रकार के प्रेम तथा अनुराग को विकसित करना है। अध्यापक को घृणा का प्रयोग तो माली के चाकू (खुरपा) की तरह करना चाहिए जिसकी सहायता से वह बगीचे के खर-पतवार साफ करता है। अध्यापक का पहला कदम उस विषय में छात्रों का अनुराग उत्पन्न करना है। वह अपने विषय के प्रति बालकों में प्रेम उत्पन्न कर सकता है। उपेक्षित बालक कक्षा में अनुशासनहीनता फैलाता है और उसमें विद्रोह की भावना उत्पन्न होती है। हम जीवन के प्रारम्भ से ही प्रेम प्राप्त करके दूसरों को प्रेम देना सीखते हैं। आयु के साथ-साथ ही प्रेम के क्षेत्र में भी वृद्धि होती है। धीरे-धीरे बालक कुटुम्बियों, पड़ोसियों, ग्राम अथवा नगरवासियों, राष्ट्र और राष्ट्रीय संस्थाओं के प्रति प्रेम अनुभव करने लगता है। स्वस्थ नागरिक जीवन के लिए *बालक के हृदय में प्रेम की भावना का समुचित विकास होना अत्यावश्यक है।*

संवेगात्मक विकास को प्रभावित करने वाले कारक
(Factors Influencing Emotional Development)

अध्यापक एवं माता-पिता को बालकों की संवेगात्मक उलझनों से परेशान नहीं होना चाहिए बल्कि उन परिस्थितियों और वातावरण की दशाओं पर ध्यान देना चाहिए जो कि उनके सवेगात्मक व्यवहार को प्रभावित करती हैं। जिन कारकों के सन्दर्भ में सवेगात्मक व्यवहार को समझने की आवश्यकता है उनका उल्लेख आगे किया गया है।

(1) **स्वास्थ्य एवं थकान**—थकावट के समय चिड़चिड़ापन, उदासीनता एवं उत्साहहीनता आदि का होना स्वाभाविक ही है। अस्वस्थ रहने वाले बालकों के संवेगों में अस्थिरता अधिक रहती है और वे जल्दी ही थक जाते हैं, अथवा किसी काम को थोड़ी देर करने के बाद ही ऊब जाते हैं।

(2) **अनुभव और मानसिक योग्यता**—बिना अनुभव के संवेगात्मक परिपक्वता नहीं आती। उच्च मानसिक योग्यता वाला बालक आगे आने वाली परिस्थितियों की पूर्व कल्पना कर लेता है और उनके लिए तैयार हो जाता है। वह भविष्य में आने वाले सुख, दुख, भय और कठिनाइयों का अनुभव कल्पना के स्तर पर पहले से ही कर लेता है।

(3) **परिवार एवं माता-पिता**—बालक के संवेगात्मक विकास पर परिवार की दशाओं (सुख, शान्ति, सुरक्षा, मनोरंजन, भय, झगड़े, अभावग्रस्तता आदि) की विशेष छाप पड़ती है। शान्ति और सुरक्षा के वातावरण में सवेगों का संतुलित विकास होता है। माता-पिता पारिवारिक वातावरण का महत्वपूर्ण अंग होते हैं। उनकी

संवेगशीलता, बच्चों के प्रति रक्षा अथवा उपेक्षा का भाव उनके आपसी सम्बन्ध, जीवन के प्रति दृष्टिकोण आदि बातों का बालक के संवेगात्मक व्यवहार पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

(4) **सामाजिक सम्बन्ध**—परिवार तथा परिवार के बाहर विद्यालय एवं समाज में व्यक्तियों से सम्बन्ध स्थापित करने में संवेगों का विशेष महत्व रहता है। मित्रता, जान-पहचान, अपनापन और परायापन, प्रेम और घृणा आदि स्थापित करने में संवेगात्मक अनुभूतियों का विशेष महत्व है। सामाजिक स्तर की उच्चता एवं निम्नता भी संवेगात्मक संतुलन एवं स्थिरता को प्रभावित करती है। परिवार का वातावरण, लड़ाई-झगड़े या शान्ति, सुरक्षा, सहयोग आदि पारिवारिक बातें भी बालक के संवेगात्मक विकास को प्रभावित करती हैं।

(5) **अभिलाषाओं तथा मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति**—बालक के अपने मन में अनेक अभिलाषाएं उत्पन्न होती हैं। उसके माता-पिता को भी उससे कुछ आशाएँ होती हैं। यदि इनकी पूर्ति नहीं होती तो परिवार की सुख-शान्ति भंग हो जाती है और वातावरण तनावपूर्ण बन जाता है। कारमाइकिल के अनुसार वे सब बातें जो बालक के आत्मविश्वास को कम करती हैं या आत्मविश्वास को ठेस पहुँचाती हैं अथवा उसके कार्यों या अभिलाषाओं की पूर्ति में अवरोध उत्पन्न करती हैं, उसकी चिन्ताओं और भय का कारण होती हैं। इनके कारण उसके स्वस्थ संवेगात्मक-विकास में बाधा पड़ती है। बालक की कुछ मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति, जैसे स्वतन्त्रता, प्रशंसा प्राप्त होना, मान्यता मिलना, माता-पिता या समूह की स्वीकृति प्राप्त करना, सुरक्षा और प्रेम प्राप्त होना आदि स्वस्थ संवेगात्मक विकास के लिए नितान्त आवश्यक हैं। जिन परिवारों में बच्चों की उपेक्षा होती है अर्थात् माता-पिता केवल अपने मनोरंजन अथवा व्यवसाय में ही लगे रहते हैं, उनके बच्चों में अवांछनीय संवेगात्मक व्यवहार विकसित हो जाता है।

(6) **विद्यालय की दशाएं**—जरसील्ड के अनुसार परिवार के बाद विद्यालय का वह दूसरा स्थान है जिसका बालक की भावनाओं पर आधारभूत प्रभाव पड़ता है। विद्यालय की विभिन्न क्रियाओं में उसके संवेगों का प्रकाशन एवं प्रशिक्षण होता है। यदि विद्यालय का कार्यक्रम उसकी भावनाओं के अनुकूल होता है तो उसके संवेगात्मक विकास पर विद्यालय का स्वस्थ प्रभाव पड़ता है और वह विद्यालय में प्रसन्न रहता है। इसकी विपरीत दशाओं में उसका मन हानिकारक संवेगों से भर जाता है, जैसे—घृणा, क्रोध, ईर्ष्या, चिड़चिड़ापन आदि। विद्यालय में मिलने वाली प्रशंसा, सफलताएँ, असफलताएँ, उमंग और प्रेरणाएँ गौरव और श्रेष्ठता की भावनाएँ उसके संवेग को नया वक्र प्रदान करती हैं।

(7) **अध्यापकों का प्रभाव**—शिक्षक के व्यवहार और संवेगात्मक प्रकाशनों का छात्रों के संवेगात्मक विकास पर स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। विद्यार्थी अनुकरण द्वारा उसके मनोभावों को अचेतन स्तर पर ग्रहण करते हैं। अध्यापक के व्यक्तिगत् गुण जैसे—साहसी या डरपोक होना, निष्पक्ष या पक्षपातपूर्ण होना, क्रोधी या सहिष्णु होना, झगड़ालू अथवा शान्त प्रकृति का होना आदि बातें छात्रों

के संवेगात्मक व्यवहार को प्रभावित करती हैं। जो अध्यापक अपमानजनक व्यवहार प्रस्तुत करते हैं, वे छात्रों में संवेगात्मक कठिनाइयाँ उत्पन्न कर देते हैं।

(8) **आर्थिक स्थिति**—जो बालक धनाभाव के कारण अभाव ग्रस्त रहता है उसमे अनेक अवांछनीय संवेग पनप जाते हैं। वह धनी घर के बच्चों का रहन-सहन आदि देखकर मन मे दुखी होता है। उसमें ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि हानिकारक संवेग विकसित हो जाते हैं।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. संवेगात्मक विकास से आप क्या समझते हैं? शिशु के प्रमुख संवेगों का वर्णन कीजिए।
2. बालक तथा प्रौढ के संवेगात्मक व्यवहार में अन्तर स्पष्ट कीजिए। बालक के संवेगात्मक व्यवहार की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं?
3. बालक तथा किशोर के प्रमुख संवेगों का वर्णन कीजिए।

18

सामाजिक विकास
(SOCIAL DEVELOPMENT)

सामाजिक विकास और व्यक्तित्व

वालक का व्यक्तित्व समाज में रहकर, सामाजिक-सम्पर्क के द्वारा विकसित होता है। उसमें व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार की भावनाओं का उदय साथ-साथ ही होता है। उसका व्यक्तित्व आसपास के वालकों से मिलता-जुलता होते हुए भी उसमें व्यक्तिगत विशेषताएँ दिखाई देती हैं, जिनके कारण ही उसका व्यक्तित्व पृथक रूप से परिलक्षित होता है। व्यक्तित्व और सामाजिक भावना ठीक उसी प्रकार से ही एक दूसरे की पूरक हैं, जिस प्रकार वंशानुक्रम और वातावरण व्यक्तित्व के विकास में एक दूसरे के पूरक एवं अनिवार्य हैं। इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। वालक स्वयं अपने को प्यार करता है और समाज के साथ भी उसका मेल-जोल होता है। वह समाज में रहकर ही सामाजिक नियमों, संस्थाओं और भावनाओं का आदर करना और उन्हें स्वीकार करना सीखता है। वालक की भी यह आकांक्षा होती है कि उसके व्यक्तिगत व्यवहार, भावनाओं और विचारों को समाज भी स्वीकार करे। इस प्रकार वालक का सम्बन्ध समाज के साथ अधिक दृढ़ और व्यापक होता जाता है। इसी को सामाजिक विकास कहते हैं। सोरेन्सन के अनुसार "सामाजिक वृद्धि और विकास से हमारा तात्पर्य अपने साथ और दूसरों के साथ ठीक प्रकार से चलने की वढ़ती हुई योग्यता से ही है।"[1]

अत: स्पष्ट है कि सामाजिक विकास के अन्तर्गत ही वालक का सामाजीकरण तथा सामाजिक अनुकूलन एवं समायोजन की प्रक्रिया भी आ जाती है। सामाजिक विकास के फलस्वरूप वालक के व्यवहार में ऐसे परिवर्तन होते हैं जिनके द्वारा वह सामाजिक परिस्थितियों में उचित अनुक्रियाएँ कर सकता है और सामाजिक व्यवहार के सभी रूपों को अपना सकता है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। परन्तु समाज से पृथक उसकी सामाजिकता का कोई अस्तित्व नहीं है। समाज में ही वह अपनी जन्मजात् प्रवृत्तियों और योग्यताओं का समुचित विकास करता है। उसकी रुचियाँ, अभिरुचियाँ, आदतें और

---

1 "By social growth and development we mean the increasing ability to get along well with oneself and others." —Sorenson p. 50

अभिवृत्तियाँ, सामाजिक सम्पर्क से ही विकसित और परिपक्व होती हैं। आयु में वृद्धि के साथ-साथ जैसे-जैसे मानसिक और शारीरिक अभिवृद्धि होती है तदनुसार ही सामाजिक व्यवहार भी अधिक कुशलतापूर्ण और दृढ़ होता जाता है। सामाजिक परिपक्वता से व्यक्तित्व में भी निखार आता है।

समाज में रहकर बालक का व्यवहार भी परम्पराओं और सांस्कृतिक वातावरण से प्रभावित होता है। वह अपने व्यक्तित्व से दूसरों पर भी प्रभाव डालता है और दूसरों के व्यक्तित्व का प्रभाव स्वयं भी ग्रहण करता है। मानव शिशु जन्म से ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए माता-पिता एवं समाज पर निर्भर रहता है। बालक की मानसिक, शारीरिक एवं संवेगात्मक अभिवृद्धि के साथ-साथ ही उसकी आवश्यकताओं में भी वृद्धि होती जाती है। समाज में वह आनन्द का अनुभव करता है और अकेलेपन से दूर भागता है। जन्म के कुछ महीने उपरान्त ही शिशु में सामाजिक चेतना दिखाई पड़ने लगती है। परिचित मुखाकृति को देखकर वह मुस्कराने लगता है। कुछ दिनों पश्चात् वह सामाजिक उद्दीपकों के प्रति भी सचेत होकर प्रतिक्रिया करना सीख लेता है। वह अपने खेल के साथियों की आवाज पहचान कर उचित प्रतिक्रिया करता है। सामाजिक प्रतिक्रियाएँ करने के ढंग वह अपने वातावरण के व्यक्तियों का अनुकरण करके ही सीखता है। इस प्रकार धीरे-धीरे उसके व्यवहार का सामाजीकरण होता रहता है। इस प्रक्रिया में भाषा का विशेष महत्व रहता है। वह भाषा द्वारा (बोलकर, सुनकर, पढ़कर या लिखकर) ही अपने सामाजिक सम्पर्क को अधिक विस्तृत, व्यापक और स्थायी बनाता है। भाषा सम्बन्धी कठिनाइयों से ग्रस्त बालक का सामाजीकरण भी विलम्ब से ही होता है। बालक के बाल्यकालीन खेल भी व्यवहार का सामाजीकरण करने में विशेष योग देते हैं।

सामाजीकरण की प्रक्रिया (Process of Socialization)

शैशवकालीन विकास

बालक लगभग तीन माह की आयु में चिल्लाकर, मुस्कराकर या आँखें घुमाकर सामाजिक प्रतिक्रियाएँ करने लगता है। इससे पहले प्रतिक्रियाएँ अर्थहीन होती हैं। लगभग छः मास का बालक परिचित और अपरिचित व्यक्तियों में भेद समझने लगता है और दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए शारीरिक प्रतिक्रियाएँ करता है। अपरिचित व्यक्ति के समक्ष वह सहम जाता है परन्तु परिचित व्यक्ति के समक्ष खेलता रहता है। दस या बारह माह की आयु का बालक 'टाटा' अथवा 'जै' करना और 'हाथ मिलाना' सीख लेता है। जो बालक भाषा जल्दी सीख जाते हैं वे सामाजिक परिपक्वता में भी अन्य बालकों की अपेक्षा अग्रणी रहते हैं।

हरलॉक के अनुसार शैशवकाल में सामाजिक विकासक्रम इस प्रकार रहता है—

प्रथम मास—शिशु साधारण ध्वनियों और मानव ध्वनियों (बोलियों) में अन्तर नहीं समझ पाता।

द्वितीय मास—शिशु मनुष्य की बोली तथा अन्य ध्वनियों में अन्तर पहचानता है। दूसरे व्यक्ति को अपने निकट देखकर मुस्कराता है।

तृतीय मास—वह अपनी माँ तथा अन्य व्यक्तियों के भेद को समझता है तथा माँ के दूर जाने पर रोता-चिल्लाता है।

चतुर्थ मास—अपने निकट आने वाले व्यक्ति को देखता है और जब उसके साथ कोई व्यक्ति खेल की क्रिया करता है तो वह हँसने लगता है।

पंचम मास—क्रोधपूर्ण और प्रेमपूर्ण व्यवहार का अन्तर समझता है और अपने ही शरीर से खेलता है।

षष्ठम मास—परिचित व्यक्तियों को पहचान कर उपयुक्त प्रतिक्रिया करता है और अपरिचित व्यक्ति के प्रति भय का भाव प्रदर्शित करता है।

अष्टम मास—मानव शब्दों और हाव-भाव का अनुसरण करने लगता है।

प्रथम वर्ष—आज्ञापालन करने लगता है तथा माता-पिता के साधारण निर्देशों को समझने भी लगता है।

द्वितीय वर्ष—प्रौढ़ों के साथ हँसता-बोलता और कार्य करता है और परिवार का एक सक्रिय सदस्य बन जाता है। खेलों में रुचि लेता है।

तृतीय वर्ष—वह घर के बाहर नवीन सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करता है किन्तु फिर भी उसका व्यवहार आत्मकेन्द्रित रहता है।

पंचम वर्ष—वह अपने खेल के समूह में रुचि लेता है। सामूहिक जीवन में अनुकूलन करता है। अपने खिलौने साथियों को दे सकता है और समूह के प्रतिमानों को ग्रहण करने की चेष्टा करता है।

उपरोक्त क्रम में आयु के अनुसार औसत बालक के विकास क्रम का वर्णन सामान्य रूप में ही किया गया है। व्यक्तिगत भेदों के अनुसार इसमें साधारण अन्तर भी हो सकते हैं।

प्रारम्भिक बाल्यकाल

इस काल में बालक अपनी ओर प्रौढ़ों का व्यक्तिगत ध्यान आकर्षित करना चाहता है। वह अपने व्यक्तित्व की ओर सचेत हो जाता है। वह अपनी अभिलाषाओं सफलताओं और असफलताओं को समझने लगता है। किन्तु साथ ही साथ सामूहिक खेलों में भी आनन्द लेने लगता है। शिशु-शिक्षालय में बालक शिक्षकों से माता-पिता के समान प्रेमपूर्ण व्यवहार की आशा करता है। यदि बालक पाठशाला में सुरक्षा के अभाव का अनुभव करता है तो पाठशाला में उसका मन नहीं लगता। तीन से छः वर्ष के बीच खेल में उसकी रुचि में उत्तरोत्तर ही वृद्धि होती जाती है। वह क्रोध करना, छीना-झपटी करना और द्वेषवश रोने-चिल्लाने की प्रतिक्रियाएँ भी करता है। खेल में वह अधिकाधिक अनुकरण करता है। उसके खेलों में सांस्कृतिक वातावरण की छाप होती है। खेल की क्रिया में वह अपने संवेगों पर नियन्त्रण करना सीखता है। खेल द्वारा उसमें त्याग और सहयोग की भावना जाग्रत होती है।

बाल्यकाल

इस काल में बालक अपने व्यवहार और आचरण की सामाजिक स्वीकृति चाहता है। उसकी रुचियों, आवश्यकताओं और प्रेरणाओं का विकास होता है। उसकी अनेक प्रतिक्रियाएँ असंगत जान पड़ती हैं। लिंगभेद के अनुसार उसके खेलों का संगठन होता है। किसी प्रकार का नियन्त्रण या प्रभुत्व उसे अप्रिय लगता है।

यह अपने साथियों को तथा प्रौढ़ों को चिढ़ाता है। उसके खेलों में प्रतियोगिता, सहयोग तथा स्पर्धा की भावनाएँ होती हैं। इस आयु में बालक अपने मित्र बनाते हैं। उनके मित्रों का एक समूह या मडली होती है और कक्षा के बालक प्रायः अपनी-अपनी मडली के साथ ही रहते हैं। हरलॉक के अनुसार "टोली बालक मे आत्म-नियन्त्रण, साहस, न्याय, सहनशीलता, नेता के प्रति भक्ति, दूसरो के प्रति सद्भावना आदि गुणों का विकास करती है।" वह अपने दल के लिए सदैव विजय की कामना करता है। इस आयु में कुछ बालक ऐसे भी होते हैं जिनमें सामाजिक भावना जाग्रत नही होती और वे व्यक्तिगत कार्यों को अधिक महत्व देते हैं। इस काल में विधायकता की प्रवृत्ति भी प्रबल होती है। स्कूली वातावरण में एक कुशल शिक्षक इस प्रवृत्ति का सुन्दर उपयोग कर सकता है। छात्र-छात्राओं में शौक तथा रुचियो (Hobbies) का विकास होता है। लड़के तथा लड़कियो की कार्यात्मक रुचियों मे विशेष अन्तर आ जाता है। लड़के कहानी, उपन्यास तथा जीवनियाँ पढ़ते हैं तथा घर से बाहर टोली में कार्य करते हैं। लड़कियाँ घरेलू कार्यों में रुचि लेती हैं और गाने-बजाने, सीने-पिरोने आदि कार्यों में समय व्यतीत करती हैं।

इस अवस्था में बालक विपरीत लिंगियों के प्रति आकर्षित होने लगते हैं। विपरीत लिंगियों में उनकी रुचि बढ़ जाती है। लिंग भेद के अनुसार वे नई रुचियों (Hobbies) की ओर आकर्षित होते हैं :

किशोरावस्था

कुशाग्रबुद्धि बालक में रुचियों का विस्तार अधिक होता है। हमारे देश की सांस्कृतिक परम्परा के कारण किशोर बालक-बालिकाएँ एक दूसरे से स्वतन्त्रता से मिल-जुल नही सकते। अतः उनके समूह समलिंगी होते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि विषम लिंगियों के प्रति उनकी जिज्ञासा और रुचि समाप्त ही हो जाती है। उनमें भी लिंगीय चेतना का उदय होता है। किशोर बालक विषमलिंगीय सम्पर्क के अभाव को मानसिक कल्पनाओं द्वारा पूरा करने का प्रयत्न करता है। इससे अनेक मानसिक जटिलताएँ भी उत्पन्न हो जाती हैं।

किशोर तथा किशोरियाँ एक दूसरे की ओर अत्यधिक आकर्षित होते हैं। वे सुन्दर वेशभूषा और सजधज के साथ घर से बाहर निकलते है। उनके मन में भ्रमण, पिकनिक, नृत्य-संगीत समारोह आदि मे भाग लेने की बड़ी उमग रहती है। उनमें अपने समूह के प्रति विशेष लगाव भी उत्पन्न हो जाता है और वे समूह की बातें श्रद्धेय-भाव से ग्रहण करते हैं। वे अपने समूह के विचार, व्यवहार के ढग, आदतें आदि सीखते हैं। समूह मे रहकर नेतृत्व, सहानुभूति, सद्भावना, उत्साह, तर्क-वितर्क, योजना बनाना आदि बातें सीखते हैं। समूह के प्रति अत्यधिक श्रद्धा के कारण ही माता-पिता से भी सघर्ष उत्पन्न हो जाता है और छोटे से मतभेद भी कभी-कभी विद्रोह का रूप धारण कर लेते हैं। विद्यालय के सामूहिक जीवन मे भविष्य की ओर उनका ध्यान आकर्षित होता है और वे समाज मे अपना स्थान, धनप्राप्ति, प्रेम तथा विवाह, शैक्षिक प्रगति आदि समस्याओं के बारे मे चिन्ताग्रस्त रहने लगते हैं। उन्हें अपने भावी जीवन के व्यवसाय और उस पर आधारित

सफलता-असफलता की चिन्ता रहती है और तदनुसार ही वह सोच-विचार में भी ग्रस्त रहते हैं।

सामाजिक विकास को प्रभावित करने वाले कारक
(Factors Influencing Social Development)

शैशवावस्था, वाल्यकाल एवं किशोरावस्था में होने वाले सामाजिक विकास का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। इस सन्दर्भ में सामाजिक विकास को प्रभावित करने वाले कुछ तत्वों का उल्लेख भी किया जा चुका है। बालक के सामाजिक विकास पर वातावरण में विद्यमान अनेक संस्थाओं, व्यक्तियों और वस्तुओं का सम्मिलित प्रभाव होता है। लेकिन विकास, अंदर से वाहर की ओर होने वाली एक प्रक्रिया है, जोकि वहुत कुछ वालक की आंतरिक मानसिक दशाओं से भी प्रभावित होती है। समाज उसकी जन्मजात आवश्यकता है क्योंकि वह एक सामाजिक प्राणी है। प्रत्येक वच्चे के मन में अपने क्रिया-कलापों पर सामाजिक स्वीकृति प्राप्त करने की आकांक्षा रहती है, जिसके कारण ही वह अपने भाव और व्यवहार को सामाजिक स्वीकृति के अनुसार ही वनाता है। दूसरी आकांक्षा सामाजिक प्रसिद्धि प्राप्त करने की है, जिसके कारण सामाजिक निन्दा का भय उसके मन में बना रहता है और उन क्रियाओं को करने में उसे संकोच का अनुभव होता है जिनकी समाज निन्दा करता है। सामाजिक प्रसिद्धि की अभिलाषा उसके अन्दर नेतृत्व सम्बन्धी गुणों का भी विकास करती है। ऐसा वालक सामूहिक कार्यक्रमों में उत्साहपूर्वक सहर्ष भाग लेता है। सामाजिक नेतृत्व की सफलता अनेक कारणों पर निर्भर होती है, जैसे—वालक का सौन्दर्य, कद विवेक, उदारता, वुद्धि, स्वास्थ्य, स्फूर्ति आदि।

वाह्य परिस्थितियों में उसके सामाजिक विकास को प्रभावित करने वाले कारक हैं—सांस्कृतिक वातावरण तथा आर्थिक दशा। विद्यालय का सामाजिक वातावरण तथा सामूहिक कार्यक्रम भी उसके सामाजिक विकास को प्रभावित करते हैं। संक्षेप में सामाजिक विकास को प्रभावित करने वाले मुख्य कारक निम्नांकित हैं :—

1. वंशानुक्रम का प्रभाव।
2. वालक की शारीरिक दशा एवं स्वास्थ्य का प्रभाव।
3. घरेलू वातावरण, पालन-पोषण, रीतिरिवाज तथा आर्थिक दशा का प्रभाव।
4. धार्मिक संस्थाओं का प्रभाव।
5. मित्र मण्डली तथा खेल के साथियों का प्रभाव।
6. क्लव, समितियों तथा अन्य सामाजिक संस्थाओं का प्रभाव।
7. भाषा एवं साहित्यिक गतिविधियों का प्रभाव।
8. सिनेमा, नाटक, रेडियो, टेलीविजन तथा आमोद-प्रमोद के अन्य साधनों का प्रभाव।
9. प्रेस एवं अन्य प्रचार कार्यों का प्रभाव।
10. शिक्षण संस्थाओं का प्रभाव।

11. राष्ट्रीय उत्सवों, आन्दोलनों एवं शासन पद्धति का प्रभाव।
12. खेल और स्वतन्त्रता का प्रभाव।
13. शिक्षा के अनौपचारिक साधनो का प्रभाव।
14. सामाजिक प्रतियोगिताओं का प्रभाव।
15. शिक्षकों का प्रभाव।

संवेगात्मक, सामाजिक, लिंग सम्बन्धी तथा शारीरिक परिपक्वता एवं अपरिपक्वता को संक्षेप में निम्नलिखित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है।

	अपरिपक्वता	परिपक्वता
संवेगात्मक	मूल प्रवृत्यात्मक, अवरोधहीन, शीघ्र क्षुब्ध, जल्दी चिल्लाने वाला, भयभीत, चिन्तित, सभी अनुभूतियों को पूर्ण शक्ति से प्रकाशित करना, शीघ्र क्रोधित होना, असहनशीलता, अक्रमिक व्यवहार, आलोचना से शीघ्र ही दुःखी होना।	व्यवहार पर नियन्त्रण, लक्ष्य की ओर प्रेरित होना, अनावश्यक चिन्ता से बचना, अपनी अनुभूति को संयमित रूप में व्यक्त करना, दूसरों के प्रति प्रतिक्रिया में व्यवस्थात्मक होना, रचनात्मक आलोचना का आदर करना।
सामाजिक	लज्जाशील होना, खिचा-खिचा रहना, समूह से दूर रहना, आत्मकेन्द्रित होना, दूसरों के कार्य में सहयोग देने में असमर्थ होना, अपनी आवश्यकता की पूर्ति को महत्व देना, सामाजिक समूहों के प्रति पूर्वाग्रह से पूर्ण होना, समूह के प्रति आत्म-समर्पण करना।	समूह के लक्ष्य और उसके मूल्य को समझना और स्वीकार करना, समूह के साथ प्रभावपूर्ण ढग से कार्य करना, बिना दूसरो को प्रभावित किये हुए समूह में अपना व्यक्तित्व बनाए रखना, उत्तरदायित्व का निर्वाह करना।
लिंग सम्बन्धी	प्रजनन शक्ति की असमर्थता, विपरीत लिंग के प्रति विरोधी भाव, प्रेम सम्बन्धी क्रिया के प्रति संकीर्णता, कपटी अथवा पाखण्डी काम के प्रति रुचि का अभाव, शरीर की बनावट मे बालकपन की की विशेषता।	प्रजनन शक्ति की समर्थता, विपरीत लिंग से मित्रता करने की समर्थता, अकेले व्यक्ति के साथ रहने में आनन्द का अनुभव, काम सम्बन्धी क्रियाओं मे रुचि, शरीर के विकास पर लिंग का प्रभाव युवापन की झलक।

शारीरिक	पाखाने-पेशाब की क्रिया पर नियन्त्रण का अभाव, अस्थिपंजर का अपूर्ण विकास, पेशियों से सम्बन्धित जटिल क्रियाओं के सीखने की असमर्थता, बौद्धिक विकास की अपूर्णता।	शारीरिक क्रियाओं पर नियन्त्रण, शरीर की समुचित वृद्धि, पेशीय तथा अन्य विकास एवं क्रियाओं का समन्वित होना। पूर्ण बौद्धिक विकास।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. सामाजीकरण की प्रक्रिया से आप क्या समझते हैं? शैशवकालीन तथा बाल्यकालीन सामाजीकरण का वर्णन कीजिये।
2. शैशवावस्था, बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था में सामाजिक विकास की विशेषतायें बताइये और सामाजिक विकास को प्रभावित करने वाले कारकों का उल्लेख कीजिये।

मानसिक विकास
(MENTAL DEVELOPMENT)

बौद्धिक योग्यताएँ

मानसिक विकास से हमारा तात्पर्य बालकों के बौद्धिक विकास से है। बुद्धिमत्ता (Intelligence) की चर्चा आगे पृथक अध्याय में की जायगी। यहाँ हम मानसिक विकास के अन्तर्गत उन मानसिक योग्यताओं (शक्तियों) पर विचार करेंगे जो बालक के मानसिक विकास मे महत्वपूर्ण कार्य करती हैं। इन शक्तियों अथवा योग्यताओं (Abilities) के नाम क्रमानुसार इस प्रकार हैं—

1. समझने की शक्ति (Ability to Understand)
2. स्मरण करने की शक्ति (Ability to Remember)
3. ध्यान देने या केंद्रित करने की योग्यता (Ability to Pay Attention and to Concentrate)
4. तर्क करने की योग्यता (Ability to Argue or to give Reasons)
5. निर्णय करने की योग्यता (Ability to Judge)
6. कल्पना करने की क्षमता (Capacity to Imagine)
7. नैतिकता की क्षमता (Moral Capacity)
8. प्रत्यय ज्ञान की क्षमता (Capacity for Concept Formation)
9. निरीक्षण करने की योग्यता (Ability to Observe)
10. भाषा योग्यताएँ (Language Abilities)

मानसिक विकास के अध्ययन की आवश्यकता
(Need to Study Mental Development)

उपरोक्त मानसिक क्षमताओं, शक्तियो एव योग्यताओं पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि बालक के मानसिक विकास का अध्ययन एक अध्यापक की दृष्टि से कितना आवश्यक है। बालक की सम्पूर्ण शैक्षिक प्रगति इन्ही योग्यताओ की अभिवृद्धि पर ही निर्भर करती है। व्यवस्थित शिक्षा द्वारा ही इन योग्यताओ को व्यवहार में लाकर अधिक प्रबल एव तीक्ष्ण बनाया जाता है। अतः प्रत्येक अध्यापक के लिए इस बात का ज्ञान होना अति आवश्यक है कि विकास की किन अवस्थाओ में कौन सी मानसिक योग्यताएँ कितनी विकसित हो जाती हैं, जिससे कि वह शिक्षण के कार्यक्रम को उनके अनुकूल बना सके। बालक के मानसिक क्षिति

विस्तार मानसिक अभिवृद्धि तथा शैक्षिक प्रयत्नों का सम्मिलित परिणाम होता है। अध्यापक को बालक की तीव्र गति से बढ़ती हुई मानसिक योग्यताओं को अविलम्ब पहचान कर शिक्षा में उनका सही रूप से उपयोग करना आवश्यक है। आज मानव ज्ञान इतना अधिक विस्तृत हो चुका है कि कोई भी व्यक्ति जीवन भर लगकर भी उस पर अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता है। शिक्षा की सफलता इस बात पर ही निर्भर करती है कि बालक की बढ़ती हुई मानसिक योग्यताओं को किस प्रकार के ज्ञान तथा अनुभव से समृद्ध बनाया जाये कि वह मानवता के बौद्धिक विकास में अपना योगदान दे सके। सोरेन्सन के शब्दों में—एक अध्यापक "शैक्षिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से मानसिक विकास के क्रम के ज्ञान को लाभदायक रूप से प्रयोग में ला सकता है। वह पाठ्यक्रम और शिक्षण को भी छात्र की सीखने की योग्यताओं अथवा मानसिक क्षमताओं के अनुकूल बना सकता है।"[1]

मानवशिशु का मस्तिष्क जन्म के समय पूरी तरह अविकसित होता है। मानसिक विकास की प्रक्रिया जीवनपर्यंन्त चलती रहती है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार, विभिन्न योग्यताओं का विकास जीवन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में होता है। इन योग्यताओं के चरम विकास की अवस्थाएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। उदाहरण के लिए निरीक्षण करने एवं स्मरण करने की योग्यताएँ 5 तथा 15 वर्ष के बालक में भिन्न-भिन्न स्तर की होती हैं। सामान्य मानसिक वृद्धि पहले पाँच वर्षों में सबसे अधिक तीव्र गति से होती है और फिर 5 से 10 वर्ष के बीच में कुछ मानसिक योग्यताओं में आयु की वृद्धि के साथ-साथ ही मंदता आ जाती है परन्तु उनके परिणामस्वरूप प्राप्त की गई समझदारी और विवेक कम नहीं होता। यही कारण है कि मानसिक योग्यताओं के मंद होने पर भी प्रौढ़ लोगों का व्यवहार बुद्धिमत्तापूर्ण बना रहता है। मानसिक अभिवृद्धि केवल योग्यताओं और क्षमताओं की वृद्धि मात्र नहीं है। वास्तव में मानसिक विकास की प्रक्रिया अधिक उलझी हुई प्रकिया है। एक समय में एक से अधिक योग्यताओं की वृद्धि होती है। ये योग्यताएँ एक दूसरे से प्रभावित होती हैं। इनके विकास एवं परिपक्वता पर भी सीखने की प्रक्रिया का प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ—भाषा सीखने के अवसर तथा भाषा-ज्ञान, बालक की प्रारम्भिक मानसिक अभिवृद्धि को अधिक प्रभावित करते हैं। स्किनर (Skinner) द्वारा सम्पादित शिक्षा मनोविज्ञान में गैरिसन (Garrison) के अनुसार "पाठशाला जाने से पहले बच्चों में भाषा ज्ञान का विकास भी विकास के अन्य पहलुओं के लाक्षणिक सिद्धान्तों के अनुसार ही होता है। यह विकास की परिपक्वता तथा अधिगम (सीखना) दोनों ही के परिणामस्वरूप होता है। इसमें नई अनुक्रियाएँ सीखी जाती हैं और पहले की सीखी हुई अनुक्रियाओं का परिष्कार भी करना होता है।"

मानसिक विकास की प्रक्रिया (Process of Mental Development)

---

1 "Psychologically and educationally, a knowledge of the course of mental growth can be used to advantage by the teacher, the curriculum and teaching can be adjusted to the learning ability and mental capacity of the pupil." —Sorenson p. 45.

शैशवावस्था में मानसिक विकास
(Mental Development in Infancy)

जन्म के समय शिशु की मानसिक शक्तियाँ पूर्ण रूप से अविकसित होती हैं। आयु और अनुभव में वृद्धि के साथ ही शिशु प्रतिदिन, प्रतिमास और प्रतिवर्ष नवीन मानसिक शक्तियाँ प्राप्त करता जाता है। जन्म से लेकर पाँच वर्ष की आयु तक के क्रमिक विकास का वर्णन इस प्रकार है—

जन्म से प्रथम सप्ताह तक—जॉन लॉक के अनुसार नवजात् शिशु का मस्तिष्क एक कोरे कागज के समान होता है जिस पर अनुभव द्वारा लिखा जाता है। उसका सम्पूर्ण व्यवहार मूल प्रवृत्यात्मक होता है। किन्तु शिशु कुछ अनैच्छिक एवं स्वचालित क्रियाएँ भी करता है, जैसे—रुदन, छींक लेना, दूध-पीना, हिचकी लेना, चौंकना आदि। वह सर्दी-गर्मी, प्रकाश, भूख, प्यास तथा पीड़ा के प्रति संवेदनशील भी होता है।

द्वितीय सप्ताह—वह तेज रोशनी, चमकीली वस्तु तथा बड़े आकार की वस्तुओं पर भी ध्यान देता है।

प्रथम मास—भूख लगने पर अथवा शारीरिक पीड़ा की अवस्था में माँ का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए चिल्लाता है, रुदन करता है या अन्य शारीरिक क्रियाएँ करता है। किसी वस्तु के सामने आने पर उसकी ओर हाथ बढ़ाता है और पकड़ने की चेष्टा करता है। दीपक अथवा अन्य किसी प्रकाश की ओर टकटकी लगाकर देखता है।

द्वितीय मास—जिस ओर से ध्वनि आती है उस ओर सिर घुमाता है। वस्तुओं को अधिक ध्यान से देखता है। स्वरों की ध्वनियाँ उत्पन्न करता है।

चतुर्थ मास—स्वरों के अतिरिक्त व्यंजन ध्वनियाँ भी उत्पन्न कर सकता है। वस्तु के सामने आने पर दोनों हाथों से उसे पकड़ने की चेष्टा करता है। खिलौना इधर-उधर हो जाने पर उसे खोजने का प्रयत्न करता है। उसकी स्मृति बहुत छोटी और साधारण होती है।

षष्ठम मास—शिशु ध्वनियों तथा शब्दों का अनुकरण करता है। वह स्वर तथा व्यंजन मिलाकर शब्द बोलने का प्रयत्न करता है जैसे भा, बा, मा। अपने नाम के संबोधन को समझता है। अपने नाम के पुकारे जाने पर उसी ओर ध्यान देता है। वह प्रेमपूर्ण तथा क्रोधपूर्ण व्यवहार में अन्तर समझने लगता है।

अष्टम मास—वह खिलौने आदि के चयन में अपनी पसन्द व्यक्त करता है। दूसरे बच्चों के साथ खेलने में आनन्दित होता है। तुतलाना पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है और तुतलाने के स्थान पर वास्तविक भाषा सीखने लगता है।

दशम मास—शिशु अनेक प्रकार की ध्वनियों तथा शब्दोच्चारणों का कुछ सफलता के साथ अनुकरण करता है। वह खेल में दूसरे शिशुओं की क्रियाओं का अनुकरण भी करता है। खेल में सहयोग, विरोध, प्रसन्नता, रुष्टता आदि का प्रकाशन भी करता है।

प्रथम वर्ष—शिशु चार-पाँच शब्द सफलता से बोल सकता है। वह परिवार के

अन्य व्यक्तियों के अनेक कार्यों का भी अनुकरण करने लगता है। वह अपनी पसन्द या रुचि की वस्तुओं को खोज लेता है।

द्वितीय वर्ष—शिशु दो या तीन शब्दों के वाक्य बनाने लगता है। दूसरे वर्ष के अन्त तक उसका शब्द भंडार लगभग 125 शब्दों का हो जाता है। वह साधारण स्तर के तर्क भी उपस्थित करता है। वह बहुत सी बातों का अनुकरण करने में भी सफल हो जाता है।

तृतीय वर्ष—पूछने पर शिशु अपना नाम बता सकता है। वह दूसरे बच्चों या व्यक्तियों के नाम भी जान जाता है। वह हाथ में कोई पेन्सिल आदि पकड़कर छोटी बड़ी रेखाएँ भूमि या कागज पर खींच सकता है। लगभग पूरे वाक्य बोलता है।

चतुर्थ वर्ष—चार-पाँच अंकों तक गिन सकता है। वह अक्षर बनाना सीख सकता है। वस्तुओं के परिमाण को समझने लगता है। पुस्तकों में वर्णमाला के चित्र उसे याद हो जाते हैं।

पंचम वर्ष—शिशु गोरे-काले, हल्की-भारी और रंग-विरंगी वस्तुओं में अन्तर समझने लगता है। इस आयु में वह संयुक्त और जटिल वाक्य भी बोल सकता है।

उपरोक्त क्रमिक वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि शिशु के मानसिक विकास के महत्वपूर्ण पहलू हैं—शब्द, भाषा, लिखना तथा अंक ज्ञान आदि की वृद्धि। इनका सीखने और शैक्षिक प्रगति से भी सीधा सम्बन्ध रहता है। मानसिक अभिवृद्धि का मूल्यांकन, सामान्य बुद्धि तथा शिशुओं के लिए निर्मित की गई विशेष परीक्षाओं द्वारा होता है। इन परीक्षाओं के आधार पर अर्नाल्ड गैसिल तथा कैटिल ने जन्म से लेकर प्रौढ़ावस्था तक मानसिक वृद्धि वक्र (Mental Growth Curves) प्रस्तुत किए हैं। इनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि मानसिक विकास की गति शैशवकाल में सबसे तीव्र रहती है परन्तु बाल्यकाल में साधारण और किशोरावस्था में धीमी हो जाती है। लेकिन इन परीक्षाओं द्वारा प्रतिवर्ष मापी गई बुद्धिलब्धि (I. Q.) लगभग समान ही रहती है।

बाल्यावस्था में मानसिक विकास
(Mental Development in Childhood)

षष्ठम वर्ष—क्रो तथा क्रो के अनुसार छठवें वर्ष के अंत तक बालक की मानसिक योग्यताओं का पूर्ण विकास हो जाता है। वह बिना किसी हिचकिचाहट के 10 से 15 तक गिनती याद कर सकता है और सुना भी सकता है। वह अपने शरीर के मुख्य अंगों के नाम भी बता सकता है। वह चित्रों का निरीक्षण करके भी अनेक प्रश्नों का उत्तर दे सकता है।

सप्तम वर्ष—बालक वस्तुओं के सम्बन्ध (समानता तथा असमानता) को समझने लगता है। स्वयं देखी हुई घटनाओं का भी वर्णन कर सकता है। साधारण समस्याओं का समाधान खोज सकता है।

अष्टम वर्ष—इस आयु में बालक छोटी-छोटी कविताएँ याद कर लेता है और उन्हें दोहराता रहता है। कहानी कहने और सुनने में भी उसकी रुचि उत्पन्न हो जाती

है। 15-16 शब्दों तक के वाक्यों को भी वह बिना त्रुटि के दोहरा सकता है और सामान्य प्रश्नों के भी उत्तर दे सकता है। दैनिक समस्याओं को हल कर सकता है।

नवम वर्ष—बालक को सिक्कों का ज्ञान हो जाता है और वह उनके तुलनात्मक मूल्य को भी समझता है। उसे समय का ज्ञान रहता है अर्थात किसी कार्य में शीघ्रता अथवा विलम्ब होने पर वह इसे व्यक्त करता है। उसे तिथियों, सप्ताह के दिन, महीने, वर्ष आदि का भी ज्ञान हो जाता है। इस आयु में वह फिल्म, नाटक आदि देखकर उनके कथानक का वर्णन भी कर सकता है। परी कथाओं में रुचि लेता है और तारंगिक कल्पनाओं में लीन रहता है।

दशम वर्ष—दस वर्ष की आयु प्राप्त करने पर बाल-कहानियाँ और कविताएँ याद करके उन्हें सुना सकता है। उसका शब्द ज्ञान भी व्यापक होने लगता है और वह तेजी से विविध प्रकार की शब्दावली का प्रयोग करता है। अब उसे सामान्य नियमों, पारिवारिक प्रथाओं, सामाजिक परम्पराओं, तथा विद्यालय की कार्य प्रणाली का भी ज्ञान होने लगता है।

एकादश वर्ष—अब बालक की निरीक्षण शक्ति भी तीव्र हो जाती है। वह अच्छा तर्क भी उपस्थित कर सकता है। बालक अपनी जिज्ञासा को शांत करने के लिए अनुभव प्राप्त करता है एवं अध्ययन भी करता है। वह अपने आस-पास के के वातावरण में पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, कल-पुर्जे, यातायात के साधन, कारखाने आदि का भी निरीक्षण करता है और उनके प्रभावों को समझने का प्रयत्न करता है।

द्वादश वर्ष—इस आयु में बालक में समस्या को हल करने, तर्क करने और सम्बन्ध देखने की शक्तियों का भी अधिक विकास हो जाता है। वह कठिन शब्दों का अर्थ ग्रहण करने में रुचि रखता है। स्वयं देखी हुई किसी फिल्म अथवा घटना की लगभग तीन-चौथाई बातें दोहरा सकता है।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि बाल्यकाल में निरीक्षण, अनुभव तथा सीखने के आधार पर बालक के प्रत्यक्ष ज्ञान (Percepts) तथा प्रत्यय ज्ञान (Concepts) का निरंतर विकास होता है। बाल्यकाल तक नीचे लिखी समझ या अवबोध शक्तियों (Powers of Understanding) का विकास होता है जोकि मानसिक विकास का महत्वपूर्ण अंग है—

(1) समय की समझ—जब शिशु या बालक कुछ समय पूर्व घटित घटनाओं को याद रखने लगता है तो वह पूर्व घटना और वर्तमान की स्थिति में अंतर समझ जाता है और उसे समय का ज्ञान होने लगता है।

(2) स्थान की समझ—जब बालक किसी वस्तु का नाम लेने पर उस कमरे या स्थान पर पहुँच जाता है, जहाँ पर वह रखी हुई है तो उसे स्थान की समझ उत्पन्न हो जाती है। वह कुछ वस्तुओं तथा व्यक्तियों को किसी स्थान विशेष से सम्बन्धित भी कर लेता है।

(3) संख्या बोध—जब बच्चा खिलौने से खेलने लगता है तो उसे एक-2 या तीन खिलौनों का अन्तर समझ में आने लगता है और उनमें से किसी खिर

के कम होने पर वह वह उसकी माँग करता है। वह उँगलियों के संकेत से भी एक-दो या तीन का अन्तर समझ लेता है।

(4) **भार या तौल का बोध**—यह समझ 6-7 वर्ष की आयु में अच्छी तरह आ जाती है।

(5) **आकार और स्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान**—बालक में इस प्रकार के ज्ञान का विकास भाषा विकास से ही सम्बन्धित रहता है। आकृतियों में भेद तो वह बहुत पहले से ही समझने लगता है। परन्तु उसकी अभिव्यक्ति भाषा विकास के साथ ही प्राप्त होती है। शब्द भण्डार में वृद्धि होने के साथ ही वह गोल, चौकोर, तिकोना आदि शब्दों के प्रयोग से वस्तुओं की विशेषता बताता है।

(6) **सौन्दर्यानुभूति या सौन्दर्य प्रत्यय का विकास**—बालक में इस विकास का उदय कुछ विलम्ब से होता है। प्रारम्भ से ही वह रंग-बिरंगी, सुन्दर और आकर्षक वस्तुओं की ओर अधिक ध्यान देता है। परन्तु सौन्दर्य सम्बन्धी प्रत्यय ज्ञान और उसकी अभिव्यक्ति परिवार के सांस्कृतिक वातावरण पर ही निर्भर करती है। आयु, परिपक्वता और बुद्धिमत्ता का स्तर भी सौन्दर्य प्रत्यय विकास को प्रभावित करते हैं।

(7) **नैतिकता का बोध**—बालक की नैतिकता, माता-पिता तथा परिवार के नैतिक स्तर से ही प्रभावित होती है। प्रारम्भिक नैतिक मूल्य परिवार की ही देन होते हैं। तदुपरान्त आगे चलकर बालक की नैतिकता पर समाज और वातावरण का प्रभाव पड़ता है।

(8) **निर्णय योग्यता का विकास**—इस योग्यता का विकास तर्क करने की क्षमता के साथ ही होता है। दो वर्ष की आयु प्राप्त करने पर बालक माता-पिता से हास्यास्पद तर्क करता है। तीन वर्ष का बालक अपने वाक्यों में मानसिक निर्णय का प्रकाशन भी करता है—जैसे, "मैं भी खेलूंगा", "मैं नहीं लेटूंगा" अथवा "मैं वहाँ नहीं जाऊँगा" आदि।

किशोरावस्था में मानसिक विकास
(Mental Development in Adolescence)

किशोरावस्था में मानसिक विकास की निम्नांकित मुख्य विशेषताएं होती हैं :—

(1) **कल्पना शक्ति का विकास**—किशोरावस्था में कल्पना शक्ति में तीव्र गति से वृद्धि होती है और अनेकों किशोर तथा किशोरियाँ कल्पना जगत् अथवा दिवा स्वप्नों में विचरण करते रहते हैं। किशोर तथा किशोरियों में इस शक्ति का विकास होने पर उनको कविता, कहानी, चित्रकला आदि के माध्यम से अपनी कल्पनाओं का प्रकाशन करने की प्रेरणा मिलती है। किशोर उन नवीन शब्दों की खोज करता है जोकि सौन्दर्य तथा भावनाओं को व्यक्त करते हैं।

(2) **शब्द ज्ञान में वृद्धि**—इस आयु में भाषा ज्ञान तथा शब्द भण्डार में तीव्र गति से वृद्धि होती है। भाव-व्यक्त करने के लिए उसकी बोली में नाटकीयता भी उत्पन्न हो जाती है। कुछ किशोर अपनी प्रतीकात्मक भाषा (गुप्त भाषा) बनाने की धुन में भी रहते हैं।

(3) बुद्धि का चरम विकास—अनेक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार किशोर में बुद्धि का अधिकतम विकास 14 से 16 वर्ष की आयु में पूरा होता है। वह दैनिक समस्याओं का समाधान अधिक कुशलता से खोज सकता है क्योंकि उसके सोचने-विचारने की मानसिक शक्तियाँ पूर्ण रूप से विकसित हो जाती हैं।

(4) अवधान केन्द्रित करने की क्षमता—बालक की अपेक्षा किशोर किसी भी कठिन विषय पर अधिक समय तक ध्यान केन्द्रित कर सकता है। वह साहित्य, गणित तथा विज्ञान का अध्ययन भी भलीभाँति कर सकता है।

(5) चिन्तन एवं तर्कशक्ति का विकास—वह किसी भी सामाजिक एवं आर्थिक समस्या पर चिन्तन एवं तर्क कर सकता है। भाषण या वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में अपने विचार तथा तर्कों को संगठित रूप से प्रस्तुत कर सकता है।

(6) रुचियों में विविधता—किशोर तथा किशोरियों की रुचियों का क्षेत्र व्यापक हो जाता है—जैसे—व्यायाम, सिनेमा, प्रेम-साहित्य, संगीत, चित्रकला, भ्रमण, धार्मिक रुचियाँ तथा व्यवसाय आदि में उसकी रुचि उत्पन्न हो जाती है। रुचियों के अनुसार वह विशिष्ट ज्ञान भी एकत्रित करता है।

(7) चतुराई और कौशल का विकास—किशोर मानसिक और शारीरिक दृष्टि से भी अधिक चुस्त, सशक्त तथा फुर्तीला होता है। अतएव वह ऐसे नवीन कार्य सरलता से ही सीख लेता है जिनमें चतुराई अथवा कौशल की आवश्यकता होती है, जैसे—मशीनों का उपयोग, दैनिक जीवन में वैज्ञानिक उपकरणों का प्रयोग, हस्त-कौशल, घुड़सवारी तथा स्कूटर चलाना आदि।

मानसिक विकास को प्रभावित करने वाले कारक
(Factors Influencing Mental Development)

(1) शारीरिक स्वास्थ्य—एक पुरानी कहावत है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क निवास करता है।

(2) पारिवारिक दशाएँ—परिवार का आर्थिक तथा सामाजिक स्तर एवं माता-पिता का शैक्षिक स्तर और पालन-पोषण की विधि भी बालक के मानसिक विकास को पर्याप्त रूप से प्रभावित करते हैं। स्ट्रांग के अनुसार "उच्च सामाजिक स्थिति वाले परिवार के बच्चे बुद्धि की मौखिक और लिखित परीक्षाओं में भी निश्चित रूप से श्रेष्ठ होते हैं।"

(3) वंशानुक्रम—बालक में अनेक शारीरिक गुणों की भाँति मानसिक गुण भी वंशानुक्रम से ही प्राप्त होते हैं। वुडवर्थ के अनुसार वंशानुक्रम मानसिक विकास की सीमाएँ पहले से ही निश्चित कर देता है।

(4) उचित शिक्षा-व्यवस्था—मनोवैज्ञानिक खोजों के अनुसार माता-पिता की शिक्षा और बच्चों की मानसिक योग्यता में धनात्मक (Positive) सह-सम्बन्ध होता है अर्थात् शिक्षित माता-पिता प्रारम्भ से ही बालक की शिक्षा का प्रबन्ध करते हैं। परिवार के उपरान्त विद्यालय और अध्यापक विशेष रूप से के मानसिक विकास को प्रभावित करते हैं।

(5) **स्वतन्त्रता और अनुभव**—बालक का मानसिक विकास स्वतन्त्र वातावरण में प्राप्त किए गए अनुभवों से भी प्रभावित होता है। जिन बालकों को व्यक्तिगत् अनुभव करने से रोका जाता है तथा जिन पर कठोर नियन्त्रण रखा जाता है, उनकी अनेक मानसिक योग्यताएँ भी अविकसित ही रह जाती हैं।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. अध्यापकों को छात्रों के मानसिक विकास के अध्ययन की क्या आवश्यकता है? शैशवकालीन मानसिक विकास का क्रमिक वर्णन कीजिये।
2. मानसिक विकास के विभिन्न पहलुओं और मानसिक विकास को प्रभावित करने वाले कारकों का वर्णन कीजिए।

20

चारित्रिक विकास
(DEVELOPMENT OE CHARACTERS)

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चरित्र शब्द की परिभाषा और व्याख्या करना कठिन है, *क्योंकि मनोविज्ञान में 'चरित्र' का कोई प्रमाणित एवं सर्वमान्य अर्थ नहीं है।* साधारण बोल-चाल में भी चरित्र से हमारा संकेत भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में व्यक्ति के भिन्न-भिन्न गुणों से होता है। प्रायः चरित्रवान् व्यक्ति उसी को कहा जाता है, जिसमें कुछ प्रशंसनीय गुण विद्यमान हों। इसके विपरीत अप्रिय अर्थात निन्दात्मक गुणो वाले व्यक्ति को दुश्चरित्र अथवा चरित्रहीन कहा जाता है। 'बुरे चरित्र' के अन्तर्गत हम बुरी आदतों या गुणों की ओर सकेत करते हैं। 'राम-चरित-मानस' में भगवान श्री राम के सुन्दर गुणो एवं प्रशंसनीय कार्यों का ही वर्णन है। बालकों को भी घर तथा पाठशाला में चरित्रवान् व्यक्तियों के ही जीवन-चरित्र से परिचित कराया जाता है। इस प्रकार की चारित्रिक शिक्षा भी इसी उद्देश्य से दी जाती है कि बालक-बालिकाओं के मन पर भी इन महान् व्यक्तियों के नैतिक गुणों का प्रभाव पड़े। तो क्या नैतिक गुणों का योग ही चरित्र कहा जा सकता है?

चरित्र की परिभाषा
(Definition of Character)

वास्तव मे चरित्र को नैतिकता से सम्बन्धित कर देने से चरित्र शब्द का अर्थ बहुत ही सीमित हो जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चरित्र, व्यक्ति का आन्तरिक मानसिक संगठन है। स्किनर द्वारा सपादित "शिक्षा मनोविज्ञान" की पुस्तक में पॉवर्स ने चरित्र को परिभाषा इस प्रकार की है :—"चरित्र को बाह्य तथा आन्तरिक व्यवहार की एक सुनियोजित दिशा कहा जा सकता है यह सामाजिक विकास को प्रभावित करने वाली विकासशील क्रियाओं का स्थायी फल है।"[1]

कारमाइकेल के अनुसार "चरित्र एक गतिशील धारणा है। यह व्यक्ति के दृष्टिकोणों और व्यवहार की विधियो का पूर्ण योग है।"[2]

---

1 Character can be defined as consistent conduct trends, outer and inner ... character is the deepest and most lasting result of the progressive activity that leads to social growth." —Powers

2 "Character is a dynamic process. It is the sum total of the attitude overt ways of behaviour of the individual" —Charmicher'

कुछ मनोवैज्ञानिक चरित्र की व्याख्या करते समय ऐच्छिक कार्यों एवं जीवन के उद्देश्यों तथा रचनात्मकता पर बल देते हैं। विलियम जेम्स के अनुसार "चरित्र का सम्बन्ध नैतिकता से होता है। परन्तु यह अधिक गत्यात्मक एवं संयुक्त रहता है। चरित्र के विकास में ऐच्छिक कारकों पर भी ध्यान देना आवश्यक है और इसके अतिरिक्त व्यक्ति की क्रियाशीलता तथा उसके जीवन के उद्देश्य से भी इसका सम्बन्ध होना चाहिए।"[1]

कारमाइकेल द्वारा सम्पादित मैनुअल ऑफ चाइल्ड साइकोलॉजी में लगभग इसी आशय से चरित्र की परिभाषा इस प्रकार की गई है—"चरित्र के विकास में ऐच्छिक क्रियाओं तथा व्यक्तिगत विधायकता पर बल दिया जाता है जोकि नैतिक विकास तथा जीवन के उद्देश्यों की प्राप्ति के सन्दर्भ में अधिक सत्य रूप में होते हैं।"

अधिकांश मनोवैज्ञानिक चरित्र को व्यक्ति का आन्तरिक मानसिक संगठन मानते हैं। यह मानसिक संगठन निर्बल है या सबल, स्थायी है अथवा अस्थायी, परिपक्व है अथवा अपरिपक्व, इसकी क्रियाशीलता रचनात्मक है अथवा ध्वंसात्मक, इन सब बातों का अनुमान व्यक्ति के सामाजिक आचरण से ही हो जाता है। इन आन्तरिक गुणों अथवा अवगुणों के कारण ही व्यक्ति समाज की दृष्टि में प्रिय अथवा अप्रिय बनता है। अतएव यह स्पष्ट ही है कि व्यक्ति के चरित्र और व्यक्तित्व में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

चरित्र और व्यक्तित्व
(Character and Personality)

चरित्र की अपेक्षा व्यक्तित्व अधिक व्यापक वस्तु है। व्यक्तित्व, मानव के सम्पूर्ण व्यवहार एवं अनुभूतियों की एक इकाई है। चरित्र व्यक्तित्व के मानसिक संगठन का वह क्रियाशील भाग है, जो सामाजिक परिस्थितियों में धारणा, विश्वास, आदत, दृढ़ता, मान्यता, विचारधारा, भावधारा और स्थायी भाव आदि रूपों में प्रकाशित होता है। व्यक्ति के प्रशंसनीय एवं समाजोपयोगी व्यवहार से यह प्रकट होता है कि उसका व्यक्तित्व सुसंगठित है। अतएव चरित्र को व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं में से एक पहलू ही माना जाता है। कुछ मनोवैज्ञानिक, चरित्र और व्यक्तित्व को समानार्थक मानते हैं। किन्तु यह सर्वमान्य है कि चरित्र और व्यक्तित्व साथ-साथ ही विकसित होते हैं। व्यक्ति के चरित्र का मूल्यांकन केवल उसकी सफलताओं अथवा असफलताओं से ही नहीं हो सकता अपितु उस कार्य में उसकी लगन, दृढ़ता, उत्साह, ईमानदारी और उत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार से उसकी चारित्रिक गहराई का अनुमान लगाया जाता है। आपत्ति, चरित्र की कसौटी समझी जाती है। असाधारण परिस्थिति में भी धैर्य, उत्साह, सहनशीलता, उदारता, ईमानदारी और उत्तरदायित्व अनुभव करने वाले व्यक्ति ही वास्तविक रूप में चरित्रवान् कहे जाते हैं। अतः स्पष्ट है कि चरित्रवान् व्यक्ति आत्मसंयम से काम लेता है। अतएव चरित्र को समझने के लिए उन अंगों पर प्रकाश डालना आवश्यक है जिनसे व्यक्ति के विचारों में दृढ़ता और आचरण

---

1 "Charater is related to morality but it is more dynamic and more inclusive. In character development much more attention is given to volitional factors and to individual creativeness in the realm of goals to be achieved."

—William James

में परिपक्वता उत्पन्न होती है। उसकी क्रियाशीलता, विवेक और दूरदर्शिता से पूर्ण कार्यों में प्रकाशित होती है। उसके जीवन की संवेदनाएँ, क्रियात्मक आवेग और रसानुभूतियाँ, समाज कल्याण हेतु सामाजिक वातावरण में ही विकसित होती हैं।

चरित्र-मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र और शिक्षा

वैज्ञानिक नीतिशास्त्र का उद्देश्य उन नियमों और सिद्धान्तों की खोज करना है जिनके आधार पर व्यक्ति में नैतिक चरित्र की स्थापना की जा सकती है। अरस्तू ने (384—322 ईसा पूर्व) शिक्षा द्वारा व्यक्ति में सद्गुणों की सम्पूर्णता (Perfect Virtue) के विकास पर बल दिया था। उसने सच्चरित्रता का आधार सामाजिक जीवन को ही माना था। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज मे रहकर ही उसकी जन्मजात प्रवृत्तियो और आवेगों का मार्गान्तरीकरण एवं सामाजीकरण होता है। सामाजिक अनुभवों के द्वारा ही उसमें अच्छे-बुरे अथवा नैतिक-अनैतिक ज्ञान का उदय होता है। अनैतिक व्यक्ति समाज विरोधी कार्यों में संलग्न रहता है परन्तु नैतिक व्यक्ति सामाजिक नियमों और रीति-रिवाजो का पालन करना अपना धर्म समझता है। मानव की नैतिकता सम्बन्धी निम्नलिखित तीन धारणाएँ प्रचलित हैं—

(1) मनुष्य पाप मे ही उत्पन्न होता है। अतएव उसे संस्कारो द्वारा धर्म, पुण्य, अनुशासन और विनय सिखाकर जन्मजात् पाप से मुक्त किया जाना आवश्यक है।

(2) जन्म के समय बालक पवित्र एवं पुण्यात्मा होता है; परन्तु सांसारिक प्रभावों एवं सम्पर्कों से वह अपवित्रता ग्रहण करता है। जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—'भूमि परत भा डाबर पानी, जिमि जीवहिं माया लपटानी'—रामचरित मानस। रूसो भी बालक की जन्मजात पवित्रता मे विश्वास रखता था—प्रकृति से प्राप्त सभी वस्तुएँ उत्तम होती है परन्तु मानव हाथो में पड़कर यह बिगड़ जाती हैं।[1] शिक्षा प्रक्रिया का उद्देश्य बालक को समाज के अवांछनीय प्रभावो से सुरक्षित रखना है। गुरुकुल-शिक्षा का उद्देश्य भी यही था।

(3) बालक मे जन्मजात् आध्यात्मिक चेतना होती है, जिसके कारण ही उसकी आत्मा अथवा मन पाप और पुण्य, धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य तथा नैतिकता और अनैतिक के आभास को ग्रहण कर सकता है, अर्थात् नैतिक आदर्शों को समझकर उनकी ओर झुकने की योग्यता उसमें जन्मजात ही होती है।

मनोवैज्ञानिक सत्य यह है कि जन्म के समय बालक न तो नैतिक होता है और न ही अनैतिक। उसका नैतिक ज्ञान शून्य होता है। जन्म के समय उसमे केवल अन्तर्निहित योग्यताएँ ही होती हैं जिनका प्रकाशन एवं विकास सामाजिक वातावरण में रहकर आन्तरिक एवं वाह्य आधारों पर ही होता है। अभिभावक, माता-पिता तथा अध्यापक आदि—जिनको बालक-बालिकाओ के चरित्र-विकास का उत्तरदायित्व निभाना है—को मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र दोनो का ही साधारण ज्ञान होना अनिवार्य है। मनुष्य क्या करता है और उसे क्या करना चाहिए, यह एक दूसरे से सम्बन्धित समस्याएँ हैं।

---

1 "Everything is good which comes from the hands of nature but it degenerates in the hands of man."
—Rousseau

अच्छे चारित्रिक विकास के लक्षण
(Characterstics of Good Character Development)

व्यक्ति के चारित्रिक-विकास के लक्षणों का निरीक्षण किया जा सकता है। उसके नित्यप्रति के व्यवहार में निम्नलिखित चारित्रिक लक्षण देखे जा सकते हैं—

(1) व्यक्ति का व्यवहार अधिक स्थायी हो जाता है। उसके आवेग भी शीघ्रता से परिवर्तित नहीं होते। उसकी व्यावहारिक दृढ़ता भी मन में स्थित दृढ़ संकल्प का ही परिणाम होती है।

(2) व्यक्ति प्रायः स्वयं किये गये निर्णय पर अटल रहता है। चरित्रवान् व्यक्ति अपनी इच्छाओं पर अपना नियंत्रण रखता है। उसके कार्यों में दृढ़ता (Persistence) रहती है। वह किसी कार्य को क्रियान्वित करने के पूर्व उस पर अच्छी तरह विचार करके ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचता है और उसके उपरान्त ही उस कार्य को क्रियान्वित करता है। वह बाहरी प्रभाव अथवा दवाव के समक्ष नहीं झुकता। वह जिस अच्छे कार्य को प्रारम्भ करता है, उसे पूरा अवश्य करता है। उसके कार्य लगन एवं परिश्रम से युक्त होते हैं।

(3) उसका सार्वजनिक आचरण भी जीवन के आदर्शों अथवा एक आदर्श विशेष से ही नियंत्रित होता है। इन आदर्शों के प्रति, व्यक्ति के मानसिक जीवन में स्थायीभाव का निर्माण हो जाता है। चरित्रवान् व्यक्ति के व्यवहार में विश्वसनीयता का गुण होता है।

(4) चरित्रवान् व्यक्ति में विशिष्ट रूप से सामाजिक एवं नैतिक चेतना जागृत अवस्था में रहती है। वह प्रत्येक कार्य को सामाजिक भलाई अथवा बुराई की कसौटी पर कस कर ही उसे अच्छा या बुरा मानता है। अन्तःकरण की शुद्धता (Purity of Heart) ही चरित्रवान व्यक्ति का मुख्य गुण है।

(5) चरित्रवान् व्यक्ति का दैनिक जीवन अच्छी आदतों का पुंज होता है। उसकी व्यवहार कुशलता में भी इन आदतों का समावेश होता है। उसके सभी कार्यों में उत्तरदायित्व की भावना दृष्टिगोचर होती है। वह स्वयं त्याग करके तथा कष्ट उठाकर भी अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करता है।

चारित्रिक शिक्षा की आवश्यकता

शिक्षा के समस्त प्रयत्नों का मूल उद्देश्य बालक के आचरण एवं व्यवहार को सुधार कर उसमें ऐसे स्थायी परिवर्तन करना है जिससे कि वह व्यक्ति और समाज के लिए कल्याणकारी सिद्ध हो सके। वह अपने समाज की सांस्कृतिक परम्पराओं को ग्रहण करके समाज के आदर्शों का पालन कर सके। एक प्रजातंत्रात्मक देश का सच्चा नागरिक बनने के लिए उच्च चारित्रिक गुणों का संकलन करना परमावश्यक है। इसीलिए चरित्र विकास प्राचीन काल से ही शिक्षा का एक मुख्य उद्देश्य रहा है। चरित्रवान् व्यक्ति को देश और समाज ने सदैव ही सम्मान प्रदान किया है। चरित्रवान व्यक्तियों के नेतृत्व में ही राष्ट्रों का उत्थान होता है और कोई भी समाज अथवा राष्ट्र उनके नेतृत्व में संकटकालीन परिस्थितियों का आसानी से सामना कर सकता है। इसीलिए शिक्षा के सभी साधनों द्वारा बालक के शरीर और मन के साथ-साथ ही उसके चरित्र का विकास करना भी अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

चारित्रिक विकास के मनोवैज्ञानिक आधार
(Psychological Bases of Character Development)

1. वातावरण का प्रभाव (Influence of Environment)
2. सामाजिकता का विकास (Development of Sociability)
3. आदतों का विकास (Development of HaLits)
4. स्थायी भावों का निर्माण (Formation of Sentiments)
5. आत्मगौरव के स्थायी भाव (Sentiments of Self-regard)
6. संकल्पशक्ति की दृढता (Strength of Will-power)
7. नैतिक शिक्षा का प्रभाव (Influence of Moral-edacation)
8. बुद्धिमत्ता का विकास (Development of Intelligence)

(1) वातावरण का प्रभाव

चारित्रिक विकास की दृष्टि से माता-पिता एवं शिक्षकों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बालक-बालिकाओं को अच्छे, सुशील और सच्चरित्र व्यक्तियों का सम्पर्क प्राप्त हो। यह सभी जानते हैं कि बुरी संगति मिलने पर बालक बिगड़ जाते हैं। चारित्रिक विकास की दृष्टि से बालक के सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक वातावरण पर भी विशेष ध्यान दिया जाना आवश्यक है। बालक जीवन के प्रारम्भिक काल मे घर में और उसके पश्चात् पाठशाला में सामाजिक सम्पर्क ग्रहण करता है। अच्छी आदतो का सूत्रपात घर मे ही होता है। बालक की नैतिक चेतना पर माता-पिता के कार्यों और विचारो की भी छाप रहती है। इस काल में बालक बिना सोचे-समझे दूसरों के विचार, कार्य और संवेदनाओं को अनुकरण द्वारा सीखता है।

(2) सामाजिकता का प्रभाव

वे सब प्रक्रियाएँ जिनके द्वारा बालक समुदाय मे रहने की योग्यताएँ तथा आदतें ग्रहण करता है, सामाजीकरण के अन्तर्गत ही आती हैं। इस प्रक्रिया का आरम्भ भी परिवार से ही होता है और इसके पश्चात विद्यालय, खेल का मैदान तथा सामाजिक संस्थाएँ आती हैं। जो समाज जितना अधिक विकसित होता है, उसके सदस्यो का व्यक्तित्व भी उतना ही अधिक विकसित एव विविध प्रकारों वाला होता है। समाज के सदस्यों को विभिन्न प्रकार की सामाजिक भूमिकाएँ निभानी पड़ती हैं। भारत में बच्चो के सामाजिक विकास पर धर्म, जाति, उपजाति, क्षेत्रीयता, खान-पान तथा वेशभूषा के अन्तरों का भी विशेष प्रभाव पड़ता है। हमारे देश में परम्परागत ढग से सामाजिक गुणों में विनम्रता तथा सहनशीलता को विशेष मान्यता दी गई है। हमारे बच्चो के सामाजिक व्यवहार पर माता-पिता के व्यवसाय तथा सामाजिक और आर्थिक स्थिति का भी बहुत प्रभाव पडता है, परन्तु पाश्चात्य देशों मे ऐसी स्थिति नही है। समाज सुधारको तथा राजनैतिक नेताओं ने भी इस स्थिति में परिवर्तन करने के काफी प्रयास किए हैं और शिक्षा के माध्यम से भी निर्देशित क्रियाओ द्वारा इन सामाजिक परम्पराओ के अनुकूल परन्तु प्रगतिशीलता के साथ ही सामाजिक अभिवृद्धि प्राप्त कराई जाती है। शिक्षा संस्थाओं एव समा-

का ध्येय भी प्रगतिशील सामाजिक विकास है। सामाजिक विकास के निम्नलिखित दो पहलू होते है :

(1) ज्ञानात्मक पहलू (2) क्रियात्मक पहलू।

बालक के आन्तरिक चारित्रिक संगठन से इन दोनो पहलुओं का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। सामाजिक परम्पराओं को प्रत्यक्ष करके बालक अपने सामाजिक वातावरण को भलीभाँति समझता है। वह यह समझने लगता है कि समाज उससे क्या आशाएँ रखता है। समाज के प्रति उसके क्या कर्तव्य हैं। वह अपने आस-पास की सामाजिक परिस्थितियों को समझकर उसके अनुकूल सामाजिक क्रियाएँ और आदतें भी ग्रहण करता है। परन्तु विचारशील एवं विवेकशील प्राणी होने के नाते वह सामाजिक रीति-रिवाजों, प्रथाओं और आदतों को ज्यों का त्यों ग्रहण नहीं करता। समाज और व्यक्ति की प्रगतिशीलता का आधार भी यही है। चरित्र की नींव भी इसी प्रकार के प्रगतिशील सामाजिक विकास पर ही आधारित होती है। इस सन्दर्भ में चरित्र को समझने के लिए नीचे लिखी चार बातों पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है—

(क) चरित्र से हमारा अभिप्राय प्रेरणाओं (Motives) तथा व्यवहार के स्थायीपन से होता है। मूल्यवान तथा चिरस्थायी प्रेरणाएँ सामाजिक परम्पराओं से प्राप्त होती हैं। व्यवहार के स्तर भी सामाजिक परिवेश की जानकारी और अन्तर्क्रियाओं (Interactions) का परिणाम होते हैं।

(ख) चरित्र का एक आन्तरिक और दूसरा बाहरी पहलू होता है। आन्तरिक पहलू का निर्माण एवं संगठन समाज से प्राप्त होने वाले विचारों, अभिवृत्तियों तथा स्थायीभावों के आधार पर ही होता है। दूसरा बाहरी या क्रियात्मक पहलू भी सामाजिक रीति-रिवाज एवं आचरण की परम्पराओं से प्रभावित होता है।

(ग) चरित्र में आत्म-ज्ञान अथवा आत्म-गौरव का स्थायीभाव भी रहता है। यही स्थायीभाव दुविधाजनक या संघर्षपूर्ण परिस्थितियों में मार्ग प्रदर्शित करता है। व्यक्ति सोचता है कि "क्या मेरे लिए ऐसा करना उचित होगा ?" अथवा "क्या मुझसे इस प्रकार के व्यवहार की आशा की जाती है ?"

(घ) आत्मगौरव के स्थायीभाव का निर्माण सामाजिक संदर्भ में होता है। यह सामाजिक अनुभवों तथा क्रियाओं का परिणाम होता है। सामाजिक सम्बन्धों द्वारा व्यक्ति अपने आत्म को दैनिक जीवन के द्वारा बाहरी दुनियाँ के सम्पर्क में लाता है।

आदतों पर पिछले अध्याय में यथेष्ट प्रकाश डाला जा चुका है। चरित्र आदतों का पुंज होता है। (Character is a bundle of habits) अतएव अभिभावकों और शिक्षकों को बालक-बालिकाओं के जीवन में सुन्दर आदतों को प्रोत्साहित करना चाहिए। व्यक्ति में आदतों की नींव उसके प्रौढ़ होने से बहुत पहले ही पड़ जाती है और ये व्यक्ति का अर्जित स्वभाव बन जाती हैं। इसलिए बच्चों को बुरी आदतों से यथासम्भव बचाना चाहिए।

(3) आदतों का विकास

(4) स्थायीभावों का निर्माण

स्थायीभाव का निर्माण व्यक्ति के सांसारिक अनुभवों का परिणाम है। स्थायीभाव एक अर्जित वृत्ति है जोकि किसी व्यक्ति, वस्तु, स्थान अथवा विचार के प्रति बार-बार होने वाली संवेगात्मक अनुभूतियों का परिणाम है। यदि हमें 'प्रसाद' अथवा 'निराला' की कविता पढने का अवसर अनेक बार मिलता है तो यह स्वाभाविक ही है कि कविता पाठ के साथ-साथ ही हमारी संवेगात्मक अनुभूतियों का आवर्तन भी होगा। कवि अथवा उसकी रचनाओं के प्रति हमारा संवेगात्मक मानस संगठित एवं क्रियाशील हो जाएगा। हम उस कवि की प्रत्येक रचना को पढने का प्रयत्न करेंगे। उसकी प्रशंसा मे कुछ कहना या लिखना भी चाहेंगे। अपने विचारों मे उसे विशेष स्थान देंगे। इस प्रकार, उस कवि के प्रति हमारे मानस मे एक स्थायीभाव संगठित हो जाएगा। स्थायीभाव हमारे संवेगात्मक अनुभवों की एक व्यवस्थित प्रणाली है, जो कि हमारे मानसिक जीवन में अपेक्षाकृत अधिक स्थायीरूप से विद्यमान है। यह एक संवेदनापूर्ण क्रियाशील प्रवृत्ति है।

एक व्यक्ति के मन में अनेक स्थायीभाव उदय हो सकते हैं। जैसे—स्वच्छता का स्थायीभाव, देशभक्ति का स्थायीभाव, अपने घर या गाँव के प्रति स्थायीभाव, मित्र के प्रति मित्रता का स्थायीभाव, किसी खेल से सम्बन्धित स्थायीभाव, अथवा किसी नेता के प्रति स्थायीभाव आदि। एक बार स्थायीभाव के निर्मित होने पर उस व्यक्ति, वस्तु या स्थान के प्रति हमारी सवेगात्मक अनुभूतियाँ प्रबल होती जाती हैं। उनके ध्यानमात्र से हमारा व्यवहार उस स्थायीभाव से प्रभावित होता है। माँ के हृदय में अपने बच्चे के प्रति मातृ-प्रेम का स्थायीभाव रहता है। इसी प्रकार शत्रुता का स्थायीभाव स्थापित हो जाने पर भी शत्रु के दर्शन, नाम या प्रसग मात्र से ही व्यक्ति को शत्रुता की सवेगात्मक अनुभूति होने लगती है।

अतएव स्पष्ट है कि स्थायीभाव के अन्तर्गत व्यक्ति के विचार, क्रिया और सवेग एक ही दिशा में अग्रसर होते हैं। उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियो का एक ही विन्दु की ओर केन्द्रीकरण हो जाता है। बालक की विकास प्रक्रिया के अन्तर्गत स्थायीभावों का भी क्रमिक विकास होता है।

बौद्धिक विकास की भाँति सवेगात्मक विकास के भी तीन स्तर हैं—

(क) **प्रत्यक्षात्मक स्तर**—बच्चों का अधिकाश ज्ञान प्रत्यक्षात्मक स्तर पर ही होता है, अतएव उनके स्थायीभाव भी स्थूल वस्तुओं के प्रति ही सगठित होते हैं, जैसे—खिलौनों के प्रति स्थायीभाव। इन स्थायीभावों मे संवेगात्मक अनुभूति की प्रधानता होती है।

(ख) **प्रत्ययात्मक या विचारात्मक स्तर के स्थायीभाव**—यह वह अवस्था होती है, जब कि बालक अमूर्त विचारों को ग्रहण करने योग्य होता है और भाषा की सहायता से अमूर्त गुणो के प्रति स्थायीभाव बना सकता है। जैसे स्वच्छता, सत्य-परायणता, वीरता, प्रजातन्त्र देशभक्ति आदि।

(ग) **विवेकात्मक या प्रज्ञात्मक स्तर के स्थायीभाव**—इस प्रकार के स्थायीभावो में व्यक्ति के विचारों का सगठन किसी आदर्श या महान् सत्य के [illegible] होता है। आत्मगौरव का स्थायीभाव इसी श्रेणी का स्थायीभाव

सकता है। विचारात्मक और विवेकात्मक स्थायीभावों का क्षेत्र बहुत ही व्यापक होता है। जेम्स ड्रेवर, प्रत्यक्षात्मक स्तर पर केवल संवेगात्मक प्रतिक्रिया को ही मानता है। उसके अनुसार इस स्तर पर स्थायीभावों का संगठन नहीं होता।

स्थायीभाव, चरित्र और शिक्षा—स्थायीभाव के अन्तर्गत व्यक्ति की कार्य-प्रणाली और विचारधारा अधिक स्थायी रहती है। बालक-बालिकाओं में सुन्दर स्थायीभावों का विकास होना चारित्रिक दृष्टि से बहुत लाभदायक होगा। अच्छे स्थायीभाव अच्छी आदतों को जन्म देंगे और उनकी रुचियों का ठीक दिशा में विकास हो सकेगा। यदि बालकों में देश-प्रेम या देश-भक्ति का स्थायीभाव विकसित किया जाता है तो यह स्वाभाविक ही है कि वे बालक अपने देश का सच्चा ज्ञान प्राप्त करने के लिए उस देश के इतिहास और भूगोल में आवश्यक रुचि लेंगे। वे देश में होने वाली घटनाओं को जानने के लिए समाचार पत्र पढ़ते हैं। देश के राष्ट्रीय नेताओं और महान् व्यक्तियों के जीवन-चरित्र का अवलोकन करके गौर्वान्वित होंगे। देश-प्रेम या राष्ट्रीयता से सम्बन्धित गीत, कविता, कहानी, नाटक अथवा लेख पढ़कर उनका हृदय पुलकित होगा। इस प्रकार के स्वप्रयत्न से अपने मन और विचारों को संस्कारित करते हुए वे एक क्रियाशील नागरिक बन सकेंगे। प्रजातन्त्र की सफलता भी ऐसे विचारशील, सुयोग्य नागरिकों पर ही निर्भर है।

अब यह प्रश्न उठता है कि अपने छात्रों में देशभक्ति का स्थायीभाव विकसित करने के लिए अध्यापक क्या कर सकता है? इतिहास और भूगोल के शिक्षक इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य कर सकते हैं। इतिहास-शिक्षक बालक को देश की सांस्कृतिक परम्पराओं, इतिहास की प्रसिद्ध घटनाओं, महापुरुषों, वीर राजाओं और धार्मिक व्यक्तियों तथा सुधारकों के प्रसंगों को रोचक ढंग से कक्षा में प्रस्तुत करे। उसके वर्णन का ढंग ओजपूर्ण और प्रभावोत्पादक होना चाहिए। भूगोल-शिक्षक बालकों को देश की प्राकृतिक सम्पत्तियों से परिचित कराकर उन्हें देश के अधिक निकट ला सकता है। कविता और संगीत की सहायता से देशभक्ति के भावों को किशोर हृदय में सरलता से जाग्रत किया जा सकता है। पाठशाला के उत्सव और जलसों में राष्ट्रीयगान और झण्डा गीतों का प्रयोग भी इस दृष्टि से लाभदायक होगा।

(5) आत्मगौरव का स्थायी भाव

जन्म के समय बालक में आत्मबोध बहुत कम होता है। धीरे-धीरे वह गत संघर्षों के अनुभव द्वारा अपने आन्तरिक और बाह्य परिवेशों के अन्तर को समझने लगता है। जैसे-जैसे व्यक्ति के अनुभव में वृद्धि होती है, उसका 'आत्म' (Self) अधिक स्पष्ट और व्यवस्थित होता जाता है। स्थायीभावों का पुंज अनेक वृत्तियों का केन्द्र बन जाता है। व्यक्ति के 'आत्म' में ही जीवन के विभिन्न क्षेत्र—जैसे आध्यात्मिक, भौतिक और सामाजिक आदि—परस्पर सम्बन्धित और संगठित होते हैं। इस संगठन के परिणामस्वरूप ही व्यक्ति में आत्मबोध या आत्मसम्मान की भावना की वृद्धि होती है। संगठित आत्म स्वयं एक शक्ति है जिसके प्रति व्यक्ति सदैव चैतन्य रहकर अपने कार्यों की विवेचना स्वयं ही करता है। व्यक्ति के लिए उसका आत्म' सबसे बड़ी निधि है। इसी निधि से व्यक्ति को आत्म-निर्देश भी मिलते हैं

और वह व्यक्ति अपने आत्म के गौरव या सम्मान को हानि से बचाने का प्रयत्न पूर्ण सचेष्टता से करता है। 'आत्म' के विकास और संगठन की चरमसीमा उस समय आती है, जब कि व्यक्ति अपने 'आत्म' को ही आदर्श मानने लगता है। आत्म विकास की इस स्थिति को विलियम मैक्डूगल ने आत्मगौरव का स्थायीभाव कहा है। क्योंकि अन्य स्थायी भावों से सम्बन्धित विचार एवं कार्यों का नियन्त्रण आत्मगौरव का स्थायीभाव ही करता है, इसे स्थायीभावों का स्वामी (Master of Sentiments) भी कहते हैं।

यदि बालक-बालिकाओं के स्थायी भावों को विवेकशील, सुदृढ़ और व्यवस्थित बनाना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि उनके आत्म को सुन्दर स्थायीभावों से सजाया जाए। सुन्दर स्थायी भावों का पुंज 'आत्म' उनके लिए वांछनीय आचरण, सभ्य व्यवहार और सद्विचारों का स्रोत बन जाएगा।

(6) संकल्प शक्ति (Will) की दृढ़ता

यह सभी जानते हैं कि मनुष्य को जीवन में अच्छी आदतें डालने के लिए दृढ़ संकल्पी होना आवश्यक है। व्यक्ति कितना ही योग्य क्यों न हो, यदि उसमें संकल्प का अभाव है तो वह जीवन मे कोई काम नही कर सकता। संकल्प के अभाव मे समय निकलता जाता है और व्यक्ति अपने विचारो को कार्यान्वित नहीं कर पाता। छोटे-छोटे प्रलोभन उसके मार्ग मे बाधक बन जाते हैं। अतएव स्पष्ट है कि संकल्प शक्ति के अभाव में बालक-बालिकाओं से चारित्रिक दृढ़ता की आशा करना व्यर्थ है। अतः संकल्प-शक्ति का प्रशिक्षण बाल्यकाल से ही होना आवश्यक है।

अब प्रश्न यह उठता है कि संकल्प-शक्ति का प्रशिक्षण कैसे दिया जाय? बालक-बालिकाओं की कार्यशीलता बनाए रखने के लिए उन्हें यथाशक्ति कार्य करने का अवसर दिया जाये। संकल्प शक्ति के प्रशिक्षण मे अभिभावकों का सहयोग अनिवार्य होता है। बालकों को घर और पाठशाला में ऐसे कार्य मिलने चाहिए जिनका जीवन में कुछ नैतिक महत्व भी हो। अच्छे कार्य सम्पन्न करने पर बालक की प्रशंसा होनी चाहिए जिससे उसमे भविष्य में कार्य करने का उत्साह बना रहे। वह अपनी इच्छा से कुछ न कुछ कार्य करता रहेगा, परन्तु दुविधाजनक परिस्थितियो में वह अविलम्ब सही मार्ग चुनकर संकल्प का प्रयोग करेगा। इस प्रकार अभ्यास द्वारा उसकी संकल्पशक्ति को दृढ़ता मिलेगी। बालक स्वतन्त्र वातावरण मे स्वेच्छा से कार्य करके आत्म-विश्वास प्राप्त करता है। आत्म-विश्वास आने पर ही बालक के आचरण में दृढ़ता और स्थिरता दिखायी देती है। आवेग का स्थान आत्मसंयम ले लेता है। कर्मठ व्यक्ति डाँवा-डोल नही रहता, वह तुरन्त ही निर्णय करता है और फिर अपने निर्णय के अनुसार कार्यों मे जुट जाता है। उसका 'आत्म' सुगठित होता है। कुछ मनोवैज्ञानिक सुगठित 'आत्म' की क्रियाशीलता को ही संकल्प मानते हैं।

(7) नैतिक शिक्षा द्वारा चरित्र विकास

चरित्र विकास मे नैतिक शिक्षा की उपेक्षा नहीं की जा सकती। घर पर और विद्यालय में बालक के समक्ष नैतिक आदर्श एक रोचक कहानी या कथानक के रूप में सरलता से रखा जा सकता है। इतिहास, साहित्य और सामाजिक विषयों के शिक्षण में अप्रत्यक्ष रूप से नैतिक भाव

या विचार बालमन में उत्पन्न किये जाते हैं। विचारों से मानवमन को बल मिलता हैं। बालक को नैतिक विचार देकर ही उसकी शक्तियों का सृजन सच्चरित्रता के कार्यों में किया जाना चाहिए। नैतिक आदर्शों की नींव प्रारम्भिक बाल्यकाल में ही दृढ़ हो जानी चाहिए। धार्मिक शिक्षा का भी प्रारम्भिक बाल्यकाल में ही आरम्भ होना आवश्यक है। पाठ्यक्रम में कुछ आदर्श महापुरुषों के जीवन-चरित्र भी होने चाहिए। नैतिक शिक्षा की दृष्टि से सभी धर्मों के मूल सिद्धान्त बहुत लाभदायक हैं।

(8) बुद्धिमत्ता और चरित्र विकास

हरबर्ट (Herbart) का यह विश्वास था कि मूर्ख व्यक्ति गुणवान नहीं बन सकता। सांसारिक परिस्थितियों का सही-सही अवलोकन एवं मूल्यांकन करने के लिए व्यक्ति को साधारण ज्ञान अवश्य होना चाहिए। ज्ञानहीन व्यक्ति पग-पग पर ठोकरें खाता है। वह अपना मार्ग चुनने में प्रायः त्रुटि करता है। किन्तु हम यह नहीं मान सकते कि सभी बड़े विद्वान् और पंडित चरित्रवान् ही होते हैं। ज्ञान की उपयोगिता सर्वविदित है। ज्ञानवान् व्यक्ति अपने विचारों और दूरदर्शिता से काम लेकर जीवन की कठिन परिस्थितियों में भी सही मार्ग निर्धारित कर सकता है। ज्ञान से विचार और विचार से कार्य की उत्पत्ति होती है।

चरित्र विकास के कारक
(Factors in Character Development)

(1) **घरेलू वातावरण**—घरेलू वातावरण में बालक दयालुता, सहानुभूति, सहृदयता, स्वच्छता, लगन और सहयोग की बातें सीखता है।

(2) **धार्मिक जीवन और धार्मिक शिक्षा**—इसका प्रबन्ध घर और पाठशालाओं दोनों में ही होना आवश्यक है।

(3) **दण्ड और पुरस्कार**—प्रायः इसका प्रयोग घर, समाज और पाठशाला के सामाजिक वातावरण में होता रहता है।

(4) **खेल और अन्य सृजनात्मक कार्य**—पाठशाला के कार्यक्रमों में इनको विशेष महत्व मिलना चाहिए। खेल के साथियों तथा समूह का चरित्र पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

(5) **अनुशासन**—अनुशासन और विनय रहित व्यक्ति चरित्रवान् नहीं बन सकता।

(6) **रेडियो, सिनेमा, और नाटक**—ये किशोर बालक-बालिकाओं के जीवन को अत्यधिक प्रभावित करते हैं।

(7) **पाठशाला का वातावरण**—अध्यापक और विद्यार्थियों के सम्पर्क का बालक के चरित्र विकास पर विशेष प्रभाव पड़ता है। परिवार के बाद पाठशाला का ही सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।

(8) **साथियों या मित्रों का प्रभाव**—चरित्रवान् मित्र या साथी मिल जाने पर चारित्रिक विकास सरलता से एवं सही दिशा में अग्रसर होता है।

(9) **आनन्द की प्राप्ति**—अच्छे कार्यों से प्राप्त आनन्द और सुख सुन्दर चरित्र-निर्माण का साधन है।

(10) आत्म सम्मान—रौस के अनुसार "आत्म सम्मान नष्ट होने पर चरित्र भी छिन्न-भिन्न हो जाता है।" मैक्डूगल के अनुसार भी आत्म सम्मान का स्थायीभाव चरित्र को ऊँचा उठाता है।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. चरित्र की परिभाषा कीजिए और चारित्रिक विकास की मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डालिये।

2. चारित्रिक विकास के मनोवैज्ञानिक आधारों का वर्णन कीजिये।

3. चरित्र विकास में स्थायीभाव तथा संकल्प का क्या स्थान है ?

4. आदतों का चरित्र से क्या सम्बन्ध है। अच्छी आदतें बनाने के लिए आप किन उपायों का प्रयोग करेंगे ?

21

सीखने की परिभाषा, प्रक्रिया और क्षेत्र
(LEARNING : DEFINITION PROCESS AND SCOPE)

शिशु-जीवन में सीखना
(Learning During Infancy)

जन्म के समय बालक की प्रतिक्रियाएँ बहुत साधारण और सीमित होती हैं। किन्तु शारीरिक अभिवृद्धि और परिपक्वता के साथ-साथ ही उसकी प्रतिक्रियाओं में भी वृद्धि होती जाती है और प्रतिक्रिया करने का ढंग भी जटिल होता जाता है। शारीरिक अवयवों की परिपक्वता के साथ ही बालक के सीखने की क्षमता में भी वृद्धि हो जाती है। प्रौढ़ व्यक्ति का अधिकांश व्यवहार सीखा हुआ होता है। मानव-शिशु एक जीवित शरीरधारी है। उसमें जब तक जीवन रहता है तब तक वह क्रियाशील और अनुभवशील बना रहता है। अन्य शरीरधारियों की अपेक्षा मानव-शिशु स्वयं के अनुभवों द्वारा बहुत अधिक सीखता है। दूध का जला बालक छाछ को भी फूंकता है। वह किसी भी सीखी हुई बात को अधिक समय तक अपने मन में धारण कर सकता है। वह धारण किये गये ज्ञान अथवा अनुभूति की पुनश्चेतना (Recall) नई समस्याओं को सुलझाने हेतु भी कर सकता है। वह जिन पूर्व अनुभवों को पुनश्चेतना द्वारा मन में स्मरण करता है उन्हें वर्तमान अनुभव से पृथक् करके इन दोनों में भेद पहचान सकता है।

सीखने की परिभाषा विभिन्न विद्वानों ने सीखने की परिभाषाएँ इस प्रकार दी हैं—

(1) गेट्स तथा अन्य—"प्रशिक्षण एवं अनुभव के द्वारा व्यवहार में होने वाले परिवर्तनों को सीखना (अधिगम) कहते हैं।"[1]

(2) जे० पी० गिलफर्ड के अनुसार—"व्यवहार के कारण व्यवहारों में परिवर्तन ही अधिगम है।"[2]

(3) स्किनर के अनुसार—"सीखना व्यवहार में उत्तरोत्तर सामंजस्य की प्रक्रिया है।"[3]

---

1 "Learning is the modification of behaviour through experience and training —Gates and others

2 "Learning is any change in behaviour resulting from behaviour." —Guilford. J. P., page, 343

3 "Learing is a process of progressive behaviour adaptation."—Skinner, p. 199

(4) क्रो तथा क्रो के अनुसार—"सीखना, आदत, ज्ञान और अभिवृत्तियों का अर्जन है।"[1]

(5) क्रोनबैक के अनुसार—"सीखना अनुभव के परिणामस्वरूप व्यवहार में परिवर्तन द्वारा व्यक्त होता है।"[2]

(6) वुडवर्थ के अनुसार—"नवीन ज्ञान और नवीन प्रतिक्रियाओं को प्राप्त करने की प्रक्रिया ही सीखने की प्रक्रिया है।"[3]

ऊपर की पंक्तियों में विभिन्न विद्वानों की परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई हैं। उनमें पूर्णता एवं स्पष्टता का अभाव है। अतः सीखने की उचित परिभाषा इस प्रकार हो सकती है—सीखना, प्रशिक्षण तथा अनुभव द्वारा व्यवहार में ऐसा परिवर्तन है जो कि अपेक्षाकृत रूप में स्थायी होता है।

स्किनर के अनुसार सीखने की प्रक्रिया में ग्रहण करना या प्राप्त करना तथा प्राप्त किये हुए ज्ञान (विषय) को मन में अधिक समय तक धारण करना, ये दोनों बातें ही सम्मिलित रहती हैं।

स्किनर के अनुसार 'अधिगम की प्रक्रिया केवल आवृत्यात्मक अभ्यास जैसी यांत्रिक क्रियाओं द्वारा ज्ञान (सूचनाएँ) तथा कौशल (Skills) का अभिग्रहण मात्र नहीं है। अपितु इससे कुछ अधिक भी है। सीखने वाला व्यक्ति सीखने की सामग्री को संगठित करता है और उसका मूल्यांकन करता है तथा उसका भावार्थ प्रदान करता है और अर्थ सम्बन्धी निर्णय भी करता है। वह संवेगों की ओर कार्य करने में संश्लिष्ट और जागरूक हो जाता है।"[4]

सीखना और वातावरण

सीखने मे वातावरण का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। भाषा बोलने का ढंग, अभिरुचियाँ, विचार, पोशाक, पहनने का ढग, भोजन करना और दैनिक बातें आदि प्रत्येक बालक अपने परिवेश मे स्थित व्यक्तियों, वस्तुओं और घटनाओ से ही सीखता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि व्यक्ति सीखने की प्रक्रिया द्वारा अपने वातावरण के प्रति उपयुक्त प्रतिक्रिया अपनाता है। सामाजिक परिस्थितियों में बालक के सीखने की सम्भावना सर्वाधिक होती है। वह अपनी आन्तरिक शक्तियों और जन्मजात प्रेरणाओं को वातावरण के अनुकूल बनाकर ही अपने जीवन प्रवाह को अग्रसित करता है। अतएव स्पष्ट है कि जीवित रहने के लिए सीखना नितान्त आवश्यक है। सविधिक शिक्षा (Formal Education) द्वारा सीखने का कार्य अधिक सरल, उपयोगी एवं कुशलतापूर्ण हो जाता है। कक्षा शिक्षण द्वारा बालक को ज्ञान, कौशल और रसानुभूति की उपलब्धि होती है। अनुभव द्वारा व्यवहार मे परिवर्तन करना ही सीखना है। शिक्षा प्रक्रिया का उद्देश्य ही बालक के व्यवहार मे ऐसा

---

1 "Learning is the acquisition of habits, knowledg and attitude."
—Crow and Crow, p. 225.

2 "Learning is shown by a chage in behaviour as a result in experience."
—Cronbach, p. 47.

3 "The process of acquiring new knowledge and new respons is the process of learning."
—Woodworth, p. 28

4 Skinner : *Educational Psychology*.

स्थायी परिवर्तन उत्पन्न करना है कि उसका जीवन स्वयं उसके लिए ही नहीं अपितु समाज के लिए भी कल्याणकारी हो सके। अतएव शिक्षक के लिए सीखने के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त और नियमों का ज्ञान बहुत आवश्यक है। प्रत्येक अध्यापक को इस बात का ज्ञान होना भी आवश्यक है कि सीखने की क्रिया किन परिस्थितियों में सर्वोत्तम ढंग से होती है और सीखने की क्रिया की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ कौन-कौन सी हैं।

शिक्षा मनोविज्ञान की खोज सीखने की प्रक्रिया के मुख्य तत्वों पर प्रकाश डालती है; किन्तु शिक्षाशास्त्रियों की दृष्टि में सीखने की विधियों का महत्व कहीं अधिक है। प्रत्येक शिक्षक इस बात का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है कि सीखने के लिए कौन-कौन सी परिस्थितियाँ उपयुक्त होती हैं। तभी वह शैक्षिक परिस्थितियों का यथोचित संगठन कर सकता है। शिक्षा मनोविज्ञान अनुभव द्वारा सीखने पर अधिक बल देता है। समय-समय पर विभिन्न शिक्षाशास्त्रियों ने बालक-बालिकाओं के अनुभवों में वृद्धि करने हेतु शिक्षा की नई पद्धतियाँ स्थापित की हैं। जैसे—कार्य करके सीखना (Learning by Doing) ; क्रियात्मक कार्यक्रम (Activity Programme) ; प्रत्यक्ष परिचय विधि (Learning by Direct Method); आत्मक्रियाशीलता (Self Activity) ; जीवनयापन करके सीखना ; नाटकीय विधि (Dramatic Method) ; योजना पद्धति (Project Method) ; खेल विधि आदि। पढ़ने-पढ़ाने की ये सब विधियाँ और पद्धतियाँ बालक की क्रियाशीलता, अनुभवशीलता और पाठ्यवस्तु की व्यावहारिकता को प्रधानता देती हैं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि क्रिया, व्यक्ति और वातावरण में अन्त:क्रिया का व्यक्ति के लिए लाभदायक परिणाम होता है।

हमारी शारीरिक संरचना इस प्रकार की है कि सीखने के शारीरिक उपकरणों—केन्द्रीय स्नायुमण्डल, ज्ञानेन्द्रियाँ, स्नायविक संस्थान आदि—के बिना न तो हम सीख सकते हैं, न सीखे हुए को प्रकाशित ही कर सकते हैं। अतएव वह प्रक्रिया (जिसके द्वारा हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ और नाडी मण्डल परिपक्व होते हैं) सीखने की क्रिया पर विशेष प्रभाव डालती है। एक बालक चलने में कुशलता तभी प्राप्त कर सकता है जबकि उसकी माँसपेशियाँ और नाड़ियाँ विकसित होकर परिपक्वता के एक विशेष स्तर को प्राप्त कर चुकी हों। जैसे-जैसे शरीर परिपक्व होता जाता है, बालक की अन्तर्निहित शक्तियाँ व्यवहार में प्रयुक्त होने लगती हैं।

सीखना और परिपक्वता

जटिल कार्यों को सीखने और प्रत्यय ज्ञान प्राप्त करने के लिए वृहत् मस्तिष्क और उसके सम्बन्धित केन्द्रों का परिपक्व होना नितान्त आवश्यक है। अरनोल्ड गैसिल (Arnold Gesell) ने इस सम्बन्ध में रोचक परीक्षण किये हैं। उसने परीक्षणों के लिए दो जुड़वां बालिकाओं को चुना, पहली बालिका को 46 सप्ताह की आयु में ही सीढ़ी चढ़ने का अभ्यास कराया गया। यह अभ्यास कई सप्ताह तक चलता रहा और बालिका ने धीरे-धीरे चलने में उन्नति की। सात सप्ताह बाद अर्थात् 53 सप्ताह की आयु में दूसरी बालिका को चलने का अभ्यास कराया गया। दूसरी बालिका ने चलने की क्रिया तुरन्त सीख कर पहली बालिका के समान चलने

की कुशलता प्राप्त कर ली। अतएव इस परीक्षण द्वारा निम्नलिखित दो उपयोगी निष्कर्ष निकले—

(1) सात सप्ताह तक दूसरी बालिका मे परिपक्वता की प्रक्रिया होती रही, जिसके परिणामस्वरूप उसने अवसर मिलने पर पहली बालिका की अपेक्षा चलने की कुशलता अधिक शीघ्रता से सीख ली।

(2) परिपक्वता प्राप्त करने के बाद भी दूसरी बालिका को सीखने के उद्देश्य से कुछ अभ्यास और प्रयत्न कराना आवश्यक था।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि परिपक्वता से योग्यताएँ केवल विकसित होती हैं। इन योग्यताओं को उपयोगी और वास्तविक बनाने के लिए प्रशिक्षण और अभ्यास आवश्यक हैं। गैसिल के उपरोक्त परीक्षणों की पुष्टि, हिलगर्ड (Hilgard), स्ट्रेयर (Strayer) और मैकग्रो (Mc Graw) द्वारा, पृथक-पृथक किये गये अन्य परीक्षणों से भी होती है। परन्तु कुछ विशिष्ट प्रकार की क्रियाओं को सीखने में (जैसे—गायन तथा अन्य कलाओं का सीखना) परिपक्वता की अपेक्षा अभ्यास ही अधिक महत्वपूर्ण होता है। इस सम्बन्ध में जरसिल्ड (Jersild) का परीक्षण उल्लेखनीय है। उसके अभ्यस्त दल (Practice Group) के बालक, नियन्त्रित दल के बालकों से गायन कला मे (बाद में भी) अधिक योग्य रहे।[1]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सीखने की क्रिया के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं—

(1) सीखना एक प्रक्रिया है (Learning is a process) इसके फलस्वरूप हममे ज्ञान, कौशल, आदतों, अभिवृत्तियों तथा अभिरुचियों आदि का विकास होता है।

(2) सीखने का परिणाम ज्ञान का संचय है। यह ज्ञान प्रत्यक्षात्मक प्रत्ययनात्मक या विचारात्मक तथा रसानुभूतिपूर्ण हो सकता है। ज्ञान के संचय से व्यक्ति अपने बौद्धिक और संवेगात्मक व्यवहार को नियन्त्रित करता है। इस प्रकार सीखने की क्रिया जीवन भर चलने वाली प्रक्रिया (Life long Process) है। सीखना सार्वभौमिक (Learning is Universal) है।

(3) सीखने की क्रिया द्वारा व्यक्ति अनेक शारीरिक कार्य कुशलतायें प्राप्त करता है। (Sensory Motor Modification) जैसे—चलना, भोजन करना, तैरना या साइकिल चलाना आदि। इस प्रकार सीखने की प्रक्रिया में इन्द्रिय संवेदनात्मक गामक क्रियाओं का व्यवस्थापन और संगठन होता है।[2]

(4) सीखने की क्रिया के अन्तर्गत प्रतिक्षेप क्रियाएँ (Reflexes) या जन्मजात आवेग नहीं आते हैं। कुछ प्रतिक्रियाएँ शारीरिक अभिवृत्तियों का परिणाम होती हैं। सीखना अभिवृद्धि और विकास भी है।[3]

(5) सामाजिक और जैविक स्तर पर सीखने की क्रिया अनुकूलात्मक

---

1 इस सन्दर्भ में अधिक जानकारी के लिए निम्नलिखित ग्रन्थों का अवलोकन करें।
Hilgard, J R.—*Learning and maturation in Pre-School Children*
J : *Genetic Psychology*
Strayer, L. C. : Genetic Psychology monographs 1930, 8. No. 3.
[illegible] Co.
[illegible] No. 10. "Training and growth
[illegible]

2 "Learning is new organization of experience."
3 "Learning is growth and development both."

(Adoptive), समायोजनात्मक (Adjustive) होती है। सीखने के फलस्वरूप विचार और व्यवहार में परिवर्तन आते हैं। सीखना परिवर्तन ही है।[1]

(6) सीखने की क्रिया से व्यक्ति के जीवन में स्थायी परिवर्तन आ जाता है। उसकी अनेक प्रतिक्रियाएँ आदतों का रूप धारण कर लेती हैं। साधारण रूप में सीखने का अभिप्रायः है, अनुभव से लाभ उठाना, अनुभव को धारण करना और व्यवहार में संशोधन करना।

(7) त्रुटि का अभाव सीखने की क्रिया का एक लाभदायक परिणाम है। सीखना कुशलतादायक है।[2]

(8) सीखने की क्रिया से समस्यायें हल होती हैं। सीखने के उपरान्त कठिन कार्य भी सरल हो जाता है। सीखने की क्रिया सप्रयोजन एवं उद्देश्यपूर्ण होती है।[3]

(9) सीखने की क्रिया से व्यक्ति के आदर्श, अभिव्यक्ति, रुचियों, विश्वास और धारणाओं में परिवर्तन हो जाते हैं। परिवर्तन के साथ ही नवीन संगठन भी होता है।[4]

(10) सीखने की क्रिया में स्वयं वालक का ही स्थान सवसे अधिक महत्वपूर्ण है। वह जन्मजात योग्यताओं, आवश्यकताओं, इच्छाओं तथा प्रेरणाओं और पूर्वार्जित ज्ञान के आधार पर ही नई वातें सीखता है। सभी वालक समान गति अथवा समान ढंग से नहीं सीखते हैं।[5] सीखने की क्रिया में पुराने तथा नये अनुभवों में संश्लेषण होता है और एक नवीन मानसिक संगठन होता है।

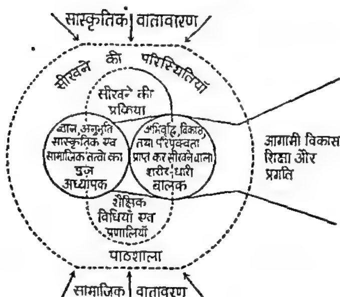
(11) सीखने की क्रिया में सीखने वाले तथा शैक्षिक वस्तु अथवा परिस्थिति के मध्य संघर्ष अन्तर्क्रिया एवं अनुकूलन का होना आवश्यक है। परिवर्तित परिस्थिति में वालक के सीखने का ढंग और मात्रा भी परिवर्तित होती रहती है। इस दृष्टिकोण से घर और पाठशाला की शैक्षिक परिस्थितियाँ पर्याप्त रूप से भिन्न होती हैं।[6]

सीखने की प्रक्रिया के प्रमुख अंग

अग्र पृष्ठ पर मुद्रित रेखा चित्र से यह स्पष्ट है कि अध्यापक और शिष्य, एक विन्दु विशेष (व्यक्तिगत सम्पर्क) पर ही मिलते हैं। पाठशाला की शैक्षिक परिस्थितियां एवं वातावरण मे रहकर ही वालक की सीखने की क्रियायें प्रगति पथ पर अग्रसर होती हैं। स्वयं अध्यापक, वालक और शैक्षिक वातावरण पर समाज एवं शक्ति का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है। अध्यापक द्वारा उसके व्यक्तित्व तथा शिक्षण विधियों का प्रयोग वालक की शैक्षिक प्रगति के लिये होता है।

---

1 "Learning is chang."
2 "Learning is efficient and intelligent.'
3 "Learning ls goal directed and purposive."
4 "Learning is new organization of experience."
5 "Learning is directed from within. Learning is discovering. Learning individual and personal."
6 "Learning is the product of activity and environment."



उपरोक्त रेखाचित्र मे सीखने की क्रिया के निम्नलिखित तीन प्रमुख हैं—

(क) बालक अथवा शिष्य।
(ख) अध्यापक अथवा गुरु।
(ग) सीखने की परिस्थितियां।

अब क्रमशः इन तीनों अंगों से सम्बन्धित सीखने की क्रिया को प्रभावित करने वाली दशाओं अथवा कारको (Factors) का वर्णन करते हैं।

(क) बालक अथवा शिष्य से सम्बन्धित कारक

(1) बालक का शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य (Bodily and Mental Health)—शारीरिक और मानसिक रोगों से ग्रस्त कर्ता क जीवन के सभी क्षेत्रों मे पिछड़ते हैं अतएव शैक्षिक प्रगति के लिए स्वस्थता पहली आवश्यकता है।

(2) अभिवृद्धि और विकास (Growth and Development)—जिन बच्चों की सामान्य अभिवृद्धि और विकास नही होता उनकी शैक्षिक प्रगति में भी बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं।

(3) परिपक्वता (Maturation)—जैसा कि पिछले अध्यायों में बताया जा चुका है बाल्यकाल मे नवीन व्यवहार सीखने के लिये यथेष्ट शारीरिक और मानसिक परिपक्वता का होना आवश्यक है।

(4) थकना (Fatigue)—सीखने की क्रिया पर थकान का प्रभाव पड़ता है। छोटे बच्चो को मानसिक थकावट भी जल्दी ही होती है। अतएव परिवर्तन तथा मनोरंजन द्वारा उनकी मानसिक थकान दूर होती रहनी चाहिये। अन्यथा थकान की दशा में सीखने की क्रिया मन्द और कुशलतारहित हो जाती है।

(5) सीखने की इच्छा, रुचि और प्रेरणा (Motive Will to Learn)—बिना इच्छा और बिना प्रेरणा के बालक को किसी भी नवीन पाठ के पढ़ाने के सभी प्रयत्न विफल होते हैं। उदाहरणार्थ—घोड़े को पानी तक ले जाया जा सकता है परन्तु उसे पानी पीने को विवश नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार बालक को जबरन ठेल कर विद्यालय में तो भेजा जा सकता है परन्तु विद्यालय में वह शिक्षा से लाभ तभी उठा सकता है जबकि उसके अन्दर ज्ञान प्राप्त करने की आकांक्षा हो और उसे शिक्षा ग्रहण करके अपना भविष्य उज्ज्वल बनाने के लिए प्रेरित किया जा चुका हो। प्रेरणा का विस्तृत वर्णन अगले अध्याय में किया गया है।

(ख) अध्यापक से सम्बन्धित कारक

(1) अध्यापन विधियाँ (Methods of Teaching)—शिक्षण कार्य अध्यापक के लिए कलात्मक कार्य है। और यही शिष्य के लिए सीखने की प्रक्रिया भी है। अध्यापन की विधियाँ जितनी वैज्ञानिक और प्रभावशाली होंगी उतनी ही सीखने की क्रिया सरल और लाभदायक होगी। उदाहरणार्थ—अध्यापन की उपयोगी विधियाँ हैं: करके सीखना (Learning by Doing), निरीक्षण द्वारा सीखना (Learning by Observation), प्रयोग द्वारा सीखना (Learning by Experiment), योजना पद्धति से सीखना (Learning by Project Method), अनुभव द्वारा सीखना (Learning by Experience or Living), गोष्ठी या वाद-विवाद से सीखना (Learning by Discussion Method), खेल विधि से सीखना (Learning by Play way), जीवन से सम्बन्धित करके पढ़ाना (Teaching by Correlation Method), खोज विधि (Heuristic Method), आदि।

(2) पाठ्यक्रम—विद्यालयों में छात्रों के सीखने की प्रगति पाठ्यक्रम की उपयुक्तता, रोचकता एवं सरलता आदि गुणों पर निर्भर करती है। पाठ्यक्रम अथवा विषयवस्तु का चयन एवं निर्धारण अध्यापक द्वारा होता है।

(3) अध्यापक का व्यक्तिगत् प्रभाव—अध्यापन कार्य में अध्यापक का व्यक्तित्व और उससे मिलने वाले प्रभाव भी छात्रों के सीखने की क्रिया को प्रभावित करते हैं। जैसे—नैतिकता, जीवन के आदर्श और आदतें आदि।

(4) अध्यापक का ज्ञान और बुद्धिमत्ता—अध्यापक ज्ञान, अनुभव और योग्यता में प्रौढ़ समाज का प्रतिनिधि होता है। यदि वह समाज का प्रतिनिधित्व करने में असफल हो जाता है तो वह छात्रों को भी समाज की आकांक्षाओं के अनुकूल बातें नही सिखा सकता। उसे सामाजिक दशाओं और सांस्कृतिक परम्पराओं से भी परिचित होना चाहिए।

(ग) सीखने की परिस्थितियों से सम्बन्धित कारक

(1) परिवार के संस्कार—बालक विद्यालय में आने से पूर्व बहुत-सी आधारभूत बातें परिवार में ही सीखकर आता है, जिनका प्रभाव विद्यालय में सीखने की क्रियाओं पर पड़ता है।

(2) विद्यालय का वातावरण—बालक के सीखने की मनोदशा बहुत कुछ विद्यालय की परिस्थितियों से भी प्रभावित होती है। जिन विद्यालयों में झगड़े,

पक्षपात, अन्यायपूर्ण कार्य होते हैं, वहाँ के अध्यापकों और छात्रों का ध्यान भी अध्यापन अथवा अध्ययन से हटकर अन्य बातों में लग जाता है और उनकी शैक्षिक प्रगति रुक जाती है।

(3) सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण—समाज में प्रचलित ऊँच-नीच की भावनाएँ, सामाजिक स्तर में भिन्नता आदि बातें, सीखने की क्रिया को हानिकारक ढंग से प्रभावित करती हैं। परिवार और विद्यालय में बालक को अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं से परिचय प्राप्त करने का अवसर मिलता है। विद्यालय का कार्य रूढ़िवादी परम्पराओं को परिष्कृत करके एक नवीन पीढ़ी प्रदान करना है जिससे कि वे प्रगतिशील ढंग से ज्ञानार्जन कर सकें और जीवन की परिस्थितियों के प्रति उनका दृष्टिकोण उपयुक्त रूप से विकसित हो सके।

(4) शिक्षा के अनौपचारिक साधन व प्रचार कार्य—बालक के सीखने की क्रियाएँ केवल विद्यालय तक ही सीमित नहीं होती हैं। वह समाचार-पत्र, रेडियो, चलचित्र व प्रचार साधनों से भी अनेक बातें सीखता है। विद्यालय का पुस्तकालय, वाचनालय तथा अन्य कार्यक्रम भी उसके सीखने को प्रभावित करते रहते हैं। वे साधन विद्यालय के बाहर भी उसके सीखने के क्षेत्र को हानिकारक अथवा लाभदायक ढंग से प्रभावित करते हैं।

(5) कक्षा या विद्यालय का वातावरण—सीखना एक सामाजिक क्रिया है। कक्षा या विद्यालय एक लघु समाज है। अतः कक्षा के वातावरण में सामाजिकता और उससे सम्बन्धित तत्वों (सहयोग, सहानुभूति, स्पर्धा, नेतृत्व आदि) का विद्यमान रहना बहुत आवश्यक है। सीखने का बहुत बड़ा भाग सामाजिक परिस्थितियों में विचारों का आदान-प्रदान करना है। यह कार्य अध्यापक के नेतृत्व में कक्षा में होता है। विद्यालय की कार्य प्रणाली अनुशासन और व्यवस्था आदि प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से छात्रों के सीखने की क्रिया को प्रभावित करते हैं।

(5) पाठ योजना—छात्रों द्वारा सीखने में सफलता बहुत कुछ अध्यापक की पाठ योजना पर भी निर्भर करती है। विषय-सामग्री का चयन, प्रस्तुत करने में रोचकता, सुगमता और क्रियाशीलता आदि ऐसे गुण हैं जो सीखने की क्रिया से सीधा सम्बन्ध रखते हैं। अच्छी पाठ योजना बनाने के लिए विषय-वस्तु का विश्लेषण करते हुए उसे अध्यापन के लक्ष्यों के अनुसार ही क्रम से प्रस्तुत करना चाहिए।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. सीखने की विभिन्न परिभाषाएँ दीजिए और सीखने की क्रिया पर वातावरण का प्रभाव स्पष्ट कीजिए।
2. परिपक्वता का सीखने से क्या सम्बन्ध है ? उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।
3. सीखने की प्रक्रिया के प्रमुख अंगों (कारकों) का वर्णन कीजिए और बताइये कि इनमें बालक का महत्व सबसे अधिक क्यों है ?

22

सीखने की क्रिया के विभिन्न रूप
(FORMS OF LEARNING PROCESS)

सीखना : एक मानसिक प्रक्रिया
(Learning : a Mental Process)

मानसिक प्रक्रिया का अर्थ—सीखने के विभिन्न सिद्धान्तों, नियमों और प्रकारों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सीखना एक मानसिक प्रक्रिया है। प्रत्येक अध्यापक को इस प्रक्रिया के मानसिक लक्षणों तथा कारकों से भली भांति परिचित होना चाहिए। वह इन लक्षणों और कारकों को ध्यान में रख कर अपने दैनिक शिक्षा कार्य को सुनियोजित और प्रभावशाली बना सकता है।

सीखने की परिभापाएँ इस बात पर बल देती हैं कि सीखना, अनुभव से लाभ उठाना है। परन्तु शिशु, बालक अथवा किशोर शैक्षिक अनुभवों से किस प्रकार लाभ उठाते हैं, एक अनुभव को मस्तिष्क द्वारा ग्रहण करने में कौन-कौन-सी मानसिक क्रियायें होती हैं, और कौन-सी मानसिक शक्तियां इस कार्य में संलग्न रहती हैं, अध्यापक के लिए अध्यापन की दृष्टि से इन सब बातों का ज्ञान होना बहुत आवश्यक है।

यह बात विवाद-रहित है कि स्कूली वातावरण में सीखना एक शुद्ध मानसिक प्रक्रिया है। अत: हम इस प्रक्रिया के विभिन्न अंगों पर विचार करते हैं।

सीखना : एक सामाजिक प्रक्रिया
(Learning : a Social Process)

1. **विद्यालय एक लघु समाज है**—विद्यालय अथवा कक्षा भी समाज का ही एक छोटा रूप होता है। उसमें सामाजिक जीवन और सामाजिक अनुभूतियों के सभी तत्व विद्यमान रहते हैं। विद्यालय में बालक के व्यवहार का सामाजीकरण होता है। सामाजीकरण की प्रक्रियाओं से अग्रसरित होते हुए वह अनेक मानवीय बातें ग्रहण करता है और नवीन ज्ञान तथा अनुभव द्वारा अपने व्यवहार को निरन्तर परिवर्तित करता रहता है। अध्यापक के लिए उन सभी सामाजिक कारकों से परिचित होना आवश्यक है जो कक्षा या विद्यालय में प्रभावकारक होते हैं। अतएव हम उन कारकों का उल्लेख करते हैं जो सामाजिक दशाओं में सीखने की क्रिया को प्रभावित करते हैं। यद्यपि इन कारकों की चर्चा अन्यत्र भी की जा चुकी है।

(क) अनुकरण (Imitation)—खेल के मैदान में, प्रयोगशाला में, प्रार्थना सभा

में तथा विद्यालय की अन्य सामूहिक क्रियाओं में भाग लेकर भी बालक अनुकरण द्वारा बहुत-सी नवीन बातें सीखता है।

(ख) संकेत (Suggestion)—कक्षाकार्य तथा पाठ्य सहगामी क्रियाओं में भाग लेकर बालक अपने अध्यापकों तथा साथियों के विचारों को अप्रत्यक्ष रूप से ग्रहण करता रहता है। इस प्रकार वह नवीन विचार, दृष्टिकोणों तथा कल्पनाओं का ज्ञान प्राप्त करता रहता है।

(ग) सहानुभूति (Sympathy)—समूह मे संकेत तथा अनुकरण के समान स्वाभाविक प्रवृत्ति भी कार्य करती है। अतएव सहानुभूति द्वारा बालक अपने अध्यापकों तथा साथियों के भावों का प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से अनुकरण करता रहता है। इस प्रकार वह संवेग प्रकाशन के नये ढंग, तथा नवीन अभिवृत्तियाँ (Attitudes) भी सीखता है।

(घ) प्रशंसा तथा निन्दा (Praise and Blame)—सीखने के सम्बन्ध मे प्रशंसा तथा निन्दा का उल्लेख अन्यत्र किया गया है। प्रशसा और निन्दा समूह में ही अपना प्रभाव दिखाती हैं। अकेले मे इनका प्रभाव कम हो जाता है।

(ङ) प्रतिस्पर्धा (Competition)—कक्षा तथा विद्यालय में प्रतियोगिताएँ आयोजित करके अध्यापक सीखने की क्रिया को तीव्र गति प्रदान कर सकता है। स्पर्धा का भाव जाग्रत करने में पुरस्कार, प्रशसा तथा निन्दा बहुत सहायक होते हैं।

(च) सहयोग तथा विरोध (Co-operation and Opposition)—समूह मे रह कर बालक सहयोग देना और सहयोग लेना भी सीखता है। यदि छात्रों का सहयोग अध्यापक को मिलता रहता है तो उसे अध्यापन में अधिक सफलता प्राप्त होती है। समूह में रहकर बालक उन बातो के प्रति विरोध प्रदर्शित करना सीखता है जो अन्यायपूर्ण या हानिकारक हैं।

सीखना : एक जननिक प्रक्रिया है
(Learning : a Genetic Process)

सीखना एक ऐसी मानसिक प्रक्रिया है जिसमे अनेक लघु क्रियाएँ तथा प्रक्रियाएँ सम्मिलित रहती हैं। सीखना एक ऐसा मानसिक सगठन है, जिसके द्वारा इन क्रियाओं तथा प्रक्रियाओं का पुनंगठन होता रहता है। किसी नई बात को सीखने के साथ ही मानसिक जगत मे नवीन व्यवस्था उत्पन्न होती है। अध्यापक का मानसिक एकीकरण तथा संगठन की क्रियाओ से भलीभांति अवगत होना आवश्यक है, जिससे कि वह सीखने के सिद्धान्तों तथा नियमों को अच्छी प्रकार से व्यवहार में प्रयुक्त कर सके। जननिक दृष्टि से सीखने की प्रक्रिया के प्रमुख तत्वो का उल्लेख निम्नलिखित है। ये तत्व सीखने में स्थानान्तरण को भी प्रभावित करते हैं।

(i) सीखने वाले की उन्मुखता (Orientation)—उन्मुखता से हमारा अभिप्राय सीखने के कार्य (विषय-वस्तु अथवा समस्या) की ओर ध्यान देकर साक्षात करने से है। स्टीम एन्जिन के आविष्कारक जेम्स वॉट ने चूल्हे पर चढ़ी हुई पतीली से निकलती हुई भाप को ध्यान से देखा। उसने इस बात को प्रत्यक्ष देखकर कि पतीली का ढक्कन भाप की तेजी से हट जाता है और भाप वेग के साथ बाहर

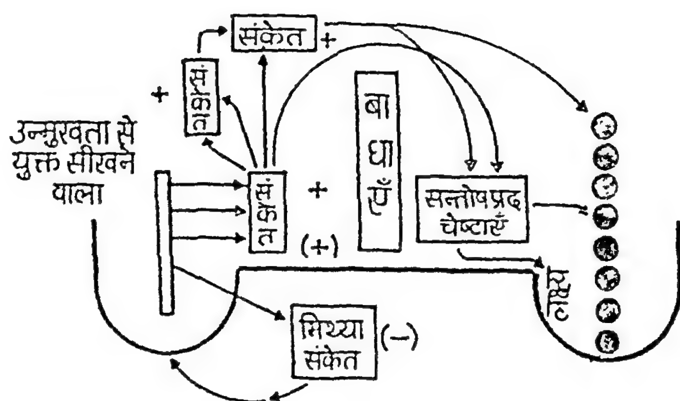
निकलती है, यह अनुमान लगाया कि भाप एक शक्ति हो सकती है। अब उसके समक्ष यह समस्या उत्पन्न हुई कि इस शक्ति का सदुपयोग मानवीय कार्यों के लिए किस प्रकार किया जा सकता है ? उसके समक्ष लक्ष्य (Goal) स्पष्ट था। उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उसे कुछ बाधाओं (Obstacles) को पार करना था और बाधाओं को पार करने के लिए आवश्यक (उपयोगी अथवा कार्यसाधक) कारकों का ज्ञान प्राप्त करना था और उसके लिए साधन भी जुटाने थे। सीखने की क्रिया में भी इसी प्रकार की उन्मुखता वांछनीय है। इस प्रकार उन्मुखता के प्रमुख अंग हैं—

(क) सीखने वाले में लक्ष्य के प्रति चैतन्यता।
(ख) लक्ष्य या लक्ष्यों की स्पष्ट स्थिति।
(ग) लक्ष्य और सीखने वाले के बीच बाधायें।
(घ) बाधाओं को पार करने में सहायक कारकों का ज्ञान।
(ङ) बाधाओं को पार कर लक्ष्य तक पहुँचने के लिए साधन जुटाने की क्षमता।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सीखने की प्रक्रिया एक लक्ष्यगामी क्रिया (Goal Directed Activity) है। यदि सीखने वाला प्रारम्भ में ही लक्ष्य को भलीभाँति जान लेता है तो सीखने की क्रिया के प्रयत्न सही दिशा में अग्रसर होते हैं। शिक्षार्थी के मार्ग में आने वाली बाधायें दो प्रकार की होती हैं—

(अ) नकारात्मक (Negative)—वे क्रियायें या दशायें जो लक्ष्य की ओर अग्रसर होने में कठिनाई अथवा विलम्ब उत्पन्न करती हैं। नकारात्मक बाधायें कहलाती हैं।
(ब) सकारात्मक (Positive)—वे क्रियाएँ अथवा परिस्थितियाँ जो लक्ष्य की ओर अग्रसर होने में शिक्षार्थी की सहायता करती हैं, सकारात्मक बाधायें कहलाती हैं।

नीचे के चित्र में ये बाधायें क्रमशः (—) तथा (+) के चिन्हों से दिखाई गई हैं।



सीखना एक लक्ष्यगामी क्रिया

यदि सीखने वाला सीखने की क्रिया में मिथ्या संकेतों को ग्रहण करता है तो वह सीखने की क्रिया में असफल रहता है। सीखने की प्रगति रुक जाती है और

शिक्षार्थी लक्ष्य की ओर नही बढ़ पाता । जैसे—साइकिल चलाना या तैरना सीखने में मिथ्या सकेतों (गलत क्रियाओं) को ग्रहण करने से और उन पर बल देने से प्रगति रुक जाती है ।

(ii) सीखना खोज (Exploration) है—सीखने की प्रक्रिया मे बाधाओं का विशेष प्रयोजन होता है । *शिक्षार्थी लक्ष्य तक पहुँचना चाहता है किन्तु बाधाएँ उसे* मजबूर कर देती हैं कि वह पहले सीखने की परिस्थिति की खोज करे और उन कारकों की खोज करे जो लक्ष्य तक पहुँचने में सहायक हों या उन कौशलों (Skills) पर अधिकार प्राप्त करे जो लक्ष्य के निकट तक पहुँचाने में सहायक हो सकते हैं। यदि एक बार उन्मुखता उत्पन्न हो जाती है तो खोज का कार्य शिक्षार्थी स्वप्रेरणा से करता है । ऐसे छात्रो को अध्यापकों से केवल प्रेरणा प्राप्त होती रहनी चाहिए । अध्यापक समय-समय पर उसे निर्देश भी देते रहें । शेष कार्य वह स्वयं करता रहेगा । प्रेरणा के अभाव मे उन्मुखता में कमी आ सकती है और निर्देश के अभाव में वह गलत चिन्हों को ग्रहण कर सकता है ।

(iii) सीखना विस्तार (Elaboration) करना है—खोज की क्रिया भौतिक और मानसिक दोनो स्तरो पर होती है । सीखने वाला किसी समस्या को हल करने के लिए मानसिक स्तर पर प्रयास और त्रुटि करता है । वह समस्या को हल करने के उपायों को कल्पना के सहारे विस्तृत बनाता है । वह समस्या के सभी पहलुओं से सम्बन्धित मानसिक चित्र बनाता है और बिगाड़ता है। इस प्रकार उसके मन (Mind) में समस्या के प्रयास का विस्तार होता है । इस प्रकार वह उस समस्या को सुलझाने की विधियो या युक्तियों को परिष्कृत करता है । वह इस बात का मूल्यांकन भी कर लेता है कि लक्ष्य तक पहुँचने मे उसे कितनी सफलता मिल रही है । अध्यापक का कार्य समस्या को सुलझाने की विधियों अथवा युक्तियो के गुण-दोष पर भी प्रकाश डालना है, जिससे शिक्षार्थी इनमें वांछित सुधार कर सके ।

(iv) सीखना उपायों को निश्चित करना (Articulation) है—समस्या के सभी पक्षों की खोज और विस्तार करने के पश्चात् ही शिक्षार्थी यह निश्चित करता है कि किन-किन विधियों अथवा युक्तियों को अपना कर वह लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है । शिक्षार्थी उन प्रतिक्रियाओं या युक्तियो को अधिक लगन और विश्वास से *अपनाता है जो लक्ष्य की ओर अग्रसरित करने में सहायक होती हैं। बाधाओ को* पार करने के प्रयत्नों में उसे अनेकों सकेतों (Clues) की प्राप्ति होती है । वह कारगर सकेतों के सहारे आगे बढ़ता है। एक कुशल अध्यापक जो कि बालक की सीखने की क्रियाओं का निरन्तर सूक्ष्म निरीक्षण करता रहता है वह आवश्यकता पड़ने पर यह भी समझा सकता है कि अमुक सकेत या युक्ति कारगर क्यों है । ऐसा वही अध्यापक कर सकता है जो बालक के सीखने की समस्याओं का सूक्ष्म विश्लेषण करता रहता है ।

(v) सीखना सरलीकरण (Simplification) है—सरलीकरण सीखने की प्रक्रिया मे वह दशा है जब सीखने वाला बाधाओं को पार करके लक्ष्य की ओर निश्चित रूप से बढ़ने के उपाय खोज लेता है। वह अनावश्यक क्रियाओ, मिथ्या संकेतों और उन युक्तियों को त्याग देता है जो कारगर नहीं होतीं । शिक्षार्थी को

यदि अध्यापक की उचित सहायता मिल जाती है तो वह सरलीकरण की स्थिति में शीघ्र पहुँच जाता है।

(vi) **सीखना स्वचालन की स्थिति (Automatization) है**—फुटबॉल, हॉकी या टेनिस के खिलाड़ी को, जबकि वह इन खेलों के सीखने की प्रारम्भिक अवस्था में होता है तब उसे क्रमानुसार शनैः-शनैः उन्मुखता, खोज, विस्तार और उपायों अथवा युक्तियों का चयन करने की प्रक्रिया में होकर ही अग्रसरित होना पड़ता है। परन्तु जैसे-जैसे खेल की दक्षता में वृद्धि होती जाती है, उसमें स्वचालन की स्थिति भी उत्पन्न होने लगती है। गेंद को बल्ले या हॉकी पर लेने में उसे अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता। ठीक इसी प्रकार गणित में एक योग्य विद्यार्थी को प्रश्न हल करने के लिए अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता। लेखन तथा वाचन की निपुणता प्राप्त करने में भी शिक्षार्थी को लगभग इन्हीं प्रक्रियाओं (उन्मुखता, खोज, विस्तार आदि) द्वारा अग्रसरित होना पड़ता है। अभ्यास और परिश्रम से वह आवश्यक कौशल, युक्तियाँ, संकेत या सूझ-बूझ प्राप्त करके लक्ष्य तक पहुँचना सीख लेता है। दक्षता में वृद्धि के साथ-साथ ही शक्ति की बचत भी होने लगती है और वह कार्य स्वचालन की स्थिति में पहुँच जाता है।

(vii) **पुनर्उन्मुखता (Reorientation)**—एक समस्या को सुलझाने के पश्चात् या किसी कार्य में दक्षता प्राप्त करने के उपरान्त उससे मिलती-जुलती समस्या अथवा कार्य को हल करने के लिए पुनः उन्मुख होने की स्थिति आ जाती है। इस प्रकार सरल से कठिन की ओर, सीखने का क्रम चलता रहता है।

सीखने के प्रकार या भेद
(Kinds of Learning)

सीखने के प्रकारों का वर्गीकरण अनेक दृष्टिकोणों से किया जा सकता है, जैसे—सिद्धान्तों के आधार पर, विधि के आधार पर, सीखने की वस्तु या क्रिया के आधार पर।

सीखने की पद्धति पर आधारित प्रकार—

(1) निरीक्षण द्वारा सीखना (Observational Learning)
(2) अनुकरण द्वारा सीखना (Learning by Imitation)
(3) प्रयास एवं त्रुटि द्वारा सीखना (Learning by Trial and Error)
(4) अन्तर्दृष्टि से सीखना (Learning by Insight)
(5) सम्बद्ध प्रतिक्रिया द्वारा सीखना (Learning by Conditioning)

सीखने की इन विधियों की व्याख्या मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर आगामी अध्याय में की जायेगी। अनुकरण एक सामान्य प्रवृत्ति है, जिस पर पिछले अध्यायों में सविस्तार विचार किया जा चुका है। बालक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से दूसरों के कार्य, भाव और विचारों का अनुकरण करते रहते हैं। बहुत-सा सामाजिक और नैतिक व्यवहार अनुकरण द्वारा ही सीखा जाता है, जैसे दैनिक शिष्टाचार की बातें, प्रतिदिन काम में आने वाले शारीरिक कौशल, सामाजिक तथा संवेगात्मक प्रतिक्रिया करने के ढंग आदि। विद्यालय में अनुकरण द्वारा सीखने के लिए यह आवश्यक है कि विद्यालय के शैक्षिक वातावरण में सुन्दर अनुकरणीय उद्दीपकों को

उचित स्थान दिया जाये। विद्यालय में कुछ विशेष क्रियायें अनुकरण द्वारा ही सीखी जाती हैं, जैसे—सुन्दर लिखावट, शुद्ध उच्चारण, उठने-बैठने का ढंग, भाषा के सुन्दर प्रयोग एवं खेल आदि।

सीखने की वस्तु या परिणाम पर आधारित सीखने के भेद अथवा प्रकार
(Kinds or Types of Learning based on Subject Matter and Method of Learning)

सीखने की क्रिया, ढंग, विषय-वस्तु एवं परिणाम आदि बातों को ध्यान में रखकर सीखना, अथवा अधिगम् के प्रकारों की चर्चा भी की जा सकती है जो इस प्रकार हैं—

(7) संवेदनात्मक—सवेदन क्रियाओं का सीखना (Sensorymotor Learning) किसी भी कुशलतापूर्ण कार्य या शारीरिक कौशल को सीखने में, जैसे—तैरना, साईकिल चलाना, टेलीग्राफी आदि कार्यों के सीखने मे गामक क्षमताओं का प्रशिक्षण होता है। ध्वनि यन्त्र के प्रयोग से शिशु बार-बार निरर्थक शब्दों को दोहराकर, बोलने की कला सीख लेता है।

(2) गामक अधिगम् (Motor Learning)—समस्त शारीरिक कुशलता के कार्यों मे जैसे—सिर उठाना, देखना, बैठना, चलना एवं कूदना आदि में, जहाँ पर अंग संचालन तथा गति पर नियन्त्रण की आवश्यकता होती है। इसी ढग से सीखने की क्रिया होती है।

(3) बौद्धिक अधिगम (Intellectual Learning)—सीखने का यह ढंग बौद्धिक विकास और ज्ञानार्जन की समस्त क्रियाओं पर प्रयुक्त होता है। ये क्रियाएँ निम्न प्रकार की होती हैं—

(क) प्रत्यक्षात्मक सीखना (Perceptual Learing)—शैशव और बाल्यकाल मे ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से अर्थात प्रत्यक्ष देखकर, सुनकर अथवा स्पर्श करके वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। यह सीखने का प्रत्यक्षात्मक स्तर है।

(ख) प्रत्ययात्मक सीखना (Conceptual Learning)—जब बालक साधारण ज्ञान और अनुभव प्राप्त कर लेता है तो वह तर्क, चिन्तन और कल्पना के सहारे बहुत सी अमूर्त बातें सीखने लगता है। इसे प्रत्ययात्मक सीखना कहते हैं। इसमें इन्द्रिय संवेदना से ऊपर उठकर वह सीखने की क्रिया में पूर्वार्जित ज्ञान और बुद्धिमता का उपयोग करता है।

(ग) साहचर्यात्मक सीखना (Associative Learning)—सीखने की क्रिया में नवीन ज्ञान और अनुभव पुराने ज्ञान और अनुभव से साहचर्य द्वारा सम्बन्धित होता है। इससे पूर्वार्जित ज्ञान और पूर्व धारणाओं को बल मिलता है। प्रत्ययात्मक सीखने मे साहचर्य स्थापित होने की क्रिया स्वाभाविक रूप से होती रहती है।

(घ) अनुशीलनात्मक अधिगम (Appreciational Learning)—जब बालक मे वस्तुओं और घटनाओं में गुण-दोष, अच्छाई-बुराई एवं सौन्दर्य आदि का

बोध करने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है तो वह कविता, इतिहास, नाटक आदि के अध्ययन में अनुशीलनात्मक अधिगम ग्रहण करता है।

(4) अनुकरणात्मक अधिगम (Imitative Learning)—प्रत्येक बालक मातृभाषा इसी विधि से सीखता है। संगीत, नृत्य और कला आदि व्यावहारिक विषयों में अनुकरण द्वारा ध्वनि, ताल, मुद्रा, हाव-भाव और प्रदर्शन आदि क्रियाएँ सीखी जाती हैं।

(5) सामाजिक अधिगम (Social Learning)—सामाजिक परिस्थितियों में दूसरों के आचरण और दृष्टिकोण को सीखना सामाजिक अधिगम कहलाता है। इस प्रकार से सीखने में अभिवृत्तियों के अनुकरण (Imitation of Attitudes) का विशेष महत्व रहता है।

सीखने की क्रिया का विश्लेषण
(Analysis of Learning)

सीखना एक विस्तृत, व्यापक और जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। अतः इसका विश्लेषण करके इसके प्रमुख अंगों पर ध्यान देना आवश्यक है।

1. सीखने का उद्देश्य (Objective of Learning)—कोई नौकरी या व्यवसाय करने के लिए किसी कार्य को सीखता है, तो कोई केवल रुचि अथवा मनोरंजन के लिए उस कार्य को सीखता है। मनुष्य उस क्रिया को नहीं सीखना चाहता जो उसके जीवन की किसी आवश्यकता, रुचि अथवा उद्देश्य विशेष की पूर्ति नहीं करती।

2. अभिप्रेरणा (Motivation)—बिना प्रेरणा के सीखने की क्रिया में वांछित सफलता नहीं मिलती। छात्र परिश्रम करता है ताकि परीक्षा में अच्छे अंक प्राप्त हों। अच्छे अंकों पर ही उसके परीक्षा परिणाम की श्रेष्ठता निर्भर करती है और परीक्षा परिणामों को देखकर ही उसे किसी अच्छे पद अथवा कार्य के लिए चुना जाता है। मनुष्य के सभी कार्यों के मूल में कोई न कोई प्रेरणा मौजूद रहती है।

3. उत्तेजना (Stimulus)—अभिप्रेरणा दूर की वस्तु है परन्तु उत्तेजना वर्तमान स्थिति में सीखने की क्रिया में जीवन डालती है। उत्तेजना से सीखने की क्रिया के संचालन में सहायता मिलती है।

4. प्रत्यक्षीकरण (Perception)—सीखने की सम्पूर्ण परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण करके ही उसके अंगों, क्रियाओं तथा उपक्रियाओं पर ध्यान केन्द्रित करने से सीखने की क्रिया में प्रगति होती है।

5. पुनर्बलन (Re-inforcement)—वे सब क्रियाएँ और कार्यक्रम जो सीखने को दृढ़ता और स्थायित्व प्रदान करते हैं, पुनर्बलन के अन्तर्गत आ जाते हैं। अभ्यास, वार्षिक और मासिक परीक्षाएँ, अध्यापक के आदेश आदि सीखने में अनेक प्रकार से सहायक होते हैं।

6. संगठन—प्रत्येक प्रकार की सीखने की क्रिया में प्रगति के साथ-साथ ही

नसिक संगठन होता रहता है। नवीन ज्ञान और अनुभव पूर्वार्जित ज्ञान के साथ सगठित होता है। आदतें, कुशलतायें, योग्यतायें और अभिवृत्तियाँ भी सीखने की या में परपस्र संगठित होती हैं।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. "सीखना एक सामाजिक प्रक्रिया है।" इस कथन का विवेचन कीजिए।
2. 'जननिक प्रक्रिया' की दृष्टि से सीखने का वर्णन कीजिए और इस प्रक्रिया में संकेतो का महत्त्व स्पष्ट कीजिए।
3. सीखने की क्रिया का विश्लेषण कीजिए और सीखने के भेद बताइये।

23

सीखने के सिद्धान्त और नियम
(PRINCIPLES AND LAWS OF LEARNING)

यह सर्वविदित है कि व्यक्ति अनुभवों के द्वारा सीखता है और परिस्थितियं में परिवर्तन होने पर व्यक्ति के व्यवहार में भी परिवर्तन आने लगता है। परन्‍ मनुष्य क्यों सीखता है ? यह एक विवादास्पद प्रश्न है।

सीखने की प्रक्रिया की व्याख्या मनोवैज्ञानिकों के विभिन्न सम्प्रदायों ने अपने अपने दृष्टिकोण से की है। सीखने से सम्बन्धित प्रयोग एवं निरीक्षणों के आधार प अनेकों सिद्धान्तों और नियमों की खोज की गई है। अतः इन सम्प्रदायों के सन्दर्भ यह कहना अनुचित होगा कि कौन-सा सिद्धान्त सही है अथवा कौनसा गलत। इ सम्बन्ध में फ्रैन्डसेन का मत अधिक उपयुक्त है—"सिद्धान्त न तो पूर्णतः ठीक हे होते हैं न पूर्णरूप से गलत ही तथापि वे कार्यानुसार कम अथवा अधिक लाभप्र हो सकते हैं।[1]

इस कथन के अनुसार सीखने के अधिक युक्तिपूर्ण और उपयोगी सिद्धान्तों व चर्चा आगे की जायगी। यहाँ पर इन नियमों और सिद्धान्तों का उल्लेख कर उचित होगा। ये सिद्धान्त और नियम इस बात पर भी प्रकाश डालते हैं कि मान शिशु कुछ सफल प्रतिक्रियाओं को क्यों ग्रहण करता है और अशुद्ध प्रतिक्रियाओं किस प्रकार मुक्ति पाता है।

(1) साहचर्यवाद और सीखना

प्राचीनकाल से ही विचारों के साहचर्य (Association of Ideas) में विद्वा का विश्वास रहा है। अरस्तू ने (384-322 B. C.) स्मृति की व्याख्या विच साहचर्य सिद्धान्त पर की थी। उसके अनुसार हमारे मन में एक विचार दूसरे विच को लाने में सहायक होता है। इसे मनोविज्ञान में पुनश्चेतना (Recall) कहते है यह पुनश्चेतना अधिक सरल हो जाती है, यदि दूसरा विचार पहले विचार के सम (Similar) होता है अथवा विपरीत (Contrasting) होता है। या सहचा (Contiguous) होता है। बाद में साहचर्य के साथ सुख अथवा दुःख (Pleasure Pain) का सिद्धान्त भी इसमें सम्मिलित कर दिया गया। इसके अनुसार सुखद प्र क्रियाएँ या अनुभव हमारी स्मृति में अधिक सबल हो जाते हैं, जबकि दुखद अनुभव

---

1 Frandsen : *op. cit.* p. 32.

प्रतिक्रियाएँ क्षीण होकर अधिक समय तक मन में विद्यमान नहीं रहतीं। भौतिक दृष्टि से भी मस्तिष्क के अनेक क्षेत्रों की यन्त्रवत क्रियाओं को मानसिक साहचर्य के समानान्तर सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। बाल्यकालीन अनुभवों के द्वारा प्राप्त अनेक विचार साहचर्य (Association of Ideas) जीवन में स्थायी हो जाते हैं। जिस बालक को आइसक्रीम खाने की कड़ी मनाही कर दी गई है, वह बालक ज्यों ही आइसक्रीम देखता है उसे माता-पिता का क्रोध स्मरण हो आता है क्योंकि उसके मन में आइसक्रीम का विचार और माता-पिता का क्रोध, इन दोनों विचारों का साहचर्य स्थापित हो चुका है।

इस प्रकार के अप्रिय साहचर्यों की खोज मनोविश्लेषणवादी मनोविश्लेषण द्वारा करते हैं और व्यक्ति को उसके अनावश्यक भय अथवा अवांछनीय व्यवहार का कारण भी समझा देते हैं। कुछ परिस्थितियों में विचारों का साहचर्य अधिक दृढ़ता से होता है। उदाहरणार्थ—

(1) एक ही अनुभव का बार-बार होना (Frequency)
(2) अनुभव की नवीनता (Recency)
(3) अनुभव की तीव्रता (Intensity), इन्हें साहचर्य के नियम भी कहते हैं।

अभ्यास द्वारा अनुभवगत साहचर्यों को अधिक दृढ़ बनाया जा सकता है। साहचर्य के नियमों का उल्लेख स्मृति के अध्याय में किया गया है। साहचर्य के सिद्धान्त और नियम सीखने की अपेक्षा स्मृति पर अधिक प्रकाश डालते हैं।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सीखने के सम्बन्ध में विचार साहचर्य का सिद्धान्त अविश्वसनीय नहीं है। हाँ, यह सिद्धान्त जीवन की प्रेरणाओं की अवहेलना अवश्य करता है। इसके आधार पर उच्च स्तर की मानसिक क्रियाओं की व्याख्या करना कठिन है। यह सिद्धान्त भी सीखने की क्रिया की सम्पूर्ण व्याख्या नहीं करता।

व्यवहारवाद और सीखना

उत्तेजना-प्रक्रिया सिद्धान्त, उ० प्र० सिद्धान्त (Stimulus Response Theory or S—R Theory) अथवा थॉर्नडाइक का सम्बन्धवाद, अथवा सम्बन्धवाद का सिद्धान्त अथवा सीखने का सम्बन्ध सिद्धान्त (Bond Theory of Learning)

थॉर्नडाइक और वुडवर्थ ने इस बात पर बल दिया है कि सभी मानसिक घटनायें, किसी उत्तेजना की प्रक्रिया होती हैं। किसी भी कार्य में व्यक्ति को प्रभावित करने वाली वस्तु, परिस्थिति या उत्तेजना (उ) होती है, दूसरी वस्तु प्रक्रिया (प्र) होती है। एक विशेष उत्तेजना किसी प्रक्रिया 'प्र' से (उ—प्र) अनुबन्ध (S—R Bond) द्वारा इस प्रकार सम्बन्धित हो जाती है कि भविष्य में उत्तेजना (उ) की उपस्थिति में वही प्रतिक्रिया (प्र) घटित होती है। उ—प्र सम्बन्ध के कारण ही यह सिद्धान्त सम्बद्धवाद (Connectionism) भी कहलाता है। थॉर्नडाइक ने उत्तेजना और प्रक्रिया के सम्बन्धों की व्याख्या द्वारा ही सीखने की क्रिया के सम्बन्ध को स्पष्ट किया है।

23

सीखने के सिद्धान्त और नियम
(PRINCIPLES AND LAWS OF LEARNING)

यह सर्वविदित है कि व्यक्ति अनुभवों के द्वारा सीखता है और परिस्थितियों में परिवर्तन होने पर व्यक्ति के व्यवहार में भी परिवर्तन आने लगता है। परन्तु मनुष्य क्यों सीखता है ? यह एक विवादास्पद प्रश्न है।

सीखने की प्रक्रिया की व्याख्या मनोवैज्ञानिकों के विभिन्न सम्प्रदायों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से की है। सीखने से सम्बन्धित प्रयोग एवं निरीक्षणों के आधार पर अनेकों सिद्धान्तों और नियमों की खोज की गई है। अतः इन सम्प्रदायों के सन्दर्भ में यह कहना अनुचित होगा कि कौन-सा सिद्धान्त सही है अथवा कौनसा गलत। इस सम्बन्ध में फ्रैन्डसेन का मत अधिक उपयुक्त है—"सिद्धान्त न तो पूर्णतः ठीक ही होते हैं न पूर्णरूप से गलत ही तथापि वे कार्यानुसार कम अथवा अधिक लाभप्रद हो सकते हैं।[1]

इस कथन के अनुसार सीखने के अधिक युक्तिपूर्ण और उपयोगी सिद्धान्तों की चर्चा आगे की जायगी। यहाँ पर इन नियमों और सिद्धान्तों का उल्लेख करना उचित होगा। ये सिद्धान्त और नियम इस बात पर भी प्रकाश डालते हैं कि मानव-शिशु कुछ सफल प्रतिक्रियाओं को क्यों ग्रहण करता है और अशुद्ध प्रतिक्रियाओं से किस प्रकार मुक्ति पाता है।

(1) साहचर्यवाद और सीखना

प्राचीनकाल से ही विचारों के साहचर्य (Association of Ideas) में विद्वानों का विश्वास रहा है। अरस्तू ने (384-322 B. C.) स्मृति की व्याख्या विचार साहचर्य सिद्धान्त पर की थी। उसके अनुसार हमारे मन में एक विचार दूसरे विचार को लाने में सहायक होता है। इसे मनोविज्ञान में पुनश्चेतना (Recall) कहते हैं। यह पुनश्चेतना अधिक सरल हो जाती है, यदि दूसरा विचार पहले विचार के समान (Similar) होता है अथवा विपरीत (Contrasting) होता है। या सहचारी (Contiguous) होता है। बाद में साहचर्य के साथ सुख अथवा दुःख (Pleasure or Pain) का सिद्धान्त भी इसमें सम्मिलित कर दिया गया। इसके अनुसार सुखद प्रतिक्रियाएँ या अनुभव हमारी स्मृति में अधिक सबल हो जाते हैं, जबकि दुखद अनुभव या

1 Frandsen : *op. cit.* p. 32.

प्रतिक्रियाएँ क्षीण होकर अधिक समय तक मन में विद्यमान नहीं रहतीं। भौतिक दृष्टि से भी मस्तिष्क के अनेक क्षेत्रों की यन्त्रवत क्रियाओं को मानसिक साहचर्य के समानान्तर सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। बाल्यकालीन अनुभवों के द्वारा प्राप्त अनेक विचार साहचर्य (Association of Ideas) जीवन में स्थायी हो जाते हैं। जिस बालक को आइस्क्रीम खाने की कड़ी मनाही कर दी गई है, वह बालक ज्यों ही आइस्क्रीम देखता है उसे माता-पिता का क्रोध स्मरण हो आता है क्योंकि उसके मन में आइस्क्रीम का विचार और माता-पिता का क्रोध, इन दोनों विचारों का साहचर्य स्थापित हो चुका है।

इस प्रकार के अप्रिय साहचर्यों की खोज मनोविश्लेषणवादी मनोविश्लेषण द्वारा करते हैं और व्यक्ति को उसके अनावश्यक भय अथवा अवांछनीय व्यवहार का कारण भी समझा देते हैं। कुछ परिस्थितियों में विचारों का साहचर्य अधिक दृढ़ता से होता है। उदाहरणार्थ—

(1) *एक ही अनुभव का बार-बार होना (Frequency)*
(2) अनुभव की नवीनता (Recency)
(3) अनुभव की तीव्रता (Intensity), इन्हें साहचर्य के नियम भी कहते हैं।

अभ्यास द्वारा अनुभवगत साहचर्यों को अधिक दृढ़ बनाया जा सकता है। साहचर्य के नियमों का उल्लेख स्मृति के अध्याय में किया गया है। साहचर्य के सिद्धान्त और नियम सीखने की अपेक्षा स्मृति पर अधिक प्रकाश डालते हैं।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सीखने के सम्बन्ध में विचार साहचर्य का सिद्धान्त अविश्वसनीय नहीं है। हाँ, यह सिद्धान्त जीवन की प्रेरणाओं की अवहेलना अवश्य करता है। इसके आधार पर उच्च स्तर की मानसिक क्रियाओं की व्याख्या करना कठिन है। यह सिद्धान्त भी सीखने की क्रिया की सम्पूर्ण व्याख्या नहीं करता।

व्यवहारवाद और सीखना

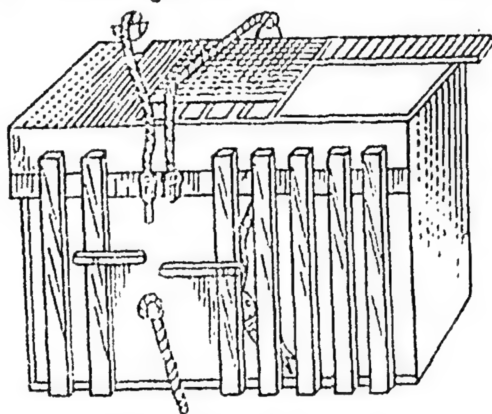
उत्तेजना-प्रक्रिया सिद्धान्त, उ० प्र० सिद्धान्त (Stimulus Response Theory or S—R Theory) **अथवा थॉर्नडाइक का सम्बन्धवाद, अथवा सम्बन्धवाद का सिद्धान्त अथवा सीखने का सम्बन्ध सिद्धान्त** (Bond Theory of Learning)

थॉर्नडाइक और वुडवर्थ ने इस बात पर बल दिया है कि सभी मानसिक घटनायें, किसी उत्तेजना की प्रक्रिया होती हैं। किसी भी कार्य में व्यक्ति को प्रभावित करने वाली वस्तु, परिस्थिति या उत्तेजना (उ) होती है दूसरी वस्तु प्रक्रिया (प्र) होती है। एक विशेष उत्तेजना किसी प्रक्रिया 'प्र' से (उ—प्र) अनुबन्ध (S—R Bond) द्वारा इस प्रकार सम्बन्धित हो जाती है कि भविष्य में उत्तेजना (उ) की उपस्थिति में वही प्रतिक्रिया (प्र) घटित होती है। उ—प्र सम्बन्ध के कारण ही यह सिद्धान्त सम्बद्धवाद (Connectionism) भी कहलाता है। थॉर्नडाइक ने उत्तेजना और प्रक्रिया के सम्बन्धों की व्याख्या द्वारा ही सीखने की क्रिया के सम्बन्ध को स्पष्ट किया है।

यह उ—प्र अनुबन्ध गामक (Motor), प्रत्यक्षात्मक, संवेगात्मक अथवा विचारात्मक हो सकता है। अनुबन्धों का निर्मित होना ही सीखना कहलाता है। इन अनुबन्धों की एक व्यवस्थित प्रणाली है। जैसे-जैसे व्यक्ति अधिक सीखता है उसी क्रम से ये अनुबन्ध भी अधिक दृढ़ और संगठित होते जाते हैं। थॉर्नडाइक ने निरीक्षण एवं प्रयोग द्वारा उन परिस्थितियों का अध्ययन किया जिनमें गामक प्रतिक्रियाएँ उत्तेजना से सम्बन्धित हो जाती हैं। इस सम्बन्ध में पशुओं पर उसके प्रयोग मौलिक और रोचक हैं।

थॉर्नडाइक का प्रयोग

उसने एक बिल्ली को विशिष्ट प्रकार के पिंजरे (उलझन बक्स) में बन्द किया। पिंजरे के अन्दर एक चाभी थी जिसके अचानक दब जाने से पिंजरे के द्वार की चटखनी खुल जाती थी। पिंजरे के बाहर एक मछली इस प्रकार लटकी थी कि अन्दर से बिल्ली उसे स्पष्ट रूप से देख सके। लम्बे समय तक प्रयत्नों के पश्चात् बिल्ली ने पिंजरा खोलकर बाहर निकलना सीख लिया। थॉर्नडाइक ने इस परिस्थिति में बिल्ली के व्यवहार का निरीक्षण करके सीखने सम्बन्धी निम्नलिखित तीन नियम प्रस्तुत किये।



थॉर्नडाइक का उलझन—बक्स

(i) **तत्परता का नियम** (Readiness)—यदि पिंजरे के बाहर मछली न होती या बिल्ली का पेट भरा हुआ होता अथवा बिल्ली अस्वस्थ होती तो सम्भवतः वह पिंजरे में सो जाती तथा बाहर निकलने का प्रयत्न ही नहीं करती। ऐसी अवस्था में उससे कुछ सीखने की आशा करना व्यर्थ था। तत्परता से हमारा आशय यह है कि अनुबन्ध (Bond) के क्रियान्वित होने से संतोष और क्रियान्वित नहीं होने से असन्तोष मिलता है। यदि बालक नहाने के लिए तत्पर है और उसे रोका जाता है तो वह असन्तुष्ट हो जाता है। इसके विपरीत यदि नहाने में उसकी सहायता की जाये तो वह आनन्दित होता है। घोड़े को पानी तक ले जाया जा सकता है परन्तु उसे पानी पीने को बाध्य नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार मानव-शिशु के लिए भी यह आवश्यक नहीं है कि वह प्रत्येक शैक्षिक परिस्थिति से लाभ उठाये। बालक में जब तक स्वयं सीखने की आकांक्षा, लगन अथवा धुन उत्पन्न नहीं होगी तब तक वह सीखने की क्रिया से न तो आनन्दित ही होगा और न ही लाभ उठा सकेगा। अध्यापकों को प्रत्येक नया पाठ पढ़ाने से पूर्व बालमन को नया ज्ञान ग्रहण करने के लिए तैयार करना चाहिए। अर्थात जो विषय पढ़ाना है उस विषय के प्रति बालकों की रुचि और जिज्ञासा की वृद्धि करनी चाहिए। शिक्षा एक क्रियाशील प्रक्रिया है। इसमें प्रत्येक बालक का सहयोग स्वेच्छा से ही प्राप्त करना परमावश्यक है। यदि अध्यापक प्रश्न पूछने की क्रिया में निपुण है तो वह सरलता से

कक्षा के सभी होशियार, साधारण अथवा मन्द बुद्धि छात्रों का सहयोग प्राप्त कर सकता है।

(ii) **अभ्यास का नियम** (The Law of Exercise or Frequency)—अभ्यास से अनुबन्ध दृढ होता है और अभ्यास के अभाव मे अनुबन्ध निर्बल होता है। इस नियम के अनुसार बार-बार किये गये कार्य सरलता से दोहराये जा सकते हैं। अभ्यास से ही वह प्रतिक्रिया आदत का रूप ग्रहण कर लेती है। अभ्यास के अभाव मे उत्तेजना और प्रतिक्रिया बन्ध निर्बल हो जाते हैं। अभ्यास के समानार्थक शब्द हैं—प्रयोग, दोहराना, व्यवहार में लाना तथा उपयोग करना आदि। यदि याद की हुई कविता को दोहराया नही जाय तो कालान्तर मे उस कविता की पंक्तियाँ भुला दी जाती हैं। यदि एक खिलाड़ी बहुत दिन के बाद खेल के मैदान मे उतरता है तो उसकी स्वाभाविक चाल में भी अन्तर होता है। इसी प्रकार कक्षा-शिक्षण में भी अभ्यास की अत्यन्त आवश्यकता रहती है। विशेषकर गणित, व्याकरण, टंकण, चित्रकला, सगीत तथा नृत्य आदि में। अध्यापकों को यह भी स्मरण रखना चाहिए कि शिक्षा मे केवल अभ्यास से ही काम नहीं चलता। पाठ्य विषय को बिना समझे अभ्यास कराने से भी कोई लाभ नही होता। अभ्यास कराते समय बालक की रुचि, लगन और प्रेरणाओं का ध्यान भी रखना चाहिए। कभी-कभी अनावश्यक अथवा अरुचिकर अभ्यास से लाभ की अपेक्षा हानि भी हो सकती है। जीवन मे कुछ कौशल ऐसे भी होते हैं जोकि सीखने के बाद अभ्यास के अभाव में भी भूले नही जाते, जैसे—तैरना, साइकिल चलाना आदि।

(iii) **प्रभाव का नियम** (Law of Effect)—सन्तोषप्रद परिणामों से उत्तेजना और प्रतिक्रिया का अनुबन्ध दृढ होता है परन्तु दुखद अथवा असन्तोषप्रद परिणामों से यह निर्बल हो जाता है। थॉर्नडाइक ने इस नियम को सीखने के नियमों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना है। उसके मतानुसार प्रभाव का नियम अध्यापन और सीखने की क्रियाओं का मूल आधार है। परन्तु व्यवहारवादी वाटसन (प्रभाव) की अपेक्षा 'अभ्यास' और 'नवीनता' (Recency) के नियम को अधिक महत्व देते हैं। प्रभाव के नियम का चमत्कार मैक्डुगल द्वारा चूहों पर किये गये प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है। इन चूहों ने प्रकाशमान रास्ते की अपेक्षा अंधकारपूर्ण मार्ग से बच निकलना सीख लिया था क्योंकि प्रकाशमान रास्ते का परिणाम (बिजली का धक्का) असन्तोषप्रद था।

जीवन मे बालक-बालिकाएँ प्रभाव के नियम के अनुसार बहुत-सी बातें सीखते हैं। जिन कार्यों में उनको दण्ड, अमान्यता, अप्रशंसा, अपमान अथवा दुख प्राप्त होने की सम्भावना रहती है, उसे वे सरलता से ही त्याग देते हैं तथा जिन कार्यों में पुरस्कार, मान्यता, प्रशंसा, मान अथवा सुख प्राप्त होने की सम्भावना रहती है उसे तत्परता से ग्रहण करते हैं और उन कार्यों को दोहराते भी हैं। थॉर्नडाइक ने बाद के परीक्षणों के आधार पर इस नियम का पूर्ण विवेचन किया था और बताया था कि सीखने की क्रिया में इस नियम को बहुत सावधानी से तथा सीमित क्षेत्र मे ही प्रयुक्त करना चाहिए। हम जीवन की अनेक दुखद घटनाओं

को भुला नहीं सकते। थॉर्नडाइक का कथन है कि यह नियम का अपवाद भी नहीं है। सभी दुखद अनुभव सन्तोषप्रद नहीं होते फिर भी हम जीवन के दुखद अनुभवों को इसीलिए भी याद रखते हैं क्योंकि उनकी स्मृति इस समय किस सीमा तक सन्तोषप्रद है। हाँ, जिन बातों की स्मृति से ही असन्तोष होता है उन्हें प्रायः भुला दिया जाता है।

थॉर्नडाइक के सीखने से सम्बन्धित अन्य नियम—

(1) एक ही वाह्य उत्तेजना अथवा परिस्थिति की प्रतिक्रियाएँ।
(2) अभिवृत्ति, मनोवृत्ति अथवा मनोदशा।
(3) अपूर्ण क्रिया का सिद्धान्त।
(4) मिश्रण अथवा अर्जन का नियम।
(5) सम्बन्धित परिवर्तन का नियम।

थॉर्नडाइक ने अपनी वाद की पुस्तकों में उत्तेजना और प्रक्रिया के परस्पर सम्बन्ध (The Law of Belongingness) को अधिक महत्व दिया। यदि उत्तेजना और प्रक्रिया एक दूसरे के लिए हैं तो उनका अनुबन्ध सरलता से स्थापित हो जाता है। जैसे—हाथ-पाँव, हरी घास, मेज-कुर्सी, कलम-दवात आदि। इन सब शब्दों को सरलता से याद किया जा सकता है।

थॉर्नडाइक के सिद्धान्त का मूल्यांकन

थॉर्नडाइक ने उद्दीपन और अनुक्रिया के रूप में सीखने की प्रक्रिया का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। सीखने की क्रिया को नियमों पर आधारित करके कक्षा शिक्षण कार्य को अधिक युक्तिपूर्ण बनाया है। उसने उत्तेजना और अनुक्रिया के सम्बन्धों और सम्बन्ध उत्पन्न करने वाली दशाओं की ओर सभी का ध्यान आकर्षित करके यह सिद्ध कर दिया कि सीखने की मुख्य समस्या सम्बन्ध स्थापित करना है। जो व्यक्ति जितनी जल्दी से सम्बन्ध स्थापित कर लेता है वह उतनी जल्दी ही उस कार्य को सीख लेता है।

इस सिद्धान्त की आलोचना भी की गई है जिसके मुख्य आधार इस प्रकार हैं—

(1) व्यर्थ के प्रयत्नों पर बल देना क्योंकि केवल अभ्यास से ही अधिक लाभ नहीं होता।

(2) थॉर्नडाइक का सिद्धान्त केवल विवरणात्मक व्याख्या ही प्रस्तुत करता है। यह क्रिया किस प्रकार होती है तथा वह 'क्यों' सीखते हैं? इस प्रश्न का सन्तोषप्रद उत्तर प्राप्त नहीं होता।

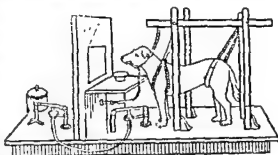
(3) थॉर्नडाइक के सिद्धान्त में यान्त्रिकता की गंध अधिक आती है।

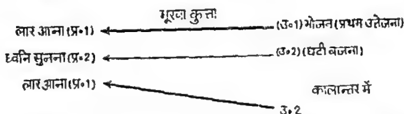
(4) अभ्यास के नियम की आड़ में रटने पर भी वल दिया गया है।

(ख) सम्बद्ध प्रतिक्रिया का सिद्धान्त
(Conditioned Response)
या अभिसंधानित प्रतिक्रिया

सर्वप्रथम रूसी वैज्ञानिक पैवलोव (Pavlov) ने शारीरिक प्रतिक्रियाओं या सहज

क्रियाओं को उत्तेजना से सम्बद्ध करने का विचार उपस्थित किया। इस प्रयोग मे एक भूखे कुत्ते के सम्मुख भोजन लाया जाता है। भोजन देखकर कुत्ते के मुंह से लार निकलती है। भोजन दिखाने के साथ कुछ क्षण पहले घंटी बजती है। इस प्रयोग को अनेक बार दोहराया जाता है। अन्त मे केवल घंटी बजती है, भोजन नहीं दिखाई देता फिर भी कुत्ते के मुंह से लार निकलती है। इस प्रकार कुत्ता सम्बद्ध या अभिसंधानित प्रतिक्रिया करता है। उ० प्र० अनुबन्ध नीचे दिखाया गया है।





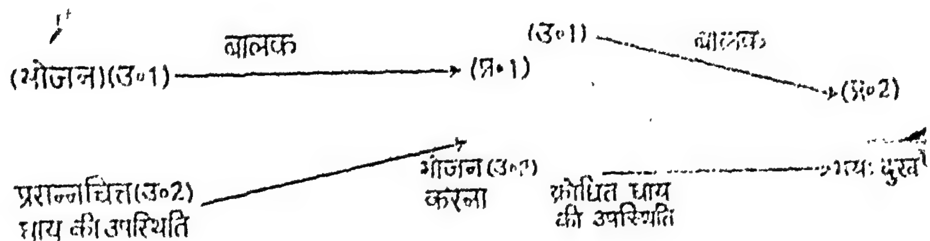
अभिसंधान (Conditioning) द्वारा स्वाभाविक प्रतिक्रिया को बनावटी उत्तेजना से जोड़ दिया जाता है। सम्बद्ध प्रतिक्रिया के सिद्धान्त को घर और पाठशाला मे सीखने की क्रियाओं में प्रयुक्त किया जा सकता है। कोई भी कार्य करते समय बालमन में जो अनुभवगत विचार उपस्थित होते हैं, उन विचारों और कार्यों में इस प्रकार से एक सम्बन्ध स्थापित होने की वृत्ति होती है, जब भी वह अनुभव पुनः होता है उसके साथ वह कार्य भी सम्पन्न होता है। सम्बद्ध प्रतिक्रिया के सिद्धान्त का प्रयोग वाटसन ने अपने पुत्र अलबर्ट (Albert) द्वारा खरगोश के प्रति भयपूर्ण संवेगात्मक प्रतिक्रिया सिखाने के लिये किया।[1]

यह बालक पहले खरगोश को देखकर प्रसन्न होता था। वाटसन ने खरगोश उपस्थित होने के कुछ क्षण पहले जोरदार ध्वनि (घंटा बजाकर) उत्पन्न की। इस अचानक ध्वनि से बालक डर गया। इस प्रयोग को कई बार दोहराने से भय की प्रतिक्रिया खरगोश से अभिसंधानित हो गई।

अब प्रश्न यह उठता है कि कुत्ता केवल घंटी बजाने पर मुंह मे लार क्यों उत्पन्न करता है? यदि घंटी बजाने की अपेक्षा कुत्ते को ठोकर मारी जाती अथवा बिजली से धक्का लगाया जाता तो क्या वह मुंह से लार उत्पन्न करता? यह मानना पड़ेगा कि ऐसी परिस्थिति मे वह भयभीत हो जाता और लार निकलने के स्थान पर उसका मुख सूख जाता। भय की अवस्था मे मानव शिशु भी भोजन नहीं कर सकता। इसी कारण जो मातायें बच्चों को खाने के लिए डाँटती-फटकारती हैं उन बच्चो में खाने के

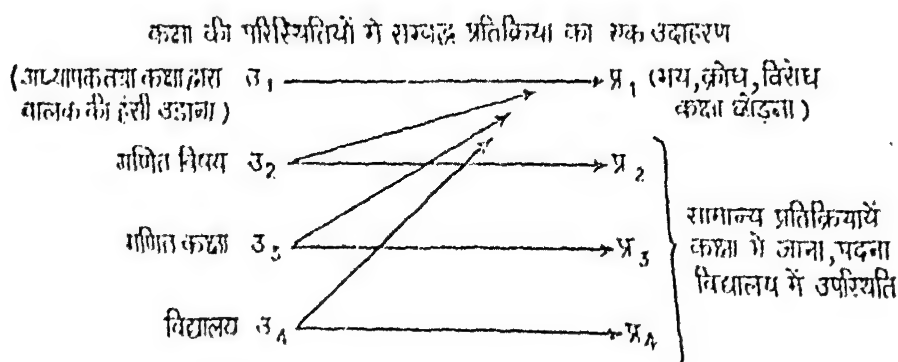
1 Waston, J. B. : *Behaviourism* 1925, p. 126

प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है और वे परेशान करते हैं। इसे निम्न चित्र द्वारा स्पष्ट किया गया है :



निम्नांकित रेखाचित्र सम्बद्ध प्रतिक्रिया का एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। एक बालक जो कक्षा में जाकर गणित पढ़ता है तथा विद्यालय में सामान्य ढंग से कार्य करता है। यदि गणित की कक्षा में उसके अध्यापक ने उसकी कमजोरी का मजाक उड़ाया, सभी बच्चे हँस पड़ें और यह क्रिया अनेक बार दुहराई गई तो वह बालक गणित विषय, गणित की कक्षा; गणित के अध्यापक सभी के प्रति भय एवं क्रोधपूर्ण अभिवृत्ति बना लेता है। अनेक बार ऐसा देखा गया है कि कक्षा के साथियों की याद भी उसमें उसी प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देती है, वह भयभीत एवं क्रोधित हो जाता है तथा उसमें असुरक्षा की भावना इस सीमा तक बढ़ जाती है कि वह विषय अथवा कक्षा, यहाँ तक कि विद्यालय ही छोड़ने का निश्चय कर लेता है।

कक्षा की परिस्थितियों में सम्बद्ध प्रतिक्रिया का एक उदाहरण

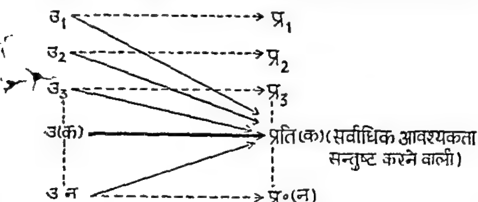


पैवलॉव और उसके शिष्यों ने सम्बद्ध प्रतिक्रियाओं का निरीक्षण किया। उन्होंने परिस्थितियों को परिवर्तित करके भी अनेक प्रयोग किये। इस प्रकार के प्रयोगों और परीक्षणों से निकाले गये महत्वपूर्ण निष्कर्ष निम्नांकित हैं :—

(1) संचय या संग्रह (Aquisition)—सम्बद्ध और असम्बद्ध उत्तेजनाओं के अभ्यास द्वारा उनके परस्पर सम्बन्ध को दृढ़ बनाया जाता है। कालांतर में एक स्थिति ऐसी आती है, जबकि अधिक अभ्यास से लाभ नहीं होता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि एक साथ ही किसी वातावरण में अनेक उत्तेजनाएँ एवं अनेकों प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं तो यह सम्बद्धता किस उ० तथा

प्रतिक्रिया में स्थापित होगी ? इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि उन सभी उ० प्र० सम्बन्धों में सम्बद्धता उसी के साथ दृढ होती है जो सबसे अधिक



संवेगात्मक रूप में जुड़ा होता है तथा प्राणी की आवश्यकता की सन्तुष्टि में सबसे अधिक सहायक होती है। संलग्न रेखाचित्र द्वारा इसे स्पष्ट किया गया है :

(2) समय का प्रभाव (Time Factor)—यदि सम्बद्ध (प्रथम) और असम्बद्ध (द्वितीय) उत्तेजनाओं में समयान्तर अधिक होता है तो दूसरी उत्तेजना प्रभावशाली नहीं होती। पशुओं में यदि बनावटी उत्तेजना से पहले स्वाभाविक उत्तेजना प्रस्तुत की जाती है तो सीखने की क्रिया नहीं होती।

(3) उत्तेजना का सामान्यीकरण (Stimulus Generalization)—सीखने की प्रारम्भिक अवस्था में शरीरधारी मूल स्वाभाविक उत्तेजना के प्रति सम्पूर्ण प्रतिक्रिया करता है, किन्तु मूल उत्तेजना का रूपान्तर अधिक होने के साथ-साथ प्रतिक्रिया क्रमशः कम होती जाती है। समरूप उत्तेजनाओं के प्रति उसकी प्रतिक्रियाएँ समान होती हैं। उदाहरणार्थ—खरगोश से डरने वाला बालक एल्बर्ट बाद में रुई के गुल्ले या समूर के कोट से भी डरने लगा।

(4) अन्तर पहचानना (Differenciation) सीखने की प्रगति के साथ-साथ शरीरधारी भिन्न-भिन्न उत्तेजनाओं के परस्पर अन्तर को समझने लगता है। पशु भी वृत्त और अण्डाकार आकृति के अन्तर को पहचान लेते हैं।

(5) बाह्य अवरोध या बाधाएँ (External Inhibition)—नृत्य सीखने वाली बालिका अपने शिक्षक के सामने तबले की थाप पर पैर चलाती है किन्तु किसी नवागन्तुक के समक्ष उसकी यह प्रतिक्रिया रुक जाती है अथवा धीमी पड़ जाती है।

(6) सम्बद्ध प्रतिक्रिया का लुप्त होना (Extinction)—यदि घंटी बजने के उपरान्त कुत्ते को भोजन नहीं मिलता तो कालान्तर में उसकी लार टपकने की प्रतिक्रिया स्वतः ही समाप्त हो जाती है। अतएव बालकों के शैशवकाल में सीखे हुए भय भी इसी प्रकार दूर किये जा सकते हैं।

(7) उच्च स्तरीय सम्बद्ध प्रतिक्रियाएँ—पूर्व स्थापित सम्बद्ध प्रतिक्रियाओं का प्रयोग नवीन प्रतिक्रियाएँ सीखने के लिए किया जाता है। अतएव मानव-शिशु इसी ढंग से विषम प्रतिक्रियाएँ सीखता है।

(1) यह सिद्धान्त एक प्रकार से साहचर्य सिद्धान्त का ही रूपान्तर है। यह सिद्धान्त केवल प्रतिक्रियाओं का वर्णन करता है जबकि साहचर्य का सिद्धान्त विचार, प्रतिमा, और प्रत्यक्ष ज्ञान की सहायता से सीखने की व्याख्या करता है। फिर भी यह एक आधारभूत और स्वाभाविक सिद्धान्त है। इसीलिए यह सिद्धान्त सुलेख और अक्षर विन्यास सिखाने में भी प्रयुक्त होता है।

सम्बद्ध प्रतिक्रिया सिद्धान्त का मूल्यावलोकन

(2) सम्बद्ध प्रतिक्रिया सिद्धान्त घटनाओं की समकालीनता या सहचारिता पर ही बल देता है। जबकि साहचर्यवादियों के अनुसार घटना या अनुभव के सभी तत्व मिलकर सम्पूर्ण अनुभूति की इकाई बनाते हैं। अतएव स्पष्ट है कि इस प्रकार से सीखने में बालक की सामाजिक भावना, अनुशासनप्रियता और आदतों का विकास किया जा सकता है।

(3) सम्बद्ध प्रतिक्रिया का सिद्धान्त सीखने की क्रिया का वस्तुगत वर्णन नहीं करता और न ही इस बात पर प्रकाश डालता है कि सीखने का शारीरिक आधार क्या है। कुछ मनोवैज्ञानिक इस सिद्धान्त का प्रयोग बच्चों को भय से मुक्त कराने के लिए भी करते हैं। इस सिद्धान्तानुसार बच्चों के असामान्य व्यवहार की व्याख्या भलीभाँति की जा सकती है।

(4) यह सिद्धान्त सीखने की प्रक्रिया की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं हैं, अपितु यह केवल उन परिस्थितियों का वर्णन है जिनमें सीखने की क्रिया होती है। इसके आधार पर बालकों को सामाजीकरण की प्रक्रिया और वातावरण से सामंजस्य सम्बन्धी बातों को भलीभाँति समझा जा सकता है।

(5) इस सिद्धान्त की सहायता से सीखने की प्रारम्भिक साधारण क्रियाओं को तो समझाया जा सकता है, परन्तु उच्च स्तरीय विषय और विचारों का वर्णन करना कठिन है। अतएव शिक्षक के लिए इस सिद्धान्त का अधिक महत्व नहीं है। शिक्षक के लिए तो तत्परता, अभ्यास तथा प्रभाव के नियम ही अधिक उपयोगी होते हैं। परन्तु सामूहिक स्तर पर अनुशासन स्थापित करने की दृष्टि से यह एक उपयोगी सिद्धान्त भी है।

(6) अन्धविश्वास भी इसी प्रकार सीखे जाते हैं। जैसे—छींक आने पर या बिल्ली द्वारा रास्ता काटने पर यदि कोई काम बिगड़ जाता है, अथवा परिणाम दुखद निकलता है तो बालक उस अपशकुन में विश्वास करने लगता है। इसके विपरीत यदि अपशकुन होने पर भी दुखद परिणाम नहीं मिले तो पहले से बना हुआ अन्धविश्वास भी शिथिल हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि सम्बद्ध अनुक्रिया सिद्धान्त के अन्तर्गत पुरस्कार तथा दण्ड का नियम और थॉर्नडाइक के परिणाम का नियम भी कार्य करता है।

(7) प्यार तथा घृणा के संवेग जब किसी स्थान, क्रिया या व्यक्ति से अनुबन्धित हो जाते हैं तो उस स्थान, क्रिया अथवा व्यक्ति से सम्बन्धित अन्य बातों के प्रति भी प्रेम अथवा घृणा का भाव उत्पन्न हो जाता है। यदि गणित या भूगोल का अध्यापक अपने दुर्व्यवहार अथवा पक्षपात के कारण छात्रों की घृणा का पात्र

जाता है तो उस अध्यापक के विषय के प्रति भी छात्रों में वही भाव उत्पन्न होने लगता है।

(ग) प्रयास एवं त्रुटि से सीखना
(Learning by Trial and Error)

वुडवर्थ के अनुसार "प्रयास और त्रुटि के अन्तर्गत किसी नवीन कार्य को सीखने के लिए अनेक प्रयत्न करने पड़ते हैं, जिनमे से अधिकांश गलत होते हैं।" थॉर्नडाइक इस सिद्धान्त का जन्मदाता है। उसने भूखी बिल्ली पर सीखने से सम्बन्धित अनेक प्रयोग किये। बिल्ली बार-बार गलतियाँ करने के बाद अन्त में पिंजड़े से बाहर निकलना सीख गई। इसी प्रकार मानव शिशु भी अनेक गलतियाँ करके खड़ा होना, चलना, बोलना, लिखना आदि कार्य सीख लेता है। इस विधि के अनुसार सीखने के मूल तत्व इस प्रकार हैं—(अ) प्रतिक्रिया, (ब) उत्तेजना, (स) प्रेरणा (द) पुरस्कार अथवा सफलता। इस प्रकार सीखने का उपयुक्त मानवीय उदाहरण तैरना अथवा साइकिल चलाना है। सीखने की क्रिया धीरे-धीरे प्रगति करती है। निपुणता प्राप्त करने से पहले व्यक्ति अनेक अवांछनीय त्रुटिपूर्ण प्रतिक्रियाएँ करता रहता है। कालान्तर में सफलतादायक, उपयोगी और सही प्रतिक्रियाएँ संगठित हो जाती हैं। इस प्रकार के सीखने को हम "सफल प्रतिक्रियाओं के चुनाव द्वारा सीखने की विधि" (Learning by Selection of the successful variation) भी कह सकते हैं। त्रुटिपूर्ण अथवा असफल प्रतिक्रियाओ का परिणाम असन्तोषप्रद तथा सफल प्रतिक्रियाओ का परिणाम सतोषप्रद होता है। मैक्डुगल के चूहे भी 165 गलती करने के बाद सही प्रतिक्रिया करना सीख गये। हम अपने जीवन में अनेक समस्यायें 'प्रयास एवं त्रुटि' विधि से काल्पनिक स्तर पर हल कर लेते हैं। गणित के प्रश्न भी प्रायः इसी विधि से हल किये जाते हैं। यह सोचने की एक व्यावहारिक विधि है। इस विधि के अन्तर्गत आने वाले अनेक उपनियम हैं। प्रयास एव त्रुटि सम्बन्धी नियम निम्नलिखित हैं।

(क) अनायास प्रतिक्रियाओं से सीखना—एक छोटा बच्चा अपने बड़े भाई की पेंसिल लेकर कागज पर आड़ी-तिरछी रेखायें खींचता है। अचानक इन रेखाओं से चिड़िया की आकृति बन जाती है। वह प्रसन्न होकर उस प्रतिक्रिया को पुनः दोहराता है। परन्तु इस प्रकार की निरुद्देश्य प्रतिक्रिया से यह आवश्यक नही है कि बालक अच्छी बातें सीखे।

(ख) असन्तोषप्रद प्रतिक्रिया को त्यागकर सीखना - इसका एक प्रमाणिक उदाहरण मैक्डुगल ने चूहों द्वारा (असंतोषप्रद) प्रकाशित मार्ग को छोड़कर (सतोषप्रद) अंधकार पूर्ण मार्ग से बच निकलने की प्रतिक्रिया को सीखना है।

(ग) स्थानापन्न उत्तेजना—दूध का जला छाछ को भी फूंकता है। यहाँ दूध (उत्तेजना) का स्थान छाछ ने ले लिया है। शिक्षा की क्रिया मे केवल एक उत्तेजना पर ही निर्भर नहीं रहना चाहिये। एक ही शैक्षिक कार्य के लिए बालक को अनेक प्रकार से उत्तेजित किया जा सकता है।

(घ) स्थानापन्न प्रतिक्रिया—बालक एक ही उत्तेजना के प्रति भिन्न-भिन्न परिस्थितियों मे भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियायें करता है। वह स्वाभाविक प्रतिक्रियाओं को

सम्बद्ध प्रतिक्रिया सिद्धान्त का मूल्यावलोकन

(1) यह सिद्धान्त एक प्रकार से साहचर्य सिद्धान्त का ही रूपान्तर है। यह सिद्धान्त केवल प्रतिक्रियाओं का वर्णन करता है जबकि साहचर्य का सिद्धान्त विचार, प्रतिमा, और प्रत्यक्ष ज्ञान की सहायता से सीखने की व्याख्या करता है। फिर भी यह एक आधारभूत और स्वाभाविक सिद्धान्त है। इसीलिए यह सिद्धान्त सुलेख और अक्षर विन्यास सिखाने में भी प्रयुक्त होता है।

(2) सम्बद्ध प्रतिक्रिया सिद्धान्त घटनाओं की समकालीनता या सहचारिता पर ही बल देता है। जबकि साहचर्यवादियों के अनुसार घटना या अनुभव के सभी तत्व मिलकर सम्पूर्ण अनुभूति की इकाई बनाते हैं। अतएव स्पष्ट है कि इस प्रकार से सीखने में बालक की सामाजिक भावना, अनुशासनप्रियता और आदतों का विकास किया जा सकता है।

(3) सम्बद्ध प्रतिक्रिया का सिद्धान्त सीखने की क्रिया का वस्तुगत वर्णन नहीं करता और न ही इस बात पर प्रकाश डालता है कि सीखने का शारीरिक आधार क्या है। कुछ मनोवैज्ञानिक इस सिद्धान्त का प्रयोग बच्चों को भय से मुक्त कराने के लिए भी करते हैं। इस सिद्धान्तानुसार बच्चों के असामान्य व्यवहार की व्याख्या भलीभांति की जा सकती है।

(4) यह सिद्धान्त सीखने की प्रक्रिया की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं हैं, अपितु यह केवल उन परिस्थितियों का वर्णन है जिनमें सीखने की क्रिया होती है। इसके आधार पर बालकों को सामाजीकरण की प्रक्रिया और वातावरण से सामंजस्य सम्बन्धी बातों को भलीभांति समझा जा सकता है।

(5) इस सिद्धान्त की सहायता से सीखने की प्रारम्भिक साधारण क्रियाओं को तो समझाया जा सकता है, परन्तु उच्च स्तरीय विषय और विचारों का वर्णन करना कठिन है। अतएव शिक्षक के लिए इस सिद्धान्त का अधिक महत्व नहीं है। शिक्षक के लिए तो तत्परता, अभ्यास तथा प्रभाव के नियम ही अधिक उपयोगी होते हैं। परन्तु सामूहिक स्तर पर अनुशासन स्थापित करने की दृष्टि से यह एक उपयोगी सिद्धान्त भी है।

(6) अन्धविश्वास भी इसी प्रकार सीखे जाते हैं। जैसे—छींक आने पर या बिल्ली द्वारा रास्ता काटने पर यदि कोई काम बिगड़ जाता है, अथवा परिणाम दुखद निकलता है तो बालक उस अपशकुन में विश्वास करने लगता है। इसके विपरीत यदि अपशकुन होने पर भी दुखद परिणाम नहीं मिले तो पहले से बना हुआ अन्ध-विश्वास भी शिथिल हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि सम्बद्ध अनुक्रिया सिद्धान्त के अन्तर्गत पुरस्कार तथा दण्ड का नियम और थॉर्नडाइक के परिणाम का नियम भी कार्य करता है।

(7) प्यार तथा घृणा के संवेग जब किसी स्थान, क्रिया या व्यक्ति से अनुबन्धित हो जाते हैं तो उस स्थान, क्रिया अथवा व्यक्ति से सम्बन्धित अन्य बातों के प्रति भी प्रेम अथवा घृणा का भाव उत्पन्न हो जाता है। यदि गणित या भूगोल का अध्यापक अपने दुर्व्यवहार अथवा पक्षपात के कारण छात्रों की घृणा का पात्र बन

जाता है तो उस अध्यापक के विषय के प्रति भी छात्रों में वही भाव उत्पन्न होने लगता है।

(ग) प्रयास एवं त्रुटि से सीखना
(Learning by Trial and Error)

वुडवर्थ के अनुसार "प्रयास और त्रुटि के अन्तर्गत किसी नवीन कार्य को सीखने के लिए अनेक प्रयत्न करने पड़ते हैं, जिनमें से अधिकांश गलत होते हैं।" थॉर्नडाइक इस सिद्धान्त का जन्मदाता है। उसने भूखी बिल्ली पर सीखने से सम्बन्धित अनेक प्रयोग किये। बिल्ली बार-बार गलतियाँ करने के बाद अन्त में पिंजड़े से बाहर निकलना सीख गई। इसी प्रकार मानव शिशु भी अनेक गलतियाँ करके खड़ा होना, चलना, बोलना, लिखना आदि कार्य सीख लेता है। इस विधि के अनुसार सीखने के मूल तत्व इस प्रकार हैं—(अ) प्रतिक्रिया, (ब) उत्तेजना, (स) प्रेरणा (द) पुरस्कार अथवा सफलता। इस प्रकार सीखने का उपयुक्त मानवीय उदाहरण तैरना अथवा साइकिल चलाना है। सीखने की क्रिया धीरे-धीरे प्रगति करती है। निपुणता प्राप्त करने से पहले व्यक्ति अनेक अवांछनीय त्रुटिपूर्ण प्रतिक्रियाएँ करता रहता है। कालान्तर में सफलतादायक, उपयोगी और सही प्रतिक्रियाएँ संगठित हो जाती हैं। इस प्रकार के सीखने को हम "सफल प्रतिक्रियाओं के चुनाव द्वारा सीखने की विधि" (Learning by Selection of the successful variation) भी कह सकते हैं। त्रुटिपूर्ण अथवा असफल प्रतिक्रियाओं का परिणाम असन्तोषप्रद तथा सफल प्रतिक्रियाओं का परिणाम सतोषप्रद होता है। मैक्डुगल के चूहे भी 165 गलती करने के बाद सही प्रतिक्रिया करना सीख गये। हम अपने जीवन में अनेक समस्यायें 'प्रयास एवं त्रुटि' विधि से काल्पनिक स्तर पर हल कर लेते हैं। गणित के प्रश्न भी प्रायः इसी विधि से हल किये जाते हैं। यह सोचने की एक व्यावहारिक विधि है। इस विधि के अन्तर्गत आने वाले अनेक उपनियम हैं। प्रयास एवं त्रुटि सम्बन्धी नियम निम्नलिखित हैं।

(क) अनायास प्रतिक्रियाओं से सीखना—एक छोटा बच्चा अपने बड़े भाई की पेंसिल लेकर कागज पर आड़ी-तिरछी रेखायें खींचता है। अचानक इन रेखाओं से चिड़िया की आकृति बन जाती है। वह प्रसन्न होकर उस प्रतिक्रिया को पुनः दोहराता है। परन्तु इस प्रकार की निरुद्देश्य प्रतिक्रिया से यह आवश्यक नहीं है कि बालक अच्छी बातें सीखे।

(ख) असन्तोषप्रद प्रतिक्रिया को त्यागकर सीखना – इसका एक प्रमाणिक उदाहरण मैक्डुगल ने चूहों द्वारा (असंतोषप्रद) प्रकाशित मार्ग को छोड़कर (संतोषप्रद) अंधकार पूर्ण मार्ग से बच निकलने की प्रतिक्रिया को सीखना है।

(ग) स्थानापन्न उत्तेजना—दूध का जला छाछ को भी फूंकता है। यहाँ दूध (उत्तेजना) का स्थान छाछ ने ले लिया है। शिक्षा की क्रिया में केवल एक उत्तेजना पर ही निर्भर नहीं रहना चाहिये। एक ही शैक्षिक कार्य के लिए बालक को अनेक प्रकार से उत्तेजित किया जा सकता है।

(घ) स्थानापन्न प्रतिक्रिया—बालक एक ही उत्तेजना के प्रति भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियायें करता है। वह स्वाभाविक प्रतिक्रियाओं को

त्याग कर उनके स्थान पर नई प्रतिक्रियाएँ सीखता है और इस प्रकार से अपना शैक्षिक विकास करता है।

(ङ) **प्रतिक्रियाओं का मिश्रण**—पढ़ना सीखते समय बालक पहले अक्षरों के प्रति प्रतिक्रिया करते हैं, फिर मात्राओं के प्रति तत्पश्चात् सम्पूर्ण शब्द के लिए और अंत में पूर्ण वाक्य के प्रति। इस प्रकार अनेक प्रतिक्रियाओं के योग से ही वह पढ़ना सीखता है।

प्रयास एवं अनुकरण की दो शैलियां

(1) **निरीक्षण द्वारा सीखना**—'मूर्त से अमूर्त की ओर' यह नियम व्यावहारिक शिक्षण में बहुत लाभदायक है। बालक का प्रारम्भिक ज्ञानार्जन मूर्त वस्तुओं से ही होता है। बालक अपने परिवेश का निरीक्षण कर परिवेश में स्थित वस्तुओं, व्यक्तियों और घटनाओं का ज्ञान प्राप्त करता है। उनके पारस्परिक सम्बन्धों को समझ लेता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से निरीक्षण के अन्तर्गत अवधान, इन्द्रिय संवेदना और प्रत्यक्षीकरण की क्रियाएँ आती हैं। मॉन्टेसरी शिक्षण पद्धति में निरीक्षण का पूरा लाभ उठाया जाता है।

(2) **अनुकरण द्वारा सीखना**—अनुकरण एक सामान्य प्रवृत्ति है। जिस पर विस्तृत रूप से विचार किया जा चुका है। बालक प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अनुकरण द्वारा सामाजिक व्यवहार, नैतिक आचरण तथा दैनिक जीवन में अनेक कौशल सीखता है। अनुकरण में त्रुटि भी होती है परन्तु पुनः प्रयास के बाद सफलता मिल जाती है। अनुकरण द्वारा सिखाने के लिए यह आवश्यक है कि बालक के शैक्षिक वातावरण में सुन्दर अनुकरणीय उद्दीपकों का यथेष्ट समावेश हो। लिखावट, उच्चारण, उठने-बैठने का ढंग और भाषा, अनुकरण द्वारा सरलता से सिखाये जा सकते हैं।

प्रयास एवं त्रुटि सिद्धान्त का व्यावहारिक महत्व

(1) यह सिद्धान्त शैशवकाल में सीखे जाने वाले अनेक कार्यों (कलाओं) पर प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार ही मंद बुद्धि बालक भी इसी विधि से सीखते हैं। प्रौढ़ एवं बुद्धिमान बालक मानसिक स्तर पर प्रयास एवं त्रुटि भी करते हैं।

(2) यह विषय व्यावहारिक विषयों पर पूर्ण रूप से प्रयुक्त होता है, उदाहरणार्थ—गणित के प्रश्न हल करने में, नृत्य, संगीत, एवं टंकण कला आदि में। इस विधि से सीखने से बालक में धैर्य, उत्साह तथा लगन बनी रहनी चाहिये।

(3) इस सिद्धान्त में थॉर्नडाइक का अभ्यास का नियम भी पूर्णतः प्रयुक्त होता है। अभ्यास द्वारा पहले से सीखे हुए कार्य अधिक स्थायी और कुशलतापूर्ण होते हैं।

(4) इसे हम गलतियों से लाभ उठाने का सिद्धान्त भी कह सकते हैं। लेखन सम्बन्धी त्रुटियां इसी प्रकार दूर होती हैं।

(5) गम्भीर विषयों के अध्ययन में भी यह सिद्धान्त काल्पनिक स्तर पर प्रयुक्त होता है, उदाहरणार्थ—रेखागणित की समस्याएँ हल करने में तथा जीवन की समस्याएँ हल करने में भी यह सिद्धान्त प्रयुक्त होता है।

(6) यह सिद्धान्त विचार प्रक्रिया के प्रत्यक्ष ज्ञान स्तर (Perceptual level) पर विशेष रूप से प्रयुक्त होता है।

(7) इस विधि द्वारा सीखने में अधिक प्रेरणा (Motivation) की आवश्यकता होती है।

(घ) हल का प्रबलन सिद्धान्त
(Reinforcement Theory of Hull)

क्लार्क एल०, हल अमेरिका के येल विश्वविद्यालय में सीखने की प्रक्रिया से सम्बन्धित अनेक प्रयोग एवं निरीक्षण करता रहा है। उसने थॉर्नडाइक तथा वुडवर्थ द्वारा किये गये प्रयोगों एवं उन पर आधारित सीखने की व्याख्या का भी आलोचनात्मक अध्ययन किया। अतः हल का सिद्धान्त (S—R Theory) उ—प्र सिद्धान्त का ही एक दूसरा रूप है। मनोवैज्ञानिक संप्रदाय की दृष्टि से हल के विचार व्यवहारवादी हैं। परन्तु तर्क तथा सिद्धान्त के प्रस्तुतीकरण में वह प्रयोजनवादी मनोविज्ञान से भी प्रभावित हैं। इसीलिए उसने सीखने की प्रक्रिया में केवल उत्तेजना और प्रक्रिया पर ही बल नहीं दिया अपितु सीखने वालो की मनोदशा, उसकी आवश्यकताओं (Needs) तथा लक्ष्यों (Goals) को भी इस प्रक्रिया मे उचित स्थान दिया है। और इसके साथ ही उसने थॉर्नडाइक द्वारा प्रतिपादित परिणाम के नियम तथा पैवलोव के सम्बद्ध प्रतिक्रिया सिद्धान्त का पूरा सदुपयोग किया है। उसने सीखने की प्रक्रिया को जीवन की आवश्यकताओं तथा व्यवहार के पीछे प्रेरणाओ से भी सफलतापूर्वक पूरी तरह से सम्बन्धित कर दिया है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि हल का सिद्धान्त अधिक युक्तिपूर्ण एवं परिष्कृत है और इसमे पूर्व स्थापित अनेक नियमो और सिद्धान्तो का भी समावेश है। उसकी पुस्तक "प्रिन्सिपल्स ऑफ बिहेवियर" (Principles of Behaviour) सन् 1943 में प्रकाशित हुई थी।

सीखने की व्याख्या—हल सीखने की क्रिया का आधार आवश्यकताओं की पूर्ति को मानता है। यदि कोई कार्य—प्रतिक्रिया अथवा आचरण—किसी मनुष्य अथवा पशु की आवश्यकता की पूर्ति करता है, तो वह उस व्यवहार को सीख लेता है।

हल का सिद्धान्त

'आवश्यकता की कमी' (Need Reduction) 'आवश्यकता की पूर्ति' (Need Satisfaction) करने के लिए होनी चाहिए। थॉर्नडाइक की बिल्ली, या मैकडुगल का चूहा, अथवा कोहलर का बनमानुस, ये सभी पशु पिंजडे अथवा भूल-भुलैयो से बाहर आने की कला सीख लेते हैं। प्रत्येक परिस्थिति मे बाहर रखा हुआ भोजन या अन्य किसी प्रकार का पुरस्कार ही उनके सीखने की प्रेरणा है। पशु पिंजड़े में बन्द है। पिंजड़े के बाहर भोजन रखा है। पिंजड़े का द्वार जोकि खटके से खुलता है वह उसे खोलकर बाहर आता है और अपनी भूख की सन्तुष्टि करता है। अतएव स्पष्ट है कि पिंजरे के बाहर रखा हुआ भोजन ही पिंजड़े के अन्दर उसकी क्रियाशीलता को प्रबल बनाता (Reinforce) है। पिंजड़े से बाहर आने के लिए पशु सभी प्रकार के प्रयत्न (Trial and Error) करता है। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप ही वह खटका दबाकर बाहर निकलने की क्रिया सीख लेता है। इस प्रकार भोजन की आवश्यकता की सन्तुष्टि करने के सन्दर्भ में वह पिंजड़ा खोलना सीख लेता है। यदि पशु को भोजन की आवश्यकता नहीं होती तो वह पिंजड़े के अन्दर क्रियाशील होने

की अपेक्षा आराम से सो सकता था। अतः सीखने का कार्य आवश्यकता की पूर्ति की प्रक्रिया (Procees of Need Reduction) है।

मनुष्य और पशु बराबर प्रयत्नशील रहकर ही उ०—प्र० सम्बन्ध (S—R Connection) स्थापित करके नवीन व्यवहार सीखते हैं और इस प्रकार पूर्व स्थापित सम्बन्धों को सशक्त बनाते रहते हैं। प्राथमिक सम्बन्ध, सम्बद्ध-प्रतिक्रिया (Conditioning) का परिणाम होते हैं और द्वितीय प्रकार की सम्बद्ध प्रणालियाँ (Connection Systems) परिणाम के नियम के फलस्वरूप ही बनती हैं। सम्बद्ध-प्रतिक्रिया तभी सम्भव है जबकि सीखने वाला (बालक या पशु) आवश्यकता (भूख) युक्त है। परिणाम का नियम तभी कार्य करता है जबकि उसके द्वारा आवश्यकता अथवा आवश्यकता की कमी की पूर्ति होती है। इस प्रकार मूल प्रेरणा में कमी (Reduction in Primary Drive or Need) वह कारक है जो सीखने को प्रबल बनाता है। वे क्रियाएँ जो आवश्यकता को कम करके (सन्तुष्टीकरण द्वारा) दूर करती हैं वे बार-बार घटित होती हैं।

सम्बद्ध—प्रतिक्रिया और उत्तेजना से सम्बन्धित अनेक प्रयोग किये गये हैं, जिनके परिणाम से यह स्पष्ट होता है कि सम्बद्ध उत्तेजना का समयान्तर बढ़ा देने से प्रतिक्रिया की आवृत्तियां कम हो जाती हैं। यदि समयान्तर 30 सैकिण्ड से अधिक होता है तो सम्बन्धीकरण लगभग नहीं के बराबर है। इस प्रकार उत्तेजना की आवृत्ति में न्यूनता अथवा सम्बन्धीकरण के बल में कमी को प्रबलन का ढलाव (Gradient of Reinforcement) कहते हैं। एक प्रयोग में जब भोजन के उपस्थित किये जाने और घंटी बजने में 30 सैकण्ड से अधिक का समयान्तराल था तब कुत्ते के मुँह से लार उत्पन्न नहीं हुई। एक दूसरे प्रयोग में यह प्रदर्शित किया गया था कि लक्ष्य के दूर होने की अपेक्षा लक्ष्य (Goal) के निकट होने पर प्रतिक्रिया जल्दी ही सीख ली जाती है। अतः स्पष्ट है कि सीखने की प्रक्रिया में पुरस्कार अथवा दण्ड विलम्ब से देने में कोई लाभ नहीं है। यदि बच्चा अच्छा कार्य करता है तो उसकी सराहना तुरन्त ही होनी चाहिए। इसी प्रकार कक्षा का लिखित कार्य एवं गृह कार्य तुरन्त देखा और जांचा जाना चाहिए। विलम्ब करने से बच्चों की रुचि इस कार्य में कम हो जाती है और उसके परिणाम सीखने की क्रिया को प्रभावित नहीं करते हैं।

प्रबलन का ढालांश
(Gradient of Reinforcement)

हल ने दूसरे प्रकार के प्रबलन सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की है—जब प्रबलन प्रतिक्रिया (Reinforcement Response) तथा आवश्यकता की कमी (Need Reduction) अथवा पूर्ति में मध्यान्तर लम्बा होता है, वहाँ दूसरे प्रकार का सिद्धान्त कार्य करता है। भोजन की आवश्यकता हमारी प्राथमिक आवश्यकता है, परन्तु पैसे की आवश्यकता हमारी दूसरी प्रकार की आवश्यकता है क्योंकि इससे हम अन्य दूसरे प्रकार की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। अतः पैसा दूसरे प्रकार का प्रबलन (Secondary Reinforcement) करने का साधन है। पैसा अधिक दूरी या विलम्ब से आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। परन्तु पैसा किसी पशु के लिए अर्थहीन है। यह तो केवल किसी मनुष्य के सीखने को प्रभावित कर सकता है। हल

के अनुसार पैसा या शिक्षा (शिक्षा के लाभदायक परिणाम) दूसरे प्रकार के प्रबलन साधन हैं।

हल का तीसरा सिद्धान्त उत्तेजना का सामान्यीकरण (Stimulus Generalization) है। उसने इस सिद्धान्त के आधार पर वाटसन द्वारा भय सम्बन्धी प्रयोग की व्याख्या इस प्रकार की है। वाटसन ने सम्बद्ध प्रतिक्रिया द्वारा 11 वर्ष के लड़के को चूहे से डरना सिखा दिया। उसके उपरान्त वह बालक खरगोश, कुत्ता, कपास का गुल्ला अथवा फर के कोट को देखकर भी भयपूर्ण प्रतिक्रिया करने लगा। अतः स्पष्ट है कि इन परिस्थितियों में उसके भय का कारण उत्तेजना की समानता (Similarity of Stimuli) रहा होगा। क्योंकि सफेद चूहे के समान ये सभी चीजें भी बाल वाली ही थीं। इसी प्रकार कुत्ते वाले प्रयोग में घण्टी बजने की उत्तेजना को दूसरे प्रकार की घण्टी की ध्वनि अथवा इसकी समानतायुक्त अन्य प्रकार की ध्वनियो से सम्बद्ध करके लार उत्पन्न की जा सकती है। हल ने बताया है कि इन सब परिस्थितियों में सीखने वाला (बालक या कुत्ता) उत्तेजना का सामान्यीकरण (Stimulus Generalization) करता है। बाल्यकाल में बच्चों की अनेक त्रुटियों, भ्रान्तियो, भय और शंकाओं का कारण यही उत्तेजना सामान्यीकरण का सिद्धान्त होता है। उत्तेजना सामान्यीकरण की वजह से ही छोटे बच्चे उन शब्दों को लिखने में त्रुटि करते हैं जिनका उच्चारण एकसा होता है।

गूथरी का सामीप्य सम्बद्धता का सीखने का सिद्धान्त
(Guthries Continuous Conditioning Theory of Learning)

गूथरी ने सीखने के सिद्धान्त की एक नई व्याख्या की है। इसके सिद्धान्त को सामीप्य सम्बद्धता का सिद्धान्त कहते हैं। गूथरी व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों में उ०—प्र० (S—R) सिद्धान्तवादियों की श्रेणी में आता है। गूथरी का विश्वास है कि सीखना तभी होता है, जबकि एक उत्तेजना और एक प्रतिक्रिया साथ-साथ ही होती हैं।[1]

इसका तात्पर्य यह है कि उत्तेजनाओं का एक समूह जो किसी विशेष क्रिया के साथ सम्बद्ध होता है, उन उत्तेजनाओं की उपस्थिति मे वही प्रतिक्रया होती है। गूथरी के शब्दों मे : उत्तेजना का संयोग जबकि गतिविधि का अनुसरण करेगा तो गति के अनुसार ही उसका प्रत्यावर्तन होगा।[2]

गूथरी के इसी कथन पर ही उसके सीखने का सिद्धान्त आधारित है। यह एक साहचर्यवादी सिद्धान्त है जिसमे वह उत्तेजनाओं और प्रतिक्रियाओ में सम्बन्ध की बात तो स्वीकार करता है परन्तु प्रभाव के नियम को स्वीकार नही करता है। अतएव यह थॉर्नडाइक के उ० प्र० सिद्धान्त से भिन्न है, इसके अतिरिक्त पुनर्बलन के सिद्धान्त (Reinforcement) को अस्वीकार करने के कारण भी यह हल के सिद्धान्त से भी भिन्न है।

गूथरी का सिद्धान्त उसके एक प्रयोग पर आधारित है जो उसने हरटॉन

1 Learning occurs when a stimulus and a response happen simultaneously. —Guthrie

2 A combination of stimuli which has accompanied a movement will on its recurrence, tend to be followed by that movement.

(Horton) के साथ बिल्ली पर किया था। अपने प्रयोग के लिए उसने एक विशेष प्रकार का बक्स तैयार करवाया, उसके सामने के भाग में शीशा लगा था जिसके द्वारा स्पष्ट देखा जा सकता था। उसमें एक खम्भा ऊपर से ऐसे लटक रहा था कि बिल्ली के किसी भी अंग से उसके छू जाने पर दरवाजा खुल जाता था। इस खम्भे के छूते ही उसके साथ सम्बद्ध कैमरा सक्रिय हो उठता था जोकि बिल्ली की विभिन्न क्रियाओं के चित्र ले लेता था। बिल्ली को एक कोने से प्रविष्ट किया गया और बक्स के बाहर एक मछली रख दी गई। बिल्ली उसके अन्दर पहले दरवाजे की ओर गई उसे धक्के दिये और उसको खरोंचने लगी, इस क्रिया के द्वारा उसका कोई अंग खम्भे से छू गया जिससे एक आवाज के साथ दरवाजा खुल गया, बिल्ली ने उस आवाज की ओर ध्यान दिया और बाहर आ गई।

गुथरी के अनुसार उत्तेजना और प्रतिक्रिया का सम्बन्ध तो एक ही प्रयास में हो जाता है परन्तु जब हम उसकी पुनरावृत्ति करते हैं तो उत्तेजना का वह रूप नहीं रहता जो पहले था अपितु उसमें कुछ परिवर्तन अथवा परिवर्धन हो जाता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार किसी भी सीखने की परिस्थिति में अनेक उत्तेजनाएँ और प्रतिक्रियाएँ एक साथ कार्य करती हैं। कुछ उत्तेजनाएँ वाह्य होती हैं और कुछ प्राणी (सीखने वाले) की आन्तरिक उत्तेजनाएँ होती हैं। उदाहरणार्थ—मान लीजिए एक लड़का पहाड़े सीख रहा है। उस समय कक्षा में उपस्थित वाह्य उत्तेजनाएँ, तथा कक्षा का वातावरण, बाहर की ध्वनि, शिक्षक की आवाज अथवा उसका स्वयं का याद करना, उँगलियों की गति तथा ऐसी ही अनेक उत्तेजनाएँ जो उसके ज्ञान-केन्द्रों को प्रभावित कर रही हैं, उन सभी का सम्बन्ध उसके द्वारा की जा रही क्रियाओं से हो रहा है। उसमें कुछ उत्तेजनाएँ परिस्थिति को सहायक बनाती हैं तो कुछ बाधक भी होती हैं। किसी विशेष जटिल परिस्थिति में अनेक उत्तेजनाओं से अनेक प्रतिक्रियाएँ सम्बद्ध होती रहती हैं। किन्ही के साथ तो ठीक साहचर्य होता है परन्तु कुछ बाधक भी होती हैं।

गुथरी के अनुसार प्रत्येक प्रयास में सीखना पूर्ण होता रहता है (Learning is complete in on trial) प्रत्येक प्रतिक्रिया कुछ उत्तेजनाओं से सम्बन्धित होती रहती है और उस उत्तेजना के उपस्थित होने पर उस क्रिया की पुनरावृत्ति भी होती है। इसका तात्पर्य यह है कि साहचर्य की दृढ़ता पुनरावृत्ति से नहीं होती क्योंकि यह तो प्रथम आवृत्ति में ही पूर्ण दृढ़ता प्राप्त कर लेती है।[1]

सीखने में सुधार साहचर्य की दृढ़ता के कारण अथवा किसी एक ही उत्तेजना प्रतिक्रिया के सम्बद्ध से नहीं होता, अपितु सम्पूर्ण परिस्थिति में अनेक ठीक साहचर्यों के कारण होता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि अन्य प्रयासों में जो सुधार दिखाई पड़ता है उसका कारण सही प्रतिक्रिया का दृढ़ होना नहीं है अपितु प्रत्येक नवीन प्रयास में पूर्व प्रयास की त्रुटियों के स्थान पर उपयुक्त नवीन सम्बन्ध स्थापित होते जाते हैं।

सूक्ष्म रूप में हम यह कह सकते हैं कि प्राणी के आन्तरिक तथा वाह्य

1 The strength of association will not gain through repetition, for it attains full strength on the first occurence.

उत्तेजनाओं से सीखी गई प्रतिक्रियाएँ सम्बद्ध होती रहती हैं। यह साहचर्य अथवा सम्बन्ध पहले प्रयास में ही प्रबल हो जाता है। जब मूल उत्तेजना की पुनरावृत्ति होती है उस समय यदि थकान या अन्य बाधा बाधक नहीं हो तो उसी प्रतिक्रिया के होने की सम्भावना पूर्ण रूप में रहती है। प्रत्येक नवीन प्रतिक्रिया के समय पूर्व क्रिया की अवशेष त्रुटियाँ दूर होती जाती हैं। इस प्रकार साथ-साथ होने वाली उत्तेजना प्रतिक्रिया के इस सम्बन्ध की पूरी शृंखला को सीखना कहते हैं।

गूथरी सीखने में, प्रभाव के नियम अथवा पुनर्बलन के नियम को आवश्यक नहीं मानता। बिल्ली केवल S—R सामीप्य के कारण ही उपयुक्त प्रतिक्रिया सीख लेती है। उनके अनुसार प्रेरणा या चालना (Drive) का कार्य केवल सामान्य रूप में व्यवहार को सचालित कर देना ही है, सीखने में इसका कोई स्थान नही है। इसी प्रकार पारितोषिक तथा दण्ड व्यक्ति को उस व्यवहार को करने से रोकते हैं जो पहले सीखी गई बातों को समाप्त कर देता है।

सीखने में प्रेरणा, पारितोषिक या दण्ड का स्थान

सीखने में स्थानान्तर—स्थानान्तर के सम्बन्ध में गूथरी का विचार थॉर्नडाइक के सादृश्य तत्व सिद्धान्त के समानान्तर है। उसके अनुसार उत्तेजना प्रतिक्रिया सम्बन्ध के समान ही इसकी परिस्थितियों के उपस्थित होने पर स्थानान्तर होता है।

भूलना—भूलने के सम्बन्ध में गूथरी अनुपयोग (Disuse) के सिद्धान्त को नहीं मानता। उसके मतानुसार अनुपयोग अथवा समय के व्यवधान के कारण ही प्राणी नही भूलता अपितु उस बीच में जो अन्य क्रियायें होती हैं वे पहले की क्रियाओं को समाप्त कर देती हैं। यदि एक निश्चित S. R. सम्बन्ध किसी अन्य सम्बन्ध से प्रभावित न हो तो वह अनन्त काल तक याद रहेगा।

शिक्षा की दृष्टि से भी गूथरी ने सैद्धान्तिक पक्ष की अपेक्षा व्यावहारिक पक्ष पर ही बल दिया है। उसका कहना है कि जो हम सीखते हैं वही दुहराते हैं और जो हम करते हैं वही सीखते हैं।[1]

इस प्रकार उसने क्रिया के ऊपर ही विशेष बल दिया है। बालक से हम उसी कार्य को करने के लिए कहें जोकि उसके लिए सम्भव है तथा इसके साथ ही उसके सीखने के मार्ग में उत्पन्न बाधाओ को भी जितनी ही कम करेंगे वह उतनी ही सफलता से उस कार्य को सीखेगा। हमारा प्रथम दिया गया ज्ञान तथा प्रभाव ऐसा होना चाहिये जोकि उचित दिशा मे ज्ञान, कौशल तथा ठीक आदतो का विकास कर सके। क्योंकि बालक पहली प्रतिक्रिया में ही सीख लेता है और वह दृढ होती जाती है। बाधाओं को दूर करके हम भूलने के भय को कम कर सकते हैं तथा नवीन आदतों का निर्माण भी कर सकते हैं।

स्किनर का सीखने का सिद्धान्त—स्किनर के सीखने के सिद्धान्त को आपरेण्ट कण्डीशनिंग सिद्धान्त कहते हैं। सीखने के सिद्धान्तो मे वाटसन ने उ० प्र० सिद्धान्त को अपनाया और उत्तेजना तथा प्रतिक्रिया के सम्बन्ध को प्राणी तथा उसके वातावरण

1 We repeat what we learn and we learn what we do, —Guthrie

वरण से सम्बद्ध करके सीखने के सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत की। गूथरी अपने सिद्धान्त की व्याख्या करते समय प्रतिक्रिया की ओर ही अधिक महत्व देता है क्योंकि वह क्रिया के विश्लेषण द्वारा ही अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। हल इस उत्तेजना प्रतिक्रिया के सिद्धान्त से सन्तुष्ट नहीं हुआ और उसने उ०-प्रा०-प्र० (S-O-R) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उसके अनुसार प्राणी अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि उत्तेजना और प्रतिक्रिया दोनों उसी से ही सम्बद्ध हैं।

स्किनर का सीखने का सिद्धान्त वर्णनात्मक व्यवहारवादी (Descriptive Behaviourism) सिद्धान्त है जो पूर्ण रूप से प्रतिक्रिया के अध्ययन पर ही आधारित है। सीखने के सम्बन्ध में स्किनर का सुझाव एक अनुभवजन्य व्यवस्था (Empirical System) की ओर है जिसके लिए वह किसी विशेष सैद्धान्तिक आधार की आवश्यकता नहीं समझता। स्किनर ने सीखने के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है उसे आपरेण्ट कण्डीशनिंग सिद्धान्त कहते हैं जोकि पैवलोव के सम्बद्ध प्रतिक्रिया सिद्धान्त से भिन्न है।

अपने सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए स्किनर ने सबसे पहले एस (S) प्रकार के तथा आर (R) प्रकार के सम्बद्धता सिद्धान्त में अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि एस प्रकार का सिद्धान्त पैवलोव का सिद्धान्त है जिसमें एक ज्ञात उत्तेजना को पुनर्बलन की स्थिति में एक प्रतिक्रिया से सम्बद्ध किया जाता है। एस प्रकार के सम्बद्धता सिद्धान्त में प्रतिक्रिया, उत्तेजना के द्वारा उत्पन्न की जाती है इसे प्रतिक्रिया परक (Respondent) कह सकते हैं। इसके विपरीत आर प्रकार के सम्बद्धता सिद्धान्त में निर्गमित प्रतिक्रिया (Emitted Response) का उपयोग करते हैं और उसे क्रियापरक (Operants) कहते हैं।

स्किनर के मतानुसार अधिकतर व्यवहार निर्गमित (Emitted) व्यवहार होते हैं जिसके लिये हमें उससे सम्बद्ध उत्तेजना का ज्ञान तो नहीं होता परन्तु हम उसके सम्बन्ध में परिकल्पना कर लेते हैं। उदाहरणार्थ—मान लीजिये हमने एक पत्र लिखा। पत्र लिखने की प्रतिक्रिया तो दिखाई पड़ रही है परन्तु इस क्रिया को उत्तेजित करने के पक्ष में अनेक कारण हो सकते हैं। इस व्यवहार के आधार पर किसी एक कारण का निश्चित अनुमान करना कठिन है। स्किनर के अनुसार पैवलोव आदि ने एस प्रकार की सम्बद्धता को आवश्यकता से अधिक महत्व प्रदान किया है। अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के लिए उसने एक प्रयोग किया। उसके द्वारा बनाये गये उपकरण को स्किनर बक्स कहते हैं।

स्किनर का प्रयोग—स्किनर ने अपना प्रयोग करने के लिए एक विशेष प्रकार के बक्स की व्यवस्था की। इसमें एक मार्ग से चूहा प्रवेश करता था। उसके अन्दर एक लीवर लगा था जिसका सम्बन्ध एक ऐसी प्याली से था कि लीवर के दबते ही खट की आवाज के साथ प्याली में खाने का एक टुकड़ा आ जाता था। चूहा जब उस लीवर को दबाता था तो आवाज आती थी और वह आवाज को सुनकर उसी तरफ बढ़ता था और उसे प्याली में खाना मिल जाता था। यह खाना उसकी क्रिया के लिए पुनर्बलन का कार्य करता है अर्थात् लीवर दबाने की क्रिया को

बल प्रदान करता है। बक्स मे ऐसी भी व्यवस्था थी कि अन्य प्रकार का कोई शोर या व्यवधान न पड़े।

लीवर दबाने की क्रिया को चुनने के लिए स्किनर ने निम्नलिखित चार कारण बताये है—

(1) यह प्रतिक्रिया जानवर के लिए अत्यन्त सरल है।

(2) एक अप्रशिक्षित जानवर एक घण्टे में दर्जनो बार लीवर को दबाता है जिसके कारण सम्बद्धता का होना और तत्सम्बन्धी व्यवहार सरलता से देखा जा सकता है।

(3) यह जानवर के अन्य व्यवहार से सम्बन्धित नही है अतः इसे अलग से देखा और रेकार्ड किया जा सकता है।

(4) लीवर दबाने की प्रतिक्रिया भ्रान्ति रहित है, अतएव लीवर दबाया गया या नही, इसे जानने में कोई कठिनाई नही होती।

अपने बाद के प्रयोगों मे स्किनर ने चूहों के अलावा मनुष्यो तथा अन्य जानवरों पर भी प्रयोग किया।

असम्बद्ध-किन्तु भूखे चूहे के द्वारा पहली बार ही लीवर के दबाने का सम्बन्ध भोजन से सम्बन्धित कर लिया जाता है और वह आवाज सुनते ही बक्स में ढूँढना प्रारम्भ कर देता है। लीवर का सम्बन्ध भोजन की प्याली से इस प्रकार सम्बन्धित रहता है कि जब कभी भी लीवर दबाया जाता है उसी समय जानवर को एक टुकड़ा खाने को मिल जाता है। प्रयोग के शुरू में प्रयोगकर्ता हाथ द्वारा प्याली को दबा कर आवाज के साथ खाने का टुकड़ा डाल देता है, चूहा खा लेता है। बाद के प्रयोग में वह स्वयं प्याली से सम्बद्ध लीवर को दबाता और खा लेता है।

उपलब्धि के सिद्धान्त (Laws of acquisition)

स्किनर ने इसके आधार पर ही उपलब्धि अथवा सीखने के सिद्धान्त के विषय में कहा है कि—यदि किसी क्रिया के बाद ही कोई बल प्रदान करने वाली उत्तेजना प्राप्त हो जाती है तो उसकी शक्ति में वृद्धि हो जाती है।[1]

अतएव स्पष्ट है कि अभ्यास तथा पुनर्बलन दोनों ही लीवर दबाने की क्रिया के लिए आवश्यक हैं किन्तु केवल अभ्यास से ही शक्ति में वृद्धि नही होती अपितु इससे पुनर्बलन के बार-बार आने का अवसर मिलता है। सामान्य ढंग से देखने पर स्किनर के इस नियम और थॉर्नडाइक के प्रभाव के नियम तथा हल के चौथे नियम में समानता मिलती है। परन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिए कि स्किनर पुनर्बलन (प्राप्त होने वाली वस्तु) के सुखद अथवा दुखद फल के बारे में कोई धारणा नहीं बनाता। अतः थॉर्नडाइक तथा हल जहाँ विश्लेषणात्मक हैं वहाँ स्किनर वर्णनात्मक है।

स्किनर की चालना (Drive) सम्बन्धी धारणा—चालना की परिभाषा करते हुये स्किनर ने कहा है कि कितने घण्टे तक जानवर को भूखा रखा गया, चालना इसे स्पष्ट करने वाली दशा है, वह इसे उत्तेजना (Stimulus) अथवा मनोवैज्ञानिक

---

1 If the occurance of an operent is followed by presentation of a reinforcing stimulus the strength is increased. —Skinner

(4) छात्र अपनी गति से आगे बढ़ते हैं। कक्षा शिक्षण में इसके विपरीत शिक्षक चलता है, यहाँ छात्र अपनी क्षमता एवं गति के अनुसार सीखता जाता है। यह व्यक्तिगत भिन्नता पर आधारित है।

(5) प्रत्येक प्रश्न हल कर लेने के बाद छात्र अपने दिये गये उत्तर का सही उत्तर से मिलान कर लेता है, तत्पश्चात् ही वह दूसरे प्रश्न को हल करना आरम्भ करता है। इस प्रकार से उत्तर की सत्यता का परीक्षण होता जाता है, जिससे उसे पुनर्बलन (Reinforcement) प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रत्येक पद पर सफलता आगे आने वाली क्रिया को बल प्रदान करती है। यदि त्रुटि हो जाती है तो वह उसका स्वयं ही निराकरण भी कर लेता है।

प्रोग्राम द्वारा सीखने के उपकरण अथवा साधन को सिखाने की मशीन (Teaching Machine) कहते हैं।

सिखाने की मशीन क्या है ?—सिखाने की मशीन वह उपकरण है जो ऊपर दी गई विशेषताओं के अनुरूप शिक्षण-सामग्री को नियोजित करके प्रस्तुत करती है। यह उपकरण एक पुस्तक, कार्ड-बक्स या अन्य किसी रूप में भी हो सकता है। विद्यालय में पढ़ाये जाने वाले अनेक विषय गणित, भाषा, सामाजिक विषय तथा विज्ञान का भी कुछ भाग इसके माध्यम से सरलतापूर्वक प्रस्तुत किया जा सकता है। इसमें सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है, प्रोग्राम का बनाना। प्रोग्राम इस प्रकार बनाये जाते हैं कि उनमें एक तार्किक क्रम हो और प्रत्येक पद शिक्षा के निश्चित उद्देश्य की ओर अग्रसर हो। मशीनें भी अनेक प्रकार की तैयार की गई हैं। उनके स्वरूप में भी भिन्नता होती है। कुछ लेखक उसी पृष्ठ पर उत्तर भी दे देते हैं, कुछ अन्त में या दूसरे फ्रेम को शुरू करने के पहले देते हैं, कुछ लोग कार्ड पर लिखकर उत्तर उसके पीछे दे देते हैं।

प्रोग्राम बनाने के विभिन्न रूप :

प्रोग्राम अनेक रूपों में बनाया जा सकता है। उनमें से प्रचलित प्रोग्राम निम्नलिखित हैं—

(1) **सरल रेखीय प्रोग्राम (Linear Pogramming)**—इसका प्रचलन स्किनर और हार्वड के कार्य से ही प्रारम्भ हुआ है। यह एक सरल रेखीय अथवा सरल मार्गीय प्रोग्राम होता है। इसके अन्तर्गत छात्र एक क्रमबद्ध व्यवस्था को अपनाता हुआ सामग्री को पढ़ता है। इनका विश्वास है कि गलतियों के कारण सीखने में व्यवधान पड़ता है। अतः सीखने की क्रिया में प्रत्येक पद को छोटे से छोटे सरलतम रूप में ही पूर्वज्ञान से तार्किक रूप में सम्बद्ध करते हुए प्रस्तुत करते हैं जिससे छात्र को कठिनाई नहीं होती तथा गलतियाँ करने का भय भी नहीं रहता है।

(2) **आन्तरिक प्रोग्राम (Intrinsic Programming)**—इसे ब्रांचिग प्रोग्रामिंग भी कहते हैं। इसमें प्रत्येक फ्रेम में अधिक से अधिक सूचना रहती है। इसमें बहुचयन उत्तर विधि को भी अपनाया जाता है। छात्र को अनेक उत्तरों में से सबसे सही उत्तर को छांटना होता है। जो छात्र गलत उत्तर चयन कर लेते हैं वे भी दूसरे मार्ग द्वारा सही उत्तर पर पहुँचने का प्रयास करते हैं।

प्रोग्राम बनाने के विभिन्न पद :

(1) **उद्देश्य का निर्धारण तथा विषय की रूप-रेखा का निश्चय**—सबसे पहले इस उद्देश्य का स्पष्ट निर्धारण करते हैं कि प्रोग्राम के द्वारा क्या पढ़ाना है। इसके पश्चात् विषय सामग्री का विश्लेषण करके उसके ज्ञान और कौशल को एक व्यवस्थित क्रम प्रदान करते हैं। इनके आधार पर चार्ट तैयार करते हैं।

(2) **प्रोग्राम के फ्रेम को लिखना**—इसके बाद साधारण से जटिल की ओर बढ़ते हुए प्रोग्राम लिखकर उसके फ्रेम तैयार करते हैं। यह फ्रेम दो प्रकार का होता है। (1) सीखने वाला फ्रेम (Learning Frame) के इसके अन्तर्गत विषय को सरलतम ढंग से तार्किक क्रम में समझाते हुए प्रस्तुत करते हैं। (2) परीक्षण फ्रेम (Testing Frame) के अन्तर्गत सीखी गई बात मे मूल्यांकन हेतु प्रश्न दिए जाते हैं। इस प्रकार पूरा प्रोग्राम तैयार कर लिया जाता है।

(3) **प्रोग्राम का परीक्षण तथा सम्पादन**—प्रोग्राम लिख जाने के उपरान्त विषय विशेषज्ञ, प्रोग्राम विशेषज्ञ तथा कुशल लेखक मिलकर उसका परीक्षण करते हैं तथा उसमें आवश्यक परिवर्तन करते हैं।

(4) **परीक्षण तथा परिवर्तन**—प्रोग्राम बनाने के पश्चात् इस प्रोग्राम को एक छोटे समूह को देकर वास्तविक कठिनाइयों का पता लगाते हैं तथा उसमें आवश्यक संशोधन एवं परिवर्तन भी करते हैं।

(5) **वैधता एवं मूल्यांकन**—जब प्रोग्राम तैयार हो जाता है तो छात्रों के उस प्रतिनिधि न्यादर्श पर इसका प्रयोग करते हैं जिसके उपयोग के लिए यह तैयार किया गया है। इस अवसर पर छात्रों की उपलब्धि के आधार पर ही उसका मूल्यांकन भी किया जाता है।

प्रोग्राम द्वारा सीखने की सीमाएँ :

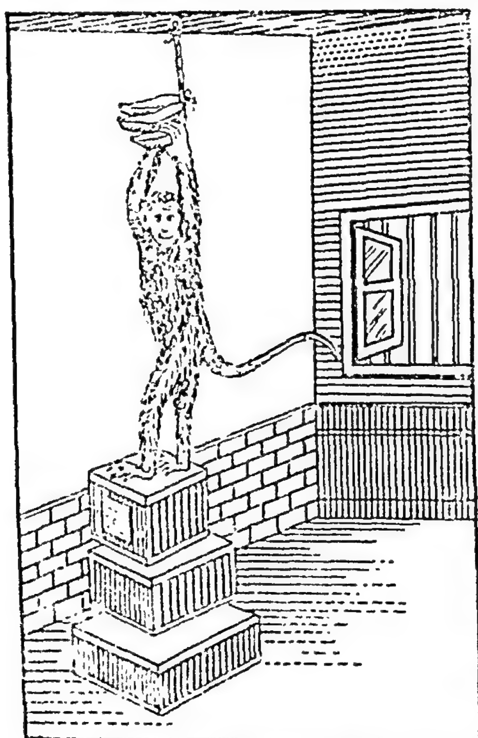
(1) स्वयं प्रेरित छात्र ही इसके द्वारा अधिक लाभ उठा सकते हैं।
(2) इस व्यवस्था की दूसरी कमी यह बताई जाती है कि यह उचित अभिवृत्ति, सौन्दर्य रसानुभूति तथा नैतिक स्तर के विकास में साधक नही है।
(3) आज जो उत्तर सही है वह कल गलत भी हो सकता है।
(4) अच्छे शिक्षक के व्यक्तित्व के प्रभाव से छात्र वंचित रह जाते हैं।
(5) कक्षा-शिक्षण मे अनेक सामाजिक गुणों का विकास होता है परन्तु इसमें उन्हें यह अवसर नहीं मिलता।
(6) प्रोग्राम को बनाना बड़ा ही कठिन कार्य है।
(7) यह एक महँगी विधि है।

सम्पूर्ण कठिनाइयों के होते हुए भी यह एक स्वाध्याय मे सहायक अच्छी योजना है। यदि इसे ही एकमात्र साधन न मानकर कक्षा-शिक्षण के पूरक के रूप में इसका उपयोग किया जाय तो अधिक उपयोगी विधि सिद्ध हो सकती है।

(3) अवयवीवाद और सीखना

अन्तर्दृष्टि या सूझ (Insight) से सीखना—सूझबूझ से काम करने की योग्यता अधिक विकसित पशुओं में तथा विशेषकर मनुष्यों में होती है। सूझ या अन्तर्दृष्टि से सीखना, प्रयास एवं त्रुटि का ही एक अन्तिम तथा सुन्दर परिणाम है। सबसे पहले अवयवी मनोवैज्ञानिक कोहलर ने वनमानुषों पर प्रयोग करके यह ज्ञात किया

कि वानर भी मनुष्यों की भांति भोजन प्राप्ति की समस्याओं को हल कर सकते हैं। उसने पिंजड़े में खेलते हुए वनमानुष को लकड़ियों के दो ऐसे टुकड़े दिये जिनके सिरे एक दूसरे में फँसा कर एक लम्बी लकड़ी बनाई जा सकती थी। इस लम्बी लकड़ी की सहायता से वनमानुष पिंजड़े के बाहर पड़े केले को प्राप्त करके खा सकता था। लकड़ी से केले को प्राप्त करने के असफल प्रयत्न के बाद वह वनमानुष लकड़ी के टुकड़ों से ही खेलने लगा। अचानक ही वे दोनों टुकड़े आपस में जुड़ गये, फिर क्या था। वनमानुष ने तुरन्त समझ लिया कि अब लम्बी लकड़ी से केला प्राप्त किया जा सकता है। वह पिंजड़े के दूसरे भाग में गया और वहाँ से केला खींचकर खा लिया। इसी प्रकार लकड़ी के खाली बक्सों को एक दूसरे के ऊपर रखकर वह ऊँचाई पर लटके हुए केलों तक पहुँचना सीख गया।



कोहलर द्वारा वनमानुष पर किया गया एक प्रयोग

किसी समस्या के उपस्थित होने पर व्यक्ति उसका निरीक्षण करता है। अवधान केन्द्रित करता है। निरीक्षण द्वारा उस समस्या के सभी अंगों, उपांगों और सम्बन्धों को समझता है। सूझ से हमारा अभिप्राय इन सम्बन्धों की सफलता पूर्वक मानसिक खोज से है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस क्रिया का क्रम इस प्रकार है—

(1) गत्यात्मक प्रयत्न और सफलता (Motor Trail and Success)।

2. स्थूल वस्तुओं के स्थान पर प्रतिमाओं का प्रयोग।

3. प्रत्ययनात्मक (Conceptual) विचारों में शाब्दिक चिह्नों का प्रयोग।

सूझ वह मानसिक संगठन है जिसकी सहायता से किसी समस्या और उससे सम्बन्धित पहलुओं को तुरन्त ही समझ लिया जाता है। टोलमैन ने इसी को चिह्नों द्वारा सीखना (Sign Learning) कहा है।

रेखागणित और बीजगणित के प्रश्न प्रायः इसी प्रकार हल किये जाते हैं। हिलगर्ड (Hilgard) का कथन है कि इस प्रकार से सीखने के लिए बालक में पर्याप्त बौद्धिक योग्यता होनी चाहिये। बालक अपने पूर्वार्जित ज्ञान के प्रकाश में नई परिस्थितियों और समस्याओं का अवलोकन करता है। उसके मतलब और सम्बन्धों को समझता है। मंद बुद्धि अथवा पिछड़े हुए बालक 'प्रभाव' और 'सम्बन्ध' द्वारा अधिक सरलता से सीख सकते हैं। कुशाग्र बुद्धि बालक 'सूझ' द्वारा जल्दी ही सीखते हैं। परन्तु इस ढंग से सिखाते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि किसी प्रश्न

को हल करने की विधि क्या है, और उस प्रश्न के मुख्य तत्व क्या हैं। पाठशाला में इस विधि से सिखाने के लिए सर्वोत्तम विषय रेखागणित है। सूझ या अन्तर्दृष्टि से सीखी हुई बातों को बालक अन्य परिस्थितियों में भी प्रयुक्त कर सकता है अवयवीवाद ज्ञान और अनुभव की सम्पूर्णता और एकात्मकता पर अधिक बल देता है।

अन्तर्दृष्टि या सूझ सिद्धान्त की उपयोगिता

1. यह सिद्धान्त व्यावहारिक समस्याओ को हल करने तथा रचनात्मक अथवा क्रियात्मक कार्यों को सीखने मे प्रयुक्त होता है।

2. इस प्रकार से सीखने में बालक की मानसिक शक्तियो तथा क्षमताओं का विकास होता है। विशेषकर कल्पना करना, तुलना करना, सम्बन्ध देखना तथा तर्क करना आदि।

3. अंकगणित तथा रेखागणित की समस्याएँ हल करने मे भी यह सिद्धान्त प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार व्याकरण शिक्षा मे भी इसका उपयोग होता है।

4. किसी भी विषयवस्तु में बिना अन्तर्दृष्टि प्राप्त किये हुए उस विषय का उच्च ज्ञान प्राप्त नही किया जा सकता। अतः क्रो तथा क्रो के अनुसार यह सिद्धान्त साहित्य, कला तथा संगीत की शिक्षा के लिए भी उपयोगी है।

5. यह सिद्धान्त सीखने के यान्त्रिक स्वरूपो का खण्डन करता है। इसके अनुसार आदत बनाकर सीखना, रटना अथवा घुटाई-पिलाई निम्न स्तर की सीखने की क्रियाएँ हैं।

6. इस सिद्धान्त के अनुसार बालको मे स्वयं ज्ञान पद्धति (यूरिस्थिक भावना) का विकास होता है। बालक खोज के मार्ग पर अग्रसर होता है।

7. गैरीसन के अनुसार यह सिद्धान्त समस्या हल करके सीखने की विधि की पूरी तरह व्याख्या करता है और कक्षा मे व्यावहारिक शिक्षण में भी पूरी तरह प्रयुक्त किया जा सकता है।

8. परिस्थिति की सम्पूर्णता पर बल देने के कारण यह सिद्धान्त सम्पूर्ण मानसिक ज्ञान के आधार पर बुद्धि के विकास की व्याख्या करता है।

(4) प्रयोजनवाद और सीखना

टोलमैन का सिद्धान्त : चिह्नों का अधिगमन
(Tolmans Theory of Sign-Learning)

जिस प्रकार हल ने अपने पूर्ववर्ती थॉर्नडाइक और पैवलोव की संयोजनवादी (Connectionism) सकल्पनाओ को व्यवस्थित बनाया उसी प्रकार टोलमैन ने अपने पूर्ववर्ती वैज्ञानिको (अवयवीवादी कोहलर तथा प्रयोजनवादी मैक्डुगल) की संकल्पनाओं को सुधारकर प्रयोजनवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया। उसके विचार अवयवीवाद से भी पूरी तरह प्रभावित हैं। इससे पूर्व के सिद्धान्तो में विशेषकर थॉर्नडाइक व हल के सम्बन्धवाद मे उसे यांत्रिकता की गन्ध आई। विशेषकर उ०—प्र० सिद्धान्त (S—R Theory) तथा भूल एवं प्रयत्न विधि (Trail and Error Method) मे ऐसा प्रतीत होता था मानो सीखने वाला केवल यांत्रिक क्रियाएँ करता हुआ ही मशीन की भाँति कार्य करता है। जीवन, प्रक्रिया और जीवन के उद्देश्यो से इसका

कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रयोजनवादियों की भाँति वह यह मान कर चलता है कि जीवन की सभी प्रक्रियाएँ (सीखना भी) सप्रयोजन (Purposive) हैं।

संयोजनवादी और प्रबलन सिद्धान्तों के अनुसार उत्तेजना तथा प्रतिक्रिया में सम्बन्ध (Bond) स्थापित हो जाता है। अभ्यास के द्वारा यह सम्बन्ध दृढ़ होता है गलत प्रतिक्रियाएँ दूर हो जाती हैं और सही प्रक्रियाएँ सीख ली जाती हैं। इस प्रकार सीखने की क्रिया में सहचारिता, अभ्यास, नवीनता एवं परिणाम आदि के नियम लाग होते हैं। टोलमैन के विचार से सीखने वाला व्यक्ति पृथक-पृथक क्रियाएँ नहीं करता है। वह इन क्रियाओं की शृंखला (Chain) को नहीं मानता अपितु चिन्हों (Signs को सीखता है। सीखने वाला सम्पूर्ण परिस्थिति का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है उसका मन प्रत्यक्षीकरण पर विचार करता है और ज्ञानात्मक संरचनाओं (Cognitiv Structures) का निर्माण होता है। सीखने वाला अपने मन में सीखने की परिस्थि के विषयों का एक ज्ञानात्मक मानचित्र बना लेता है, जिसके द्वारा आगे सीखने क क्रिया में मार्ग दर्शन तथा चिन्ह (Signs) के रूप में उत्तेजना प्राप्त होती रहती है उदाहरणार्थ—भूल-भुलैया में सीखने से सम्बन्धित चूहों पर किये गये प्रयोग में चू सम्पूर्ण परिस्थिति का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर लेता है और चिन्हों की सहायता भूल-भुलैया से बाहर निकलने के लिये सही मार्ग को पहचान लेता है। टोलमैन अनुसार कोई भी नवीन प्रतिक्रिया अथवा व्यवहार चिह्नों के प्रकाश में सीखा जाता है

टोलमैन द्वारा की गई व्याख्या

मैकडुगल की भाँति टोलमैन ने भी चूहों पर भूल-भुलैया (Maze) में सीख से सम्बन्धित प्रयोग किये और उनके द्वारा सफलतापूर्वक सीखने की क्रिया का सूक्ष निरीक्षण भी किया। इस प्रयोग में देखा गया कि वे चूहे जिन्हें पुरस्कार मिला लक्ष्य तक पहुँचने की क्रिया उन चूहों अपेक्षा जल्दी सीख गये जिन्हें इस प्रयत्न पुरस्कार नहीं मिला था। लेकिन पुरस्कार रहित चूहों को जब पुरस्कार दिया ग तो उनकी सीखने की क्रिया में भी सुधार हुआ। टोलमैन के अनुसार यदि भूल-भुलै में लक्ष्यगामी चूहों का निरीक्षण कुछ निश्चित बिन्दुओं पर किया जाये तो र निश्चित हो जायेगा कि इन बिन्दुओं पर कुछ झिझक के साथ वे इधर-उधर देखते और आगे बढ़ने के लिये कुछ परिचित चिह्न (Signs) या ज्ञानात्मक मार्गदर्श खोजते हैं। टोलमैन के अनुसार ऐसी परिस्थिति में सीखने वाला ज्ञानात्मक मार्ग दर्शन के लिये तुरन्त ही उन चिन्हों का चयन करता है जो कि सीखने की स परिस्थिति का महत्वपूर्ण अंग होते हैं। अतएव स्पष्ट है कि टोलमैम के सिद्धान्त परिस्थिति का निरीक्षण तथा प्रत्यक्षीकरण महत्वपूर्ण कारक हैं। सीखने वाला व और परिस्थितियों में अन्तर की खोज करता हुआ उन चिन्हों को अपने मन संगठित करता है जोकि उसे लक्ष्य की ओर बढ़ाने में सहायक होते हैं। (देखि (पृ० 276 पर चित्र—सीखना एक लक्ष्यगामी क्रिया)। संक्षेप में यह कहा जा सक... है कि वह सीखने की परिस्थिति के विषय में अपनी समझ अथवा उसका अर्थ प्राप्त करता है, क्रियाओं को जोड़ना (Connecting Movements) नहीं सीखता। टोलमैन यह भी स्वीकार करता है कि प्रेरणा द्वारा सीखने की क्रिया प्रभावित होती

टोलमैन का प्रयोग

है। जो अनुक्रियाएँ एक परिस्थिति में सीख ली जाती हैं, सीखने वाला उनका सामान्यीकरण करके उन्हें दूसरी परिस्थिति में भी प्रयुक्त कर सकता है।

हल तथा टोलमैन दोनों ही इस विचार को स्वीकार करते हैं कि 'व्यवहार' अथवा 'नवीन अनुक्रिया' किसी आवश्यकता के फलस्वरूप ही उत्पन्न होती है। दोनों ही इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि प्रेरणा अथवा प्रबलन से अनुक्रियाओं में सुधार होता है। परन्तु टोलमैन के अनुसार परिणाम या पुरस्कार मात्र से ही सीखने की क्रिया निश्चित नहीं होती अपितु उसके लिए सज्ञानात्मक रचना (Cognitive Structure) भी एक महत्वपूर्ण वस्तु है, क्योंकि सीखना एक स्व-संगठित क्रिया (Self-organised Activity) है। हल अनुक्रिया के पुनर्बलन पर जोर देता है, इसके विपरीत टोलमैन की मान्यता है कि सीखने वाला नवीन अनुक्रियाओं के उद्दीपन के प्रत्यक्षीकरण द्वारा सीखता है। टोलमैन के अनुसार उद्दीपन की सार्थकता तभी सिद्ध हो सकती है जब सीखने वाला उसका प्रयत्क्ष कर सके। अनुक्रिया चिन्ह के रूप में सीखी जाती है। अतः इस सिद्धान्त को 'चिन्ह गेस्टाल्ट अधिगम' (Sign Gestalt Learning) कहते हैं।

टोलमैन तथा हल के सिद्धान्तों की तुलना

हल तथा टोलमैन दोनों के सिद्धान्त ही व्यावहारिक हैं। हल का सिद्धान्त तांत्रिक शृखला को प्रदर्शित करता है, जबकि टोलमैन के सिद्धान्त मे बुद्धि के कार्य को अधिक महत्व दिया गया है। तांत्रिक शृखला या यांत्रिकता का सिद्धान्त इस बात का आभास कराता है कि सीखने वाले की इस क्रिया में कोई महत्वपूर्ण भूमिका नही है। वह तो केवल अपनी आवश्यकताओं और सवेदी अंगो से टकराने वाले उद्दीपनो का ही शिकार होता है। जबकि टोलमैन के सिद्धान्त में वह सक्रिय भाग लेता है।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. व्यवहारवादियों द्वारा प्रस्तुत सीखने के प्रमुख सिद्धान्तों तथा नियमों का वर्णन कीजिये।
2. साहचर्यवाद सीखने के सिद्धान्त की व्याख्या किस प्रकार करता है ?
3. थॉर्नडाइक के सीखने के नियम क्या हैं ? शिक्षा की दृष्टि से उनका महत्व बताइये।
4. दैनिक जीवन के उदाहरण द्वारा सम्बद्ध प्रतिक्रिया के सिद्धान्त का विवेचन कीजिये।
5. सीखने के सम्बन्ध में गूथरी तथा स्किनर के सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।
6. प्रोग्राम द्वारा सीखने का सिद्धान्त किसकी देन है ? इसकी आवश्यकता तथा उपयोगिता पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

24

सीखने की प्रगति तथा सीखने को प्रभावित करने वाले तत्व
(PROGRESS OF LEARNING AND FACTORS INFLUENCING LEARNING)

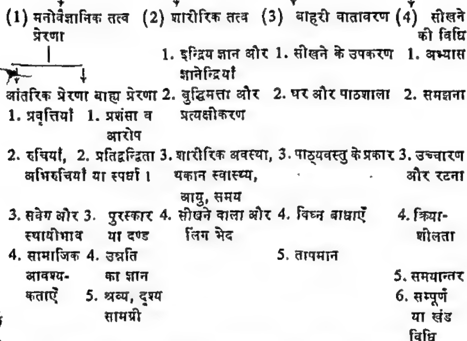
प्रगति का अर्थ

जैसा कि पिछले अध्याय में बताया जा चुका है, अब सीखने की परिभाषा में भी पर्याप्त परिवर्तन हो गया है, सीखना एक क्रियाशील प्रक्रिया है। अब बालक कक्षा में निष्क्रिय बैठकर अध्यापक का भाषण नहीं सुनता, अपितु बालक को नित नये अनुभव कराकर उसके ज्ञान की वृद्धि की जाती है। इसीलिए आधुनिक पाठशालाओं में रचनात्मक कार्यक्रमों, काम करके सीखना, उपकरणों के सम्पर्क से सीखना, योजना बनाकर सीखना, सामाजिक सम्पर्क से सीखना, आत्मक्रिया द्वारा सीखना, खेल द्वारा सीखना और जीवन के अनुभव करके सीखना आदि सिद्धान्तों को प्रधानता दी जाती है।

सीखने के अन्तर्गत ज्ञान और अनुभव में वृद्धि की सभी विधियाँ आ जाती हैं, जैसे—कौशल ग्रहण करना, किसी कार्य को कुशलता से सम्पन्न करना, निरीक्षण करना, शब्द ज्ञान बढ़ाना, विचार बढ़ाना, समस्याएँ हल करना, शारीरिक प्रतिक्रियाओं का संगठन और परिवर्तन करना, उपयोगी आदतें ग्रहण करना, वातावरण के प्रति उचित समायोजन करना, व्यक्तित्व का अनुकूलन, खोज और अनुकरण करना आदि। सीखने की प्रगति पर प्रभाव डालने वाले तत्व निम्नलिखित हैं—

(1) मनोवैज्ञानिक तत्व, प्रेरणा
(2) शारीरिक तत्व,
(3) बाहरी वातावरण,
(4) सीखने की विधि।

सीखने की प्रगति



अब सीखने की प्रगति पर प्रभाव डालने वाले इन चार तत्वों की क्रमश चर्चा की जायेगी।

सीखने का मनोवैज्ञानिक तत्व और प्रेरणा

मनोविज्ञान में प्रेरणा की चर्चा करने के लिए आवेग (Impulse), प्रलोभन (Incentive), चित्ताकर्षण (Appeals), उद्देश्य या प्रयोजन (Aim & Purpose), रुचि (Interest), अभिरुचि, तत्परता, तैयारी, आवश्यकता, भूख प्रवृति, इच्छा (Wish) अभिलाषा (Ambition) लालसा, कामना, अन्त.प्रेरणा (Urge), संकल्प (Will) आदि अनेक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। मनोवैज्ञानिक ऐवरिल ने प्रेरणा की व्याख्या करने हेतु इसी प्रकार की शब्दावली का प्रयोग किया है—"प्रेरणा का अर्थ है—सजीव प्रयास, यह कल्पना को क्रियाशील बनाती है, मानसिक शक्ति के गुप्त और अज्ञात स्रोतों को जाग्रत करके प्रयोग मे लाती है, हृदय को स्पन्दित करती है, निश्चय, अभिलाषा और प्रयोजन की शक्तियों को मुक्त करती है, बालक में कार्य करने, सफलता प्राप्त करने और बाधाओं पर विजय पाने के संकल्प को प्रोत्साहित करती है।"[1]

---

1 "Motivation ... it arouses and ... impassions the ... and purpose, it ..."

—Averill p. 6-27.

अनेक मनोवैज्ञानिक एवं शिक्षाशास्त्री प्रेरणा की चर्चा करते समय प्रेरणा से उत्पन्न होने वाली मानसिक शक्तियों का उल्लेख भी करते हैं। जैसे प्रवृत्तिजन्य शक्ति (Instinctive Force); संकल्प शक्ति (Force of Will); जैविक अभिप्रेरणा शक्ति (Biological Driving Force); सामाजिक आवश्यकताओं की शक्ति (Force of Social Needs); काम शक्ति (Sexual Drive or Force); प्रयोजन शक्ति (Purposive Force); सामाजिक आदर्शों की शक्ति (Force of Social Ideals); मानसिक संतुलन शक्ति (Force of Mental Equilibrium) संवेगात्मक शक्ति (Force of Strength of Emotion)।

ऊपर प्रेरणा के अनेक रूपों का वर्णन किया जा चुका है, जिससे स्पष्ट है कि 'प्रेरणा' किसी कार्य को करने या कार्य करने के लिए उभारने अथवा उकसाने का कार्य कर सकती है। यह उत्तेजना व्यक्ति के अन्दर से या बाहर के वातावरण से भी आ सकती है। किन्तु मनोविज्ञान में प्रेरणा से हमारा अभिप्राय केवल आन्तरिक उत्तेजना से रहता है। प्रेरणा एक आन्तरिक शक्ति (Energy) है, जो व्यक्ति को किसी भी कार्य को करते रहने के लिए अतिरिक्त लगन और उत्साह प्रदान करती रहती है। अतएव प्रेरणा एक अदृश्य वस्तु है जिसके प्रभाव को हम बाहरी व्यवहार में देख सकते हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार प्रेरणा का प्रश्न 'क्यों' का प्रश्न है (The 'Why' of all activities of man) हम प्रेम क्यों करते हैं? किसान धूप में कठोर परिश्रम क्यों करता है? विद्यार्थी रात्रि को देर तक क्यों पढ़ता है? मजदूर हड़ताल क्यों करता है? स्पष्ट है कि प्रेरणा के अन्तर्गत हम उन बातों पर विचार करते हैं जो किसी व्यवहार को उत्पन्न करने, जारी रखने और लक्ष्य की ओर ले जाने के लिए उत्तरदायी हैं। अध्यापक के लिए 'प्रेरणा' वह कला है जिसके द्वारा वह अपने छात्रों का ध्यान एवं रुचि कक्षा कार्य में बनाये रखता है। अंग्रेजी के 'मोटीवेशन' शब्द का भी लगभग यही शाब्दिक अर्थ है—(To motivate means to induce movement) क्रियाशीलता को उभारते रहना।

प्रेरणा का अर्थ एवं परिभाषा

गुड के अनुसार—किसी कार्य को आरम्भ करने, जारी रखने और नियमित बनाने की प्रक्रिया को प्रेरणा कहते हैं।[1]

प्रेरणा शरीर की वह दशा है जिसमें शरीर की सभी शक्तियाँ सक्रिय होकर क्रियाशीलता अथवा व्यवहार को एक विशेष दिशा की ओर ले जाती हैं। प्रेरणा के दो पहलू हैं (1) चालक (Drive), (2) लक्ष्य (Goal)। चालक से हमारा अभिप्राय उपदशम से है। जब व्यक्ति में तनाव और बेचैनी उत्पन्न हो जाती है और उससे छुटकारा पाने के लिए वह कुछ क्रियायें करता है। आन्तरिक तनाव को कम करने के लिए क्रिया द्वारा शक्ति का बाहर निकलना बहुत आवश्यक है।

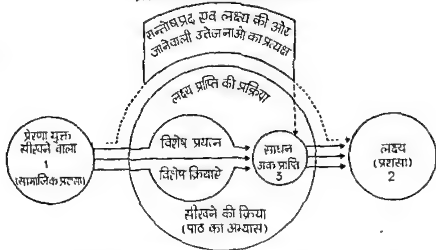
प्रेरणा का विश्लेषण

लक्ष्य (Goal) बाहरी परिवेश का वह भाग है जिसकी ओर वह क्रिया अग्रसर होती है। लक्ष्य निकटवर्ती अथवा दूरस्थ भी हो सकते हैं और उसी के अनुसार इन

1 "Motivation is the process of arousing, sustaining and regulating activity."
—Good.

तक पहुँचने के लिए कम या अधिक प्रयत्नों की आवश्यकता होती है। ये लक्ष्य सकारात्मक या नकारात्मक (Positive or Negative) भी हो सकते हैं और उसी के अनुसार सकारात्मक अथवा नकारात्मक क्रियाशीलता को जन्म देते हैं। यद्यपि ये लक्ष्य बाहरी परिवेश में विद्यमान रहते हैं, परन्तु इनकी सत्ता क्रियाशील व्यक्ति के मानसिक जगत में भी रहती है। ब्लेअर जॉन्स एवं सिम्पसन के अनुसार—प्रेरणा एक प्रक्रिया है; जिसमे सीखने वाले की आन्तरिक शक्तियाँ अथवा आवश्यकताएँ उसके वातावरण मे विभिन्न लक्ष्यों की ओर निर्देशित करती हैं।[1]

स्किनर के अनुसार—पाठशाला में प्रेरणा से हमारा अभिप्राय बालक-बालिकाओ मे सीखने के लिए वांछनीय आचरण उत्पन्न करके, स्थायी बनाने और निर्देशित करने से है। सीखने की क्रिया प्रेरणाओं द्वारा उत्पन्न की गई शक्तियो और परिस्थितियों का सुन्दर परिणाम है। सीखने के लिए दो बातो का होना नितान्त आवश्यक है—(1) सीखने की आवश्यकता (Need) अथवा अभिप्रेरणा (2) उपयुक्त उद्देश्य या लक्ष्य (Goal) जिसकी प्राप्ति से वह आवश्यकता या अभिप्रेरणा संतुष्ट हो सकती है।



उपरोक्त चित्र में सामाजिक प्रशंसा का इच्छुक बालक, (1) प्रेरणा से युक्त सीखने वाला व्यक्ति है। उसकी विशेष क्रियाओं और प्रयत्नो का लक्ष्य, (2) प्रशंसा का पात्र बनाना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति का साधन है, (3) प्रत्येक परीक्षा में अच्छे अंको की प्राप्ति। बालक की, लक्ष्य की ओर प्रगति के लिए लक्ष्य और साधन दोनों का स्पष्ट प्रत्यक्षीकरण होना चाहिए। इस दृष्टि से गिलफोर्ड का यह कथन

1 "Motivation is a process in which the learner's internal energies or needs are directed towards various goal objects in his environment."

—Blair Jones & Simpson p, 151.

पूर्णतः सत्य है कि "प्रेरणा वह विशेष आन्तरिक तत्व या दशा है जो व्यक्ति को क्रियाशील बनाती है तथा क्रिया को लक्ष्य-प्राप्ति तक जारी रखती है।"[1]

प्रेरणा का वर्गीकरण

मनोवैज्ञानिक लेखक प्रेरणा को प्राय: दो वर्गों में रखते हैं—

(अ) आन्तरिक प्रेरणा (Intrinsic)

(ब) बाहरी प्रेरणा (Extrinsic)

मनोवैज्ञानिक खोजों के आधार पर प्रेरणा को निम्नलिखित दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(अ) स्वाभाविक प्रेरणा अथवा आन्तरिक प्रेरणा,

(ब) कृत्रिम प्रेरणा या बाह्य प्रेरणा।

(अ) आन्तरिक अथवा सकारात्मक प्रेरणा (Instrinsic or Positive Motivation)

मूल प्रवृत्तियाँ, आवश्यकताएँ, चालक, उद्दीपन (Instincts, Needs, Drives, Incentives)

व्यक्ति अनेक जन्मजात प्रेरणाएं लेकर उत्पन्न होता है। मूल प्रवृत्तियों और सहज प्रवृत्तियों की चर्चा पिछले अध्यायों में की जा चुकी है।

उसके व्यक्तित्व और चरित्र की सुन्दर इमारत इन्हीं प्रेरणाओं की नींव पर सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण में खड़ी होती है। बालक की अनेक शारीरिक-आवश्यकताएँ भी होती हैं, जैसे—भूख, प्यास एवं नींद आदि। ये जन्मजात प्रेरणाएँ बालक को क्रियाशील बनाती हैं। बालक अपने अनुभवों के आधार पर जन्मजात आवेगों और आवश्यकताओं को परिवर्तित एवं पुनर्गठित करता है। वह नई इच्छाएँ, आदतें और आवश्यकताएँ अनुभव करने लगता है किन्तु जीवित रहने के लिए कुछ मूल आवश्यकताएँ (Needs) अपरिवर्तित ही रहती हैं जैसे भूख, प्यास, भोजन का पचना, हृदय गति का होना, एवं श्वास लेना आदि। ये आवश्यकताएँ अपूर्ण रहने पर शरीर में तनाव (Tension) उत्पन्न कर देती हैं। उस तनाव से मुक्त होने के लिए व्यक्ति क्रियाएँ करता है और लक्ष्य तक पहुँचकर आवश्यकताओं (Needs) की पूर्ति करता है। आवश्कता की पूर्ति होते ही शारीरिक तनाव दूर हो जाता है और वह सन्तोष का अनुभव करता है।

बोरिंग, लैंगफील्ड तथा वेल्ड के अनुसार—'आवश्यकता शरीर की कोई जरूरत या अभाव है जिसके कारण शारीरिक तनाव या असन्तुलन उत्पन्न होता है। इस तनाव के कारण ऐसा व्यवहार (क्रियाशीलता) उत्पन्न होता है जिसके परिणाम-स्वरूप आवश्यकता-जनित असन्तुलन समाप्त हो जाता है।"

आवश्यकतायें चालकों (Drives) को जन्म देती हैं, जैसे भूख की आवश्यकता से 'भूख चालक' (Hunger Drive), काम पिपासा से काम चालक' (Sex Drive)। ये चालक व्यवहार को एक निश्चित दिशा और रूप प्रदान करते हैं। यही

---

1 "A motive is any particular internal factor or condition that tends to initiate and to sustain activity."
—J. P. Guilford p. 91

कारण है कि आजकल व्यावसायिक और सार्वजनिक जीवन मे भी चालकों के प्रचलन में वृद्धि हो गयी है, जैसे—आर्थिक बचत आन्दोलन (Economic Drive), क्षमता वृद्धि आन्दोलन (Efficiency Drive), छात्र-संख्या वृद्धि आन्दोलन (Enrolment Drive) आदि। इन कार्यक्रमों में चालको के उपयोग से एक नवीन आन्दोलन प्रारम्भ किया जाता है, जिसके द्वारा कार्य की मात्रा और कार्यकर्ताओं की कार्य क्षमता में वृद्धि हो सके। जीवन की आवश्यकताओं से सम्बन्धित वस्तुयें उपहार या पुरस्कार के रूप में दी जाती हैं। वह वस्तु जिसकी प्राप्ति से किसी आवश्यकता (Need) की पूर्ति होती है, वह उस आवश्यकता का उद्दीपन (Incentive) कहलाती है। जैसे स्वादिष्ट भोजन की चर्चा या सुगन्ध भोजन की आवश्यकता को उद्दीप्त करती है। अतएव स्पष्ट है कि उद्दीपन का प्रयोग नैसर्गिक आवश्यकताओं को उत्तेजित करने के लिए किया जाता है।

मानसिक और सामाजिक आवश्यकताएँ
(Psychological and Social Needs)

बालक की सामाजिक और संवेगात्मक प्रेरणायें अधिक परिवर्तनशील हैं, जैसे—भय, क्रोध, घृणा आदि संवेग; रुचियाँ, प्रभुता की इच्छा, पांडित्य की इच्छा; शासन और शक्ति की इच्छा, सहयोग और विरोध की इच्छा; अनुकरण अथवा नेतृत्व की इच्छा; सफलता की इच्छा, स्थायीभाव और संवेगात्मक आदतें।

इसके अतिरिक्त कुछ आन्तरिक प्रेरणायें ऐसी भी हैं, जो व्यक्ति के न चाहने पर भी उसके जीवन में आ जाती हैं और उसके व्यवहार को प्रभावित करती हैं। जैसे—इन्द्रिय जन्य कष्ट या पीड़ा, भय, निराशा, क्षोभ, आत्महीनता एव असमर्थता के विचार आदि।

अध्यापक इन आन्तरिक प्रेरणाओ को उपयुक्त मार्ग दिखाकर बालक के व्यक्तित्व का सुन्दर विकास कर सकता है। कक्षा शिक्षण मे मूल प्रवृत्तियों की उपयोगिता की चर्चा पिछले अध्यायों में की जा चुकी है। शैक्षिक कार्यक्रमों में खेल, अनुकरण, सहानुभूति और संकेत द्वारा बालक-बालिकाओं को सीखने का पर्याप्त अवसर मिलता है। संवेग स्वयं एक शक्ति है। बालको का अपने शिक्षालय, पाठ्य विषय और विषय अध्यापक के साथ संवेगात्मक सम्बन्ध स्थापित होना चाहिए। अच्छी आदतें, रुचि और अभिरुचियों के पीछे स्थायी भाव एक स्थायी प्रेरणा का काम करता है।

कुछ मानसिक आवश्यकतायें (Psychological Needs)

सुरक्षा की आवश्यकता (Need of Security)—मनुष्य की महत्वपूर्ण मानसिक आवश्यकता सुरक्षा की भावना है। इस आवश्यकता का प्रारम्भ जैविक कारणों से, भय और विनाश से मुक्त होने के लिए ही हुआ होगा। सुरक्षा की आवश्यता भूख या प्यास की आवश्यकता के समान किसी विशेष वस्तु से सन्तुष्ट होने वाली आवश्यकता नहीं है। बल्कि जब कभी भी हमारी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति मे बाधा पड़ती है, अथवा कोई हानि, सदमा, पराजय या अपमानजनक परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है तो हम यह अनुभव करने लगते हैं कि परिस्थितियाँ हमारे विपरीत हैं और हमारी सुरक्षा को खतरा है। यदि

इस प्रकार की भावना सदैव बनी रहती है तो वह व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य के लिए बहुत हानिकारक है। उसके सीखने और बौद्धिक विकास की सम्भावनायें कम हो जाती हैं।

बालक जब घर का सुरक्षापूर्ण वातावरण छोड़कर विद्यालय में आता है तो वह अपने साथियों और अध्यापकों की ओर से निश्चिता की आशा करता है। यदि विद्यालय का संगठन अच्छा है, वहाँ की कार्य प्रणाली व्यवस्थित है, विद्यार्थी और अध्यापक अनुशासित हैं और सभी कार्य पक्षपातरहित एवं नियमानुसार होते हैं तो बालक में सुरक्षा की भावना की भी वृद्धि होती है। वह अपने साथियों और गुरुजनों के विषय में निश्चिन्त रहता है। विद्यालय के प्रत्येक कर्मचारी के प्रति भी उसके विश्वास में वृद्धि होती है। वह समझने लगता है कि जो अपेक्षित है वह उसे अवश्य प्राप्त होगा। इसके विपरीत जिन विद्यालयों में दिन-प्रति-दिन अध्यापक बदलते रहते हैं, जहाँ पक्षपातपूर्ण ढंग से निर्णय लिये जाते हैं और जहाँ पर हर प्रकार की अव्यवस्था है उस विद्यालय में पढ़ने वाले छात्रों में सुरक्षा की भावना लुप्त रहती है। अतएव स्पष्ट है कि छात्रों में सुरक्षा की भावना का संचार करने के लिए व्यवस्था, अनुशासन और निष्पक्षतापूर्ण व्यवहार बहुत आवश्यक है। इसके अभाव में सीखने की प्रक्रिया सुचारुरूप से नहीं चल सकती।

स्नेह की आवश्यकता (Need of Affection)—बालक में स्नेह की आवश्यकता परिवार में रहकर ही उत्पन्न होती है। इस आवश्यकता के आधार पर बालक दूसरों के साथ सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करता है। वह अपने मित्रों, साथियों और गुरुजनों से भी स्नेहपूर्ण व्यवहार की आशा रखता है। परिवार में बड़ों का स्नेह पाने के लिए वह मधुर आचरण करता है। यह उसके सामाजीकरण की दिशा में पहला कदम है। जिस बालक को परिवार में स्नेह प्राप्त नहीं होता वह कुसमायोजित होकर समाजविरोधी व्यवहार ग्रहण करता है और शिक्षा से विमुख हो जाता है। विद्यालय के शैक्षिक कार्यक्रमों में उसकी रुचि नहीं रहती और वह अध्ययन में भी पिछड़ने लगता है। इसके विपरीत जो बालक स्नेहपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने में सफल हो जाता है उसकी शैक्षिक प्रगति भी तीव्रगति से होती है क्योंकि वह स्नेह शक्ति से प्रेरित रहता है। विद्यालय में प्रेम या स्नेह के दो पहलू हैं—प्रथम यदि अध्यापक अपने विनम्र तथा दयालुतापूर्ण व्यवहार से छात्रों का विश्वास जीत लेता है तो छात्र भी वैसी ही प्रतिक्रिया करते हैं और अध्यापक के निर्देशन में अधिक बातें सीखते हैं।

द्वितीय पहलू है छात्रों का अध्यापक के प्रति प्रेम और आदर की भावना का विकसित होना तथा छात्रों में आपस में भी प्रेम सम्बन्ध का स्थापित होना।

अध्यापक द्वारा प्रेमपूर्ण व्यवहार का अर्थ यह भी नहीं है कि वह अपने आचरण में दृढ़ता खो दे और प्रत्येक प्रकार की ढिलाई से काम ले। वास्तव में बालक उस अध्यापक को ही अपना स्नेह और आदर का पात्र बनाते हैं जिसके व्यवहार में स्थिरता और दृढ़ता रहती है। लेकिन दृढ़ता रखने में पक्षपात नहीं होना चाहिए। ऐसे अध्यापक की कक्षा में विद्यार्थी अधिक उत्साह से शैक्षिक चर्चाओं में भाग लेते हैं। वे कक्षा कार्य में अधिक सहयोग देते हैं और क्रियाशील रहते हैं।

मान्यता प्राप्त करने की आवश्यकता (Need for Recognition)—विद्यालय में बालक अपने साथियों और अध्यापकों से सम्मान, बढ़ाई, और मान्यता प्राप्त करने के लिए लालायित रहता है। आधुनिक सभ्यता मनुष्य को यथेष्ट जैविक सुरक्षा प्रदान करती है, अतएव कुछ अन्य मानसिक आवश्यकतायें भी मनुष्य की दृष्टि में अधिक महत्वपूर्ण हो गई हैं, जैसे अपनी मान-मर्यादा बनाये रखने की आवश्यकता, दूसरों की दृष्टि में ऊँचा उठने की आवश्यकता, प्रशासन प्राप्त करने की आवश्यकता आदि। श्रेष्ठ बनने की फ़िक्र में बालक नवीन और चमत्कारपूर्ण कार्य करता है और संघर्ष भी करता है। अनेक विद्यालयों में बालक की इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए और शिक्षा में इसका सदुपयोग करने के लिए पुरस्कार ग्रेड, सम्मान-पत्र अथवा सम्मानपट तथा प्रतियोगिताओं आदि की व्यवस्था की गई है। कुछ विद्यालयों में नियमित उपस्थिति, अनुशासन, समाजसेवा, कक्षा और विद्यालय की सजावट, वाद-विवाद प्रतियोगिता, कवितापाठ, खेल-कूद प्रतियोगिता आदि के आधार पर भी पारितोषिक वितरित किये जाते हैं। अनेक छात्रों के लिए शिक्षा उनके सामाजिक स्तर मे सुधार का साधन होती है। अतः अध्यापक को इस आवश्यकता को उत्तेजित करके शैक्षिक कार्यों में भी छात्रों की रुचि मे वृद्धि करनी चाहिए।

आत्मप्रकाशन की आवश्यकता (Need for Self Assertion)—इस आवश्यकता को भी अनेक नामों से पुकारा जाता है, जैसे आत्मक्रिया की आवश्यकता, आत्माभिव्यक्ति की आवश्यकता, आत्मानुभूति की आवश्यकता एवं आत्मप्राप्ति की आवश्यकता आदि। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी विलक्षणतायें और योग्यतायें होती हैं और उसी के अनुरूप ही उसे वातावरण और परिस्थितियों की खोज रहती है। यदि उपयुक्त परिस्थितियाँ मिल जाती हैं तो वह सतुष्ट रहता है और उस दिशा में कुछ अच्छे कार्य करने के लिए प्रयत्नशील भी रहता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी बालक में सुन्दर लेख लिखने की योग्यता है या गायन योग्यता है और उसे इस योग्यता का प्रकाशन करने का अवसर मिल जाता है तो वह अधिक सतुष्ट रहता है। इस योग्यता के प्रकाशन से जो मान्यता, प्रशंसा अथवा सम्मान उसे मिलता है, वह उसके लिए वरदान सिद्ध होता है और वह स्वय उस योग्यता को और अधिक विकसित करने के लिए प्रयत्नशील हो जाता है। उसे इस क्षेत्र मे अधिक से अधिक कुशलता और निपुणता प्राप्त करने मे आनन्द आता है।

सामान्यतः बालक-बालिकाएँ अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए शैशव-काल से ही अनुकरण द्वारा बहुत सी कुशलताएँ और आदतें सीख लेते हैं, तत्पश्चात् उनमे आत्मप्रकाशन के लिए उत्तरोत्तर उन्नति होती रहती है। वह सीखी हुई क्रियाएँ या कुशलताएँ ही उनकी प्रेरणा का श्रोत बन जाती हैं और इस प्रकार आत्मक्रिया द्वारा वह बालक और अधिक सीखता है। आधुनिक सामूहिक खेलों में भी (हॉकी, फुटबॉल, बैडमिन्टन आदि) खेल के स्तर मे सुधार इसी प्रकार होता है। रुचि, लगन या उमंग भी इसी प्रकार की आन्तरिक प्रेरणायें हैं। इनके उत्पन्न होने पर बाहरी उत्तेजनायें (जैसे पुरस्कार, प्रशंसा आदि) उनके लिए महत्वहीन हो जाती हैं। आन्तरिक प्रेरणायें उत्पन्न करने और उन्हें स्थायी बनाये रखने मे परिवार और विद्यालय का वातावरण बहुत सहायक होता है।

प्रेरणा और सीखना
(Motivation and Learning)

सीखने की दशाओं में प्रेरणा, सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारक है। प्रेरणा से सीखने की क्रिया इस प्रकार प्रभावित होती है—

(1) प्रेरणायुक्त सीखने की क्रिया में सीखने वाला क्रियाशील रहता है और पूरा सहयोग करता है।

(2) प्रेरणा के अभाव में अभ्यास से कोई लाभ नहीं होता। अभ्यास करते समय सीखने वाले की रुचि अभ्यास की सामग्री में होनी चाहिए।

(3) बालकों के विकास और अभिवृद्धि के साथ ही उनके प्रेरकों में भी परिवर्तन होते हैं। आयु और अनुभव में वृद्धि के साथ ही प्रेरणा के श्रोत भी परिवर्तित होते हैं। शिक्षा ग्रहण करने से छात्रों की अभिवृत्तियां भी परिवर्तित हो जाती हैं, जो उनके प्रेरकों को प्रभावित करती हैं। अतः अध्यापक को इनकी पूरी जानकारी होनी चाहिए।

(4) मनोविज्ञान में अनेक प्रकार की प्रेरणाओं और चालकों की चर्चा होती है, किन्तु मानसिक क्रियाओं के पीछे किस समय कौन सी प्रेरणा काम करती है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा सकता। शिक्षा मनोविज्ञान केवल सामान्य प्रेरकों की ओर अध्यापकों का ध्यान आकर्षित करता है।

(5) कभी-कभी बालक के व्यक्तिगत प्रेरक सामाजिक प्रेरकों से मेल नहीं खाते हैं और इनमें संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। अतः अध्यापक को इस पर ध्यान देकर संघर्ष समाप्त करा देना चाहिए, अन्यथा प्रेरक उस बालक की सीखने की क्रिया को प्रभावित नहीं करेंगे।

(6) अध्यापन की कला की प्रथम आवश्यकता छात्रों को प्रेरणा प्रदान करना है। शिक्षण की सफलता पाठ्य विषय में रुचि जाग्रत करने में निहित रहती है।

(7) भारतीय विद्यालयों में भय, निराशा, असुरक्षा और उद्देश्यहीनता की दशाओं में भी अध्ययन और अध्यापन चलता रहता है, जिसके परिणामस्वरूप संतोषप्रद शैक्षिक प्रगति होते रहने पर भी विषयवस्तु में वास्तविक एवं स्वाभाविक रुचि जाग्रत नहीं होती।

(8) आधुनिक शिक्षाओं में अध्ययन तथा अध्यापन के लक्ष्यों का विश्लेषण (Analysis of objectives of Learning and Teaching) किया गया है, जिससे लघु लक्ष्यों को सामने रखकर कक्षा कार्य किया जाये। इसमे सीखने वाले और सिखाने वाले दोनों की सफलता का आभास मिलता रहता है। सीखने वाले के आत्म-विश्वास में वृद्धि होती है। और वह कक्षा तथा विद्यालय के बाहर भी सीखने के प्रयास जारी रखता है।

बाह्य प्रेरणाओं का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

प्रशंसा तथा आरोप—बालक आरम्भ से ही अपने माता-पिता एवं गुरु की

प्रशंसा का पात्र बनना चाहता है। समाज में दूसरों का प्रेम, विश्वास और आदर पाने की प्रेरणा उसमे स्वाभाविक होती है।

बाहरी प्रेरणा
(Extrinsic Motivation)

पाठशाला में इस प्रेरणा का सुन्दर उपयोग किया जाता है। अच्छे अंक प्राप्त करने वाले विद्यार्थी सभी की प्रशंसा के पात्र बनते हैं। उन्हें और अधिक मन लगाकर पढ़ने की प्रेरणा मिलती है। मनोवैज्ञानिक प्रयोगों और खोजों से यह भी ज्ञात हुआ है कि प्रशंसा तथा आरोप का प्रभाव बालिकाओं पर अधिक पड़ता है। बालिकाएँ स्वभाव से ही कोमल होती हैं। वे आरोप सहन नहीं कर सकतीं। कुशाग्र बुद्धि बालकों पर साधारण या मंद बुद्धि बालकों की अपेक्षा प्रशंसा का प्रभाव कम पड़ता है। अध्यापक को प्रशंसा और आरोप दोनों का प्रयोग अत्यन्त सतर्कता से करना चाहिए। आरोप की अपेक्षा प्रशंसा का उपयुक्त प्रयोग अधिक लाभदायक सिद्ध होता है।

प्रतिद्वन्द्विता (Rivalry)—शिक्षा में व्यक्तिगत प्रतिद्वन्द्विता की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इससे विरोध, घृणा और ईर्ष्या का प्रादुर्भाव होता है। सामूहिक प्रतिद्वन्द्विता कुछ सीमा तक लाभदायक सिद्ध होती है। आत्म प्रतिद्वन्द्विता शिक्षा की दृष्टि से सर्वोत्तम है। बालक को भविष्य में अपनी पिछली सफलताओं से भी अधिक सफलता प्राप्त करने के लिए प्रेरित करना चाहिए।

पुरस्कार तथा दण्ड—यह प्रशंसा तथा आरोप का मूर्त प्रकाशन है दण्ड का प्रयोग नहीं के बराबर होना चाहिए। कारण स्पष्ट किए बिना दण्ड देना बहुत हानिकारक होता है। बालक में विरोध, प्रतिद्वन्द्विता, अनादर, घृणा और अरुचि का संचार होता है। बनावटी पुरस्कार की अपेक्षा सफलता स्वयं एक सुन्दर पुरस्कार है। सफलता के समान कोई दूसरा पुरस्कार नहीं।[1] अतएव बालक-बालिकाओं को सफलता के आनन्द की अनुभूति होती रहनी चाहिए। धन देने अथवा शुल्क में छूट देने के उपाय स्थायी उत्तेजक नहीं बन सकते। इनकी अपेक्षा पदक या प्रमाणपत्र अधिक प्रभावशाली होते हैं। इनमें पुरस्कार और प्रशंसा दोनों की भावना रहती है। उच्च शिक्षा में यह भी सर्वोत्तम प्रेरणाएँ नहीं कही जा सकतीं क्योंकि इस समय विद्यार्थी का ध्येय ज्ञानार्जन के स्थान पर प्रमाण पत्र या श्रेणी (Division) प्राप्त करना रह जाता है और इसके लिए वह सब भले-बुरे उपाय भी काम में लाता है। अतएव वर्तमान शिक्षा व्यवस्था को परीक्षा के दोषों से मुक्त करना नितान्त आवश्यक है।

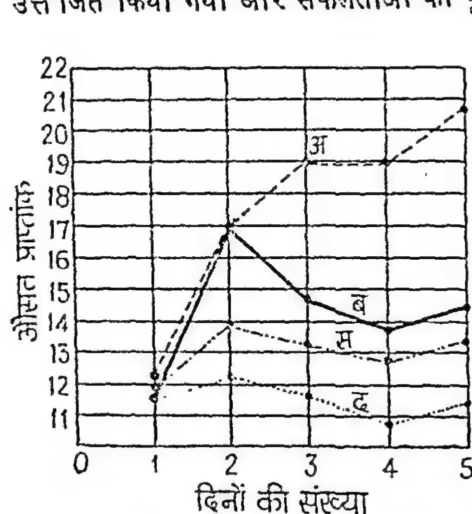
मनोवैज्ञानिक प्रयोग एवं निरीक्षण द्वारा इस बात का अध्ययन किया गया है कि प्रशंसा, आरोप, अवहेलना आदि सामाजिक उत्तेजनाओं का बालक के सीखने पर क्या प्रभाव पड़ता है। ई० बी० हरलोक ने 1925 में 106 उच्चतर माध्यमिक विद्यालय की छात्राओं पर एक प्रयोग किया। उसने प्रयोग के लिए छात्राओं को चार समान योग्यताओं और आयु वाले दलों में विभाजित कर दिया। इन्हें प्रतिदिन गणित के तीस प्रश्न, 15 मिनट में हल करने के लिए दिए जाते थे। यह प्रयोग

---

1 "Nothing succeeds like success."

5 दिन चला। इन चारों दलों को विभिन्न रूपों से प्रेरित किया गया। हरलौक के इस परीक्षण के परिणाम नीचे के रेखाचित्र में प्रदर्शित किए गये हैं।

(अ) प्रशंसित दल (Praised Group)—इस दल को निरन्तर प्रशंसा द्वारा उत्तेजित किया गया और सफलताओं की पूर्ण सराहना की गई।



(ब) आरोपित दल (Reproved Group)—इस दल को समस्त कक्षा के सामने त्रुटियों के लिए डाँटा-फटकारा गया।

(स) अवहेलित दल (Ignored Group)—यह दल कक्षा में बैठकर दूसरों की डाँट-फटकार और प्रशंसा सुनता था। इस दल से कुछ नहीं कहा गया। अर्थात इस दल की अवहेलना की गई।

(द) नियंत्रित दल (Controlled Group) यह दल उपर्युक्त तीनों दलों से पृथक दूसरे कमरे में बैठता था। इस दल को अन्य दलों के सदस्यों का कोई ज्ञान नहीं था।

(iv) उन्नति का ज्ञान—इस दृष्टि से प्रगतिपत्र (Progress Report) और मासिक या साप्ताहिक परीक्षाएँ बहुत उपयोगी हैं। सफलता का आनन्द बालक को बराबर मिलता रहता है और आगे अधिक सफलता प्राप्त करने की लालसा बनी रहती है। वह छोटे-छोटे लक्ष्यों को प्राप्त करके निश्चित उद्देश्य से कार्य में रुचि लेता है। इसमें सुधार और प्रयत्न का नियम भी प्रयुक्त हो जाता है। योजना पद्धति में बालक को स्वयं अपनी उन्नति का ज्ञान रहता है। उसे लक्ष्य स्पष्ट दिखाई देता है। वह स्वप्रेरणा से लक्ष्य की ओर अग्रसित होता है। जुड (Judd 1905) थॉर्नडाइक (1935) और स्टेसी (1945) के प्रयोग भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। जुड के अनुसार, "गलतियों को सुधारकर और सफलता को जानकर, सीखने वाले की प्रगति में तीव्रता से वृद्धि होती है। असंगत शब्दों को सीखने हेतु थॉर्नडाइक ने भी यही निष्कर्ष निकाला। स्टैसी के अनुसार "सीखने वाला अपनी त्रुटियों और सफलताओं को स्वयं जानकर एवं उनके बारे में आत्मनिर्णय करके शीघ्रता से प्रगति करता है।"

(v) दृश्य-श्रव्य सामग्री—इस दृष्टि से शिक्षा में चलचित्र, नाटक, रेडियो आदि का सुन्दर उपयोग किया जा सकता है। विद्यालय की सज्जा, चित्ताकर्षक उपकरण, पुस्तकालय आदि वस्तुयें बालक-बालिकाओं को ज्ञानार्जन की प्रेरणा देते हैं। विज्ञान पढ़ने के लिए प्रयोग कक्ष, इतिहास पढ़ने के लिए इतिहास कक्ष और भूगोल पढ़ने के लिए भूगोल कक्ष विद्यार्थियों के लिए उत्तेजक ही नहीं अपितु अध्यापन के लिए भी आवश्यक हैं।

प्रेरणाओं के सामाजिक उद्गम—सामाजिक मान्यता की लालसा, निपुण

प्राप्त करने की अभिलाषा, श्रेष्ठता का गौरव, लाभ-भावना, वात्सल्य-भावना और अनेक ऐसी ही प्रेरणाएँ हैं जिन्हे शैक्षिक उद्देश्यों के लिए उनके स्वाभाविक मार्ग में परिवर्तन करके उन्हे प्रभावशाली उत्तेजना का रूप दिया जा सकता है।

सीखने में शारीरिक तत्व

बाह्य और आन्तरिक प्रेरणाओं का प्रभाव व्यक्ति की ज्ञानेन्द्रियों पर पड़ता है। यह ज्ञानेन्द्रियाँ ही ज्ञान का द्वार हैं। यदि ज्ञानेन्द्रियाँ उचित रूप से कार्य नहीं करती तो ज्ञान प्राप्त करने में या सीखने में बाधा उत्पन्न हो जाती है। मस्तिष्क द्वारा इन्द्रिय संवेदनाओं को ग्रहण करने और संगठित करने का कार्य भी धीमा पड जाता है। इसलिए शिक्षा में विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों को उत्तेजित एवं प्रभावित करने पर अधिक बल दिया जाता है। विभिन्न संवेदनाओं से व्यक्ति का प्रत्यक्ष ज्ञान अधिक स्पष्ट और व्यापक बनता है। शारीरिक दृष्टि से सीखने की क्रिया पर दो बातों का विशेष प्रभाव पडता है—(1) ज्ञानेन्द्रियों की पूर्णता, (2) शरीर की सामान्य दशा।

सीखना

ज्ञानेन्द्रियों की पूर्णता	शरीर की सामान्य दशा
अथवा परिपक्वता	(1) आयु (2) वातावरण व तापमान (3) समय (4) मादक वस्तुएँ (5) थकावट—मानसिक, इन्द्रिय जन्य तथा मांस-पेशियों की।

सीखने की क्रिया में सबसे अधिक उपयोगी इन्द्रियाँ आँख और कान हैं। जो दूरस्थ उत्तेजनाओ का प्रभाव भी ग्रहण करती हैं। प्रारम्भिक कक्षाओ में लगभग 20% विद्यार्थी दृष्टिविकारो से पीडित होते हैं। रंग-अन्धापन लगभग 3 या 4 प्रतिशत विद्यार्थियों में पाया जाता है। इसी प्रकार कान के रोग 3 से लेकर 10 प्रतिशत तक छात्रों को होते हैं।

सीखना और थकावट
(Fatiuge)

थकावट निम्नलिखित तीन प्रकार की होती है।

(1) मांसपेशियों की थकावट।
(2) ज्ञानेन्द्रियों की थकावट।
(3) मानसिक थकावट।

सीखने की क्रिया मे प्रायः मन और शरीर दोनों ही कार्य करते हैं। यदि हम बहुत देर तक बैठे-बैठे पढ़ते रहते हैं तो थक जाते हैं और फिर लेटकर पढ़ने का

प्रयत्न करते हैं। शारीरिक दृष्टि से निर्बल बालक-बालिकाएँ प्रायः पढ़ते समय बैठने का आसन (Posture) बिगाड़ लेते हैं। ड्रेवर के अनुसार—"शक्ति व्यय होने के बाद कार्य करने की कुशलता या योग्यता में कमी को थकान कहते हैं।"[1]

बोरिंग आदि के अनुसार भी निरन्तर कार्य करने से कुशलता में कमी को थकावट कहते हैं।[2]

शरीर में टौक्सिक पदार्थ का उत्पन्न होना ही थकावट का मुख्य कारण है। अधिक समय तक कार्य करने से इस पदार्थ की वृद्धि होती है जिससे व्यक्ति को आलस्य का अनुभव होता है। शरीर में

शरीर विज्ञान के अनुसार थकावट

ऑक्सीजन की आवश्यकता बढ़ जाती है इसलिए उबासियाँ आने लगती हैं। चेहरे पर थकान के लक्षण स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं। थकान चाहे शारीरिक हो अथवा मानसिक, दोनों ही दशाओं में दिखायी देने वाले लक्षणों में लगभग समानता होती है। फ्री मैन के अनुसार—"थकान एक ऐसी अवस्था (दशा) है जिसमें शरीर के तन्तु प्रतिक्रिया नहीं करते और शरीर शिथिल पड़ जाता है।

शारीरिक दृष्टि से थकावट उत्पन्न करने वाली मुख्य बातें इस प्रकार हैं—

(1) ऑक्सीजन की खपत।
(2) रक्तचाप और हृदय गति।
(3) मांसपेशियों का तनाव।
(4) शरीर में हानिकारक रसायनों की उत्पत्ति जैसे—लैक्टिक एसिड।

सीखने की क्रिया में शारीरिक थकावट की अपेक्षा मानसिक थकावट का प्रभाव जल्दी दिखायी देने लगता है। यहाँ यह भी दृष्टव्य है कि यदि मानसिक कार्य रुचिकर होते हैं, तो इस प्रकार की थकावट उत्पन्न नहीं होती है। वेलेन्टाइन के अनुसार "मानसिक थकावट साधारणतः केवल ऊबना अर्थात बोरियत (Boredom) होती है। जब तक व्यक्ति में रुचि बनी रहती है तब तक उसे थकावट का अनुभव नहीं होता है।"[3]

जो व्यक्ति चिन्ताओं से घिरे रहते हैं असन्तुलित आहार करते हैं, और अस्वास्थ्यकर वातावरण में निवास करते हैं, ऐसे व्यक्ति शारीरिक या मानसिक थकावट भी जल्दी ही अनुभव करते हैं। मानसिक थकावट अन्य मानसिक दशाओं पर भी निर्भर करती है; जैसे—विषय में रुचि का कम या अधिक होना; प्रेरणा का अभाव, उसकी अनियमित प्राप्ति; सीखने की विधि या अध्यापन की विधि; सीखने की क्रिया द्वारा संतोषजनक अथवा असंतोषजनक प्रगति; व्यक्ति की सांवेगिक स्थिति और स्वभाव।

---

1 "Fatigue means diminished efficiency or ability to carry on work, because of previous expenditure in doing work."
—Drever : *A Dictionary of Psychology* p. 94.

2 "Fatigue Is best difined as reduction in efficiency, resulting from continuous work."
—Boring Langfield and Weld p. 460.

3 "Mental fatigue is usually merely boredom. There is little or no mental fatigue so long as interest remains lively."
—Valentine, p. 238.

थकावट और कुशलता की जाँच करने के लिए आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने परीक्षायें प्रस्तुत की हैं जिनको गति परीक्षा (Speed Test) का नाम दिया गया है। परीक्षार्थी को कोई भी कार्य पूरी गति से करने के लिए दिया जाता है और परीक्षक इस बात का अवलोकन करता है कि परीक्षार्थी किन-किन दशाओं में कितना काम कर सकता है एवं किन दशाओं में परिक्षार्थी अधिक त्रुटियाँ करता है। परन्तु क्या ये परीक्षाएँ मानसिक थकावट का भी अनुमान प्रस्तुत कर सकती हैं? यह बात संदिग्ध है। थकावट का मापन वास्तव में रुचि का मापन होता है। ज्यों-ज्यों थकावट में वृद्धि होती जाती तदनुसार ही रुचि में भी कमी होती जाती है।

थकावट और कुशलता की परीक्षा

कक्षा कार्य में थकावट—शिक्षण विधियों के अमनोवैज्ञानिक, अरुचिकर और अविवेक पूर्ण होने पर बालक जल्दी ही थकावट अनुभव करने लगते हैं। यदि पाठ्य-वस्तु अस्पष्ट और उसका प्रस्तुतीकरण अव्यवस्थित होता है तो छात्रों को जल्दी ही थकान हो जाती है। थकावट को दूर करने के लिए शिक्षण कार्य रचनात्मक और क्रियाशीलता से युक्त होना चाहिए। कक्षा की सज्जा, उपकरण, समय तालिका, छात्रों का सामान्य स्वास्थ्य, विद्यालय का वातावरण और अनुशासन आदि बातें भी थकान को प्रभावित करती हैं।

थकावट का प्रभाव—थकावट का प्रभाव सीखने की क्रिया मे अनेक रूपों में दिखायी देता है, जैसे अवधान का भटकना, अवधान का केन्द्रित न होना, जी ऊबना, सीखने की क्रिया मे प्रगति का रुकना, ऐच्छिक अवधान (Volitional Attention) की कमी स्मृति का मन्द होना एवं अधिक त्रुटियाँ होना आदि।

थकावट में लिंग भेद—उच्चतर माध्यमिक पाठशालाओं मे लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ जल्दी ही थकान का अनुभव करने लगती हैं, किन्तु सीखने के कार्य में लड़कियाँ अधिक आत्मचेतना, लगन और श्रद्धा से काम करती हैं। इसलिए वे लड़कों की अपेक्षा शीघ्र प्रगति कर सकती हैं। लड़कियो में संवेगात्मक दबाव, मानसिक तनाव और भय जल्दी ही अपना प्रभाव दिखाते हैं। इनकी उपस्थिति में सीखने की क्रिया मे उनकी रुचि लड़को की अपेक्षा जल्दी ही समाप्त हो जाती है।

मानसिक थकावट का सम्बन्ध मानसिक स्वास्थ्य से है। अतएव छात्रों को थकावट से मुक्त कराने के लिए उन्हे मानसिक स्वास्थ्य लाभ प्राप्त होना भी आवश्यक है। इसके अतिरिक्त उन्हें मानसिक स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमो से भी अवगत कराना चाहिए। उन्हें काम का सही ढग और विश्राम का महत्व भी बताना चाहिए। आदतों और कार्य करने की परिस्थितियों को सुधार कर भी थकावट को एक सीमा तक कम किया जा सकता है। अनेक खोजें इस बात की ओर संकेत करती हैं कि छोटी कक्षाओं मे अध्ययन का समय निश्चित होना चाहिए। छात्रों को किसी कार्य के लिए विवश नही किया जाना चाहिए।

थकावट को दूर करना

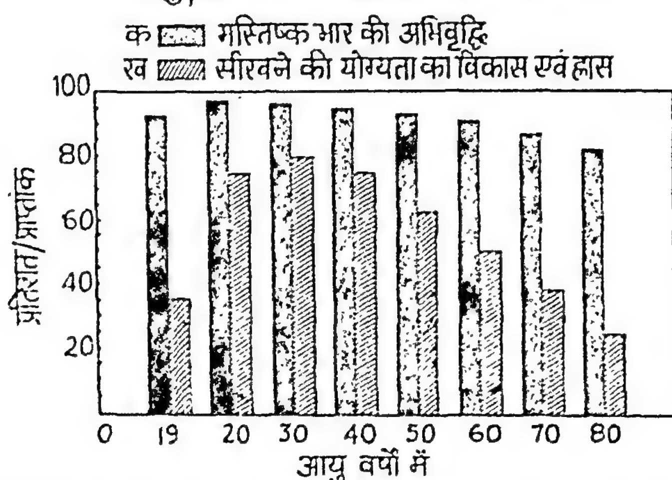
मनोवैज्ञानिक खोजों के आधार पर हम कह सकते हैं कि बालक का बौद्धिक विकास 16 या 18 वर्ष की आयु तक ही सीमित नही होता है। अपितु 23 या 25

सीखना और आयु

वर्ष की आयु तक बुद्धिमत्ता की प्रगति होती है। लगभग 40 वर्ष की आयु तक बुद्धिमत्ता की कोई अवनति नहीं होती। तत्पश्चात् बुद्धिमत्ता का ह्रास आरम्भ होता है।[1] बुद्धिमत्ता के अतिरिक्त सीखने की क्रिया पर प्रभाव डालने वाले व्यक्ति सम्बन्धी मुख्य सैद्धान्तिक तथ्य निम्न प्रकार हैं :

(1) सीखने वाले की रुचि, प्रेरणा और पूर्वार्जित ज्ञान।
(2) स्नायु मण्डल की गतिशीलता।
(3) सीखने वाले की शारीरिक क्रियाशीलता।
(4) प्रत्यक्षीकरण करने की क्षमता।
(5) समस्याओं को सुलझाने और उनसे जूझने की योग्यता।

प्रौढ़ व्यक्ति में सीखने की लगन, रुचि और लक्ष्य की ओर प्रेरणा अधिक होती है। वे अधिक समय तक ध्यान केन्द्रित कर सकते हैं। अनुभवों में परिपक्व होने के कारण भी बालकों की अपेक्षा प्रौढ़ों का पूर्वार्जित ज्ञान अधिक विस्तृत होता है। अतएव वे किसी वस्तु अथवा परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण अधिक गहराई से कर सकते हैं। इन्द्रिय संवेदना और गामक कुशलता से सम्बन्धित सीखने की क्रिया के लिए विशेषकर भाषा विकास के लिए बाल्यकाल और किशोरावस्था ही सर्वोत्तम समय है। आयु के अनुसार सीखने की कुशलता की क्रमिक प्रगति नीचे दिये गये चित्र से स्पष्ट हो जाती है। चित्र को देखकर मस्तिष्क के भार और सीखने की योग्यता की तुलना कीजिए। यद्यपि मस्तिष्क का अधिकांश भार 10 वर्ष की आयु तक पूर्ण हो जाता है परन्तु सीखने की योग्यता 20 से 40 वर्ष की आयु तक अधिक प्रबल रहती है। पृष्ठ 319 पर अंकित रेखाचित्र में सीखने की सामान्य दशा प्रदर्शित की गई है। व्यक्तिगत भेदों के अनुसार सीखने का चाप (Curve) इस चित्र में प्रदर्शित औसत दशाओं से काफी भिन्न हो सकता है।



वातावरण व तापमान—अधिक उच्च या निम्न तापमान भी सीखने में बा

---

1 (देखिये अध्याय 36 में चित्र-आयु और बौद्धिक विकास)।

होता है। सीखने की दृष्टि से 68° फा० ताप अधिक उपयुक्त है। वातावरण शुद्धता और शान्ति सीखने के कार्यों में बहुत सहायक होती है।

समय और सीखना—आधुनिक प्रयोगात्मक खोजें इस बात पर बल दे कि प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक बालक की सीखने की क्षमता मे कोई नही होती। पाठशाला के अन्तिम घण्टों मे बालक द्वारा सीखने मे 1 से 6 प्रति की कमी हो सकती है, यह अन्तर बहुत साधारण है। इस कमी को शि अपने प्रयत्नों से दूर कर सकता है। सत्यता यह है कि स्वयं अध्यापकों का उत भी दिन ढलने के साथ-साथ ही कम हो जाता है। छात्र और अध्यापक दोनों छुट्टी का ध्यान हो जाता है। सभी विषय थकावट की दृष्टि से समान हैं। इस किसी विशेष विषय को प्राथमिकता देना आवश्यक नहीं है।

मादक वस्तुओं का सेवन और सीखना

मादक वस्तुएँ जैसे धूम्रपान, शराब, तम्बाकू, चाय, कॉफी आदि के का क्षणिक प्रभाव होता है और कुछ समय के लिए कार्यक्षमता में वृद्धि हो सकती है, परन्तु कालान्तर मे इनका परिणाम हानिकारक ही होता है। इनके सेवन करने से शारीरिक शक्ति भी शनैः-शनैः क्ष हो जाती है।

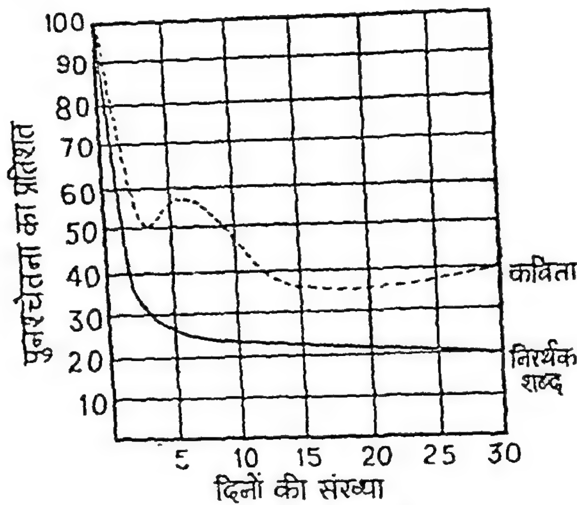
सीखने में बाहरी वातावरण

उपर्युक्त वर्णन मे वातावरण के महत्व पर यथास्थान प्रकाश डाला चुका है। वास्तव में सीखने का समय, भौगोलिक परिस्थितियाँ, सामाजिक उत्तेजन तथा मादक वस्तुओं का सेवन, ये सब वातावरण के ही अंग हैं। व्यक्ति को सी की असीमित सामग्री भी वातावरण ही प्रस्तुत करता है। सीखने की क्रिया वातावरण के रंग-मंच पर ही घटित होती है। *अवयवीवाद* (*Gestalt Psycholog* के अनुसार—"प्रत्यक्षीकरण में क्षेत्र और वस्तु को एक ही अनुभूति का अंग मा जाता है। किसी प्रेरणा अथवा उत्तेजना का स्वय कोई पृथक् आशय या अर्थ न होता, अपितु जैसे ही हमारा ध्यान इस पर केन्द्रित होता है, हमारी ज्ञानात्म अनुभूति क्षेत्रीय प्रभाव के रंग में रँग जाती है।

कुछ समस्याएँ ऐसी होती हैं, जिन्हें हम वातावरण के सन्दर्भ में ही ठी प्रकार से पहचान कर उनका हल निकाल सकते हैं। इसीलिए व्यावहारिक शिक्षण में वातावरण की उपयुक्तता पर अधिक बल दिया जाता है। पाठ पढ़ाने से पूर्व अध्याप को सीखने का उपयुक्त वातावरण तैयार करना आवश्यक है। सभी प्रकार के एक ही प्रकार के वातावरण में सरलतापूर्वक नहीं पढ़ाये जा सकते। विषयों के अध्यापन में अध्यापक को वातावरण के विभिन्न अंगों पर विशे देना चाहिए। पाठ से सम्बन्धित दृश्य-श्रव्य सामग्रियों की उपस्थिति से अनुकूल एवं उपयुक्त बन जाता है।

पाठ्य सामग्री भी वातावरण का ही एक अग है। सीखने पर भी निर्भर करती है कि वह सामग्री सरल ग्राह्य है अथवा

की जा सकती है। इस तथ्य को प्रयोग द्वारा सिद्ध किया गया है। प्रयोग का परिणाम रेखाचित्र से स्पष्ट हो जाता है।



सीखने की विधियाँ

यहाँ विधियों से हमारा अभिप्राय सीखने की क्रिया में समय और शक्ति की बचत से है। हमारा उद्देश्य यह ज्ञात करना है कि सीखे हुए विषय पर पूर्ण अधिकार किस प्रकार प्राप्त किया जाय तथा जो कुछ सीख लिया है उसे अधिक समय तक मन में किस प्रकार धारण किया जाय।

शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ एवं थकान रहित व्यक्ति ही विघ्न-बाधाओं से रहित वातावरण में सीखने की क्रिया से पूर्ण लाभ प्राप्त कर सकता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सीखने वाले के मन में निश्चित उद्देश्य, यथेष्ट पूर्वार्जित ज्ञान तथा अनुभव होने चाहिए। हरबर्ट की शिक्षण विधि में तैयारी या प्रस्तावना (Preparation or Introduction) पर इसीलिए ही अधिक बल दिया गया है। मनोवैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा प्रमाणित सीखने की कुछ विधियाँ इस प्रकार हैं :

(क) सम्पूर्ण से खण्ड विधि (Whole to Part Method)

यह विधि अवयवीवादियों के सिद्धान्त के अनुकूल है। सीखने की क्रिया सम्पूर्ण से खण्ड की ओर प्रगति करती है न कि खण्ड से सम्पूर्ण की ओर। सर्वप्रथम, सम्पूर्ण सामग्री का अवलोकन करके उसका साधारण ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। तत्पश्चात्, उस समस्या अथवा परिस्थिति के विभिन्न पहलुओं को क्रमशः सम्बन्धों सहित समझना चाहिए। इस प्रकार अन्तर्दृष्टि या सूझ से लाभ उठाया जा सकता है।

लम्बी कविता याद कराने के लिए पहले समग्र कविता का कई बार पाठ करना चाहिए। इससे बालक कविता का सम्पूर्ण केन्द्रीय भाव और भावार्थ समझ लेगा तत्पश्चात् क्रमानुसार खण्डों को गहराई से समझने और याद करने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रयोग द्वारा यह देखा गया है कि 240 पंक्तियों तक की सम्पूर्ण कविता याद करने में समय और शक्ति की बचत होती है। किन्तु खण्ड विधि का महत्व

कम नहीं। सामग्री का लम्बा या छोटा होना व्यक्तिगत योग्यता पर भी निर्भर करता है। यदि कविता के विभिन्न खण्डों में भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त हों, तो उसे *खण्ड विधि से याद करना चाहिए। खण्ड विधि की उपयोगिता लिखने या टाइप* सीखने में भी स्पष्ट दिखाई पड़ती है। परन्तु टाइप सीखने में समग्रता लुप्त नही हो जाती है। टाइप सीखने वाला केवल एक ही अक्षर का अभ्यास नहीं करता। उसका अभ्यास सम्पूर्ण वर्णमाला से सम्बन्धित होता है। उसकी प्रत्येक उँगली के अभ्यास का उद्देश्य दोनों हाथ की अँगुलियों से सामंजस्य उत्पन्न करता है।

(ख) मिश्रित विधि (Mixed Method)

यदि सीखने की सामग्री अधिक लम्बी है, और उसके कुछ भाग अधिक कठिन हैं, तो याद करने में मिश्रित विधि अधिक उपयोगी सिद्ध होती है। सीखने वाले को समग्र और खण्ड दोनों विधियाँ प्रयोग करनी चाहिए। कठिन भागों को खण्ड विधि से याद करके सरल बनाया जा सकता है। परन्तु सम्पूर्ण और खण्ड के सम्बन्ध पर बराबर ध्यान देना चाहिए।

(ग) शब्दोच्चारण से याद करना (The Recitation method)

उचित समय पर इस विधि से सभी प्रकार की सामग्री कंठस्थ करना लाभदायक है। शब्दोचारण से हमको निर्बल सम्बन्धों के स्थल का ज्ञान हो जाता है। इन स्थलों पर अधिक ध्यान देकर सीखने की कमी को दूर किया जा सकता है। शब्दोच्चारण से व्यक्ति को भी यह आभास होता रहता है कि वह कोई कार्य सम्पन्न कर रहा है और उसे सफलता मिल रही है। इस प्रकार के आभास से उसे आगे कार्य करने की उत्तेजना प्राप्त होती है। शब्दोच्चारण से बोलने और समझने की अशुद्धियों को दूर किया जा सकता है। उच्चारण सहित याद करने से याद की हुई सामग्री अधिक समय तक मन में अपना स्थान बनाए रखती है।

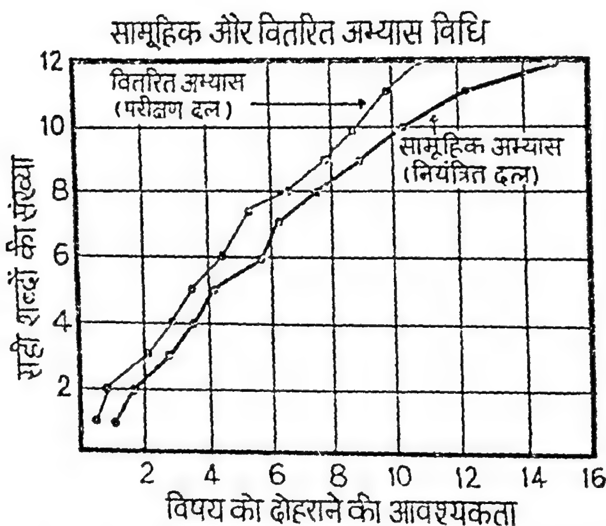
(घ) अभ्यास का वितरण

अनेक शैक्षिक परीक्षणों से यह सिद्ध होता है कि अधिक लम्बे समय तक निरन्तर याद करने की क्रिया लाभदायक नही होती। इसकी अपेक्षा यदि समयान्तर से सीखने या याद करने का कार्य किया जाय तो निश्चित ही अधिक लाभ होता है और याद किए हुए पाठ को अधिक समय तक धारण भी किया जा सकता है। जिस तरह शारीरिक स्वास्थ्य के लिए हम एक दिन में बहुत सा खाना खालें तो स्वास्थ्य में सुधार की अपेक्षा हानि होती है, ठीक उसी प्रकार लगातार बहुत सा पढ़ने से भी लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होती है। अनुमानतः 30 मिनट का समय एक बार किसी सामग्री पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए पर्याप्त होना है। इससे अधिक समय दिए जाने पर सीखने में प्रगति की आशा कम हो जाती है। लम्बे समय तक अवधान केन्द्रित करने से पाठ्य विषय में अरुचि उत्पन्न होती है और थकावट में भी वृद्धि होती है।

(ङ) समयान्तर से अभ्यास करना या सीखना

यदि हमको 100 मिनट का समय कोई पाठ याद करने के लिए दिया जाता है तो दिन में दो बार दस-दस मिनट पढ़कर पाँच दिन में उस सामग्री को अच्छी तरह और सरलता से याद किया जा सकता है। इस प्रकार के समयान्तर से सीखे हुए विषय पर हमारा अधिकार अधिक दिनों

तक रहेगा । इसे वितरित अभ्यास विधि (Distributed Practice) कहते हैं । यदि हम दिन में केवल 1 बार 20 मिनट पढ़कर पांच दिन में उस विषय को सीखेंगे तो सीखने का परिणाम अधिक लाभदायक सिद्ध नहीं होगा । यदि कोई व्यक्ति उस पाठ को एक ही दिन में 100 मिनट का समय देकर याद करना चाहे तो लाभ बहुत कम होगा । इसे सामूहिक अभ्यास विधि (Mass Practice) कहते हैं । संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उचित समयान्तर से अभ्यास करने पर अधिक लाभ होता है ।



[यह ग्राफ चित्र होवलैंड के परीक्षणों (1938) पर आधारित है)

इस सम्बन्ध में सी० आई० होवलैंड का परीक्षण उल्लेखनीय है । उसने निरर्थक शब्द याद करने वालों के दो दल बनाये । पहले दल को निरर्थक शब्दावली लगातार अर्थात सामूहिक अभ्यास विधि द्वारा याद करने को कहा गया । दूसरे दल को प्रत्येक प्रयत्न के बाद दो मिनट का आराम दिया गया अर्थात वितरित अभ्यास विधि द्वारा याद करने को कहा गया ।

(च) विस्मृति को दूर करने के लिए अभ्यास

एबिंगघोस (Abbinghaus) ने स्वयं अपने ऊपर प्रयोग करके यह प्रदर्शित किया कि विस्मृति को दूर करने के लिए उस अंश का आवश्यकता से अधिक अभ्यास करना चाहिए जो कि याद करने के कुछ काल पश्चात् विस्मृत हो जाता है । इस प्रकार अभ्यास द्वारा विस्मृत का मानसिक विरोध किया जाना चाहिए । धीरे-धीरे इस अभ्यास का समान्तर भी बढ़ता जाना चाहिए ।

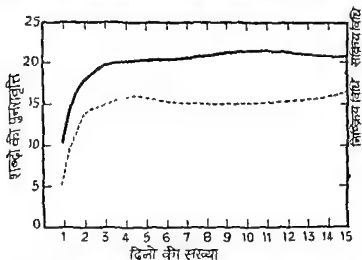
(छ) रटना (Cramming)

थोड़े समय में अधिक सामग्री को कंठस्थ करना ही, रटना कहलाता है । विद्यार्थी परीक्षा की तैयारी प्रायः इसी विधि द्वारा करते हैं । आधुनिक शिक्षा में रटने का महत्व त्रुटिपूर्ण परीक्षा प्रणाली के कारण अधिक बढ़ गया है । पाठ्य-विषय की सभी सामग्री को रटना अनुचित है । केवल वही सामग्री, सिद्धान्त अथवा नियम बालकों को रटाने चाहिये जिनका जीवन में स्थायी महत्व है । रटी हुई सामग्री को

समय-समय पर दोहराना नितान्त आवश्यक है, अन्यथा इसका अधिकांश भाग लुप्त हो जायेगा। समझकर रटी हुई सामग्री चिरस्थायी होती है।

आधुनिक शिक्षा में सक्रियता पर अधिक बल दिया जाता है। अध्यापक छात्रों को सीखने के लिए बराबर क्रियाशील रखता है। प्रश्नों द्वारा बालक का सक्रिय सहयोग सीखने के कार्य में प्राप्त किया जाता है। अतएव कक्षा में भाषण विधि को उपयुक्त नहीं समझा जाता। व्यावहारिक विषय और विदेशी भाषा पढ़ाते समय छात्रों की क्रियाशीलता पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। क्रियाशीलता का शैक्षिक महत्व ज्ञात करने के लिए अमेरिका के फौजियों पर एक प्रयोग किया गया। नये शब्द सीखने वाले, सामान्य योग्यता वाले सैनिकों के दो दल बनाए गये। पहले दल को नये शब्दों का ज्ञान व्यावहारिक विधि से कराया गया। उन्हें व्यक्तिगत और सामूहिक शब्दोच्चारण का भी अवसर दिया

(ज) सक्रिय अनुभव (Active Participation) से सीखना



गया। दूसरे दल को निष्क्रिय रखकर नये शब्द बताये गये। कालान्तर में दोनों दलों की परीक्षा लेने पर ज्ञात हुआ कि सक्रिय अनुभव से सीखने वाले अधिक शब्द दोहरा सके और उनकी स्मृति अधिक समय तक स्थायी रही।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. सीखने की प्रगति को प्रभावित करने वाले कारकों का वर्गीकरण कीजिये। इन कारकों का संक्षिप्त परिचय भी दीजिये।
2. प्रेरणा किसे कहते हैं? सीखने के मनोविज्ञान में प्रेरणा का क्या स्थान एवं उपयोग है?
3. अध्यापक को पढ़ाते समय छात्रों की किन मानसिक आवश्यकताओं पर ध्यान देना चाहिए। इनका सीखने से क्या सम्बन्ध है?
4. प्रेरणा रहित और प्रेरणा सहित सीखने की क्रियाओं का तुलनात्मक वर्णन उदाहरण सहित कीजिये।
5. सीखने में बाहरी तत्व या वातावरण का क्या प्रभाव पड़ता है? हानिकारक प्रभावों को आप कैसे रोकेंगे?
6. सीखने की विभिन्न विधियों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिये।

25

सीखने की प्रगति

सीखने के चाप
(Curves of Learning)

सीखने के चाप का अर्थ—समय के साथ-साथ ही सीखने की क्रिया की भी प्रगति अथवा अवनति होती है जिसे रेखाचित्रों या सीखने के चाप द्वारा व्यक्त किया जाता है मानव के सीखने की कुछ क्रियाएँ इस प्रकार हैं—

1. संवेदनात्मक-गतिपूर्ण सीखना (Sensori-motor Learning)।
2. शारीरिक कौशल सीखना (Acquisition of Skills), जैसे—टाइप सीखना।
3. शब्द या पंक्तियाँ याद करना (Memorizing)।

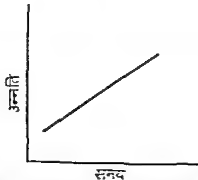
सीखने की उपरोक्त क्रियाओं को विभिन्न भागों में विभाजित करके सीखने के परिणाम अंकों में व्यक्त किए जा सकते हैं। प्रदत्त (अंकों) से ग्राफ चित्र या चाप तैयार किए जाते हैं। सीखने की क्रिया में प्रगति कभी मन्द होती है तो कभी तीव्र। इस प्रगति को ग्राफ रेखा द्वारा तुलनात्मक रूप से व्यक्त किया जा सकता है। जिन कार्यों में अभ्यास की गति तीव्र रहती है और सीखने के वक्र का ढाल तीव्र रहता है, उसमें मध्य अवस्था में वक्र अनियमित बनता है और ग्राफ रेखा में पठार दिखाई देते हैं। अन्तिम चरण में सीखने की क्रिया की प्रगति भी मन्द हो जाती है। अतएव वक्र का ढाल भी हल्का हो जाता है। प्रारम्भिक अवस्था के तीव्र ढाल वाले वक्र को प्रारम्भिक तेजी (Initial Spirit) कहते हैं। मध्य भाग में उन्नति और अवनति दोनों दिखायी देती हैं। इस काल की उन्नति और अवनति दोनों ही अस्थायी होती हैं। अन्तिम अवस्था में पहुँचते-पहुँचते सीखने की गति मन्द पड़ जाती है।

आधुनिक पाठशालाओं में अध्यापकों द्वारा प्रायः अपने छात्रों की व्यक्तिगत अथवा सामूहिक प्रगति के चाप (वक्र) तैयार किए जाते हैं। इन चापों से अध्यापक, छात्र एवं अभिभावकों को बालक की उन्नति की दिशा और गति का ज्ञान होता रहता है। इन चापों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि छात्र को किस स्थल पर और किस विषय में सीखने में कठिनाई अथवा रुकावट का सामना करना पड़ा। इन चापों की आकृति व्यक्तिगत भेदों के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। अतएव किसी भी चाप को औसत चाप नहीं कहा जा सकता। इन चापों का सबसे अधिक उपयोगी परिणाम, ब्रेयन हार्टर (Brayan and Harter 1897) द्वारा की गई "सीखने के पठार" की

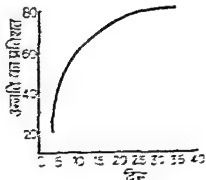
खोज है। सीखने की गति सदैव एक-सी नहीं होती। प्रारम्भिक अवस्था में सीखने की गति द्वारा सीखने की प्रगति होती है या जिन कार्यों में सीखने की मात्रा निश्चित की जा सकती है, उन्ही में ग्राफ तैयार करना उचित होता है।

सीखने के मुख्य चाप या वक्र

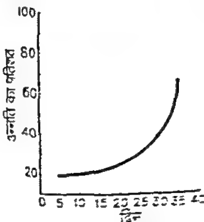
(1) सरल रेखा—सीखने की क्रिया की अपरिवर्तित गति से उन्नति सीखने में सदैव एक-सी प्रगति नही होती, अतएव प्राय: ऐसे चाप नहीं बनते।



(2) उन्नतोदर (Convex) चाप—जब प्रारम्भ में सीखने की उन्नति तीव्र गति से होती है, और बाद में प्रगति की गति मन्द हो जाती है, तब इस प्रकार के चाप बनते हैं। इस चाप का अन्तिम भाग पठार की आकृति का होता है। शारीरिक कौशल सीखने में प्राय: इसी प्रकार के चाप बनते हैं। इसे ऋणात्मक त्वरित (Negatively Accelerated) चाप भी कहते हैं।

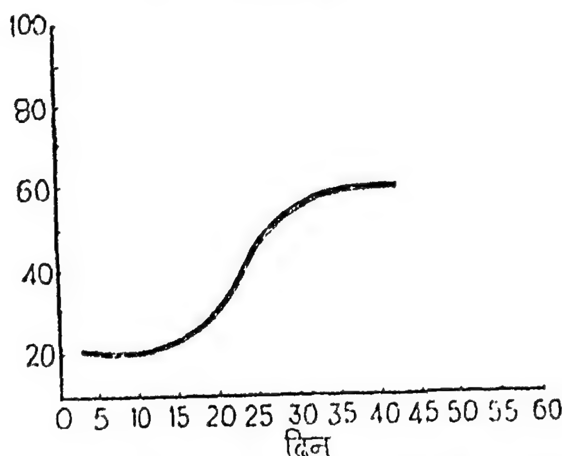


(3) नतोदर (Concave) चाप—यदि प्रारम्भ में सीखने की प्रगति बहुत मन्द होती है और तत्पश्चात् तीव्र तो नतोदर चाप बनता है। जिन कार्यों को सीखने का कार्य करने में प्रारम्भ में अधिक कठिनाई होती है, वह कालान्तर में अभ्यास द्वारा सरल हो जाते हैं और उनके पश्चात् सीखने की उन्नति की तीव्रता से होती है। इसे धनात्मक त्वरित (Positively Accelerated) चाप भी कहते हैं।



(4) मिश्रित चाप—यह दूसरे और तीसरे प्रकार के चापों

का मिश्रण है। प्रायः इसके बीच-बीच में सीखने के पठार बनते हैं। प्रारम्भ में सीखने की गति मन्द, मध्य भाग में तीव्र और अन्तिम भाग में पुनः मन्द हो जाती है।



सीखने के पठार का अर्थ—जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है सीखने की क्रिया की प्रगति सदैव समान गति से नहीं होती। सीखना प्रारम्भ करने के कुछ समय पश्चात् सीखने की प्रगति कुछ समय के लिए बिलकुल ही रुक जाती है। इस स्थिति को ग्राफ चित्र में पठार के नाम से पुकारते हैं। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति टाइप सीखने के काम में 12 सप्ताह तक बराबर प्रगति करता रहता है, परन्तु किसी कारणवश 13, 14, 15 और 16 वें सप्ताह में उसकी प्रगति में वृद्धि नहीं होती है, यद्यपि वह उसका अभ्यास निरन्तर करता रहता है, इस स्थिति को सीखने का पठार कहते हैं। यह भी सम्भव है कि 16 वें सप्ताह के बाद वह पुनः प्रगति करने लगे। इस प्रकार की दशाएँ प्रायः सीखने के सभी कार्यों में देखी गयी हैं। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार सीखने के पठार निर्मित होने के अनेक कारण हो सकते हैं। ये कारण व्यक्तिगत और सीखने की दशाओं के अनुसार विभिन्न क्रियाओं पर प्रयुक्त होते हैं, कुछ कार्यों में पठार अनिवार्य रूप से भी बनते हैं।

सीखने का पठार

सीखने का पठार बनने के मुख्य कारण निम्न प्रकार हैं—

(क) सीखने की सामग्री में रुचि का ह्रास अथवा सामग्री से ऊबना।

(ख) सीखने की सामग्री में कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाना।

(ग) सीखने के कार्य में आदतों का परिवर्तन, उदाहरणार्थ—टाइप सीखने में पहले अक्षर टाइप करने की आदत, फिर अक्षरों में मात्रा मिलाने की आदत, तदुपरान्त शब्द टाइप करने की आदत, आदि।

(घ) रेक्समाइट के अनुसार सीखने के पठार तब बनते हैं जब सीखने वाला व्यक्ति सीखने की एक अवस्था से दूसरी अवस्था में प्रवेश करता है।

(ङ) सोरेन्सन (Sorenson) के अनुसार सीखने के पठार की अवधि (Period of Pletean Formation)—सीखने के कार्य की जटिलता के अनुसार—कुछ दिन, कुछ सप्ताह अथवा कुछ माह तक रहती है। जो कार्य जितना अधिक

जटिल होगा उसे उतने ही अधिक भागों में विभाजित करके सीखा जायगा और उसमें उतने ही अधिक पठारों का निर्माण होगा।

(च) रेयबर्न (Reyburn) के अनुसार शारीरिक क्षमताओं की सीमा भी पठारों के निर्माण का मुख्य कारण है। व्यक्ति की अधिकतम कुशलता की सीमा प्राप्त करने पर पठार का निर्माण होना अवश्यम्भावी है। ये सीमाएं शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की हो सकती हैं।

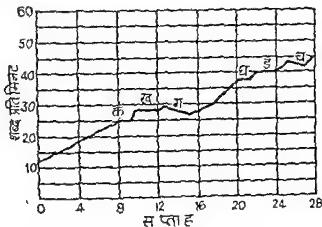
(छ) पठार बनने का एक और कारण सीखने की अनुचित विधि है। त्रुटिपूर्ण ढंग से टाइप सीखने वाले की प्रगति जल्दी ही रुक जाती है। इसी प्रकार लिखने और पढ़ने (वाचन) के कार्यों में गलत आदतें प्रगति को रोक देती हैं।

(ज) अवयवीवादियों के अनुसार सीखने के कार्य के केवल एक भाग पर ध्यान देने से या सम्पूर्ण कार्य पर ध्यान देने से भी पठार बनते हैं।

(झ) सीखने की परिस्थितियों या मनोदशा (रुचि, ज्ञान, प्रेरणा, जिज्ञासा, भय एवं थकान आदि) बदलने से भी प्रगति रुक जाती है और पठारों का निर्माण होता है।

(ञ) थकावट (शारीरिक अथवा मानसिक) और मानसिक स्वास्थ्यहीनता भी पठारों के निर्माण का कारण हो सकती है। उदाहरणार्थ—निराशा, आत्महीनता की भावना जाग्रत होना, भय एवं चिन्ता आदि।

तार द्वारा शब्द भेजने की प्रगति निम्न रेखाचित्र में देखिए। इस चित्र में क्रमशः क, ख, ग, घ, ङ और च पठार दर्शाये गये हैं।



अवयवीवादियों के अनुसार पठार बनने का कारण, व्यक्ति द्वारा सीखने की समग्र सामग्री का क्षेत्रीय निरीक्षण अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान करने में कठिनाई उत्पन्न होना है। सीखने की प्रगति के साथ ही सीखने वाला व्यक्ति एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में प्रवेश करता है। अनेक मनोवैज्ञानिक सीखने की प्रगति में पठार की उत्पत्ति मानते हैं। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सीखने के प्रत्येक कार्य में पठारों का निर्माण आवश्यक हो। मनोवैज्ञानिक उपायों से पठारों को लुप्त भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ—

अवयवीवादियों के अनुसार पठार

(1) अतिरिक्त उत्तेजना या प्रेरणा देकर।
(2) सीखने की सामग्री की रुचि में वृद्धि द्वारा।
(3) सीखने की विधि में परिवर्तन द्वारा।
(4) सीखने के समय में परिवर्तन अथवा उसमें वृद्धि द्वारा।
(5) वातावरण परिवर्तन द्वारा।
(6) शारीरिक दुर्बलता को दूर करके।
(7) आदत में परिवर्तन द्वारा।
(8) सामग्री अथवा समस्या को अधिक गहराई तक समझकर।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. सीखने की प्रगति में चापों का वर्णन कीजिए।
2. सीखने के पठारों से आप क्या समझते हैं? पठारों के कारणों का विवेचन कीजिए।

स्मृति और विस्मृति
(MEMORY AND FORGETTING)

स्मृति का सीखने से सम्बन्ध

सीखना, स्मृति का नितान्त आवश्यक अंग है। जो कुछ पहले सीखा जा चुका है अथवा अनुभव में आ चुका है, वही स्मरण भी किया जाता है। उसे समयान्तर से दोहराने अथवा अभ्यास करने से स्मृति असफल नहीं होती। सीखने की अपेक्षा स्मृति का कार्य अधिक व्यापक होता है। अनेक मनोवैज्ञानिक सीखने के अतिरिक्त धारणा (Retention) पुनश्चेतना (Recall), और पहचान (Recognition) को स्मृति प्रक्रिया का ही अंग मानते हैं। मस्तिष्क की संरचना और कार्यों से भी स्मृति के इन चार अंगों का प्रमाण मिलता है। अनेक मानसिक विकारों के होने पर भी व्यक्ति अपनी सीखने की क्षमता खो बैठता है। हिस्टीरिया के रोगियों को प्रायः पुनश्चेतना में बाधा पड़ती है। मादक द्रव्यों का अधिक सेवन करने से भी समझने अथवा सीखने की योग्यता क्षीण हो जाती है। मस्तिष्क के कुछ विशिष्ट केन्द्रों के हताहत होने अथवा उनमे विकार होने पर भी व्यक्ति अपने निकट सम्बन्धियों को भी नही पहचान सकता।

स्मृति का अर्थ

स्मृति मानव मस्तिष्क की एक विलक्षण शक्ति है, जिसकी सहायता से मानव समस्त अनुभव एव सस्कारो को मन मे धारण करता है और समयानुसार उन अनुभवों को पुनः मन में स्मरण करके उनसे लाभ उठाता है। मैक्डुगल ने इसे मन की सामान्य धारणा शक्ति एव सचय (Mneme) का चैतन्य प्रकाशन माना है। सामान्य धारणा, धारणा शक्ति सचय (Mneme) का ही ज्ञानात्मक स्तर है।

एक प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि, क्या सभी अनुभव हमारी चैतन्य स्मृति का अग बन सकते हैं? व्यावहारिक जीवन में ऐसा नही होता। हम अनेको घटनाओं और अनुभवों को विस्मृत कर देते हैं। हाँ, यदि कोई उनकी याद दिलाए तो हमें पुन. वह घटना, अनुभव अथवा नाम स्मरण हो आता है। जहाँ स्मृति असफल हो जाती है वहाँ पर सामान्यतः मन की धारणा करने की योग्यता, अर्थात संचय शक्ति पर कुछ सस्कार शेष रह जाते हैं। कुछ बातें दूसरो के याद दिलाने पर भी हम स्मरण करने में असमर्थ होते हैं छोटी बातों को प्रायः भुला देते हैं। अत. इससे यह स्पष्ट होता है कि एक ओर तो स्मृति द्वारा हम सस्कारों को मन में संग्रहीत करते

हैं, परन्तु इसके विपरीत दूसरी ओर विस्मृति के कारण निर्बल संस्कार मन से लुप्त हो जाते हैं। स्मृति और विस्मृति दोनों ही जीवन में एक साथ कार्य करती हैं। शैक्षिक दृष्टि से हमारा उद्देश्य उन नियमों, विधियों और परिस्थितियों के विषय में विचार करना है, जिनकी सहायता से बालक-बालिकाओं की स्मृति को अधिक पुष्ट बनाया जा सकता है और उन्हें शैक्षिक ज्ञान की विस्मृति से बचाया भी जा सकता है। इसी उद्देश्य से स्मृति के तीन अंगों—धारण, पुनश्चेतना और पहिचान पर आगे प्रकाश डाला जाएगा। सीखने की सविस्तार व्याख्या पूर्व अध्यायों में की जा चुकी है।

स्मृति की परिभाषा

स्मृति का अर्थ अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ मनोवैज्ञानिकों के विचार प्रस्तुत किए जाते हैं—

(1) वुडवर्ड—"जो बात पहले सीखी जा चुकी है, उसे स्मरण करना ही स्मृति है"।[1]

(2) रायबर्न—"अपने अनुभवों को प्राप्त करने और उनका संचय करने के कुछ समय पश्चात उन्हें पुनः चेतना के क्षेत्र में लाने की जो शक्ति हममें है उसी को स्मृति कहते हैं।"[2]

(3) रौस के अनुसार "स्मृति मनुष्य की सामान्य संचय शक्ति (Mneme) है जो चेतना के स्तर तक आ जाती है।"[3]

रौस ने ही एक अन्य स्थान पर लिखा है—"स्मृति एक नया अनुभव है जो पूर्व अनुभवों की स्थितियों द्वारा निर्धारित होता है और दोनों के बीच का सम्बन्ध स्पष्ट समझ में आ जाता है।"[4]

यह एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न है कि स्मृति का विस्तार कहाँ तक सम्भव है। जो नाम अथवा संख्यायें हमें एक बार ज्ञात हो जाती हैं, क्या वे सदैव हमारे मन में

स्मृति का विस्तार (Span of Memory) अथवा प्रसार क्षेत्र

बनी रहती हैं ? यदि नहीं तो वे कितने समय तक बनी रह सकती हैं ? जैसे पड़ोसियों के नाम, मित्रों के पते, टैलीफोन नम्बर, सड़कों के नम्बर आदि, हमें कितने दिनों तक सही याद रहते हैं ? जो व्यक्ति जितने अधिक शब्दों अथवा अंकों को जितने अधिक समय तक याद रख सकता है, उसकी स्मृति का विस्तार भी उतना ही अधिक समझा जाता है। यदि हम कुछ व्यक्तियों को कुछ संख्यायें याद करा दें और कुछ समय पश्चात् उनकी स्मृति की जांच करें तो हमें ज्ञात होगा कि स्मृति में व्यक्तिगत भिन्नताएँ भी पाई जाती हैं। कुछ लोग दो या तीन अंकों की संख्या को भी याद

---

1 Memory consists in remembering what has previously been learned."
Woodworth p. 536.

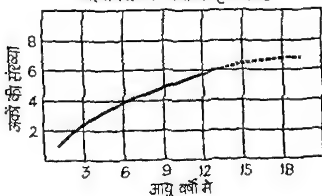
2 "The power that we have to store our experience and to bring them into the field of consciousness sometime after the experiences have occured is termed memory."
—Ryburn p. 235.

3 "Memory is mneme risen to the level of apprehension" —Ross p. 184.

4 "A memory is a new experience determined by the disposition laid down by previous experiences, the relation between the two being clearly understood."
—Ross p. 184.

नहीं रख सकते हैं, जबकि इसके विपरीत कुछ लोग 8 अथवा 10 अंकों की संख्या को भी सरलतापूर्वक स्मृति में बैठा लेते हैं।

जबसे मनोवैज्ञानिक परीक्षाएँ प्रयुक्त की जाने लगी हैं तबसे स्मृति विस्तार के भी अनेक अध्ययन किये गये हैं। विशेषकर, स्टैनफोर्ड-बिने बुद्धि परीक्षा के माध्यम से बच्चों के अंक स्मृति विस्तार का परीक्षण किया गया है। जैसे-जैसे बालक की आयु में वृद्धि होती है उसी अनुपात में उसकी *स्मृति का भी विस्तार होता जाता* है, जैसा कि नीचे के रेखाचित्र में दर्शाया गया है।



इन अध्ययनों के परिणामस्वरूप ही स्मृति विस्तार का उपर्युक्त ग्राफ चित्र बनाया गया है। इससे स्पष्ट है कि स्मृति विस्तार 18 वर्ष की आयु तक नियमित रूप से होता है। जीवन के प्रारम्भ में 3 वर्ष की आयु तक स्मृति विस्तार में विचरणशीलता रहती है। प्रौढ़ व्यक्तियों का स्मृति विस्तार उनके सामान्य शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक स्वास्थ्य की दशाओं से भी प्रभावित होता है।

स्मृति के प्रकार
(Kinds of Memory)

(1) तात्कालिक स्मृति (Immediate Memory)—कोई बात सुनते ही तुरन्त याद हो जाना और उसे तत्काल दोहरा देना तात्कालिक स्मृति कहलाती है। बच्चों की अपेक्षा प्रौढ़ों में तात्कालिक स्मृति अधिक होती है।

(2) स्थायी स्मृति (Permanent Memory)—कुछ बातें एक बार याद हो जाने पर कभी भुलायी नहीं जाती। वे हमारी स्थायी स्मृति का अंग हैं। यह स्मृति भी बालकों की अपेक्षा प्रौढ़ों में अधिक होती है। इस प्रकार की स्मृति का जीवन में बहुत अधिक महत्व है।

(3) व्यक्तिगत स्मृति (Personal Memory)—इसके आधार हमारे अतीत के व्यक्तिगत अनुभवों से होते हैं जो अवसर आने पर हमारी स्मृति में पुर्नस्मरित हो जाते हैं।

(4) अव्यक्तिगत स्मृति (Impersonal Memory)·

किया जाता है कि वह व्यक्ति सामग्री की कितनी मात्रा को कितने घण्टों अथवा दिनों तक धारण कर सकता है। धारण-शक्ति को नापने की व्यवस्थित विधि एबिंगहौस की खोजों का परिणाम है। उसने निरर्थक शब्दों की एक सूची कंठस्थ की। फिर समय के अन्तर से भूलने की मात्रा ज्ञात की।

धारण शक्ति का माप

(अ) उसने पुनरावृत्ति (Reproduction) की मात्रा प्रतिशत में ज्ञात की। इसे ही धारण शक्ति को नापने की 'पुनरावृत्ति विधि' कहते हैं।

(ब) कुछ समय बाद उसने उसी शब्द सूची को पुनः कंठस्थ किया। इस बार उसे कंठस्थ करने में समय और प्रयत्न दोनों की बचत हुई। उदाहरणार्थ—

प्रथम बार सीखने में 33 प्रयत्न किए गए।

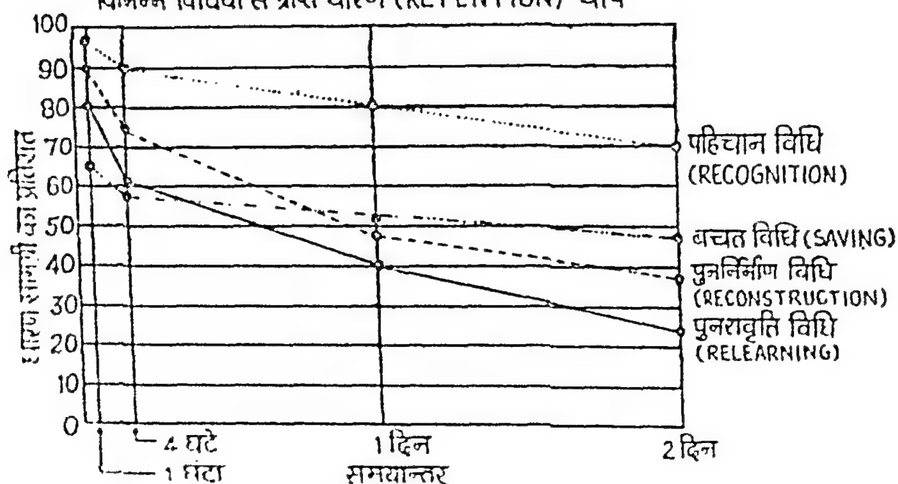
द्वितीय बार सीखने में 11 प्रयत्न किए गए।

अर्थात द्वितीय बार में 22 प्रयत्नों की बचत हुई। अतः इसे बचत विधि भी कहते हैं।

(स) धारण शक्ति को नापने की तीसरी विधि पहचान विधि (Recognition Method) कहलाती है। साक्षियों से अपराधी की पहिचान इसी प्रकार करायी जाती है। सीखी हुई शब्दावली को अन्य शब्दों में मिलाकर उन शब्दों की पहिचान कराई जाती है। इसके परिणामों को अंकों में व्यक्त किया जा सकता है।

(द) चौथी विधि के अनुसार सीखी हुई सामग्री को तितर-बितर कर दिया जाता है और फिर उस व्यक्ति को वह सामग्री उसी क्रम में लगाने को कहा जाता है। इसे पुनर्निर्माण विधि (Reconstruction Method) कहते हैं।

विभिन्न विधियों से प्राप्त धारण (RETENTION) चाप[1]



पिछले अध्याय में सीखने की क्रिया को प्रभावित करने वाली परिस्थितियों का विवरण दिया जा चुका है। संक्षेप में धारण शक्ति को प्रभावित करने वाले तत्व इस प्रकार हैं—

1 Psychological Monogram; 1922. by Luh C. W. पर आधारित

(i) समझने योग्य सामग्री को निरर्थक सामग्री की अपेक्षा अधिक समय तक धारण किया जा सकता है।

(ii) याद करने की सामग्री जितनी अधिक विस्तृत होगी उतनी ही अधिक उसे धारण करने में सफलता होगी।

(iii) जो सामग्री आनन्ददायी संवेगात्मक अनुभूति प्रदान करती है, वह चिर-स्थायी होती है।

(iv) सामग्री का धारण होना सीखने वाले की मनोदशा से भी प्रभावित होता है।

(v) वितरित अभ्यास से याद किया हुआ पाठ चिरस्थायी होता है।

(vi) सम्पूर्ण सामग्री को पूरी तरह सीखना।

मस्तिष्क में धारण किये गये पुराने अनुभवों और संस्कारों का नवीन परि-स्थितियों में पुनः स्मरण हो आना पुनश्चेतना कहलाता है। पुनश्चेतना को प्रभावित करने वाले तीन प्रमुख मानसिक नियम इस प्रकार हैं—

पुनश्चेतना (Recall)

(क) समानता (Similarity) (ख) वैपरीत्य (Contrast)

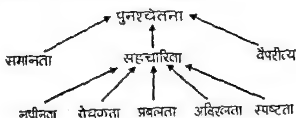
(ग) सहचारिता (Congtiguity)।

विचार और प्रतिमाओं के साहचर्य को अधिक प्रबल बनाने वाले उपनियम इस प्रकार हैं—

(घ) नवीनता (Recency) (ङ) रोचकता (Interest)

(च) प्रबलता (Intensity) (छ) अविरलता (Continuity)

(ज) स्पष्टता (Vividness or Clearity)



पुनश्चेतना में सहचारिता के नियम की प्रधानता उपरोक्त चित्र से स्पष्ट ज्ञात होती है।

(क) समानता (Similarity)—जिन वस्तुओं, व्यक्तियों और विचारों तथा घटनाओं में रूप, गुण और भावना की समानता होती है, वे एक दूसरे के लिए उत्ते-जना का कार्य करते हैं। मानस में एक की उत्तेजना से एक दूसरे की उत्पत्ति स्वाभा-विक हो जाती है। जैसे अहिंसा और गांधी, कृष्ण और अर्जुन। व्यावहारिक शिक्षण में हम पाठ्य विषय की समानताएँ प्राय. पूर्व पठित विषय से कराते हैं। भूगोल में इटली के प्राकृतिक भागों की समानता भारत के प्राकृतिक भागों से, अथवा लिवरपूल की समानता बम्बई से; इतिहास में अशोक और अकबर की समानता सिकन्दर या स्कंदगुप्त की दिग्विजय से, कविता मे भावार्थ अथवा अलंकारों की समानता। अध्यापन

को प्रभावशाली बनाने के लिए समानता के मनोवैज्ञानिक नियम का पूर्ण उपयोग होना चाहिए।

(ख) वैपरीत्य (Contrast)—जिस प्रकार समान धर्म वाली वस्तुएँ एक दूसरे के लिए उत्तेजक का कार्य करती हैं, उसी प्रकार धर्म (रूप, गुण, और भावना) वाली वस्तुएँ भी एक दूसरे के लिए, हमारे मानस में उत्तेजक का कार्य करती हैं। एक की उपस्थिति से दूसरे का स्मरण स्वाभाविक हो जाता है। जैसे, राम और रावण। भूगोल में सबसे अधिक वर्षा वाला स्थान और सबसे कम वर्षा वाला स्थान। इसी प्रकार सबसे अधिक या कम तापमान वाले स्थानों में भौगोलिक वैपरीत्य होता है। यह स्थान एक दूसरे की ओर संकेत करते हैं। व्यावहारिक शिक्षण में समानता और वैपरीत्य के नियम साथ-साथ ही उपयोग में लाए जाते हैं। जिन वस्तु और विचारों में समानता के साथ वैपरीत्य का भी अवलोकन किया जाता है वे हमारी स्मृति में चिरस्थायी बन जाते हैं। समानता में वैपरीत्य और वैपरीत्य में समानता निहित होती है। किसी विषय का सूक्ष्म विश्लेषण करने का ढंग भी यही है। समान संदर्भ वाली सहचारी वस्तुओं में वैपरीत्य या असमानताओं का निरीक्षण करना स्मृति की दृष्टि से अधिक लाभदायक होता है। इतिहास में पानीपत की लड़ाइयाँ स्वतन्त्रता के संग्राम के प्रसंगों में समानता और विषमता दोनों का अवलोकन छात्रों से कराया जाना चाहिए। इसी प्रकार अन्य विषयों के शिक्षण में भी समानता और विरोध का नियम (Law of Comparison and Contrast) यथासंभव प्रयोग में लाना चाहिए।

(ग) सहचारिता (Contiguity)—देश, काल और परिस्थिति के अनुसार जो विचार, घटनाएँ अथवा अनुभव साथ-साथ होते हैं वे सहचारिता के नियमानुसार हमारे मस्तिष्क में एक दूसरे से सम्बन्धित हो जाते हैं। जैसे—मेज-कुर्सी, पाठशाला और अध्यापक, रेल और इंजन। कुछ मनोवैज्ञानिक अनुभव सहचारिता के अन्तर्गत ही समानता और वैपरीत्य के नियमों को मानते हैं।

(घ) नवीनता (Recency)—पुराने संस्कार और अनुभवों की अपेक्षा नवीन अनुभव तुरन्त स्मरण हो जाते हैं। नवीनता की ओर हमारा ध्यान स्वभावतः आकर्षित होता है। अतएव शिक्षण विधियों में नवीनता का पुट होना चाहिए।

(ङ) रोचकता (Interest)—जिन बातों में व्यक्ति की रुचि होती है उससे सम्बन्धित बातें सरलता से स्मरण हो जाती हैं। सिनेमा जगत के समाचार तथा सिनेमा संगीत इसीलिए अल्प समय में ही प्रचलित हो जाते हैं। अध्यापन में केवल पांडित्य से काम नहीं चलता इसके लिए विषय के प्रस्तुतीकरण का ढंग भी रोचक होना चाहिए।

(च) प्रबलता (Intensity)—जो विचार प्रबलता के साथ प्रस्तुत होते हैं वे मन को आन्दोलित कर देते हैं तथा उनका प्रभाव भी चिरस्थायी होता है। इसीलिए अध्यापक अपनी भाषा को परिमार्जित करके तथा वर्णनों को स्पष्ट और रोचक बनाकर एवं प्रश्नों को विचारोत्तेजक बनाकर पाठ्य-विषय को प्रबलता प्रदान कर सकता है।

(छ) अविरलता (Continuity)—इसमें अभ्यास का नियम भी प्रयुक्त

होता है। जिन विचारों से हमारे अनेक सम्बन्ध, अनेक बार स्थापित हो चुके हैं, वे विचार प्रायः हमारे मन में घूमते रहते हैं। कक्षा-शिक्षण में सानुबन्धन (Correlation) का सिद्धान्त प्रयोग करने से अविरलता के नियम का पालन होता है। नवीन ज्ञान और अनुभव को पुराने ज्ञान तथा अनुभव से सम्बन्धित कर देना चाहिए।

(ज) स्पष्टता (Vividness)—जो विषय, सिद्धान्त अथवा नियम अधिक स्पष्ट होते हैं, उन्ही की व्याख्या हम सरलता से कर सकते हैं और समयानुसार उन्हें बिना भुलाये दोहरा भी सकते हैं। इसीलिए अध्यापन मे पाठ्य-विषय का प्रत्येक पग पर स्पष्ट होना नितान्त आवश्यक है।

(4) पहिचान (Recognition)

रौस के अनुसार "पहिचान हमारी सामान्य संचय शक्ति के प्रकाशन का प्रथम स्वरूप है, जिसे हम स्मृति कहते हैं।"[1]

उदाहरणार्थ—मार्ग मे चलते-चलते हम अचानक ही किसी व्यक्ति को देखकर रुक जाते हैं। उसकी सूरत देखकर हमें आभास होता है कि वह व्यक्ति हमसे पूर्व परिचित है। किन्तु यह स्मरण नही होता कि उसका नाम क्या है, अथवा उसे कहाँ देखा था, आदि। ऐसे अवसर पर जहाँ स्मृति असफल होती है, पहिचान को सफलता मिलती है। वास्तव में पहिचान के बिना स्मृति भी अधूरी है। कुछ अध्यापकों मे पहिचानने की शक्ति प्रबल होती है और वे दसियो वर्ष पूर्व के छात्रों का नाम और चेहरा भी नही भूलते। जिस प्रकार व्यापारी को अपने ग्राहकों की पहिचान होती है, उसी प्रकार अध्यापकों को भी अपने छात्रों की पूरी पहिचान होनी चाहिए। पाठ्य विषय से छात्रो का परिचय चिरस्थायी कराने के लिए विषय की प्रस्तावना और पुनरावृत्ति दोनों पर यथेष्ट बल देना आवश्यक है। शीघ्र और स्पष्ट पहिचान अच्छी स्मृति का लक्षण है।

अच्छी स्मृति के लक्षण
(Marks of Good Memory)

(1) जल्दी याद होना (Quick Learning)—यह व्यक्ति की बुद्धि की प्रखरता पर निर्भर करता है।

(2) उत्तम धारण शक्ति (Good Retention)—अधिक बातो को अधिक समय तक मन में धारण किये रहना अच्छी स्मृति का लक्षण है।

(3) शीघ्र पुनः स्मरण (Quick Recall)—पुराने अनुभव या सीखी हुई बात को अविलम्ब चेतना में ले आना अच्छी स्मृति मानी जाती है।

(4) शीघ्र पहिचान (Quick Recognition)—समय की लम्बी दूरी के उपरान्त भी यदि कोई पुराना नाम या चेहरा तुरन्त पहिचान में आ जाता है तो वह अच्छी स्मृति का लक्षण माना जाता है।

(5) अनावश्यक बातों की विस्मृति (Forgetting Useless Things)—केवल ज्ञानवर्द्धक और लाभदायक बातें ही याद रखना अच्छी स्मृति का लक्षण है।

---

1 "Recognition is the first manifestation of mneme that we call memory." —Ross

व्यावसायिक कुशलता इसी पर निर्भर करती है। जैसे डाक्टर को दवाओं के नाम, वकील को सम्बन्धित कानून या निर्णयों से सम्बन्धित बातें याद रहनी चाहिए।

(6) उपयोगिता (Utility)—अच्छी स्मृति वह है जो समय पर काम की बात याद दिला दे। उदाहरणार्थ—परीक्षा के समय प्रश्न से सम्बन्धित बातें याद रहना।

स्मरण करने की विधियाँ
(Methods of Memorization)

(1) आवृत्ति या अभ्यास विधि (Repetition)—किसी भी विषय का बार-बार दोहराकर स्मरण करने में सहूलियत रहती है। उस विषय के स्मृति चिह्न मन में दृढ़ हो जाते हैं, अतः मन में दोहराने से अधिक लाभ होता है।

(2) पूर्ण विधि (Whole Method)—छोटे और सरल पाठों को पूर्ण विधि से याद किया जाता है। वह कविता अथवा विषय-वस्तु जिसे खण्डों में विभाजित नहीं किया जा सकता हो, उसे समग्र विधि से ही याद करना चाहिए।

(3) खण्ड या अंश विधि (Part Method)—पाठ या विषय-वस्तु को कई खण्डों में विभाजित करके एक-एक खण्ड को समग्र विधि से याद करना चाहिए।

(4) मिश्रित विधि (Mixed Method)—पहले पूर्ण सामग्री का एक या दो बार पाठ कर लेना चाहिए फिर उसे खण्डों में विभक्त करके प्रत्येक खण्ड को अलग-अलग याद करना चाहिए। बीच-बीच में सम्पूर्ण सामग्री को एक या दो बार दोहराते रहना आवश्यक है, क्योंकि ऐसा करने से खण्ड एक दूसरे से भलीभाँति सम्बन्धित हो जाते हैं। इस प्रकार पूर्ण तथा खण्ड विधि दोनों का लाभ मिश्रित विधि से प्राप्त होता है।

(5) प्रगतिशील विधि (Progressive Method)—यह खण्ड विधि का ही सुधरा हुआ रूप है। सामग्री को पहले खण्डों में विभक्त किया जाता है और फिर प्रत्येक खण्ड पर क्रमशः अधिकार प्राप्त किया जाता है। याद की हुई सामग्री में नवीन खण्ड जुड़ते जाते हैं।

(6) अन्तरयुक्त विधि (Spaced Method)—वुडवर्थ के अनुसार इस विधि से सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त होते हैं। सीखने अथवा याद करने के कार्य में समयान्तर का होना आवश्यक है।

(7) सक्रिय तथा निष्क्रिय विधि (Active and Passive Method)—सक्रिय विधि में याद करने वाला क्रियाशील रहता है। वह या तो जोर से चिल्लाकर याद करता है अथवा लय से पढ़ता है। इसीलिए इसे सस्वर विधि भी कहते हैं। यह विधि बच्चों के लिए अधिक उपयुक्त होती है। निष्क्रिय विधि में बिना बोले, मन में याद किया जाता है। यह विधि वयस्कों के लिए अधिक उपयुक्त है।

(8) रटने की विधि (Rote Method)—पूरे पाठ को तोते की तरह रट कर याद किया जाता है। परन्तु इस प्रकार याद किया हुआ जल्दी ही भुला भी दिया जाता है। प्रारम्भ में बच्चे इसी विधि से वर्णमाला याद करते हैं।

पुराने समय में स्मृति को एक जन्मजात शक्ति माना जाता था। इस शक्ति

के विषय में मनोवैज्ञानिकों की यह धारणा थी कि इसे घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता। परन्तु आधुनिक प्रयोगों और खोजो द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि इस क्रिया को प्रशिक्षण द्वारा प्रभावित किया जा सकता है। मैक्डूगल का विश्वास है कि "अभ्यास द्वारा स्मृति को विकसित किया जा सकता है।"[1]

स्मृति प्रशिक्षण (Memory Training)

छात्रों को स्मरण करने की विभिन्न मितव्ययी विधियों से अवगत कराना चाहिए। इनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। उन्हें सीखने और याद करने की सर्वोत्तम दशाओं में रखा जाये। मानसिक तत्परता, उत्साह, दृढ़ निश्चय, विषय-वस्तु में रुचि, मानसिक स्वास्थ्य एवं थकावट का अभाव आदि याद करने की सर्वोत्तम दशायें हैं।

विस्मृति
(Forgetting)

पिछले अनुभव तथा ज्ञान को वर्तमान चेतना में लाने की असफलता को ही 'विस्मृति' कहते हैं। मन के अनुसार "भूलना या विस्मृति, सीखने की प्रक्रिया का आवश्यक अंग है।"[2]

विस्मृति के प्रकार (Kind of Forgetting)

(1) सक्रिय विस्मृति (Active Forgetting)—द्वारा मनुष्य अपने दुःख-दर्द या अप्रिय अनुभवों को स्मृति से निकालने का प्रयत्न करता है। अतः समय के साथ ही वह बहुत सी बातों को भूल जाता है।

(2) निष्क्रिय विस्मृति (Passive Forgetting)—भूलना मानव का स्वभाव है। वह बिना प्रयास के भी बहुत सी बातों को निरन्तर भूलता रहता है। इस प्रकार निष्क्रिय विस्मृति की प्रक्रिया भी निरन्तर चलती रहती है।

स्मृति के सम्बन्ध में जिन नियमों और सिद्धान्तों का उल्लेख किया जा चुका है, वह विस्मृति में भी प्रयुक्त किये जा सकते हैं। विस्मृति स्वयं एक प्रक्रिया है। बालक की विस्मृति अथवा भूलना, उसका अपराध नहीं है, अपितु भूलना अनेक सामान्य तत्वों के प्रभाव का सम्मिलित परिणाम है।

सामान्य और असामान्य विस्मृति (General and Abnormal Forgetting)

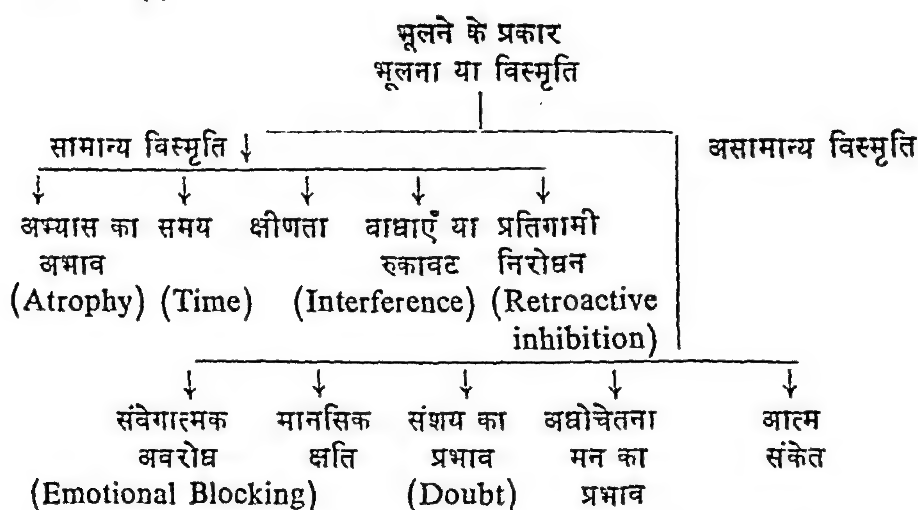
सामान्य विस्मृति—अनेक कुशलताएँ अभ्यास या पुनरावृत्ति के अभाव में भुला दी जाती हैं। समय बीतने के साथ-साथ सामान्य परिस्थितियों में भी विस्मृति की मात्रा में वृद्धि होती जाती है। समय बीतने के साथ ही स्मृति के वे चिन्ह (Memory Traces) भी जिनकी सहायता से स्मरण की हुई सामग्री को दोहराया जाता है—क्षीण हो जाते हैं। नई सामग्री से सम्बन्धित स्मृति चिन्ह पुराने स्मृति चिन्हों को या तो हटा देते हैं, अथवा क्षीण कर देते हैं। मनोवैज्ञानिक प्रयोगों से यह

---

[1] "Memory can be indefinitely improved by practice." —Macdougal

[2] "Forgetting is a necessary aspect of the learning process." —Munn p. 309

सिद्ध किया जा चुका है कि क्रिया के पश्चात् उस सामग्री को (स्मृति) धारण करने के लिए नींद लेना अथवा आराम करना अधिक लाभदायक होता है। क्रियाशील बने रहने से स्मृति में नये चिन्ह, पुराने स्मृति चिन्हों के लिए बाधक का कार्य करते हैं। हमारे वर्तमान कार्यों और अनुभवों का प्रभाव पिछले संस्कारों पर पड़ता है। इस प्रकार प्रतिगामी निरोधन (Retroactive Inhibition) विस्मृति का कारण बनता है। अतएव समान सामग्री को अधिक समय तक नहीं पढ़ना चाहिए। पाठ्य विषय को समयान्तर से बदलते रहने से प्रतिगामी निरोधन का प्रभाव बहुत कम हो जाता है। अध्यापक को समय चक्र बनाते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए।



असामान्य विस्मृति (Abnormal Forgetting)—असामान्य विस्मृति का कारण प्रायः पुनश्चेतना में बाधा उपस्थित होना है। संवेगजन्य अथवा अचानक ही उत्पन्न होने वाली प्रेरणा के कारण पुनश्चेतना का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में वह बात याद होते हुए भी स्मृति अधूरी ही रह जाती है। बाहरी चोट के कारण मस्तिष्क के कुछ विशिष्ट केन्द्रों के हताहत हो जाने अथवा उनमें विकार उत्पन्न हो जाने से भी विस्मृति हो जाती है। ऐसे व्यक्तियों को शारीरिक अथवा मानसिक दोनों प्रकार की चिकित्सा से लाभ पहुँच सकता है। प्रायः अचानक विस्मृति का कारण भय, शंका अथवा क्रोध होता है। ऐसी दशा में विचारों की शृंखला टूट जाती है और आन्तरिक प्रेरणायें विचारों को दूसरे मार्ग पर धकेल देती हैं।

विस्मृति तथा अधोचेतन मन—मनोविश्लेषणवादी विस्मृति का मुख्य कारण अधोचेतन मन से उठने वाली प्रेरणाओं को मानते हैं। फ्रॉयड के अनुसार अधोचेतन मन में दबी हुयी भावना ग्रन्थियाँ विस्मृति क्रिया के पीछे प्रबल प्रेरणाओं का कार्य करती हैं। विस्मृति मानसिक अवदमन का ही परिणाम है। अपराध, ग्लानि, लज्जा और विक्षिप्तावस्था (Frustration) में भूलने की क्रिया अधिकतर होती है। ऐसी दशा में व्यक्ति स्मृति के विपरीत आत्म संकेत भी प्राप्त करता है।

विस्मृति के कारण
(Causes of Forgetting)

विस्मृत के प्रकारों की व्याख्या करते समय इसके कारणों पर भी कुछ प्रकाश डाला जा चुका है। अब हम विस्मृति के कारणों पर व्यवस्थित ढंग से विचार करेंगे। इन कारणों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(अ) सैद्धान्तिक कारण (Theoretical Causes)

(ब) सामान्य कारण (General Causes)

सैद्धान्तिक कारण इस प्रकार हैं—

(1) बाधा का सिद्धान्त (Theory of Interference)—एक विषयवस्तु को याद करने के पश्चात् जब हम दूसरी विषयवस्तु को याद करने बैठते हैं तो मस्तिष्क में पहले से ही विद्यमान स्मृति चिह्नों में बाधा पड़ती है। इसके दो परिणाम होते हैं :

(i) पुराने स्मृति चिह्न निर्बल होते जाते हैं और उसके साथ ही हम पुरानी विषय-वस्तु भूलने लगते हैं।

(ii) नवीन विषय-वस्तु से सम्बन्धित स्मृति चिह्नों के शीघ्र निर्माण में बाधा पहुँचती है।

(2) दमन का सिद्धान्त (Theory of Repression)—सक्रिय विस्मृति में यही सिद्धान्त कार्य करता है। फ्रायड के अनुसार "हम विस्मृति की क्रिया द्वारा दुःखद अनुभव को स्मृति से निकाल देते हैं।" हम स्वयं उस अप्रिय स्मृति का दमन करने में सफल हो जाते हैं और वे स्मृतियाँ अचेतन मन में चली जाती हैं। चेतन मन में अच्छी और नवीन बातों को स्थान देने के लिए भी हम दमन करते रहते हैं, जिससे अनावश्यक बातें अचेतन मन मे चली जाएँ।

(3) अनाभ्यास का सिद्धान्त (Theory of Disuse)—यह सिद्धान्त थॉर्नडाइक के अभ्यास के नियम का ही एक भाग है। जिन बातों को दोहराया नहीं जाता वे भुला दी जाती हैं।

(4) रुचि का सिद्धान्त (The Principle of Interest)—जो बातें हमारी रुचियों के क्षेत्र से बाहर निकलती जाती हैं उन्हें हम शीघ्र ही भुला देते हैं। रौस के अनुसार सामान्य स्मृति रुचि पर ही निर्भर करती है।[1]

सामान्य कारण इस प्रकार हैं—

(1) समय का प्रभाव (Time Factor)—निष्क्रिय विस्मृति में यही सिद्धान्त कार्य करता है। मनुष्य समय के साथ बहुत सी बातें भूल जाता है।

(2) विषय-वस्तु का स्वरूप और मात्रा (Nature and Amount of Material)—जो बातें सरल और लाभदायक होती हैं वह अधिक समय तक स्मरण रहती हैं, इसके विपरीत कठिन और अनावश्यक बातें भुला दी जाती हैं। लम्बी कविता की अपेक्षा छोटी कविता देर में भुलायी जाती है।

(3) सीखने में कमी (Under Learning)—जो विषयवस्तु ठीक प्रकार से

---

1 "Memory in general depends upon interest" —Ross

समझकर नहीं सीखी जाती है वह जल्दी ही भुला दी जाती है। परीक्षा के लिए जल्दी में याद की गयी बहुत सी सामग्री इसी कारण शीघ्र ही विस्मृति में चली जाती है।

(4) मानसिक आघात (Mental Injury)—मानसिक आघात से स्मृति चिह्न छिन्न-भिन्न हो जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति बहुत सी बातों को भूल जाता है। अधिक चोट लगने पर स्मृति बिल्कुल नष्ट भी हो सकती है।

(5) दोषपूर्ण विधि से सीखना (Learning by Defective Method)—त्रुटिपूर्ण ढंग से याद की गयी विषयवस्तु शीघ्र ही भुला दी जाती है। अतः अध्यापक को उचित विधियों का प्रयोग करना चाहिए।

(6) मानसिक द्वन्द्व (Mental Conflict)—के समय स्मृति में बाधा पड़ती है। व्यक्ति सही स्मृति चिह्नों को पकड़ने में असमर्थ रहता है। उसके मन में तनाव बना रहता है और वह ध्यान को केन्द्रित करने में असमर्थ रहता है।

(7) मानसिक रोग (Mental Disease)—साइकोसिस (Psychosis) एक ऐसा मानसिक रोग है जिसके प्रारम्भ होते ही विस्मृति की मात्रा में वृद्धि होने लगती है। अन्य मानसिक रोग भी स्मरण शक्ति को निर्बल बना देते हैं।

(8) मादक वस्तुओं का प्रयोग (Use of Intoxicants)—मादक वस्तुओं के प्रयोग से मानसिक शक्तियाँ क्षीण होती हैं और विस्मरण की मात्रा में वृद्धि होती है।

(9) संवेगात्मक कठिनाई (Emotional Difficulty)—संवेग की तीव्रता अथवा असन्तुलन की दशा में स्मृति ठीक से काम नहीं करती।

(10) प्रेरणा का अभाव (Lack of Motivation)—जिन बातों को याद रखने या दोहराने अथवा अभ्यास में लाने की प्रेरणा नहीं मिलती, वह भी शीघ्र ही विस्मृति में चली जाती हैं।

विस्मृति को कैसे कम किया जाये (How to Minimise Forgetting)

विस्मृति को कम करने हेतु वे सभी उपाय काम में लाये जायेंगे जो स्मृति की वृद्धि में सहायक होते हैं। जिस सामग्री को विस्मृति से बचाना है उसे याद करते समय मितव्ययी विधियों का प्रयोग करना चाहिए। विषयवस्तु को सीखते समय साहचर्य के नियमों तथा स्मृति के अन्य नियमों को यथासम्भव प्रयुक्त करना चाहिए। स्मृति के चारों अंगों पर ध्यान देते हुये विषय वस्तु को ग्रहण करना चाहिए। विस्मृति का मुख्य कारण धारणा रखने की क्षमता में कमी होती है, अतएव उन सभी उपायों का प्रयोग करना चाहिये जो धारण करने की क्षमता में वृद्धि करते हैं। कुछ उपाय इस प्रकार हैं—

(1) सीखते समय ध्यान को एकाग्र करना—सीखने वाला जितना अधिक ध्यान देगा उतनी ही जल्दी वह सीख लेगा और बाद में उस विषय-वस्तु को उतना ही अधिक विलम्ब से भूलेगा।

(2) सम्पूर्ण पाठ या विषयवस्तु का स्मरण—आंशिक रूप से स्मरण करने से कोई लाभ नहीं होता। एक बार में पूरा पाठ ही याद कर लेना चाहिए।

(3) पाठ का अधिक स्मरण—धारण रखने की क्षमता में वृद्धि करने का सबसे अच्छा उपाय अधिक स्मरण (Over Learning) है।

(4) संकल्प के साथ याद करना—अधिक समय तक स्मरण रखने का दृढ़ संकल्प करते हुए याद किया हुआ पाठ चिरस्थायी रहता है।

(5) सस्वर या बोल कर याद करना—कुछ लोगों को बोल कर, (सजीव सस्वर वाचन) अच्छा याद होता है और इस प्रकार याद किया हुआ पाठ अधिक समय तक धारण रहता है।

(6) याद करने के बाद विश्राम लेने से स्मृति चिन्ह मस्तिष्क में भली-भांति स्थिर हो जाते हैं—और पुनश्चेतना में सहायता मिलती है।

(7) पुनरावृत्ति या दोहराना—पाठ को जितनी बार दोहराया जायेगा भूलने की सम्भावना उतनी ही कम हो जायेगी।

(8) अन्तरयुक्त विधि—सम्पूर्ण विधि तथा खण्ड-विधि को आवश्यकतानुसार प्रयुक्त करके याद करना।

विस्मृति से लाभ
(Uses of Forgetting)

(1) क्षणिक महत्व की बातें भुला देना ही अच्छा होता है। ड्रेवर के अनुसार स्मृति के समान विस्मृति की भी व्यावहारिक उपयोगिता है।

(2) जिस प्रकार सीखना आवश्यक है उसी प्रकार भूलना भी आवश्यक है। सीखनेवाले को इस बात का ज्ञान होना आवश्यक है कि वह क्या भूले और क्या स्मरण रखे।

(3) विचारों को व्यवस्थित और निश्चित करने के लिए भी विस्मृति आवश्यक है।

(4) सीखने की प्रक्रिया को सही दिशा में आगे बढ़ाने के लिए अनुचित बातों तथा प्रतिक्रियाओं को भुलाना आवश्यक हो जाता है।

(5) अवधान के क्षेत्र तथा स्मृति के क्षेत्र को अधिक उपयोगी बनाने के लिये भी विस्मृति लाभदायक है।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. "संचय और भूलना साथ-साथ घटित होते हैं।" अध्ययन तथा अध्यापन की दृष्टि से इस कथन की विवेचना कीजिए।
   (Acquisition and Forgetting occur simultaneously)
2. विस्मृति के मुख्य कारण क्या हैं? विस्मृति की गति किस प्रकार निर्धारित की जाती है? विस्मृति को दूर करने के उपाय बताइये।
3. स्मृति से आप क्या समझते हैं? एक अच्छी स्मृति के कौन से लक्षण हैं? धारण तथा पुनश्चेतना को प्रभावित करने वाले कारकों का वर्णन कीजिये।
4. वास्तविक स्मृति (True Memory) तथा आदतजन्य स्मृति (Habit Memory) के अन्तर को स्पष्ट कीजिये।

27

अध्यापन, सीखना और अध्ययन
(TEACHING, LEARNING AND STUDY)

सभी शिक्षा-शास्त्री कक्षा को क्रियाशील एवं सामाजिक समुदाय मानते हैं। इस समुदाय में बालक एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और समुदाय का नेतृत्व भी ग्रहण कर सकते हैं। शिक्षक को कक्षा की सभी शक्तियों से परिचित होना चाहिए, ऐसी दशा में शिक्षक पर विशेष उत्तरदायित्व भी आ जाते हैं। इस दृष्टि से वह केवल विज्ञान अथवा भूगोल का ही शिक्षक नहीं है।

कक्षा-शिक्षण (Class Teaching)

शिक्षा मनोविज्ञान की दृष्टि से कक्षा में शिक्षक का व्यवहार तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) **अध्यापक का शक्तिशाली प्रभुत्वपूर्ण व्यवहार**—अध्यापन की 'अध्यापक केन्द्रित विधि'। इसमें विद्यार्थी निष्क्रिय रहते हैं।

(2) **छात्रों की चेष्टाओं को उत्तेजित करते हुए उनके सहयोग से पढ़ाना**—इसमें अध्यापक का प्रभाव भी बना रहता है और छात्र उपयुक्त सामाजिक सम्बन्ध और आदतें ग्रहण करते हैं।

(3) **बालकों को स्वतंत्र वातावरण में विचार-विमर्श तथा आत्मक्रिया द्वारा सीखने का अवसर मिलता है।** अध्यापक केवल मार्गदर्शन करता है। यह शिक्षा की **'बाल केन्द्रित विधि'** है।

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो अध्यापक का तीसरे प्रकार का व्यवहार ही उचित जान पड़ता है, परन्तु कक्षा में अध्यापक को किस समय कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह तत्कालीन परिस्थितियों पर ही निर्भर करता है। कक्षा का प्रत्येक बालक देश का भावी नागरिक है। प्रजातन्त्रात्मक जीवन की तैयारी के लिए बाल-केन्द्रित विधि का अपनाया जाना नितान्त आवश्यक है। परन्तु इसे अभ्यास में लाने से पूर्व स्वयं अध्यापक को अपने जीवन में प्रजातन्त्रात्मक दृष्टिकोण अपना लेना चाहिए। अपनी स्थिति के अनुसार ही शिक्षक अपनी कक्षा का नेता होता है, किन्तु इस नेतृत्व का व्यवहार बड़ी सावधानी से करना चाहिए, क्योंकि वह निर्वाचित नेता नहीं है, अतः उसके नेतृत्व को बच्चों द्वारा मान्यता मिलना आवश्यक है। उसके व्यक्तित्व में एक अच्छे शिक्षक के गुणों का प्रादुर्भाव होना चाहिए। शैक्षिक खोजों के अनुसार एक शिक्षक में पर पृष्ठांकित गुण प्रशंसनीय माने जाते हैं :

(1) सहयोग और प्रजातन्त्रात्मक अभिवृत्ति ।
(2) दयालुता और व्यक्तिगत विचार ।
(3) धैर्य ।
(4) मनोहर आदतें और व्यक्तित्व ।
(5) विस्तृत रुचियाँ ।
(6) न्यायप्रियता और निष्पक्षता ।
(7) विनोद प्रियता ।
(8) अच्छा स्वभाव और नियमित व्यवहार ।
(9) शिष्यों की समस्याओं मे रुचि ।
(10) लचीलापन ।
(11) मान्यता और प्रशंसा का उपयोग ।
(12) अपना विषय पढ़ाने में पूर्ण कुशलता ।

अब तक अध्यापक का व्यक्तिगत वर्णन किया गया है। अध्यापक कक्षा का ही नहीं, अपितु पाठशाला के अध्यापक समुदाय का भी सदस्य है। उसके परस्पर सम्बन्ध भी अच्छे होने चाहिए। बालक की चारित्रिक शिक्षा की दृष्टि से भी अध्यापको के पारस्परिक सम्बन्धो का भी महत्व कम नही होता। प्रत्येक सामान्य शिक्षक को अपना मानसिक सन्तुलन और स्वास्थ्य ठीक रखना चाहिए। अध्यापक के व्यावसायिक व्यवहार में व्यक्तिगत सवेगात्मक द्वन्द्व, जीवन की असफलताओ एवं आर्थिक अथवा सामाजिक संकटों की छाया नही पडनी चाहिए। ऐसी दशा में उसे अपने व्यवहार का सतर्कता से निरीक्षण एवं नियन्त्रण करना चाहिए। कक्षा में विभिन्न विषयों के अध्ययन से सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक तथ्यो का वर्णन इस पुस्तक में अन्यत्र किया गया है।

अब हम छात्रों के दृष्टिकोण से सीखने अथवा अध्ययन की क्रिया का अनुशीलन करेंगे। बालक का शैक्षिक विकास, अध्यापन की विधियों और प्रेरणाओ के अतिरिक्त स्वयं बालक के अध्ययन करने के ढग से भी प्रभावित होता है। शैक्षिक निर्देशन (Educational Guidance) का उद्देश्य भी अध्यापक द्वारा बालकों की अध्ययन सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करना है। प्राय इस ओर अध्यापकों का ध्यान बहुत कम जाता है। अध्ययन की आदतों और विधियो के विषय में भी अनेक मनोवैज्ञानिक खोजें की जा चुकी हैं। इन खोजों के परिणामो से ज्ञात होता है कि नियन्त्रित समूह की अपेक्षा छात्रो का वह समूह जिसे अध्ययन के बारे में प्रशिक्षित किया जा चुका है, शिक्षा से अधिक लाभान्वित होता है।[1] बर्ड (1945) की खोजों से छात्रों की अध्ययन सम्बन्धी कठिनाइयों पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। कॉलेज के प्रथम दो वर्षों के 171 छात्र-छात्राओं द्वारा व्यक्त कठिनाइयों की सूची इस प्रकार है—

1 C. Bird and D. M. Bird. New York.

27

अध्यापन, सीखना और अध्ययन
(TEACHING, LEARNING AND STUDY)

सभी शिक्षा-शास्त्री कक्षा को क्रियाशील एवं सामाजिक समुदाय मानते हैं। इस समुदाय में बालक एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और समुदाय का नेतृत्व भी ग्रहण कर सकते हैं। शिक्षक को कक्षा की सभी शक्तियों से परिचित होना चाहिए, ऐसी दशा में शिक्षक पर विशेष उत्तरदायित्व भी आ जाते हैं। इस दृष्टि से वह केवल विज्ञान अथवा भूगोल का ही शिक्षक नहीं है।

कक्षा-शिक्षण (Class Teaching)

शिक्षा मनोविज्ञान की दृष्टि से कक्षा में शिक्षक का व्यवहार तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) **अध्यापक का शक्तिशाली प्रभुत्वपूर्ण व्यवहार**—अध्यापन की 'अध्यापक केन्द्रित विधि'। इसमें विद्यार्थी निष्क्रिय रहते हैं।

(2) **छात्रों की चेष्टाओं को उत्तेजित करते हुए उनके सहयोग से पढ़ाना**—इसमें अध्यापक का प्रभाव भी बना रहता है और छात्र उपयुक्त सामाजिक सम्बन्ध और आदतें ग्रहण करते हैं।

(3) **बालकों को स्वतंत्र वातावरण में विचार-विमर्श तथा आत्मक्रिया द्वारा सीखने का अवसर मिलता है।** अध्यापक केवल मार्गदर्शन करता है। यह शिक्षा की 'बाल केन्द्रित विधि' है।

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो अध्यापक का तीसरे प्रकार का व्यवहार ही उचित जान पड़ता है, परन्तु कक्षा में अध्यापक को किस समय कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह तत्कालीन परिस्थितियों पर ही निर्भर करता है। कक्षा का प्रत्येक बालक देश का भावी नागरिक है। प्रजातन्त्रात्मक जीवन की तैयारी के लिए बाल-केन्द्रित विधि का अपनाया जाना नितान्त आवश्यक है। परन्तु इसे अभ्यास में लाने से पूर्व स्वयं अध्यापक को अपने जीवन में प्रजातन्त्रात्मक दृष्टिकोण अपना लेना चाहिए। अपनी स्थिति के अनुसार ही शिक्षक अपनी कक्षा का नेता होता है, किन्तु इस नेतृत्व का व्यवहार बड़ी सावधानी से करना चाहिए, क्योंकि वह निर्वाचित नेता नहीं है, अतः उसके नेतृत्व को बच्चों द्वारा मान्यता मिलना आवश्यक है। उसके व्यक्तित्व में एक अच्छे शिक्षक के गुणों का प्रादुर्भाव होना चाहिए। शैक्षिक खोजों के अनुसार एक शिक्षक में पर पृष्ठांकित गुण प्रशंसनीय माने जाते हैं :

(1) सहयोग और प्रजातन्त्रात्मक अभिवृत्ति।
(2) दयालुता और व्यक्तिगत विचार।
(3) धैर्य।
(4) मनोहर आदतें और व्यक्तित्व।
(5) विस्तृत रुचियाँ।
(6) न्यायप्रियता और निष्पक्षता।
(7) विनोद प्रियता।
(8) अच्छा स्वभाव और नियमित व्यवहार।
(9) शिष्यों की समस्याओं में रुचि।
(10) लचीलापन।
(11) मान्यता और प्रशंसा का उपयोग।
(12) अपना विषय पढ़ाने में पूर्ण कुशलता।

अब तक अध्यापक का व्यक्तिगत वर्णन किया गया है। अध्यापक कक्षा का ही नहीं, अपितु पाठशाला के अध्यापक समुदाय का भी सदस्य है। उसके परस्पर सम्बन्ध भी अच्छे होने चाहिए। बालक की चारित्रिक शिक्षा की दृष्टि से भी अध्यापकों के पारस्परिक सम्बन्धों का भी महत्व कम नहीं होता। प्रत्येक सामान्य शिक्षक को अपना मानसिक सन्तुलन और स्वास्थ्य ठीक रखना चाहिए। अध्यापक के व्यावसायिक व्यवहार में व्यक्तिगत संवेगात्मक द्वन्द्व, जीवन की असफलताओं एवं आर्थिक अथवा सामाजिक संकटों की छाया नहीं पड़नी चाहिए। ऐसी दशा में उसे अपने व्यवहार का सतर्कता से निरीक्षण एवं नियन्त्रण करना चाहिए। कक्षा में विभिन्न विषयों के अध्ययन से सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक तथ्यों का वर्णन इस पुस्तक में अन्यत्र किया गया है।

अब हम छात्रों के दृष्टिकोण से सीखने अथवा अध्ययन की क्रिया का अनुशीलन करेंगे। बालक का शैक्षिक विकास, अध्यापन की विधियों और प्रेरणाओं के अतिरिक्त स्वयं बालक के अध्ययन करने के ढंग से भी प्रभावित होता है। शैक्षिक निर्देशन (Educational Guidance) का उद्देश्य भी अध्यापक द्वारा बालकों की अध्ययन सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करना है। प्रायः इस ओर अध्यापकों का ध्यान बहुत कम जाता है। अध्ययन की आदतों और विधियों के विषय में भी अनेक मनोवैज्ञानिक खोजें की जा चुकी हैं। इन खोजों के परिणामों से ज्ञात होता है कि नियन्त्रित समूह की अपेक्षा छात्रों का वह समूह जिसे अध्ययन के बारे में प्रशिक्षित किया जा चुका है, शिक्षा से अधिक लाभान्वित होता है।[1] बर्ड (1945) की खोजों से छात्रों की अध्ययन सम्बन्धी कठिनाइयों पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। कॉलेज के प्रथम दो वर्षों के 171 छात्र-छात्राओं द्वारा व्यक्त कठिनाइयों की सूची इस प्रकार है—

---

1 C. Bird and D. M. Bird. New York.

क्रम	कठिनाइयाँ	संख्या	प्रतिशत
(1)	ध्यान एकाग्र नहीं कर सकते, दिवा स्वप्न।	141	80
(2)	लाभदायक टिप्पणियाँ नहीं बना सकते।	65	38
(3)	पाठ्य विषयों में रुचि का अभाव।	59	34
(4)	पढ़ने की गति बहुत धीमी है।	44	26
(5)	दूसरों द्वारा पढ़ाई में बाधा।	38	22
(6)	अन्य कार्यों से अध्ययन में बाधा।	34	20
(7)	टाल-मटोल करना।	30	17
(8)	पाठ की मुख्य बातें चुनने में कठिनाई।	30	17
(9)	समय का ब्योरा (बजट) बनाने में कठिनाई।	28	16
(10)	बाहरी कार्यों से अध्ययन में बाधा।	24	14

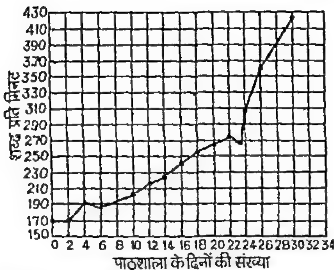
उपरोक्त कठिनाइयों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) **अध्ययन में बाधाएँ**—यह बाधाएँ व्यक्तिगत और बाहरी दोनों कारणों से हो सकती हैं। दिवास्वप्न एक व्यक्तिगत बाधा है जोकि आदत का रूप भी धारण कर सकती है। कार्य में रुचि और लगन में वृद्धि होने पर इस बाधा को दूर किया जा सकता है। अध्यापक को छात्रों की बाहरी बाधाओं का भी ध्यान रखना चाहिए। संकल्प के साथ ही व्यवस्थित ढंग से कार्य करने में भी छात्रों की सहायता की जानी चाहिए।

(2) **अध्ययन के समय का उचित उपयोग करने में कठिनाइयाँ**—अभिभावक एवं अध्यापकों को बच्चों की इस कठिनाई को दूर करने में सहायता करनी चाहिए। अध्यापकों को छात्रों के निजी अध्ययन के समय चक्र से परिचित होना चाहिए।

(3) **सीखने सम्बन्धी कठिनाइयाँ**—बालकों को प्राय: उपयोगी टिप्पणी (नोट) बनाने, शीघ्र पाठ करने अथवा मौन पाठ करने की कठिनाइयाँ होती हैं। इन कठिनाइयों का कारण बालक के पूर्वार्जित ज्ञान का असंगठित अथवा अपरिपक्व होना है। बालक को सीखने और विचार करने के लिए मनोवैज्ञानिक ढंगों की सलाह मिलनी चाहिए। बहुत से विद्यार्थी मौन पाठ को महत्व नहीं देते। ज्ञान के शिखर पर चढ़ने के साथ-साथ मौन का महत्व भी बढ़ता जाता है। मौन पाठ की शिक्षा और अभ्यास से होने वाले प्रचुर लाभ अग्रांकित रेखाचित्र में दर्शाये गये हैं।[1]

[1] (गैसरीन और ग्रे पर आधारित)।



यह प्रयोग उच्चतर-माध्यमिक पाठशाला के 19 छात्रों पर किया गया था। छह सप्ताह के प्रशिक्षण से उनके मौन पाठ की गति में औसतन 147 प्रतिशत शब्द प्रति मिनट की उन्नति देखी गई।

अध्ययन की आदतें और नियम

आधुनिक खोजों द्वारा यह भी ज्ञात करने का प्रयत्न किया गया है कि अध्ययन के लिए कौन-सी आदतें अधिक उपयोगी सिद्ध होती हैं। इन खोजों में जिन नियमों को प्रधानता दी गई है और जिनके विषय में अधिकांश रूप में सहमति प्राप्त हुई है, वे निम्न तालिका में दिये गये हैं।

क्रम	नियम	खोजों का % जो इस नियम पर बल देती है।
(1)	पाठ विशेष को पढ़ाने का समय निश्चित होना चाहिए।	94
(2)	एकान्त मे पढ़ना चाहिए।	83
(3)	कक्षा में पढ़ते समय टिप्पणी (नोट) बनानी चाहिए।	72
(4)	बाधाओं (Distractions) की अवहेलना करनी चाहिए।	66
(5)	पाठ को पढ़ने से पूर्व एक सरसरी दृष्टि डालनी चाहिए।	55
(6)	सामान्य सिद्धान्त और नियमों के उदाहरण याद करने चाहिए।	52
(7)	अध्ययन के लिए उपयुक्त वातावरण होना चाहिए।	50
(8)	कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व उसका विचार स्पष्ट होना चाहिए।	48
(9)	आगे पढ़ने से पहले, पूर्व पठित विषय की पुनरावृत्ति करनी चाहिए।	47
(10)	पाठ पढ़ने के उपरान्त मौन चिन्तन या पाठ करना चाहिए।	42

[1] एन. बी. कफ की खोजो पर आधारित *Journal of Educational Psychology*, 1937.

किसी भी पाठ्य-पुस्तक को पढ़ने और समझने में अध्यापक छात्रों की मदद कर सकता है। कक्षा-शिक्षण में उसे पुस्तकों में वर्णित उदाहरणों के अनुकूल उदाहरण या दृष्टांत उपस्थित करने चाहिए। छात्रों को व्यावहारिक जीवन में उन सामान्य सिद्धान्तों का प्रयोग एवं निरीक्षण करने के लिए प्रेरित करना चाहिए, जो उन्हें कक्षा में पढ़ाये गये हैं अथवा पाठ्य-पुस्तकों में वर्णित हैं। यदि छात्रों को स्वयं उनके अनुकूल उदाहरण खोजने के लिए कहा जाए, तो यह विधि अध्ययन की दृष्टि से बहुत लाभदायक होगी। इससे छात्रों में बौद्धिक चैतन्यता, प्रयोग करने की उत्सुकता और निरीक्षण करने की तत्परता में भी वृद्धि होगी।

प्राय: छात्र-छात्राएँ पुस्तकों में दी गई सूचियों, सारिणियों एवं ग्राफ चित्रों में कोई रुचि नहीं लेते, जिसके परिणामस्वरूप उनका अध्ययन अधूरा ही रहता है। अध्यापकों को छात्रों की इन आदतों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। किसी भी विषय की मुख्य बातें व्यक्त करने का शास्त्रीय ढंग—सूची, सारिणी, ग्राफ चित्र, एवं रेखा-चित्र आदि हैं। स्वयं छात्रों से इस प्रकार की सारिणी, ग्राफ चित्र तथा रेखाचित्र आदि तैयार कराने चाहिए। जिस प्रकार भूगोल और इतिहास अध्ययन में मानचित्र का निरीक्षण अनिवार्य है, उसी प्रकार अन्य सामाजिक विषयों में भी ग्राफ चित्र तथा रेखाचित्र आदि का स्थान अधिक महत्वपूर्ण है। जो विद्यार्थी इसमें रुचि नहीं लेते, वे उस विषय का शास्त्रीय अध्ययन करने में असफल होते हैं। छात्रों को निजी नोट्स, टिप्पणियां, चित्र आदि तैयार करने हेतु अध्यापक को आवश्यक प्रेरणा देनी चाहिए, और छात्रों का मार्ग प्रदर्शित करना चाहिए। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि यदि अध्ययन के प्रति छात्रों के दृष्टिकोण और अभिवृत्तियों में साधारण अन्तर कर दिया जाए तो उन्हें अध्ययन में अधिक सफलता प्राप्त हो सकती है।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. उत्तम कक्षा शिक्षण की आवश्यकताओं पर प्रकाश डालिए और लिखिए कि इन आवश्यकताओं की पूर्ति एक अध्यापक किस प्रकार कर सकता है ?
2. अध्यापक के लिए छात्रों की अध्ययन सम्बन्धी कठिनाइयों का क्या महत्व है ? इन कठिनाइयों को जानने और दूर करने के क्या उपाय हैं ?

प्रशिक्षण या सीखने का स्थानान्तरण
(TRANSFER OF TRAINING OR LEARNING)

शिक्षा मे स्थानान्तरण का सम्बन्ध पाठ्यवस्तु और पाठन विधि दोनों से है। प्रायः सभी आधुनिक मनोवैज्ञानिक सीखने में स्थानान्तरण के विचार से सहमत हैं, परन्तु अब कोई भी मनोवैज्ञानिक सविधिक अनुशासन के सिद्धान्त को मान्यता नहीं देता। शिक्षा जगत् मे सविधिक अनुशासन अथवा अनुशासन की अपेक्षा स्थानान्तर एक आधुनिक मनोवैज्ञानिक विचार है।

इस समस्या की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्राचीन विद्वान् सविधिक अनुशासन (Formal Discipline) के सिद्धान्त को मान्यता देते थे। स्वय प्लेटो ने भी इस सिद्धान्त मे अपना विश्वास रिपब्लिक (Republic) के सातवें खड मे व्यक्त किया है। उसके अनुसार यदि मन्द-बुद्धि बालक को अंकगणित का शिक्षण दिया जाए तो वह अपेक्षाकृत अधिक बुद्धिमान हो जाएगा चाहे उसे अंकगणित से कोई लाभ नही होता हो। प्लेटो का यह भी विश्वास था कि जिस व्यक्ति ने रेखागणित का अध्ययन किया हो वह व्यक्ति किसी विषय को उन व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक शीघ्र और सुचारु रूप से समझता है जिन्होंने रेखागणित का अध्ययन नही किया है।

सविधिक अनुशासन

प्लेटो का प्रभाव सोलहवी शताब्दी के अंग्रेज लेखक बेकन (F. Bacon) की रचनाओं मे भी परिलक्षित होता है। बेकन का कथन था कि उपयुक्त विषयों की शिक्षा उसी प्रकार लाभ पहुँचा सकती है, जो लाभ उपयुक्त व्यायाम करने से रोगी को पहुँचता है। अठारहवी शताब्दी का प्रसिद्ध दार्शनिक जॉन लॉक (John Locke) भी सविधिक अनुशासन में विश्वास रखता था। उसके कथनानुसार गणित के अध्ययन से जो विवेक उत्पन्न होता है, उसे बालक केवल गणित में ही प्रयोग नही करते, अपितु जीवन की अन्य परिस्थितियों मे भी इस विवेक से लाभ उठाते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी मे हक्सले और स्पेन्सर ने वैज्ञानिक विषयों को (रसायन शास्त्र, भौतिक शास्त्र, जीव शास्त्र) उनकी उपयोगिता के आधार पर पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने के लिए विशेष आन्दोलन किया और उनके प्रयत्न सफल भी हुए।

सविधिक अनुशासन के सिद्धान्तानुसार तर्क, संकल्प, अवधान, प्रत्यक्षीकरण, स्मरण शक्ति तथा कल्पना आदि मानसिक शक्तियों मे विशेष प्रकार की पाठ्य वस्तु के

अध्ययन द्वारा वृद्धि की जा सकती है अथवा उन्हें प्रभावित किया जा सकता है। शक्ति मनोविज्ञान के अनुसार मन विभिन्न मानसिक शक्तियों का पुंज समझा जाता था। उन्होंने यह सिद्धान्त भी निरूपित किया कि जीवन में इन शक्तियों का प्रयोग पग-पग पर किया जाता है, अतएव शिक्षा का उद्देश्य इन शक्तियों का विकास करना होना चाहिए। वे पाठ्य विषय से अधिक मानसिक शक्तियों के विकास को महत्व देते थे। मानसिक प्रशिक्षण के लिए किसी विषय का शिक्षण देना "सविधिक अनुशासन का सिद्धान्त" कहलाता है।

शिक्षा को सविधिक अनुशासन के सिद्धान्त से मुक्त कराने में जिन शक्तियों का योग रहा है, वे निम्न प्रकार हैं—

1. **प्राकृतिक विज्ञान और सामाजिक शास्त्रों की उन्नति**—इन विषयों की उन्नति 18वीं और 19वीं शताब्दी में हुई। शिक्षाशास्त्रियों ने इन विषयों की उपयोगिता को तुरन्त पहिचान कर इनका भी पाठ्यक्रम में समावेश किया। इस प्रकार परम्परागत प्राचीन विषयों की प्रधानता समाप्त हो गई।

2. **मनोविज्ञान की उन्नति**—इस काल में मनोविज्ञान एक व्यावहारिक और वैज्ञानिक विषय बन गया जिसके परिणामस्वरूप ही शक्ति मनोविज्ञान के सिद्धान्त असत्य प्रमाणित हुए। शिक्षा में भी शक्ति मनोविज्ञान का स्थान अन्य नवीन सम्प्रदायों ने ले लिया।

3. **स्थानान्तरण सम्बन्धी परीक्षण एवं प्रयोग**—शिक्षा में किए गये सैकड़ों प्रयोगों से यह सिद्ध हो गया है कि सविधिक अनुशासन का शिक्षा में कोई उपयोग नहीं है, अपितु इसकी अपेक्षा सीखने में स्थानान्तरण की ओर शिक्षा शास्त्रियों का ध्यान आकर्षित हुआ।

शिक्षा में स्थानान्तरण

स्थानान्तरण का अर्थ—सीखे हुए किसी भी ज्ञान को अन्य समान परिस्थितियों में अथवा जीवन के अन्य क्षेत्रों में उपयोग में लाना ही स्थानान्तरण है। इसे 'अधिगम संक्रमण' या 'सीखने में स्थानान्तरण' कहते हैं।

प्रशिक्षण स्थानान्तरण की परिभाषा—"शिक्षा शब्दकोप के अनुसार विकास, सुविधा, अथवा प्रत्यक्ष प्रशिक्षण के बिना कुछ सीखना, माध्यम से सीखना अथवा अभ्यास आदि सम्बन्धित क्रियायें हैं।[1]

क्रो तथा क्रो के अनुसार—"सीखने के एक क्षेत्र में प्राप्त होने वाले ज्ञान या कुशलताओं का तथा सोचने का, अनुभव करने की आदतों का सीखने के दूसरे क्षेत्र में प्रयोग करना साधारणत: प्रशिक्षण का स्थानान्तरण कहा जाता है।"[2]

सोरेन्सन के अनुसार—"स्थानान्तरण (संक्रमण) एक परिस्थिति में प्राप्त

1 The improvement, facilitation or modification of a certain learning without direct training through learning or practice in a related activity."
Carter V. Good, *Dictionary of Education*, page. 430.

2 "The carry over of habits of thinking, feeling or working of knowledge or skills from one learning area to another is usually referred to as the transfer of learning."—Crow and Crow, page 323.

किया हुआ ज्ञान, प्रशिक्षण और आदतों का दूसरी परिस्थिति में स्थानान्तरित किए जाने की चर्चा करता है।"[1]

सीखने के मनोविज्ञान की एक प्रमुख समस्या यह ज्ञात करनी थी कि, किसी एक कार्य को करने का कौशल सीखने से दूसरे कार्य के सीखने पर क्या प्रभाव पड़ता है अथवा उसमें क्या सहायता मिलती है। कभी-कभी एक कार्य को सीखने से दूसरा कार्य अधिक सरल हो जाता है अथवा इसके विपरीत दूसरा कार्य कठिन भी हो जाता है। अतएव स्पष्ट है कि एक परिस्थिति में सीखने की क्रिया का प्रभाव दूसरी क्रिया पर दो प्रकार से पड़ता है—

(अ) स्वीकारात्मक या सकारात्मक प्रभाव (Positive Influence)।

(ब) अस्वीकारात्मक प्रभाव (Negative Influence)—इसे आदत अवरोध (Habit Interference) भी कहते हैं। कभी-कभी पुरानी आदतें नवीन कार्य के सीखने मे बाधा उपस्थित करती हैं। इन प्रभावों के आधार पर स्थानान्तरण, अथवा संक्रमण को भी दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, जोकि इस प्रकार हैं—

(अ) सकारात्मक संक्रमण (Positive Transfer)—जब सीखने की एक विषयवस्तु अथवा विधि सीखने की दूसरी विषयवस्तु अथवा विधि को अनुकूल रूप से प्रभावित करती है तो सीखने की क्रिया में सहायता मिलती है और इसे सकारात्मक संक्रमण कहते हैं। उदाहरणार्थ—संस्कृत भाषा पर अधिकार कर लेने के बाद हिन्दी भाषा सीखने मे अनुकूल प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार साइकिल चलाना सीखने के बाद स्कूटर चलाना सीखने में कुछ सुविधा रहती है। अतः स्पष्ट है कि सकारात्मक संक्रमण में पूर्वार्जित ज्ञान तथा अनुभव नवीन ज्ञान की प्राप्ति मे सहायक सिद्ध होता है।

(ब) नकारात्मक संक्रमण (Negative Transfer)—यदि एक कार्य सीखने के पश्चात् दूसरे कार्य की विषयवस्तु सीखने में अवरोध उत्पन्न होता है तो उसे नकारात्मक संक्रमण कहते हैं। उदाहरणार्थ—संस्कृत भाषा सीखने के पश्चात् उर्दू भाषा सीखने में बहुत-सी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। इसे नकारात्मक प्रभाव कहते हैं। अतः स्पष्ट है कि नकारात्मक संक्रमण में पूर्वार्जित ज्ञान एवं अनुभव किसी न किसी प्रकार नवीन ज्ञान के अर्जन में कठिनाइयाँ उपस्थित करता है। अतः जब एक परिस्थिति मे सीखी बात दूसरी के सीखने में बाधक हो तो नकारात्मक स्थानान्तरण होता है।[2]

संक्रमण के अन्य प्रकार (Other Kinds of Transfer)—मुख्य रूप से संक्रमण दो ही प्रकार के होते हैं, जिनका वर्णन पहिले किया जा चुका है। किन्तु संक्रमण की वस्तु, स्वरूप अथवा ढंग के अनुसार कुछ अन्य प्रकार के संक्रमणों का उल्लेख भी आता है जो इस प्रकार है—

(क) एकपक्षीय (Unilateral) संक्रमण—इस प्रकार का संक्रमण शारीरिक

---

1 "Transfer refers to the [illegible] and habits acquired [illegible] —Sorenson, p. 387.

2 [illegible] harder, we speak of [illegible]

प्रशिक्षण से सम्बन्धित कार्यों में होता है। उदाहरणार्थ—एक फोटोग्राफर अपनी ज्ञानेन्द्रिय, आंख का प्रयोग कैमरे के साथ करके फोकस (Focus) लेने तथा चित्र खींचने में दक्ष हो जाता है। यदि उसे किसी अन्य प्रकार के क्षेत्र में आंख का प्रयोग करने अथवा प्रशिक्षण की आवश्यकता हो तो वह अधिक सुविधा के साथ वह कार्य कर सकेगा। जैसे—यंत्रों की सहायता से सर्वेक्षण करना।

(ख) द्विपक्षीय (Bilateral) संक्रमण—इस प्रकार का संक्रमण भी शारीरिक कार्यों के प्रशिक्षण से सम्बन्धित होता है। उपरोक्त उदाहरण में एक फोटोग्राफर यदि दायीं आँख से कैमरे का फोकस मिलाने में दक्ष है तो वह आवश्यकता पड़ने पर बांयी आँख से भी यह कार्य सुविधापूर्वक कर सकता है। हम बहुत से कार्य जो दांये हाथ से करते हैं, आवश्यकता पड़ने पर बाएँ हाथ से भी कर सकते हैं।

(ग) ऊर्ध्वाधर (Vertical) संक्रमण—इस प्रकार का संक्रमण सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों दशाओं में होता है। इसमें समय की दूरी का विशेष महत्व है। जो कार्य हमने पाँच वर्ष पूर्व सीखा था, उसे हम आज से पाँच वर्ष बाद भी कर सकेंगे। छोटी कक्षाओं में धारण किया गया ज्ञान बड़ी कक्षाओं में भी प्रयोग में आता रहता है। जो खेल हम बचपन में सीख लेते हैं उन्हें बड़े होकर भी खेल सकते हैं।

(घ) क्षैतिज (Horizontal) संक्रमण—ज्ञान की चादर बहुत विस्तृत है। एक स्कूली विषय में प्राप्त किया गया ज्ञान दूसरे विषय का ज्ञान प्राप्त करने में सुविधाजनक सिद्ध होता है तब हम उसे क्षैतिज संक्रमण कहते हैं। इसी प्रकार एक विषय के अध्ययन में भी ज्ञान का क्षैतिज संक्रमण होता है। उदाहरणार्थ—किसी देश का आर्थिक भूगोल पढ़ते समय वहां के मानव भूगोल का साधारण ज्ञान भी स्वतः ही हो जाता है। किसी काल के इतिहास की घटनाओं (युद्ध, राज्य-विस्तार, संधियां आदि) का अध्ययन करने से उस काल की सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक दशाओं का ज्ञान भी स्वतः ही हो जाता है।

(ङ) शून्य (Zero) संक्रमण—जब किसी एक विषयवस्तु अथवा कार्य का सीखना दूसरी विषयवस्तु अथवा कार्य के सीखने को न तो धनात्मक ढंग से प्रभावित करता है और न ही ऋणात्मक ढंग से तब उसे शून्य संक्रमण कहते हैं। उदाहरणार्थ—स्कूटर चलाना सीखने और तैरना सीखने में कोई सम्बन्ध नहीं है।

स्थानान्तरण सम्बन्धी प्रयोग

इस समस्या पर सबसे पहली प्रयोगात्मक खोज सर विलियम जेम्स (1890) ने की। जेम्स यह ज्ञात करना चाहता था कि स्मृति के अभ्यास से स्मरण रखने की योग्यता में वृद्धि होती है अथवा नहीं। उसने विक्टर ह्यूगो की एक रचना में से 150 पंक्तियां कंठस्थ कीं। तदुपरान्त उसने मिल्टन की कविता *Paradise Lost* को कंठस्थ किया, इस कार्य में उसे लगभग एक माह लगा। इसके पश्चात् उसने विक्टर ह्यूगो की रचना में से 150 पंक्तियां याद कीं दूसरी बार ह्यूगो की पंक्तियां याद करने में पहले से अधिक समय लगा। इससे उसने निष्कर्ष निकाला कि पैराडाइज लौस्ट को याद करने से उसकी स्मरण शक्ति की योग्यता पर कोई

प्रभाव नहीं पड़ा। उसने इस प्रयोग को विभिन्न सामग्रियों के साथ दोहराया, किन्तु परिणाम में कोई अन्तर नहीं पड़ा।

जेम्स का यह प्रयोग पूर्ण वैज्ञानिक नही कहा जा सकता, क्योंकि उसके प्रयोग का समय लम्बा था और उसने सीखने की क्रिया पर प्रभाव डालने वाले तथ्यों पर नियन्त्रण नही किया था। उसकी सीखने की सामग्री भी कठिनाई और बनावट में सर्वत्र समान नही थी। इस दृष्टि से थॉर्नडाइक ने अनेक वैज्ञानिक परीक्षण किये। उसके अधिकांश परीक्षणों में सकारात्मक स्थानान्तरण (Positive Transfer) का अभाव ही दिखाई दिया। जेम्स और थॉर्नडाइक के परिणाम स्थानान्तरण के विरोध में होते हुए भी इस समस्या पर अनेक मनोवैज्ञानिक परीक्षण किये गये। थॉर्नडाइक ने भी अनेक नवीन प्रयोग किये। इन परीक्षणों द्वारा उपलब्ध परिणामों से यह ज्ञात होता है कि विशेष परिस्थितियों में सकारात्मक स्थानान्तरण हो सकता है।

अमेरिका में 1890 से 1928 तक किये गये परीक्षणों के परिणामों की विवेचना की गई और यह निष्कर्ष निकाला गया कि शिक्षा में किसी सीमा तक स्थानान्तरण होता है। इन परीक्षणों का उद्देश्य बालकों के पाठ्य उद्देश्यों में, उनकी तर्क करने की योग्यताओं में, स्मरण करने की योग्यताओं में, कार्य कुशलता सीखने में और समस्या हल करने की क्रियाओं में स्थानान्तरण का निरीक्षण करना था।

स्लीट ने स्मृति से सम्बन्धित परीक्षण किये।[1] क्लिफोर्ड उडी ने 1930 में परीक्षणों द्वारा यह दर्शाया कि फ्रेंच भाषा पढ़ने से अंग्रेजी सरल हो जाती है। वेब (L. W. Web) ने अंकगणित में तार्किक योग्यता सम्बन्धी परीक्षण किये। कुछ प्रयोगात्मक परीक्षण भी किये गए। जैसे—दाँये हाथ से किसी कार्य के सीखने का प्रभाव बाँये हाथ से वही कार्य सीखने की क्रिया में भी लाभदायक होता है। (उदारणार्थ—दर्पण में देखकर दाँये या बाँये हाथ से कागज पर आकृति बनाना) इसे द्विपक्षीय स्थानान्तरण कहते हैं। उपरोक्त (99) परीक्षणों के परिणामों से विभिन्न स्थितियों में स्थानान्तरण का प्रतिशत भी ज्ञात किया गया जो कि इस प्रकार है—

	स्थानान्तरण	प्रतिशत
1.	बहुत अच्छी प्रकार से स्थानान्तरण	49·5
2.	अच्छी प्रकार से स्थानान्तरण	32·3
3.	बहुत कम स्थानान्तरण	8·08
4.	अस्वीकारात्मक स्थानान्तरण	5·05
5.	अनिर्णीत	5·07

प्रथम् वर्ष में फ्रेंच सीखने का अंग्रेजी शब्दावली के ग्रहण पर प्रभाव।[2]

1 Sleight, W. G.: "Memory and Formal training" *British Journal of psychology* 1911.

2 "The Influence of the Teaching of First year French on the Acquisition of English Vocabulary." —Woody, Clifford, N. V. Macmillan 1930.

उपरोक्त परीक्षणों से कुछ सैद्धान्तिक निष्कर्ष भी निकाले गये हैं। ये सिद्धान्त इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि सीखने की क्रिया में किन-किन विशेष परिस्थितियों में स्थानान्तरण होता है। किस वस्तु का स्थानान्तरण होता है और स्थानान्तर की मात्रा कितनी हो सकती है।

स्थानान्तरण के सिद्धान्त

(क) समान तत्वों का सिद्धान्त (Identical Elements)—थॉर्नडाइक के अनुसार स्थानान्तरण के लिये सीखी जाने वाली सामग्री का रूप और उसकी संरचना समान होनी चाहिए। दूसरी ओर सीखने की पद्धति और सीखने वालों की अभिवृत्ति (Attitude) भी समान रहने से स्थानान्तरण की अधिक सम्भावना रहती है। उदाहरणार्थ—कार चलाने वाला व्यक्ति सरलतापूर्वक ट्रक या ट्रैक्टर चला सकता है। इन कार्यों के अनेक छोटे भाग हैं और इन छोटे भागों में यत्र-तत्र बहुत सी प्रकार की समानतायें हैं। थॉर्नडाइक के शब्दों में इन कार्यों से सम्बन्धित तन्त्रिका बन्ध (Neural Bonds) सभी कार्यों में समान रूप से प्रयोग में आते हैं। रूगर (Ruger) ने इस तथ्य की पुष्टि भूल-भुलैया के प्रयोग से की है।

(ख) अनुभव का सामान्यीकरण (Generalization)—जुड के अनुसार[1] अध्यापन विधि और सीखने के कार्य में छात्रों की आत्मक्रिया स्थानान्तरण की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। यदि सामग्री इस प्रकार कक्षा में प्रस्तुत की जाती है कि सीखने वाला पाठ्यवस्तु की अपेक्षा उसके सामान्यीकरण को अधिक गम्भीरता से ग्रहण कर लेता है तो स्थानान्तरण की सम्भावना अधिक हो जाती है। शिक्षा द्वारा बालक-बालिकाएँ विचार करना, सामान्य सिद्धान्त खोजना, और विचारों को वैज्ञानिक बनाना सीखते हैं। अनुभवजन्य सामान्यीकरण भविष्य के अनुभवों पर लाभदायक प्रकाश डालता है। जुड के मत को उसी के शब्दों में समझिये—

"एक अध्यापक जिसका दृष्टिकोण ज्ञान के किसी एक क्षेत्र में विशाल है, वह एक सूचना के माध्यम से केवल एक सत्य का उद्घाटन नहीं करता बल्कि वह उन सभी संकेतों का ताना-बाना प्रस्तुत करता है जो शेष संसार का केन्द्रीभूत सत्य है।"[2]

(ग) आदर्श और पद्धतियों की समानता (Ideals and Procedures)—इसे मूल्यांकन का सिद्धान्त कहते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी कार्य को स्वच्छतापूर्वक कर लेना सीखता है तो वह जिस कार्य को भी करता है उसे भी स्वच्छतापूर्वक ही करता है। इसी प्रकार कार्य करने की लगन, और उत्साह का भी स्थानान्तरण होता है। चारित्रिक शिक्षा की दृष्टि से यह सिद्धान्त बहुत महत्वपूर्ण है।

(घ) क्षेत्रीय सम्पूर्णता का सिद्धान्त—यह सिद्धान्त अवयवीवाद पर आधारित है। बालक क्षेत्र से सम्बन्धित वस्तुओं का निरीक्षण, परीक्षण व प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना सीखता है। उसका अनुभव एक इकाई होता है। वह पूर्व अनुभवों में

---

1 Judd, C H.: *Psychology of secondary educations.* Boston, Ginn, 1927.

2 "A teacher who has a broad out look on any field of knowledge will make a single piece of information carry to the student not only a bare kernal of truth, but a whole net work of suggestions of which the central truth connects with the rest of the world." —C. H. Judd.

नवीन अनुभवों का सामंजस्य करता है। इस प्रकार उसके मानस में नवीन ज्ञान और पूर्व ज्ञान का क्षेत्रीय सम्बन्ध अवश्य रहता है। कोहलर ने इस सम्बन्ध में पशुओं पर अनेक रोचक परीक्षण किये। और यह प्रदर्शित कर दिया कि नई प्रतिक्रिया सीखने में पशु भी क्षेत्रीय सम्बन्धों से प्रभावित होते हैं।[1] उसने मुर्गी, बालक और बन्दर की प्रतिक्रिया को एक चमत्कार बक्स के साथ अभिसंधानित कर दिया। तदुपरान्त यह देखा गया कि पशु और बालक परिवर्तित परिस्थितियों में भी अधिक चमकीले बक्स के प्रति पूर्ववत् प्रतिक्रिया करते हैं।

(ड) स्पीयरमैन (Spearman) का दो तत्वों का सिद्धान्त—यह सिद्धान्त सामान्य G (General) और विशिष्ट S (Specific) योग्यता का सिद्धान्त भी कहलाता है। स्पीयरमैन का विश्वास है कि किसी कुशलता को सीखने में अथवा किसी कार्य को पूर्ण करने में व्यक्ति की सामान्य–G और विशिष्ट–S योग्यताओं का सहयोग रहता है। सामान्य योग्यता का समावेश प्रायः सभी कार्यों में थोड़ा अथवा अधिक रहता है, अर्थात् किसी कार्य को करने या सीखने में सामान्य योग्यता में जो वृद्धि होती है, उसका अन्य कार्यों और कुशलताओं में स्थानान्तरण होता है। गणित, विज्ञान, भाषा और सामाजिक विषय, प्रायः सामान्य योग्यता की वृद्धि करते हैं। इसी प्रकार संगीत, चित्रकला अथवा मूर्तिकला से विशिष्ट योग्यता का विकास होता है। स्पीयरमैन का उपरोक्त सिद्धान्त अधिक स्पष्ट नहीं है। इससे तो केवल यह प्रकट होता है कि सीखने की किन-किन दशाओं में स्थानान्तरण की सम्भावना रहती है। इससे यह भी ज्ञात नहीं होता कि सीखने में स्थानान्तरण की मात्रा कितनी होगी।

स्थानान्तरण किसका होता है?—स्थानान्तरण विषयवस्तु का नहीं अपितु ज्ञान, कौशल, चिन्तन तथा कार्य के ढंग, आदत, स्वच्छता, स्पष्टता आदि गुणों का होता है।

कक्षा शिक्षण और स्थानान्तरण

किसी पाठ्य विषय का स्थानान्तरण उस विषय की सामग्री पर निर्भर नहीं करता अपितु बहुत कुछ इस बात पर ही निर्भर है कि सीखने वाले की उस विषय में प्रतिक्रियाएँ कैसी हैं, उस विषय के प्रति छात्र की अभिरुचि कैसी है। यदि बालक का ध्यान कक्षा शिक्षण के समय पूर्वार्जित ज्ञान के उपयोग की ओर भी आकर्षित किया जाये तो स्थानान्तरण की सम्भावना में वृद्धि हो जाती है। पाठ्य-विषय को बालक के बौद्धिक स्तर के अनुकूल बना कर ही प्रस्तुत करना चाहिए। इस प्रकार बालक अपनी बुद्धिमत्ता और अंतरदृष्टि से विषय का अनुशीलन कर सकता है। पाठ्य-विषय को रटा देने से स्थानान्तरण की सम्भावना नहीं रहती।

छात्रों में उपयुक्त अभिरुचि, अभिवृत्ति, समस्या हल करने का आदर्श ढंग, स्वच्छता, ईमानदारी और सामाजिक गुणों का विकास करके उनके द्वारा सीखने की क्रिया में स्थानान्तरण का क्षेत्र विस्तृत किया जा सकता है। यदि सीखने की क्रिया के पीछे संवेगात्मक प्रेरणायें होती हैं तो बालक की अभिवृत्तियों के प्रभाव और मूल्य में

---

1 W. Kohlar; *Gestalt psychology*, 1947.

स्थानान्तर की दृष्टि से और भी अधिक वृद्धि हो जाती है। पाठशाला का पाठ्यक्रम और वातावरण जीवन से भिन्न नहीं होना चाहिये। शैक्षिक वातावरण से बालक जिस प्रकार प्रारम्भिक ज्ञान का उपयोग करना सीखता है, उसे वह जीवन के विस्तृत क्षेत्रों में भी प्रयुक्त कर सके, इस उद्देश्य से ही पाठ्यवस्तु और पाठन विधि का चुनाव होना चाहिए।

आधुनिक प्रगतिशील शिक्षा के कार्यक्रमों में व्यावसायिक क्रियाओं, सामाजिक परिस्थितियों और सामाजिक समस्याओं को उचित स्थान दिये गये हैं। प्रगतिशील शिक्षा का उद्देश्य बालक में ऐसी उपयुक्त अभिवृत्तियाँ उत्पन्न करना है जिन्हें वह पाठशाला से निकलकर विस्तृत जीवन में भी उपयोग कर सके। नवीन शिक्षा का उद्देश्य बालक के जीवन के प्रति एक ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत करना है जिसे वह पाठशाला के बाहर विस्तृत जीवन में भी बनाये रख सके। अतएव बालक के जीवन का वास्तविक अनुभव पाठशाला के वास्तविक वातावरण में भी हो जाना चाहिये। उसे सामाजिक अनुभवों और व्यावसायिक क्रियाओं की व्यावहारिक अनुभूति प्रदान करके उसके ज्ञान को जीवनोपयोगी और व्यावहारिक बनाना चाहिए। जीवन और पाठशाला की परिस्थितियों के तत्व समान होने चाहिये। सामाजिक जीवन में भाग लेकर बालक सहयोग और उत्तरदायित्व की भावना सीखता है। जीवन की परिस्थितियों में निहित संघर्षों की ओर उसका ध्यान आकर्षित रहना चाहिए। जीवन की समस्याओं और संघर्षों से जूझने के लिए तथा उनका समाधान करने के लिए उसे वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्राप्त होना चाहिए।

स्थानान्तरण की समस्या और नवीन शिक्षा

नवीन शिक्षा के लक्ष्य और विधियाँ आर्थिक-सामाजिक (Socio-economic) हैं। इसीलिए शिक्षक को जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाली परिस्थितियों और समस्याओं को कक्षा शिक्षण के उपयोग में लाना चाहिए। योजना बनाकर सामूहिक सहयोग से समस्याओं को हल करने के लिए शिक्षक का संकेत होना चाहिये। डेवी (Dewey) के अनुसार विचार क्रिया के पाँच स्तर हैं—अनुभव अथवा क्रियाशीलता, समस्या सामग्री, सामान्यीकरण, या सैद्धान्तीकरण और प्रयोग। इस दृष्टिकोण से योजना पद्धति को पाठन प्रणालियों में अद्वितीय सफलता मिली है।

स्थानान्तरण में वृद्धि

शिक्षण कार्य में स्थानान्तरण में वृद्धि करने के लिए अध्यापक को निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए—

1. पाठ्यविषय में रुचि जाग्रत करना—क्योंकि स्थानान्तरण केवल पाठ्यविषय की सामग्री पर ही निर्भर नहीं करता अपितु सीखने वाले की उस विषय के प्रति क्या प्रतिक्रिया है, इस बात पर भी निर्भर करता है।

2. छात्रों का ध्यान पूर्वार्जित ज्ञान की उपयोगिता की ओर आकर्षित करना।

3. पाठ्य सामग्री को छात्रों के बौद्धिक स्तर और योग्यता के अनुकूल बनाकर प्रस्तुत करना।

4. पढ़ाते समय समझने पर बल देना—कोई बात रटाकर नहीं सिखानी

चाहिये अपितु अच्छी तरह समझ में आ जानी चाहिए तभी स्थानान्तरण की सम्भावना अधिक रहती है।

5. जो विषय सामग्री प्रस्तुत की जाये, जीवन में उसकी उपयोगिता भी स्पष्ट की जानी चाहिए। ताकि सीखने वाला उस ज्ञान को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों मे प्रयुक्त कर सके।

6. छात्रों की मानसिक योग्यताओं के विकास को भी महत्व देना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त स्वच्छता, समय पर काम करना, ईमानदारी, सामाजिकता के गुण और समस्या हल करने का सही ढग आदि आदतों पर भी बल देना चाहिए, क्योंकि जीवन मे एक परिस्थिति से दूसरी परिस्थिति में इन गुणों, आदतों एवं ढंग आदि का ही स्थानान्तरण होता है।

7. स्कूल के विषयों में क्षैतिज (Horizontal) तथा ऊर्ध्वाधिर (Vertical) सहसम्बन्ध (Correlation) स्थापित करते हुए ही पढ़ाना चाहिये, ताकि सम्पूर्ण ज्ञान एक इकाई के रूप मे संगठित हो सके।

8. विभिन्न विषयो को एक दूसरे से सम्बन्धित करने के साथ-साथ ही जीवन भी सम्बन्धित करना चाहिए। इससे स्थानान्तरण की सम्भावना अधिक रहती है।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. सविधिक अनुशासन से आप क्या समझते हैं? इसका स्थानान्तर से क्या सम्बन्ध है?
2. प्रशिक्षण में स्थानान्तरण की परिभाषा कीजिए और बताइये कि स्थानान्तरण कितने प्रकार का होता है?
3. संक्रमण के प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन कीजिये और बताइये कि स्थानान्तरण में वृद्धि के लिए आप क्या उपाय काम में लायेंगे?

29

ज्ञानात्मक विकास

अवधान और रुचि
(Attention and Interest)

शक्तिवादी मनोवैज्ञानिक अवधान (ध्यान) को भी एक मानसिक शक्ति ही समझते थे। उनका विश्वास था कि उपयुक्त अभ्यास द्वारा व्यक्ति में अवधान की वृद्धि की जा सकती है। वास्तव में अवधान एक मानसिक क्रिया ही है। चेतनावादी मानसिक अनुभवों को तीन पक्षों में विभक्त करते हैं—ज्ञानात्मक (Cognition), क्रियात्मक (Conation), और रागात्मक (Affection)। मानव की ज्ञानात्मक क्रियाओं के परिणामस्वरूप ही उसका बौद्धिक विकास होता है। जन्मजात और सीखे हुए क्रियात्मक आवेगों से उसके चरित्र का संगठन होता है। रागात्मक या संवेगात्मक अनुभवों से उसके स्थायी भावों का व्यवस्थापन एवं संगठन होता है।

अवधान, बालक की प्रारम्भिक ज्ञानात्मक क्रिया है। इस क्रिया का सम्बन्ध सदैव चेतना से ही रहता है। जाग्रत या चेतन अवस्था में हमारी सभी ज्ञानेन्द्रियाँ—विशेषकर आँख और कान—बाहरी वातावरण की उत्तेजनाओं अथवा वस्तुओं की ओर एक साथ ही ध्यान नहीं लगा सकते। इनमें से हम कुछ उत्तेजनाओं की ओर विशेष रूप से आकर्षित हो जाते हैं और कुछ की अवहेलना करते हैं। इस प्रकार हम वातावरण का एक क्षेत्र चुनकर उस पर ही अपना ध्यान एकाग्र रूप से केन्द्रित करते हैं। अवधान की अपेक्षा चेतना का क्षेत्र विस्तृत होता है। चेतना के जिस क्षेत्र में उत्तेजना सबसे अधिक स्पष्ट होती है, वही हमारे ध्यान का क्षेत्र होता है। अवधान की क्रिया का प्रथम परिणाम स्पष्टता है।

व्यावहारिक शिक्षण और अवधान

कक्षा-शिक्षण एक मानसिक प्रक्रिया है जिसमें छात्रों के ध्यान का एकाग्र होना नितान्त आवश्यक है। बिना अवधान के कोई भी बौद्धिक क्रिया नहीं हो सकती। यदि छात्रों का ध्यान पाठ पर केन्द्रित नहीं है, तो अध्यापक का सम्पूर्ण परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। उत्तम पाठन-विधियों का भी कोई महत्व नहीं। ऐसी दशा में अध्यापक छात्रों को उपयुक्त विचार प्रक्रिया की ओर भी प्रेरित नहीं कर सकता। अवधान के अभाव में सीखने की क्रिया असफल होती है। अतः प्रत्येक अध्यापक को छात्रों का ध्यान पाठ्य विषय में एकाग्र करने की कला में निपुण होना

चाहिए। विषय का प्रस्तुतीकरण इतना रोचक तथा अध्यापन का ढंग इतना आकर्षक होना चाहिए कि पाठ्य विषय से छात्रों का ध्यान इधर-उधर न भटके।

अवधान का सम्बन्ध 'चेतना' से है। जो वस्तु या विषय हमारी चेतना के ऊपरी सतह पर और इसके केन्द्र में आ जाते हैं, उन्हीं पर हमारा ध्यान केन्द्रित हो जाता है।

अवधान की परिभाषा

रौस के अनुसार—"अवधान विचार की किसी वस्तु को मस्तिष्क के समक्ष स्पष्ट रूप मे उपस्थित करने की प्रक्रिया है।"[1] मैकडूगल अवधान को मस्तिष्क एवं ज्ञानात्मक चेष्टाओं का क्रियात्मक पहलू मानता है।[2] डमविले के अनुसार "किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा एक ही वस्तु पर चेतना का केन्द्रीकरण ही अवधान है।"[3] परन्तु भाटिया के मत से "अवधान ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और भावात्मक है।"[4] वेलन्टाइन "अवधान को मस्तिष्क की शक्ति नहीं मानता, उसके अनुसार तो यह मस्तिष्क की क्रिया या अभिवृत्ति है।"[5]

अवधान की क्रिया के मनोवैज्ञानिक लक्षण

(1) अवधान मन की चयनात्मक (Selective) क्रिया है। अवधान के समय चित्ताकर्षक और प्रभावशाली उत्तेजनाएँ हमारी चेतना के केन्द्र में आ जाती हैं और अन्य उत्तेजनाएँ अस्वीकार कर दी जाती हैं, जैसा कि डमविले की परिभाषा से स्पष्ट होता है।

(2) अवधान एक विश्लेषणात्मक और रचनात्मक मानसिक क्रिया है। जिस वस्तु की ओर हमारा ध्यान जाता है उसमें ध्यान के साथ ही उस वस्तु के अंगों अथवा पहलुओं का सूक्ष्म विश्लेषण भी हो जाता है। ध्यान की क्रिया में सम्पूर्ण से अवयव और अवयव से सम्पूर्ण की रचना होती है। इसमें विश्लेषण और संश्लेषण (Analytico-synthesis process of the mind) दोनों कार्य करते हैं।

(3) ध्यान का बिन्दु बराबर भटकता रहना (Shifting) है। भटकने के कारण ही उस वस्तु के विभिन्न अंगों पर हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ क्रमानुसार केन्द्रित होती हैं। एक बिन्दु पर 6 या 7 सेकिण्ड से अधिक ध्यान केन्द्रित नहीं होता।

(4) उपरोक्त तीनों लक्षणों से ज्ञात होता है कि अवधान एक क्रियात्मक अनुभव है। इसमें प्रयत्न भी करना पड़ता है और शक्ति भी व्यय होती है। मैकडूगल के अनुसार अवधान एक सप्रयोजन मानसिक क्रिया है, जिसका लक्ष्य निरीक्षण द्वारा ज्ञान प्राप्त करना है। अवधान मे संवेदना; संवेदना और निरीक्षण से प्रत्यक्ष ज्ञान; प्रत्यक्ष ज्ञान से विचार, प्रत्ययन, कल्पना और तर्क की क्रिया चलती रहती है।

---

1 "Attention is a process of getting an object of thought clearly before the mind." —Ross, p. 170.

2 [illegible] point of view [illegible] —Macdougal

3 [illegible] object rather [illegible] Dumville, p. 315.

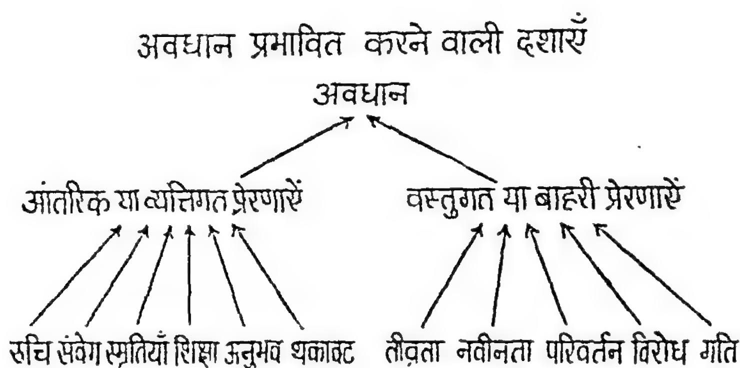
4 [illegible] Bhatia, p. 127.

5 [illegible] an attitude or [illegible] Valentine, p. 228.

(5) अवधान की क्रिया आगे और पीछे दोनों ओर भटकती है। किसी भी समस्या के भूत तथा भविष्य पर हमारा ध्यान स्वाभाविक रूप से केन्द्रित हो जाता है।

(6) अवधान के समय व्यक्ति की ज्ञानेन्द्रियाँ किसी वस्तु अथवा उत्तेजना की ओर लग जाती हैं। ज्ञानेन्द्रियों में गतिशीलता अथवा परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है। इसे गामक समायोजन भी कहते हैं।

(7) ध्यान की एकाग्रता में वृद्धि के साथ ही अवधान का क्षेत्र सीमित होता जाता है। जैसे—बगीचे में एक वृक्ष, वृक्ष में लटका हुआ फूल, और फूल में चमकने वाला रंग।



आन्तरिक या व्यक्तिगत प्रेरणाएँ

अवधान को नियन्त्रित करने में आन्तरिक प्रेरणाओं का विशेष महत्व है। जिन वस्तुओं में हमारी रुचि होती है अथवा जिनकी हम इच्छा करते हैं, या जो वस्तुएँ हम पसन्द करते हैं, उनकी ओर हमारा ध्यान स्वाभाविक रूप से ही आकृष्ट हो जाता है। कक्षा में एक बालक को भूख लगी है। उसकी जेब में पैसे हैं और बाहर मूँगफलियाँ बिक रही हैं। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक ही है कि बालक का मन पाठ्य-विषय की ओर से हटकर मूँगफलियों की ओर जायेगा। इस प्रकार बालक का ध्यान उसकी आन्तरिक मनोदशाओं से प्रभावित होता है। बालकों की रुचियाँ, स्थायीभाव, पूर्वार्जित ज्ञान, स्मृति, कल्पना, थकावट, एवं दिवास्वप्न आदि आन्तरिक मनोदशाओं और स्वास्थ्य का अवधान की क्रिया पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

अवधान और रुचि

रुचि का अर्थ

आन्तरिक परिस्थितियों में अवधान को अत्यधिक प्रभावित करने वाली प्रेरणाएँ व्यक्ति की रुचियाँ तथा अभिरुचियाँ ही हैं। सीखने की मात्रा और गति बहुत कुछ सीमा तक रुचि पर ही निर्भर करती है। मैक्डूगल तो अवधान और रुचि को एक ही क्रिया के दो पहलू मानता है। उसके अनुसार रुचि निहित अवधान है और अवधान रुचि का क्रियान्वित रूप है। रुचि से हमारा अभिप्राय व्यक्ति की मानसिक संरचना अथवा संगठन से होता है। और अवधान इस संगठन द्वारा नियन्त्रित अनुभव अथवा क्रिया है। स्टाउट (Stout) भी रुचि और अवधान के

प्रनिष्ठ सम्बन्ध को स्वीकार करता है। उसके अनुसार अवधान रुचि द्वारा नियन्त्रित ज्ञानात्मक प्रक्रिया है। वास्तव में रुचि हमारे जीवन का क्रियात्मक एवं रागात्मक संगठन है। रुचिकर क्रियाएँ सदैव ही सुखद नहीं होती। दुखद अथवा आनन्दरहित क्रियाओं में भी बालक की रुचि उत्पन्न हो सकती है। हाँ, रुचिकर क्रिया को सफलता-पूर्वक सम्पन्न करने के पश्चात् सन्तोष की प्राप्ति अवश्य होती है।

रुचि की परिभाषा

स्टाउट के अनुसार अंग्रेजी का *Interest* शब्द लैटिन भाषा से लिया गया है जिसका अभिप्राय है: "It makes a difference" अर्थात इसके कारण अन्तर उत्पन्न होता है। रौस के अनुसार *Interest* किसी वस्तु में लगाव (It concerns) अथवा महत्व (It matters) को व्यक्त करता है। भाटिया ने भी इसी अर्थ की पुष्टि की है। मैक्डूगल के अनुसार रुचि गुप्त अवधान है, और अवधान ही रुचि का क्रियात्मक रूप है।[1]

क्रो तथा क्रो "रुचि को एक प्रेरणा शक्ति मानते हैं जो हमें किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा क्रिया के प्रति ध्यान देने के लिए प्रेरित करती है।"[2]

भाटिया के अनुसार अवधान की भाँति रुचि भी ज्ञानात्मक, क्रियात्मक तथा भावात्मक है।[3]

अतः मानसिक स्तर पर रुचि के तीन पहलू (Aspects) हैं: जानना, अनुभूति और चेष्टा।

रुचि के प्रकार

(क) रुचि का प्रमुख स्रोत जन्मजात् प्रवृत्तियों और जीवन की आवश्यकताओं को माना जाता है।

(ख) इसके अतिरिक्त अनुभव और ज्ञान पर आधारित अर्जित रुचियाँ भी होती हैं जैसे—चिकित्सक की रुचि रोगियों के प्रति और व्यापारी की रुचि अपने ग्राहकों के प्रति होती है। किसी वस्तु अथवा उत्तेजना के प्रति संवेगात्मक अनुभूतियों का सगठन ही अर्जित रुचि है। अर्जित रुचि के स्रोत आदतें, स्थायी भाव और पूर्वार्जित ज्ञान हैं। बालक जिन वस्तुओं को अपनाना है, चाहता है अथवा पसन्द करता है, उन्ही में उसकी रुचि भी होती है। अर्थात रुचि का सम्बन्ध अपनेपन से भी होता है। माँ की रुचि अपने बालक में होती है अतएव उसका ध्यान अपने बालक के प्रति आकर्षित होता है। पाठशाला में बालक जिस विषय को अपना विषय समझता है उसमे हो उसका ध्यान अधिक केन्द्रित होता है। जो अध्यापक पाठ्य-विषय में बालक की रुचि उत्पन्न कर सकते हैं, उनका अध्यापन सफल होता है। रुचि के अभाव में अरुचि होना स्वाभाविक ही है। जहाँ रुचि नहीं, वहाँ अवधान नहीं, और जहाँ अवधान नहीं वहाँ ज्ञान नहीं।

---

1 "Interest is latent attention and attention is interest in action."

2 "Interest may refer to the motivating force that impelsus to attend to a person, a thing or an activity." —Crow and Crow, p 248.

3 "Interest is cognitive, conative and affective." —Bhatia, p. 130.

4 Knowing, Feeling and Willing.

पाठ्य-विषय को रुचिकर बनाने के लिए निम्नलिखित बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है—

(1) विषय सरल और रोचक तथा सरल से कठिन की ओर, ज्ञात से अज्ञात की ओर और मूर्त से अमूर्त की ओर होना चाहिए।

(2) छात्रों को उस विषय के अध्ययन की आवश्यकता अनुभव होनी चाहिए। अध्ययन के उद्देश्य का स्पष्ट होना भी आवश्यक है। शैक्षिक खोजों से यह भी ज्ञात होता है कि किशोर बालक पाठ्य-विषय की उपयोगिता पर अधिक ध्यान देता है।

(3) वह विषय मानव जीवन से सम्बन्धित होना चाहिए।

(4) उस विषय का अनुबन्धन अन्य विषयों से तथा बालक के पूर्वार्जित ज्ञान से होना चाहिए।

(5) शिक्षण में चित्राकर्षक (दृश्य एवं श्रव्य) सहायक सामग्रियों एवं उपकरणों का उपयोग होना भी आवश्यक है।

(6) अध्यापन में यथासंभव मूल प्रवृत्तियों, सहज प्रवृत्तियों एवं संवेगों को प्रेरित करना चाहिए।

(7) अध्ययन में छात्रों का क्रियात्मक सहयोग होना आवश्यक है जिससे कि वे उस पाठ को पढ़ने में रचनात्मक आत्मप्रकाशन का आनन्द ले सकें।

(8) छात्रों की विचार-शक्ति को प्रेरणा मिलनी चाहिए।

वस्तुगत या बाहरी प्रेरणाएँ

इनका सम्बन्ध बाहरी वातावरण और वातावरण में स्थित, उत्तेजना की तीव्रता अथवा प्रबलता से है। शिक्षण में नवीनता अथवा परिवर्तन लाने से छात्रों की रुचि में वृद्धि होती है। विषय का प्रस्तुतीकरण व्यवस्थित होने से उस विषय की ओर ध्यान केन्द्रित करना सरल हो जाता है। कक्षा अध्यापन में श्रव्य और दृश्य सहायक अधिक प्रभावोत्पादक होते हैं।

अवधान के प्रकार—अवधान दो प्रकार का होता है—(अ) ऐच्छिक (ब) अनैच्छिक।

मानवों के शैक्षिक विकास के उद्देश्य से ऐच्छिक अवधान का उत्पन्न होना नितान्त आवश्यक है। विचारपूर्ण एवं प्रतिभाशाली कार्य की पूर्ति सप्रयत्न ऐच्छिक अवधान से ही सम्पन्न होती है। ऐच्छिक अवधान को प्रेरित करने के लिए निम्नांकित परिस्थितियाँ उपयोगी हैं—

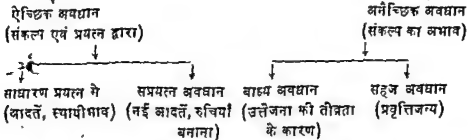
(क) अमूर्त विचारों को समझना और उन पर ध्यान देना।

(ख) अध्ययन में लक्ष्य और साधन के सम्बन्ध को समझना।

(ग) अध्ययन की सामग्री अथवा पाठ का जीवन में मूल्यांकन अथवा महत्व। पुरस्कार तथा दण्ड द्वारा, यह मूल्यांकन बनावटी भी हो सकता है।

(घ) रुचि की तीव्रता।

अवधान



क्या हम एक समय में एक से अधिक उत्तेजनाओं पर अवधान केन्द्रित कर सकते हैं ? इस समस्या को 'अवधान का विभाजन' भी कहते हैं। निस्संदेह व्यक्ति एक समय मे एक ही वस्तु पर ठीक से अवधान केन्द्रित कर सकता है। केवल आदत के कार्यों में अवधान को विभाजित किया जा सकता है।

अवधान का क्षेत्र

ध्यान की दूसरी समस्या 'अवधान के क्षेत्र' सम्बन्धी है। हम ध्यान की एक क्रिया में कितने अंक या अक्षर देख सकते हैं ? अवधान के क्षेत्र मे व्यक्तिगत भिन्नताएँ होती हैं। कोई व्यक्ति समूह बनाकर अधिक अंकों या बिन्दुओं की ओर ध्यान केन्द्रित कर सकता है। प्रोफेसर बर्ट (Burt) ने अवधान का क्षेत्र (Span of Apprehension) ज्ञात करने के लिए टेचिस्टोस्कोप (Tachistoscope) की सहायता से बालकों पर अनेक परीक्षण किये। टेचिस्टोस्कोप से बिन्दु या अक्षर परदे पर एक सैकिन्ड या इससे भी कम समय के लिए दिखाये जाते हैं। इन परीक्षणों से ज्ञात होता है कि अधिकांश व्यक्ति चार अथवा पाँच से अधिक असम्बन्धित अक्षर अथवा बिन्दु नही देख पाते। बिन्दुओं का नीचे दिया हुआ समूह तारों का समूह (सप्तर्षि) ज्ञात होता है। इस समूह (इकाई) पर सरलता से अवधान केन्द्रित किया जा सकता है। बालक के अवधान का क्षेत्र पूर्वाजित ज्ञान और अनुभव से ही प्रभावित होता है। इसी के आधार पर वह पाठ्यवस्तु की इकाइयो में समूह (समानता और विषमता खोजकर) बनाता है। अध्यापक को बड़े और कठिन वाक्य नही बोलने चाहिए, क्योंकि बालक के अवधान का क्षेत्र सीमित होता है। वह शब्दों के बड़े समूह पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं कर सकता। कोई भी विषय बालक के स्तर पर ही कक्षा में प्रस्तुत होना चाहिए।

अवधान में बाधाएँ (Distractions)

अवधान में बाधा डालने वाली उत्तेजनाएँ व्यक्तिगत (आन्तरिक और बाह्य (वस्तुगत) दोनों प्रकार की ही हो सकती हैं। चिन्ता, भय, क्रोध, थकान अथवा घृणा आन्तरिक बाधाएँ हैं। बाह्य बाधाओं में शोरगुल, आवागमन, अथवा कोई अनावश्यक क्रिया हो सकती है। कलम या पेंसिल खो जाना, पुस्तक भूल आना, श्यामपट अधिक दूर होना, अध्यापक की आवाज धीमी होना आदि सब बाह्य कारण

परिवर्तन करते रहना, अध्यापन शैली को रोचक बनाना। छात्रों के मनोरंजन पर भी ध्यान देना, खेल विधि का प्रयोग करना, छात्रों को आवश्यक सुविधाएं प्राप्त कराना, छात्रों के मानसिक स्तर के अनुकूल कार्य देना, उन्हें बीच में विश्राम अथवा बातचीत का अवसर देना तथा अधिक समय तक निरन्तर काम न कराना आदि।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. अवधान किसे कहते हैं ? अवधान की क्रिया के मनोवैज्ञानिक लक्षणों का विवेचन कीजिए।
2. अवधान और रुचि में क्या सम्बन्ध है ? अवधान को प्रभावित करने वाले कारकों में रुचि का क्या स्थान है ?
3. थकान से अवधान की क्रिया किस प्रकार प्रभावित होती है ? विद्यालय में थकान दूर करने और रुचि में वृद्धि करने के उपाय बताइए।

ज्ञानात्मक विकास—2

संवेदना और प्रत्यक्षीकरण
(Sensation and Perception)

संवेदना—अवधान का परिणाम संवेदना है। ज्ञानात्मक क्रिया अवधान से प्रारम्भ होती है और संवेदना ज्ञानात्मक उन्नति की प्रथम सीढ़ी है, अतएव मानव शिशु शीघ्रता से अपने परिवेश में स्थित वस्तुओं का ज्ञान, इन्द्रियों के द्वार से मस्तिष्क तक पहुँचाता है। संवेदना को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है :

(1) उत्तेजना (Stimulus) (2) ज्ञान स्नायु (Sensory Nerves) (3) मस्तिष्क (Brain)।

ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर संवेदना का वर्गीकरण इस प्रकार है।

(1) दृष्टि संवेदना (*Visual Sensation*)
(2) श्रव्य संवेदना (Auditory Sensation)
(3) घ्राण संवेदना (Olfactory Sensation)
(4) स्वाद संवेदना (Taste Sensation)
(5) स्पर्श संवेदना (Tactual Sensation)

अन्तिम स्पर्श संवेदना से प्राप्त होने वाला ज्ञान कई प्रकार का हो सकता है :—

(क) भार (Pressure)
(ख) पीड़ा (Pain)
(ग) ताप—उष्ण अथवा शीत (Temperative—Heat or Cold)
(घ) गति (Movement or Conation)
(ङ) सन्तुलन (Balance)
(च) आन्तरिक शारीरिक क्रिया (Organic Activity)

उपरोक्त पाँच संवेदनाओं के अतिरिक्त कुछ विद्वान गति सम्बन्धी संवेदना भी मानते हैं। संवेदना को निर्विकल्प प्रत्यक्ष (Kina Esthetic Sence) भी कहते हैं। वास्तव में हम प्रायः शुद्ध संवेदना का अनुभव नहीं करते हैं। हमारी प्रत्येक संवेदना अभिप्रायपूर्ण होती है। यह ज्ञान से लदी हुई होती है। देश, काल और के अनुसार हमारे मन के लिए उसका एक विशेष अभिप्राय होता है।

संवेदना और प्रत्यक्षीकरण

परिवर्तन करते रहना, अध्यापन शैली को रोचक बनाना। छात्रों के मनोरंजन पर भी ध्यान देना, खेल विधि का प्रयोग करना, छात्रों को आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त कराना, छात्रों के मानसिक स्तर के अनुकूल कार्य देना, उन्हें बीच में विश्राम अथवा बातचीत का अवसर देना तथा अधिक समय तक निरन्तर काम न कराना आदि।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. अवधान किसे कहते हैं? अवधान की क्रिया के मनोवैज्ञानिक लक्षणों का विवेचन कीजिए।
2. अवधान और रुचि में क्या सम्बन्ध है? अवधान को प्रभावित करने वाले कारकों में रुचि का क्या स्थान है?
3. थकान से अवधान की क्रिया किस प्रकार प्रभावित होती है? विद्यालय में थकान दूर करने और रुचि में वृद्धि करने के उपाय बताइए।

ज्ञानात्मक विकास—2

संवेदना और प्रत्यक्षीकरण
(Sensation and Perception)

संवेदना—अवधान का परिणाम संवेदना है। ज्ञानात्मक क्रिया अवधान से प्रारम्भ होती है और संवेदना ज्ञानात्मक उन्नति की प्रथम सीढ़ी है, अतएव मानव शिशु शीघ्रता से अपने परिवेश में स्थित वस्तुओं का ज्ञान, इन्द्रियों के द्वार से मस्तिष्क तक पहुँचाता है। संवेदना को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है :

(1) उत्तेजना (Stimulus) (2) ज्ञान स्नायु (Sensory Nerves) (3) मस्तिष्क (Brain)।

ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर संवेदना का वर्गीकरण इस प्रकार है।

(1) दृष्टि संवेदना (Visual Sensation)
(2) श्रव्य संवेदना (Auditory Sensation)
(3) घ्राण संवेदना (Olfactory Sensation)
(4) स्वाद संवेदना (Taste Sensation)
(5) स्पर्श संवेदना (Tactual Sensation)

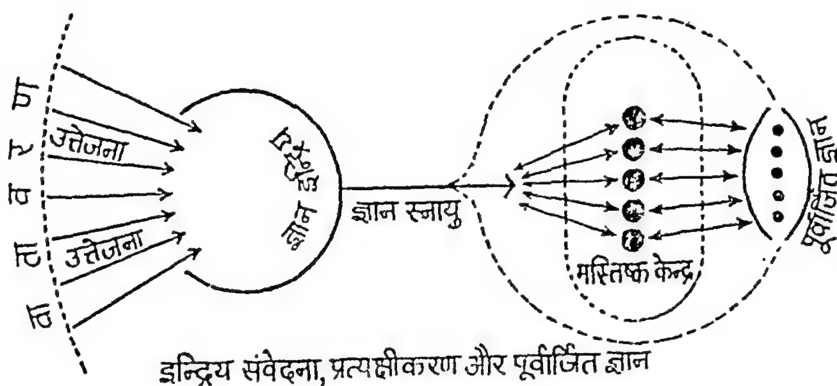
अन्तिम स्पर्श संवेदना से प्राप्त होने वाला ज्ञान कई प्रकार का हो सकता है :—

(क) भार (Pressure)
(ख) पीड़ा (Pain)
(ग) ताप–उष्ण अथवा शीत (Temperative – Heat or Cold)
(घ) गति (Movement or Conation)
(ङ) सन्तुलन (Balance)
(च) आन्तरिक शारीरिक क्रिया (Organic Activity)

उपरोक्त पाँच संवेदनाओं के अतिरिक्त कुछ विद्वान गति सम्बन्धी संवेदना भी मानते हैं। संवेदना को निर्विकल्प प्रत्यक्ष (Kina Esthetic Sence) भी कहते हैं। वास्तव में हम प्रायः शुद्ध संवेदना का अनुभव नहीं करते हैं। हमारी प्रत्येक संवेदना अभिप्रायपूर्ण होती है। यह ज्ञान से लदी हुई होती है। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार हमारे मन के लिए उसका एक विशेष अभिप्राय होता है। संवेदना क्रिया

संवेदना और प्रत्यक्षीकरण

से प्राप्त होने वाला ज्ञान तुरन्त पूर्वज्ञान से सम्बन्धित हो जाता है। हमारा मन पूर्व संस्कारों एवं अनुभवों के प्रकाश में प्रत्येक नवीन संवेदना को ग्रहण करता है। यदि हम घर में बैठे हैं और बाहर से कोई हमें पुकारता है तो हम तुरन्त आवाज सुनकर पहचान लेते हैं कि पुकारने वाला व्यक्ति कौन है। यदि हम आवाज को निश्चित रूप से नहीं पहिचान सकते तो इतना अवश्य ज्ञात हो जाता है कि पुकारने वाला बालक है अथवा वृद्ध, स्त्री है या पुरुष। हमें यह भी ज्ञात हो जाता है कि आवाज किस ओर से आ रही है। अर्थयुक्त, अभिप्रायपूर्ण अथवा ज्ञानदायक संवेदना ही प्रत्यक्ष ज्ञान है, जैसा कि प्रायः कहा जाता है।—[1] **अर्थपूर्ण संवेदना ही प्रत्यक्षीकरण है।**



इन्द्रिय संवेदना, प्रत्यक्षीकरण और पूर्वार्जित ज्ञान

(1) **प्रत्यक्षीकरण के मनोवैज्ञानिक लक्षण**—प्रत्यक्षीकरण का आधार अवधान-जन्य इन्द्रिय संवेदनाएँ हैं।

(2) प्रत्यक्षीकरण में इन्द्रिय संवेदनाओं का परस्पर सम्बन्ध और मानसिक विवेचन होता है।

(3) प्रत्यक्ष ज्ञान पूर्व अनुभव एवं संस्कारों से प्रभावित होता है, क्योंकि प्रत्यक्षीकरण के समय पूर्व ज्ञान चेतन हो जाता है। मानसिक स्तर पर प्रस्तुतीकरण और पुनरावर्तन दोनों ही होते हैं।[2]

(4) प्रत्यक्षीकरण द्वारा संस्कारों का संगठन होता है और नवीन ज्ञान पूर्व-ज्ञान से सम्बन्धित हो जाता है। यह संगठन भेद निरीक्षण, समूह निरीक्षण समानता या विषमता के निरीक्षण द्वारा सम्भव होता है।

(5) प्रत्यक्षीकरण के परिणामस्वरूप परिवेश में स्थित वस्तुओं और घटनाओं का वस्तु ज्ञान होता है। इस प्रकार उपलब्ध ज्ञान पूर्वानुवर्ती ज्ञान (Apperception) कहलाता है।

(6) प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा सदैव वातावरण में होने वाले परिवर्तनों के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया होती है।

(7) प्रत्यक्षीकरण में चुनाव, विश्लेपण और संश्लेपण तीनों ही विद्यमान होते हैं।

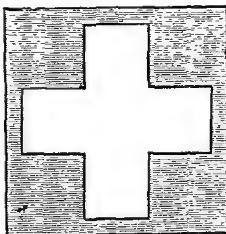
---

1 "Perception is sensation with a fringe of meaning."
2 It is presentative, representative process of mind.

(8) प्रत्यक्ष ज्ञान भी व्यक्ति की बाह्य और आन्तरिक प्रेरणाओं से प्रभावित होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान में त्रुटि का कारण प्रायः आन्तरिक प्रेरणायें अथवा बाह्य बाधाएँ ही होती हैं।

(9) प्रत्यक्षीकरण में प्रतिमाओं (Images) का भी उपयोग होता है।

(10) अवयवीवाद के अनुसार प्रत्यक्षीकरण की क्रिया में सदैव वस्तु और परिवेश अथवा उत्तेजना और क्षेत्र में परस्पर सम्बन्ध स्थापित होता है। इन्हें एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। जैसा कि नीचे के चित्र से स्पष्ट हो जाता है—



बालकों के प्रत्यक्ष ज्ञान का विकास

बालक का प्रत्यक्ष ज्ञान बहुत सीमित होता है। उसकी पहुँच वातावरण में बहुत दूर तक नहीं होती है अतएव उसके प्रत्यक्षीकरण केवल उन्ही वस्तुओं तक सीमित रहते हैं, जोकि बालक के जीवन के लिए नितान्त आवश्यक हैं अथवा जिन वस्तुओं से उसका निकट सम्बन्ध रहता है। जीवन के प्रारम्भिक काल में बालक प्रायः वस्तुओं को पहिचानने में त्रुटि करता है क्योंकि वह अनुभव और ज्ञान में परिपक्व नहीं होता। त्रुटिपूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान भ्रान्ति (Illusion) कहलाते हैं। इनके अनेक कारण हो सकते हैं। उदाहरणार्थ—

(1) ज्ञानेन्द्रियों के कार्य में बाधा :
(2) भ्रामक मनोदशा।
(3) उत्तेजना में परिवर्तन होना अथवा उनका निर्बल होना।
(4) आन्तरिक निर्देश।
(5) आदत अथवा रुचि।

अधिकतर भ्रान्ति ज्ञानेन्द्रियों—श्रवण और नेत्र—के कारण होती है। बालकों की प्रत्यक्षात्मक भ्रान्तियाँ प्रायः अग्रांकित प्रकार की होती हैं—

(1) दूरी सम्बन्धी भ्रान्ति,
(2) आकार सम्बन्धी भ्रान्ति,
(3) रंग सम्बन्धी भ्रान्ति,
(4) गति सम्बन्धी भ्रान्ति।

प्रारम्भ में बालक इन्द्रिय संवेदना का सही विवेचन अथवा अर्थ नहीं कर सकते। वे किसी वस्तु या विषय में अधिक समय तक ध्यान एकाग्र नहीं कर सकते। किसी वस्तु की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए उन्हें अधिक तीव्र प्रेरणा अथवा उत्तेजना की आवश्यकता होती है। निरीक्षण द्वारा छात्रों के प्रत्यक्ष ज्ञान को अधिक संगठित और विश्वसनीय बनाया जा सकता है। कक्षा में और कक्षा के बाहर अध्यापक की देखरेख में छात्रों से निरीक्षण कार्य कराया जाना चाहिए। प्रायः प्रश्नों की सहायता से मानचित्र, रेखाचित्र, चित्र या किसी क्रिया का निरीक्षण कराया जाता है। छात्रों को पाठशाला से बाहर ले जाकर प्रकृति, आवागमन के साधन, शक्ति के साधन, उत्पादन के क्षेत्र, व्यापार क्षेत्र, ऐतिहासिक स्थान आदि का निरीक्षण कराना चाहिए। इससे छात्रों में कौतूहल उत्पन्न होगा और उनकी रुचियों का विस्तार होगा। छात्रों को नवीन अनुभव लिखकर व्यक्त करने का अवसर भी देना चाहिए। सामाजिकता के विकास के साथ ही बालक का प्रत्यक्ष ज्ञान अधिक स्पष्ट और गहन होता जाता है। वह शब्दों की सहायता से सामाजिक परिस्थितियों और सम्बन्धों को समझने लगता है। भ्रान्तिपूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान बालक के शब्द ज्ञान में बाधक होता है। वह शब्दों को उनके सही अर्थों से सम्बन्धित नहीं कर सकता।

आजकल सभी विद्वान शिक्षा में इन्द्रिय संवेदना को पर्याप्त महत्व देते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान की दृष्टि से संवेदनाओं की उपयोगिता सर्वविदित ही है। इन्द्रियां ही

प्रत्यक्ष ज्ञान और ज्ञानेन्द्रिय शिक्षा

बालक के ज्ञान का द्वार हैं। यदि ये द्वार उचित प्रकार से नहीं खुलते हैं, अथवा कार्यशील नहीं होते हैं, तो ज्ञान का विकास भी मंद गति से होता है और बालक मंद-बुद्धि कहलाता है। अतएव शैशवकाल से ही ज्ञानेन्द्रियों के स्वास्थ्य और प्रशिक्षण की नितान्त आवश्यकता है।

लेडी मॉन्टेसरी ने इसी दृष्टिकोण से मॉन्टेसरी प्रणाली की स्थापना की थी। उनका उद्देश्य बालक की विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों को खेल एवं उपकरणों की सहायता से प्रशिक्षित करना था। शैशवकाल में बालक स्पर्श और दृश्य ज्ञानेन्द्रियों के मार्ग से ज्ञानार्जन प्रारम्भ करता है। तीन या चार महीने की आयु में ही वह प्रकाश से उत्तेजित हो जाता है। मां या धाय को स्पर्श द्वारा पहिचानने लगता है। वह अपने हाथ-पांव फलाकर वातावरण के उपकरणों का स्पर्श एवं प्रहस्तन करना चाहता है। लेडी मॉन्टेसरी ने बालक के वातावरण को खिलौनों से भर दिया। इन खिलौनों से बालक किसी सीमा तक स्वयं ही विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों का प्रशिक्षण प्राप्त कर लेता है। मॉन्टेसरी स्कूल में बालक शिक्षा ग्रहण करने नहीं आता है। अपितु खेल सीखने के लिए आता है। वह रंग, आकार, ताप, भार, लम्बाई तथा चौड़ाई आदि का ज्ञान शिक्षोपकरणों के द्वारा भी अर्जित करता है। इस प्रकार बालक की विभिन्न संवेदनाओं को अलग-अलग प्रशिक्षित करके बालक की ज्ञानेन्द्रियों को प्रबल बनाया

जाता है। यही कारण है कि आजकल सभ्य देशों में मॉन्टेसरी स्कूल प्रचलित हो गये हैं। यह शिशु शिक्षा की अद्वितीय प्रणाली है।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. संवेदना तथा प्रत्यक्ष ज्ञान में क्या सम्बन्ध है? संवेदना के विभिन्न अंगों का महत्व बताइये।
2. "अर्थपूर्ण संवेदना ही प्रत्यक्षीकरण है।" इस कथन का विवेचन कीजिए।
3. ज्ञानेन्द्रिय प्रशिक्षण से आप क्या समझते हैं? बाल्यकालीन शिक्षा में ज्ञानेन्द्रिय प्रशिक्षण की क्या उपयोगिता है?

31

ज्ञानात्मक विकास—3

कल्पना
(Imagination)

कल्पना एक मानसिक क्रिया है उसकी सहायता से पूर्व अनुभवों को मन में दुहराया जा सकता है। शरीरधारियों में केवल मनुष्य को ही यह विलक्षण मानसिक गुण प्राप्त है। शक्तिवादी मनोवैज्ञानिक भी कल्पना को एक मानसिक शक्ति मानते थे और उनका विश्वास था कि प्रशिक्षण एवं अभ्यास से कल्पना शक्ति में वृद्धि की जा सकती है। वास्तव में कल्पना स्वयं एक मानसिक क्रिया नहीं है। इसमें अनेक मानसिक क्रियायें संलग्न रहती हैं। यदि हमने ताजमहल देखा है अथवा उसका चित्र देखा है तो हम सरलतापूर्वक उसका चित्र अपने मानसपटल पर अंकित कर सकते हैं। इसे मनोविज्ञान में प्रतिमा (Image) कहते हैं। प्रतिमा में पूर्व संस्कारों को ज्यों का त्यों स्मरण करके मानसपटल पर अंकित किया जाता है। जेम्स ड्रेवर के अनुसार प्रतिमा उन वस्तु या वस्तुओं को पुनः चेतना में लाना है जिनका संवेदन या प्रत्यक्षीकरण पहले ही किया जा चुका है।[1]

कल्पना : अर्थ एवं परिभाषा

डमविल तथा रायवर्न भी प्रतिमाओं के नवीन उपयोग को कल्पना मानते हैं। यदि हम अपने मन में एक ऐसे ताजमहल का चित्र अंकित करें जिसमें चार के स्थान पर आठ मीनारें हों तो यह मानसिक क्रिया, कल्पना कहलायेगी। इस क्रिया में पूर्वाजित संस्कार, अनुभव और प्रत्यक्षीकरण का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। कल्पना में स्मृति का सहयोग रहता है। स्मृति कल्पना का उत्पादक रूप है। कल्पना बहुत दूर तक और ऊँची उड़ान भरती है। इसीलिए मैकडूगल ने कहा है कि "कल्पना करना दूरस्थ वस्तुओं के बारे में सोचना है।"[2]

---

1 "An image may be defined as our apprehension of an object or objects in the absence of the object or objects themselves which originally determined our sense perception."—Drever : *Introduction to psychology of Education*, p. 190.

2 "We may properly define imagination or imagining as thinking of remote objects."
—MacDougall

कल्पना तथा प्रतिमा—प्रतिमा केवल भूतकालीन अनुभवों की छायामात्र है। कल्पना में एक नवीन सृष्टि होती है। इसमें पूर्व अनुभूतियाँ एक नवीन सामंजस्य के साथ प्रस्तुत की जाती हैं। यह भूत, भविष्य और वर्तमान से सम्बन्धित रहती है। इसमें कल्पना करने वाले का प्रयोजन भी निहित रहता है। इंजीनियर, कवि और चित्रकार की कल्पनाओं में प्रयोजन की भिन्नता होती है, अतएव उनकी कल्पनाएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। व्यक्ति की कल्पना आन्तरिक मनोदशाओं और प्रेरणाओं से भी प्रभावित होती है। डरपोक व्यक्ति दिन में भी भूत-प्रेतों की कल्पना करता रहता है। राष्ट्र निर्माण में लगे देशभक्त सदैव ही देश के उज्ज्वल भविष्य की कल्पना करते हैं।

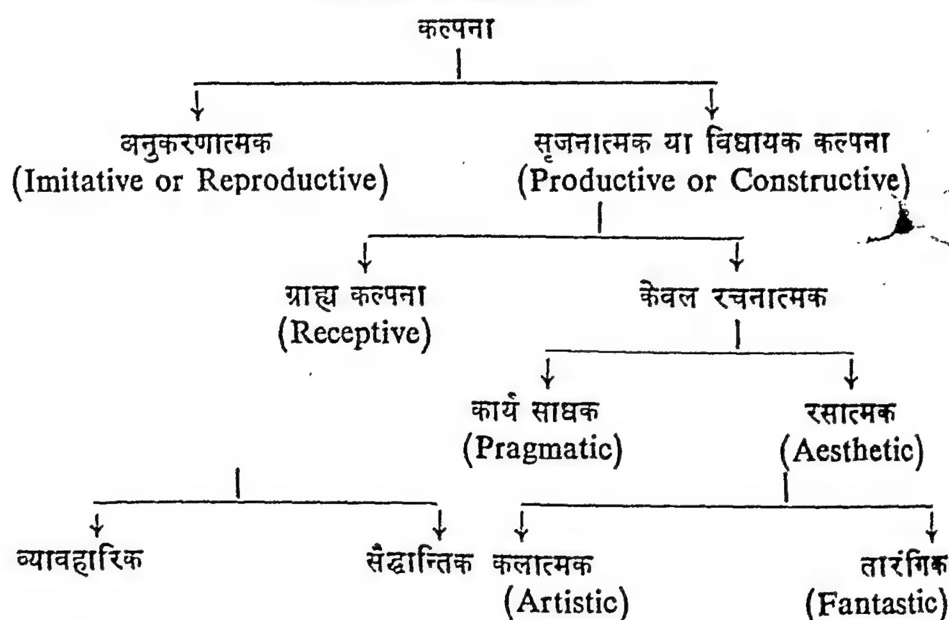
कल्पना और संवेदना—कल्पनाओं में इन्द्रिय संवेदनाओं का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। आप स्वादिष्ट व्यंजनों की कल्पना कीजिए तो मुँह में पानी आने लगेगा। जन्मान्ध व्यक्ति रंगों की कल्पना नहीं कर सकता, इसी प्रकार बहरा व्यक्ति संगीत की लय नहीं दुहरा सकता, अतएव शिशु शिक्षा में इन्द्रिय संवेदना की शिक्षा पर अधिक बल दिया जाता है। इन्द्रिय संवेदनाएँ उस कच्चे माल के समान हैं, जिसे व्यक्ति का मन जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में नित नवीन सामंजस्य के साथ प्रयोग करता है। बाल्यकालीन संवेदनाओं का संग्रह जितना गहन और व्यापक होगा, व्यक्ति की कल्पना भी उतनी ही अधिक उर्वर होगी।

कल्पना की उर्वरता

मानव संस्कृति के विकास का आधार भी यह उर्वर कल्पना ही है। मानव ने अनुकरण और खोज द्वारा ही सांस्कृतिक उन्नति की है। कल्पना में खोज का तत्व भी होता है। हमारी मानसिक क्रिया प्रयोजनमय है। हमारा मन संस्कारों में सदैव नवीन सामंजस्य अथवा सम्बन्धों की खोज करता रहता है। जीवन में कोई समस्या उत्पन्न होते ही मन रचनात्मक कल्पनाओं की सृष्टि करने में जुट जाता है और उस समय तक शान्त नहीं हो सकता जब तक कि उस समस्या का हल मानसिक स्तर पर प्रस्तुत नहीं हो जाता। कल्पना रचनात्मक अथवा समस्यात्मक विचार प्रक्रिया का प्रमुख साधन है। कल्पना की सहायता से ही अस्थायी परिकल्पना (Hypothesis) बना कर नवीन ज्ञान की खोज की जाती है।

कल्पना योग्यता—सभी बालकों में कल्पना करने की योग्यता समान नहीं होती है। व्यक्ति के जीवन में कल्पना की उर्वराशक्ति सदैव एक समान नहीं रहती। मौर्गन (Morgan) के अनुसार बाल्यकाल में कल्पना अधिक तीव्रगति से कार्य करती है और आयु में वृद्धि के साथ ही कल्पना क्षीण होती जाती है। कुछ बालक दृष्टि प्रतिमाओं की सहायता से कल्पना करते हैं, तो कुछ में ध्वनि प्रतिमाएँ प्रबल होतीं हैं। अन्धा व्यक्ति आँखों का काम ध्वनि प्रतिमा अथवा स्पर्श प्रतिमा से लेता है। आयु में वृद्धि होने के साथ ही व्यक्ति जीवन की वास्तविकता के निकट आ जाता है, अतएव प्रौढ़ व्यक्तियों के जीवन में कल्पना का क्षेत्र सीमित होता है। परन्तु जो व्यक्ति खोज, उत्पादक या रचनात्मक कार्यों में लगे रहते हैं उन्हें कल्पना का यथेष्ट प्रयोग करना पड़ता है। सृजनात्मक व्यावसायिक कल्पना के सौष्ठव शिक्षा, ज्ञान और अनुभव में वृद्धि के साथ ही वृद्धि होती जाती है।

कल्पना का वर्गीकरण



अनुकरणात्मक या पुनरुत्पादक कल्पना

इस प्रकार की कल्पना में दूसरे की कल्पना के अनुकरण का भाग होता है। उदाहरणार्थ—कहानी या उपन्यास पढ़ते समय लेखक की कल्पना पाठक की कल्पना बन जाती है। रचनात्मक कल्पना के विकास के लिये विस्तृत अध्ययन और अनुभव दोनों ही आवश्यक हैं।

सृजनात्मक अथवा उत्पादक कल्पना—जब हम बाहरी संकेतों से अपनी काल्पनिक सृष्टि का निर्माण करते हैं तो वह ग्राह्य कल्पना कहलाती है।

रचनात्मक कल्पना व्यक्तिगत अनुभवों पर आधारित शुद्ध कल्पना है जिसका उद्देश्य किसी नवीन विचार, सिद्धान्त, नियम, प्रक्रिया अथवा सम्बन्धों की खोज करना है। उसमें स्वतन्त्रता और नवीनता रहती है। इसको दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। कार्यसाधक और रसात्मक। वैज्ञानिकों ने कल्पना के आधार पर बिजली की खोज की। बिजली की शक्ति से सम्बन्धित सिद्धान्तों की कल्पना एक सैद्धान्तिक कल्पना है। प्रकाश, रेडियो, तार आदि व्यावहारिक अथवा प्रायोगिक कल्पना के ही परिणाम हैं।

कवि और चित्रकार की कल्पना पूर्ण स्वतन्त्र होने के साथ-साथ रसात्मक भी होती है। इनकी कल्पनाएँ हमें वास्तविकता से दूर आनन्दविभोर करने वाली काल्पनिक सृष्टि में ले जाती हैं। जब कवि या चित्रकार वास्तविकता से बिलकुल सम्बन्ध तोड़कर कोरी कल्पना में भ्रमण करता है तो उनकी कल्पना तारंगिक कल्पना कहलाती है। बाल मन में भी इस प्रकार की तारंगिक कल्पनाएँ प्रायः उदित होती रहती हैं।

कल्पना—विकास और शिक्षा

बालक की कल्पनाएँ तारंगिक होती हैं। वह प्रायः काल्पनिक संसार में

विचरण करता रहता है। उसका मन अप्राप्य वस्तुओं की कल्पना में रमा रहता है। शिक्षा द्वारा बालक-बालिकाओं में सृजनात्मक एवं कार्यसाधक कल्पना का विकास होना चाहिए। शिक्षा प्रक्रिया द्वारा बालकों की सामान्य कल्पना उत्तेजित होती है। परन्तु जीवन में कलात्मक व्यावहारिक कल्पना ही अधिक उपयोगी सिद्ध होती है। जीवन की समस्याओं को समझने हेतु सुलझाने के लिए, दूरदर्शितापूर्ण विचार क्रिया के लिए कल्पना का समुचित विकास होना नितान्त आवश्यक है। किन्तु सभी शिक्षा-शास्त्री इस विषय में सहमत नहीं हैं। डॉ० मॉन्टेसरी ने विशेष रूप से अपनी शिक्षा प्रणाली में तारंगिक कल्पना अथवा इस प्रकार की कल्पना को उत्तेजित करने वाली सामग्री का बहिष्कार करने का स्पष्ट आदेश दिया है। उसके कथनानुसार बालक को गम्भीर एवं विचारवान व्यक्ति बनाने के लिए उसे बचकाना, अमानुषिक और असंभाव्य कल्पनाओं से मुक्त रखना चाहिए अनेक पौराणिक कथाएँ अथवा अप्सराओं की कहानियाँ बालक के चारों ओर एक काल्पनिक संसार का निर्माण करती हैं जिससे बाहर निकलकर वास्तविकता की दुनियाँ में आना बालक के लिए अप्रिय और कठिन हो जाता है।

मनोविश्लेषणवादी भी तारंगिक कल्पनाओं को अच्छा नहीं समझते। मनोविश्लेषण सिद्धान्तों के अनुसार तारंगिक कल्पना अवदमन का दुष्परिणाम होती है। इनसे व्यक्तित्व का प्रतिगमन (Regression) होता है। दूसरी ओर मनोविश्लेषणवादी इस बात को स्वीकार करते हैं कि सीमित मात्रा में दिवास्वप्न देखना व्यक्ति के लिए लाभदायक ही होते हैं, क्योंकि दिवास्वप्न में अनेक अवांछनीय इच्छाओं और भावनाओं के प्रकाशन से मन का रेचन (Cathersis) हो जाता है। शिक्षकों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कोई बालक एकान्त में, अनावश्यक दिवास्वप्नों में अपना समय तो नष्ट नहीं करता। यदि बालक को ऐसा करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जायेगा तो उसके व्यवहार का अवश्य प्रतिगमन होगा।

रौस ने मॉन्टेसरी के उपरोक्त विचारों की तीक्ष्ण शब्दों में आलोचना की है। उसका विश्वास है कि बिना तारंगिक कल्पनाओं के कला का विकास सम्भव नहीं है। पौराणिक कथाएँ—अप्सराओं की कहानियाँ, गणेश जन्म की कथा, नृसिंह और भस्मासुर के प्रसंग—तथा साहित्य का बहुत-सा भाग हमारी संस्कृति का अंग है। इनसे हम छात्रों को वंचित नहीं रख सकते। जीवन को सुखमय और सरल बनाने के लिए कल्पना और वास्तविकता दोनों में ही उचित सामंजस्य होना चाहिए। रौस के शब्दों में—"तथ्य कल्पना का सुधार करे और कल्पना तथ्य का।"[1] रौस के अनुसार बालक के शैक्षिक विकास में कल्पना और तथ्य (Facts) दोनों का ही उपयोग होना चाहिए। रौबर्टलिड् के अनुसार कल्पना को दबाना बहुत हानिकारक होता है। कल्पनारहित व्यक्ति उस अन्धे व्यक्ति के समान है जिसकी नेत्रज्योति समाप्त हो गयी है।

---

1 "Let fact correct the fancy and fancy correct the fact."—Ross, *Ground work of Educational Psychology*, page 217.

कहानी बालक को बहुत प्रिय होती है। अतएव छोटी कक्षाओं में कहानी कह-कर पढ़ाने की विधि लाभदायक होती है। प्लेटो और फ्रोबैल कहानी द्वारा शिक्षण के पक्षपाती थे। बालमन के लिए कहानी का सांकेतिक मूल्य (Suggestive Value) होता है। कहानी में बालक मन के लिए रुचिकर तत्व होते हैं, बालक कहानी सुनता है और कल्पना करता है। उसके काल्पनिक संसार में नैतिकतायुक्त सच्चे तथा वीर पात्रों की विजय होती है। ये विजयी पात्र उसके काल्पनिक जगत के साथी बन जाते हैं। कल्पना के सहारे बालक में अपनी वर्तमान स्थिति से ऊपर उठने की शक्ति प्राप्त होती है। वह भविष्य के जीवन का ताना-बाना बुनता है और आगे बढ़ने के लिए योजना बनाता है।

कल्पना के बिना भाषा विकास भी सम्भव नहीं। भाषा शब्दों का समूह है और शब्द ध्वनि तथा मतलब का सम्बन्धीकरण है। इसमें भाव और लिखित आकृतियों का परस्पर सामंजस्य होता है। कवि भी मानव है, परन्तु संसार की साधारण घटनाएँ, उसके विचार और भावों के कोमल अंगों को स्पर्श करती हैं। उसके शब्द केवल शब्द नहीं होते, अपितु उसके शब्द उसके मानस की झंकार, हर्ष, पीड़ा, सहानुभूति से युक्त विस्तृत कल्पनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। यदि कवि इन अद्भुत अनुभूतियों को अपने शब्दों में व्यक्त नहीं करता तो हम इन्हें कैसे जान पाते? रोबर्ट लिड् के शब्दों में "कल्पना की उपेक्षा करना, उस व्यक्ति के समान है जो अन्धा बनकर अर्थात् जान-बूझ कर ही दृष्टि के चमत्कार को मना करता है। यह कल्पना ही है जोकि हमारी आंखों से पर्दा हटाती है और वातावरण के प्रति हमें जागरूक करती है।[1]

अब प्रश्न यह उठता है कि अध्यापक छात्रों की कार्य साधक कल्पना का विकास कैसे कर सकता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पाठ्य-सामग्री और पाठन-विधि दोनों का ही समान महत्व है। स्वयं ज्ञान पद्धति द्वारा बालक-बालिकाओं को स्वप्रयत्न से नवीन ज्ञान के सृजन करने का अवसर देना चाहिए। इस प्रकार उन्हें एक खोजकर्ता अथवा वैज्ञानिक विचारक के समान उत्कृष्ट कल्पना प्राप्त हो सकेगी। कार्य करके सीखना (Learning by Doing) प्रत्यक्षात्मक प्रक्रिया है। काल्पनिक स्तर पर परीक्षण एवं निरीक्षण करना, उच्च स्तर की विचार प्रक्रिया है; जिसका नामकरण काल्पनिक विचार, प्रत्ययात्मक विचार अथवा तर्क के रूप में किया जा सकता है। रेखागणित, अंकगणित, विज्ञान, साहित्य, कविता, भूगोल और इतिहास आदि सामाजिक विषय कार्यसाधक कल्पना के विकास के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। इन विषयों के अध्यापन में व्यवहार, अभ्यास और क्रियाशीलता पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इनके सिद्धान्तों और नियमों का युक्तिसंगत प्रस्तुतीकरण होना चाहिये। संक्षेप में हम कह सकते है कि विचार, क्रिया, भाषा और कल्पना की उन्नति साथ-

---

1 To scorn the imagination, is to be a blind man deliberately refusing the miracle of sight. It is imagination that cleanses the scales from our eyes, and awakens our senses to real things that surround us" Quoted by Nunn from Lynd's work—*An Anthology of Modern Verse*.

साथ ही होती है। व्यावहारिक कल्पनारहित व्यक्ति भाषा पर अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता और उसमें उच्चस्तरीय विचारों की योग्यता भी उत्पन्न नहीं हो सकती है।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. कल्पना तथा प्रतिभा से आप क्या समझते हैं ? बालक की कल्पनाओं की विशेषतायें बताइये।
2. कल्पना का वर्गीकरण कीजिए और कल्पना के प्रत्येक प्रकार को विकसित करने के उपाय बताइये।

32

ज्ञानात्मक विकास

विचार प्रक्रिया-प्रत्यय, भाषा और तर्क
(Thinking Process—Concept Formation, Language and Reasoning)

विचार प्रक्रिया प्राय: दो स्तरों पर होती है :

(1) प्रत्यक्षात्मक स्तर (Perceptual Level)

(2) प्रत्ययात्मक अथवा विचारात्मक स्तर (Coceptual Level)

प्रत्यक्षात्मक स्तर की विचारक्रिया वह मानसिक क्रिया है, जिसमें किसी विशिष्ट वस्तु की उपस्थिति में उससे सम्बन्धित ज्ञान अथवा विचार इन्द्रिय संवेदनाओं द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचता है। प्रत्यक्ष ज्ञान का वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। इसमें ज्ञानेन्द्रियों की क्रियाशीलता, संवेदना, मस्तिष्क के केन्द्रों में संवेदना का संगठन और संगठन से वस्तु सम्बन्धी जानकारी होती है।

प्रत्यक्षात्मक स्तर के अतिरिक्त मानसिक विचारों में प्रतिमा, स्मृति-प्रतिमा (Memory Image) कल्पना और रचनात्मक कल्पनाओं का सहयोग रहता है। काल्पनिक विचार प्रक्रिया प्राय: इन्द्रिय संवेदनाओं से रहित होती है। परन्तु दृश्य और श्रव्य कल्पनाएँ विचार प्रक्रिया में अत्यधिक महत्वपूर्ण होती हैं। कुछ व्यक्ति दृश्य कल्पना-प्रधान (Audiles) होते हैं। विचारों का कल्पनात्मक होना अनुभव की एक विलक्षणता है, जिसका ज्ञान व्यक्ति को केवल अन्तर्दर्शन (*Introspection*) द्वारा स्वयं ही हो सकता है।

प्राय: जिन मानसिक क्रियाओं को विचार-क्रिया कहा जाता है, वे इस प्रकार हैं—

(क) पूर्व अनुभवों की स्मृति (Recollections)

(ख) भविष्य की कल्पना या दूरदर्शिता (Future Imaginations or Foresightedness)

(ग) वर्तमान परिस्थितियों में कार्य के लिए उपयुक्त मार्ग खोजना अथवा उपयुक्त निर्णय करना (Judgement)

(घ) गम्भीर समस्याएँ हल करना (Problem-solving)

(ङ) तर्क उपस्थित करना (Reasoning)

जीवन में किसी समस्या अथवा बाधा के उपस्थित होने पर विचार क्रिया का

प्रारम्भ होता है। विचार का उद्देश्य उस समस्या का हल निकालना, अथवा बाधा का निराकरण करना होता है। विचार एक सप्रयोजन मानसिक क्रिया है। यदि विचार का विस्तृत अभिप्राय निश्चित किया जाय, तो इसका तात्पर्य यह है कि समस्त पशु-पक्षियों में भी विचार करने की क्षमता होती है।[1] परन्तु यहाँ पर हमारा अभिप्राय विचार के सीमित अर्थ से है, जिसमें व्यक्ति, भाषा, प्रत्यय, तर्क और निर्णय के आधार पर विचार करता है। इसे मनोविज्ञान में प्रत्ययात्मक विचार कहते हैं—

विचार प्रक्रिया

विचार क्रिया के कुछ साधन इस प्रकार हैं—

(1) वस्तुगत प्रत्यक्षज्ञान, पुनश्चेतना और वस्तुगत कल्पना
(2) प्रत्ययन (Concepts)
(3) प्रतीक और चिन्ह (Symbols and Signs)

वस्तुगत प्रत्यक्षज्ञान, पुनश्चेतना और वस्तुगत कल्पना।

(अ) मूर्त या विशिष्ट वस्तु की कल्पना—किसी शब्द का अभिप्राय समझने के लिए हम मूर्त कल्पनाओं का प्रयोग करते हैं जैसे—'पिता' शब्द पर विचार करने से अपने मन में पिता की कल्पना का उत्पन्न होना। 'मालिश' शब्द से हम शरीर पर हाथ फिराने अथवा रगड़ने की कल्पना करते हैं।

(ब) सामान्य वस्तु अथवा उदाहरण—जब हम किसी वस्तु का उदाहरण देते हैं, तो हमारा अभिप्राय उस उदाहरण में सामान्य वस्तु से होता है। प्रायः रेखागणित के अध्ययन में इसी प्रकार की सामान्य आकृतियों का उल्लेख किया जाता है। 'त्रिभुज' शब्द से हमारा अभिप्राय किसी विशेष त्रिभुज से नहीं होता। परन्तु जब अध्यापक श्यामपट पर एक त्रिभुज बना देता है, तो त्रिभुज शब्द का अर्थ इस विशिष्ट त्रिभुज से सम्बन्धित हो जाता है।

(स) वस्तुगत गुण और क्रियाशीलता—प्राय. किसी समस्या को हल करते समय हम वस्तुओं का निरीक्षण करते हैं। इन वस्तुओं से केवल दृश्य अथवा श्रव्य-सवेदना ही नहीं मिलती, अपितु पूर्वज्ञान और अनुभव के आधार पर इनके गुण, अर्थ और कार्यों का बोध भी होता है। जैसे—हमें बर्फ ठण्डी और भारी दिखाई देती है। यहाँ देखने की क्रिया अधिक अभिप्रायपूर्ण है। इसी प्रकार पत्थर कठोर और भारी दिखाई देता है, अतएव यहाँ पर पत्थर की शिला से कठोरता और भार की कल्पना भी उत्पन्न हो जाती है।

2. प्रत्यय (Concepts)

प्रत्यय, विचार प्रक्रिया में एक सामान्य विचार (General Idea) है। इससे सदैव किसी वस्तु के सामान्य वर्ग (General Class) का बोध होता है। हम "पक्षी" का प्रत्यय कैसे प्राप्त करते हैं? हमने पहले अनेक प्रकार के पक्षी देखे हैं जैसे—बया, गौरैया, तोता, मोर, कबूतर एवं कौआ इत्यादि और उनकी शारीरिक

1 "Thinking is, "conscious adjustment of an organism to a situation." Collins and Drever : *Experimental Psychology*, p. 210.

विषमताओं और समानताओं का निरीक्षण भी किया है। अतएव हमने उनकी समानताओं की ओर विशेष ध्यान देकर, समान गुणों का एक अमूर्त संगठन बनाया—जैसे, दो पैर, पंख, चोंच, उड़ना एवं अंडे देना आदि। इसके साथ ही साथ हमने असमानताओं की अवहेलना की अथवा उनकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। इस प्रकार अन्त में व्यापक गुणों अथवा तत्वों के सामान्यीकरण द्वारा एक सामान्य विचार अथवा प्रत्यय निर्मित हुआ, जिसको हम "पक्षी" नाम से सम्बोधित करते हैं।

उपरोक्त विधि प्रत्यय या सामान्य विचार बनाने की तार्किक विधि है। इसकी क्रमानुसार निम्नलिखित दशाएँ होती हैं :

(क) तुलना (Comparison)
(ख) अमूर्तिकरण (Abstraction)
(ग) सामान्यीकरण (Generalization)
(घ) नामकरण (Naming)

प्रत्यय ज्ञान और शिक्षा—कक्षा-शिक्षण में पाठ्यवस्तु का प्रस्तुतीकरण अधिकांश रूप से उपरोक्त क्रमानुसार ही होता है। अध्यापक प्रश्नों द्वारा वस्तुओं में समान अथवा विरोधी गुणों को स्पष्ट करता है। 'मूर्त से अमूर्त की ओर' के सिद्धान्त का भी प्रयोग किया जाता है। सामान्यीकरण द्वारा कोई नियम, सिद्धान्त अथवा निष्कर्ष स्थापित किया जाता है। परिभाषाएँ प्रायः इसी विधि से पढ़ाई जाती हैं और अंत में जिस वस्तु की परिभाषा की जाती है उसका नामकरण भी उससे सम्बन्धित ही होता है। इसके द्वारा ही बालक-बालिकाओं को तार्किक ढंग से किसी भी विषय का सैद्धान्तिक अनुशीलन कराया जाता है। इस प्रकार से तर्क करने का ढंग **अगमन विधि** (Inductive Method) भी कहलाता है। अगमन विधि से प्रत्यय का निर्माण होता है। इस प्रत्यय को जब हम जीवन में अन्यत्र प्रयोग करते हैं, तो उसे विचार करने की **निगमन विधि** (Deductive Method) कहते हैं। उच्च स्तर की विचार क्रिया में या तर्क में अगमन और निगमन दोनों ही विधियों का प्रयोग होता है।

प्रत्यय ज्ञान का मनोवैज्ञानिक ढंग, तार्किक विधि की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक और सरल है। उदाहरणार्थ—'कुत्ता शब्द' और 'कुत्ता प्रत्यय' ये दोनों ही हमारे विचारों में स्थान पा सकते हैं। "मोहन अपने कुत्ते को पुकारता है।" यहाँ कुत्ते से हमारा अभिप्राय एक विशिष्ट कुत्ते से है। इस वाक्य को सुनते ही हमारे मन में मोहन के कुत्ते की दृश्य-प्रतिमा उपस्थित हो सकती है। इस वाक्य को समझने में हम 'कुत्ता' प्रत्यय का प्रयोग नहीं करते। लेकिन, यदि मनोविज्ञान की किसी पुस्तक में हमारी दृष्टि "कुत्ते की अभिसंधानित प्रतिक्रिया के" अध्याय पर पड़ती है, तो हम इस शीर्षक को समझने में कुत्ता प्रत्यय का प्रयोग करते हैं। यहाँ हमारा अभिप्रायः सामान्य कुत्ते से होता है। इस शीर्षक को विचार में लाते ही हमारे मन में सामान्य कुत्ते की प्रतिमा उपस्थित हो जाती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि उपरोक्त उदाहरण में सामान्य और विशिष्ट प्रतिमाओं में क्या अन्तर अथवा समानता हो सकती है? सामान्य और विशिष्ट प्रतिमाएँ एक ही हैं अथवा भिन्न हैं? हाँ, दोनों दशाओं में कुत्ते की एक ही

प्रतिमा हमारे मन में बन सकती है। परन्तु प्रत्येक प्रतिमा की अपनी विशिष्टता होगी। हमारे मन में संस्कार और अनुभवों द्वारा कुत्ता सम्बन्धी ज्ञान विशिष्ट से सामान्य की ओर प्रगति कर चुका है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि प्रत्यय-ज्ञान स्तर पर कुत्ते की विशिष्ट प्रतिमा से वे सभी तत्व सम्बन्धित हो जाते हैं जोकि हमें सीखने अथवा अनुभव द्वारा प्राप्त हुए हैं। वुडवर्थ के शब्दों में—प्रत्यय उन सबका योग है, जो कुछ भी आप किसी वस्तु के बारे में जानते हैं।[1]

प्राउन्ड वर्क ऑफ एजूकेशनल साइकोलोजी के आधार पर—"सामान्य धारणाएँ वे आदर्श योजनाएँ एवं मानसिक श्रेणियाँ हैं जोकि हमें इस योग्य बनाती हैं कि हम अपने विचारों के उद्देश्यों की व्याख्या कर सकें चाहे वे चिरस्थायी या काल्पनिक हों, उनको इस प्रकार भी सोचा जा सकता है कि वे क्रियाशील समर्थ प्रवृत्तियाँ हैं जोकि हमारी समझ को निर्देशित एवं संचालित करती हैं।"[2]

विचार प्रक्रिया में प्रत्यय का प्रतिनिधि उससे सम्बन्धित प्रतीक होता है। प्रतीक एक स्थूल, विशिष्ट वस्तु है, जोकि हमारे विचारों में किसी सामान्य वर्ग के प्रतिनिधि का कार्य करता है, जैसे चौराहे पर लाल-हरी बत्तियाँ पुलिस की शक्ति का प्रतीक होती हैं। 'दो' शब्द दुगने अथवा द्वैत का प्रतीक होता है।

(3) प्रतीक और चिह्न (Symbols and Signs)

प्रतीक, चिह्न भी बन सकते हैं क्योंकि चिह्नों को देखकर भी हम सचेत होकर प्रतिक्रिया करने लगते हैं अथवा विचार करते हैं। उदाहरणार्थ—आकाश में बिजली का चमकना बादलों की शक्ति का प्रतीक है। इसी प्रकार क्षितिज पर उठते हुए बादलों की कड़क वर्षा होने का प्रतीक है। इस चिह्न को देखकर हम समझ लेते हैं कि अब वर्षा होगी और वर्षा आने से पहले हमें अपने घर अथवा किसी अन्य सुरक्षित स्थान पर पहुँच जाना चाहिए। इसी प्रकार चौराहे पर बत्तियों के चिह्न (लाल, हरी, पीली बत्तियाँ) को देखकर हम आगे बढ़ने अथवा रुकने का निर्णय करते हैं। गणित तथा वैज्ञानिक विषयों के अध्ययन में चिह्नों का ही अधिक प्रयोग होता है।

प्रतीक और चिह्न विचार प्रक्रिया का एक उपयोगी साधन है। विचार प्रक्रिया की सफलता चिह्नों के उपयुक्त प्रयोग पर ही निर्भर करती है। अकगणित, बीजगणित और विज्ञान में अधिकतर हम प्रतीक और चिह्नों का ही प्रयोग करते हैं। गणित में प्रतीकों का प्रयोग करने से पूर्व प्रतीकों के सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए नये प्रतीकों और चिह्नों के निर्माण द्वारा गणित का ज्ञान सतत् रूप से आगे बढ़ता है। उच्च-स्तरीय गणित में हम उस विशिष्ट वस्तु अथवा ज्ञान से बहुत दूर चले जाते हैं, जिसके लिए प्रारम्भ में प्रतीक अथवा चिह्न प्रयुक्त किये गये थे। वास्तव में उच्च-गणित में

---

1 "The concept is the sum total of what you know about the object."
—R. S. Woodworth : *Psychology—A study of mental life*, p. 543.

2 "Concepts are patterns schemes or mental categories which enable us to interpret the objects of our thought, whether perpetual or imaginative, they are to be thought of as active cognitive disposition which direct and govern our apprehension" —Ross *Groundwork of Educational Psychology*. p. 202.

अत्यधिक प्रतीकात्मक भाषा का ही प्रयोग होता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से गणित की प्रतीकात्मक भाषा और साधारण बोलचाल की भाषा में कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार जब कवि साहित्यिक कल्पनाओं की ऊँची उड़ान भरता है तो उसकी भाषा भी प्रतीकात्मक बन जाती है। वैज्ञानिक अपने निष्कर्षों को प्रतीकात्मक भाषा में ही व्यक्त करते हुए कितनी सरलता से विस्तृत खोजों और परीक्षणों के परिणामों को प्रचलित करते हैं। विज्ञान में पूर्व स्थापित प्रतीकों का प्रयोग नवीन प्रतीकों की खोज के लिए होता है।

समस्या समाधान और तर्क

जॉन ड्यूवी के अनुसार मननपूर्ण विचारप्रक्रिया (Reflective Thinking) की क्रमश : पांच दशाएँ होती हैं। किसी समस्या का समाधान करने में तर्क की प्रक्रिया निम्नलिखित पांच सोपानों में पदार्पण करती है।

(क) **किसी समस्या, कठिनाई अथवा परिस्थिति की ओर ध्यान आकर्षित होना**—वास्तव में विचार के उत्प्रेरक, जीवन की कठोर परिस्थितियाँ अथवा समस्यायें ही हैं। अतएव इनकी ओर ध्यान के एकाग्र होते ही विचार-प्रवाह उमड़ने लगता है।

(ख) **समस्या की परिभाषा**—किसी समस्या की ओर ध्यान आकर्षित होते ही हम उस समस्या का रूप, आकार और क्षेत्र निश्चित करते हैं तथा इसे अन्य समस्याओं से भिन्न करके ही इसका निरीक्षण करते हैं।

(ग) **समस्या से सम्बन्धित सूचना और प्रदत्त (Data) एकत्रित करना**—समस्या का निश्चित ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् हम उससे सम्बन्धित उपयोगी तथ्य एकत्रित करते हैं। विशेष उद्देश्य से तथ्य और सूचनाओं का चयन भी करते हैं और उन्हें समस्या के समाधान हेतु प्रयुक्त करते हैं।

(घ) **एक परिकल्पना (Hypothesis) का मूल्यांकन करना**—उपरोक्त विचारों के पश्चात् ही व्यक्ति किसी निर्णय अथवा निष्कर्ष पर पहुँचता है। इसे ही सामान्यीकरण भी कहते हैं।

(ङ) **प्रमाणित करना**—अन्त में निष्कर्ष अथवा निर्णय को समानान्तर परिस्थितियों में प्रयुक्त करके उसकी प्रमाणिकता सिद्ध की जाती है। विचार की प्रथम चार दशाओं को अगमन (Induction) और अन्तिम दशा को निगमन (Denuction) भी कह सकते हैं।

तर्क के मनोवैज्ञानिक लक्षण

(1) पूर्व अनुभवों को वर्तमान समस्या के हल करने के लिए उपयोग में लाना।[1]

(2) तर्क क्रियाशील है, इसमें प्रयत्न और भूल विधि भी प्रयुक्त होती है।

(3) तर्क में कार्य तथा कारण का सम्बन्ध स्थापित होता है।[2]

---

1 "Combining past experiences in order to solve a problem."—Munn. p. 339.

2 "Reasoning is the word used to describe the mental recognition of caus and effect relationship."
—Skinne

(4) तर्क करने में व्यक्ति आगे और पीछे देखता है।[1]

(5) तर्क मे अनुभवों का पुनर्संगठन होता है।

(6) "तर्क में विचारों का प्रवाह एक विशेष दिशा में होता रहता है।"[2]

भाषा में प्रतीकों का प्रयोग होता है, अतः भाषा विचार करने का सर्वोत्तम माध्यम है। भाषा में प्रयुक्त शब्द एक चिह्न का कार्य करते हैं। इन चिह्नों का एक विशेष अर्थ होता है। ये चिह्न लिखे जा सकते हैं; पढ़े जा सकते हैं और बोले भी जा सकते हैं। अभिसंधानित प्रतिक्रिया द्वारा कुत्ता भी प्रतीकों का प्रयोग सीख लेता है। उदाहरणार्थ—घंटी की ध्वनि से उसके मुंह मे लार उत्पन्न हो जाती है अतएव घंटी बजाना,उसके लिए भोजन का प्रतीक है। मानव की भाषा भी इस प्रकार प्रतीकात्मक प्रतिक्रिया करने का एक सुविकसित साधन है। मानवीय भाषाओं के मुख्य कार्य निम्न प्रकार हैं।

भाषा और विचार क्रिया

(1) सामाजिक परिस्थितियों में भी एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक विचारों का आदान-प्रदान भाषा द्वारा ही होता है।

(2) सामाजिक परिस्थिति में भी भाषा दूसरों को कार्य करने के लिए उत्तेजित करती है।

(3) भाषा के प्रयोग से ही बोलने वाले के मन का तनाव (Tension) लुप्त हो जाता है। अतएव यह भाषा का रेचन कार्य है।

(4) भाषा का मूल कार्य विचार क्रिया को अग्रसित करना है। हम शब्द अथवा वाक्य के बिना विचार ही नहीं कर सकते। प्रत्येक शब्द प्रत्ययन वाहक का कार्य करता है।

(5) भाषा की सहायता से ही विचार प्रक्रिया में अवधान भी सरलता से केन्द्रित हो जाता है। शब्दों के बिना विचारों को मन में धारण करना अत्यन्त कठिन है।

भाषा मानव की आवश्यकीय मानसिक शक्ति है जो गहन रूप में उलझी हुई मानसिक प्राकृतिक घटना है। जो शब्दों के उच्चारण के लिए केवल स्नायुशक्ति के उपकरण को ही सम्मिलित नही करती, जोकि वस्तुओं एवं क्रियाओं के लिए बोले जाने वाले चिह्न हैं। अपितु यह विशिष्ट चिह्नों के लिए बोले जाने वाले शब्दों की श्रवण द्वारा पहिचान है। यह दृश्य प्रभावों, जैसे कि हाव-भाव, आहें भरना आदि चित्रवत् या रेखांकित चिह्नों का विश्लेषण ही नही है वरन यह एक सुरचित सामजस्यपूर्ण यन्त्रवत् क्रिया है जोकि यथासम्भव सुने जाने वाले चिह्नों द्वारा वाक्य विन्यास का मिश्रण हैं जिनसे कि भाषा का निर्माण होता है।[3]

---

1 "Looks Before and After."

2 "A connected flow of ideas which are directed towards some end or purpose." —Valentine, p. 287.

3 "Speech, the essential human faculty, is an extremely complicated mental phenomenon, involving not merely the functioning of the neuromotor apparatus for uttering words, that is vocal symbols for things and actions, (Contd.)

चिन्तन के अनुकूल दशाएँ

(1) **प्रबल प्रेरणा**—प्रेरणा के अभाव में विचार अथवा चिन्तन की क्रिया शिथिल पड़ जाती है या लक्ष्य की ओर नहीं बढ़ती।

(2) **रुचि और ध्यान का बना रहना चिन्तन में बहुत सहायक सिद्ध होता है**—रुचि के अभाव में ध्यान भी भटक जाता है और चिन्तन की क्रिया अवरुद्ध हो हो जाती है।

(3) **सतर्कता या सावधानी**—चिन्तन को त्रुटियों से मुक्त रखने के लिए सावधान (Alert) रहना चाहिए।

(4) **लचीलापन**—चिन्तन को किसी पूर्व धारणा या अन्ध-विश्वास से बचाने के लिए दृष्टिकोण लचीला होना चाहिए।

(5) **बुद्धि का विस्तृत उपयोग**—चिन्तन में किसी भी समस्या के सभी पहलुओं पर, विस्तार से विचार करना चाहिए। समस्या के सभी क्षेत्रों पर गहन दृष्टि (आगे और पीछे) पड़नी चाहिए।

(6) **पर्याप्त समय देना**—जल्दबाजी में चिन्तन ठीक नहीं होता है। अतएव सावधानीपूर्वक चिन्तन हेतु पर्याप्त समय की आवश्यकता है।

(7) **निर्धारित क्षेत्र और सीमा**—चिन्तन के असीमित होने से भी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं, अतएव समस्या का क्षेत्र स्पष्ट होना चाहिए।

(8) **गर्भीकरण**—चिन्तन से तुरन्त ही समस्या का हल नहीं निकलता अपितु समय लगता है। अतः मस्तिष्क को उस समस्या का गर्भीकरण करने का अवसर मिलना आवश्यक है।

शब्दों के अभाव में हम अपने विचारों को स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं कर सकते। अतएव बौद्धिक उन्नति के लिए भाषा ज्ञान की भी अभिवृद्धि होना आवश्यक है।

भाषा ज्ञान और बुद्धिमत्ता

जिन व्यक्तियों में भाषा के ज्ञान की कमी होती है, उन्हें अपने विचार व्यक्त करते समय उपयुक्त शब्दों की खोज करनी पड़ती है। इसके लिए उन्हें बीच-बीच में रुकना पड़ता है। बुद्धि परीक्षाओं के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि बुद्धमत्ता और विस्तृत शब्द ज्ञान में परस्पर उच्च सह सम्बन्ध है इसीलिए अनेक बुद्धि परीक्षाओं में भाषा योग्यता (Language Ability) का परीक्षण किया जाता है। डमविले के शब्दों में—"मानव जाति की भाषा के विकास का इतिहास बुद्धि के विकास का इतिहास है। भाषा के आधार पर निम्न पशुओं की तुलना में मनुष्य की श्रेष्ठता की व्याख्या पूर्ण रूप से की जा सकती है। सभ्यता के विकास के साथ ही भाषा का विकास हुआ है और यही बात व्यक्ति के जीवन में भी सत्य है। प्रारम्भ में शिशु केवल मूर्त से ही कार्य चलाता है, जबकि आयु में वृद्धि होने पर विचारों व शिक्षा से; अतः यह किसी

---

the auditory recognition of the spoken word as a specific symbol. The interpretation of visual impressions such as gestures, signs and pictorial or graphic symbols, but also an elaborate associational mechanism rendering possible the syntatic combination of auditory symbols which constitute language." Chapter—"Human Origin and early man," *General enthropology*. *Edited* by F. Boas.

सीमा तक भाषा सम्बन्धी आदतों का ही विकास है। किसी भी प्राणी की बुद्धि का एकमात्र सर्वश्रेष्ठ मापन उसके शुद्ध ज्ञान का आकार है।"[1]

बालक के शब्द ज्ञान की वृद्धि अनेक पारिवेशिक प्रभावों पर निर्भर करती है। शहरी बच्चों का शब्द ज्ञान देहाती बच्चों से भिन्न होता है। कुछ विद्वान शाब्दिक योग्यता (Verbal Ability) को एक विशेष मानवीय शक्ति मानते हैं। अनेक बुद्धि परीक्षाओं के परिणामों का सांख्यिक विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि प्रबल शाब्दिक योग्यता वाले बालक-बालिकाओं में तर्क योग्यता (Reasoning Ability) भी प्रबल होती है।

बालक-बालिकाओं को अमूर्त वस्तु का आशय ग्रहण करने में विशेष कठिनाई होती है। जैसे—प्रजातन्त्र, न्याय, सहनशीलता आदि। ऐसे प्रसंगों को स्पष्ट करने के लिए अध्यापकों को स्थूल उदाहरण प्रस्तुत करने चाहिए। यदि उदाहरण, बाल अनुभूति का एक अंग है, तो उस वस्तु के प्रत्यय ज्ञान का निर्मित होना और भी सरल हो जाता है। बालक की समझ का आधार उसका अनुभव है। शिक्षा में इसका अत्यधिक उपयोग होना चाहिए। 'ज्ञात से अज्ञात की ओर' 'मूर्त से अमूर्त की ओर', इन नियमों में ज्ञात और मूर्त से हमारा अभिप्राय बालक के अनुभव, ज्ञान और मूर्त अनुभवों से है। कुछ मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि किशोरावस्था से पहले अमूर्त विचारों पर बल नहीं देना चाहिए, क्योंकि अमूर्त विचार, जैसे—न्याय, दयालुता आदि का बालक सही अर्थ नहीं समझ सकते। बर्ट (Burt) ने अपनी बुद्धि परीक्षा में उपरोक्त शब्दों का परीक्षण 13 वर्ष की आयु वाले बालकों के लिए किया। टरमैन और मैरिल ने 12 वर्ष की आयु में ऐसे पारिभाषिक शब्दों (हिम्मत, सुरक्षा, दान) का परीक्षण करना उपयुक्त समझा।[2]

बालक बहुत से शब्द केवल अनुकरण से ही सीख लेते हैं और उनका सही अर्थ समझे बिना भी प्रयोग करने लगते हैं। स्वयं लेखक ने $2\frac{1}{2}$ से वर्ष 3 की आयु के बालक-बालिकाओं को 'गदा, झूठा और चुगली' आदि शब्दों का प्रयोग करते देखा है। बिने (Binet) ने अपनी दो बालिकाओं (आयु 13 वर्ष और $14\frac{1}{2}$ वर्ष) को कोई 20 शब्द कागज पर लिखने को कहा। इन बीस शब्दों में से दूसरी बालिका को दो-तिहाई शब्दों का ज्ञान था और पहली (13 वर्ष की आयु वाली) बालिका को 20 में से केवल 1 शब्द के सही अर्थ का बोध था। इस परीक्षण से यह निष्कर्ष निकलता है कि छोटी आयु में बच्चों के शब्द ज्ञान को अनावश्यक रूप से विस्तृत करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

सी० डब्ल्यू० वैलन्टाइन के अनुसार वस्तुओं के सम्बन्धों का बोध करना,

---

1 "The history of the develop[illegible]ent of language of the race is the history of the growth of intelligence Men's superiority over lower animals can be explained almost completely on the basis of language Language keeps pace with the growth of civilization The same is true in the life of the individual. At first the infant deals only with the concrete; later with [illegible] language habits. The [illegible]al is the size of his [illegible] 127

2 [illegible]

मानव मस्तिष्क की एक प्रवृत्ति अथवा मूल योग्यता है। बर्ट ने इसे विशेष योग्यता माना है। यदि पाठक के समक्ष दो शब्द 'अच्छा' और 'बुरा' आते हैं, तो मस्तिष्क में स्वाभाविक रूप से ही उनके सम्बन्ध (वैपरीत्य) की उत्पत्ति होती है। बालक प्रारम्भ में केवल मूर्त वस्तुओं के सम्बन्धों की ही खोज करता है, परन्तु धीरे-धीरे अनुभव की वृद्धि होने पर वह अमूर्त विचारों के सम्बन्ध को भी समझने लगता है। प्रारम्भिक बाल्यकाल में बुद्धिमत्ता का स्तर प्रत्यक्षात्मक होता है। स्पीयरमैन ने मूर्त वस्तुओं अथवा आकृतियों के आधार पर ही बालकों के सम्बन्ध ज्ञान का परीक्षण किया। उदाहरणार्थ—जैसे— ᑌ के लिए ᑎ इसी प्रकार ▽ के लिए इनमें से कौनसा ▷ D ▽ ? एक बालक चाहे वह इन आकृतियों का नाम नहीं जानता, परन्तु वह इस प्रश्न का सही उत्तर ढूंढ़ सकता है, वह ᑌ और ᑎ के सम्बन्ध को समझकर ▽ और △ के सम्बन्ध को पहचान सकता है। इस प्रकार बालक को वस्तुओं के पारस्परिक प्रारम्भिक सम्बन्धों का बोध 3 या 4 वर्ष की आयु में होने लगता है। परन्तु मन्द बुद्धि बालक अधिक आयु में ही इन सम्बन्धों को ग्रहण कर सकता है।

सम्बन्ध बोध और भाषा

सम्बन्ध बोध की दृष्टि से यहां पर प्रोफेसर स्पीयरमैन के ज्ञान चेष्टा सम्बन्धी निम्नलिखित दो नियमों का उल्लेख अधिक उपयुक्त होगा।

"किसी एक या दो व्यक्तियों का मानसिक प्रस्तुतीकरण हमें तुरन्त इस बात की ओर इंगित करता है कि हम उनके आपस के सम्बन्धों का ज्ञान प्राप्त करें।"

"किन्हीं भी उद्देश्यों का किसी भी सम्बन्ध में एक साथ प्रस्तुतीकरण हमें इस ओर जागृत करता है कि उनके चारित्रिक सह सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त किया जाय।"[1]

1. सम्बन्धों के शिक्षण का नियम
(The Law of Education of Relations)

जब दो वस्तुएँ या पात्र मन के समक्ष एक साथ आते हैं तो व्यक्ति का मन उनके सम्बन्धों को समझ लेता है। जैसा कि निम्नांकित उदाहरणों में प्रदर्शित किया गया है :

पहिला विचार	दूसरा विचार	सम्बन्ध बोध
कालिमा	सफेदी	वैपरीत्य
गाय	कुत्ता	चौपाये
अग्नि	जलना	कारण और कार्य
		वैज्ञानिक सम्बन्ध

(2) सहसम्बन्धों के शिक्षण का नियम
(The Law of Education of Correlates)

इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तुओं अथवा पात्रों के साथ-साथ उपस्थित होने

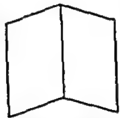
1 "The mentally presenting of any two or more characters (simple or complex) tends to evoke immediately a knowing of relation between them."
2 "The presenting of any objects together with any relation tends to evoke immediately a knowing of the correlative character."—Spearman : *The Nature of Intelligence' and the Principle of cognition*, p. 265 and 276.

से मन उन वस्तुओं अथवा पात्रों के सहसम्बन्धों की खोज कर लेता है। यदि उपरोक्त उदाहरण में पहला विचार (कालिमा), और सम्बन्ध बोध (वैपरीत्य) एक साथ प्रस्तुत किये जाएँ तो हमारा मन दूसरे विचार (सफेदी) को तुरन्त खोज लेगा।

पहिला विचार	दूसरा विचार	सम्बन्ध बोध
कालिमा	——	वैपरीत्य
गाय	कुत्ता	——
——	जलना	कार्य और कारण

प्रायः दृष्टान्तों और उपमाओं में ये दोनों नियम एक साथ ही कार्य करते हैं, जैसे :—

'चन्द्रमा पृथ्वी के लिए है जिस प्रकार पृथ्वी""के लिए है' उपरोक्त वाक्य में हमारा मन रिक्त स्थान के लिए 'सूर्य' शब्द की खोज कर लेता है। परन्तु प्रश्न उठता है कि यह कैसे सम्भव होता है। मन स्वाभाविक रूप से वस्तुओं में सम्बन्धों की खोज करता है। यहाँ हमारा मन अविलम्ब चन्द्रमा का पृथ्वी से सम्बन्ध बोध (उपग्रह होना) कर लेता है। और इस ज्ञान को हम वाक्य के अगले भाग में प्रयुक्त करते हैं, अतः इन दोनों नियमों के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि विचार प्रतिक्रिया में हमारा मन किस प्रकार कार्य करता है।



ये नियम विचार के सभी स्तरों पर प्रयुक्त होते हैं। हमारा मन पूर्व संस्कारों के आधार पर वस्तुओं में सम्बन्ध या निकटता, या अर्थ या अभिप्राय अथवा कार्य-कारण का ज्ञान (वैज्ञानिक सम्बन्ध) या पारस्परिक प्रभाव को तुरन्त समझ लेता है। जहाँ मन की यह क्रिया सफल नहीं होती, वहीं, विचार स्थिर हो जाते हैं अथवा उनकी प्रगति नहीं होती। संलग्न चित्र को देखकर हमारे मन में दो प्रकार की प्रतिमाएँ उत्पन्न हो सकती हैं। एक में कागज का मोड़ ऊपर उठा हुआ प्रतीत होता है और तुरन्त ही दूसरी प्रतिमा में कागज का मोड़ अन्दर की ओर दिखायी पड़ता है। हमारा मन दोनों प्रतिमाओं को क्रमानुसार उत्पन्न करता है; एक साथ नहीं। किसी वस्तु अथवा विचार (Idea) का अर्थ (Meaning) उस वस्तु की देन नहीं है, अपितु हमारे मन की अपनी कृति है। हमारा मन पूर्वाजित ज्ञान, भाषा, और विचारों की पृष्ठभूमि से नवीन संवेदना अथवा प्रत्यक्षीकरण का अनुशीलन करता है। अवयवीवादी भी वस्तु अथवा संवेदना की अपेक्षा पृष्ठभूमि को अधिक महत्व देते हैं।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. प्रत्यय ज्ञान और विचार प्रक्रिया में क्या सम्बन्ध है ? बालकों के प्रत्यय ज्ञान को स्पष्ट करने के लिए आप क्या उपाय काम में लायेंगे ?
2. चिन्तन के मुख्य अंग क्या हैं ? चिन्तन में प्रतीक चिह्न और भाषा की क्या उपयोगिता है ?
3. "तर्क प्रारम्भ किसी समस्या से होता है।" इस कथन का विवेचन कीजिये।

33

ज्ञानात्मक विकास—5

भाषा, अर्थ और समझ का विकास
(Development of Language, Meaning and Understanding)

बालक समाज में जन्म लेता है और सामाजिक वातावरण में ही वृद्धि को प्राप्त होता है, समाज में ही वह वार्तालाप अथवा बोल-चाल द्वारा अपने विचार व्यक्त करने की कला सीखता है। यह कला भाषा-ज्ञान के साथ विकसित होती है। यदि जन्म के समय बालक का स्वास्थ्य सामान्य होता है तो उसमें भाषा सम्बन्धी सभी शारीरिक योग्यताएँ भी विद्यमान रहती हैं। भाषा विकास के स्तर क्रमशः इस प्रकार हैं—

सामाजिक जीवन और भाषा

(1) भेद शारीरिक प्रतिक्रिया।
(2) मुँह में शब्द बुदबुदाना।
(3) साधारण शब्दों का प्रयोग।
(4) एक शब्द के पूर्ण अर्थ वाले वाक्यों का प्रयोग।
(5) मौखिक एवं लिखित रूप में शब्दों को मिलाकर विचार व्यक्त करना।
(6) कलात्मक भाषा पर अधिकार।

भाषा योग्यता का विकास—एक बालक से दूसरे बालक में और एक ही बालक में भिन्न-भिन्न समय पर भाषा की योग्यता में समानता नहीं होती। किन्तु उपरोक्त क्रम की कोई सीमा अथवा अवधि भी निश्चित नहीं होती। भाषा का सामाजिक महत्व होता है। जीवन के प्रारम्भ से ही बालक अपनी आवश्यकताओं को व्यक्त करने के लिए अपनी आयु के अनुसार संकेत अथवा भाषा का प्रयोग करता है। तीसरे सप्ताह में वह चिल्लाकर भूख अथवा पीड़ा को व्यक्त करता है। अनुभव के आधार पर उसका चिल्लाना एक अभिसंधानित प्रतिक्रिया बन जाता है। जीवन के प्रारम्भिक महीनों में बालक अपने कण्ठ से निरर्थक ध्वनियाँ उत्पन्न करता है। माता-पिता से उत्तेजना पाकर अथवा स्वयं ही प्रसन्नतावश वह कुछ ध्वनियों को दोहराने लगता है। 3 से 8 माह की आयु में वह दा दा, मा मा, ता ता, आदि शब्द बोलना सीख लेता है। शिशु बोलने के साथ-साथ ही अनुकरण द्वारा हाव-भाव प्रदर्शित करना भी सीखता है। वह बोलने के साथ ही चेहरे पर भाव परिवर्तन करता है और हाथ-पैर से भी

संकेत करता है। किन्तु भाषा-ज्ञान की अभिवृद्धि एवं परिपक्वता के साथ ही शारीरिक प्रतिक्रियाएँ कम होती जाती हैं।

सामाजिक रुचियों, विचारों और आवश्यकताओं की वृद्धि के साथ ही बालक का भाषा ज्ञान भी परिमार्जित होने लगता है। वह अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए भाषा सम्बन्धी निम्नलिखित बातें सीखता है :—

(1) दूसरों की बोली समझना।
(2) अपने शब्द-ज्ञान का विस्तार करना।
(3) शब्दों का सही उच्चारण करना।
(8) उपयुक्त वाक्य का निर्माण करना।

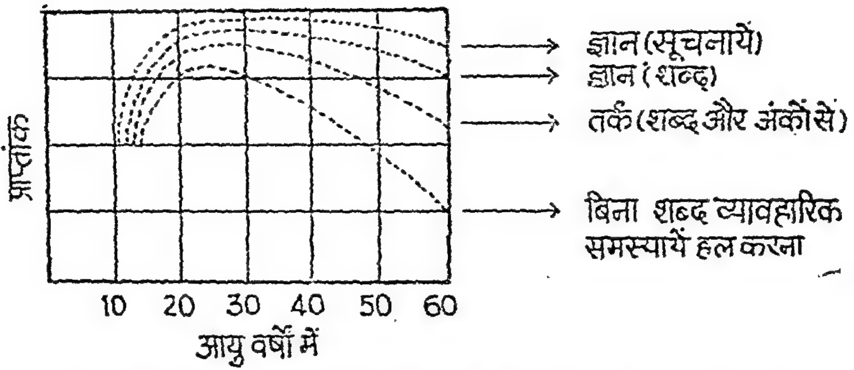
बाल्यकाल तक भाषा ज्ञान की वृद्धि

आयु	भाषा ज्ञान अथवा भाषा व्यवहार
जन्म से एक वर्ष तक	निरर्थक शब्दों का बुदबुदाना, मुँह से ध्वनि करना।
1 से $1\frac{1}{2}$ वर्ष तक	एक शब्द वाले वाक्यों का प्रयोग जैसे—दुद्दू (जिसका तात्पर्य होता है, मुझे दूध चाहिए)।
$1\frac{1}{2}$ से $2\frac{1}{2}$ वर्ष तक	सरल वाक्यों का प्रयोग दुद्दू दे, ची ची आई।
$2\frac{1}{2}$ से 3 या 4 वर्ष तक	जटिल वाक्यों का प्रारम्भ। पूँछताछ का प्रारम्भ : पदार्थों के गुण और कार्यों का साधारण ज्ञान।
3 से 4 वर्ष तक	एक या दो शब्दों के वाक्य बोलता है। कभी-कभी लम्बे वाक्यों का प्रयोग भी करता है। सर्वनामों का प्रयोग होने लगता है। वाक्यों की जटिलता।
4 से 5 वर्ष तक प्रारम्भिक बाल्यकाल	वाक्य-रचना में सुधार, अधिक बातें करना, प्रश्न पूछना, मौखिक वार्तालाप पर पर्याप्त नियन्त्रण, अनेक शब्दों के अर्थ और समझ की कमी।
उत्तरबाल्यकाल	सीखने के लिए भाषा का प्रयोग, अधिक लम्बे वाक्य या भाषण का समझना व्याकरण का बोध होना। भाषा के उच्चारण की शुद्धता और स्पष्टता। बुद्धिमत्तापूर्ण वार्तालाप।

स्मिथ (Smith) की खोजों के अनुसार बालक के शब्द ज्ञान की प्रगति सामान्यतः इस प्रकार होती है—

आयु	8 माह	1 वर्ष	2 वर्ष	3 वर्ष	4 वर्ष	5 वर्ष	6 वर्ष
शब्द संख्या	0	3	272	896	1540	2072	2562

उच्चतर माध्यमिक कक्षा तक बालक-बालिकाओं का शब्द-ज्ञान लगभग 15000 से 16000 शब्दों तक हो जाता है। इससे आगे शब्द-ज्ञान का विस्तार शिक्षा पर निर्भर करता है। बालक का शब्द और भाषा-विकास मानसिक-विकास से प्रभावित होता है।



क्रौस सेक्शन पद्धति से प्रौढ़ व्यक्तियों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि लगभग 20-30 वर्ष की आयु तक बौद्धिक अभिवृद्धि (Intellectual Development) होती है। इसके पश्चात् अवनति प्रारम्भ हो जाती है।

शब्दोच्चारण की अशुद्धियाँ—बोलने की अशुद्धियाँ प्रायः दो कारणों से उत्पन्न होती हैं :

(1) संवेगात्मक कारण

(2) स्नायु संस्थान के रोग या अपूर्ण विकास।

हकलाना (Stammering)—जब बालक उच्चारण सम्बन्धी अवयवों एवं माँसपेशियों को ठीक से संचालित करना नहीं सीखता है तो वह हकलाने लगता है।

हकलाहट कई प्रकार की होती है, जैसे प्रथम शब्द के बोलने में कठिनाई होना अथवा किसी शब्द के उच्चारण में किसी व्यंजन विशेष की ध्वनि उत्पन्न करने में असमर्थ होना। ये कठिनाइयाँ मुख्यतः मानसिक कारणों से उत्पन्न होती हैं, उदाहरणार्थ—चिन्ता, संकोच, भय या घबराहट अथवा निर्बल स्मृति आदि। ये कठिनाइयाँ शारीरिक कारणों, जैसे टौंसिल बढ़ना अथवा स्नायु-व्याधि या दुर्घटना आदि से भी उत्पन्न हो सकती हैं। अतएव चिकित्सक द्वारा परीक्षण कराना भी आवश्यक है। अशुद्ध-उच्चारण के अनेकों दोष अनुकरण के कारण भी उत्पन्न होते हैं। जैसे—श को 'स' बोलना, क्ष को छ, व को ब, या ब को व बोलना, 'गृ' को 'ग्र' बोलना आदि। बालक इस प्रकार की अशुद्धियाँ सामाजिक सम्पर्क (अशिक्षित माता-पिता के अशुद्ध उच्चारण अथवा शिक्षक द्वारा उच्चारण में अशुद्धियों) से सीखता है, क्योंकि अशुद्ध शब्दों के सुनने से उसे भी अशुद्ध उच्चारण करने की आदत पड़ जाती है। बालक को उपयुक्त अभ्यास द्वारा इस बुरी आदत से मुक्त किया जा सकता है। जिस बालक का उच्चारण अशुद्ध होता है वह लिखने में भी अशुद्धियाँ करता है और बोलते समय भी उसे अपने विचार व्यक्त करने में कठिनाई होती है।

शैशव और बाल्यकाल में भी भाषा सीखते समय (अनुकरण द्वारा) बालक को विशेष कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यदि उसके अनुकरण के प्रयत्न

---

1 यह चित्र वैशलर (Wechsler), माइल्स (Miles), जोन्स (Jones) और कोनार्ड (Conard) की खोजों पर आधारित है।
Ref. Anatasi, A and toley, J. P. : *Differential Psychology Part II* Macmillen, N. Y.

विफल होते हैं, तो उससे उच्चारण में अधिक त्रुटियाँ होती हैं। इसकी कुछ प्रमुख कठिनाइयाँ निम्न प्रकार हैं—

(1) दूसरों द्वारा बोले गये शब्दों को सुनने में त्रुटि—अध्यापक को छोटे बच्चों से धीरे-धीरे, स्पष्टता से और खुली आवाज में ही बोलना चाहिए। 'श्रुति लेख' द्वारा यह कमी प्रकाश में आती है।

(2) शब्द सुनने के बाद ठीक वैसा ही उच्चारण करने में कठिनाई—ऐसी दशा में अध्यापक को बालक पर विशेष ध्यान देना चाहिए और उसकी कठिनाई दूर करनी चाहिए। सस्वर वाचन द्वारा यह कठिनाई प्रकाश में आती है।

(3) शब्दों की उच्चारण सम्बन्धी विशेषताओं पर ध्यान न देना—इसके परिणामस्वरूप बालक कुछ व्यंजनों को आगे-पीछे करके बोल जाते हैं, उदाहरणार्थ—जलेबी को जबेली।

(4) नये शब्दों को स्मरण रखने में कठिनाई—इसके लिये कम समय में अधिक शब्द सिखाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। ठीक शब्द याद न आने पर बालक स्वयं अपने मन से नया शब्द निर्मित कर लेता है।

बालक की भाषा सम्बन्धी त्रुटियों को दूर करने के लिए माता-पिता का सहयोग नितान्त आवश्यक है। क्योंकि भाषा सम्बन्धी प्रेरणा, उत्तेजना और अनुकरणीय सामग्री उसे माता-पिता तथा परिवार के अन्य सदस्यों से ही प्राप्त होती है। यदि माता-पिता दो भिन्न-भिन्न भाषायें बोलते हैं तो बालक भी द्विभाषिया बन सकता है।

बालक के भाषा विकास पर अनुकरण का विशेष प्रभाव पड़ता है। बालक प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अपने साथियों के शब्द ज्ञान का अनुकरण करता है। जन्म से बहरा बालक मूक बना रहता है, क्योंकि अनुकरण करने के लिए उसे उत्तेजना प्राप्त नहीं होती है। ऊँचा सुनने वाला बालक भी बोलने में सकुचाता है। लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ स्वभावतः ही अधिक अनुकरणशील होती हैं। वे उत्तेजना के प्रति शीघ्रता से प्रतिक्रिया भी करती हैं। इसीलिए समान आयु के लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ नए शब्दों को जल्दी ही ग्रहण करती हैं और उनका प्रयोग भी जल्दी ही करती हैं।

भाषा सीखने में बालक-बालिकाएँ स्वतन्त्रता और स्वच्छंदतापूर्वक कार्य करते हैं। जो व्यक्ति उन्हें अच्छा लगता है अथवा जिससे वे अधिक निकटता अनुभव करते हैं, उसके शब्द ज्ञान और उच्चारण शैली का अनुकरण सरलता से करने लगते हैं। वयस्कों की अपेक्षा बालक अपने साथियों से अधिक शब्द सीखता है। छोटी कक्षाओं में अध्यापक के बोलने की गति धीमी होनी चाहिए। उच्चारण शुद्धि के लिए वाचन और लेखन पर अधिक बल देना चाहिए।

शिक्षा प्रक्रिया द्वारा बालक के भाषा ज्ञान को विस्तृत करने के लिए सर्वाधिक प्रयत्न किये जाते हैं। सर्वाधिक शिक्षा में भाषा की शिक्षा को प्रथम स्थान दिया गया है। भाषा के बिना बालक का मानसिक विकास हो ही नहीं सकता। विचार और भाषा के घनिष्ठ सम्बन्ध का वर्णन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। कुछ मनोवैज्ञानिक तो विचार को मूक भाषा की संज्ञा देते हैं। उनका विश्वास है कि भाषा और विचार

भाषा ज्ञान और शिक्षा

संकोच अथवा विस्तार निश्चित होता है। किसी समस्या का वैज्ञानिक सर्वेक्षण करने के लिए अंकों का प्रयोग नितान्त आवश्यक है। इन अंकों के विश्लेपण से ही उपयोगी परिणाम निकाले जाते हैं। निरीक्षण करते समय हमारे मन में वस्तुओं के रंग, आकृति और गुणों की परस्पर तुलना भी होती है। किसी भी परिस्थिति अथवा समस्या का उपयुक्त निरीक्षण करके ही हम उचित निर्णय पर पहुँच सकते हैं। जब निरीक्षण में कुछ कमी रह जाती है, तब निर्णय अथवा निष्कर्ष भी त्रुटिपूर्ण होते हैं।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. चिन्तन में शब्द, अर्थ और भाषा ज्ञान का क्या महत्व है ? बाल्यकाल में भाषा विकास के लक्षणों पर प्रकाश डालिये।
2. भाषा ज्ञान के विकास में क्या बाधाएँ उपस्थित होती हैं ? उन्हें आप किस प्रकार दूर करेंगे ?

समूह प्रक्रिया तथा सामाजिक कारक
(GROUP PROCESS AND SOCIAL FACTORS)

पिछले अध्यायों में बालक के सामाजिक विकास पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। सीखने के सम्बन्ध में भी कक्षा तथा विद्यालय के सामाजिक वातावरण का वर्णन किया जा चुका है। अब हम सामूहिक व्यवहार पर अध्ययन करते हुए सामूहिक जीवन में मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करेंगे और यह देखेंगे कि शिक्षा में किन सामाजिक कारकों के प्रभाव से विशेष परिवर्तन उत्पन्न होते हैं।

सामाजिक समूह : अर्थ एवं परिभाषा

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जहाँ कहीं भी दो या दो से अधिक व्यक्तियों में सम्पर्क स्थापित होता है वहीं सामाजिक समूह का निर्माण हो जाता है। दूसरे शब्दों में, एक व्यक्ति की उपस्थिति से दूसरे व्यक्तियों के भाव, विचार और कार्य प्रभावित होने लगते हैं। अधिकार और कर्तव्य की भावना, निजी स्वार्थों की पूर्ति, स्वच्छन्दता पर नियन्त्रण, निजी हितों के आधार पर वर्गीकरण, सहयोग और विरोध, स्पर्धा और प्रेम आदि बातें सामाजिक समूह में दृष्टिगोचर होती हैं।

मैकाइवर तथा पेज के अनुसार—समाज की परिभाषा इस प्रकार है—

"समाज एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत प्रथायें एवं प्रक्रियायें, प्रभुत्व एवं आत्मीय सहायता, विभिन्न समुदाय एवं विभाजन तथा मानव व्यवहार का नियन्त्रण एवं स्वतन्त्रता सभी सम्मिलित हैं। यह जटिल परिवर्तनशील व्यवस्था ही समाज कहलाती है। यह सामाजिक सम्बन्धों का जाल है जो सदैव परिवर्तनशील है।"[1]

सामाजिक प्रक्रिया द्वारा समाज में स्वतः ही परिवर्तनों की उत्पत्ति होती रहती है। शिक्षा प्रक्रिया का लक्ष्य समाज में वांछनीय परिवर्तन करना है, अतएव शिक्षा और समूह प्रक्रिया एक ही क्षेत्र में कार्य करने वाली दो प्रक्रियाएँ हैं।

कुप्पूस्वामी के अनुसार—विद्यालय के सामूहिक जीवन को भलीभाँति समझकर ही शिक्षा को अधिक प्रभावशाली बनाया जा सकता है। उन्हीं के शब्दों में :

---

1 "Society is a system of usages and procedures of authority, and mutual aid of many groupings and divisions of controls of human behaviour and of liberties. This ever-changing complex system we call society. It is the web of social relationship. And it is always changing."—MacIver and page.

"स्कूल के सामाजिक जीवन में निहित प्रक्रियाओं के समुचित ज्ञान के सहारे ही शिक्षा को अधिक प्रभावशालिनी बनाया जा सकता है।"[1]

बोगार्डस के अनुसार—"एक सामाजिक समूह दो अथवा दो से अधिक व्यक्तियों की ऐसी संस्था को कहते हैं जिनमें ध्यान देने की कुछ सामान्य बातें हों, जो एक दूसरे को प्रेरणा देने वाले हों जिनकी आस्थायें समान हों और जो एक सी क्रियाओं में भाग लेते हों।"[2]

ऑगबर्न तथा निमकाफ के अनुसार—"सामाजिक समूह का निर्माण होने के लिए दो या दो से अधिक व्यक्तियों का एक स्थान पर एकत्रित होना ही पर्याप्त नहीं है। अपितु सामाजिक समूह में वे एक दूसरे के निकट आते हैं और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।"[3]

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि विद्यालय में कक्षा भी एक सामाजिक समूह ही है, जहाँ छात्र एक दूसरे के आचरण को प्रभावित करते हैं और अध्यापक द्वारा स्वयं भी प्रभावित होते हैं। कक्षा में अध्यापक का व्यवहार भी छात्रों की उपस्थिति से प्रभावित होता है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मैकाइवर तथा पेज के अनुसार समाज एक सामाजिक सम्बन्धों का जाल है—[4]

सामाजिक समूह के प्रकार (Types of Social Group)

इन सामाजिक सम्बन्धों के जाल की जटिलता के अनुसार समूह तीन प्रकार के होते हैं।

(क) प्राथमिक समूह (Primary Group)—परिवार प्राथमिक समूह का सर्वोत्तम उदाहरण है। अन्य समूहों में भी जब परिवार की भाँति निकटता और घनिष्ठता के सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं, तब हम उन्हें प्राथमिक समूह कह सकते हैं। प्राचीनकाल में भी विद्यार्थी गुरुकुल अर्थात गुरु के कुल (परिवार) में जाकर उसका सदस्य बनकर ही शिक्षा ग्रहण करता था। लेकिन आज के विद्यालयों में यह बात नहीं है। परन्तु कक्षा के अतिरिक्त विद्यालय में भी कुछ ऐसे समूहों का निर्माण हो जाता है जिन्हें हम प्राथमिक समूह कह सकते हैं, उदाहरणार्थ—खेल के साथी, टीम के साथ घूमने वालों की टोली अथवा अन्य गुट आदि।

(ख) द्वितीय प्रकार के या माध्यमिक समूह (Secondary Groups)।

इस प्रकार के समूह के उदाहरण हैं—विद्यालय, धार्मिक संस्थान, मनोरंजन क्लब (कार्यशाला), समितियाँ आदि। इन स्थानों में सामान्य तथा सीमान्त स्वार्थ

---

1 "Education can be made more effective through better understanding of the processes underlying grouplife in school." —Kuppuswamy p, 359.

2 "A social group may be though of as a member of persons, two or more, who have some common objects of attention, who are stimulating to each other, who have common loyalty and participate in similar activities." —Bogardus p. 5.

3 "When ever two or more individuals come together and influence one another, They may be said to constitute a social group."—Ogburn and Nimkoff. p. 173.

4 "It is the Web of Social relationships."

अथवा हितों के आधार पर ही सम्पर्क एवं सम्बन्ध स्थापित होते हैं। अधिकांश विद्यालय इसी प्रकार के समूह हैं जहाँ पर विद्यार्थियों का सीमित उद्देश्य ज्ञानार्जन करके परीक्षा पास करना है।

(ग) सीमान्त या तृतीय प्रकार के समूह (Tertiary Group)

इसका सर्वोत्तम उदाहरण किसी स्थान पर अचानक जमा होने वाली भीड़ है। इस प्रकार के समूह में बहुत ही थोड़े समय के लिए परस्पर सम्पर्क स्थापित होता है और घनिष्ठता के स्थान पर बहुत साधारण परिचय भीड़ के सदस्य एक दूसरे से प्राप्त कर पाते हैं। हमारे यहाँ के अनेकों विद्यालयों में भीड़ जैसी दशायें देखने को मिलती हैं। 90 या 100 विद्यार्थियों की बड़ी-बड़ी कक्षाओं में न तो विद्यार्थी ही एक दूसरे के निकट आ सकते हैं और न गुरु-शिष्यों में प्रत्यक्ष घनिष्ठ सम्बन्ध ही स्थापित होते हैं। विद्यालय के बाहर सिनेमाघर, चायघर, रेडियो, टैलिविजन, प्रेस आदि सीमान्त समूह हैं जोकि छात्रों को प्रभावित करते हैं।

सामाजिक अन्तरक्रिया (Social Interaction)

सामाजिक अन्तरक्रिया से हमारा अभिप्राय सामूहिक जीवन में भाग लेकर एक दूसरे के व्यवहार को प्रभावित करना है। समाजशास्त्रियों के अनुसार सामाजिक अन्तरक्रियाओं का वर्गीकरण तीन प्रकार से किया जा सकता है।

(क) संख्या के आधार पर वर्गीकरण

समूह का प्रकार	उदाहरण
(i) एक के साथ एक का सम्बन्ध	बालक तथा माता।
(ii) एक के साथ समूह का सम्बन्ध	अध्यापक तथा कक्षा एवं बालक तथा परिवार।
(iii) एक समूह के साथ दूसरे समूह का सम्बन्ध	विद्यालय और समाज एवं धार्मिक संस्था और राष्ट्र।

(ख) सदस्यों की घनिष्ठता अथवा अपनेपन की भावना के आधार पर वर्गीकरण

(i) प्राथमिक समूह।

(ii) द्वितीय अथवा माध्यमिक समूह।

(iii) सीमान्त या तृतीय प्रकार के समूह।

इनकी व्याख्या ऊपर विद्यालय के सन्दर्भ में की जा चुकी है।

(ग) सामाजिक प्रक्रिया अथवा मानवीय सम्बन्धों के आधार पर वर्गीकरण

एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति अथवा समूह के साथ सम्बन्ध, जैसे—प्राचीन काल में गुरु तथा शिष्य के सम्बन्ध, गुरु तथा शिष्यों के सम्बन्ध, जिनके आधार पर वे भौतिक तथा आध्यात्मिक उपलब्धियाँ प्राप्त करते थे।

सामाजिक अन्तरक्रिया के रूप (Forms of Social Interaction)

सामाजिक अन्तरक्रिया कक्षा तथा विद्यालय में भी अनेक रूपों में चलती रहती है। शिक्षा की दृष्टि से ये रूप महत्वपूर्ण हैं, जिनका उपयोग अध्यापक को बराबर करते रहना चाहिए।

(i) विरोध (Opposition)—समूह में अन्याय अथवा अत्याचार का विरोध

करना ; विद्यालय के प्रांगण में भी छात्रों द्वारा विरोध प्रदर्शन के अनेक अवसर आते हैं।

(ii) सहयोग (Co-operation)—कक्षा शिक्षण, खेल, स्काउटिंग, प्रयोग एवं सरस्वती यात्रायें आदि सहयोगपूर्ण क्रियाएँ हैं। कक्षा में बालक अपने अध्यापक तथा साथियों का सहयोग ज्ञानार्जन की क्रिया में प्राप्त करता है और स्वयं भी सहयोग करना सीखता है।

(iii) समायोजन (Accomodation)—कक्षा तथा विद्यालय की बदलती हुई परिस्थितियों में बालक समायोजन तथा अनुकूलन करना भी सीखता है। वह विद्यालय की विपरीत तथा विषम परिस्थितियों में भी अपने साथियों के साथ चलने का प्रयत्न करता है।

(iv) आत्मीकरण (Assimilation)—कक्षा तथा विद्यालय में एवं खेल के मैदान तथा प्रयोगशाला में बालक निरन्तर आत्मीकरण का आदान-प्रदान करता रहता है। अनुभव और ज्ञान के आत्मीकरण द्वारा ही वह अपने व्यक्तित्व और व्यवहार को परिवर्तित करता है।

सामूहिक व्यवहार की विशेषताएँ
(Characteristics of Group Behaviour)

(1) सामूहिक व्यवहार का मनोवैज्ञानिक आधार होता है। मैकडुगल तथा रौस के अनुसार समूह का व्यवहार ठीक उसी प्रकार से 'सामूहिक मन' (Group Mind) के द्वारा नियन्त्रित होता है जिस प्रकार व्यक्ति का व्यवहार व्यक्ति के मन द्वारा नियन्त्रित होता है। सामूहिक मन का निर्माण होते ही उस समूह के सदस्यों के ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक व्यवहार में एकरूपता आ जाती है। संकेत, सहानुभूति और अनुकरण की सामान्य प्रवृत्तियां अपना काम करने लगती हैं। समूह में व्यक्ति सहानुभूति द्वारा दूसरों के भाव या संवेग एवं संकेत द्वारा दूसरों का ज्ञान अथवा जानकारियां और अनुकरण द्वारा दूसरों के कार्यों को अनजाने में ग्रहण कर लेता है।

(2) समूह की एकता सामान्य हितों पर ही निर्भर करती है। यदि जीवन के उद्देश्यों और दृष्टिकोणों में अन्तर होता है तो समूह में एकता स्थापित नहीं होती। यदि कक्षा के सभी विद्यार्थियों के उद्देश्य एक समान नहीं होते तो कक्षा में शिक्षण का कार्य सुचारु रूप से नहीं चलता। एकता की भावना के लिए जीवन के उद्देश्य और दृष्टिकोण में समानता का होना आवश्यक है।

(3) समूह के सदस्यों के क्रिया-कलापों (व्यवहार) पर समूह का नियंत्रण रहता है। प्रत्येक समूह की अपनी-अपनी कार्यप्रणाली होती है। समूह की परम्पराओं, प्रथाओं और रीति-रिवाजों का सभी सदस्य आदर करते हैं। यदि विद्यालय की परम्पराओं, कार्यप्रणाली और तरीकों को सभी विद्यार्थी अथवा अध्यापक नहीं मानते तो उस विद्यालय का सामूहिक जीवन नियन्त्रित नहीं रहता और अनेक बाधायें उत्पन्न हो जाती हैं।

(4) समूह के संगठन में परिवर्तन होते रहते हैं। जिस प्रकार मानव संस्कृति की भौतिक वस्तुओं में परिवर्तन हुए हैं उसी प्रकार समूहों के संगठन, संरचना

और कार्यों में भी परिवर्तन होते रहते हैं। समाज में नवीन वर्गों का उदय होता है और पुरानी व्यवस्थाओं मे परिवर्तन हो जाते हैं। विद्यालय का लघु समाज, जैसे-जैसे प्रगति करता है, उसकी अनुकरणीय परम्परायें स्थापित होती जाती हैं। विद्यालय और समाज मे नवीन सामाजिक अनुबन्ध स्थापित होते हैं। नेतृत्व, पाठ्यक्रम और पाठ्यान्तर क्रियाओं में भी परिवर्तन होते रहते हैं। छात्रों और अध्यापकों में उप-समूहों का निर्माण नवीन रूप में होता है। इसे समूह गतिवाद (Group Dynamism) भी कहते हैं।

(5) समूह के सदस्यों में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित होते हैं। कभी-कभी ये सम्बन्ध भाषण सुनकर पत्र-पत्रिकाओं मे लेख पढ़कर या पत्र व्यवहार द्वारा अथवा अचानक भी स्थापित हो जाते हैं। विद्यालय में जो छात्र अच्छे वक्ता या खिलाड़ी या अभिनेता अथवा गायक होते हैं, उनके प्रति अन्य विद्यार्थियो के के अप्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं, जिसके कारण उनमे नेतृत्व गुण (Leadership Ruality) की मात्रा बढ़ जाती है। इसी प्रकार कुछ अध्यापक अथवा प्रधानाचार्य भी छात्रों को अधिक प्रभावित करते हैं।

(6) सामूहिक व्यवहार व्यक्तिगत व्यवहार से भिन्न होता है। सामूहिक व्यवहार व्यक्तिगत व्यवहार के समुपयुक्त नहीं होता अपितु इससे कुछ अधिक ही होता है। समूह में सदस्यों की व्यक्तिगत योग्यता, भावनायें और अभिवृत्तियों, रुचियों तथा रुझान आदि मे अन्तर (भिन्नतायें) होते हैं। सामूहिक व्यवहार में इनका स्तर निम्नतम होता है। अतः इसमे कोई आश्चर्य नही कि समूह के प्रभाव में (भीड़ मे) व्यक्ति के आचरण का स्तर या तो बहुत गिर जाता है अथवा बहुत उठ जाता है। व्यक्ति का आचरण समूह के आचरण की गति और स्तर के साथ ही प्रवाहित होता है। विद्यालय में जब अनुशासनहीनता की घटनायें घटित होती हैं तो अच्छे विद्यार्थी भी यह समझते हुए कि यह कार्य अनुचित है, समूह के साथ ही भावना में बह जाते हैं, और नारे लगाने लगते हैं। क्योंकि उस समय भीड़वृत्ति (Groupmind) ही प्रभावकारी होती है। विद्यालय मे आन्दोलन के समय आत्म-प्रकाशन तथा आत्म-अवसान (Self-submission) की वृत्तियों के अनुसार ही छात्र, नेता अथवा अनुयायियों की भूमिकाएँ ग्रहण कर लेते हैं।

(7) समूह मे सामान्य मान्यताओं का होना भी आवश्यक है। इनकी अनुपस्थिति में एकता सम्भव नही होती। विद्यालयरूपी परिवार का मुखिया प्रधानाचार्य होता है। अतः यदि उसे छात्रों तथा अध्यापकों द्वारा यह मान्यता प्राप्त नहीं होती है तो विद्यालय के प्रशासन मे भी अवश्य ही कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसी प्रकार कक्षा मे अध्यापक, मॉनीटर आदि का स्थान, कर्तव्य और अधिकार सर्वमान्य होते हैं। यदि ऐसा नहीं होता है तो कक्षा के कार्यों में गतिरोध उत्पन्न होता है। विद्यालय का कार्य ठीक प्रकार से चलाने के लिए, कार्य का विभाजन और भूमिकाओं एवं उत्तरदायित्वों का स्पष्ट ज्ञान सभी सदस्यो के लिए नितान्त आवश्यक है।

(8) सामूहिक व्यवहार मे सामूहिक प्रक्रिया चेतन अथवा अचेतन स्तर पर होती रहती है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत आने वाले मुख्य व्यवहार इस प्रकार हैं—

(i) समायोजन अथवा अनुकूलनपूर्ण व्यवहार।

करना ; विद्यालय के प्रांगण में भी छात्रों द्वारा विरोध प्रदर्शन के अनेक अवसर आते हैं।

(ii) सहयोग (Co-operation)—कक्षा शिक्षण, खेल, स्काउटिंग, प्रयोग एवं सरस्वती यात्रायें आदि सहयोगपूर्ण क्रियाएँ हैं। कक्षा में बालक अपने अध्यापक तथा साथियों का सहयोग ज्ञानार्जन की क्रिया में प्राप्त करता है और स्वयं भी सहयोग करना सीखता है।

(iii) समायोजन (Accomodation)—कक्षा तथा विद्यालय की बदलती हुई परिस्थितियों में बालक समायोजन तथा अनुकूलन करना भी सीखता है। वह विद्यालय की विपरीत तथा विषम परिस्थितियों में भी अपने साथियों के साथ चलने का प्रयत्न करता है।

(iv) आत्मीकरण (Assimilation)—कक्षा तथा विद्यालय में एवं खेल के मैदान तथा प्रयोगशाला में बालक निरन्तर आत्मीकरण का आदान-प्रदान करता रहता है। अनुभव और ज्ञान के आत्मीकरण द्वारा ही वह अपने व्यक्तित्व और व्यवहार को परिवर्तित करता है।

सामूहिक व्यवहार की विशेषताएँ
(Characteristics of Group Behaviour)

(1) सामूहिक व्यवहार का मनोवैज्ञानिक आधार होता है। मैकडुगल तथा रौस के अनुसार समूह का व्यवहार ठीक उसी प्रकार से 'सामूहिक मन' (Group Mind) के द्वारा नियन्त्रित होता है जिस प्रकार व्यक्ति का व्यवहार व्यक्ति के मन द्वारा नियन्त्रित होता है। सामूहिक मन का निर्माण होते ही उस समूह के सदस्यों के ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक व्यवहार में एकरूपता आ जाती है। संकेत, सहानुभूति और अनुकरण की सामान्य प्रवृत्तियां अपना काम करने लगती हैं। समूह में व्यक्ति सहानुभूति द्वारा दूसरों के भाव या संवेग एवं संकेत द्वारा दूसरों का ज्ञान अथवा जानकारियां और अनुकरण द्वारा दूसरों के कार्यों को अनजाने में ग्रहण कर लेता है।

(2) समूह की एकता सामान्य हितों पर ही निर्भर करती है। यदि जीवन के उद्देश्यों और दृष्टिकोणों में अन्तर होता है तो समूह में एकता स्थापित नहीं होती। यदि कक्षा के सभी विद्यार्थियों के उद्देश्य एक समान नहीं होते तो कक्षा में शिक्षण का कार्य सुचारु रूप से नहीं चलता। एकता की भावना के लिए जीवन के उद्देश्य और दृष्टिकोण में समानता का होना आवश्यक है।

(3) समूह के सदस्यों के क्रिया-कलापों (व्यवहार) पर समूह का नियंत्रण रहता है। प्रत्येक समूह की अपनी-अपनी कार्यप्रणाली होती है। समूह की परम्पराओं, प्रथाओं और रीति-रिवाजों का सभी सदस्य आदर करते हैं। यदि विद्यालय की परम्पराओं, कार्यप्रणाली और तरीकों को सभी विद्यार्थी अथवा अध्यापक नहीं मानते तो उस विद्यालय का सामूहिक जीवन नियन्त्रित नहीं रहता और अनेक बाधायें उत्पन्न हो जाती हैं।

(4) समूह के संगठन में परिवर्तन होते रहते हैं। जिस प्रकार मानव संस्कृति की भौतिक वस्तुओं में परिवर्तन हुए हैं उसी प्रकार समूहों के संगठन, संरचना

और कार्यों में भी परिवर्तन होते रहते हैं। समाज में नवीन वर्गों का उदय होता है और पुरानी व्यवस्थाओं में परिवर्तन हो जाते हैं। विद्यालय का लघु समाज, जैसे-जैसे प्रगति करता है, उसकी अनुकरणीय परम्परायें स्थापित होती जाती हैं। विद्यालय और समाज में नवीन सामाजिक अनुबन्ध स्थापित होते हैं। नेतृत्व, पाठ्यक्रम और पाठ्यान्तर क्रियाओं मे भी परिवर्तन होते रहते हैं। छात्रों और अध्यापकों मे उप-समूहों का निर्माण नवीन रूप में होता है। इसे समूह गतिवाद (Group Dynamism) भी कहते हैं।

(5) समूह के सदस्यों में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित होते हैं। कभी-कभी ये सम्बन्ध भाषण सुनकर पत्र-पत्रिकाओं मे लेख पढ़कर या पत्र व्यवहार द्वारा अथवा अचानक भी स्थापित हो जाते हैं। विद्यालय में जो छात्र अच्छे वक्ता या खिलाड़ी या अभिनेता अथवा गायक होते हैं, उनके प्रति अन्य विद्यार्थियों के के अप्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं, जिसके कारण उनमें नेतृत्व गुण (Leader-ship Ruality) की मात्रा बढ़ जाती है। इसी प्रकार कुछ अध्यापक अथवा प्रधानाचार्य भी छात्रों को अधिक प्रभावित करते हैं।

(6) सामूहिक व्यवहार व्यक्तिगत व्यवहार से भिन्न होता है। सामूहिक व्यवहार व्यक्तिगत व्यवहार के समुपयुक्त नहीं होता अपितु इससे कुछ अधिक ही होता है। समूह में सदस्यों की व्यक्तिगत योग्यता, भावनायें और अभिवृत्तियों, रुचियों तथा रुझान आदि में अन्तर (भिन्नतायें) होते हैं। सामूहिक व्यवहार में इनका स्तर निम्नतम होता है। अतः इसमे कोई आश्चर्य नहीं कि समूह के प्रभाव में (भीड़ में) व्यक्ति के आचरण का स्तर या तो बहुत गिर जाता है अथवा बहुत उठ जाता है। व्यक्ति का आचरण समूह के आचरण की गति और स्तर के साथ ही प्रवाहित होता है। विद्यालय में जब अनुशासनहीनता की घटनायें घटित होती हैं तो अच्छे विद्यार्थी भी यह समझते हुए कि यह कार्य अनुचित है, समूह के साथ ही भावना मे बह जाते हैं, और नारे लगाने लगते हैं। क्योंकि उस समय भीड़वृत्ति (Groupmind) ही प्रभावकारी होती है। विद्यालय मे आन्दोलन के समय आत्म-प्रकाशन तथा आत्म-अवसान (Self-submission) की वृत्तियों के अनुसार ही छात्र, नेता अथवा अनुयायियों की भूमिकाएँ ग्रहण कर लेते हैं।

(7) समूह मे सामान्य मान्यताओं का होना भी आवश्यक है। इनकी अनुप-स्थिति में एकता सम्भव नहीं होती। विद्यालयरूपी परिवार का मुखिया प्रधानाचार्य होता है। अतः यदि उसे छात्रों तथा अध्यापकों द्वारा यह मान्यता प्राप्त नहीं होती है तो विद्यालय के प्रशासन में भी अवश्य ही कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती हैं। इसी प्रकार कक्षा में अध्यापक, मॉनीटर आदि का स्थान, कर्तव्य और अधिकार सर्वमान्य होते हैं। यदि ऐसा नहीं होता है तो कक्षा के कार्यों में गतिरोध उत्पन्न होता है। विद्यालय का कार्य ठीक प्रकार से चलाने के लिए, कार्य का विभाजन और भूमि-काओं एवं उत्तरदायित्वों का स्पष्ट ज्ञान सभी सदस्यों के लिए नितान्त आवश्यक है।

(8) सामूहिक व्यवहार में सामूहिक प्रक्रिया चेतन अथवा अचेतन स्तर पर होती रहती है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत आने वाले मुख्य व्यवहार इस प्रकार हैं—

(i) समायोजन अथवा अनुकूलनपूर्ण व्यवहार।

(ii) विरोध अथवा आन्दोलन करना।

(iii) सहयोग अथवा सहकारितापूर्ण व्यवहार, विद्यालय में सहयोग आत्म-प्रेरणा अथवा दबाव के द्वारा भी प्राप्त किया जाता है।

(iv) सांस्कृतिकरण (Acculturation) शोभाचार (Fashion) एवं च आदि के द्वारा सांस्कृतिक तत्वों को ग्रहण करना।

(v) संघर्ष अथवा स्पर्धापूर्ण व्यवहार।

(vi) भाव विचार और कार्यों का अनुकरण करना।

(vii) सामाजिक नियन्त्रण को प्रयुक्त करना।

(viii) वर्गीकरण (Stratification) अर्थात दल, उपसमूह एवं गुटों का निर्माण होना।

विद्यालय में समूह मन का निर्माण एवं विकास
(Formation and Development of Groupmind in School)

विद्यालय एक सक्रिय समूह है। इसका समूह-मन यदि उच्चस्तर का (प्रबल) होता है तो वह विद्यालय को ऊँचा उठाता है और यदि समूह-मन निर्बल होता है तो विद्यालय गौरव प्राप्त करने की अपेक्षा पतन की ओर अग्रसित होता है। प्रबल समूह मन के निर्माण होने से छात्रों में सामुदायिक भावनाओं, अनुशासनपूर्ण कार्यों और सहयोगी आदतों का विकास होता है। विद्यालय में गौरवशाली और स्वस्थ परम्पराओं का निर्माण होता है। मैक्डुगल के अनुसार विद्यालय में समूहमन या सामुदायिक भावनाओं के निर्माण हेतु निम्नलिखित दशाओं का होना आवश्यक है—

(i) समूह का स्थायित्व—विद्यालय एक स्थायी समूह है। उसका स्थान, कार्य प्रणाली, समय-विभाग, भवन एवं कक्ष-सज्जा आदि निश्चित होती है। विद्यालय का जीवन किसी क्लब, भोजनालय अथवा मनोरंजन के केन्द्र से अधिक स्थायी होता है। अध्यापक और विद्यार्थियों का पारस्परिक सम्पर्क भी अधिक समय तक रहता है।

(ii) अन्य समूहों से सम्पर्क तथा स्पर्धा—इससे सामूहिक चेतना जागृत होती है। अन्तर-विद्यालय प्रतियोगितायें, जिला प्रतियोगितायें तथा क्षेत्रीय प्रतियोगितायें आयोजित करने का भी यही प्रयोजन होता है। विद्यालय के अन्दर भी सदन प्रणाली (House System) अथवा कक्षा प्रतियोगितायें (Class Tournaments) आयोजित करके सामूहिक चेतना का विकास किया जा सकता है।

(iii) समूह के सदस्यों में समूह के रूप, कार्य प्रणाली, कर्तव्य एवं अधिकारों का ज्ञान—इसे हम व्यवस्था के साथ सहयोग भी कह सकते हैं। जिन विद्यालयों में इसका अभाव होता है वहाँ पर शैक्षिक कार्यक्रमों को चलाने में अधिक अव्यवस्था रहती है, क्योंकि अध्यापक और छात्र दोनों ही व्यवस्था के संचालन में असमर्थ रहते हैं।

(iv) सामूहिक परम्पराओं का निर्माण एवं विकास—एक अच्छा प्रशासन स्वस्थ परम्पराओं का निर्माण करता है, विद्यालय के पुराने छात्र अपनी उपलब्धियों, आचरण और कार्यों से विद्यालय में परम्पराओं का निर्माण करते हैं। आगे आने वाले विद्यार्थी इन परम्पराओं को या तो अधिक गौरवशाली बनाते हैं

अथवा उन्हें बिगाड़ देते हैं। अतएव पुराने विद्यार्थियों का नये विद्यार्थियों से सम्पर्क स्थापित करना बहुत आवश्यक है। पूर्व छात्र परिषद (Old Boys Association) इसी उद्देश्य से गठित की जाती है। परीक्षा परिणामों, विद्यालय के उत्सव, खेलकूद तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों द्वारा परम्पराओं का निर्माण एवं विकास होता है।

(v) समूह के सदस्यों में कार्य का विभाजन—किस क्षेत्र में कौन नेतृत्व ग्रहण करेगा ? प्रयोगशाला, खेल-कूद, पुस्तकालय, अनुशासन और विद्यालय के उद्यान आदि की व्यवस्था का उत्तरदायित्व भी अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के मध्य ठीक प्रकार से विभाजित होना चाहिए। जिस समूह में सभी नेता हों वहाँ व्यवस्था ठीक नहीं हो सकती। सामूहिक अनुशासन में नेता और अनुयायी की भूमिकायें भी स्पष्ट रहती हैं।

नेतृत्व की शिक्षा
(Education for Leadership)

एक अच्छे विद्यालय का कार्य जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में (जैसे—साहित्य, कला, खेल, मनोरंजन, राजनीति, समाजसेवा, उद्योग एवं व्यापार आदि) सफलतापूर्वक नेतृत्व ग्रहण करने वाले योग्य व्यक्तियों का निर्माण करना है। नेतृत्व के लिए आवश्यक विभिन्न गुणों की नींव विद्यालय में ही रखी जाती है। पशुओं में जो शारीरिक दृष्टि से अधिक बलशाली है वही नेतृत्व ग्रहण करता है परन्तु मानव समूहों में केवल शारीरिक गुण होना ही पर्याप्त नहीं है।

नेतृत्व के लिए वांछनीय गुण

(i) आत्म-सम्मान की भावना—नेता में आत्म-स्वाग्रह (Selfassestion) होना चाहिए। उसमें प्रबल-संकल्प, प्रवरता, सम्मान तथा प्रतिष्ठा की भावना और आत्म-विश्वास का होना भी आवश्यक है।

(ii) तीक्ष्ण बुद्धि—नेता में जटिल परिस्थितियों का शीघ्रता से उपयुक्त मूल्यांकन करने एवं समस्या को शीघ्र ही हल करने के लिए तीक्ष्ण बुद्धि का होना भी नितान्त आवश्यक है। तीक्ष्ण बुद्धि नेता बालक पर अपना प्रभाव तुरन्त जमा लेता है।

(iii) बहिर्मुखता (Extroversion)—लोकप्रिय तथा सामाजिक कार्यक्रमों में उत्साह से भाग लेने हेतु नेता में इस गुण का होना बहुत ही आवश्यक है।

(iv) उद्योगशीलता (Industiousness)—परिश्रमी तथा बुद्धिमान व्यक्ति जीवन के किसी भी क्षेत्र में अगुआ बन सकता है। उदाहरणार्थ—निर्धन परिवारों तथा दलित वर्गों के बुद्धिमान तथा परिश्रमी छात्र भी आज नेतृत्व ग्रहण कर रहे हैं।

(v) ज्ञान—नेता का ज्ञानवान् होना भी आवश्यक है। उसे किसी भी विषय या कला पर अच्छा अधिकार होना चाहिए, वह अच्छा वक्ता अथवा अच्छा लेखक हो।

(vi) शील, विनय और उदारता—नेता का हृदय विशाल होना चाहिए। उसका दृष्टिकोण अधिक व्यापक होना चाहिए। उसके लिए साथियों के साथ व्यवहार में सदैव उदारता का परिचय देना आवश्यक है। वह प्रतिष्ठावान् होते हुए भी दम्भी न हो। उसे अपने मत या विचारों को विनयपूर्वक परन्तु दृढ़ता से दूसरों के समक्ष प्रस्तुत करना चाहिए।

(vii) सामाजिकता—नेता के हृदय में सामाजिक हित के लिए सहानुभूति का श्रोत होना चाहिए। उसके लिए दूसरों के भावों और विचारों को ठीक प्रकार से समझकर उसकी प्रतिक्रिया अनुसार कार्य करना आवश्यक है।

(viii) परोपकारी भावना—नेता के लिए यह गुण नितान्त आवश्यक है। उसे परहितों का सदैव ध्यान रखना चाहिए।

विद्यालय में नेतृत्व का विकास कैसे किया जाय ?
(How to Develop Leadership in School ?)

(1) विद्यालय में स्वस्थ एवं आदर्श परम्पराओं की स्थापना करना।

(2) पाठ्यक्रम के अतिरिक्त कार्यक्रमों का आयोजन करना, उदाहरणार्थ—वार्षिकोत्सव, राष्ट्रीय पर्व तथा महापुरुषों के जन्मोत्सव सम्बन्धी आयोजन एवं पूर्व छात्रों की गोष्ठियाँ आदि का आयोजन करना।

(3) विद्यालय में अध्यापकों तथा छात्रों का कुछ वर्षों तक स्थायी रूप से रहना। यदि छात्र और अध्यापकों का स्थानान्तरण जल्दी-जल्दी ही होता है तो परम्पराओं का निर्माण नहीं हो सकता।

(4) विद्यालय में स्वशासन (Self Government) की व्यवस्था करना भी आवश्यक है जिससे छात्रों में उत्तरदायित्व ग्रहण करने के कारण नेतृत्व के गुणों का विकास हो सके।

(5) विद्यालय के साथ छात्रावासों की व्यवस्था भी आवश्यक है, परन्तु इनका प्रबन्ध और आन्तरिक-व्यवस्था परिश्रमी, सुचरित्र और योग्य अध्यापकों के द्वारा होनी चाहिए।

(6) छात्रों में सामूहिक भावना उत्तेजित करने के लिए अनेक प्रकार की प्रतियोगिताओं का आयोजन भी आवश्यक है।

(7) विद्यालय के प्रत्येक छात्र को एक से अधिक परिषदों, समूहों अथवा संस्थाओं के कार्य-संचालन का अवसर मिलना चाहिए।

(8) विद्यालय में कुछ इस प्रकार के कार्यक्रम भी निर्मित किए जाएँ, जिनकी सफलता प्राप्ति हेतु छात्र एक दूसरे का सहयोग प्राप्त करें। उदाहरणार्थ—खेल, स्काउटिंग तथा सरस्वती यात्रायें आदि इसी प्रकार के कार्यक्रम हैं।

(9) कक्षा समूहों में अधिक घनिष्ठता एवं अपनेपन का भाव जाग्रत करना चाहिए।

(10) अन्य समूहों अथवा विद्यालयों के साथ मैच खेलने अथवा अन्य प्रकार के प्रतियोगितापूर्ण कार्यक्रमों द्वारा भी स्वानुभूति (We-feeling) जाग्रत करनी चाहिए।

(11) विद्यालय में सार्वजनिक सुरक्षा, न्याय और समानता की भावना का रहना भी अति आवश्यक है।

(12) विद्यालय में उपयुक्त रूप से प्रजातन्त्रात्मक जीवन प्रणाली को अपनाया जाना चाहिए। केवल निर्वाचित छात्र यूनियन निर्मित कर देने से ही प्रजातन्त्र की स्थापना नहीं होती है।

(13) विद्यालय में व्यक्तिगत कार्यक्रमों की अपेक्षा सामूहिक कार्यक्रमों को अधिक महत्व देना चाहिए।

(14) नेतृत्व से सम्बन्धित आवश्यक गुणों को विकसित करने के लिए विशेष कार्यक्रम आयोजित होते रहने चाहिए। उदाहरणार्थ—वाद-विवाद प्रतियोगिता, भाषण-प्रतियोगिता, अभिनय अथवा नाटक-प्रतियोगिता, कृषि मेला एवं विज्ञान मेला आदि का आयोजन।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. सामाजिक समूह से आप क्या समझते हैं? सामाजिक समूहों के प्रकारों का वर्णन कीजिए।
2. सामाजिक अन्तर्क्रिया से आप क्या समझते हैं? अन्तर्क्रिया के विभिन्न रूपों का वर्णन कीजिए।
3. क्या विद्यालय में समूह मन का निर्माण होता है? इसके लिए उपयुक्त दशाओं का वर्णन कीजिए।
4. नेतृत्व की शिक्षा से आप क्या समझते हैं? क्या विद्यालय में नेतृत्व के गुणों का विकास सम्भव है?

35

व्यक्तिगत भेद
(INDIVIDUAL DIFFERENCES)

प्रायः सभी शरीरधारियों के व्यवहार में व्यक्तिगत अन्तर देखा जाता है। मानव जाति में भी प्रत्येक व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक क्षमताएँ एवं योग्यताएँ भिन्न-भिन्न ही होती हैं। अनेक मनोवैज्ञानिक प्रयोगों में भी व्यक्तियों की क्रियाशीलता, आवश्यकता, कार्य करने की गति, सीखने की गति तथा समस्या सुलझाने की गति आदि बातों में भी विचारणीय अन्तर देखा गया है। यही कारण है कि किसी घटना अथवा दृश्य से एक बालक जल्दी ही भयग्रस्त हो जाता है, जबकि दूसरा भयग्रस्त नहीं होता। एक पशु अभिसंधानित प्रतिक्रिया (Conditioned Response) केवल 20 प्रयत्नों (Trials) के बाद ही सीख पाता है। आधुनिक शिक्षा में भी बालक-बालिकाओं के व्यक्तिगत भेदों पर ही विशेष बल दिया जाता है। यदि अध्यापक अपने छात्रों की बुद्धिमत्ता, मानसिक झुकावों, विशिष्ट योग्यताओं में अन्तर और सामाजिक जीवन एवं समायोजन में अन्तर आदि व्यक्तिगत भेदों को भलीभाँति समझ लेता है, तो वह उनकी शिक्षा और शैक्षिक निदर्शन की पूर्ण व्यवस्था सुचारुरूप से करने में समर्थ होता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वह अपने छात्रों के मानसिक गुणों का पूर्ण लाभ प्राप्त कर सकता है।

व्यक्तिगत भेद की समस्या

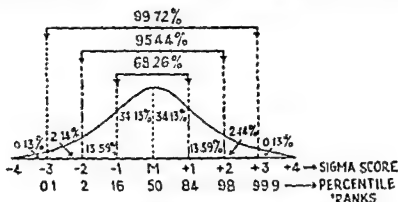
पिछले अध्यायों में भी यथास्थान बालक-बालिकाओं के व्यक्तिगत भेदों पर प्रकाश डाला जा चुका है, जैसे संवेगात्मक विकास सम्बन्धी विशेषताएँ, गामक विशेषताएँ एवं सामाजिकता सम्बन्धी विभिन्नताएँ तथा मानसिक विभिन्नताएँ आदि। आधुनिक शिक्षा विधायन में भी व्यक्तिगत योग्यता के अनुसार शिक्षा देने का सिद्धान्त पूर्णरूप से मान्य है। परन्तु शिक्षा शास्त्रियों के समक्ष यह समस्या है कि इन योग्यताओं का उपयुक्त परीक्षण किस प्रकार किया जाये? इस अध्याय में हम उन वैयक्तिक भिन्नताओं का वर्णन करेंगे जोकि शैक्षिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

व्यक्तिगत भेद : अध्ययन का इतिहास

सर्वप्रथम फ्रान्सिस गाल्टन ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कदम सन् 1882 में उठाया था। उसने लंदन के अजायबघर में एक प्रयोगशाला स्थापित की, जहाँ पर किसी भी व्यक्ति के शारीरिक गुणों की माप होती थी। जैसे—दृष्टिपरीक्षा, श्रवण परीक्षा, शारीरिक शक्ति परीक्षा, प्रतिक्रिया का समय, अन्य इन्द्रिय और गामक

परीक्षाएँ ।[1] इन परीक्षाओं के द्वारा प्रथम बार, व्यक्तिगत भेदों के प्रामाणिक आँकड़े एकत्र किये गये। गाल्टन का यह विश्वास था कि ज्ञानेन्द्रियों की परीक्षा द्वारा ही व्यक्ति की बुद्धिमत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है। 20वीं शताब्दी में शिक्षा मनोवैज्ञानिकों द्वारा व्यक्तिगत भेदों के कारण शैक्षिक विस्तार के महत्व का विशेष रूप से अध्ययन किया गया है। इसी दृष्टिकोण के आधार पर ही प्रामाणिक बुद्धि परीक्षाएँ प्रस्तुत की गई हैं। वैयक्तिक विभिन्नता की समस्या अनेक मनोवैज्ञानिक समस्याओं से सम्बन्धित है। उदाहरणार्थ—मानसिक योग्यताओं के घटकों (Factors) की समस्या, बुद्धि का स्वरूप, भेदों के प्रकार, व्यक्तिगत गुण आदि। इनका वर्णन इसी पुस्तक के आगामी अध्यायों में किया जायगा।

यद्यपि व्यक्तिगत भेदों के अध्ययन का इतिहास बहुत प्राचीन है, परन्तु अब तक व्यक्तियों को किसी मान्य वर्ग अथवा किसी प्रकार में रखने के सभी प्रयत्न विफल हुए हैं। जनसंख्या के किसी भी भाग की मानसिक योग्यताओं अथवा गुणों का परीक्षण करने पर सदैव एक ही प्रकार का वक्र बनता है, जिसे सामान्य सम्भावित वक्र (Normal Probability Curve) कहते हैं। इसका अभिप्राय: यह है कि अधिकांश व्यक्ति योग्यताओं में औसत (Average) अथवा मध्यमवर्ग के ही



सामान्य वक्र (नार्मल कर्व) में जनसंख्या के वितरण का प्रतिशत

होते हैं। जैसे-जैसे गुण की मात्रा कम या अधिक होती है वैसे ही व्यक्तियों की संख्या भी कम होती जाती है।

व्यक्तिगत भेद : आधुनिक सन्दर्भ में अर्थ एवं परिणाम

प्राचीनकाल में केवल शैक्षिक योग्यताओं में अन्तर के आधार पर व्यक्तिगत भेदों को ज्ञात किया जाता था, लेकिन आजकल वंशानुक्रम, व्यक्तिगत विकास, चारित्रिक विकास, अनुभव और सीखना, रुचि और विशिष्ट योग्यताओं आदि के आधार पर छात्र-छात्राओं में अनेक प्रकार की भिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। आज की पारिवारिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ भी अधिक जटिल हैं, जिनके कारण विभिन्न

---

1 Test of keenness of vision and hearings, muscular strength, reaction time, and Sensori motor functions.

परिस्थितियों और असमान पारिवारिक दशाओं से आने वाले बच्चों में अनेक प्रकार की व्यवहार एवं योग्यता सम्बन्धी असमानताएँ स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं। इसी सन्दर्भ में व्यक्तिगत भिन्नताओं की व्याख्या करते हुए स्किनर ने लिखा है—

"आज व्यक्तिगत विभिन्नताओं के विषय में हमारा विचार सम्पूर्ण व्यक्तित्व के किसी भी पहलू से ही सम्बन्धित है जो मूल्यांकन करने योग्य हैं।"[1]

व्यक्तित्व या व्यवहार का कोई भी पहलू जिसका मूल्यांकन किया जा सकता है, आज के विद्यालयों में व्यक्तिगत भेदों का आधार बन सकता है। टिलर ने व्यवहार या व्यक्तित्व के उन पहलुओं का वर्णन किया है, जिनका मापन या मूल्यांकन किया जा सकता है, और इस प्रकार प्राप्त मूल्यों के आधार पर ही व्यक्तिगत भेदों का शैक्षिक दृष्टि से विश्लेषण किया जा सकता है।

टिलर के अनुसार, "मूल्यांकन करने योग्य भेद, शारीरिक आकार तथा रूप, शारीरिक क्रियाओं, गति प्रदान करने वाली क्षमताओं, बुद्धि, उपलब्धि एवं ज्ञान, रुचि, मुद्रा तथा व्यक्तित्व की विशेषताओं में निहित है।"[2]

टिलर के अनुसार व्यक्तिगत भेद एक सार्वभौमिक घटना है। कोई भी दो व्यक्ति एक दूसरे के अनुरूप नहीं होते। इसलिए भेद या अन्तर प्रकृति का एक सार्वभौमिक नियम है[3]।

व्यक्तिगत भेदों के प्रमुख क्षेत्र

(1) **शारीरिक विकास में अन्तर**—जैसे—शरीर का लम्बा, ठिगना, मोटा अथवा पतला होना आदि।

(2) **बुद्धिमत्ता में अन्तर**—बुद्धि परीक्षाओं में बुद्धि के परीक्षण द्वारा एक ही कक्षा के बालक-बालिकाओं की बुद्धिमत्ता में परस्पर अन्तर ज्ञात किया जा सकता है। कक्षा के अधिकांश छात्रों की बुद्धि-लब्धि औसत अथवा मध्यम श्रेणी की (100 के लगभग) होती है। कुछ प्रतिभावान् होते हैं तो कुछ मन्द-बुद्धि, किन्तु वस्तु-स्थिति का ज्ञान तो किसी प्रामाणिक बुद्धि परीक्षा के प्रयोग से ही किया जा सकता है।

(3) **सीखने या ज्ञानोपार्जन में अन्तर**—यह अन्तर ज्ञानोपार्जन परीक्षाओं द्वारा ही ज्ञात किया जा सकता है। एक कुशल अध्यापक व्यक्तिगत निरीक्षण द्वारा भी अपनी कक्षा के छात्रों की सीखने की क्रिया में अन्तर समझ सकता है। कुछ बालक एक या दो विषयों में पिछड़ते हैं, तो कुछ सभी विषयों में पिछड़ते हैं। अतएव पाठशाला के सभी विषयों में ज्ञानोपार्जन की क्षमता का परीक्षण होना आवश्यक है। अध्यापक छात्रों की योग्यता अथवा क्षमता के अनुसार ही शैक्षिक कार्यक्रम आयोजित करके इस अन्तर को कम कर सकता है। जिन कारणों से ज्ञानोपार्जन में अन्तर दिखायी देते हैं वे अग्रांकित हैं—

---

1 "Today we think of individual differences as including any measurable aspect of total personality." —Skinner

2 "Measurable differences have been shown to exist in physical size and shape, physiological functions, motor capacities, intelligence, achievement and knowledge, interest, attitudes and personality traits." —Tyler

3 "Variability from individual to individual seems to be an universal phenomena." —Tyler

(क) पुस्तक पढ़ने अथवा समझने की गति में अन्तर।
(ख) प्रेरणा (Motivation) में अन्तर।
(ग) ज्ञानेन्द्रियों (दृष्टि और श्रवण) में अन्तर।
(घ) शारीरिक गुणों (Traits) में अन्तर अथवा कमियाँ।
(ङ) व्यक्तिगत गुणों (Traits) में अन्तर।
(च) परिपक्वावस्था (Maturity) प्राप्त करने में अन्तर।

(4) व्यक्तित्व विकास सम्बन्धी भिन्नताएँ—इस विषय पर अध्याय 40 में सविस्तार प्रकाश डाला जायगा। बालक-बालिकाओं की अभिवृत्तियाँ, आदतें, रुचियाँ, संवेग आदि भिन्नता के प्रमुख क्षेत्र हैं। उनकी पारिवारिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि भी समान नहीं होती। अध्यापक को विशेष रूप से छात्रों की अभिवृत्तियों का परीक्षण करना चाहिए।

(5) स्वभावगत भिन्नताएँ—इन भिन्नताओं का आधार व्यक्ति की आदतों एवं स्थायी भाव में अन्तर, संवेगात्मक और सामाजिक विकास में अन्तर होता है।

(6) गामक योग्यताओं के विकास पर आधारित अन्तर—इस प्रकार के अन्तर व्यक्ति की कार्य-कुशलता, कौशल सीखने की क्षमता और गत्यात्मक योग्यताओं (Motor Abilities) को प्रभावित करते हैं।

(7) अन्य प्रकार की भिन्नताएँ—लिंग सम्बन्धी भिन्नताएँ, जाति या राष्ट्रीयता सम्बन्धी भिन्नताएँ, भाषा सम्बन्धी भिन्नताएँ एवं सामाजिक भिन्नताएँ—ग्रामीण या शहरी।

(8) व्यक्ति के स्वयं आन्तरिक परिवर्तन (Intra-Individual Differences)—शिक्षा और अनुभव के साथ-साथ स्वयं व्यक्ति में आन्तरिक परिवर्तन होते रहते हैं। जिनका प्रभाव व्यक्ति के बाहरी व्यवहार की भिन्नताओं में भी दृष्टिगोचर होता है। व्यक्ति स्वयं एक परिवर्तनशील इकाई है जिसके स्वरूप की भिन्नता पृथक-पृथक परिस्थितियों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

मानव व्यवहार का अध्ययन करने वाला चाहे वह अध्यापक हो अथवा मनोचिकित्सक या व्यावसायिक निदर्शक, उसके पास व्यक्ति का सम्पूर्ण चित्रण होना चाहिए। तभी वह उस व्यक्ति के व्यवहार में वाञ्छनीय परिवर्तन कर सकता है।

छात्रों की वैयक्तिक भिन्नता का अध्ययन

व्यक्तिगत भिन्नताओं के परीक्षण करने का सर्वोत्तम उपाय उनकी विभिन्न योग्यताओं का मूल्यांकन करना है। इन योग्यताओं का छात्रों के कार्यों से निकट का सम्बन्ध होता है। कुछ विशिष्ट योग्यताएँ जैसे संगीत, चित्रकला आदि इन्द्रिय संवेदना, और गामक कुशलताओं पर निर्भर करती हैं। विभिन्न योग्यताओं का मूल्यांकन करके, ग्राफ-चित्र अथवा प्रोफाइल (Profile) तैयार किया जाता है। कुछ छात्रों की अनेक योग्यताओं का स्तर ज्ञात किया जाता है, जैसे—इतिहास, भाषा, गणित, निबन्ध लेखन आदि में। कुछ छात्रों की विभिन्न योग्यताओं के स्तर में विशेष असमानता दृष्टिगोचर होती है। उदाहरणार्थ—विद्यार्थी गणित तथा वैज्ञानिक तर्क से सम्बन्धित विषय में उत्कृष्ट है परन्तु भाषा या साहित्य रचना सम्बन्धी विषयों में मध्यम श्रेणी का है। अध्ययन की दो विधियाँ प्रमुख हैं :—(अ) खण्ड विधि (Cross

Sectional Method), (ब) वैयक्तिक इतिहास विधि—इसे (Longitudinal Method अथवा Case Study भी कहते हैं।

मनोवैज्ञानिक परीक्षणों के परिणामस्वरूप ही वैयक्तिक भिन्नता की समस्या पर अधिक प्रकाश डाला जा चुका है। केवल व्यक्ति ही एक दूसरे से भिन्न नहीं होते, अपितु स्वयं एक ही व्यक्ति की विभिन्न प्रकार की योग्यताओं में पर्याप्त असमानता होती है। यदि किसी व्यक्ति की विभिन्न योग्यताओं का परीक्षण किया जाए तो ज्ञात होगा कि उसकी कुछ योग्यताएँ औसत श्रेणी से ऊपर हैं और कुछ योग्यताएँ औसत श्रेणी की ही हैं तथा कुछ योग्यताएँ औसत श्रेणी से नीचे हैं। मनोविज्ञान में विभिन्न योग्यताओं और कुशलताओं को प्राय: प्रतिशतीय प्राप्तांक (Percentile-score) अथवा प्रमापी प्राप्तांक (Standard Score) में व्यक्त किया जाता है। सांख्यिकीय विधि से सामान्य प्राप्तांकों को स्टैण्डर्ड प्राप्तांक या प्रतिशतीय प्राप्तांकों में परिणित किया जा सकता है। इस प्रकार परिणित किये गये प्राप्तांकों की परस्पर तुलना की जा सकती है। मनोविज्ञान में एक ही व्यक्ति के गुण अथवा कुशलताओं की असमानता को वैयक्तिक गुणों की विचरणशीलता (Trait Variability) कहते हैं। शैक्षिक कार्यक्रम और निदर्शन की दृष्टि से भी इनका विशेष महत्व है।

वैयक्तिक गुणों की विचरणशीलता (Individual Trait Variability)

बुद्धि परीक्षाओं के प्रारम्भिक काल में बुद्धिलब्धि (I. Q.) को अधिक महत्व दिया जाता था और इसी के अनुसार ही छात्रों का वर्गीकरण किया जाता था। परन्तु आजकल एक ही प्रकार के प्राप्तांक (Score) के आधार पर वैयक्तिक भिन्नताओं का विवेचन नहीं किया जाता। आजकल बुद्धि-लब्धि के स्थान पर साइकोग्राफ (Psychograph) अथवा प्रोफाइल चार्ट में व्यक्ति की विभिन्न योग्यताओं अथवा कुशलताओं पर आधारित प्राप्तांक व्यक्त किये जाते हैं। ओटिस (Otis) महोदय ने सामान्य प्रतिशतीय लेखा चित्र (Normal Percentile Chart) का निर्माण किया था। इस चार्ट पर प्रतिशतीय और प्रमापी दोनों प्रकार के प्राप्तांक चित्रित किये जा सकते थे। एक ही समूह के अनेक परीक्षणों के परिणामों का साथ-साथ अध्ययन करने के लिए यह विधि अब भी बहुत उपयोगी है। प्रोफाइल का अवलोकन करके कोई भी अध्यापक अपने छात्र अथवा छात्रा को भलीभाँति समझ सकता है। वह उस छात्र का निदर्शन अधिक कुशलता से कर सकता है। उसे बालक की निर्धनता के क्षेत्रों का ज्ञान हो जाता है। संक्षेप में, अध्यापक को इस प्रकार के चार्ट से बालक का एक मानसिक चित्र प्राप्त हो जाता है। इसीलिए प्रत्येक अध्यापक को इस प्रकार के प्रोफाइल अथवा चार्ट तैयार करने और समझने की योग्यता प्राप्त कर लेनी चाहिए।

व्यक्तिगत भेद और शिक्षा

शिक्षा काल के प्रारम्भ में ही बालकों में व्यक्तिगत भेद प्रकट हो जाते हैं और शैक्षिक प्रगति के साथ-साथ ही ये भेद अधिक स्पष्ट हो जाते हैं। व्यक्तिगत योग्यताओं के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था करना, आधुनिक शिक्षा का उत्तरदायित्व है। छात्रों का सामान्य बौद्धिक स्तर ज्ञात करने के अतिरिक्त अध्यापक को उनकी योग्यताओं और

प्रभावों का परीक्षण भी करना चाहिए। बालकों की विशिष्ट योग्यता की खोज शिक्षा काल के प्रारम्भ में ही हो जानी चाहिए, जिससे बालक शिक्षा का पूर्ण लाभ प्राप्त करके अपनी विशिष्ट योग्यता के अनुसार विषयों का अध्ययन कर सके। पाठ्यक्रम में विविधता उत्पन्न करके व्यक्तिगत शैक्षिक आवश्यकता किसी सीमा तक पूरी की जा सकती है। किन्तु इसके अतिरिक्त विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रत्येक शिक्षक की अध्यापन विधियों में भी विविधता होनी चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि कक्षा के सभी छात्रों की प्रगति समान हो। छात्रों के लिए शैक्षिक कार्यक्रम लचीला होना चाहिए और प्रत्येक विद्यार्थी को अपना काम पूरा करने के लिए पर्याप्त अवकाश और स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए।

प्रायः देखा गया है कि एक ही कक्षा के विद्यार्थियों को दो अथवा अधिक वर्गों या समूहों में (उत्कृष्ट, मध्यम और निम्न) में विभाजित करके पढ़ाया जाता है, परन्तु केवल विभाजन कर देने से ही छात्रों की व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो जाती। वर्ग अथवा समूह में विभाजन करना व्यक्तिगत शिक्षा की ओर पहला कदम है। छात्रों की योग्यता के अनुसार ही पाठ्य-विषय और पाठन-विधि भी अनुकूल होनी चाहिए। शिक्षा की योजना कुछ भी हो, अध्यापक के लिए इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि विशिष्ट योग्यता वाले विद्यार्थियों की प्रतिभा का पूर्ण सदुपयोग हो सके और उसे नष्ट होने से भी बचाया जा सके। दूसरी ओर सीमित योग्यता वाले, मन्द-बुद्धि अथवा विकलांगों को भी आत्म-प्रदर्शन का पर्याप्त अवसर मिल सके। स्किनर के अनुसार—शिक्षक को व्यक्तिगत भिन्नता का ज्ञान इसलिए भी आवश्यक है कि वह शिक्षा की व्यवस्था इस ढंग से कर सके जिससे सभी प्रकार की क्षमता वाले बालक लाभ उठा सकें।[1]

संक्षेप में व्यक्तिगत भिन्नताओं का शैक्षिक महत्व इस प्रकार है—

(1) छात्र वर्गीकरण की नवीन विधियाँ तथा आधार—भिन्नताओं की जानकारी प्राप्त करके कक्षाओं में समरूप समूह बनाये जा सकते हैं।

(2) कक्षाओं में व्यक्तिगत शिक्षण पर बल—भिन्नताओं के आधार पर ही व्यक्तिगत शिक्षण कार्यक्रम प्रयुक्त किये जाते हैं। इस प्रकार विद्यार्थियों की व्यक्तिगत कठिनाइयों का निवारण किया जा सकता है।

(3) कक्षा के आकार को सीमित रखना—व्यक्तिगत भिन्नताओं के आधार पर शिक्षा देने का कार्यक्रम सीमित संख्या वाली कक्षाओं में ही प्रयुक्त किया जा सकता है। ऐसी कक्षा में छात्रों की संख्या 20 से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(4) शिक्षण विधियों में परिवर्तन एवं सुधार—सीमित संख्या और व्यक्तिगत भिन्नताओं को ध्यान में रखकर उचित, गतिशील, और क्रियाशील शिक्षण विधियाँ प्रयुक्त की जा सकती हैं।

(5) नवीन विधि से गृह-कार्य कराना—यह आवश्यक नहीं कि सभी छात्रों

---

1 "A knowledge of nature of individual differences is essential, if the teacher is to improve the education that all children receive regardless of their ability.

को एक-सा गृह-कार्य दिया जाए। बौद्धिक स्तर के अनुकूल गृह-कार्य का वितरण होना चाहिए।

(6) छात्रों में व्यक्तिगत तथा विशेष रुचियों का विकास—व्यक्तिगत ध्यान और सम्पर्क द्वारा अध्यापक प्रत्येक छात्र में विशिष्ट रुचियों का विकास कर सकता है।

(7) छात्रों की कमियां तथा दोषों का परिमार्जन—दृष्टि एवं श्रवण दोष आदि विचारों से पीड़ित छात्रों की कठिनाइयां दूर की जा सकती हैं।

(8) सह-शिक्षा—सह-शिक्षा वाली संस्थाओं में लिंग भेद के अनुसार शिक्षा दी जाती है।

(9) आर्थिक एवं सामाजिक स्तर—शिक्षा को छात्रों के आर्थिक एवं सामाजिक स्तर से भी सम्बन्धित करना चाहिए।

(10) पाठ्यक्रम का विभिन्नीकरण करना—इसका आधार भी व्यक्तिगत भेदों का अध्ययन ही होता है।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. व्यक्तिगत भेद की समस्या से आप क्या समझते हैं? आधुनिक सन्दर्भ में व्यक्तिगत भेदों की परिभाषा एवं व्याख्या कीजिए।
2. व्यक्तिगत भेदों के प्रमुख आधार क्या हैं? इनका बालक की शिक्षा से क्या सम्बन्ध है?

बुद्धि का स्वरूप, विशेषताएँ और सिद्धान्त
(INTELLIGENCE—NATURE, CHARACTERISTICS AND THEORIES)

यह बात सभी मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि शरीरधारियों में मनुष्य सबसे अधिक बुद्धिमान् प्राणी है। मानव शिशु अपनी जन्मजात् बुद्धि श्रेष्ठता के कारण ही अन्य पशुओं की अपेक्षा अधिक सीख सकता है। परन्तु बुद्धि का स्वरूप (Nature) क्या है? बुद्धि किन तत्वों (Elements) से मिलकर बनी है अथवा बुद्धि में कौन से कारक (Factors) कार्य करते हैं? इसके बारे में मनोवैज्ञानिकों में मतभेद है। कई बार मनोवैज्ञानिक परिषदों में बुद्धि के स्वरूप पर विचार-विमर्श किया गया, परन्तु विश्व के मनोवैज्ञानिक भी किसी सर्वमान्य निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके। संक्षेप में विभिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा की गई बुद्धि की व्याख्याओं और दी गई परिभाषाओं के आधार पर बुद्धिमत्तापूर्ण कार्यों के चार प्रमुख लक्षण माने गये हैं :—

बुद्धि क्या है ?

(1) बुद्धिमत्ता समायोजन या अनुकूलन करने की योग्यता है—मनोवैज्ञानिकों का एक समुदाय बुद्धि की परिभाषा करते समय व्यक्ति द्वारा अपने परिवेश के साथ अनुकूलन या समायोजन पर अधिक बल देता है। स्टर्न के अनुसार "बुद्धि, जीवन की नवीन समस्याओं और परिस्थितियों के साथ, अनुकूलन करने की सामान्य योग्यता है।"[1]

मैक्डूगल के अनुसार "बुद्धिमत्ता अनिवार्य रूप से नवीन अभियोजन करने की क्षमता है।"[2]

कॉल्विन भी बुद्धिमत्ता को अपने वातावरण के अभियोजन की योग्यता मानता है।[3]

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि इन विद्वानों के अनुसार बुद्धिमत्ता, व्यक्ति द्वारा जीवन में समायोजन करने की सामान्य शक्ति है, जिसकी सहायता से वह जीवन में नवीन परिस्थितियों का सामना करता है और पारिवेशिक आवश्यकताओं

---

1 "Intelligence is the general adaptability to new problems and conditions of life." —Stern

2 "Intelligence is essentially the capacity for making new adjustment." —McDougall

3 "The ability to learn, to adjust to one's environment." —Colvin

के अनुसार अपने व्यवहार को पुनर्गठित करता है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अधिक बुद्धिमान् व्यक्ति अपने व्यवहार का अधिकाधिक रचनात्मक संगठन करता है। जबकि अल्प बुद्धियुक्त व्यक्ति सीमित प्रतिक्रियाएँ ही करता है और उसका व्यवहार भी अल्प-रचनात्मक होता है।

(2) **बुद्धि सीखने की योग्यता है**—मनोवैज्ञानिकों का दूसरा समुदाय सीखने की योग्यता को ही बुद्धिमत्ता मानता है अर्थात् बुद्धिमान् व्यक्ति अल्प-काल में ही सीखता है और उसके सीखने का क्षेत्र भी विस्तृत होता है। कॉल्विन के अनुसार—बुद्धि सीखने और अभियोजन करने की योग्यता है।

कॉल्विन के शब्दों में "एक व्यक्ति उतना ही बुद्धिमान है जितना कि उसने नवीन परिस्थितियों से समायोजन करना सीख लिया है अथवा सीख सकता है।"[1]

वुडरो के अनुसार "बुद्धि ज्ञान का अर्जन करने की क्षमता है।"[2]

इसी प्रकार डीयरबॉर्न के अनुसार, "बुद्धि सीखने अथवा अनुभव से लाभ उठाने की क्षमता है।"[3]

जो सीख सकता है वही बुद्धिमान् एवं कुशाग्रबुद्धि समझा जाता है। विद्वता तथा बुद्धिमत्ता में सदैव से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। बकिंघम के शब्दों में :—

सीखने की योग्यता ही बुद्धिमत्ता है।[4]

(3) **बुद्धि अमूर्त चिंतन करने की क्षमता है**—मनोवैज्ञानिकों का तीसरा समुदाय अमूर्त विचार करने की क्षमता को ही बुद्धिमत्ता मानता है।

टरमैन के अनुसार, "बुद्धि अमूर्त चिन्तन की योग्यता है।"[5]

स्वयं बिने जिसने पहली बुद्धि परीक्षा का निर्माण किया था, बुद्धि में अमूर्त चिन्तन अर्थात् ज्ञानार्जन, आविष्कार, निर्देश और आलोचना आदि मानसिक तत्वों पर विशेष बल देता है—

बिने, के शब्दों में, "समझ, आविष्कार, लक्ष्य एवं आलोचना बुद्धि इन्हीं चार शब्दों में निहित है।"[6]

जीवन की घटनाओं, परिस्थितियों और समस्याओं का सफलतापूर्वक सामना करने के लिए बुद्धिमान् व्यक्ति प्रत्यय, शाब्दिक प्रतीक एवं अंक प्रतीक आदि की सहायता से अमूर्त विचार प्रक्रिया चलाता है।

(4) **बुद्धि समस्या समाधान की योग्यता है**—मनोवैज्ञानिकों का चौथा समूह बुद्धि को समस्या समाधान की योग्यता मानता है। उदाहरणार्थ बर्ट के अनुसार, "बुद्धि समुचित रूप से निर्णय करने, समझने तथा तर्क करने की योग्यता है।"[7]

---

1 "An individual possesses intelligence in so far as he has learned or can learn to adjust himself to his new enviroment." —Colvin

2 "Intelligence is an acquiring capacity." —Woodrow, *in Symposium on Intelligence.*

3 "Intelligence is the capacity to learn or to profit by experience." —Dearborn, in *Symposium on Intelligence*

4 "Intelligence is the ability to learn." —Buckingham

5 "The ability to do abstract thinking." —Terman

6 "Comprehension, invention, direction and criticism—intelligence contained in these four words." —Alfred Binet

7 "Intelligence is the ability to judge well, to comprehend well, to reason well." —Burt

वास्तव में समस्या समाधान और अमूर्त चिन्तन में कोई विशेष अन्तर नहीं है। बिना चिन्तन के किसी समस्या का समाधान नहीं होता और किसी भी समस्या को हल करने के लिए कुछ-न-कुछ अमूर्त चिन्तन अवश्य करना पड़ता है। स्पीयरमैन भी बुद्धिमत्ता का प्रकाशन अमूर्त चिन्तन में मानता है। रायबर्न के अनुसार बुद्धि वह शक्ति है जो हमको समस्याओं का समाधान करने और अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने की क्षमता प्रदान करती है।[1]

वास्तव में इन चारों प्रकार की परिभाषाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है। जिस व्यक्ति में सीखने की योग्यता होगी, वह परिवर्तित परिस्थितियों के साथ अपने व्यवहार का उचित समायोजन भी कर सकता है। जिन नवीन परिस्थितियों में वह अपने व्यवहार को परिवर्तित करता है, उनसे ही वह नवीन अनुभव और ज्ञान भी सीखता है। तीसरे प्रकार की परिभाषा भी पहली और दूसरी परिभाषा से पृथक नहीं है। कोई भी व्यक्ति अमूर्त विचार (शाब्दिक अथवा अंक सम्बन्धी) ठोस अनुभवों से ही प्राप्त करता है। ये अमूर्त विचार अनेक घटनाओं, वस्तुओं, दशाओं, गुणों और सम्बन्धों के प्रतीक होते हैं; चिह्नों और प्रतीकों की सहायता से ही बुद्धिमान् मानव अपने पिछले अनुभवों पर मनन कर सकता है, उनके परिणामों को आगामी परिस्थितियों में प्रयुक्त कर सकता है। पिछले अनुभवों के प्रकाश में ही नवीन परिस्थितियों और समस्याओं को सरलतापूर्वक समझ लेता है और उन्हें ठीक प्रकार से समझकर उचित प्रतिक्रिया भी करता है। संक्षेप में—अमूर्त विचार करने की क्षमता से व्यक्ति को नवीन समायोजन करने में सहायता मिलती है और उसके व्यवहार एवं समायोजन का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो जाता है।

आधुनिक मनोविज्ञान ने बुद्धि सम्बन्धी चारों प्रकार की परिभाषाओं को मिलाकर नवीन परिभाषाएँ भी प्रस्तुत की हैं जिनमें से दो परिभाषाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। डी० वैक्सलर द्वारा की गई बुद्धि की परिभाषा का आशय इस प्रकार है। 'बुद्धि व्यक्ति की उन सब व्यापक योग्यताओं और क्षमताओं का एकीकरण है, जोकि उसकी क्रियाओं को उद्देश्यमय बनाती है, उसकी विचार प्रक्रिया को तर्कसंगत बनाती है तथा परिवेश का सामना करने में उसके व्यवहार को प्रभावशाली बनाती है।"[2]

अतएव स्पष्ट है कि वैक्सलर ने अपनी परिभाषा मे तीन बातों पर बल दिया है (क) उद्देश्य (ख) विचार क्रिया (ग) वातावरण को प्रभावित करना।

स्टोडार्ड के अनुसार बुद्धि—उन कार्यों को करने की शक्ति है जिनमें (क) कठिनाई हो (ख) जटिलता हो (ग) अमूर्तता तथा मितव्ययता हो (घ) उद्देश्य प्राप्त करने की क्षमता हो (ङ) जिसका सामाजिक मूल्य हो (च) जिसको करने में मौलिकता

---

1 "Intelligence is the power which enables us to solve problems and to achieve our purposes." —Ryburn p 216

2 "Intelligence is the global capacity of the individual to act purposefully, to think rationally and to deal effectively with his environment." —Wechsler

की अपेक्षा हो (छ) विशिष्ट परिस्थितियों में भी शक्ति का केन्द्रीकरण करके और (ज) संवेगों पर नियन्त्रण करके किसी कार्य को पूरा करने की योग्यता हो।[1]

स्टोडार्ड की परिभाषा अधिक व्यापक और वस्तुगत है तथा मानव व्यवहार के अनेक क्षेत्रों को स्पर्श करती है।

बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवहार के सामान्य लक्षण

1. बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवहार समायोजनात्मक अथवा वातावरण के साथ अनुकूलनात्मक होता है।

2. इसके द्वारा व्यवहार के सभी क्षेत्रों में मानसिक कुशलता प्राप्त होती है बर्ट के अनुसार बुद्धि जन्मजात् सार्वभौमिक मानसिक क्षमता है—[2]

3. इसका सहज प्रकाशन सीखने के कार्यों में होता है। यह व्यक्ति के सीखने, ग्रहण करने, खोज करने और अनुकरण करने की भी क्षमता है।

4. मानव व्यवहार में बुद्धि का सर्वोच्च विकास विशेषकर अमूर्त चिन्तन तर्क और रचनात्मक कल्पनाओं में देखा जा सकता है।

5. बुद्धिमान् व्यक्ति के व्यवहार में अथवा प्रतिक्रियाओं में उत्तरोत्तर सुधार होता रहता है।

6. बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवहार उद्देश्यमय होता है। बुद्धि का सामान्य उद्देश जीवन की समस्याओं को हल करना है।

7. बुद्धि का सहज विकास सामाजिक वातावरण में होता है।

8. बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवहार संवेगों से बहुत कम प्रभावित होता है।

9. बुद्धि पर लिंग भेद का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। हाँ, वंशानुक्र अथवा वातावरण का प्रभाव पड़ सकता है।

10. शिक्षा बुद्धि को प्रखर बनाती है।

बुद्धि के प्रकार

थॉर्नडाइक ने बुद्धि के तीन प्रकार की व्याख्या की है :

(1) मूर्त बुद्धि—पदार्थों और वस्तुओं को समझने और उन्हें प्रयोग कर की योग्यता। इसे यान्त्रिक (Mechanical) अथवा गत्यात्मक बुद्धि भी कहते हैं।

(2) अमूर्त बुद्धि—शाब्दिक चिन्हों, अंकों तथा अन्य प्रतीकों को समझ और प्रयोग करने की योग्यता। आधुनिक बुद्धि परीक्षाओं में इसी की प्रधानता है कवि, आलोचक, तथा वैज्ञानिक इसी प्रकार की बुद्धि का उपयोग करते हैं।

(3) सामाजिक बुद्धि—व्यक्तियों को समझने और उनके साथ उचित व्यवहार करने की योग्यता है। यह सामाजिक सम्बन्धों को समझने तथा सामाजिक दशाओं में समायोजन करने की योग्यता है।

(1) एक खण्ड सिद्धान्त (Unifactor Theory)—इस विचार के अनुसार

---

1 "Intelligence is the ability to undertake activities that are characterised by (a) difficulty (b) complexity (c) abstractness (d) economy (e) adaptiveness to a goal (f) Social value and (g) emergence of originals, and to maintain such activities under conditions that demand a concentration of energy and a resistance to emotional forces." —Stoddard

2 "Inborn alround mental efficiency." —Burt

बुद्धि एक इकाई है जोकि व्यवहार के सभी क्षेत्रों को प्रभावित एवं प्रकाशित करती है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक एबिंगघोस, बिने, टरमैन और स्टर्न थे। एबिंगघोस बुद्धि को संश्लेषण करने की योग्यता मानता था। इसके अनुसार बुद्धि एक अविभाज्य, जन्मजात और व्यापक शक्ति है। बर्ट के अनुसार बुद्धि चहुँमुखी मानसिक विशेषता है। बुद्धि सम्बन्धी यह विचार अब बहुत पुराना हो गया है।

बुद्धि सम्बन्धी प्रचलित सिद्धान्त

(2) थॉर्नडाइक का बहुतत्व सिद्धान्त (Multifactor Theory)—इसे नेक खण्डीय सिद्धान्त भी कहते हैं। थॉर्नडाइक के अनुसार बुद्धि अनेक योग्यताओं एवं खण्डों का समूह है। ये तत्व एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न, स्वतन्त्र इकाइयाँ हैं। किसी भी व्यक्ति के कार्य को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि अन्य कार्यों में भी उसकी बुद्धिमत्ता का स्तर वही रहेगा। परन्तु थॉर्नडाइक ने स्वयं जिन बुद्धि परीक्षाओं का निर्माण किया उनसे ज्ञात होता है कि उसने बुद्धि के विभिन्न तत्वों को पृथक-पृथक समूहों में विभाजित करके उनका नामकरण भी किया है। उदाहरण के लिए मूर्त बुद्धि परीक्षा के लिए उसने CAVD परीक्षा का निर्माण किया। इस परीक्षा में—

C अर्थात् Completion of Sentence वाक्यपूर्ति
A अर्थात् Arithmetical Reasoning गणित के तर्क
V अर्थात् Vocabulary शाब्दिक योग्यता
D अर्थात् Directions निर्देशों का पालन

इन चारों में अमूर्त बुद्धि (Abstraction) का परीक्षण किया जाता है।

(3) द्विखण्ड सिद्धान्त (Two Factors Theory)—इसका प्रतिपादन स्पीयरमैन ने किया था। स्पीयरमैन का विचार था कि बुद्धि में तत्वों अथवा दो भागों की संयुक्त शक्ति है। एक सामान्य (General or 'G') तथा दूसरा विशिष्ट (Specific or 'S')। जीवन के सभी कार्यों में 'G' की कुछ मात्रा अवश्य विद्यमान रहती है, अतएव सामान्य योग्यता अधिक महत्वपूर्ण है। व्यक्ति की सामान्य और विशिष्ट योग्यताओं में अन्तर होता है। वह व्यक्ति जिसकी सामान्य योग्यता 'G' उत्कृष्ट होती है, उसकी बुद्धिमत्ता का स्तर सभी कार्यों में उच्च रहता है। यदि 'G' साधारण है तो उसके सभी कार्यों का स्तर नीचा हो सकता है।

जीवन के सभी कार्यों में 'G' और 'S' की मात्रा समान नहीं होती। उदाहरणार्थ—गणित में 'G' की अधिक मात्रा प्रयुक्त होती है। संगीत और चित्रकला में 'S' की अधिक मात्रा का होना आवश्यक है। स्पीयरमैन ने दीर्घकालीन परीक्षणों के उपरान्त 'G' और 'S' का अनुपात विभिन्न कार्यों में व्यक्त करने का प्रयत्न किया था। उदाहरण के लिए प्रतिभाशाली संगीतज्ञ होने के लिये G : S = 1 : 4 होना चाहिए। क्योंकि 'G' की आवश्यकता सभी कार्यों में होती है। अधिकांश बुद्धि परीक्षाओं द्वारा 'G' भाग को मापने का प्रयत्न किया जाता है। स्पीयरमैन के अनुसार 'G' मानसिक शक्ति है। स्वयं स्पीयरमैन तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों ने बाद में इस सिद्धान्त में परिवर्तन किए और 'G' भाग को पुन विभाजित किया।

(4) सामूहिक खण्ड सिद्धान्त (Group Factor Theory)—स्पीयरमैन ने

सन् 1927 के पश्चात् अपनी रचनाओं में एक तीसरे खण्ड की व्याख्या की है, जिसको सामूहिक खण्ड (Group Factor) का नाम देकर 'G' और 'S' के साथ जोड़ दिया गया है। बाद के परीक्षणों से स्पीयरमैन का ध्यान कुछ ऐसे तत्वों की ओर आकर्षित हुआ जो कि सामान्य योग्यता से भी उच्च स्तर के थे और कुछ तत्व विशिष्ट योग्यता से निम्न स्तर के थे। इन सब खोजों में खण्ड विश्लेषण (Factor Analysis) प्रणाली अपनाई गई थी। थर्स्टोन (Thurstone) ने इस विचार को अपनी खोजों में अधिक विकसित करके बुद्धि सम्बन्धी एक पृथक सिद्धान्त, सामूहिक खण्ड सिद्धान्त (Group Factor Theory) के नाम से स्थापित किया है। थर्स्टोन की व्याख्याओं एवं विश्लेषणों के अनुसार कुछ मानसिक क्रियाएँ एक प्रारम्भिक खण्ड से प्रभावित होती हैं जिसके कारण इन क्रियाओं को मनोवैज्ञानिक एकता और समानता प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार की समान और एकता प्राप्त मानसिक क्रियाओं को ही समूह (Group) कहते हैं। ये प्रारम्भिक खण्ड, एक दूसरे से स्वतन्त्र होते हैं और इनसे होने वाली क्रियाओं को एकत्व की प्राप्त होती है। थर्स्टोन और उसके साथियों ने विस्तृत खोज कार्य के उपरान्त, निष्कर्ष रूप में 6 प्रारम्भिक खण्डों का उल्लेख किया है जो कि बुद्धि परीक्षा का निर्माण करने में प्रयुक्त होते हैं।

(1) अंक सम्बन्धी खण्ड (The Number Factor) (N)—अंकों की ठीक-ठीक गणना शीघ्रता से करने की योग्यता।

(2) शाब्दिक खण्ड (The Verbal Factor) (V)—शब्दों को समझने और संश्लेपण करने की योग्यता।

(3) दृश्य अथवा स्थान सम्बन्धी खण्ड (The Space Factor) (S)—वह कार्य करने की योग्यता, जिसमें व्यक्ति किसी काल्पनिक स्थान पर किसी वस्तु का प्रहस्तन करता है।

(4) शब्द प्रवाह खण्ड (The Word Fluency Factor) (W)—असम्बन्धित शब्दों को शीघ्रतापूर्वक सोचने की योग्यता।

(5) तर्क अथवा निगमन शक्ति (The Reasoning power) (R)—तर्क द्वारा कोई सिद्धान्त अथवा नियम खोजने की योग्यता।

(6) रटना या स्मृति खण्ड (The Rote Memory Factor) (M)—शीघ्र याद करने की योग्यता।

यद्यपि ये प्रारम्भिक मानसिक योग्यताएँ अथवा खण्ड आधुनिक मनोविज्ञान में भलीभांति स्थापित हो चुके हैं, तथापि बिल्कुल शुद्ध एवं असम्बन्धित नहीं हैं क्योंकि ये एक दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश करती हैं। स्वयं थर्स्टोन ने 1943 के बाद दूसरे प्रकार के सात खण्डों की खोज एवं व्याख्या की है जिसके कारण इनकी संख्या अब 13 हो गई है। उपरोक्त 6 खण्डों के अतिरिक्त सात नवीन खण्ड निम्न प्रकार हैं—

(1) प्रत्यक्षीकरण की योग्यता (Perceptual Ability)
(2) तार्किक योग्यता (Logical Ability)
(3) निगमनात्मक योग्यता (Deductive Ability)
(4) आगमनात्मक योग्यता (Inductive Ability)

(5) समस्या समाधान योग्यता (Problem Solving Ability)

(6) साहचर्य स्मृति योग्यता (Associative Memory Ability)

(7) प्रत्यक्ष गति योग्यता (Perceptual Speed Ability)

कीले (Kelley) ने भी सामूहिक खण्ड सिद्धान्त की दिशा में बुद्धि सम्बन्धी खोजें कीं। उसने अपनी पुस्तक *"Cross Roads in the Mind of Man"* में बुद्धि के निम्नलिखित 9 खण्डों अथवा योग्यता समूहों (Ability Groups) की व्याख्या की है।

(1) रुचि (Interest)

(2) गामक योग्यता (Motor Ability)

(3) सामाजिक योग्यता (Social Ability)

(4) सांख्यिक योग्यता (Numerical Ability)

(5) शाब्दिक योग्यता (Verbal Ability)

(6) शारीरिक योग्यता (Physical Ability)

(7) संगीतात्मक योग्यता (Musical Ability)

(8) यांत्रिक योग्यता (Mechanical Ability)

(9) स्थान सम्बन्धी योग्यता (Ability to dealt with Spatial Relations)

बर्ट तथा वर्नन (Vernon) ने सामान्य योग्यताओं को दो बड़े समूहों में विभाजित किया है—(1) सांख्यिक, शाब्दिक अथवा शैक्षिक, (2) क्रियात्मक अथवा यान्त्रिक।

शिक्षा के क्षेत्र में हमारा उद्देश्य बुद्धि परीक्षाओं द्वारा बालक-बालिकाओं की योग्यता की परख करके उन्हें, उनकी योग्यताओं के अनुकूल शिक्षा देना है। प्राचीन काल में लोगों का विश्वास था कि बुद्धि आगे की पीढ़ियों में संक्रमित होती है।

बुद्धि और शिक्षा

क्या वास्तव में बुद्धि संक्रमित होती है? इस प्रश्न को लेकर गाल्टन के समय से अब तक अनेक खोजें की जा चुकी हैं। इन खोजों के सम्बन्ध में जिन विधियों को अपनाया गया, वे इस प्रकार हैं—

(1) सह-सम्बन्ध प्रणाली (Correlation Method)—यह प्रणाली कार्ल-पीयर्सन द्वारा प्रारम्भ की गई थी।

(2) पारिवारिक इतिहास अध्ययन—इसका अध्ययन गाल्टन एवं गोडार्ड आदि द्वारा किया गया।

(3) जुड़वाँ बालकों का अध्ययन—इसका अध्ययन गैसिल (Gesell) फ्रीमैन एवं न्यूमैन आदि द्वारा किया गया।

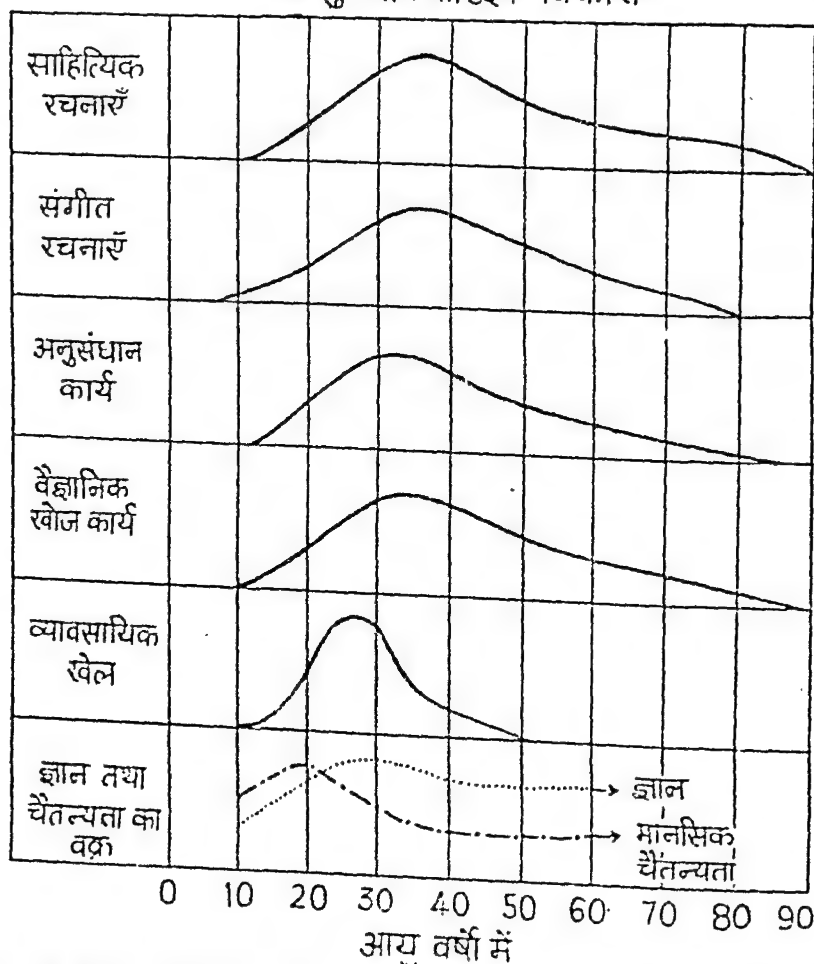
(4) धात्रेय (Adopted) बालकों का अध्ययन—इसका अध्ययन फ्रीमैन एवं श्वीसेंगर (Schwesenger) द्वारा किया गया।

इन चारों विधियों से किए गए अध्ययनों के निष्कर्ष प्राय: समान नहीं हैं। लेकिन यह बात सभी विद्वान् मानते हैं कि बुद्धि एक जन्मजात् गुण है, जिसको अधिक परिवर्तित नहीं किया जा सकता। बुद्धि के सर्वोच्च विकास, जीवन में उपयोग

एवं सफलता के लिए उचित वातावरण का मिलना नितान्त आवश्यक है। बुद्धि का कार्य शून्य में नहीं होता। किसी सीमा तक बुद्धि का निर्धारक वंशानुक्रम ही है परन्तु यह भी आवश्यक नहीं है कि बालक की बुद्धि लब्धि माता अथवा पिता के बराबर ही हो। बुद्धि का स्तर जो बाल्यकाल में रहता है वही जीवनपर्यन्त बना रहता है। हां, किसी आकस्मिक घटना, बीमारी या परिस्थितियों में अधिक परिवर्तन के कारण बुद्धि का स्तर उच्च अथवा निम्न हो सकता है।

आयु और बौद्धिक विकास

बालक-बालिकाओं के बुद्धि के विकास का उनके सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। बिने के अनुसार बालक की बुद्धि का विकास 15 वर्ष की आयु तक होता है, टरमैन के अनुसार 16 वर्ष की आयु तक और बर्ट के अनुसार केवल 14 वर्ष की आयु तक ही। यद्यपि मस्तिष्क का 90% भार 5 वर्ष की आयु तक



आयु के अनुसार बुद्धिमता तथा उपलब्धियों का सम्बन्ध व्यक्त करने वाले वक्र
(From studies by Lehman, James and Conard)

पूर्ण हो जाता है और शेष 10% मार 15 वर्ष की आयु तक पूर्ण होता है। बर्ट के अनुसार जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में बुद्धि के विकास की गति तीव्र रहती है और लगभग 12 वर्ष की आयु के पश्चात् मंद पड़ जाती है। मनोवैज्ञानिक ओटिस के अनुसार बुद्धि का विकास 18 वर्ष की आयु तक होता रहता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि किशोरावस्था तक बालक की बुद्धि का विकास होता है। 10 वर्ष की आयु के बाद विकास वक्र तेजी से ऊपर की ओर बढ़ते हैं। 30 से 40 वर्ष के बाद पुनः नीचे की ओर आते हैं। देखिये पृष्ठ 422 पर चित्र आयु और बौद्धिक विकास। किशोरावस्था के मध्य में अथवा अन्त में किसी भी समय इस विकास में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। विकास और अभिवृद्धि एक व्यक्तिगत प्रक्रिया है, अतः सभी व्यक्तियों में निश्चित समानता असम्भव है। परीक्षणों द्वारा यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि लिंग-भेद का बुद्धि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अब स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा मंदबुद्धि समझना, अमनोवैज्ञानिक ही होगा। हाँ, उन्हें घरेलू काम-काज के कारण अथवा अन्य कारणों से शिक्षा से वंचित रहकर ज्ञान बढ़ाने का अवसर ही न मिले तो यह दूसरी बात है। यदि उन्हें भी पुरुषों के समान शिक्षा का अवसर मिले तो वे भी प्रतिभाशालिनी और विद्वान् बन सकती हैं। शिक्षा से बुद्धि की वृद्धि नहीं होती अपितु इसके द्वारा ज्ञान की वृद्धि होती है जिसके आधार पर व्यक्ति अपने जीवन को अधिक प्रभावशाली और उपयोगी बनाता है।

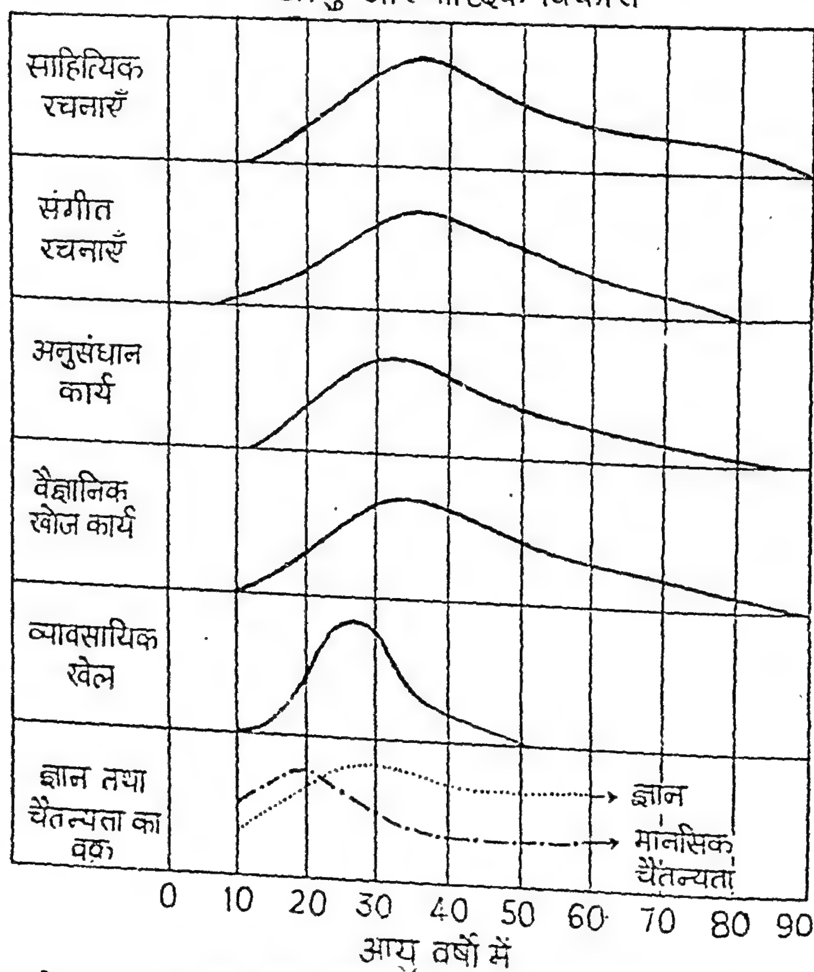
परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. बुद्धि क्या है? बुद्धि के चार प्रमुख लक्षणों में क्या सम्बन्ध है?
2. बुद्धि की सर्वश्रेष्ठ परिभाषा दीजिये और बताइये कि यह किस प्रकार अन्य परिभाषाओं से उत्तम है?
3. बुद्धि के बारे में मनोवैज्ञानिकों ने क्या सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं? इनका बालक की शिक्षा की दृष्टि से क्या महत्व है?
4. बुद्धिमतापूर्ण व्यवहार के क्या लक्षण हैं? बुद्धि विकास का आयु से क्या सम्बन्ध है?

एवं सफलता के लिए उचित वातावरण का मिलना नितान्त आवश्यक है। बुद्धि का कार्य शून्य में नहीं होता। किसी सीमा तक बुद्धि का निर्धारक वंशानुक्रम ही है परन्तु यह भी आवश्यक नहीं है कि बालक की बुद्धि लब्धि माता अथवा पिता के बराबर ही हो। बुद्धि का स्तर जो बाल्यकाल में रहता है वही जीवनपर्यन्त बना रहता है। हां, किसी आकस्मिक घटना, बीमारी या परिस्थितियों में अधिक परिवर्तन के कारण बुद्धि का स्तर उच्च अथवा निम्न हो सकता है।

बालक-बालिकाओं के बुद्धि के विकास का उनके सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। बिने के अनुसार बालक की बुद्धि का विकास 15 वर्ष की आयु तक होता है, टरमैन के अनुसार 16 वर्ष की आयु तक और बर्ट के अनुसार केवल 14 वर्ष की आयु तक ही। यद्यपि मस्तिष्क का 90% भार 5 वर्ष की आयु तक

आयु और बौद्धिक विकास



आयु के अनुसार बुद्धिमता तथा उपलब्धियों का सम्बन्ध व्यक्त करने वाले वक्र
(From studies by Lehman, James and Conard)

37

मानसिक परीक्षाएँ—1

मनोविज्ञान द्वारा मानसिक परीक्षाओं का निर्माण एवं प्रचलन शिक्षा जगत् को एक अनुपम उपहार है। मनोविज्ञान की इस नवीनतम अद्वितीय शाखा का जितना अधिक प्रयोग शिक्षा के क्षेत्र में हुआ है, अन्यत्र नहीं हुआ। अतः शिक्षा में बुद्धि परीक्षाओं का विशेष स्थान है।

संक्षिप्त विकासात्मक इतिहास

उन्नीसवीं शताब्दी में सर्वप्रथम पागल और मंद-बुद्धि के बीच मानसिक अन्तर ज्ञात करने का प्रयत्न किया गया। ऐस्क्विरल (Esquiral 1838) नामक फ्रांसीसी चिकित्सक ने मन्द बुद्धि लोगों की अनेक श्रेणियों की व्याख्या की। उसके भाषा प्रयोग को ही आधार मानकर भाषा स्तर के अनुसार मंदबुद्धि लोगों का बौद्धिक स्तर निश्चित किया गया। आज भी अधिकांश मानसिक परीक्षाओं में भाषा ज्ञान की प्रचुरता है। उन्नीसवीं शताब्दी में प्रयोगात्मक मनोविज्ञान की खोजों द्वारा मानसिक परीक्षाओं के कार्य-क्रम और विधियों को अधिक वैज्ञानिक आधार प्राप्त हुआ और अन्य प्रयोगों के समान ही बुद्धि-परीक्षाओं में भी सामान्य परिस्थितियों का नियन्त्रण आवश्यक समझा जाने लगा। गाल्टन महोदय ने सन् 1882 में लन्दन में मानवीय गुणों के परीक्षण करने और अभिलेख (Record) तैयार करने के लिए एक प्रयोग-शाला स्थापित की। स्वयं गाल्टन ने—जोकि वंशानुक्रम के अध्ययन में जुटा हुआ था—अनेक छोटी बुद्धि-परीक्षाएँ तैयार कीं जिनका प्रयोग इस प्रयोगशाला में किया जाता था। उसने अनेकों मापक (Rating Scale) और प्रश्नावलियाँ (Questionnaire) का निर्माण किया।

अमेरिका में कैटिल (Cattell) महोदय ने सन् 1890 के लगभग बुद्धि-परीक्षा के कार्य-क्रमों को बहुत प्रोत्साहित किया। मनोवैज्ञानिक साहित्य में 'मानसिक-परीक्षा' 'शब्द' का सर्वप्रथम प्रयोग करने का श्रेय कैटिल को ही प्राप्त है। इसी समय एक जर्मन मनोवैज्ञानिक एबिंघोस (Ebbinghaus) ने भी कुछ बुद्धि परीक्षाओं

का निर्माण किया, जिनमें मुख्य रूप से अंकगणित, स्मृति और वाक्यपूर्ति का प्रयोग किया गया था।

बिने-काल की (Binet's Period) व्यक्तिगत परीक्षाएँ

बिने की बुद्धि परीक्षाएँ

बिने को आधुनिक बुद्धि परीक्षाओं का जन्मदाता कहा जाता है। तत्कालीन बुद्धि-परीक्षा की ओर बिने का ध्यान सन् 1895 में आकर्षित हुआ। उसने एक लेख में तत्कालीन बुद्धि-परीक्षाओं की आलोचना करते हुए बताया कि वे अधिकतर इन्द्रिय संवेदना का ही परीक्षण करती थीं। उसके अनुसार बुद्धि-परीक्षा के लिए केवल इन्द्रिय संवेदना का ही परीक्षण करना पर्याप्त नहीं है, अपितु बुद्धि-परीक्षा के परीक्षण का क्षेत्र अधिक व्यापक होना चाहिए। बिने का सुझाव था कि बुद्धि परीक्षा के अन्तर्गत मस्तिष्क के अनेकों कार्य जैसे-स्मृति, कल्पना, अवधान, अर्थग्रहण करना, सांकेतिकता, सौन्दर्यानुभूति आदि का परीक्षण होना चाहिए। सन् 1904 में बिने को अपने सुझावों के कार्यान्वित करने का अवसर भी मिल गया। फ्रांस के शिक्षा-मन्त्री ने बिने और डॉ० साइमन (Simon) को पेरिस के असामान्य बालक-बालिकाओं की शिक्षा की समस्या का अध्ययन करने के लिए नियुक्त किया। इन बच्चों का अध्ययन करने के लिए एक विश्वसनीय बुद्धि-परीक्षा की आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति के लिए 1905 में सर्वप्रथम बिने साइमन स्केल (Binet Simon Scale) का निर्माण हुआ। इस परीक्षा में 30 प्रश्न थे। प्रथम प्रश्न सबसे अधिक सरल और 30वाँ प्रश्न सबसे अधिक कठिन था। उदाहरण के लिए इस परीक्षा के कुछ प्रश्न तथा कार्य निम्नलिखित हैं—

प्रश्न सं० 5—कागज में लिपटी हुई चोकलेट खोलना।

प्रश्न सं० 9—तस्वीर में दिखाई गई वस्तुओं के नाम बोलना।

प्रश्न सं० 15—पन्द्रह शब्दों के वाक्य की स्मृति।

प्रश्न सं० 25—एक शब्द और जोड़कर किसी वाक्य को पूरा करना।

प्रश्न सं० 30—अन्तर बताना, जैसे—पसन्द करना और आदर करना, दुःखी होना और उदास होना।

इनमें अनेक प्रकार की मानसिक क्रियाओं के परीक्षण के अतिरिक्त तर्क, समझ और निर्णय पर विशेष बल दिया गया था। सन् 1908 में इस परीक्षा में पुनः सुधार करके इसका नवीन संस्करण प्रस्तुत किया गया, जिसमें प्रश्नों की संख्या में वृद्धि की गई थी और पुराने अनुपयुक्त प्रश्नों के स्थान पर नवीन प्रश्न रख दिए गए थे। इस संस्करण की नवीनता यह थी कि इसमें प्रत्येक आयु स्तर के लिए प्रश्न निश्चित थे। इस प्रकार बालक की मानसिक आयु (Mental Age) निश्चित की जा सकती थी। मानसिक आयु का विचार बिल्कुल नवीन था और यह शीघ्रता से प्रचलित भी हुआ; इसके साथ-साथ ही बिने की बुद्धि-परीक्षा का प्रयोग भी अधिक प्रचलित हो गया।

इस बुद्धि-परीक्षा का तृतीय संस्करण बिने की मृत्यु से 1 वर्ष पूर्व 1911 में प्रकाशित हुआ। इसमें कुछ प्रश्नों में परिवर्तन कर दिये गये थे और कुछ आयु स्तरों पर प्रश्नों की संख्या में वृद्धि कर दी गई थी। इसकी विशेषता यह थी कि स्केल का विस्तार प्रौढ़ स्तर तक कर दिया गया था। अनेक देशों में इस बुद्धि-परीक्षा का अनुवाद किया गया है। अमेरिका में टरमैन (Terman L. M.) द्वारा स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय में 1916 में इसका एक संस्करण स्टैनफोर्ड-बिने (Stanford Binet) के नाम से प्रकाशित हुआ। इसमें सर्वप्रथम बुद्धिलब्धि (Intelligence Quotient) का प्रयोग किया गया था। यह बुद्धिलब्धि बालक की मानसिक आयु और वास्तविक आयु का अनुपात होता है। इसके अतिरिक्त कुहलमैन, मार्कीज, ब्रिजिल, हार्डविग और हैरिंग आदि ने भी बुद्धि-परीक्षा का अनुवाद और उसमें सुधार किया। कुहलमैन द्वारा (1912 में) प्रस्तुत संस्करण में 3 मास की आयु तक के बौद्धिक परीक्षण का आयोजन था।

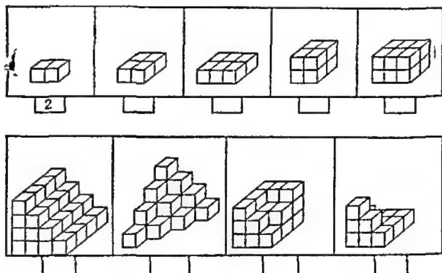
सामूहिक परीक्षा काल

सामूहिक बुद्धि-परीक्षाएँ

बिने बुद्धि-परीक्षाएँ अथवा इसके समान अन्य बुद्धि-परीक्षाएँ व्यक्तिगत रूप में ही प्रयुक्त की जा सकती हैं। इनको प्रयोग करने वाले परीक्षक भी कुशल एवं प्रशिक्षित होने चाहिए। इसीलिए इन परीक्षाओं को अधिक व्यक्तियों पर शीघ्रता से प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। सन् 1917 में जबकि अमेरिका ने प्रथम युद्ध में प्रवेश किया तो लाखों सैनिकों का शीघ्रता से मानसिक परीक्षण करके वर्गीकरण करने की आवश्यकता अनुभव की गई। इस प्रकार के परीक्षण से युद्ध-कार्य में बहुत सहायता मिल सकती थी, जैसे—सैनिकों को छुट्टी देना, उन्हें उपयुक्त कार्य पर नियुक्त करना तथा विभिन्न सेवाओं के लिए विशिष्ट योग्यता वाले सैनिकों का चुनाव करना, आदि। इसी समय ओटिस (Arthur S. Otis) ने एक सामूहिक बुद्धि-परीक्षा प्रस्तुत की थी। इसी को आधार मानकर तथा अन्य बुद्धि-परीक्षाओं से भी कुछ सामग्री लेकर सेना के मनोवैज्ञानिकों ने दो सामूहिक परीक्षाओं का निर्माण किया, जोकि क्रमशः आर्मी अल्फा (Army Alpha) और आर्मी बीटा (Army Beta) कहलाती हैं। आर्मी अल्फा साक्षर व्यक्तियों के लिए और आर्मी बीटा निरक्षर व्यक्तियों के लिए। दोनों परीक्षाएँ एक विशाल समूह पर एक साथ ही प्रयुक्त की जा सकती थीं। युद्ध के बाद ये परीक्षाएं सार्वजनिक प्रयोग में आने लगीं और आवश्यकतानुसार इनमें यथासम्भव परिवर्तन भी किये गये। इन परीक्षाओं को प्रयोग करने के लिए परीक्षकों को विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं है। एक अध्यापक भी सरलतापूर्वक इस प्रकार की परीक्षा अपनी कक्षा में प्रयुक्त कर सकता है। सामूहिक बुद्धि-परीक्षाओं ने कुछ ही समय में (1920-30) पाश्चात्य जनता को बुद्धिलब्धि और बुद्धि-परीक्षाओं से परिचित करा दिया है।

आर्मी बीटा टैस्ट में प्रयुक्त घन-विश्लेपण परख (Cube Analysis Test)

का उदाहरण निम्न चित्र द्वारा प्रदर्शित किया गया है। प्रत्येक खाने के नीचे दिए हुए स्थान में घनों की संख्या लिखिए।



क्रियात्मक बुद्धि-परीक्षाएं

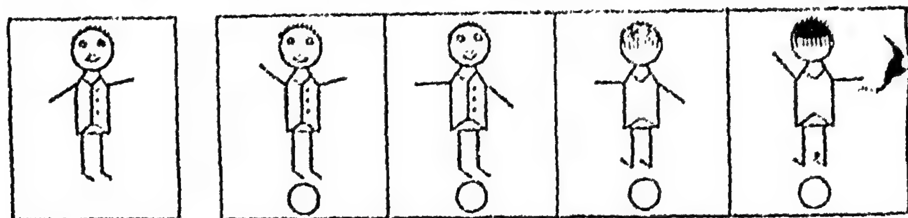
इस प्रकार की परीक्षा में व्यक्ति को कुछ वस्तुओं, चित्रों अथवा यान्त्रिक सामग्री का प्रहस्तन करना पड़ता है। कुछ परीक्षाओं में व्यक्ति को दैनिक जीवन का कोई कार्य करने के लिए दिया जाता है। इस प्रकार की परीक्षाओं को व्यक्तिगत रूप में ही प्रयुक्त किया जा सकता है।

क्रियात्मक परीक्षा का सर्वप्रथम निर्माण सैग्युन (Seguin) ने फ्रांस में सन् 1848 में किया था। उसके द्वारा बनाया गया फॉर्म बोर्ड (Seguin Form Board) अब तक प्रचलित है। यह एक प्रकार का तख्ता होता है जिस पर अनेक प्रकार की आकृतियाँ कटी होती हैं। परीक्षा देने वाला व्यक्ति लकड़ी के उपयुक्त टुकड़ों को इनमें कम से कम समय में बैठाने का प्रयत्न करता है। हीले (Healy) ने शाब्दिक बुद्धि परीक्षाओं के साथ ही क्रियात्मक बुद्धि-परीक्षाएँ सम्मिलित करना अधिक उचित समझा। इसी के परिणाम-स्वरूप सन् 1911 में हीले-फरनल्ड (Healy Fernald) परीक्षा का निर्माण हुआ। हीले ने चित्रपूर्ति परीक्षाएँ भी (Helay's Picture Competetion Test) निर्मित कीं। अमेरिका में विदेशी भाषा-भाषियों के लिए भी क्रियात्मक बुद्धि परीक्षाओं का प्रयोग होने लगा। सेना में अनपढ़ सैनिकों के लिए भी ये परीक्षाएँ उपयुक्त थीं। क्योंकि इनमें भाषा प्रयोग की आवश्यकता नहीं थी। पिंटनर-पीटरसन स्केल (Pintner-Peterson Scale) इस दिशा में सबसे पहली विश्वसनीय परीक्षा थी, क्योंकि इसे बहुत बड़ी संख्या में व्यक्तियों पर प्रयुक्त करके प्रमाणित किया गया था।

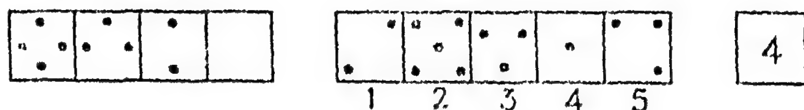
मनुष्यवत् परख का यह उदाहरण पिंटनर-भाषा रहित परख (Pintner

Non Language Test) पर आधारित है। निम्न चित्र में ऐसा व्यक्ति ज्ञात कीजिए जिसकी भुजाएँ पहले व्यक्ति की भुजाओं के समान स्थित हैं। सही आकृति के नीचे दिये गये गोले में (×) चिन्ह लगाइये।

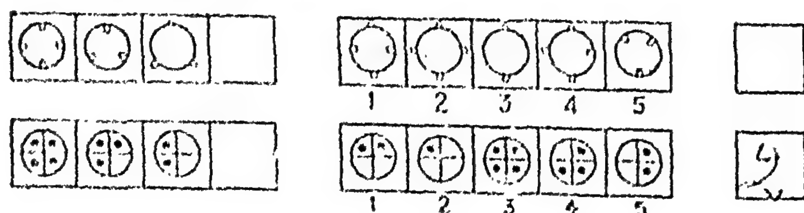
मनुष्यवत् परख (Manikin Test)



द्वितीय महायुद्ध के समय वायु सेना और नौ सेना में सैनिकों को उपयुक्त कार्य देने के लिए उनकी क्रियात्मक योग्यता का परीक्षण करना आवश्यक था। इसी प्रकार की परख के लिए अनेकों क्रियात्मक बुद्धि-परीक्षाओं का निर्माण किया गया था। सैनिक क्रियात्मक परीक्षा (The Army Performance Scale) का निर्माण पिंटनर-पीटर्सन परीक्षाओं को आधार मानकर ही किया गया था। इन्हें भाषारहित (Non Lauguage) परीक्षा भी कहते हैं। क्रियात्मक परीक्षाओं की श्रेणी में कुछ और परीक्षाएँ भी आती हैं; जैसे—भूल-भुलैया परीक्षाएँ (Maze Tests), ब्लॉक डिजाइन (Block Design)। शिशुओं की बुद्धि-परीक्षा के लिए भी क्रियात्मक अथवा भाषारहित बुद्धि-परीक्षाएँ अधिक उपयुक्त होती हैं। कुछ क्रियात्मक परीक्षाएँ ऐसी भी बनाई गई हैं जो कि सांस्कृतिक तत्वों से मुक्त हैं। अतएव इनके प्रयोग का क्षेत्र भी अन्तर्राष्ट्रीय है। उदाहरणार्थ—श्रेणी पूर्ति परीक्षण Series Completion Test।

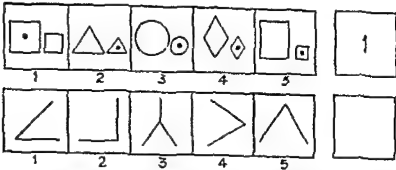


प्रस्तुत चित्र में बाएँ हाथ की ओर चार खाने हैं, जिसमें चौथा खाना खाली है। दाएँ हाथ की ओर पाँच खाने हैं। इनमें से कोई ऐसी आकृति खोजिए जो कि बाएँ हाथ की ओर रिक्त खाने में उपयुक्त बैठे। उत्तर लिखने के लिए दाएँ हाथ की ओर एक पृथक् खाना बना हुआ है। इसी प्रकार आगे हल निकालिये।



इस प्रकार की परख श्रेणी पूर्ति परीक्षण कहलाता है अशाब्दिक वर्गीकरण परख (Non-verbal Classificatoin Test) का उदाहरण नीचे दिया गया है।

निम्नांकित प्रथम कतार के पहले खाने में बनी हुई आकृति असंगत जान पड़ती है, इसीलिए उत्तर लिखने वाले खाने में 1 लिख दिया गया है। इसी प्रकार आगे हल निकालिए।



बुद्धि-परीक्षाओं का लक्ष्य व्यक्ति का "सामान्य-बौद्धिक स्तर" निश्चित करना था। परन्तु सभी बुद्धि-परीक्षाओं में शाब्दिक योग्यता, लिखित सामग्री और अंकगणित की प्रधानता थी। जिन बुद्धि-परीक्षाओं में शैक्षिक योग्यता और शिक्षा-सामग्री को प्रधानता दी गई थी, उन्हें अब

प्रवणता या विशिष्ट योग्यताओं के परीक्षण (Special Aptitudes)

शिक्षा-योग्यता परीक्षा (Scholastic Aptitude Test) के नाम से पुकारा जाने लगा। इसी प्रकार कुछ परीक्षाएँ व्यक्तियों का सामान्य वर्गीकरण (General *Classification) करने के लिए निर्मित की गईं, विशेषकर सेना और उद्योग-धन्धों* के लिए, उदाहरणार्थ—सेना, सामान्य वर्गीकरण परीक्षा, AGCT (Army General Classification Tests) जिसका निर्माण द्वितीय युद्ध में किया गया था। मानसिक परीक्षाओं से सैनिक और औद्योगिक कार्यों में विशेष सहायता मिली। इन क्षेत्रों में कार्य करने वाले व्यक्तियों की *यान्त्रिक योग्यता* (Mechanical Ability), *लिपिक योग्यता* (Clerical) संगीत और कला सम्बन्धी योग्यताओं का परीक्षण करने के लिए मानसिक परीक्षाओं का निर्माण किया गया।

अब अनेक विशिष्ट योग्यताओं के परीक्षण करने हेतु विश्वसनीय परीक्षाएँ प्राप्त की जा सकती हैं। विशिष्ट योग्यता परीक्षाओं का सदुपयोग शैक्षिक एवं व्यावसायिक निर्देशन (Guidance) के लिए होता है। द्वितीय महायुद्ध के समय सैनिकों की परीक्षा करने के लिए *अनेक योग्यता वाली बुद्धि-परीक्षाएँ* (Multiple Aptitude Batteries) भी तैयार की गई थीं। इन परीक्षाओं में एक ही व्यक्ति की अनेक योग्यताओं का स्तर ज्ञात किया जाता है। परिणामस्वरूप केवल एक ही बुद्धि-लब्धि के स्थान पर विभिन्न योग्यताओं के लिए अनेकों लब्धियाँ (Scores) प्राप्त होती हैं। इसी बीच अंग्रेज मनोवैज्ञानिक चार्ल्स स्पीयरमैन और अमेरिकी मनोवैज्ञानिक कीले तथा थर्स्टोन (L. L. Thurstone) ने मानसिक गुणों के संगठन का अध्ययन सांख्यिकीय विधि से किया। उनकी खोज एवं व्याख्याओं को अब खण्ड विश्लेषण *विधि (Factor Analysis) के नाम से पुकारा जाता है।* इस विधि से बुद्धि में प्रयुक्त योग्यताओं की संख्या (Number of Group Abilities) निर्धारित की जाने लगी

हैं। इस सन्दर्भ में प्राथमिक मानसिक योग्यताओं (Primary Mental Abilities) का वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। स्वयं थर्स्टन ने PMA परीक्षाओं का निर्माण किया था।

भारत में बुद्धि-परीक्षा के प्रयत्न

पश्चिमी देशों की अपेक्षा भारत में बुद्धि-परीक्षा का कार्यक्रम पर्याप्त रूप में सफल नहीं हुआ है। इसके मार्ग में आने वाली कठिनाइयाँ निम्न प्रकार हैं :—

(1) यहाँ पर माता-पिता एवं अभिभावक इसकी आवश्यकता अनुभव नहीं करते, अतः उनका भी सहयोग प्राप्त नहीं होता है।

(2) बुद्धि परीक्षा के लिए बालक-बालिकाओं की सही आयु जानना भी एक समस्या है क्योंकि पाठशालाओं में बालकों की सही आयु अंकित नहीं होती है।

(3) भाषाओं की विविधता होने के कारण सभी बच्चों को एक समान बुद्धि परीक्षा नहीं दी जा सकती।

(4) धार्मिक भेद-भाव के कारण एक ही नगर अथवा गांव में रहने वाले बालकों का भी सामाजिक एवं सांस्कृतिक वातावरण भिन्न होता है। आर्थिक एवं सामाजिक स्तर में भी बहुत अन्तर है।

(5) बुद्धि परीक्षा का कार्यक्रम बहुत व्ययशील है। अतएव सरकार भी इस पर पर्याप्त व्यय नहीं कर सकी।

(6) खोज कार्य करने, नवीन बुद्धि-परीक्षाएँ निर्मित करने और निर्मित बुद्धि परीक्षाओं को प्रयुक्त करने के लिए प्रशिक्षित मनोवैज्ञानिकों का भी अभाव है। विगत कुछ वर्षों में ही केन्द्र और राज्य सरकारों ने कुछ प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किए हैं परन्तु इनके द्वारा प्रशिक्षित मनोवैज्ञानिकों की संख्या बहुत कम है।

भारत में बुद्धि-परीक्षा के क्षेत्र में तीन प्रकार के कार्य हुए हैं :—

(अ) पश्चिमी बुद्धि परीक्षाओं का अनुवाद।

(ब) पश्चिमी बुद्धि परीक्षाओं में संशोधन।

(स) नवीन बुद्धि परीक्षाओं का निर्माण।

डॉ० सी० एच० राइस ने 1921 में पंजाब के 5 से 16 वर्ष के 1070 बालकों पर परीक्षण करके "भारतीय बिने कार्यात्मक बुद्धि परीक्षा" (Indian Binet Performance Point Scale) प्रस्तुत की इसमें कुल 35 प्रश्न हैं। कुछ क्रिया-प्रश्न हैं। प्रत्येक प्रश्न के लिए पृथक् अंक निर्धारित हैं। इसकी उपयोगिता केवल पंजाब और उत्तर प्रदेश के बालकों के लिए ही है।

बेलगांव प्रशिक्षण कॉलेज के डॉ० वी० वी० कामत ने कन्नड़ और मराठी भाषाओं में कुछ बुद्धि परीक्षाएँ निर्मित की हैं। ये परीक्षाएँ बिने-साइमन और टरमैन की बुद्धि-परीक्षाओं पर ही आधारित हैं। पं० लज्जाशंकर झा ने उत्तर प्रदेश, राजपूताना और मध्य-प्रदेश के 40 स्कूलों के छात्रों पर प्रयोग करके एक सामूहिक बुद्धि-परीक्षा प्रस्तुत की है।

डॉ० भाटिया ने क्रियात्मक परीक्षाएँ (Performance Tests) प्रस्तुत कीं जोकि भाटिया बैट्री कहलाती हैं।

पटना ट्रेनिंग कॉलेज में स्टैनफोर्ड बिने का भारतीय रूप तैयार किया गया है।

मद्रास के लेडी विलिंगडन ट्रेनिंग कॉलिज में स्टैनफोर्ड बिने का तामिल और तेलगू रूपान्तर तैयार हुआ। स्टैनफोर्ड बिने के रूपान्तर अन्य प्रान्तों में भी किये गये हैं।

जलोटा ग्रुप वर्बल टैस्ट एक मौलिक बुद्धि परीक्षा है। बनारस वि० वि० में 1952 में डॉ० जलोटा के सहयोग से जलोटा टण्डन बुद्धि परीक्षा का निर्माण हुआ। इस दिशा में ब्यूरो ऑफ साइकोलॉजी, इलाहाबाद भी महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है।

आधुनिक बुद्धि परीक्षाएँ

बिने-साइमन बुद्धि परीक्षा

बिने का विश्वास था कि आयु में वृद्धि के साथ ही बालक के ज्ञान में भी वृद्धि होती है। इसलिए उसने प्रत्येक आयु-स्तर के लिए ज्ञान-वृद्धि पर आधारित प्रश्न एकत्र किये लेकिन इन प्रश्नों में उसने स्कूली ज्ञान को कोई स्थान नहीं दिया। प्रत्येक आयु स्तर के लिए प्रश्न निश्चित करने से पहले उसने कुछ चुने हुए प्रश्नों को 1000 से भी अधिक बालकों पर प्रयुक्त करके देखा। प्रत्येक आयु-स्तर के लिए उसने वही प्रश्न अपनी बुद्धि-परीक्षा में रखना उचित समझा, जिनके स्तर उस आयु के लगभग 60% बालकों ने सही दिये थे। शेष प्रश्न छोड़ दिये गये। अन्त में उसने प्रत्येक आयु-स्तर के लिए 5 प्रश्न चुने। जिनमें से कुछ प्रश्न उदाहरणार्थ यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं :[1]

तीन वर्ष की अवस्था के लिए

1. तुम्हारे कुल का उपाधिकार (सरनेम) क्या है ?
2. तुम्हारी नाक, आँख और मुँह कहाँ हैं ?
3. किन्हीं दो संख्याओं का दोहराना।
4. छः शब्दों तक के वाक्यों को दोहराना।
5. चित्र में देखकर वस्तुओं आदि के नाम बताना।

पाँच वर्ष की अवस्था के लिए

1. चार सिक्कों को गिनना।
2. अनुकरण द्वारा एक समकोण चतुर्भुज बनाना।
3. दो समान लगने वाले बक्सों के भार की तुलना करना।
4. दस शब्दों वाले वाक्य को दोहराना।
5. दफ्ती के दो त्रिकोणनुमा टुकड़ों को मिलाकर चतुर्भुज बनाना।

ग्यारह वर्ष की आयु के लिए

1. निरर्थक कथनों की आलोचना करवाना।
2. तीन शब्दों को एक वाक्य में प्रयुक्त करवाना।
3. तीन मिनट में कोई 60 शब्द कहलवाना।
4. अमूर्त वस्तुओं को परिभाषित करवाना, जैसे—दया, न्याय, परोपकार।
5. बेतरतीब रखे शब्दों को तरतीब में रखकर एक वाक्य बनवाना।

(ये प्रश्न 1911 की बिने-साइमन प्रश्नावली से लिये गये हैं।)

यदि एक पाँच वर्ष का बालक अपनी आयु-स्तर के सभी प्रश्नों का उत्तर सही

नहीं दे सकता तो उसकी मानसिक आयु 5 वर्ष से कम होगी। यदि यह बालक उन सभी प्रश्नों का उत्तर सही देता है जो चार वर्ष के लिए हैं) तो उसकी मानसिक आयु ज्ञात करने के लिए इसी को आधार मान लिया जायेगा। इसके आगे वह बालक पाँच वर्ष की आयु वाले प्रश्नों में से दो, और छः वर्ष की आयु वाले प्रश्नों में से केवल एक प्रश्न का सही उत्तर देता है तो उसकी मानसिक आयु इस प्रकार से ज्ञात होगी—

मानसिक आयु और बुद्धि-लब्धि

आयु स्तर	सही प्रश्नों की संख्या		क्रमशः मानसिक आयु का जोड़
चार वर्ष	पाँच प्रश्न		4 वर्ष
पाँच वर्ष	दो प्रश्न $(\frac{1}{6}\times 2=\frac{2}{6})$		$\frac{2}{6}$ वर्ष
छः वर्ष	एक प्रश्न $(\frac{1}{6}\times 1=\frac{1}{6})$		$\frac{1}{6}$ वर्ष
सात वर्ष	×	×	0 वर्ष
			$4\frac{3}{6}$ वर्ष

इसे बुद्धि-लब्धि में इस प्रकार परिणत किया जा सकता है :—

$$\text{सूत्र (Formula)—I. Q} = \frac{\text{M.A.}}{\text{C.A.}} \times 100$$

$$\text{बुद्धि-लब्धि} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}} \times 100 = \times \frac{\frac{23}{5}}{\frac{5}{1}} \times \frac{100}{1}$$

(I. Q.) बुद्धि-लब्धि $= 23/5 \times 1/5 \times 100 = 92$

सामान्य बुद्धि परख के लिए आजकल अनेकों टैस्ट मैनुअल, मैन्टल मेजरमेंट, ईयर बुक तथा हैंड बुक्स प्राप्त हैं। इन परीक्षाओं के परिणामस्वरूप बालक की बुद्धि-लब्धि (I. Q.) ज्ञात होती है। इनमें सबसे अधिक प्रचलित और प्रामाणिक परीक्षा स्टैनफोर्ड बिने स्केल है, जिसका निर्माण टरमैन द्वारा सन् 1916 में स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय में किया गया था। इसके पश्चात् इसके नवीन परिवर्तित संस्करण क्रमशः 1937 और 1960 में प्रकाशित हुए। सन् 1937 की परीक्षा 10 वर्षों के लगातार परिश्रम और परीक्षणों के बाद मैरिल (Merril) महोदय की सहायता से तैयार की गई थी। परीक्षण और प्रयोगों में बहुत सावधानी बरती गई थी। स्टैनफोर्ड परीक्षा के अधिकांश प्रश्नों में परिवर्तन कर दिये गये थे। परन्तु प्रश्नों को निर्धारित करने के लिए बिने की विधि को ही अपनाया गया था। इसकी नवीनता यह थी कि इसमें पहली बार ही बुद्धि-लब्धि का प्रयोग किया गया था। उदाहरण के लिए हम पाँच और दस वर्ष के बालकों के लिए निर्धारित प्रश्न प्रस्तुत करते हैं :

सामान्य बुद्धिमत्ता की परख

पाँच वर्ष की अवस्था

1. वजन की तुलना करना।
2. परिचित रंगों के नाम बताना।

3. रेखाचित्रों अथवा आकृतियों की सौन्दर्यात्मक तुलना करना।
4. सामान्य शब्दों की परिभाषा व्यक्त करना।
5. विभक्त त्रिभुज को जोड़ना।
6. तीन निर्देशों का पालन करना, अथवा अपनी आयु बताना।

इस वर्ष की अवस्था के लिए

1. दी हुई शब्द सूची में से 30 शब्दों की परिभाषा करना।
2. वाक्यों में त्रुटि निकालना।
3. दो स्मृति चित्र बनाना।
4. छोटा गद्यांश पढ़कर आशय बताना।
5. समस्यात्मक परिस्थितियों को समझना और हल निकालना।
6. स्वतन्त्रतापूर्वक साफ शब्दों का बोलना, अथवा छः अंकों की संख्या दोहराना, अथवा, बीस या बाइस शब्दों के वाक्य को दोहराना, अथवा फार्म-बोर्ड में कई चौकोर ब्लॉक लगाना।

इस परीक्षा में 1937 की भाँति सभी आयु स्तरों के लिए प्रश्नों की संख्या निश्चित है। यह परीक्षा दो वर्ष की आयु से लेकर प्रतिभाशाली प्रौढ़ों तक प्रयुक्त की जा सकती है। क्योंकि जीवन के प्रारम्भिक काल में बुद्धि का विकास तीव्र गति से होता है, अतएव इसमें आयु-स्तर 6 माह के अन्तर पर है :—

स्टैनफोर्ड-बिने का नवीनतम संस्करण (1960)

आयु स्तर	आयु अन्तर (Interval)	प्रश्नों की संख्या	प्रश्नों का मूल्य महीनों में	
	2 और 5 वर्षों के बीच			
2 वर्ष 6 माह	6 माह	6 प्रश्न	1 प्रश्न=1	माह
3 वर्ष	,,	,,	,,	,,
3 वर्ष 6 माह	,,	,,	,,	,,
4 वर्ष	,,	,,	,,	,,
4 वर्ष 6 माह	,,	,,	,,	,,
5 वर्ष	,,	,,	,,	,,
	6 और 14 वर्षों के बीच			
6 वर्ष	1 वर्ष	6 प्रश्न	1 प्रश्न=2	माह
7 वर्ष	,,	,,	,,	,,
8 वर्ष	,,	,,	,,	,,
9 वर्ष	,,	,,	,,	,,
10 वर्ष	,,	,,	,,	,,
11 वर्ष	,,	,,	,,	,,
12 वर्ष	,,	,,	,,	,,
13 वर्ष	,,	,,	,,	,,
14 वर्ष	,,	,,	,,	,,

औसत प्रौढ़	16 माह	8 प्रश्न	1 प्रश्न = 2 माह
उत्कृष्ट प्रौढ़	24 माह	6 प्रश्न	1 प्रश्न = 4 माह
उत्कृष्ट प्रौढ़	30 माह	6 प्रश्न	1 प्रश्न = 5 माह
उत्कृष्ट प्रौढ़	36 माह	6 प्रश्न	1 प्रश्न = 6 माह

इस प्रकार स्टैनफोर्ड बिने परीक्षा पर सर्वोच्च मानसिक आयु 22 वर्ष 10 माह तक हो सकती है। 18 वर्ष से अधिक आयु के किसी भी प्रौढ़ व्यक्ति की मानसिक आयु यदि इस परीक्षा पर 15 वर्ष 9 माह निकलती है तो उसकी बुद्धि-लब्धि (I. Q.) सामान्य अर्थात् 100 मानी जायेगी। इस परीक्षा का परिणाम साधारण बुद्धि लब्धि न होकर डेविएशन बुद्धि-लब्धि (Deviation I. Q.) के रूप में व्यक्त किया जाता है, जोकि एक स्टैण्डर्ड स्कोर (Standard Score) होता है। छोटे बच्चे की परीक्षा में 30 से 40 मिनट का समय, और किशोर अथवा प्रौढ़ों की परीक्षा में 1½ घण्टे का समय लगता है।

परीक्षा सामग्री—1. एक बक्सा जिसमें छोटे बच्चों की परीक्षा के लिए कुछ खिलौने होते हैं।

2. कुछ छपे हुए पत्र।

3. अभिलेख (Record) पुस्तिका।

4. टैस्ट मैनुअल।

सन् 1937 के स्टैनफोर्ड बिने परीक्षाओं के परिणामों का अध्ययन करके टरमैन, मैरिल और रोबिन्सन आदि मनोवैज्ञानिकों ने बुद्धिमत्ता के निम्नांकित स्तरों को स्वीकार किया है :—

बुद्धिलब्धि	बुद्धिमत्ता का स्तर
170—200	अतिप्रतिभाशाली (Supreme Genius)
140—169	अत्युत्कृष्ट (Very Superior)
120—139	उत्कृष्ट (Superior)
110—119	सामान्य से ऊपर (High-average)
90—109	सामान्य (Normal or Average)
80— 89	सामान्य से नीचा (Low-average)
70— 79	हीन बुद्धि की सीमा (Border-line dejective)
60— 69	मूर्ख (Moron)
50— 59	मूर्ख (Moron)
25— 49	मूढ़ (Imbecile)
0— 24	जड़ (Idiot)

अन्य व्यक्तिगत बुद्धि परीक्षाएँ

1. वैशलर स्केल—डेविड वैशलर ने दो पैमाने प्रस्तुत किये :

(अ) प्रौढ़ व्यक्तियों के लिए (WAIS—Wechsler Adult Intelligence Scale).

(ब) बच्चों के लिए (WISC—Wechsler Intelligence Scale for Children).

ये दोनों पोइन्ट स्केल हैं, आयु स्केल नहीं।

(अ) प्रौढ़ व्यक्तियों के लिए (WAIS)—इस परीक्षा मे दिये गये प्रश्न कठिनाई के क्रमानुसार पृथक् समूहों में हैं जोकि उप-परख (Subtest) के रूप मे दिए जाते हैं। ये उपपरख दो खण्डों में विभक्त हैं :—

खण्ड (क) शाब्दिक या मौलिक (Verbal) स्केल—जिसमें प्रश्नों के 6 समूह है। इन 6 समूहों मे 6 प्रकार की मानसिक योग्यता का परीक्षण किया जाता है—

(1) ज्ञान (2) समझ (3) गणित (4) समानताएँ (5) अंक सम्बन्धी अवधान क्षेत्र (6) शाब्दिक योग्यता।

खण्ड (ख) क्रियात्मक स्केल—जिसमें प्रश्नों के पाँच समूह हैं—(1) अंक प्रतीक (कोड) (2) चित्रपूर्ति (3) *ब्लॉक डिजाइन (Block Design)* (4) चित्र लगाना (5) वस्तु संग्रह।

वैशलर परीक्षा के परिणामस्वरूप तीन बुद्धि लब्धि (I. Q.) प्राप्त होती हैं—

(1) सम्पूर्ण बुद्धि लब्धि।

(2) वर्बल बुद्धि लब्धि।

(3) क्रियात्मक बुद्धि लब्धि।

यह परीक्षा 16 वर्ष से लेकर 64 वर्ष की आयु के प्रौढ़ों पर प्रयुक्त की जाती है।

(ब) बच्चों के लिए (WISC)—इस परीक्षा मे 10 उप-परख हैं। दो अतिरिक्त उप-परख भी हैं जोकि आवश्यकतानुसार प्रयोग में आती हैं—

खण्ड (क) वर्बल स्केल	खण्ड (ख) क्रियात्मक स्केल
(1) सामान्य ज्ञान	(1) चित्रपूर्ति
(2) सामान्य समझ	(2) चित्र लगाना (तरतीब से)
(3) अंकगणित	(3) ब्लोक डिजाइन
(4) समानताएँ	(4) वस्तु संग्रह
(5) शब्द योग्यता अथवा अंक अवधान क्षेत्र	(5) कोड शब्द, अथवा, भूल-भुलैया

इन परीक्षाओं के परिणामों का अध्ययन करने से यह *ज्ञात होता है कि* इसका स्टैनफोर्ड-बिने परीक्षाओं के परिणामों के साथ उच्च सह-सम्बन्ध (High Co-relation) है।

व्यक्तिगत क्रियात्मक बुद्धि परीक्षाएँ

(1) दि पिंटनर-पीटरसन स्केल (1917)—इस परीक्षा का अब केवल ऐतिहासिक महत्व ही है।

(2) दि कौर्नेल—कोक्स परफोरमैंस एबिलिटी स्केल (1934)

(3) दि आर्थर पोइण्ट स्केल ऑफ परफोरमैंस टैस्ट्स (1930-43)

(4) दि फरगुसन फोर्म बोर्ड।

अधिकांश क्रियात्मक बुद्धि-परीक्षाओं मे अग्रलिखित कार्यों की परख होती है—

(1) किसी फॉर्म बोर्ड पर रेखागणित की आकृतियाँ बनाना अथवा समझना, या तुलना करना अथवा कटे हुए छेदों में लकड़ी के टुकड़े बैठाना।
(2) पट्ट (तख्ता) पर चित्र बनाना, चित्रों की पूर्ति करना अथवा तुलना करना।
(3) साधारण या कठिन प्रकार के ब्लौक्स की सहायता से कोई डिजाइन बनाना।
(4) रेखागणित की आकृतियों की पुनश्चेतना।
(5) चित्रों को तरतीब से लगाना।
(6) ब्लॉक बिल्डिग (Block Building)।
(7) चौकोर लकड़ी के टुकड़ों को अनुकरण द्वारा क्रम में लगाना।
(8) शब्दों के स्थान पर अंक प्रतीकों (Codes) का प्रयोग।

व्यक्तिगत और सामूहिक बुद्धि परीक्षाओं का तुलनात्मक अध्ययन

व्यक्तिगत परीक्षण	सामूहिक परीक्षण
1. एक समय में एक व्यक्ति पर प्रयुक्त होता है।	1. एक समय में अनेक व्यक्तियों पर लागू होता है।
2. इनमें कभी मौखिक उत्तर (प्रतिक्रिया) अथवा वस्तुओं का प्रहस्तन (Manipulation) होता है।	2. इनमें लिखित प्रतिक्रिया प्राप्त की जाती है। सामान्यत: सभी प्रकार के प्रहस्तन कागज पर होते हैं।
3. समय की कोई निश्चित सीमा नहीं होती लेकिन व्यक्तिगत समय पर ध्यान दिया जाता है।	3. सभी परीक्षार्थियों को समान समय दिया जाता है। समय की अवधि पूर्व निर्धारित होती है।
4. परीक्षा लेने वाला व्यक्ति भी परीक्षा कार्यक्रम का संग्रह होता है, अतः परीक्षक भली-भांति प्रशिक्षित होना चाहिए।	4. इनमें प्रशिक्षित परीक्षकों की आवश्यकता नहीं होती बल्कि अनुभवी मूल्यांकन कर्ताओं की आवश्यकता रहती है।
5. व्यक्तिगत परीक्षाएँ निदानात्मक परीक्षण मनोवैज्ञानिक शालाओं के लिए अधिक उपयुक्त है।	5. इनका उपयोग नौकरी, शिक्षा, सेना आदि के क्षेत्रों में वर्गीकरण के लिए होता है।
6. व्यक्तिगत परीक्षायें मनोविज्ञान-शाला मनोचिकित्सालय और प्रयोगात्मक मनोविज्ञान की देन हैं।	6. समूह परीक्षायें गत दो महा-युद्धों की देन हैं।
7. बिने की शैली पर आधारित सभी परीक्षायें व्यक्तिगत परीक्षायें हैं।	7. बहु खण्डीय सिद्धान्त पर आधा-रित परीक्षायें सामूहिक परीक्षायें हैं।
8. इनमें परीक्षक की व्यक्तिगत रुचियों एवं सुझावों आदि का परीक्षा परिणामों पर प्रभाव पड़ सकता है।	8. ये परीक्षायें स्वयं सरल और स्पष्ट होती हैं इसलिए परीक्षक के प्रभाव से भी मुक्त हैं।
9. ये परीक्षायें अधिक व्ययशील तथा अधिक समय लगाने वाली हैं। इनके द्वारा प्रशासन और मूल्यांकन दोनों में ही कठिनाइयां आती हैं।	9. ये परीक्षायें अधिक बचतपूर्ण हैं। प्रशासन तथा मूल्यांकन में सरलता और शीघ्रता से काम होता है।

10. ये परीक्षायें शिशुओं एवं मानसिक रोगियों के लिए अधिक उपयुक्त हैं। लेकिन इन्हें प्रयुक्त करने मे प्रेरणा और ध्यान केन्द्रित करने की समस्या रहती है।	10. सामान्य किशोर तथा प्रौढ़ों के लिए अधिक उपयुक्त हैं। इनमें अवधान अथवा प्रेरणा की समस्या नहीं रहती।
11. व्यक्तिगत रूप में कोई भी परीक्षा कष्टदायक (enberasoing) होती है।	11. सामूहिक दशाओं में कोई कष्ट नहीं होता।
12. अधिक उपयोगी और विश्वसनीय हैं। मुख्यतः मनोविज्ञानशाला की आवश्यकताओं की दृष्टि से अधिक गहराई तक मूल्यांकन होता है।	12. कम विश्वसनीय और उपयोगी हैं क्योंकि साधारण या ऊपरी ढंग से मूल्यांकन करती हैं। व्यक्ति के बारे मे एक सामान्य चित्र प्रस्तुत करती हैं।
13. इन्हें निर्मित करना तथा प्रमापित करना एक कठिन कार्य है।	13. इनका निर्माण और प्रमापीकरण अपेक्षाकृत सरल कार्य है।
14. शिक्षा तथा मनोविज्ञान मे खोज कार्यों के लिए नितान्त आवश्यक साधन है।	14. समूहों की तुलना, सामूहिक व्यवहार सम्बन्धी खोजो के लिए उपयोगी है।

प्रवणता परीक्षाएँ (Aptitude Tests)

फ्रीमैन के अनुसार प्रवणता योग्यता अथवा अनेक योग्यताओ का वह समूह है जोकि एक विशिष्ट व्यावहारिक क्रिया को सम्पन्न करने के लिए आवश्यक है। प्रवणताएँ सीखी नहीं जाती अपितु सीखने अथवा अभ्यास से पहले ही उपस्थित रहती हैं। उदाहरणार्थ—चित्रकारी की प्रवणता, लिखित कार्य करने की प्रवणता, संगीत अथवा गायन की प्रवणता एवं यांत्रिक कार्य (Mechanical Work) करने की प्रवणता आदि। कभी-कभी स्कूली विषय से सम्बन्धित विशिष्ट योग्यताएँ भी छात्रों में दृष्टिगोचर होती हैं, जैसे—गणित, विज्ञान, अथवा चित्र कला में। साधारण बोल-चाल में प्रवणता को अनेक नामों से पुकारा जाता है, जैसे—गुण (Traits), विशिष्ट योग्यता (Special Ability) एवं प्रतिभा आदि।

आधुनिक मनोविज्ञान में सभी प्रकार की प्रवणताओं का मापन और परीक्षण करने के लिए उपयुक्त परीक्षाएँ या परख व्यवहार मे लाई जाती हैं। जैसे यान्त्रिक प्रवणता के लिए—

(1) मेनीसोटा मेकैनिकल एसेम्बली टैस्ट।

(2) मेनीसोटा स्पेशल रिलेशन्स टैस्ट्स।

(3) मेनीसोटा पेपर फोर्म बोर्ड टैस्ट।

(4) आई० ई० आर० एसेम्बली टैस्ट फोर गर्ल्स।

इसी प्रकार गायन प्रवणता के लिए भी अनेक परीक्षाएँ प्राप्त हैं। लिपिक कार्य की प्रवणता परीक्षाएँ (Clerical Aptitude Tests) :—

(1) थर्सटोन एक्जामिनेशन इन क्लैरिकल वर्क।

(2) मेनीसोटा वोकेशनल टैस्ट फोर क्लैरिकल वर्क्स।

इन परीक्षाओं को छात्रों पर प्रयुक्त करने से भविष्य में उनकी सफलता के क्षेत्र का ज्ञान हो जाता है। शैक्षिक व्यावसायिक निर्देशन के लिए भी ये परीक्षाएँ बहुत उपयोगी हैं। विशिष्ट योग्यता वाले छात्रों को उपयुक्त अवसर देकर उनकी प्रवणता को अधिक उज्ज्वल और उपयोगी बनाया जा सकता है।

शिशु पाठशालाओं के लिए उपयुक्त बुद्धि परीक्षाएँ

ये परीक्षाएँ कुछ मास के अन्तर पर ही प्रयुक्त की जा सकती हैं। इनके द्वारा

1. गैसिल्स डेवलपमेंट शैड्यूल्स (1925) — बालक का गामक विकास, समायोजन, भाषा विकास, व्यक्तिगत एवं सामाजिक विकास आदि बातों का निरीक्षण किया जाता है।
2. कैटिल डेवलपमेंट एन्ड इन्टैलीजैन्स स्केल (1940)।
3. मेरिल-पामर स्केल ऑफ मैन्टल टैस्ट्स।

सामूहिक बुद्धि परीक्षाएँ—इस प्रकार की बीसियों परीक्षाएँ अब प्राप्त हो सकती हैं। इन्हें आयु स्तर के अनुसार चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :—

(अ) **प्रारम्भिक स्तर (पाठशाला प्रवेश से पूर्व) जैसे**—(1) पिटनर-कनिंघम प्राइमरी टैस्ट्स (2) कुहलमैन एन्डीथरसन इन्टैलीजैंस टैस्ट्स (3) कैलीफोर्निया टैस्ट्स ऑफ मैन्टल मैच्योरिटी।

(ब) **प्राइमरी पाठशालाओं के लिए**—ऊपर दी गई परीक्षाओं के विस्तार हैं।

(स) **माध्यमिक कक्षाओं के बालकों के लिए**—जैसे (1) टरमैन मैकनीमर टैस्ट ऑफ मैन्टल एबिलिटी। (2) टरमैन ग्रुप टैस्ट तथा (अ) में दी गई परीक्षाओं का विस्तार (2) मोडीफाइड अल्फा एक्जामिनेशन फोर्म-9 (Alpha 9.)

(द) **कॉलेज के छात्रों या प्रौढ़स्तर के लिए**—जैसे (1) कॉलेज एन्ट्रैन्स एक्जामिनेशन बोर्ड द्वारा प्रस्तुत स्कोलस्टिक एप्टीट्यूड टैस्ट (S. A. T.)।

(2) स्लैकिटव सर्विस कॉलेज क्वालिफिकेशन टैस्ट (S. S. C. Q. T.)।

(3) कॉलेज प्लेसमैंट टैस्ट।

बुद्धि परीक्षाओं की उपयोगिता

(1) **व्यक्तिगत भेद (Individual Differences) तथा वर्गीकरण (Classification)**—बुद्धि परीक्षाओं का मुख्य कार्य व्यक्तिगत भेदों का मूल्यांकन करना है। अब इन परीक्षाओं को प्रयुक्त करके मन्द-बुद्धि छात्रों को पृथक् किया जा सकता है। इससे पूर्व शिक्षा शास्त्रियों को छात्रों के बौद्धिक स्तर के परीक्षण करने का कोई उपयुक्त साधन उपलब्ध नहीं था, इस कारण सभी प्रकार के छात्र एक ही कक्षा में पढ़ाए जाते थे।

(2) **मनोचिकित्सा में उपयोग (Psychotherapy)**—बुद्धि परीक्षाओं से मनोचिकित्सकों को भी बहुत लाभ हुआ है। इन परीक्षाओं को प्रयुक्त करने से कुसमायोजित अथवा अपराधी छात्रों का भी पता लग जाता है और उनके पुनः व्यवस्थापन का उचित प्रबन्ध किया जा सकता है।

(3) **विद्यालय निर्देशन (School Guidance Programme)**—शिक्षा के क्षेत्र

में बुद्धि परीक्षाएँ अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हुई हैं। इनकी सहायता से बालक-बालिकाओं की योग्यताओं और विशिष्ट योग्यताओं का पता लगाया जाता है। इनके द्वारा स्कूली शिक्षा परीक्षा में असफल होने के कारणों पर प्रकाश डाला जा सकता है। छात्र-छात्राओं के शैक्षिक व व्यावसायिक निर्देशन में इससे बहुत सहायता मिलती है।

चयन (Selection)—उच्च कक्षाओं में अनेक प्रकार की प्रशिक्षण संस्थाओं में और योग्य पदाधिकारियों की नियुक्ति करने में अनेक बुद्धि परीक्षाओं का उपयोग होता है। छात्रवृत्ति प्रदान करने के लिए भी बुद्धि परीक्षा द्वारा सहायता ली जाती है।

5. सेवाओं के लिए चयन (Employment)—बुद्धि परीक्षाओं का नवीनतम उपयोग औद्योगिक क्षेत्र में भी हो रहा है। मनोवैज्ञानिकों द्वारा विभिन्न प्रकार के कार्यों (Jobs) के लिए नित नवीन परख तैयार की जाती है।

6. सेना में उपयोगिता (Uses in Army)—सेना के क्षेत्र में बुद्धि परीक्षाओं के विकास और उपयोगिता का वर्णन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है।

7. शैक्षिक खोज (Educational Research)—बुद्धि परीक्षाओं का महत्त्वपूर्ण उपयोग अनेक मनोवैज्ञानिक और शैक्षिक खोजों के लिए होता है। शिक्षा सम्बन्धी अनेक समस्याओं को सुलझाने में ये बुद्धि परीक्षाएँ शिक्षा-शास्त्रियों के लिए एक उपयोगी साधन हैं। अतएव शिक्षकों को बुद्धि परीक्षाओं से पूर्णतः परिचित होना चाहिए।

8. *शैक्षिक मूल्यांकन (Educational Evaluation)—अनेक बुद्धि परी*क्षाओं तथा शिक्षकों द्वारा तैयार की गई परखों से छात्रों के शैक्षिक विकास का सही मूल्यांकन किया जाता है। इन मनोवैज्ञानिक परखों के प्रयोग से व्यक्तिगत बालक की सीखने सम्बन्धी कठिनाइयाँ भी प्रकाश में आ जाती हैं। तथा यह भी ज्ञात हो जाता है कि अध्यापक द्वारा प्रयुक्त शिक्षण विधि से छात्रों को किस सीमा तक लाभ पहुँच रहा है।

9. अंध विश्वासों को दूर करना (Fighting Superstition)—आधुनिक बुद्धि परीक्षाओं के कार्यक्रमों के परिणामस्वरूप ही अनेक प्राचीन धारणाओं को त्रुटिपूर्ण सिद्ध किया जा चुका है। उदाहरणार्थ—बुद्धि परीक्षाओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि *लड़कियाँ भी बुद्धिमत्ता में लड़कों से कम अथवा हीन नहीं होतीं। इसी प्रकार* जातीय श्रेष्ठता (Racial Superiority) अथवा जातीय निम्नता के विचार भी *असत्य सिद्ध किए जा चुके हैं।*

10 मनोविज्ञान का विकास (Growth of Psychological Knowledge)—बुद्धि परीक्षाओं से सबसे अधिक लाभ स्वयं मनोविज्ञान को हुआ है। पहले बुद्धि की परिभाषा के अनुसार ही बुद्धि परीक्षाओं का निर्माण होता था, किन्तु अब बुद्धि-परीक्षा के अनुसार ही बुद्धि की परिभाषा की जाती है। बुद्धि की विस्तृत व्याख्या, इसके खण्डों का विश्लेषण और बौद्धिक योग्यताओं का वैज्ञानिक अध्ययन, बुद्धि परीक्षा आन्दोलनों का ही परिणाम है। संक्षेप में बुद्धि परीक्षाओं द्वारा हमारा मनोवैज्ञानिक *ज्ञान अधिक विस्तृत, व्यवस्थित और उपयोगी बन गया है।*

(क) मानसिक प्रक्रियाओं की निश्चित जानकारी प्राप्त हुई है।
(ख) बालक की मानसिक योग्यताओं की अन्तर्दृष्टि में वृद्धि हुई है।
(ग) शिक्षण-कार्य में सुधार हुए हैं।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. बुद्धि परीक्षाओं के विकास में अलफ्रेड बिने का क्या स्थान है? उसके योगदान का मूल्यांकन कीजिए।
2. सामूहिक परीक्षाओं की उत्पत्ति किन परिस्थितियों में हुई थी? सामूहिक बुद्धि परीक्षाओं के क्या गुण हैं?
3. बुद्धि परीक्षाएँ कितने प्रकार की होती हैं? प्रत्येक का उदाहरण दीजिए। सामूहिक और व्यक्तिगत परीक्षाओं की तुलनात्मक उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।
4. आप 12 वर्ष के बालक की बुद्धि लब्धि (I. Q.) किस प्रकार ज्ञात करेंगे? उदाहरण देकर समझाइये।
5. शिक्षा और मनोविज्ञान में बुद्धि परीक्षाओं की उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।

मानसिक परीक्षाएँ—2

साफल्य परख या निष्पत्ति परीक्षण
(Achievement Test)

अर्थ परिभाषा एवं प्रकार (Meaning, Definition and Types)—

विद्यालय में प्रविष्ट होने के [illegible] छात्रों की [illegible] योग्यताओं का निरन्तर विकास होता रहता है। [illegible] दिशा में हो रहा है? छात्रों की [illegible] वांछित विकास हो रहा है अथवा नहीं? [illegible] योग्य अध्यापक को होना चाहिए। [illegible] सफलता मिल रही है अथवा [illegible] एक शिक्षक के लिए आवश्यक है। [illegible] प्रारम्भ हुई, तभी से ही शिक्षा [illegible] अर्थ स्पष्ट करने के लिए कुछ परिभा[illegible] हैं:

अनास्तसी के अनुसार—"[illegible] में उपलब्धियों का तुलनात्मक मापन [illegible] है।"[1]

अतः स्पष्ट है कि साफल्य [illegible] प्रशिक्षण से सम्बन्धित योग्यताओं का [illegible] है।

फ्रीमैन के अनुसार—[illegible] की है—"एक शैक्षिक निष्पत्ति [illegible] अथवा विषयों में ज्ञान, समझ या [illegible] है।"[2]

पैरीसन तथा [illegible] के [illegible] योग्यता या किसी विशिष्ट [illegible] करती है।"[3]

---

1 "Achievement test is an instr[illegible] ment in specific areas of learning." —[illegible]

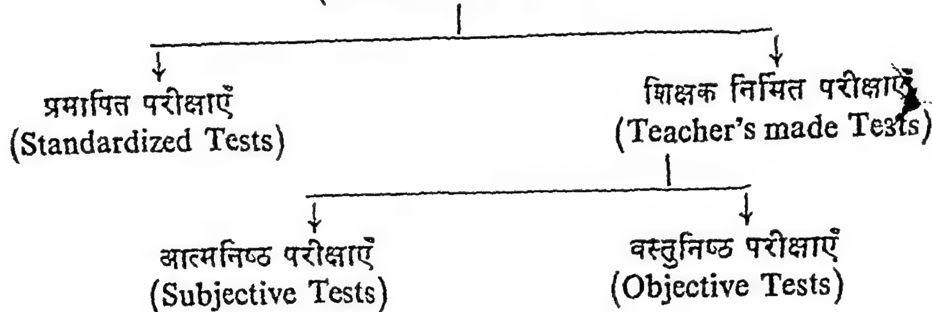
2 "A test of educational achievement [illegible] understanding or skills in a spec[illegible]" —[illegible]

3 "The achievement test measures [illegible] of his knowledge in a specific [illegible]" —[illegible]

निष्पत्ति परीक्षाओं के प्रकार—

डगलस तथा हॉलैंड के अनुसार वर्गीकरण—

निष्पत्ति परीक्षा
(Achievement Test)



निबन्धात्मक परीक्षाएँ
(Essay Type Tests)

मौखिक परीक्षाएँ
(Oral Tests)

कुछ मनोवैज्ञानिक निष्पत्ति परीक्षाओं को दो प्रमुख समूहों में विभाजित करते हैं—

(1) मौखिक परीक्षाएँ
(2) लिखित परीक्षाएँ

निबन्धात्मक परीक्षाएँ
(क) लम्बे उत्तर वाली
(ख) लघु उत्तर वाली

वस्तुनिष्ठ परीक्षाएँ
- प्रमाणित परीक्षाएँ
- अध्यापक निर्मित

दृष्टव्य—वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं के पदों के प्रकार का वर्णन पूर्व अध्यायों में किया जा चुका है।

निष्पत्ति परीक्षण या साफल्य परख का निर्माण
(Construction of Achievement Test)

शिक्षक अपने छात्रों के ज्ञान का परीक्षण ठीक उसी प्रकार करता है जिस प्रकार कि एक रसायन शास्त्री किसी रसायन का परीक्षण करता है। वह रसायन का थोड़ा सा नमूना लेकर उसकी परीक्षा करता है और इस प्रकार सम्पूर्ण रसायन की शुद्धता का अनुमान कर लेता है। एक गेहूँ का व्यापारी गोदाम में भरी हुई अनाज की बोरियों का थोड़ा-थोड़ा अनाज निकाल कर देखता है, परखता है और इस परख के आधार पर वह भन्डार के भरे हुए अनाज का मूल्य (घटिया या बढ़िया के आधार पर) निश्चित करता है। जिस यन्त्र से वह बोरों की गहराई से अनाज निकालता है, उसे परखी कहते हैं। शिक्षक द्वारा प्रयुक्त यन्त्र (साफल्य परख) भी इसी परख के समान कार्य करता है। साफल्य परख का लक्ष्य बालक की मानसिक गहराई तक पहुँचकर उसके शैक्षिक ज्ञान का परीक्षण तथा उसका विश्लेषण करना है।

विश्वसनीय परख का निर्माण करने से पहले दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—

(1) उस विषय या क्षेत्र की सीमा (विस्तार) निश्चित करना जिसको मापने के लिए परख बनाई जा रही है।

(2) ऐसी युक्तियाँ प्राप्त करना जोकि उस क्षेत्र को सही-सही माप कर सकें।

किसी भी स्कूली विषय पर साफल्य परख बनाने से पहले अध्यापक को उस विषय से सम्बन्धित दो बातों का अवलोकन करना चाहिए—

(1) वह विषय किन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु पढ़ाया जाता है। अध्यापन द्वारा यह उद्देश्य किस सीमा तक प्राप्त होते हैं।

(2) उस विषय से सम्बन्धित पाठ्यपुस्तकों का अवलोकन करना और पाठ्य-क्रम का विश्लेषण करना। ऐसा करने से प्रश्न या पदों का उचित स्तर रखने में बहुत सहायता मिलेगी।

परख की निर्माण विधि

(1) सर्वप्रथम उस विषय के सभी अंगों का स्पर्श करने वाले पद अथवा प्रश्नों का निर्माण करना चाहिए। यह प्रश्न या पद वस्तुनिष्ठ (Objective) होने चाहिए। वस्तुनिष्ठ प्रश्नों की चर्चा इस पुस्तक में अन्यत्र की जा चुकी है। पदों के साथ ही आवश्यक निर्देश भी दिए जाने चाहिए। यदि परख कई पदों में विभक्त है तो प्रत्येक विभाग के लिए पृथक-पृथक निर्देश होने चाहिए। प्रश्न और निर्देश स्पष्ट और सरल होने चाहिए। प्रश्नों के सही उत्तरों की सूची भी पहले से ही बना लेना आवश्यक है।

(2) इस प्रकार निर्मित प्रयुक्त परख को उस कक्षा अथवा स्तर के छात्रों पर प्रयुक्त करना चाहिए। छात्रों के इस समूह में सभी प्रकार के छात्र होने चाहिए। इस समूह को नमूने का समूह (Sample Group) कहते हैं।

(3) परख का समय निर्धारित करने के लिए यह देखना चाहिए कि नमूने के समूह (Sample Group) के 60% या 70% या 80% विद्यार्थी सभी प्रश्नों का उत्तर कितने समय में देते हैं।

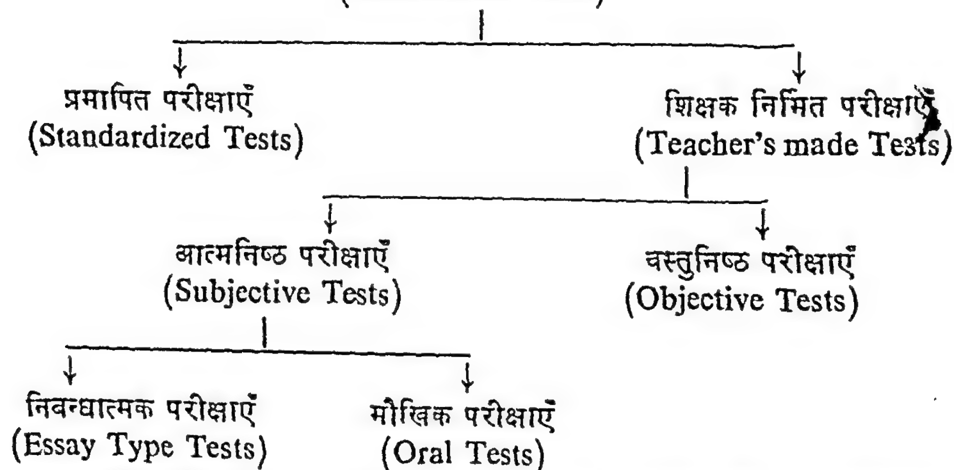
(4) इस प्रथम परीक्षा के परिणामों को देखकर ही परख के सभी प्रश्नों या पदों पर पुनः विचार करना चाहिए। आवश्यकतानुसार अधिक कठिन या अधिक सरल पदों में परिवर्तन करना चाहिए। प्रत्येक विभाग के निर्देशों को यथा सम्भव सुधारना भी आवश्यक है।

(5) इसके पश्चात् क्रमश: उस परख की विश्वसनीयता (Reliability), वैधता (Validity) और पदों का विभेदक मूल्यांकन (Discriminating Value) ज्ञात किया जाता है। परख को अधिक विश्वसनीय और प्रमापी (Standard) बनाने के लिए उसे बड़ी से बड़ी संख्या में छात्रों के समूह पर प्रयुक्त करना चाहिए।

(6) दुबारा प्रयुक्त करने के उपरान्त प्राप्तांकों का औसत निकालकर मानक (Norms) निश्चित करने चाहिए। भविष्य में इसी मानक से पृथक-पृथक छात्रों के प्राप्तांकों की तुलना की जाएगी। लड़के और लड़कियों के मानक पृथक-पृथक

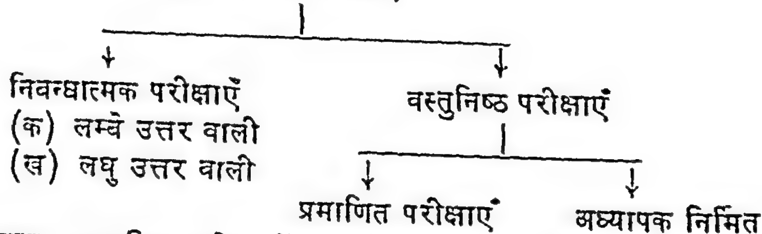
निष्पत्ति परीक्षाओं के प्रकार—

डगलस तथा हॉलैंड के अनुसार वर्गीकरण—



कुछ मनोवैज्ञानिक निष्पत्ति परीक्षाओं को दो प्रमुख समूहों में विभाजित करते हैं—

(1) मौखिक परीक्षाएँ
(2) लिखित परीक्षाएँ



दृष्टव्य—वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं के पदों के प्रकार का वर्णन पूर्व अध्यायों में किया जा चुका है।

निष्पत्ति परीक्षण या साफल्य परख का निर्माण
(Construction of Achievement Test)

शिक्षक अपने छात्रों के ज्ञान का परीक्षण ठीक उसी प्रकार करता है जिस प्रकार कि एक रसायन शास्त्री किसी रसायन का परीक्षण करता है। वह रसायन का थोड़ा सा नमूना लेकर उसकी परीक्षा करता है और इस प्रकार सम्पूर्ण रसायन की शुद्धता का अनुमान कर लेता है। एक गेहूँ का व्यापारी गोदाम में भरी हुई अनाज की बोरियों का थोड़ा-थोड़ा अनाज निकाल कर देखता है, परखता है और इस परख के आधार पर वह भन्डार के भरे हुए अनाज का मूल्य (घटिया या बढ़िया के आधार पर) निश्चित करता है। जिस यन्त्र से वह बोरों की गहराई से अनाज निकालता है, उसे परखी कहते हैं। शिक्षक द्वारा प्रयुक्त यन्त्र (साफल्य परख) भी इसी परख के समान कार्य करता है। साफल्य परख का लक्ष्य बालक की मानसिक गहराई तक पहुँचकर उसके शैक्षिक ज्ञान का परीक्षण तथा उसका विश्लेषण करना है।

विश्वसनीय परख का निर्माण करने से पहले दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—

(1) उस विषय या क्षेत्र की सीमा (विस्तार) निश्चित करना जिसको मापने के लिए परख बनाई जा रही है।

(2) ऐसी युक्तियाँ प्राप्त करना जोकि उस क्षेत्र की सही-सही माप कर सकें।

किसी भी स्कूली विषय पर साफल्य परख बनाने से पहले अध्यापक को उस विषय से सम्बन्धित दो बातों का अवलोकन करना चाहिए—

(1) वह विषय किन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु पढ़ाया जाता है। अध्यापन द्वारा यह उद्देश्य किस सीमा तक प्राप्त होते हैं।

(2) उस विषय से सम्बन्धित पाठ्यपुस्तकों का अवलोकन करना और पाठ्य-क्रम का विश्लेषण करना। ऐसा करने से प्रश्न या पदों का उचित स्तर रखने में बहुत सहायता मिलेगी।

परख की निर्माण विधि

(1) सर्वप्रथम उस विषय के सभी अंगों का स्पर्श करने वाले पद अथवा प्रश्नों का निर्माण करना चाहिए। यह प्रश्न या पद वस्तुनिष्ठ (Objective) होने चाहिए। वस्तुनिष्ठ प्रश्नों की चर्चा इस पुस्तक में अन्यत्र की जा चुकी है। पदों के साथ ही आवश्यक निर्देश भी दिए जाने चाहिए। यदि परख कई पदों में विभक्त है तो प्रत्येक विभाग के लिए पृथक-पृथक निर्देश होने चाहिए। प्रश्न और निर्देश स्पष्ट और सरल होने चाहिए। प्रश्नों के सही उत्तरों की सूची भी पहले से ही बना लेना आवश्यक है।

(2) इस प्रकार निर्मित प्रयुक्त परख को उस कक्षा अथवा स्तर के छात्रों पर प्रयुक्त करना चाहिए। छात्रों के इस समूह में सभी प्रकार के छात्र होने चाहिए। इस समूह को नमूने का समूह (Sample Group) कहते हैं।

(3) परख का समय निर्धारित करने के लिए यह देखना चाहिए कि नमूने के समूह (Sample Group) के 60% या 70% या 80% विद्यार्थी सभी प्रश्नों का उत्तर कितने समय में देते हैं।

(4) इस प्रथम परीक्षा के परिणामों को देखकर ही परख के सभी प्रश्नों या पदों पर पुनः विचार करना चाहिए। आवश्यकतानुसार अधिक कठिन या अधिक सरल पदों में परिवर्तन करना चाहिए। प्रत्येक विभाग के निर्देशों को यथा सम्भव सुधारना भी आवश्यक है।

(5) इसके पश्चात् क्रमशः उस परख की विश्वसनीयता (Reliability), वैधता (Validity) और पदों का विभेदक मूल्यांकन (Discriminating Value) ज्ञात किया जाता है। परख को अधिक विश्वसनीय और प्रमापी (Standard) बनाने के लिए उसे बड़ी से बड़ी संख्या में छात्रों के समूह पर प्रयुक्त करना चाहिए।

(6) दुबारा प्रयुक्त करने के उपरान्त प्राप्तांकों का औसत निकालकर मानक (Norms) निश्चित करने चाहिए। भविष्य में इसी मानक से पृथक-पृथक छात्रों के प्राप्तांकों की तुलना की जाएगी। लड़के और लड़कियों के मानक पृथक-पृथक

निकालना आवश्यक है। इसी प्रकार शहरी और देहाती छात्रों के मानक भी पृथक हो सकते हैं।

सांख्यिकीय गणना के लिए प्राप्तांकों के प्रतिशतीय (Percentile) या प्रमापी (Standard score) सामान्य अंक अधिक सुविधाजनक रहते हैं।

इस प्रकार की प्रमापित (Standardized) परख से छात्रों की शैक्षिक लब्धि (Educational Quotient) भी ज्ञात की जाती है।

$$\text{शैक्षिक लब्धि (E. Q.)} = \frac{\text{शैक्षिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}} \times 100$$

शैक्षिक आयु का वर्णन अध्याय 37 में किया जा चुका है। इसी प्रकार से साफल्य- लब्धि (Rohievement Quotient) भी ज्ञात किया जाता है।

$$\text{साफल्य लब्धि (A. Q.)} = \frac{\text{शैक्षिक आयु}}{\text{मानसिक आयु}} \times 100$$

साफल्य परख को प्रयुक्त करना

(1) **परख को प्रयुक्त करने की तैयारी**—इसके लिए दिन, स्थान और समय निश्चित करना चाहिए। स्थान ऐसा होना चाहिए जहाँ सभी छात्र समान वातावरण में बैठकर परीक्षा दे सकें। छात्रों को नकल करने का अवसर न मिले। परीक्षा से सम्बन्धित अन्य सामग्री, जैसे—छपे हुए पत्र, पेंसिल, अभिलेख पुस्तिका (Record Book) आदि तैयार रखनी चाहिए। परीक्षार्थियों को बराबर समय मिलना चाहिए। समय की अवधि इस प्रकार निश्चित करनी चाहिए जिससे कि एक सामान्य विद्यार्थी भी सभी पदों को पढ़कर समझ सके और वांछित उत्तर दे सके। एक वर्ष में तीन या चार से अधिक परख प्रयुक्त नहीं करनी चाहिए।

(2) **परख का प्रयोग**—पूर्व निश्चित समय पर छात्रों को परख दी जानी चाहिए। परख वितरण करने से पहले सभी छात्रों को यथास्थान बैठ जाना चाहिए। वितरण करते समय परख के पृष्ठ बन्द होने चाहिए। केवल मुखपृष्ठ छात्रों के समक्ष होना चाहिए, जिस पर वे आदेशानुसार अपना नाम, कक्षा, आयु आदि सूचनाएं लिख सकें। मुख पृष्ठ की लिखित कार्यवाही समाप्त होने के पश्चात् उस पर लिखे हुए आदेश शिक्षक पढ़कर सुनाता है और छात्र उन्हें ध्यान से देखते हैं। आदेश समाप्त करने के बाद परख को हल करने का समय बताते हुए अध्यापक उन्हें अगला पृष्ठ खोलकर प्रारम्भ करने का अन्तिम आदेश दे देता है। एक या दो बार बीच में समय भी बताया जाता है। समय समाप्त होने पर पुस्तिका बन्द करने का आदेश देकर उन्हें एकत्र कर लिया जाता है।

(3) **अंक प्रदान करना**—पहले से तैयार उत्तर सूची के अनुसार परख पुस्तिका में अंक प्रदान किए जाते हैं। आवश्यकतानुसार इन प्राप्तांकों को प्रमापी या प्रतिशतीय अंकों में परिणत किया जाता है।

(4) **परिणामों की व्याख्या**—प्रत्येक छात्र की सफलता की तुलना दिए हुए सामान्य स्तर से की जाती है। परख के परिणामों की व्याख्या इस बात पर निर्भर

करती है कि परख किस उद्देश्य से प्रयुक्त की गई है। उत्तर पुस्तिका के पृथक-पृथक खण्डों का अवलोकन करने से यह ज्ञात हो जाता है कि वह विद्यार्थी उस विषय के किस भाग में अधिक निपुण है और किस भाग में पिछड़ा हुआ है। परिणामों की युक्तिपूर्ण व्याख्या से अध्यापन विधि पर भी प्रकाश डाला जा सकता है।

साफल्य परख या उपलब्धि परीक्षा के प्रयोजन एवं उपयोगिता

(i) इन परीक्षाओं का निर्माण छात्रों के वास्तविक ज्ञान के परीक्षण करने हेतु किया जाता है। अतः इनके द्वारा छात्रों के वास्तविक तथा व्यावहारिक ज्ञान का मूल्यांकन होता है।

(ii) ये परीक्षाएँ कम समय में ही प्रयुक्त हो जाती हैं अतः बचतपूर्ण हैं। और अध्यापक इनको सुविधानुसार समय-समय पर प्रयुक्त कर सकता है तथा कक्षा का सामान्य स्तर एक-सा रख सकता है।

(iii) ये परीक्षाएँ अध्यापक के सोचने तथा कार्य करने के दृष्टिकोण पर आधारित होती हैं। अतः ये परीक्षाएँ अध्ययन द्वारा उत्पन्न समान कुशलताओं एवं पढ़ने-लिखने की गति का समुचित मूल्यांकन करती हैं।

(iv) कक्षा की स्थिति, स्तर आदि के अनुसार ये परीक्षाएँ स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं।

(v) इनके द्वारा शिक्षा के उद्देश्यों तथा लक्ष्यों की पूर्ति होती है।

(vi) इनके द्वारा छात्रों का वर्गीकरण शैक्षिक योग्यता के अनुसार किया जा सकता है। कक्षोन्नति तथा छात्रवृत्तियाँ देने के लिए भी ये परीक्षाएँ उपयोगी हैं।

(vii) वस्तुनिष्ठ उपलब्धि परीक्षाएँ निदानात्मक होती हैं। इनके द्वारा छात्रों की शैक्षिक दुर्बलता का ज्ञान हो जाता है और उनका उपचार भी किया जा सकता है।

(viii) वस्तुनिष्ठ साफल्य परख से अध्ययन के सम्पूर्ण क्षेत्र का परीक्षण किया जाता है।

(ix) इन परीक्षाओं को प्रयुक्त करके अध्यापन विधियों में भी सुधार किया जा सकता है, अतः शिक्षण की दृष्टि से भी ये उपयोगी हैं।

(x) ये परीक्षाएँ सुयोग्य, साधारण और पिछड़े हुए छात्रों में भली-भाँति विभेदीकरण करती हैं।

(xi) ये परीक्षाएँ प्रयुक्तीकरण करने, मूल्यांकन तथा परिणामों का विश्लेषण करने की दृष्टि से भी उत्तम हैं।

(xii) ये परीक्षाएँ छात्रों को अधिक प्रेरणा प्रदान करती हैं और उनकी बुद्धि की विभिन्न योग्यताओं को उत्तेजित करती हैं।

(xiii) ये परीक्षाएँ अधिक रुचिकर होती हैं, अत. छात्रों मे आदि से अन्त तक रुचि और उत्साह बना रहता है।

(xiv) इन परीक्षाओं को प्रयुक्त करते रहने से निरन्तर मूल्यांकन होता रहता है।

(xv) प्रमापित उपलब्धि परीक्षाएँ एक साथ बड़े क्षेत्र पर प्रयुक्त की जा सकती हैं, जैसे जिला अथवा प्रान्त स्तर पर।

(xvi) शिक्षण में स्थानान्तरण, शिक्षार्थी की अभिवृत्तियों एवं मूल्यों का परीक्षण भी इन परीक्षाओं के द्वारा होता है।

उपलब्धि परीक्षा और बुद्धि परीक्षा का तुलनात्मक अध्ययन

उपलब्धि या निष्पत्ति परीक्षा (वस्तुनिष्ठ परीक्षाएँ)	बुद्धि परीक्षा (मानसिक योग्यता परीक्षा)
(1) पाठ्यक्रम पर आधारित शिक्षा के परिणामों का मूल्यांकन करती हैं।	(1) जन्मजात मानसिक योग्यताओं का मूल्यांकन करती हैं।
(2) इनका सम्बन्ध सीखने, पढ़ाने और अनुभव के एक प्रमापित क्षेत्र से रहता है।	(2) ये परीक्षाएँ विकास तथा अभिवृद्धि की सामान्य दिशा से सम्बन्धित रहती हैं।
(3) इनमें आयु कोई महत्वपूर्ण कारक नहीं है।	(3) इनमें आयु एक महत्वपूर्ण कारक है क्योंकि बुद्धि लब्धि (I. Q.) आयु के अनुपात में ही ज्ञात की जाती है।
(4) इनका उपयोग कक्षोन्नति अथवा वर्गीकरण के लिए होता है।	(4) इनका उपयोग मानसिक योग्यता (कुशलता) का स्तर निर्धारित करने के लिए होता है।
(5) ये परीक्षाएँ शिक्षा के उद्देश्यों तथा लक्ष्यों की पूर्ति करती हैं और उन्हीं के आधार पर ही इनका निर्माण किया जाता है।	(5) इनके निर्माण का आधार कोई मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त होता है। जैसे P. M. A. Tests.
(6) इनमें प्रयुक्त सामग्री विद्यालय या शैक्षिक अनुभवों से सम्बन्धित होती है।	(6) इनमें प्रयुक्त विषयवस्तु यथासम्भव अशैक्षिक होती है।
(7) इनके परिणाम वर्तमान योग्यता अथवा व्यवहार के लिए ही वैध (Valid) होते हैं।	(7) इनके परिणाम भविष्य के कार्य तथा व्यवहार के लिए भी वैध होते हैं।
(8) इनके द्वारा जिन योग्यताओं और कुशलताओं का मूल्यांकन होता है, उनमें आगे सुधार तथा परिवर्तन हो सकता है।	(8) इनके द्वारा जिन योग्यताओं का मूल्यांकन (मापन) होता है, उनमें आगे परिवर्तन की सम्भावना बहुत कम होती है।
(9) उपलब्धि परीक्षा सीमित और स्थानीय प्रयोग के लिए होती है।	(9) इन्हें बहुत बड़े न्यादर्श (Sample) पर भी प्रयुक्त किया जा सकता है। अशिक्षित जनसंख्या पर भी क्रियात्मक बुद्धि-परीक्षाएँ प्रयुक्त की जा सकती हैं।

वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं के दोष

(1) इन परीक्षाओं में छात्रों को लिखित कार्य करने का अभ्यास नहीं हो हो सकता।

(2) उनकी लेखन शैली के अविकसित बनी रहने की सम्भावना रहती है। इनमें वे प्रश्नों के संक्षिप्त उत्तर देते हैं, अतः भाव-प्रकाशन का समुचित अवसर नहीं मिलता।

(3) उनकी निबन्धात्मक लेखन शैली का विकास नहीं होता। अतः वस्तुनिष्ठ परीक्षा के साथ एक या दो प्रश्न निबन्धात्मक शैली के भी दिये जाने चाहिए।

(4) वस्तुनिष्ठ परीक्षा अधिक से अधिक संख्या में मानसिक योग्यताओं का परीक्षण करती है परन्तु यह संदेहास्पद ही है कि इनके द्वारा श्रेष्ठ मानसिक योग्यता का परीक्षण भी होता है।

(5) इन परीक्षाओं को प्रयुक्त करते रहने से छात्र तथा अध्यापक तथ्यात्मक ज्ञान पर बल देने लगते हैं। वर्णनात्मक विषयों का परीक्षण उपयुक्त नहीं होता।

(6) ये परीक्षाएँ प्रयुक्त करने में तो सरल हैं, परन्तु इनका निर्माण करना एक कठिन तकनीकी कार्य है जिसमें समय और धन भी अधिक व्यय होता है।

निबन्धात्मक परीक्षाओं द्वारा मूल्यांकन

इसे परम्परागत मूल्यांकन विधि भी कहते हैं। अंग्रेजी का 'Examination' शब्द निरन्तर व्यवहार के कारण निबन्धात्मक परीक्षा का पर्यायवाची बन गया है। नवीन परीक्षाओं (वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं) के लिए प्रायः परीक्षण अथवा परख (Test) शब्द प्रयुक्त होता है। परम्परागत परीक्षाओं को परीक्षा प्रणाली (Examination Systems) कहा जाता है, और नवीन परीक्षाओं को मूल्यांकन प्रक्रिया (Evaluation Procedure) के नाम से पुकारा जाता है। अंग्रेजी का Examination शब्द लैटिन भाषा के Examer (examine) से बना है जिसका मतलब है, तराजू का काँटा, जो भार कम या अधिक होने की ओर इशारा करता है। हमारे यहाँ अधिकांश परीक्षाओं में छात्रों के अर्जित ज्ञान के भार को ही तौलने का प्रयत्न किया जाता है। जिस प्रकार किसी वस्तु को तराजू में तौलने के लिए प्रमाणित बाट (Weights) प्रयोग किये जाते हैं उसी प्रकार विद्यार्थी के ज्ञान का भार तौलने के लिए निबन्धात्मक परीक्षा में प्रमाणित प्रश्न (Standard Questions) प्रयोग किये जाते हैं। हम प्रायः किसी प्रश्न को देखकर प्रतिक्रिया करते हैं कि यह प्रश्न हाईस्कूल स्तर का है अथवा बी० ए० स्तर का आदि, आदि। यदि उस प्रश्न (या प्रश्नों) की तुलना में छात्र का ज्ञान अल्प स्तर का रहता है तो वह असफल घोषित कर दिया जाता है। छात्र भी अपने ज्ञान के स्तर के अनुसार ही प्रश्न-पत्र को सरल (हलका) या कठिन (भारी) समझते हैं।

आजकल *Examination* के स्थान पर *Test* शब्द अधिक प्रचलित है। अंग्रेजी का 'Test' शब्द लैटिन के 'Testum' से बना है जिसका मतलब है मिट्टी का वह बर्तन जिसमें किसी धातु या मिश्रण को रखकर रसायनशास्त्री उसका परीक्षण करता है। वह ताप देकर यह ज्ञात करता है कि उसमें सोने की मात्रा कितनी है। अतः स्पष्ट है कि टैस्ट वह परीक्षण प्रणाली है जिसके द्वारा परीक्षक यह जानना चाहता है कि जिस वस्तु (शैक्षिक प्रगति) की उसे खोज करनी है वह उस मिश्रण (छात्र की ज्ञान सम्बन्धी प्रतिक्रियाओं) में उपस्थित है अथवा नहीं। निबन्धात्मक प्रणाली का उद्देश्य पूर्व निर्धारित स्तर के अनुसार छात्रों के ज्ञान के भार को तौलना है जबकि टैस्ट (Tests) का उद्देश्य यह देखना है कि शिक्षा के लक्ष्यों (Educational Objectives) की पूर्ति किस सीमा तक और कितनी मात्रा में हो रही है।

निबंधात्मक परीक्षा और वस्तुनिष्ठ परीक्षण का तुलनात्मक अध्ययन

निबन्धात्मक परीक्षा (Examinations)	वस्तुनिष्ठ परीक्षण (Tests)
(1) उपलब्धि का पूर्व निर्धारित स्तर (मान) चाहती है।	(1) इससे स्पष्ट होता है कि पढ़ी गई वस्तु कहाँ तक ग्रहण की गई है।
(2) रटने पर अधिक बल देती है।	(2) वास्तविक स्मृति और समझ पर बल देती है।
(3) सत्र के अन्त में प्रयुक्त की जाती है—यह वार्षिक या अर्द्धवार्षिक होती है, अतः अधिक कष्टदायक है और भय उत्पन्न करती है।	(3) यह सप्ताह अथवा माह के अन्त में, कम अन्तर पर ही प्रयुक्त होती रहती है, अतः कष्टदायक नहीं होती है।
(4) अस्पष्ट सीमा रेखा वाले प्रश्नों के उत्तर में लम्बी निबन्धात्मक प्रतिक्रिया प्रस्तुत की जाती है। उदाहरणार्थ अकबर कौन था? उसकी महानता के बारे में आप क्या जानते हैं?	(4) इनमें लघु उत्तर प्रस्तुत किये जाते हैं। क्योंकि प्रश्न भी वस्तुनिष्ठ होते हैं। ये प्रश्न सीधे और स्पष्ट होते हैं अतः उत्तर भी इसी प्रकार के होने चाहिए।
(5) दिये गये प्रश्न प्रायः सम्पूर्ण पाठ्य वस्तु को स्पर्श नहीं करते ये केवल कुछ चुने हुए प्रसंगों का ही परीक्षण करते हैं।	(5) प्रश्नों की संख्या अधिक होती है जो सम्पूर्ण विषय-वस्तु को स्पर्श करते हैं तथा सम्पूर्ण ज्ञान का परीक्षण होता है।
(6) निर्धारित पाठ्यक्रम के कुछ अंगों पर आवश्यकता से अधिक बल दिया जाता है, जिन्हें महत्वपूर्ण (Important) कहते हैं। इसके कारण अन्य भागों की अवहेलना होती है।	(6) सीखने या पाठ्यक्रम के सभी अंगों को आवश्यकतानुसार महत्व दिया जाता है। और सभी अंगों का परीक्षण होता है।
(7) इन परीक्षाओं में परीक्षक की विश्वसनीयता (Examiners Reliability) बहुत कम होती है। वही परीक्षक या अन्य परीक्षक उसी विद्यार्थी को कम या अधिक अंक प्रदान कर सकते हैं।	(7) इन परीक्षाओं में परीक्षक की विश्वसनीयता अच्छी रहती है। अंक प्रदान करने में अन्तर होना भी प्रायः असम्भव ही होता है।
(8) परीक्षा का प्रश्न-पत्र बनाना बड़ा सरल कार्य है परन्तु उत्तर पुस्तिकाओं का समुचित परीक्षण करना एक दुस्तर कार्य है।	(8) प्रश्न-पत्र का निर्माण करना एक कठिन कार्य है किन्तु अंक प्रदान करना सरल कार्य है। कुछ प्रमापित परीक्षाओं में मशीनों द्वारा भी अंक प्रदान किये जाते हैं।
(9) प्रश्नों के उत्तर लम्बे, निबंधात्मक शैली में होते हैं अथवा लघुवर्णनात्मक (Shortanswer type) होते हैं। इनकी भाषा, विषय वस्तु तथा शैली में बहुत अन्तर रहता है।	(9) इन प्रश्नों के उत्तर बहुत छोटे होते हैं अतः व्यक्तिगत छात्र को अधिक अन्तर उत्पन्न करने का अवसर ही नहीं मिलता।

(10) इन परीक्षाओं में समरूपता (Uniformity) का पालन नहीं हो सकता।	(10) इनमें समरूपता Uniformity) का पालन भली-भाँति हो सकता है।
(11) अधिकांश निबन्धात्मक परीक्षाएँ गति परीक्षाएँ (Speed Tests) हैं। अर्थात् इसके द्वारा अधिकतम गति से कार्यक्षमता का परीक्षण होता है। क्योंकि परीक्षार्थी को अल्प समय में अधिक लिखना होता है।	(11) वस्तुनिष्ठ उपलब्धि परीक्षाएँ गति और शक्ति (Speed and power) दोनों का ही मूल्यांकन करती हैं। शक्ति से हमारा अभिप्राय बौद्धिक श्रेष्ठता से है। थोड़े समय में अधिक प्रश्नों का सही उत्तर प्रस्तुत करने की क्षमता।
(12) इनमें उत्तर की सामग्री (मात्रा) पर बल दिया जाता है, समझ पर नहीं।	(12) इनके द्वारा विषयवस्तु में विद्यार्थी की अन्तर दृष्टि बढ़ती है।
(13) ये परीक्षाएँ सीखने में स्थानान्तरण की सम्भावना मे वृद्धि नहीं करती हैं।	(13) इनके द्वारा समझ, कल्पना और रुचि का विकास होता है, अतः सीखने में स्थानान्तरण की वृद्धि होती है।
(14) यह प्रणाली रूढ़िवादी एवं अवास्तविक है। यह बाजारू नोट्स और रटने को प्रोत्साहित करती है। नकल करने को उत्साहित करती है। शिक्षा को परीक्षा केन्द्रित बनाती है।	(14) यह पद्धति प्रगतिशील है, समझ, सम्पूर्ण पाठ्यक्रम का अध्ययन और ज्ञान की उपयोगिता पर बल देती है। शिक्षा को उपयोगी प्रक्रिया बनाती है।
(15) इन परीक्षाओं की विभेदकता शक्ति (Discrimination Power) कम होती है। अधिकांश विद्यार्थी तृतीय श्रेणी के अंक प्राप्त करके उत्तीर्ण हो जाते हैं।	(15) इन परीक्षाओं की विभेदकता अच्छी होती है। मंद बुद्धि, साधारण और मेधावी छात्रों में स्पष्ट भेद दिखाती है।
(16) इन परीक्षाओं में निदानात्मक परीक्षण की क्षमता कम होती है। निबन्धात्मक उत्तरों का विश्लेषण अध्यापन के दृष्टिकोण से करना एक कठिन कार्य है।	(16) वस्तुनिष्ठ परीक्षण के प्रश्नों तथा उत्तरों का विश्लेषण करके छात्रों की कमियों तथा कठिनाइयों आदि का ज्ञान होता है, अतः इनमें निदानात्मक क्षमता अधिक होती है।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. उपलब्धि परीक्षा के निर्माण मे आवश्यक सोपानों का वर्णन कीजिए।
2. निष्पत्ति परीक्षा से आप क्या समझते हैं? निष्पत्ति परीक्षाएँ कितने प्रकार की होती हैं, उनका संक्षिप्त परिचय दीजिए।
3. निष्पत्ति परीक्षा और बुद्धि परीक्षा में क्या अन्तर है। इनकी उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।
4. निबन्धात्मक परीक्षाओं और वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं के गुण दोषों की व्याख्या कीजिए :

39

मानसिक परीक्षाएँ—3

अर्थ, वर्गीकरण एवं लक्षण
(Meaning, Classification and Characterstcis)

मानसिक परीक्षाओं के रूप एवं प्रकारों का वर्णन पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। बुद्धि परीक्षाओं के विकासात्मक इतिहास पर भी हम दृष्टिपात कर चुके हैं। इसके द्वारा इन परीक्षाओं के कलेवर, कार्यक्षेत्र एवं अर्थों पर भी प्रकाश पड़ चुका है। अब मानसिक परीक्षाओं का अर्थ अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ परिभाषाएँ नीचे दी जाती हैं :—

मानसिक परीक्षा का अर्थ एवं परिभाषा

क्रोनबैक के अनुसार—मानसिक परीक्षा अथवा बुद्धि परीक्षा के द्वारा हम व्यवस्थित ढंग से दो या दो से अधिक व्यक्तियों के व्यवहार की तुलना करते हैं।[1]

फ्रीमैन के अनुसार—मानसिक परीक्षा की व्याख्या एवं परिभाषा लगभग इसी प्रकार है। उसके अनुसार मानसिक परीक्षा एक ऐसा प्रमापित साधन है जिसका निर्माण व्यक्तित्व के किसी पहलू या व्यवहार का न्यादर्श प्राप्त करके वस्तुगत मूल्यांकन करने के लिए किया गया है।[2]

अनास्तसी के अनुसार—मानसिक परीक्षा का कार्य व्यवहार का वस्तुगत और प्रमापित मूल्यांकन करना है—[3]

क्या मानसिक योग्यताओं और क्षमताओं का मापन सम्भव है ?

थॉर्नडाइक के अनुसार—उन सभी वस्तुओं का मापन किया जा सकता है जो मात्रा में विद्यमान हैं।[4]

---

1 "A test is a systematic procedure of comparing the behaviour of two or more individuals " —Cronbach

2 "We define a psychological test as a standardized instrument designed to measure objectively one or more aspects of personality by means of samples of performance or behaviour." —Freeman

3 "A psychological test is essentially an objective and standardized measure of a sample of behaviour." —Anastasi

4 "Anything that exists at all, exists in some quantity and anything that exists in some quantity, is capable of being measured," E. L. Thorndike, *17th Yearbook of Edu.* Part II.

अच्छी मानसिक परीक्षाओं के गुण या लक्षण

(i) विश्वसनीयता (Reliability)।
(ii) वैधता (Validity)।
(iii) वस्तुनिष्ठता (Objectivity)।
(iv) विभेदकता (Discrimination)।
(v) प्रमापीकरण (Standardization)।
(vi) मानक (Norms)।
(vii) समय और धन की बचत (Economy)।
(यह बचत वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं के द्वारा ही सम्भव है।)
(viii) प्रतिनिधित्व करने वाली जनसंख्या का नमूना या न्यादर्श (Representative Sample)।
(परीक्षा जिस जनसंख्या के लिए निर्मित की गई है उस जनसंख्या का सही प्रतिनिधित्व करने वाले समूह पर प्रयुक्त करके, उसका निर्माण होना चाहिये)।
(ix) सरलता से उत्तरों का परीक्षण (Easy Scoring)।
(x) उपयोगिता (Utility)।
(उत्तम परीक्षा अध्यापक, परीक्षार्थी, मनोवैज्ञानिक, अभिभावक, सामाजिक कार्यकर्ता आदि सभी के दृष्टिकोण से उपयोगी होती है।)
(xi) वास्तविक ज्ञान या योग्यता का परीक्षण (Test of Real Ability or Knowledge)।
(निबन्धात्मक परीक्षाएँ काल्पनिक ज्ञान का परीक्षण करती हैं। अतः उनकी वैधता (Validity) कम हो जाती है, जैसे—इतिहास के स्थान पर भाषा योग्यता का परीक्षण)।
(xii) अंक प्रदान करने में समानता (Uniformity in Marking)।
(इसे परीक्षक की विश्वसनीयता भी कहते हैं। एक या अनेक परीक्षकों द्वारा प्रदत्त अंकों में अन्तर नहीं होना चाहिए)।

मानसिक परीक्षा की विश्वसनीयता (Test Reliability)

वह परीक्षा विश्वसनीय कहलाती है जिसको समय-समय पर प्रयुक्त करने पर भी परिणामों में कोई भिन्नता उत्पन्न न हो।[1]

मान लीजिए कि हमें नदी के जल की गहराई ज्ञात करनी है। पहले हम सुतली या डोरी में पत्थर बाँधकर पानी में डालते हैं जिसके फलस्वरूप हमें यह ज्ञान हो जाता है कि जल की गहराई 20 फीट 6 इंच है। इसके बाद जल में हम बाँस या लम्बी छड़ी डालते हैं तो ज्ञात होता है कि जल की गहराई 20 फीट 4 इंच मात्र है। हम सुतली में बँधे पत्थर को दोबारा पानी में डालते हैं और इस बार जल की गहराई 20 फीट 9 इंच निकलती है। किन्तु बाँस से नापी गई गहराई हमेशा 20 फीट 4 इंच ही ज्ञात होती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बाँस द्वारा नापी

1 "A test is reliable if it gives the same result on different occasions."

गई गहराई विश्वसनीय है। इसकी अपेक्षा सुतली द्वारा गहराई नापने की विधि कम विश्वसनीय है। किसी भी परीक्षा की विश्वसनीयता का अवलोकन दो प्रकार से किया जाता है—

(i) आन्तरिक विश्वसनीयता अर्थात् किस सीमा तक वह परीक्षा उन आन्तरिक त्रुटियों से मुक्त है जो इसके परिणामों को प्रभावित कर सकती है, परीक्षा के सभी पद (Items) इस प्रकार की त्रुटियों से मुक्त होने चाहिए।

(ii) सम्पूर्ण परीक्षा को कभी भी प्रयुक्त करने पर परिणामों में कोई अन्तर नहीं हो अर्थात् वह परीक्षा निदानात्मक दृष्टि से भी विश्वसनीय हो। उस परीक्षा को प्रयुक्त करने से व्यक्ति के आगामी व्यवहार के विषय में निश्चित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

विश्वसनीयता को व्यक्त करने की दो विधियाँ प्रचलित हैं :—

(क) **प्रकेवल विश्वसनीयता** (Absolute Reliability)—इसे सांख्यिकीय विधि से ज्ञात किया जाता है और स्टैण्डर्ड एरर ऑफ मेजरमेन्ट (Standard Error of Measurement) के नाम से व्यक्त किया जाता है।

(ख) **सम्बन्धित विश्वसनीयता** (Relative Reliability)—इसका अनुमान भी सांख्यिकीय विधि से किया जाता है और इसे विचरणशीलता का विश्लेषण (Analysis of Variance) के नाम से पुकारते हैं।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि परख विश्वसनीयता का कोई एक प्रकार सर्वमान्य नहीं है, अपितु जिस दृष्टिकोण से परख प्रयुक्त की जाती है, उसी के अनुसार ही विश्वसनीयता का प्रकार भी निश्चित किया जाता है। परख की विश्वसनीयता चार पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणों से चार प्रकार की कही जा सकती है—

परख विश्वसनीयता के प्रकार (Types of Test Reliability)

(1) **पुनर्परख विधि** (Retest Reliability)—एक ही व्यक्ति या अनेक व्यक्तियों पर भिन्न-भिन्न समय में प्रयुक्त की गई किसी परख के परिणामों का तुलनात्मक सांख्यिकीय सम्बन्ध ज्ञात करना। यह Reliability Co-efficient अथवा Coefficient of Stability कहलाता है।

(2) **एकान्तर या समानान्तर परख विधि** (Equivalent Form Reliability)—कुछ परीक्षाओं का निर्माण दो या दो से अधिक समान आकृतियों (Forms) में किया जाता है। इनको प्रयुक्त करने से परिणाम भी समान निकलते हैं। इन परिणामों का सांख्यिकीय सम्बन्ध (Co-efficient of Equivalence) कहलाता है। परीक्षाएं यदि समानान्तर होंगी तो उनके परिणाम भी समान होंगे।

(3) **समद्विखण्ड विश्वसनीयता** (Split half Reliability)—समद्विखण्ड विश्वसनीयता में कुछ परीक्षाओं को दो बराबर भागों में विभाजित करके एक ही व्यक्ति या समूह पर अलग-अलग समय में प्रयुक्त करके देखा जाता है और परिणामों का तुलनात्मक सम्बन्ध ज्ञात किया जाता है। परन्तु किसी भी परीक्षा को दो बराबर (समान) भागों में विभाजित करना एक कठिन कार्य है। स्पीयरमैन—ब्राउन की

सांख्यिकीय विधि इस प्रकार की विश्वसनीयता ज्ञात करने के लिए प्रयोग की जाती है।

(4) पदों की विश्वसनीयता (Inter-item Consistency)—परीक्षा के प्रत्येक पद के प्रति परीक्षार्थियों की प्रतिक्रियाओं का अवलोकन किया जाता है। यदि पदों में समानता की कमी होगी तो परिणामों का सहसम्बन्ध (Correlation) भी निम्न होगा। इससे पदों की विषमता (Heterogeneity) का पता चलता है।

(5) मानसिक परीक्षाओं की वैधता (Validity)—वैधता से हमारा तात्पर्य परख के उद्देश्यपूर्ण होने से है। हम जिसका मापन करना चाहते हैं, परख भी यदि उसी का मापन करे तो वैध है, अन्यथा नहीं। उदाहरणार्थ—गणित के एक प्रश्न की भाषा इतनी जटिल हो जाय कि अर्थ ही न स्पष्ट हो सके तो वह गणित की वैध परख नहीं होगी।[1] क्या वास्तव में वह मानसिक परीक्षा व्यवहार के अमुक क्षेत्र का परीक्षण करती है? यदि नहीं तो उस परीक्षा की वैधता संदिग्ध है। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि इस दृष्टि से परीक्षाओं के नाम प्रायः भ्रामक होते हैं। अनेक मानसिक परीक्षाएँ—जैसा कि उनके नाम से ज्ञात होता है—व्यवहार के उस क्षेत्र का समुचित परीक्षण नहीं करती है। सैद्धान्तिक रूप से वैधता निश्चित करने की प्रक्रिया के अन्तर्गत बुद्धि परीक्षा के परिणाम और स्वतन्त्र निष्पत्ति परीक्षा, इन दोनों परिणामों का तुलनात्मक अध्ययन आता है। एक बालक अपने अध्यापक, माता-पिता तथा साथियों की दृष्टि मे कुशाग्रबुद्धि है। उस पर कोई सामान्य बुद्धि परख प्रयुक्त की जाती है और ज्ञात होता है कि उसकी बुद्धि लब्धि सामान्य से बहुत ऊपर है। अतः हम कह सकते हैं कि परख की वैधता मे कोई सन्देह नहीं। अधिक वैधता वाली परख के परिणाम आगे चलकर समय की कसौटी पर खरे उतरते हैं। जैसा कि नीचे दी गई सारिणी से स्पष्ट होता है—

बुद्धिलब्धि (I. Q.)	कमीशन पाने वालों का प्रतिशत
140 से ऊपर	92%
130 से 139	88%
120 से 129	84%
110 से 119	74%
110 से कम	49%

सेना में भर्ती होने वाले 5520 अधिकारी सैनिकों पर पहले आर्मी जनरल क्लासीफिकेशन टैस्ट (Army General Classification Test या AGCT) प्रयुक्त किया गया। सैनिक प्रशिक्षण के पश्चात् सफल अधिकारियों का बुद्धिलब्धि के अनुसार प्रतिशत ज्ञात किया गया। उपरोक्त सारिणी का अवलोकन करने से स्पष्ट हो जाता है कि इस परख की वैधता स्वयं प्रमाणित है।[2]

1 The degree to which the test actually succeeds in measuring what it purports to measure when compared with acceped criteria."

2 *Infantry Journal*—"Psychology for the Armed Services, 1945.

वैधता निर्धारित करने की चार विधियाँ प्रचलित हैं जोकि निम्न प्रकार है :

वैधता की विधियाँ

(1) सामग्री की वैधता (Content Validity)—साफल्य परख (Achievement Test) का मूल्यांकन करने में प्राय: यह विधि अपनाई जाती है। इस प्रकार की परख के पदों का अवलोकन करने से ज्ञात हो सकता है कि वह परख उस क्षेत्र के सभी अंगों का समानता से परीक्षण करती है अथवा नहीं। व्यक्तित्व परीक्षाओं में इस प्रकार की वैधता की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि यह परीक्षाएँ किसी पूर्व निर्धारित पाठ्य-सामग्री या प्रशिक्षण पर आधारित नहीं होतीं। इसमें परीक्षा सामग्री और परीक्षा की वस्तु (या विषय) में बहुत अन्तर होता है। इसलिए फ्रीमैन इस प्रकार की परख की वैधता को फेस वैलिडिटी (Face Validity) की संज्ञा देता है।

(2) प्रकथनात्मक वैधता (Predictive Validity)—आगामी व्यवहार सम्बन्धी वैधता—यहाँ वैधता से हमारा तात्पर्य व्यक्ति के आगामी व्यवहार से है। अमुक परीक्षा किस सीमा तक व्यक्ति की आगामी व्यवहार सम्बन्धी सूचना देती है? इस प्रकार की वैधता का व्यावसायिक योग्यता सम्बन्धी परख में विशेष महत्व है। यदि हमें किसी बालक के शैक्षिक झुकाव का पता लगाना है तो हम उस बालक पर एक शैक्षिक झुकाव परख प्रयुक्त करते हैं। यदि परिणाम उस बालक के शैक्षिक जीवन के अनुकूल है तो हम कह सकते हैं कि उस परख में इस प्रकार की वैधता विद्यमान है। फ्रीमैन इस प्रकार की वैधता को कार्यात्मक वैधता (Functional Validity) के नाम से पुकारता है। इसे व्यावहारिक या अनुभवजन्य वैधता भी कह सकते हैं।

(3) समकालीन वैधता (Concurrent Validity)—समकालीन वैधता और प्रकथनात्मक वैधता में कोई विशेष अन्तर नहीं है। बहुत लम्बे समय तक एक ही व्यक्ति अथवा समुदाय पर मानसिक परीक्षाएँ प्रयुक्त नहीं की जा सकतीं। इस कठिनाई से मुक्त होने के लिए ऐसे व्यक्ति अथवा समुदाय पर बुद्धि परीक्षा प्रयुक्त की जाती है जिसके मानसिक योग्यता सम्बन्धी तथ्य जैसे—पाठशाला अभिलेख, अध्यापक द्वारा मूल्यांकन, प्राप्तांक आदि—पहले से ही प्राप्त हैं। इनके आधार पर उस बुद्धि परीक्षा की वैधता निर्धारित की जा सकती है।

(4) सैद्धान्तिक वैधता (Construct Validity)—कुछ परख किसी विशेष गुण अथवा "Theoretical Construct" को मापने के लिए बनाई जाती हैं। इन परखों की वैधता निश्चित करने के लिए अनेक सूत्रों से उस गुण से सम्बन्धित सूचनाएँ एकत्र की जाती हैं। परीक्षक यह जानना चाहता है कि किस सीमा तक वह परख उस गुण का मापन करती है।

मानसिक परीक्षाओं की वस्तुनिष्ठता
(Objectivity)

वस्तुनिष्ठता से तात्पर्य यह है कि एक परीक्षा को चाहे कितने ही परीक्षकों से प्रयुक्त कराया जाये उसका परिणाम सदैव एक सा ही निकले, परन्तु निबन्धात्मक परीक्षाओं में ऐसा नहीं होता। यदि एक परीक्षक उत्तर को पढ़कर 20 अंक देता है तो दूसरा केवल 15 अंक देता है। यह वस्तुनिष्ठता निर्धारित करने की एक पद्धति है जिसे अंक सम्बन्धी वस्तुनिष्ठता कह सकते हैं। वस्तुनिष्ठता को दूसरे दृष्टिकोण

से भी देखा जा सकता है। एक ही प्रश्न कई विद्यार्थियों को दिया जाता है। उत्तरों का परीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि सभी विद्यार्थियों के दृष्टिकोण और उत्तर सामग्री में बहुत अन्तर है। अतः स्पष्ट है कि यह प्रश्न इन विद्यार्थियों के लिए समान अभिप्राय नहीं रखता। अतएव यहाँ प्रश्न सम्बन्धी वस्तुनिष्ठता का अभाव कहा जाएगा। एक अच्छी परीक्षा मे सभी प्रश्न सीधे, स्पष्ट अर्थ वाले और एक ही उत्तर प्राप्त करने वाले होने चाहिये। निबन्धात्मक परीक्षा में वस्तुनिष्ठता का अभाव रहता है। इसके विपरीत आधुनिक वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं में मूल्यांकन का मापदण्ड परीक्षा के सभी भागों में समान रहता है। वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं के अन्य गुण इस प्रकार हैं :—

(1) इनके द्वारा एक निश्चित क्षेत्र का समग्र रूप से परीक्षण हो जाता है।
(2) उत्तरों के परीक्षण में सरलता रहती है।
(3) प्रश्नों की अनेकता और विविधता के कारण परीक्षार्थी के मन मे अरुचि उत्पन्न नहीं होती।
(4) ये परीक्षाएँ अधिक विश्वसनीय होती हैं।
(5) स्कूली विषयों का परीक्षण करने के लिए अधिक लाभदायक हैं।
(6) इनमें अनुचित साधन (Unfair Means) के प्रयोग करने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है।
(7) इनसे छात्रों की मानसिक अथवा शैक्षिक निर्बलता पर शीघ्र प्रभाव पड़ता है।

वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं के प्रकार

(1) प्रमाणित वस्तुनिष्ठ परीक्षा (Standardized Objective Tests) विशेषज्ञों द्वारा सामान्य प्रयोगों के लिये निर्मित की जाती हैं।

(2) शिक्षक निर्मित वस्तुनिष्ठ परीक्षा मे (Teacher made Objective Tests) इनका केवल स्थानीय महत्व होता है।

वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं की प्रश्न शैलियाँ

(क) रिक्त स्थान पूर्ति (Completion Tests)—जैसे—
(i) गंगा नदी समुद्र में गिरने से पहले.........बनाती है।
(ii) पानीपत का पहला युद्ध सन्...... में हुआ था।
(iii) भारत के प्रथम राष्ट्रपति...... थे।

(ख) सत्य-असत्य प्रश्न (True False Type) जैसे—
(i) गन्ना शीत जलवायु का पौधा है। हाँ, नहीं
(ii) कुतुबमीनार आगरे में स्थित है। हाँ, नहीं
(iii) बाबर ने भारत में मुगल साम्राज्य की नींव डाली थी। हाँ, नहीं
(iv) ऑक्सीजन गैस ज्वलनशील है। हाँ, नहीं

(ग) मिलते हुए पदों से सही उत्तर छाँटना (Matching Items)
उदाहरण (1)—

नीचे लिखे वाक्य को पढ़िए और उत्तर के लिए दिये गये स्थान में उस अक्षर पर (X) निशान लगाइये, जिस अक्षर के सामने वाला पद सही कारण देता है।

वाक्य	उत्तर
हमें दियासलाई जलाकर कूड़ेघर में नहीं फेंकनी चाहिए क्योंकि—	
(क) दियासलाई कीमती वस्तु है।	
(ख) भविष्य में हमें इसकी आवश्यकता पड़ेगी।	
(ग) यह बुझ जाएगी।	(×)
(घ) इससे आग लगने की सम्भावना है।	क ख ग घ

उदाहरण (2)—

निम्नलिखित लेखकों के नाम के आगे प्रसिद्ध पुस्तकों के नाम लिखे हुए हैं। सूची को ध्यान से पढ़िये और उत्तर के लिए दिये गये स्थान (कोष्ठक) में वह अक्षर लिखिये जिसके सामने उस पुस्तक के सही लेखक का नाम लिखा है

लेखक	पुस्तक	उत्तर
(प) रवीन्द्रनाथ टैगोर	रामचन्द्रिका	(भ)
(फ) शेक्सपीयर	पैराडाइज लॉस्ट	( )
(व) प्रेमचन्द	मैकबैथ	( )
(म) केशव	गीतांजली	( )
(भ) तुलसीदास		
(य) मिल्टन		

(घ) बहु-निर्वाचन परख अर्थात् अनेक पदों से सही उत्तर छांटना (Multiple Choice Items)।

उदाहरण (1)—

नीचे लिखे पदों में से ठीक उत्तर छाँटिये और उत्तर के लिए दिये गये स्थान में वह अक्षर लिखिये जिसके सामने सही उत्तर लिखा है :

दुर्गापुर प्रसिद्ध है—	उत्तर
(अ) खाद के कारखाने के लिए।	
(व) विश्वविद्यालय के लिए।	
(स) लोह इस्पात उद्योग के लिए।	
(द) जूट उद्योग के लिए।	( )

उदाहरण (2)—

प्रश्न	उत्तर
संयुक्त राज्य अमरीका का प्रथम राष्ट्रपति कौन था ?	
(अ) मुनरो	
(व) अब्राहम लिंकन	
(स) वाशिंगटन	
(द) जैफरसन	( )

ऐसी परीक्षा से कोई लाभ नहीं है जोकि निर्बल अथवा सशक्त तथा मन्द बुद्धि

अथवा कुशाग्र बुद्धि बालक-बालिकाओं में भेद स्पष्ट नहीं कर सके। किसी भी परीक्षा में विभेदीकरण का गुण उसमें रखे गये पदों अथवा प्रश्नों पर निर्भर करता है। ये पद या प्रश्न सरल से कठिन की ओर होने चाहिए। वैयक्तिक भिन्नताओं को प्रदर्शित करना आधुनिक बुद्धि परीक्षाओं का एक उपयोगी गुण है।

मानसिक परीक्षा में विभेदकता (Discrimination)

प्रमापीकरण से हमारा अभिप्राय परीक्षा प्रयुक्त करने की परिस्थितियों को समान बनाने से है। प्रतिक्रियाओं के मूल्यांकन की प्रक्रिया भी समान (Uniform) होनी चाहिए। थार्नडाइक तथा हेगेन के अनुसार—[1]

अच्छी परीक्षा का प्रमापीकरण (Standardization) होना चाहिए।

परीक्षा से सम्बद्ध परिस्थितियों में केवल परीक्षार्थी ही एक विचरणशील और परिवर्तनशील इकाई होना चाहिए। अन्य परिस्थितियाँ सभी परीक्षार्थियों के समान रहनी चाहिए। ऐसी दशा में यदि परीक्षा के परिणाम में कोई अन्तर दृष्टिगोचर होता है तो उसका कारण परीक्षार्थी की विचरणशीलता है। प्रायः सभी मनोवैज्ञानिक परीक्षाएँ व्यक्तिगत व्यवहार के किसी न किसी क्षेत्र के लिए वस्तुगत एवं प्रमापीकृत होती हैं। मनोवैज्ञानिक भी एक रसायनशास्त्री की भाँति वस्तु का परीक्षण करता है। यदि किसी बालक के गणित ज्ञान का परीक्षण करना है तो उसे सामान्य स्तर (Norm) के गणित ज्ञान के सम्पूर्ण क्षेत्र से कुछ चुने हुए (उस क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करने वाले) प्रश्न दिये जाएँगे।

परीक्षा के सामान्य-स्तर या मानक (Norms) प्रस्तुत होने चाहिए।

परीक्षा के प्रयुक्त होने के उपरान्त, पदों को गिनकर प्राप्तांक ज्ञात होता है। यह परीक्षार्थी का रॉ स्कोर (Raw Score) कहलाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रॉ स्कोर का कोई महत्व नहीं। मान लीजिए एक परीक्षार्थी गणित परीक्षा में 100 में से 75 अंक प्राप्त करता है। इन अंकों को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि परिणाम बहुत अच्छा है या बहुत बुरा है। रॉ स्कोर का मूल्यांकन सदैव सामान्य मानक पर निर्भर करता है। किसी भी अच्छी परीक्षा के सामान्य मानक पहले से वस्तुगत निरीक्षण द्वारा निर्धारित कर लिए जाते हैं। मान लीजिए कि हम 10 वर्ष के बालकों के लिए एक 50 प्रश्न वाली परख तैयार कर रहे हैं। इस परख को हम सबसे पहले 10 वर्ष की आयु के सैकड़ों बालक-बालिकाओं पर प्रयुक्त करके देखते हैं। इस प्रकार एक औसत 10 वर्षीय बालक का 'औसत प्राप्तांक' ज्ञात किया जाता है। इन 50 प्रश्नों में से 10 वर्षीय बालक के औसत सही प्रश्नों की संख्या 30 है। इस परख में 30 रॉ स्कोर किसी भी 10 वर्षीय बालक के लिए सामान्य या औसत स्कोर होगा।[2]

---

1 "The word standardized in a test title means only that all students answer the same questions and a large number of questions under uniform directio[illegible] uniform time limits." —Thorndike and Ha[illegible]

2 "A norm is the normal or average performance on the test in a [illegible]

इसे हम प्रतिशत में भी परिणत कर सकते हैं। अच्छी परीक्षाओं के साथ प्रतिशतीय मानक भी संलग्न रहते हैं। इनकी सहायता से अनेक परीक्षाओं के परिणामों का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है चाहे उनमें प्रश्नों की संख्या कम रही हो अथवा अधिक।

यदि उपरोक्त परीक्षा में 65% परीक्षार्थी 30 से कम अंक प्राप्त करते हैं तो 30 वाँ स्कोर इस परीक्षा में 65 प्रतिशतीय स्कोर के बराबर होगा। 50वाँ प्रतिशतीय स्कोर मध्य बिन्दु होता है। प्रतिशतीय स्कोर प्रश्न या पदों की संख्या के अनुसार व्यक्त नहीं होते अपितु व्यक्तियों के प्रतिशत की अभिव्यक्ति करते हैं।

सभी प्रकार की मानसिक परीक्षाएं मानव-व्यवहार के किसी न किसी क्षेत्र का परीक्षण अथवा मापन करती हैं। अतएव व्यवहार के क्षेत्र पर आधारित वर्गीकरण ही बुद्धि परीक्षाओं के लिए अधिक उपयुक्त होगा। आधुनिक मानसिक परीक्षण के साहित्य में प्रायः इसी आधार पर बनाये गये वर्गीकरण प्रचलित भी हैं। मुख्य प्रकार निम्नलिखित हैं :—

मानसिक परीक्षाओं के प्रकार

(1) सामान्य बुद्धि परख (General Intelligence Tests)—इस प्रकार की परीक्षाओं की संख्या सबसे अधिक है। इनका लक्ष्य सम्पूर्ण रूप से बौद्धिक कार्यों का परीक्षण करना है। बिने-साइमन या इससे मिलती-जुलती परीक्षाएँ इसी प्रकार की हैं। इनके परिणामों को प्रायः बुद्धिलब्धि (I. Q.) में व्यक्त किया जाता है।

(2) अभिज्ञापक प्रश्नावली (Multiple Aptitude Batteries)—ये प्रश्नावलियाँ एक ही व्यक्ति की अनेक योग्यताओं का तुलनात्मक परीक्षण करती हैं। इनके परिणामस्वरूप अनेक प्राप्तांक (Scores) ज्ञात होते हैं जिनकी सहायता से उस व्यक्ति का मानसिक प्रोफाइल (Intellectual Profile) तैयार किया जाता है। इनका सबसे अधिक उपयोग किशोर और प्रौढ़ों का निदर्शन करने में होता है। इन्हें खण्ड विश्लेषण (Factor Analysis) के लिए भी उपयोग में लाया जाता है।

(3) विशिष्ट योग्यताओं की परख (Tests of Special Aptitudes)—इनका लक्ष्य मानव-व्यवहार के विशिष्ट क्षेत्र जैसे—यांत्रिक क्रियाएँ, संगीत निपुणता, एवं कलात्मकता आदि का परीक्षण करना है। ये परीक्षाएँ अभिज्ञापक प्रश्नावली के क्षेत्र को भी स्पर्श करती हैं।

(4) साफल्य परख (Achievement Tests)—इन परीक्षाओं का लक्ष्य सामान्य शिक्षा अथवा विशिष्ट प्रशिक्षण द्वारा उत्पन्न की गई योग्यताओं का परीक्षण करना है। पाठशाला में इनका विस्तृत प्रयोग होता है। पिछले अध्याय में साफल्य परख पर सविस्तार विचार किया जा चुका है। औद्योगिक या सैनिक कार्यकर्ताओं के चुनाव में भी इन परीक्षाओं को प्रयुक्त किया जाता है।

(5) व्यक्तित्व या चरित्र परीक्षाएँ (Personality or Character Tests)—इस क्षेत्र में व्यक्तित्व प्रश्नावलियाँ (Personality Inventories) अधिक प्रचलित हैं। चारित्रिक या व्यक्तित्व सम्बन्धी गुणों का परीक्षण करने के लिए अनेक विधियाँ प्रचलित हैं जिनका वर्णन अध्याय 41 में किया जायगा। इन परीक्षाओं का

लक्ष्य व्यक्ति के सामाजिक गुण, नैतिक गुण, संवेगात्मक समायोजन, आदतें, रुचि और अभिवृत्ति आदि का परीक्षण करना है।

वर्गीकरण के अन्य आधार

क्रोनबैक (Cronback) महोदय ने बुद्धि परीक्षाओं को दो मोटे वर्गों में रखा है—

(क) योग्यता की परीक्षा (जैसे बौद्धिक योग्यता, विशिष्ट योग्यता आदि)—क्रोनबैक के अनुसार इन परीक्षाओं का लक्ष्य व्यवहार की चरम सीमा (Maximum Performance) ज्ञात करना होता है।

(ख) व्यक्तित्व परीक्षाएँ—इनका लक्ष्य आदतन क्रियाओं (Habitual Performance) का परीक्षण करना है।

(ग) व्यक्तिगत और सामूहिक बुद्धि परीक्षाएँ—बुद्धि परीक्षाओं को इन दो वर्गों में भी रखा जाता है। परन्तु कुछ बुद्धि परीक्षाएं ऐसी हैं जिन्हें व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों रूपों में प्रयुक्त किया जा सकता है। व्यक्तिगत परीक्षाओं के परिणाम अधिक लाभदायक होते हैं।

परीक्षण के माध्यम के अनुसार वर्गीकरण

(क) कागज-पेंसिल परीक्षाएँ (Paper-pencil Tests)

(ख) क्रियात्मक परीक्षाएँ (Performance Tests)

(ग) भाषायुक्त परीक्षाएँ (Language Tests)

(घ) भाषा रहित परीक्षाएँ (Non-language Tests)

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. मानसिक परीक्षा से आप क्या समझते हैं ? एक अच्छी बुद्धि परीक्षा के क्या गुण होते हैं ?
2. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए (क) परीक्षा की विश्वसनीयता (ख) वैधता, (ग) वस्तुनिष्ठता (घ) मानसिक परीक्षाओं का वर्गीकरण।

40

व्यक्तित्व विकास और समायोजन

PERSONALITY DEVELOPMENT AND ADJUSTMENT

शिक्षा और व्यक्तित्व विकास

आधुनिक शिक्षा-व्यवस्था में अध्यापक की स्थिति एक दार्शनिक, मित्र अथवा पथ-प्रदर्शक के समान है। अध्यापन का सामान्य उद्देश्य छात्रों एवं छात्राओं के सम्पूर्ण-आत्म (Whole-Self) को शिक्षित करना है। इस उत्तरदायित्व को कुशलता-पूर्वक निभाने के लिए अध्यापक को अपने शिष्यों की वैयक्तिक विशेषताओं, व्यक्तित्व सम्बन्धी विलक्षणताओं और व्यक्तित्व मनोविज्ञान की साधारण जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। शिक्षा जगत् में प्रत्येक शिष्य का मार्ग प्रदर्शित करने के लिए अध्यापक को सदैव तत्पर रहना चाहिए। व्यक्तित्व में वैयक्तिक अन्तर, व्यक्तित्व-माप, व्यक्तित्व-परीक्षण आदि मनोवैज्ञानिक तथ्यों से उसे भली-भांति परिचित होना चाहिए। समाज में शिक्षा सम्बन्धी सभी समस्याओं का कुशलतापूर्वक नेतृत्व करने के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए। अतः इस अध्याय में बालक-बालिकाओं के व्यक्तित्व की संरचना एवं संगठन ; व्यक्तित्व विकास एवं समायोजन पर प्रकाश डाला जाएगा।

व्यक्तित्व क्या है ?

हिन्दी का 'व्यक्तित्व' शब्द अंग्रेजी के 'पर्सनैल्टी' शब्द का समानार्थक है। अंग्रेजी का पर्सनैल्टी (Personality) शब्द लैटिन भाषा के *Persona* से बना है, जिसका अर्थ है 'मुखोटा' या नकली चेहरा। पुराने समय में नाटक के पात्र रंग-मंच पर अभिनय करते समय मुखोटा लगाकर अपना रूप बदल लेते थे। लेकिन समय के साथ *Persona* का अर्थ बदलता गया। रोमन लेखक सिसरो (Cicero) ने *Persona* का प्रयोग अनेक अर्थों में किया है। इसका अभिप्राय है कि व्यक्ति दूसरों की अपेक्षा कैसा दिखाई देता है। उसका बाहरी कार्य क्या है। वह अपने व्यवहार में किन-किन गुणों का प्रकाशन करता है, और उसके जीवन की प्रकाशित शैली (Style) क्या है। परन्तु व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक अर्थ इस शाब्दिक अर्थ से भिन्न और व्यापक है।

व्यक्तित्व विकास और समायोजन

जीवन में व्यक्तित्व समायोजन का बहुत महत्व है। यदि समाज के साथ व्यक्ति का समायोजन उचित रीति से हुआ है तो उसका जीवन सुखमय और सम्पन्न बन जाता है। आधुनिक शिक्षा में व्यक्तित्व विकास पर इस दृष्टि से विशेष बल दिया जाता है और यह समझा जाता है कि यदि व्यक्ति का शैक्षिक जीवन आनन्द से व्यतीत

होता है, तो भविष्य में भी वह व्यक्ति सुख का अनुभव करता हुआ, आनन्ददायी व्यवहार की सृष्टि करता रहेगा। जीवन में व्यक्तिगत सफलता अथवा असफलता इस बात पर ही निर्भर करती है कि उस व्यक्ति का व्यक्तित्व सुसमायोजित है अथवा कुसमायोजित, बोरिंग आदि के अनुसार "व्यक्तित्व वातावरण के साथ लगातार समायोजन का परिणाम होता है।"[1] इसलिए प्रत्येक अध्यापक को यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि भविष्य की सुख-समृद्धि के लिए प्रत्येक बालक का समुचित विकास और पूर्ण समायोजन होना नितान्त आवश्यक है। माता-पिता एवं अभिभावक यह चाहते हैं कि उनके लड़के-लड़कियाँ पूर्णतः सन्तुलित (Well Balanced) और सुखी नागरिक बनें। यह लक्ष्य अध्यापकों और अभिभावकों के पूर्ण पारस्परिक सहयोग से ही प्राप्त किया जा सकता है। अविश्वास, भय, सन्देह, चिन्ता और ग्लानियों से मुक्त, संतुलित व्यक्तित्व वाले नागरिक ही समाज और देश की समस्याओं को उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से सुलझा सकते हैं और देश की भावनात्मक एकता में भी पूर्ण सहयोग दे सकते हैं।

व्यक्तित्व और समाज

अध्ययन की दृष्टि से मानव का व्यक्तित्व एक सामाजिक वस्तु है। उसकी क्रियाएँ एवं प्रतिक्रियाएँ, समाज में रहकर, समाज के प्रति ही होती हैं। मानव-शरीरधारी की मानवता समाज में ही प्रकाशित होती है। व्यक्ति समाज द्वारा प्रभावित होता है और स्वयं समाज के अन्य व्यक्तियों को भी अपने गुणों एवं कार्यों से प्रभावित करता है। प्रभावशाली व्यक्तित्व से हमारा अभिप्राय व्यक्ति के उन गुणों से है जो दूसरों को प्रभावित करते हैं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि व्यक्तित्व सामाजिक उद्दीपकों और सामाजिक वातावरण का प्रभाव ही है। परम्पराओं, रीति-रिवाजों, आदतों और जीवन सिद्धान्तों अथवा नियमों का व्यवहार प्रत्येक समुदाय में ही किया जाता है। बालक के व्यक्तित्व के विकास पर भी इनका सम्मिलित प्रभाव पड़ता है। समाज में विद्यमान सांस्कृतिक तत्व बालक के व्यक्तित्व को उद्दीप्त करते हैं और बालक समायोजन द्वारा अपने व्यवहार को वातावरण (सामाजिक और सांस्कृतिक) के अनुकूल बना लेता है। ऑलपोर्ट के अनुसार, "व्यक्तित्व, व्यक्ति में उन मनोदैहिक व्यवस्थाओं का संगठन है, जोकि वातावरण के साथ उसका अपूर्व समायोजन निर्धारित करती है। यह वातावरण भौतिक और सामाजिक दोनों प्रकार का ही होता है।"[2] जॉन ड्यूई के अनुसार सामाजिक अनुभव और शिक्षा समानार्थक हैं। शिक्षा और सामाजिक अनुभूति एक ही प्रक्रिया के दो नाम हैं। व्यक्तित्व के सभी अंग सामाजिक वातावरण में विकसित होते हैं।

पिछले अध्यायों में बालक-बालिकाओं के व्यक्तिगत अन्तरों पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। उनके संवेग, शारीरिक अभिवृद्धि, स्वभाव, रुचि, अभिवृत्तियाँ, विचार और आदतों आदि का वर्णन भी किया जा चुका है। व्यक्ति इन समस्त

---

1 "Personality is an individual's Consistant adjustment to his environment." —Boring

2 The dynamic organisation with in the individual of those Psychological systems that determmie his unique adjustments to his environment."—Allpot, G. W ; *Personality* : A Psychological interpretation.

गुणों का एक विचित्र संगठन है। इस संगठन को ही मनोविज्ञान में 'व्यक्तित्व' कहते हैं। विभिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा व्यक्तित्व की परिभाषा एवं व्याख्या में हम प्रायः निम्नलिखित चार बातों का उल्लेख पाते हैं :—

1. व्यक्तित्व की विचित्रता (Uniqueness)—प्रत्येक व्यक्तित्व संगठन की दृष्टि से एक विचित्र इकाई है। उसकी अपनी वैयक्तिक विलक्षणताएँ होती हैं। उसके व्यवहार का मनोमापन समानान्तर होता है, इसलिए व्यक्तित्व के निश्चित प्रकारों या वर्गों की व्याख्या करना कठिन है।

2. व्यक्तित्व का संगठन (Organization and Integration)—व्यक्तित्व किसी व्यक्ति के विभिन्न अनुभवों या गुणों का योग नहीं होता अपितु एक सक्रिय संगठन है। ऑलपोर्ट, जेम्स ड्रेवर तथा बर्ट आदि मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व को एक क्रियाशील संगठन (Dynamic Organization) मानते हैं। इस संगठन का स्वरूप अनुभवों के अनुसार पुनर्गठित होता रहता है, जिसे मनोविज्ञान में व्यक्तित्व विकास कहते हैं। व्यक्ति का आन्तरिक संगठन परिवर्तित होने पर उसके व्यक्तित्व प्रकाशन में बाहरी अन्तर दृष्टिगोचर होने लगते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्यक्तित्व एक परिवर्तित, परिवर्द्धित और पुनर्गठित होने वाली इकाई है। बर्ट के अनुसार—"व्यक्ति शारीरिक और मानसिक प्रतिक्रियाओं का संगठित आकार है जिसका प्रकाशन 'आत्म' के द्वारा सामाजिक परिस्थितियों में होता है।"[1]

3. सम्पूर्णता (Wholeness)—व्यक्तित्व के अन्तर्गत व्यक्ति के सभी शारीरिक और मानसिक तत्व संगठित रहते हैं। यह तो सभी शारीरिक और मानसिक प्रणालियों (Systems) का एक संगठन है। इस दृष्टि से आत्म (Self) और व्यक्तित्व में कोई विशेष अन्तर नहीं समझना चाहिए। गैरीसन तथा अन्य के अनुसार, "व्यक्तित्व सम्पूर्ण व्यक्ति है। इसमें उसकी जन्मजात अभिरुचियाँ और क्षमताएँ तथा पिछली सीखी हुई सम्पूर्ण बातें सम्मिलित रहती हैं और इन सभी कारकों का संगठन तथा समन्वय, व्यवहार, प्रतिमानों, जीवन के आदर्शों, मूल्यों तथा आकांक्षाओं की विशेषताओं से पूर्ण होता है।"[2]

थ्रोप (Thropc), बिगी तथा हण्ट (Biggy & Hunt) आदि मनोवैज्ञानिक इसे विलक्षणताओं की सम्पूर्ण इकाई मानते हैं।[3]

4. सामाजिक समायोजन (Social Adjustment)—व्यक्तित्व व्याख्या का महत्वपूर्ण पहलू है। समाज से पृथक मानव व्यक्तित्व या व्यवहार की कल्पना ही नहीं की जा सकती। सामाजिक अनुभवों द्वारा व्यक्ति बाहरी और आंतरिक सामंजस्य स्थापित करता हुआ अपने आपको परिवर्तित करता रहता है। उसके

---

1 A unified Pattern of bodily and mental reactions exhibited by the self in response to a social situation."—Burt, C. L. : The Assessment of Personality, *British Journal of educational Psychological* XV 1945.

2 "Personality is the wholeman, his inherited aptitudes and capacities, all his past learnings, the integration and synthesis of these factors in to characteristic behavior patterns, his ideas, values and expectations." Garrison and others—*Educational Psychology*, Page 430.

3 "Personality refers to the whole behavioral pattern of an individual to the totality of its characteristics,'—Bigge and Hunt.

व्यक्तित्व का एकीकरण (Unity and Integration), उसके दृढ़ संकल्पों का प्रकाशन (Expression of Strong Will Power) महत्वाकांक्षाओं की प्राप्ति (Realization of Goals) तथा आत्म चेतना की अभिव्यक्ति (Expression of Self Consciousness) सामाजिक परिस्थितियों में ही होती है।

व्यक्तित्व संगठन : एक प्रक्रिया
(Personality Integration : A Process)

नवजात शिशु के व्यक्तित्व की व्याख्या करना बहुत कठिन है, क्योंकि प्रौढ़ों के समान उसका कोई व्यक्तित्व नहीं होता। व्यक्तित्व तो विकास, अभिवृद्धि और परिपक्वता का ही परिणाम है। मानव के सभी विकासात्मक तत्व जैविक वंशानुक्रम और सामाजिक वातावरण से प्रभावित होते हैं। जीवन के प्रारम्भिक अनुभव बालक के व्यक्तित्व को एक विशेष सांचे में ढाल देते हैं। बालक के साथ माता-पिता का व्यवहार, उसके प्रति अन्य व्यक्तियों की प्रतिक्रियाएँ, उसे भोजन कराने का ढंग, उसकी अन्य जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति, समाज में उसका स्थान (आदर या निरादर) आदि बातें जीवन के आरम्भ से ही व्यक्तित्व को एक विशेष दिशा में मोड़ने लगती हैं। संक्षेप में व्यक्तित्व विकास को प्रभावित करने वाली मुख्य परिस्थितियाँ इस प्रकार हैं :—

व्यक्तित्व

(1) शारीरिक संरचना	(2) वातावरण का प्रभाव	(3) अन्य प्रभाव
(क) स्वास्थ्य, रंगरूप	(क) घरेलू वातावरण	(क) संस्कृति
(ख) गामक संयोजन (Motor co-ordination)	(ख) पाठशाला का वातावरण	(ख) धर्म
(ग) सामान्य मानसिक योग्यताएँ	(ग) पाठ्यक्रम	(ग) सामाजिक संगठन
(घ) कुशाग्र बुद्धि होना या मंद बुद्धि होना	(घ) गुरु शिष्य सम्बन्ध	
(ङ) विशेष योग्यताएँ	(ङ) शिष्यों के आपसी सम्बन्ध	
(च) संवेग		

बालक के व्यक्तित्व का विकासात्मक अध्ययन 20वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ। इस क्षेत्र में आरनोल्ड गेसेल (Arnold Gesell) के खोज कार्य विशेष उल्लेखनीय हैं। उसने बालक के व्यवहार में विकास की विभिन्न अवस्थाओं का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया। गेसेल के विश्लेषणात्मक वर्णन से बालक के व्यक्तित्व का क्रमिक विकास स्पष्ट हो जाता है और यह भी ज्ञात हो जाता है कि बालक का व्यक्तित्व भविष्य में किस दिशा की ओर अग्रसर होगा।

फ्रायड का सिद्धान्त

फ्रायड के मनोविश्लेषणवादी विचारों का वर्णन इस पुस्तक में ही काम-प्रवृत्ति के अन्तर्गत किया जा चुका है। फ्रायड, मानव व्यवहार की मूल प्रेरणा काम या लिबिडो (Libido) को ही मानता है। विकास के विभिन्न स्तरों पर काम-प्रकाशन से व्यक्ति को संघर्ष, द्वन्द्व और विक्षिप्तावस्था (Conflicts and Fixations) का सामना करना पड़ता है। लिबिडो शक्तियों का यह भण्डार है।

सुखों की खोज करता रहता है, इड (Id) कहलाता है। एक सामान्य व्यक्ति का व्यक्तित्व 'इड' (Id), ईगो (Ego) और सुपर-ईगो (Super-Ego) के सामंजस्य से ही बनता है। जिसका वर्णन निम्नांकित सारणी में किया गया है।

व्यक्तित्व के अंग	सिद्धान्त	आत्म का स्वरूप
1. इड या पशु प्रवृत्ति	इन्द्रिय सुखों की अभिलाषाओं का पुंज है। यह शक्ति मुख्यतः लैङ्गिक है।	आत्म या सैल्फ का आदि रूप है।
2. ईगो या साधारण अन्तःकरण	वास्तविकता से निकटता का सिद्धान्त है। यह व्यक्ति की विवेचन करने की शक्ति है।	आत्म का चैतन्य जागरूक स्वरूप है।
3. सुपर-ईगो या उच्च अन्तकरण :	सामाजिकता, नैतिकता और आदर्शों का सिद्धान्त है। इसे व्यक्ति का विवेक भी कहते हैं।	आत्म-चेतना का सर्वोच्च स्तर है।

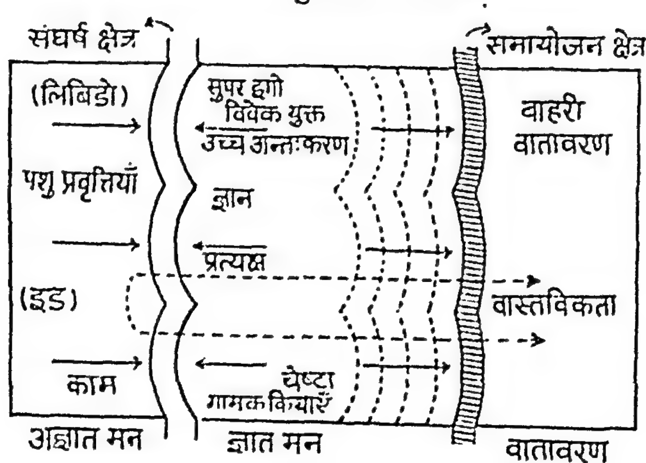
उदाहरण—एक बालक अपने साथी के पास सुन्दर कलम देखता है। उसके मन में विचार उठते हैं—

"मैं इसका कलम चुरा लूं अथवा इस का कलम छीन लूं" (इड की प्रेरणा है), "लेकिन मेरी चोरी पकड़ी जा सकती है,..........वह मुझसे अधिक बलवान है, वह मुझे पीट देगा" (यह ईगो द्वारा समायोजनात्मक विचार या प्रतिक्रिया है)।

"लेकिन मुझे ऐसे दूषित विचार मन में नहीं लाने चाहिए, यह पाप है" (यह सुपर ईगो—विवेकयुक्त अन्तःकरण की प्रेरणा का फल है)।

इस प्रकार जीवन में पग-पग पर संघर्षों का सामना करते हुए जीवन के आत्म (Self) का विकास होता है। यह आत्म ही उसके व्यक्तित्व का क्रियाशील संगठन है।

सामान्य (सन्तुलित) व्यक्तित्व



पूर्व पृष्ठांकित चित्र में अज्ञात मन (Unconscious), ज्ञात मन (Conscious) और वातावरण का सन्तुलन दर्शाया गया है। अज्ञात मन की प्रेरणाएं (लिबिडो प्रवृत्तियां, काम प्रेरणाएँ) ज्ञात मन में प्रवेश करती हैं। इससे ज्ञात मन का संघर्ष भी होता है। दूसरी ओर ज्ञात मन की चेष्टाओं का लक्ष्य वातावरण के साथ उचित समायोजन करना है। एक सन्तुलित व्यक्ति अज्ञात मन की उन प्रेरणाओं को ग्रहण करता है जो समाज और वातावरण के साथ समायोजन (अनुकूलन) में सहायक होती हैं, जिन्हें वह सामाजिक दृष्टि से मानवीय व्यवहार का रूप देता है।

जीवन नाटक प्रारम्भ होते ही पशु प्रवृत्ति (Id) और वातावरण की शक्तियों का संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। इस बाल्यकालीन संघर्ष में बालक जो कुछ भी सीखता है एवं प्रत्यक्षीकरण करता है, वह ही उसके आगामी विकास का आधार बन जाता है। इसीलिए व्यक्तित्व विकास की दृष्टि से बाल्यकालीन संस्कारों का विशेष महत्व है। उसकी जन्मजात् पशु-प्रवृत्तियां शीघ्र ही वातावरण से संघर्ष करने लगती हैं। इस संघर्ष के परिणामस्वरूप समायोजन होता है और इस समायोजन द्वारा जिस नवीन स्वरूप का उदय होता है उसे ईगो (Ego) कहा जाता है। व्यक्ति का ईगो या आत्म इस संघर्ष के प्रति सदैव चैतन्य रहता है। ईगो का कार्य वातावरण की वास्तविकताओं से उचित समायोजन करके व्यक्तित्व को इस संघर्ष में नष्ट होने से बचाना है। ईगो का पूर्ण व्यवस्थापित आदर्श, नैतिक स्वरूप, सुपर ईगो (Super Ego) कहलाता है। जीवन पथ पर वातावरण से संघर्ष और समायोजन करते हुए बालक के सुपर ईगो का निर्माण होता है। अभिभावकों एवं अध्यापकों द्वारा बालिकाओं की समायोजनात्मक कठिनाइयों पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। जीवन की बदली हुई परिस्थितियों में उचित समायोजन करने के लिए उन्हें प्रौढ़ों से यथोचित सहायता मिलनी चाहिए। घर में माता-पिता और पाठशाला में अध्यापकों को बालक और बालिकाओं के सामाजिक और संवेगात्मक व्यवहार का निरीक्षण करना चाहिए।

व्यक्तित्व और परिवेश
(Environment)

विकास, सीखना और परिपक्वता एक दूसरे से सम्बन्धित प्रतिक्रियाएँ हैं। बालक के व्यक्तित्व में जिन तत्वों का समावेश होता है वे बाह्य वातावरण से सीख कर प्राप्त किए जाते हैं। बालक के सामाजिक व्यवहार का स्तर सामुदायिक स्तर के समान होता है। मानवशास्त्रियों (Anthropologists) की खोजों से ज्ञात होता है कि जो तत्व या गुण (Traits) सामुदायिक जीवन में विद्यमान नहीं होते, वे उस समुदाय के सदस्यों में भी कभी उत्पन्न नहीं होते। उदाहरण के लिए कुछ आदिवासियों के जीवन में सन्देह, ईर्ष्या और घृणा नहीं पाई जाती। परिणामस्वरूप उनके बालक-बालिकाओं में यह गुण बहुत ही कम दिखाई देते हैं।

जीवन नाटक प्रारम्भ होते ही बालक पारिवारिक उत्तरदायित्वों को समझने और निभाने लगता है। क्रमश: पुत्र, पुत्री, बड़ा भाई, छोटा भाई, बड़ी बहन एवं छोटी बहन आदि का अभिनय करना सीख लिया जाता है। किन्तु समुदाय, जाति, राष्ट्र या मानवता क्रमशः बड़े परिवारों के नाम हैं। इनमें प्रवेश करते ही बालक-बालिकाएं जीवन के बृहत् उत्तरदायित्वों के प्रति चैतन्य हो जाते हैं। वे समाज

उनका देश, जाति, समुदाय या वर्ग उनसे क्या आशा रखता है। उसे क्या बनना है—किसान, मिस्त्री, कलाकार, अध्यापक, डॉक्टर, नेता, व्यापारी अथवा वकील। प्रत्येक बालक भविष्य जीवन के उत्तरदायित्वों का चुनाव सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक वातावरण के अनुसार करता है। उसके सीखने और प्रत्यक्ष करने की क्रियाएँ सांस्कृतिक वातावरण से अधिक प्रभावित होती हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि बालक के व्यक्तित्व की विशेषताएँ (Individual Characterstics) उसकी आन्तरिक उत्तेजनाओं और वातावरण का ही सम्मिलित परिणाम हैं।

मानव व्यवहार पर वातावरण की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। कुर्ट लेविन (Kurt Lewin) ने मानव व्यवहार की व्याख्या करने के लिए क्षेत्रीय वातावरण को ही प्रभावोत्पादक प्रेरणा माना है। उसके अनुसार मानव व्यवहार या प्रेरणाओं को उसके व्यावहारिक क्षेत्र में ही समझा जा सकता है। व्यक्ति और परिस्थिति के परस्पर संघर्ष (Conflicts) का परिणाम ही व्यक्तित्व है। लेविन और फ्रायड दोनों संघर्षों को व्यक्तित्व विकास का एक आवश्यक साधन मानते हैं। जो व्यक्ति संघर्षों के बीच उचित समायोजन करने में सफल होता है उसके व्यक्तित्व का सन्तुलित-विकास (Balanced-Development) होता है, जोकि निम्नांकित उदाहरणों द्वारा स्पष्ट है—

क्षेत्रीय सिद्धान्त (Field Theory)

एक बालक जिसमें कुछ आकर्षक गुण (Traits) हैं, पाठशाला में प्रवेश करता है। दुर्भाग्यवश उसके साथी उन गुणों का आदर नहीं करते। उनकी प्रतिक्रियाएं निरादरपूर्वक हैं। ऐसी परिस्थितियों में ही उस बालक में हीनता (Inferiority) और भय के भाव का उदय होता है। भय से तनाव (Tension) उत्पन्न होता है। इस तनाव को दूर करने के लिए अर्थात असहनीय परिस्थितियों से मुक्त होने के लिए वह बालक समायोजन द्वारा नवीन प्रतिक्रियाएँ करने के लिए प्रेरित या बाध्य हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में नवीन प्रतिक्रिया करने का ढंग यान्त्रिकता (Mechanism) सभी बालकों में समान नहीं होता। जैसे—

1. वह विरोधात्मक (Opposing) अथवा आक्रमणकारी (Aggressive) प्रतिक्रिया अपना सकता है।
2. वह रक्षात्मक (Defensive) अभिवृत्तियां (Attitudes) अपना सकता है।
3. वह अपने साथियों से पृथक होकर एकान्तप्रिय (Escaping) बन सकता है। उसके व्यवहार में शर्मीलापन, अस्वीकारात्मक (Negativism) और प्रतिगमन (Regression) के लक्षण दिखाई देंगे।
4. वह वास्तविकता (निरादरपूर्ण व्यवहार) से दूर दिवास्वप्नों (Day-dreams) में तल्लीन होकर ही वांछित मान्यता (Recognition), सुख और सन्तोष प्राप्त कर सकता है।
5. वह घोर परिश्रम करके क्षतिपूर्ति (Compensation) कर सकता है। परीक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त करके विरोधियों को नीचा दिखा सकता है।
6. वह अपने विचारों में इस अपमानजनक परिस्थिति का कारण ढूंढ़ने का

प्रयत्न कर सकता है। वह अपने विचारों से अपनी मुग्धता, आत्मसम्मान और मर्यादा बनाए रखने का प्रयत्न कर सकता है। (Rationalization)

7. "उसके साथी बुद्धिहीन हैं, चरित्रहीन हैं, ईर्ष्यालु हैं"—आदि, आदि। मन ही मन अपने साथियों पर इस प्रकार के आरोप लगा कर वह किसी प्रकार इस परिस्थिति को सह लेता है। वह विचारों द्वारा अपनी कमजोरियों से ध्यान हटा कर अपने मानसिक तनाव को दूर करने में समर्थ हो सकता है। इसे प्रक्षेप (Projection) कहते हैं।

प्रतिक्रिया करने के उपरोक्त ढंग मनोविज्ञान में मान्त्रिक व्यवहार (Mechanisms) कहलाते हैं।

व्यक्तित्व परिपक्वता
(Maturity of Personality)

पील (Peel, E. A.) के अनुसार एक सुविकसित परिपक्व व्यक्तित्व में निम्नलिखित चार बातें होनी चाहिये—

(क) आत्म का वस्तुगत निरीक्षण (Self Objectification)—वह अपने आत्म का वस्तुगत् निरीक्षण कर सकता है एवं वह अपनी शक्तियों और दुर्बलताओं को भी समझ सकता है। वह स्वयं अपने साथ विनोद भी कर सकता है।

(ख) आत्म विस्तार (Self Extension)—ऐसा व्यक्ति जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी रुचियों और क्रियाओं का विस्तार करता है। उसका ईगो जीवन की विस्तृत वास्तविकताओं के सम्पर्क में रहता है। उसका जीवन किसी एक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं होता इसलिए यदि किसी कार्य में असफलता भी मिलती है तो उसे विक्षिप्त नहीं होना पड़ता, क्योंकि उसकी सरसता और क्रियाशीलता के अनेक क्षेत्र खुले हुए हैं।

(ग) आत्मानुभूति (Self Feeling)—परिपक्व व्यक्तित्व अपने आत्म में पूर्ण विश्वास रखता है। वह विरोध और उपहास में भी सशक्त और स्थिर रहता है। वह सरलता से अपने आत्म को खंडित नहीं होने देता। वह समाज में मर्यादा, स्थान और कार्य को भली भाँति समझता है और अपना आत्म गौरव भी बनाये रखता है।

(घ) आत्म अविरलता (Self-Consistency)—परिपक्व व्यक्ति के कार्य सुसंगठित होते हैं। उसके सभी कार्यों में उसकी जीवन शैली की छाप होती है। धार्मिक आस्थाएं व्यवहार को अविरलता प्रदान करती हैं। उसका व्यक्तित्व सभी कार्यों में प्रकाशित होता है।

व्यक्तित्व के प्रकार
(Types of Personality)

व्यक्तिगत विशेषताओं के आधार पर व्यक्तित्व को प्रकार या वर्गों में रखने का प्रयत्न भी किया गया है। उदाहरण के लिये—

गीता और नीता दो सहेलियाँ हैं। गीता बहुत सामाजिक है; समाज में मिलना-जुलना पसन्द करती है; शीघ्र ही मित्रता स्थापित करती है; अधिकांश समय आमोद-प्रमोद में व्यतीत करती है; स्वभाव से ही विनोदप्रिय है। नीता एक

लड़की है, प्राय: गम्भीर रहती है; एकान्तप्रिय है; हँसना-हँसाना भी उसके लिए रुचि-कारक नहीं है। अधिक बातचीत करना भी उसे पसन्द नहीं है। अधिकांश व्यक्ति इन दो में से किसी एक के समान होते हैं। व्यक्तिवादी मनोवैज्ञानिक युंग (Jung 1927) ने इसी आधार पर अधिकांश व्यक्तियों को अन्तर्मुखी (Introvert) और बहुर्मुखी (Extravert) इन दो वर्गों में रखने का प्रयत्न किया। उपरोक्त वर्णन में गीता और नीता को क्रमश: बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी वर्गों में रखा जा सकता है। संक्षेप में इनके तुलनात्मक लक्षण इस प्रकार हैं :

बहिर्मुखी Extravert	अन्तर्मुखी Introvert
1. अधिक सामाजिक, मिलनसार	1. समाज से दूर, एकान्तप्रिय।
2. दूसरों में अधिक रुचि	2. दूसरों में कोई रुचि न दिखाना।
3. स्वतन्त्रता से आत्म वर्णन	3. आत्म वर्णन करने में संकोच।
4. विस्तृत रुचियाँ	4. व्यक्तिगत रुचियाँ।
5. अधिक मित्रता	5. सीमित मित्रता।
6. वातावरण के अनुकूल व्यवहार करना	6. लचीलापन नहीं होता।
7. विनोदप्रिय, हँसना-हँसाना	7. शान्त और गम्भीर।
8. अधिक बातूनी	8. कम बोलने वाला।
9. चिन्तामुक्त होते हैं,	9. चिन्ताग्रस्त रहते हैं,
10. आदि आदि।	10. आदि, आदि।

मनोविज्ञान में व्यक्तित्व के उपरोक्त दोनों वर्ग अधिक प्रचलित हो गए हैं। इन दोनों को पृथक करने वाली कोई निश्चित रेखा भी नहीं खींची जा सकती। प्राय: ऐसे व्यक्ति नहीं मिलते हैं, जो कि पूर्णत: अन्तर्मुखी अथवा बहिर्मुखी हों, अधिकांश व्यक्तियों में दोनों प्रकार के लक्षण देखे जा सकते हैं। इन्हें उभयमुखी (Ambivert) कह सकते हैं।

शैक्षिक दृष्टि से घोर बहिर्मुखी अथवा घोर अन्तर्मुखी होना अच्छा नहीं है। ऐसे व्यक्ति का मानसिक स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। शिक्षा द्वारा बालक के स्वभाव में साधारण परिवर्तन किए जा सकते हैं। अध्यापक को चाहिये कि वह निरीक्षण द्वारा यह ज्ञात करता रहे कि उसके किसी शिष्य में केवल एकपक्षीय व्यवहार की वृद्धि तो नहीं हो रही है।

संवेग के आधार पर व्यक्तित्व का वर्गीकरण प्राय: प्राचीन काल से चला आ रहा है। ग्रीक दार्शनिक हिपोक्रेट्स ने ईसा से 400 वर्ष पूर्व व्यक्तित्व की चार वर्गों में व्याख्या की थी—

1. फ्लेगमेटिक प्रकार (Phlegmatic Type)—जिनके संवेग शान्त हैं, अधिक धैर्यवान हैं।

2. मैलन्कॉलिक प्रकार (Melancholic Type)—जो सुस्त, निराश या दु:खी हैं।

3. कौलेरिक प्रकार (Choleric Type)—जो शीघ्र उत्तेजित अथवा अधीर हो जाते हैं।

4. सैंग्विन प्रकार (Sanguine Type)—जो कर्मठ, असहिष्णु तथा शीघ्रगामी हैं।

विचार और कार्यों के अनुसार विलियम जेम्स ने 1911 में व्यक्तित्व को दो वर्गों में विभाजित करके ही उसका वर्णन किया है :

1. विचार या आदर्श प्रधान (Rationalist)
2. प्रयोगवादी या क्रियाशील (Empiricist)

कुछ विद्वानों ने शारीरिक संरचना, लम्बाई, चौड़ाई आदि को आधार मान कर व्यक्तियों का वर्गीकरण किया है। इसमें क्रिश्चमर और शैल्डन के अध्ययन अधिक प्रचलित हैं। क्रिश्चमर का अध्ययन (1921) मानसिक रोगियों की दैहिक बनावट पर आधारित है। उसने मानसिक गुणों को शारीरिक बनावट से सम्बन्धित किया है—

1. ऐथलेटिक प्रकार या खिलाड़ी (*The Athletic Type*)—गोरिल्ला के समान सशक्त अस्थिपिंजर, चौड़ा सीना और बलवान मांसपेशियाँ।

2. ऐस्थेनिक प्रकार या शक्तिहीन (The Asthenic Type)—लम्बा किन्तु पतला-वनमानुष के समान।

3. पिकनिक प्रकार या (The Pyknic Type)—छोटा किन्तु चौड़े शरीर वाला, ओरेन्गुटन के समान।

4. डिस्प्लेस्टिक प्रकार या मध्यम वर्ग का (The Dysplastic Type)—

इसी प्रकार सामान्य गुणों, विचारों, रुचियों या क्रियात्मक चेष्टाओं के आधार पर हम व्यक्तियों को निम्नलिखित वर्ग में भी रख सकते हैं—

1. राजनैतिक प्रकार (Political Type)
2. सैद्धान्तिक प्रकार (Theoretical Type)
3. आर्थिक प्रकार (Economic Type)
4. सामाजिक प्रकार (Social Type)
5. धार्मिक प्रकार (Religious Type)
6. कलात्मक प्रकार (Aesthetic Type) आदि आदि।

व्यक्तित्व के वर्गीकरण में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। वर्गीकरण से सम्बन्धित मुख्य समस्याएँ इस प्रकार हैं—

1. व्यक्तित्व की विलक्षणताओं का वितरण सामान्य सम्भावित वक्र (Normal Probability Curve) के अनुसार होता है। इसलिये कहीं भी दो प्रकारों की निश्चित सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती।

2. व्यक्ति का व्यक्तित्व परिवर्तनशील है, अतः जो विलक्षणताएँ आज दृष्टिगोचर होती हैं, कल लुप्त हो सकती हैं। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं। जैसे—अशोक और बाबर।

3. व्यक्तित्व के जो भी वर्ग अथवा प्रकार (Types) बनाए जाते हैं, वे किसी गुण के द्योतक नहीं होते; वरन् एक ही प्रकार अथवा वर्ग के अन्दर अनेक

गुण (Traits) सम्मिलित होते हैं। ऐसी दशा में एक व्यक्ति को किसी वर्ग विशेष में रखने में कठिनाई होती है।

व्यक्तित्व के गुण (Personality Traits)—गुणों के आधार पर व्यक्तित्व का अध्ययन करना अधिक सरल और युक्तिसंगत जान पड़ता है। व्यक्तित्व सम्बन्धी गुणों का नामकरण किसी भी भाषा में उपलब्ध विशेषणों से किया जाता है। अनेक गुणों को युग्मों (Pairs) में व्यक्त किया जा सकता है। ये गुणों के युग्म (Traits Pairs) विरोधी गुणों को व्यक्त करते हैं जैसे उद्दण्ड—विनम्र; चंचल—गम्भीर; हँसमुख—उदास; लचीला—कठोर; संवेगात्मक स्थिरता—संवेगात्मक अस्थिरता।

अध्यापकों को प्राय: शिष्यों के व्यक्तित्व का परीक्षण करने का अवसर मिलता है। इसीलिये उन्हें गुणों की शब्दावली (Traits Normes) से भी परिचित होना आवश्यक है। उसे प्रत्येक गुण के सही बोध से भी परिचित होना चाहिये। उनमें से अनेक गुण बाहरी व्यवहार में प्रकाशित हो जाते हैं, इन्हें प्रत्यक्ष गुण (Surface Traits) कहते हैं, किन्तु व्यक्ति के कुछ गुण व्यक्तित्व की गहराई में संगठित रहते हैं। जिनको प्रत्यक्ष व्यवहार में नहीं देखा जा सकता। जो गुण अप्रत्यक्ष रूप से प्रत्यक्ष व्यवहार में प्रकाशित होते हैं। उन्हें अप्रत्यक्ष गुण (Source Traits) कहते हैं। प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष गुणों की खोज एवं व्याख्या कैटिल ने की थी। कैटिल के अनुसार अप्रत्यक्ष गुण अधिक स्थायी होते हैं। प्रत्यक्ष गुणों पर अप्रत्यक्ष गुणों तथा अन्य बातों का प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिये, अरक्षित होने की भावना (Feeling of Insecurity) एक अप्रत्यक्ष गुण है। यह गुण व्यवहार द्वारा अनेक प्रत्यक्ष गुणों में व्यक्त होता है। जैसे बेचैनी, संकोच, संवेगात्मक व्यवहार। कुछ मनोवैज्ञानिक इन्हें क्रमश: प्राथमिक तथा द्वितीय गुणों की संज्ञा भी देते हैं। कैटिल ने इन गुणों का सविस्तार अध्ययन किया है। उसके निष्कर्षों के अनुसार द्वितीय या प्रत्यक्ष गुणों के पुंजों (Groups or Clusters) की संख्या 20 हो सकती है। प्राथमिक अथवा अप्रत्यक्ष गुणों के पुंजों की संख्या 12 हो सकती है। प्रश्न प्रणाली (Questionnaire Method) से व्यक्तियों के गुणों का परीक्षण सरलतापूर्वक किया जा सकता है। गुणों की व्याख्या से व्यक्तित्व का वास्तविक चित्र भी अंकित किया जा सकता है। किन्तु यह विधि अध्ययन की एक विश्लेषणात्मक विधि है।

गुणों की संख्या—ऑलपोर्ट और कैटिल (Allport and Cattell) ने सबसे पहले गुणों की संख्या निर्धारित करने के लिये लम्बे समय तक खोज कार्य किये। अलपोर्ट ने अंग्रेजी के शब्दकोषों से 17956 शब्द ढूढ़ निकाले जो किसी न किसी प्रकार से व्यक्तित्व की व्याख्या करते थे। बाद में इनमें से समानार्थक शब्दों को हटा कर इनकी संख्या 4500 कर दी गई। इन शब्दों के आधार पर गुणों के 171 पुंज (Traits Pools) बनाये गये। लेकिन ये पुंज भी एक दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश (Overlapping) करते थे। अत: इनकी संख्या घटाकर 35 और अन्त में 12 कर दी गई। ये 12 विभाग व्यक्तित्व के सम्पूर्ण क्षेत्रों की व्याख्या करते हैं और व्यक्तित्व को प्रकारों या वर्गों में भी विभाजित करते हैं। इनका संक्षिप्त परिचय अग्रपृष्ठ पर अंकित है—

1. चक्र विक्षिप्त (Cyclothymia)—खुले दिल वाला, भावुक और विचारों की स्पष्ट अभिव्यक्ति करने वाला।
2. सामान्य मानसिक शक्ति (General Mental Capacity)—
3. प्रभावशाली (Dominance)—आत्म विश्वासी, घमण्डी।
4. प्रसन्नमुखता (Surgency)
5. धनात्मक चरित्र (Positive Character)
6. संवेगात्मक परिपक्वता (Emotionally Stable)
7. साहसी चक्र विक्षिप्त (Adventurous Cyclothymia)
8. परिपक्व (Mature)
9. सामाजिक-सांस्कृतिक (Socialized and Cultured)
10. विश्वासी (Trustful) अथवा विश्वासपात्र।
11. अपारम्परिक (Unconventional) परम्परागत मान्यताओं को न मानने वाला।
12. विनीत (Sophisticated)—तर्कपूर्ण किन्तु शान्त।

इसी प्रकार गैरट (Garratt) ने अपनी खोजों के आधार पर 12 प्रधान गुण बताये हैं। ये गुण एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं और इनके विपरीत गुण भी विद्यमान हैं। वुडवर्थ ने भी इस प्रकार के प्रधान गुणों के समूह को स्वीकार किया है। इसमें से 12 गुण निम्न प्रकार के होते हैं :

प्रधान गुण	विपरीत गुण
1. प्रसन्नचित्त, मिलनसार	उदास, झेंपने वाला।
2. बुद्धिमान्, विश्वसनीय	मूर्ख, अविश्वसनीय।
3. संवेगात्मक दृष्टि से स्थिर, यथार्थवादी	अस्थिर, पलायनवादी।
4. अधिकारप्रिय गौरवशाली	आज्ञाकारी, गौरवरहित।
5. शान्त, सामाजिक	उद्विग्न, एकान्तप्रिय।
6. भावुक, कोमल हृदय	भावनाशून्य, कठोर हृदय।
7. शिष्ट, सौन्दर्य प्रेमी	अशिष्ट, भद्दा।
8. उत्तरदायी, परिश्रमी।	उत्तरदायित्व रहित, दूसरों पर निर्भर।
9. साहसी, बेफिक्र	उत्साहहीन, सतर्क।
10. तेज, शीघ्र कार्य करने वाला	सुस्त, ढीला-ढाला।
11. अति उत्तेजित, चिड़चिड़ा	शीघ्र उत्तेजित न होने वाला, सहनशील।
12. मित्रवत्, विश्वासपात्र	शत्रुवत्, सन्देहशील।

उपरोक्त प्रकार के गुणों का वर्गीकरण शैक्षिक खोज कार्यों की दृष्टि से अधिक उपयोगी है।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. व्यक्तित्व क्या है ? चरित्र और व्यक्तित्व में क्या अन्तर है ?
2. व्यक्तित्व की मनोवैज्ञानिक विलक्षणताएँ क्या हैं ? व्यक्तित्व संकलन का वर्णन कीजिये।
3. व्यक्तित्व विकास के सिद्धान्तों तथा कारकों का वर्णन कीजिये।
4. व्यक्तित्व के वर्गीकरण में क्या कठिनाइयाँ हैं, व्यक्तित्व वर्गीकरण में गुणों का क्या स्थान है ?
5. व्यक्तित्व परिपक्वता से आप क्या समझते हैं ? परिपक्वता के क्या लक्षण हैं ?

41

व्यक्तित्व मापन या परीक्षण
(PERSONALITY TESTS AND MEASUREMENTS)

व्यक्तित्व माप या परीक्षण का उद्देश्य यह निश्चित करना है कि व्यक्ति को किस वर्ग अथवा प्रकार (Type) में रखा जा सकता है और उसके व्यक्तित्व में कौनसे गुण कितनी मात्रा में विद्यमान हैं। जैसा कि पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि गुणों के अनुसार ही व्यक्तित्व का अध्ययन अथवा परीक्षण करना एक विश्लेषणात्मक ढंग है। यदि विश्लेषण अधिक सूक्ष्म होगा तो गुणों की संख्या भी अधिक हो जाएगी। गुणों के सम्बन्ध में कैटिल द्वारा निर्मित सूची का वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। यहाँ हम ऑल्पोर्ट द्वारा खोज किए गये व्यक्तित्व के चारित्रिक गुणों का वर्णन करेंगे। इन गुणों के द्वारा हम व्यक्ति के व्यक्तित्व का उचित माप कर सकते हैं। व्यक्तित्व के अन्तर्गत उसने पाँच प्रमुख गुण माने हैं—[1]

व्यक्तित्व मापन क्या है ?

(1) बुद्धिमत्ता (Intelligence)
(2) गतिशीलता (Mobility)
(3) स्वभाव (Temperament)
(4) आत्मप्रकाशन (Self-expression)
(5) सामाजिकता (Sociability)

उसने व्यक्तित्व का पूर्णरूप से परीक्षण करने के लिए इन पाँच गुणों को उपगुणों में विभाजित किया, जिनकी संख्या कुल मिलाकर 24 है। उपर्युक्त प्रमुख गुणों को निम्नलिखित उपगुणों में विभाजित किया गया है —

(1) बुद्धिमत्ता—

(क) कठिनाइयाँ अथवा समस्याएँ हल करने की योग्यता।
(ख) स्मरण करने की योग्यता।
(ग) सम्बन्ध बोध करने की योग्यता।
(घ) कल्पना का रचनात्मक प्रकाशन।
(ङ) विचार और निर्णय करने की योग्यता।
(च) परिवर्तित परिस्थितियों में समायोजन करना।

1 Allport, F. H. : *Social Psychology*, *1924 Chapter II* Personality : A Psychological Interpretation.

(2) गतिशीलता—
- (क) कार्यक्षमता
- (ख) कार्य करने का ढंग।
- (ग) कठिन परिश्रम की क्षमता।
- (घ) सामान्य गतिशीलता।

(3) स्वभाव
- (क) संवेगात्मक दृढ़ता
- (ख) संवेगात्मक उदारता या संकीर्णता।
- (ग) संवेग नियन्त्रित करने की क्षमता।
- (घ) मनोवृत्तियाँ।
- (ङ) अन्य व्यक्तियों के साथ व्यवहार।

(4) आत्मप्रकाशन—
- (क) कार्य प्रारम्भ करने की शक्ति या योग्यता।
- (ख) अन्तर्दृष्टि।
- (ग) क्षतिपूर्ति।
- (घ) वहिर्मुखी या अन्तर्मुखी।
- (ङ) उग्र अथवा विनम्र।

(5) सामाजिकता—
- (क) समायोजन।
- (ख) सामाजिक कार्यों में भाग लेना।
- (ग) स्वार्थी या निःस्वार्थी।
- (घ) चरित्र।

ऑलपोर्ट ने व्यक्तित्व के परीक्षण करने का एक नवीन वैज्ञानिक मार्ग दर्शाया है। परन्तु उसके द्वारा निर्मित की गई गुणों की सूची को सम्पूर्ण नहीं माना जा सकता। दूसरे ऑलपोर्ट ने इन गुणों की मात्रा की सही माप करने का भी कोई उपाय प्रस्तुत नहीं किया है। हमारी समस्या का हल किसी व्यक्ति में गुणों की संख्या को निश्चित करने से नहीं हो सकता क्योंकि प्रायः सभी व्यक्तियों में सभी गुण, थोड़ी अथवा अधिक मात्रा में देखे जा सकते हैं। व्यक्तित्व का सही मूल्यांकन तो तभी हो सकता है जबकि हमें व्यक्ति में उसके गुण विशेष की मात्रा को निश्चित करने में सफलता प्राप्त हो सके।

व्यक्तित्व मापन की विधियों का वर्गीकरण

आधुनिक समय में व्यक्तित्व मापन की अनेक विधियाँ प्रचलित हैं। इनका वर्गीकरण भी कई प्रकार से किया जाता है। यहाँ इन्हें दो प्रकार के वर्गीकरण में प्रस्तुत किया जा रहा है :—

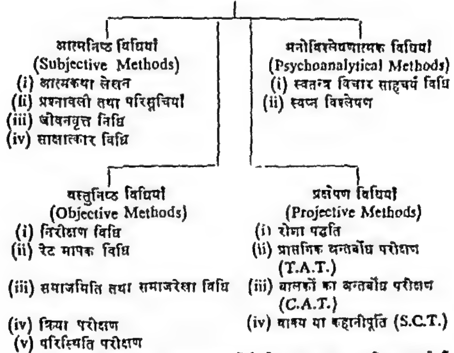
1. व्यवहार की दृष्टि से वर्गीकरण

(क) मौखिक प्रतिवेदन विधियाँ (Oral or Verbal Reports)—जैसे, साक्षात्कार, प्रश्नावली एवं क्रम निर्धारण आदि विधियाँ। इन विधियों को प्रयुक्त करते समय परीक्षणकर्ता और प्रयोज्य के बीच मौखिक आदान-प्रदान भी होता है।

(ख) व्यवहार परीक्षण (Behaviour Tests)—व्यक्तित्व की क्रियात्मक परीक्षाएँ, परिस्थिति-परीक्षण विधि, चरित्र परीक्षाएं आदि व्यावहारिक विधियाँ हैं।

(ग) प्रक्षेपण विधियाँ (Projective Tests)—इन विधियों का आधार अस्पष्ट उत्तेजना के प्रति प्रयोज्य की प्रतिक्रियाएँ प्राप्त करना है। ये विधियाँ व्यक्तित्व का समग्र रूप से परीक्षण करती हैं और व्यक्तित्व में गहराई तक प्रवेश करके उसकी निजी आन्तरिक दुनियाँ का पता चलाती हैं।

2. परीक्षण प्रक्रिया पर आधारित वर्गीकरण



उपरोक्त वर्गीकरण में प्रक्षेप विधियों के केवल चार प्रकार दिखाए गये हैं। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान में प्रक्षेपण विधि पर आधारित व्यक्तित्व परीक्षाओं की भरमार है। प्रक्षेपण के ढंग या परिस्थिति के अनुसार इन परीक्षाओं को पाँच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रत्येक वर्ग के उदाहरण नीचे की तालिका में प्रस्तुत किये गये हैं :

प्रक्षेपण विधियों का वर्गीकरण

प्रक्षेपण विधियों के प्रकार	उदाहरणार्थ परीक्षाओं के नाम
(1) साहचर्य तकनीक पर आधारित प्रक्षेप परीक्षाएं (Associative Techniques)	(i) शब्द साहचर्य परीक्षाएँ (ii) रोशा, स्याही के धब्बों पर आधारित परीक्षा

(2) गतिशीलता—
(क) कार्यक्षमता
(ख) कार्य करने का ढंग।
(ग) कठिन परिश्रम की क्षमता।
(घ) सामान्य गतिशीलता।
(3) स्वभाव
(क) संवेगात्मक दृढ़ता
(ख) संवेगात्मक उदारता या संकीर्णता।
(ग) संवेग नियन्त्रित करने की क्षमता।
(घ) मनोवृत्तियाँ।
(ङ) अन्य व्यक्तियों के साथ व्यवहार।
(4) आत्मप्रकाशन—
(क) कार्य प्रारम्भ करने की शक्ति या योग्यता।
(ख) अन्तर्दृष्टि।
(ग) क्षतिपूर्ति।
(घ) वहिर्मुखी या अन्तर्मुखी।
(ङ) उग्र अथवा विनम्र।
(5) सामाजिकता—
(क) समायोजन।
(ख) सामाजिक कार्यों में भाग लेना।
(ग) स्वार्थी या निःस्वार्थी।
(घ) चरित्र।

ऑलपोर्ट ने व्यक्तित्व के परीक्षण करने का एक नवीन वैज्ञानिक मार्ग दर्शाया है। परन्तु उसके द्वारा निर्मित की गई गुणों की सूची को सम्पूर्ण नहीं माना जा सकता। दूसरे ऑलपोर्ट ने इन गुणों की मात्रा की सही माप करने का भी कोई उपाय प्रस्तुत नहीं किया है। हमारी समस्या का हल किसी व्यक्ति में गुणों की संख्या को निश्चित करने से नहीं हो सकता क्योंकि प्रायः सभी व्यक्तियों में सभी गुण, थोड़ी अथवा अधिक मात्रा में देखे जा सकते हैं। व्यक्तित्व का सही मूल्यांकन तो तभी हो सकता है जबकि हमें व्यक्ति में उसके गुण विशेष की मात्रा को निश्चित करने में सफलता प्राप्त हो सके।

व्यक्तित्व मापन की विधियों का वर्गीकरण

आधुनिक समय में व्यक्तित्व मापन की अनेक विधियाँ प्रचलित हैं। इनका वर्गीकरण भी कई प्रकार से किया जाता है। यहाँ इन्हें दो प्रकार के वर्गीकरण में प्रस्तुत किया जा रहा है:—

1. व्यवहार की दृष्टि से वर्गीकरण

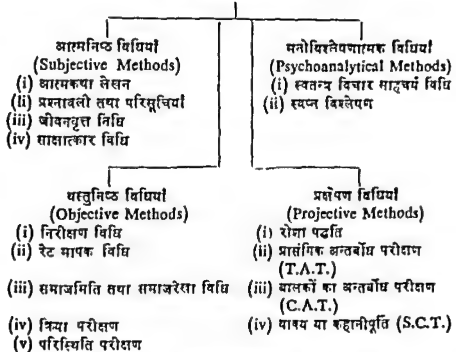
(क) मौखिक प्रतिवेदन विधियाँ (Oral or Verbal Reports)—जैसे, साक्षात्कार, प्रश्नावली एवं क्रम निर्धारण आदि विधियाँ। इन विधियों को प्रयुक्त करते समय परीक्षणकर्ता और प्रयोज्य के बीच मौखिक आदान-प्रदान भी होता है।

(ख) व्यवहार परीक्षण (Behaviour Tests)—व्यक्तित्व की क्रियात्मक परीक्षाएँ, परिस्थिति-परीक्षण विधि, चरित्र परीक्षाएं आदि व्यावहारिक विधियाँ हैं।

(ग) प्रक्षेपण विधियाँ (Projective Tests)—इन विधियों का आधार अस्पष्ट उत्तेजना के प्रति प्रयोज्य की प्रतिक्रियाएं प्राप्त करना है। ये विधियाँ व्यक्तित्व का समग्र रूप से परीक्षण करती हैं और व्यक्तित्व में गहराई तक प्रवेश करके उसकी निजी आन्तरिक दुनियाँ का पता चलाती हैं।

2. परीक्षण प्रक्रिया पर आधारित वर्गीकरण

व्यक्तित्वमापन की विधियाँ



उपरोक्त वर्गीकरण में प्रक्षेप विधियों के केवल चार प्रकार दिखाए गये हैं। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान में प्रक्षेपण विधि पर आधारित व्यक्तित्व परीक्षाओं की भरमार है। प्रक्षेपण के ढंग या परिस्थिति के अनुसार इन परीक्षाओं को पाँच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रत्येक वर्ग के उदाहरण नीचे की तालिका में प्रस्तुत किये गये हैं :

प्रक्षेपण विधियों का वर्गीकरण

प्रक्षेपण विधियों के प्रकार	उदाहरणार्थ परीक्षाओं के नाम
(1) साहचर्य तकनीक पर आधारित प्रक्षेप परीक्षाएं (Associative Techniques)	(i) शब्द साहचर्य परीक्षाएँ (ii) रोशा, स्याही के धब्बों पर आधारित परीक्षा

(2) रचनात्मक प्रक्रिया पर आधारित प्रक्षेप परीक्षायें (Construction Procedures)	(i) प्रासंगिक अन्तर्बोध परीक्षण (T. A. T.) (ii) बालकों का अन्तर्बोध परीक्षण (C. A. T.) (iii) चित्र कथानक परीक्षा
(3) कार्य पूरा करने की युक्ति पर आधारित प्रक्षेप परीक्षाएँ (Completion Tests)	(i) वाक्य पूर्ति परीक्षाएँ (Sentence Completion) (ii) कथानक या कहानीपूर्ति परीक्षाएँ (Story Completion) (iii) तर्क पूर्ति परीक्षाएँ (Arguement Completion) (iv) चित्र विक्षेपण अध्ययन (Picture Frustration Studies)
(4) विकल्प या क्रमवद्ध करने की युक्ति पर आधारित प्रक्षेप परीक्षाएँ (Choice or Ordering Devices)	(i) चित्र क्रम निर्धारण परीक्षाएँ (Picture Arrangement Tests)
(5) अभिव्यक्ति की युक्ति पर आधारित प्रक्षेप परीक्षाएँ (Expressive Devices)	(i) खेल परीक्षाएँ (Play Techniques) (ii) मनोअभिनय विधि (Psychodrama Method) (iii) चित्र निर्माण परीक्षाएँ (Drawing e. g. Draw a man Test)

द्वितीय वर्गीकरण के अनुसार व्यक्तित्व मापन विधियों का विवेचन

1. आत्म निष्ठ विधियां

आत्म-कथा लेखन विधि (Autobiographic Method)

इस विधि में जिस व्यक्ति के व्यक्तित्व का मापन करना होता है, उससे अपने जीवन की कथा अथवा जीवन की प्रमुख घटनाओं के बारे में लिखने को कहा जाता है, उदाहरणार्थ—उसके जीवन का सबसे अच्छा दिन या सबसे बुरा दिन अथवा स्मरणीय दिन कौनसा रहा ? जो कुछ भी वह व्यक्ति लिखता है, उसके आधार पर उसके व्यक्तित्व के विषय में जानकारी प्राप्त करते हैं। इस विधि में यह कठिनाई आती है कि कभी-कभी व्यक्ति कुछ घटनाओं को छिपा भी लेता है।

प्रश्नावली विधि (Questionnaire Method) तथा परिसूचियां (Inventories)

यद्यपि इस विधि का प्रयोग शिक्षा, मनोविज्ञान, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र और उद्योग व्यापार में बड़े पैमाने पर किया जाता है, परन्तु वे प्रश्नावलियां; जोकि व्यक्तित्व का मूल्यांकन करने के लिए निर्मित की जाती हैं, अपनी अलग ही विशेषता रखती हैं। इस विधि का सर्वप्रथम प्रयोग प्रो० वुडवर्थ ने किया था। उसने द्वितीय महायुद्ध के समय में सैनिकों के मानसिक रोगों का परीक्षण करने के लिए

116 प्रश्नों की एक प्रश्नावली निर्मित की थी जो पर्याप्त उपयोगी सिद्ध हुई और इसी के परिणामस्वरूप बहुत-सी अन्य नई-नई प्रश्नसूचियाँ भी निर्मित की गईं। वुडवर्थ की यह परिसूची (Inventory) उन सैनिकों पर भी प्रयुक्त की गई, जिन्हें युद्ध के मैदान में भेजा जाना था। युद्ध में पहुँचने से पूर्व ही इस प्रश्नावली के द्वारा उनके मानसिक स्वास्थ्य, मानसिक दुर्बलताओं और मानसिक विकारों का ज्ञान कर लिया जाता था। उदाहरणस्वरूप कुछ नमूने (Items) यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं :

संख्या	प्रश्न	उत्तर
29	क्या आपकी स्मृति कुछ समय के लिए कभी लुप्त हुई है ?	हाँ—नहीं
38	क्या आपके परिवार ने आपके साथ सदैव समुचित बर्ताव किया है ?	हाँ—नहीं
83	क्या आपके मन में किसी वस्तु में आग लगाने की तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है ?	हाँ—नहीं
108	क्या आपको कभी पागल होने का भय हुआ है ?	हाँ—नहीं

इस प्रकार के प्रश्नों के आधार पर वुडवर्थ उन लोगों को पृथक करने में सफल हुआ जोकि मानसिक दृष्टि से इतने निर्बल थे कि युद्ध की विभीषिकाओं को सहन नहीं कर सकते थे अथवा उनमें संवेगात्मक अस्थिरता थी। युद्ध के पश्चात् सेना के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी इस प्रश्नसूची का प्रयोग किया गया और विश्वसनीय परिणाम प्राप्त हुए। प्रारम्भ में इस विधि का प्रयोग यह ज्ञात करने के लिए किया गया कि व्यक्ति अन्तर्मुखी है अथवा बहिर्मुखी। जिनमें से कुछ प्रश्न (Items) इस प्रकार हैं[1] :—

संख्या	प्रश्न	उत्तर
1.	अधिकांश समय अकेले ही मग्न रहते हो ?	हाँ—नहीं
2.	अनेक व्यक्तियों के बीच कार्य करते हो ?	हाँ—नहीं
3.	किसी निष्कर्ष पर पहुँचने से पूर्व पर्याप्त सोच-विचार करते हो ?	हाँ—नहीं
4.	लोगों से प्रशंसा प्राप्त करके अच्छा कार्य करते हो ?	हाँ—नहीं
5.	अधिकतर आत्मचिन्तन करते हो ?	हाँ—नहीं
6.	क्या आप आसानी से मित्र बना लेते हैं ?	हाँ—नहीं
7.	क्या आपको दूसरों के इरादों पर शक होता है ?	हाँ—नहीं
8.	क्या आप इस बात से परेशान रहते हैं कि लोग आपके बारे में क्या सोचते हैं ?	हाँ—नहीं
9.	स्वयं की अपेक्षा दूसरों का अध्ययन करते हो ?	हाँ—नहीं
10.	अपनी राय स्थिर करने के उपरान्त भी आसानी से बदल देते हो।	हाँ—नहीं

1 "Based on The Newman—Kohlsted Diagnostic Test for Introversion—Extroversion."

इस प्रकार के 50 प्रश्न होते हैं। इन प्रश्नों के उत्तर हाँ या नहीं में प्राप्त करके मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व के प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

स्कूली बच्चों पर प्रयुक्त करने के लिए भी छोटी-छोटी प्रश्नावलियाँ निर्मित की गई हैं। मनोविज्ञानशाला, इलाहाबाद, द्वारा निर्मित की गई प्रश्नावलियों को बड़े पैमाने पर स्कूल के बालक-बालिकाओं पर प्रयुक्त करके उनकी प्रामाणिकता सिद्ध की जा चुकी है। ये प्रश्नावलियाँ कुसमायोजन का परीक्षण करती हैं। इनमें व्यवहार के चार क्षेत्रों का परीक्षण विशेष रूप से किया जाता है—

(1) घरेलू जीवन (Home Life)
(2) स्वास्थ्य (Health)
(3) सामाजिक व्यवहार (Social Behaviour)
(4) संवेगात्मक व्यवहार (Emotional Behaviour)

उत्तर प्रदेश में प्रशिक्षण महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में जो परि-सूचियाँ निर्मित की गई हैं, वे पाँच या छः क्षेत्रों में व्यक्तित्व समायोजन का परीक्षण करती हैं। उदाहरणार्थ—

(1) आपका घरेलू जीवन।
(2) आपकी स्वास्थ्य सम्बन्धी चिन्ताएँ।
(3) आपका स्कूली जीवन।
(4) आपकी संवेगात्मक कठिनाइयाँ।
(5) विपरीत लिंगियों के प्रति आपका व्यवहार।
(6) आप और आपके मित्र।

प्रश्नावलियों के प्रकार
(Types of Questionnaires)

प्रश्नावलियाँ मुख्य रूप से चार प्रकार की होती हैं :—

(1) **बन्द प्रश्नावली (Closed Questionnaire)**—इसमें प्रश्नों के सामने 'हाँ', 'नहीं' अथवा 'कुछ कह नहीं सकता' आदि लिखा रहता है। विषयी (Subject) को केवल उनमें से किसी एक पर निशान लगाना पड़ता है।

(2) **खुली प्रश्नावली (Open Questionnaire)**—इसमें कुछ प्रश्न दिये रहते हैं, जिनका पूरा उत्तर लिखना पड़ता है।

(3) **सचित्र प्रश्नावली (Pictorial Quesionnaire)**—इस प्रश्नावली में प्रश्न के उत्तर से सम्बन्धित चित्र दिये होते हैं। व्यक्ति को अपने उत्तर में केवल चित्रों पर चिह्न लगाने पड़ते हैं।

(4) **मिश्रित प्रश्नावली (Mixed Questionnaire)**—इस प्रकार की प्रश्नावली में उपरोक्त तीनों प्रश्नावलियों का मिश्रण होता है।

प्रश्नावली विधि के गुण

(1) प्रश्नावली एक ही समय में अनेक व्यक्तियों पर प्रयुक्त की जा सकती है, अतः समय की बचत होती है।

(2) अनेक व्यक्तियों पर प्रयुक्त होने के कारण प्रश्नों के उत्तरों में भी भिन्नता होती है। फलस्वरूप तुलनात्मक अध्ययन में सरलता रहती है।

(3) व्यक्तित्व के गुणों का मापन करने के लिए यह एक उपयुक्त विधि है।

(4) अपेक्षाकृत कम खर्चीली है।

प्रश्नावली विधि की कठिनाइयाँ

(1) इस विधि से प्राप्त सभी सूचनाएँ विश्वसनीय नहीं होतीं।

(2) प्रायः प्रश्नावली में कुछ प्रश्न ऐसे होते हैं जिनका उत्तर विषयी (Subject) नहीं देना चाहता अथवा कतराता है।

(3) यदि प्रश्न ठीक से समझ में नहीं आये तो प्रश्न का उत्तर भी सही नहीं मिलता।

(4) यदि प्रश्नावली अधिक लम्बी हो तो व्यक्ति ऊब जाता है और उदासीन होकर उत्तरों पर निशान लगाता जाता है। जिसके कारण सही उत्तर प्राप्त नहीं होता है।

मनोविज्ञान में प्रश्नावली तथा परिसूची में बहुत साधारण अन्तर है। प्रश्नावलियाँ साधारण सर्वेक्षण के प्रयोग में आती हैं और इनको निर्मित करने के लिए विशेष मनोवैज्ञानिक प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु परिसूची बनाने के लिए मनोविज्ञान का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। परिसूचियाँ विभिन्न क्षेत्रों में व्यक्तित्व के गुणों का परीक्षण करती हैं, जैसे वुडवर्थ की परिसूची।

कुछ महत्वपूर्ण परिसूचियाँ (Inventories)

व्यक्तित्व मापन में मिनेसोटा बहु, व्यक्तित्व परिसूची (Minnesota Multiphasis Personality Inventory) (M. M. P. I.) तथा बर्नरूटर व्यक्तित्व परिसूची (Bernreutor Personality Inventory) पश्चिमी देशों में बहुत प्रचलित हैं। इन्हें बहुत बड़े पैमाने पर स्कूली छात्रों पर प्रयुक्त करके इनकी उपयोगिता प्रमाणित की जा चुकी है। इसी प्रकार ऑल्पोर्ट का ए० एस० टेस्ट A. S. Test (Assendence Submisstion Test) इस बात का परीक्षण करता है कि व्यक्ति में नेतृत्व करने अथवा दूसरों को प्रभावित करने और पहल करने के गुण कहाँ तक विद्यमान हैं।

भारत में भी इस प्रकार की व्यक्तित्व परख निर्मित की गई हैं, विशेषकर स्कूली छात्रों के लिए। इसमें 145 प्रश्न हैं जो चार क्षेत्रों में समायोजन का परीक्षण करते हैं। (1) तुम्हारा घर तथा परिवार, (2) तुम्हारा विद्यालय, (3) तुम और दूसरे लोग, (4) तुम्हारा स्वास्थ्य तथा अन्य समस्याएँ। मनोविज्ञान केन्द्र इलाहाबाद ने बेल एडजस्टमेंट इनवेन्टरी Bell Adjustment Inventory का हिन्दी रूपान्तर भी तैयार किया है। अन्य भाषाओं में भी इसके रूपान्तर किये गये हैं।

जब कुसमायोजित बच्चे मनोवैज्ञानिक के समक्ष प्रस्तुत किए जाते हैं तो सबसे पहले उन पर समायोजन परिसूची (Adjustment Inventory) प्रयुक्त की जाती है। जिसके द्वारा इस बात का ज्ञान हो जाता है कि बालक की कठिनाइयों का कारण घरेलू जीवन में है, स्वास्थ्य सम्बन्धी है, स्कूली जीवन में है अथवा संवेगात्मक जीवन में है। इस प्रकार निदान करने के लिए भी ये परिसूचियाँ बहुत उपयोगी सिद्ध हुई हैं।

जब कोई कुसमायोजित बालक मनोवैज्ञानिक के समक्ष लाया जाता है तो

इस प्रकार के 50 प्रश्न होते हैं। इन प्रश्नों के उत्तर हाँ या नहीं में प्राप्त करके मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व के प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

स्कूली बच्चों पर प्रयुक्त करने के लिए भी छोटी-छोटी प्रश्नावलियाँ निर्मित की गई हैं। मनोविज्ञानशाला, इलाहाबाद, द्वारा निर्मित की गई प्रश्नावलियों को बड़े पैमाने पर स्कूल के बालक-बालिकाओं पर प्रयुक्त करके उनकी प्रामाणिकता सिद्ध की जा चुकी है। ये प्रश्नावलियाँ कुसमायोजन का परीक्षण करती हैं। इनमें व्यवहार के चार क्षेत्रों का परीक्षण विशेष रूप से किया जाता है—

(1) घरेलू जीवन (Home Life)
(2) स्वास्थ्य (Health)
(3) सामाजिक व्यवहार (Social Behaviour)
(4) संवेगात्मक व्यवहार (Emotional Behaviour)

उत्तर प्रदेश में प्रशिक्षण महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में जो परिसूचियाँ निर्मित की गई हैं, वे पाँच या छः क्षेत्रों में व्यक्तित्व समायोजन का परीक्षण करती हैं। उदाहरणार्थ—

(1) आपका घरेलू जीवन।
(2) आपकी स्वास्थ्य सम्बन्धी चिन्ताएँ।
(3) आपका स्कूली जीवन।
(4) आपकी संवेगात्मक कठिनाइयाँ।
(5) विपरीत लिंगियों के प्रति आपका व्यवहार।
(6) आप और आपके मित्र।

प्रश्नावलियों के प्रकार
(Types of Questionnaires)

प्रश्नावलियाँ मुख्य रूप से चार प्रकार की होती हैं :—

(1) बन्द प्रश्नावली (Closed Questionnaire)—इसमें प्रश्नों के सामने 'हाँ', 'नहीं' अथवा 'कुछ कह नहीं सकता' आदि लिखा रहता है। विषयी (Subject) को केवल उनमें से किसी एक पर निशान लगाना पड़ता है।

(2) खुली प्रश्नावली (Open Questionnaire)—इसमें कुछ प्रश्न दिये रहते हैं, जिनका पूरा उत्तर लिखना पड़ता है।

(3) सचित्र प्रश्नावली (Pictorial Quesionnaire)—इस प्रश्नावली में प्रश्न के उत्तर से सम्बन्धित चित्र दिये होते हैं। व्यक्ति को अपने उत्तर में केवल चित्रों पर चिह्न लगाने पड़ते हैं।

(4) मिश्रित प्रश्नावली (Mixed Questionnaire)—इस प्रकार की प्रश्नावली में उपरोक्त तीनों प्रश्नावलियों का मिश्रण होता है।

प्रश्नावली विधि के गुण

(1) प्रश्नावली एक ही समय में अनेक व्यक्तियों पर प्रयुक्त की जा सकती है, अतः समय की बचत होती है।

(2) अनेक व्यक्तियों पर प्रयुक्त होने के कारण प्रश्नों के उत्तरों में भी भिन्नता होती है। फलस्वरूप तुलनात्मक अध्ययन में सरलता रहती है।

असामान्य व्यक्ति चिकित्सा के लिए मानसिक चिकित्सालय में प्रस्तुत होता है, तो मनोवैज्ञानिक उसका जीवन वृत्त तैयार करता है। इस विधि के द्वारा बालक अथवा व्यक्ति के पिछले विकासात्मक जीवन पर प्रकाश डाला जाता है। जैसे—उसके जीवन की परिस्थितियाँ क्या थीं ? उसके जीवन में किस प्रकार के संघर्ष उत्पन्न हुए ? उसे किन अभावों का सामना करना पड़ा, जिसके, फलस्वरूप उसमें असामाजिक व्यवहार एवं समाजविरोधी वृत्तियाँ उत्पन्न हो गईं ? आदि आदि। जीवन वृत्त तैयार करने में व्यक्ति के परिवार के सदस्यों अथवा परिचितों की सहायता भी प्राप्त की जाती है। जीवन वृत्त तैयार करने का लक्ष्य बालक अथवा व्यक्ति की समायोजन सम्बन्धी अथवा अन्य कठिनाइयों के कारणों का पता लगाकर उनका उपचार करना होता है। जीवन वृत्त विधि में मुख्य रूप से जीवन के तीन क्षेत्रों पर प्रकाश डाला जाता है—

जीवन वृत्त विधि (Case History Method)

(क) शारीरिक विकास।

(ख) पारिवारिक प्रभाव।

(ग) इन दोनों का एक दूसरे से संघर्ष।

इस विधि का सबसे बड़ा दोष यह है कि व्यक्ति और उसके सम्बन्धी सही बातों को छिपा लेते हैं। इससे व्यक्तित्व का सही-सही परीक्षण करने में कठिनाई होती है।

साक्षात्कार विधि आधुनिक युग की सबसे अधिक प्रचलित विधि है। विद्यालयों में प्रवेश के समय, नौकरी के लिए अथवा अधिकारियों का चुनाव करते समय इस विधि को प्रयुक्त किया जाता है। किसी भी व्यक्ति के बारे में साधारण परिचय और उसके व्यक्तित्व सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करने की यह सबसे सरल विधि है। इसमें समय भी कम व्यय होता है और लचीलेपन के कारण यह विधि सर्वत्र प्रयुक्त भी की जा सकती है। इसे प्रयुक्त करने के लिए किसी प्रकार के प्रशिक्षण अथवा किसी विशेष योग्यता की आवश्यकता भी नहीं होती है। परन्तु इसकी सफलता बहुत कुछ साक्षात्कार लेने वाले व्यक्ति की योग्यता और सूझ-बूझ पर ही निर्भर करती है। यही कारण है कि यह विधि सबसे अधिक व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) और कम वैज्ञानिक तथा अधिक अविश्वसनीय है।

साक्षात्कार विधि (Incrview Method)

आयोजन के अनुसार साक्षात्कार दो प्रकार का होता है : (1) औपचारिक (Formal) और (2) अनौपचारिक (Informal)। किन्तु साक्षात्कार के उद्देश्य और परिणामों के अनुसार इसे नीचे लिखे चार प्रकारों में विभाजित कर सकते हैं :—

(1) परिचयात्मक (Introductory)—अधिकारी और कार्यकर्ताओं के मध्य, प्रधानाचार्य और अध्यापक के मध्य इसी प्रकार के साक्षात्कार होते हैं। कक्षा में भी अनौपचारिक साक्षात्कार लिए जाते हैं, जैसे—शुल्क में छूट देने एवं किसी उत्सवादि के लिए कार्यकर्ताओं का चयन करने के लिए।

(2) सत्य स्थापना के लिए (Fact Finding)—विद्यार्थियों के दो दलों में झगड़ा हो जाने पर अथवा विज्ञान प्रयोगशाला में चोरी हो जाने पर अध्यापक

अथवा प्रधानाचार्य इसी प्रकार के साक्षात्कार का आयोजन करते हैं। सम्बन्धित व्यक्तियों को बुलाकर उनका साक्षात्कार लिया जाता है। पुलिस विभाग भी इसी प्रकार के साक्षात्कार आयोजित करता है।

(3) सूचना एकत्र करने के लिए (Informative)—जनगणना के समय अथवा आम चुनाव के समय परिवारों अथवा मतदाताओं से अधिकारी लोग साक्षात्कार करते हैं। मौखिक परीक्षाओं के समय भी इसी प्रकार के साक्षात्कार परीक्षक द्वारा लिए जाते हैं।

(4) उपचारात्मक (Therapeutic)—इस प्रकार के साक्षात्कार मनोवैज्ञानिक द्वारा मनोविज्ञानशाला में ही लिए जाते हैं। इनका लक्ष्य मानसिक रोग का निदानात्मक परीक्षण करना और उसका उपचार करना है।

(2) वस्तुनिष्ठ विधियाँ
(Objective Methods)

इस विधि के अन्तर्गत विभिन्न परिस्थितियों में मनोवैज्ञानिक द्वारा व्यक्ति का निरीक्षण दीर्घकाल तक किया जाता है। निरीक्षण के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाले जाते हैं। इस विधि में भी कुछ कठिनाइयाँ हैं जोकि निम्न प्रकार हैं :

निरीक्षण विधि (Observation Method)

(क) यदि व्यक्ति का निरीक्षण एक से अधिक व्यक्ति करते हैं तो उनके निष्कर्षों में एक दूसरे से पर्याप्त भिन्नता होती है।

(ख) निरीक्षणकर्ता का आत्म (Self) भी निरीक्षण में सम्मिलित हो जाता है। अर्थात् वह तटस्थ नहीं रह पाता।

(ग) यह विधि कभी स्वयं में भी पूर्ण नहीं होती।

इस विधि के द्वारा व्यक्तित्व के किसी विशेष गुण अथवा व्यक्ति की कार्य-कुशलता का मूल्यांकन किया जाता है। मनोवैज्ञानिक उसी व्यक्ति या उसके सम्पर्क में आने वाले अन्य व्यक्तियों की सहायता से ही मूल्यांकन करता है। जिस गुण का मूल्यांकन करना होता है उसे तीन या पाँच कोटियों में विभाजित कर दिया जाता है। जैसे—यदि हम किसी व्यक्ति में उसकी ईमानदारी के गुण को माप करना चाहते हैं तो हम इस प्रकार का प्रश्न (या अनेक प्रश्न) पूछना चाहेंगे—

दर मापक विधि (Rating Scale)

"क्या आप समझते हैं कि झूठ बोलना न्याय संगत है ?"

यदि दर मापक को तीन कोटियों में विभाजित किया जाये तो सम्भावित उत्तर इन तीन में से कोई एक होगा—

(क) सर्वदा (ख) कभी-कभी (ग) कभी नहीं।

इसे तीन बिन्दु का दर मापक (Three Point Scale) कहेंगे। इसी दर मापक को पाँच कोटियों (Five Point Scale) में इस प्रकार परिवर्तित किया जा सकता है—

(क) सर्वदा (ख) प्राय: (ग) कभी-कभी (घ) बहुत कम (ङ) कभी नहीं।

दर मापक का लक्ष्य किसी व्यक्ति में गुण विशेष की मात्रा अथवा तीव्रता निश्चित करना है। गुणों (Traits) का परीक्षण करने के लिए प्राय: तीन विन्दु वाले या पाँच विन्दु वाले दर मापक प्रयुक्त किए जाते हैं। अधिक सही निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए प्रश्नों की संख्या भी अधिक होनी चाहिए।

दर मापक को निर्मित करने के लिए पर्याप्त कुशलता और अनुभव की आवश्यकता है। उत्तरों का परीक्षण सांख्यिकी विधि (Statistical Method) द्वारा किया जाता है। इस प्रकार के मापक से व्यक्ति स्वयं अपने गुणों का परीक्षण कर सकता है। कभी-कभी एक ही व्यक्ति के गुण का परीक्षण कई निर्णायकों (Raters) द्वारा कराया जाता है।

समाजमिति या समाज रेखा विधि
(Sociogram Method)

व्यक्तित्व मापन में इस विधि का प्रयोग व्यक्ति की सामाजिकता (Sociability) का मूल्यांकन करने के लिए किया जाता है। किसी छोटे समूह में व्यक्तियों के आपसी सम्बन्ध कैसे हैं? यह इस विधि से ज्ञात किया जा सकता है। समूह के प्रत्येक व्यक्ति को एक या दो प्रश्न देकर उनकी प्रतिक्रियाएँ ज्ञात कर ली जाती हैं और उन प्रतिक्रियाओं के आधार पर समाजमिति (Sociogram) तैयार कर लिया जाता है। (देखिए चित्र, अध्याय–43)।

उदाहरण के लिए दो प्रश्न निम्नलिखित हैं—

(क) आप अपनी कक्षा में किन विद्यार्थियों को अपना मित्र बनाना पसन्द करेंगे? ऐसे दो विद्यार्थियों के नाम लिखिए।

(ख) इन विद्यार्थियों के किन्हीं दो गुणों को लिखिए जिनके कारण आप उन्हें पसन्द करते हैं।

इन प्रश्नों के प्रति छात्रों की प्रतिक्रिया प्राप्त करके, प्रश्न संख्या (क) के आधार पर अध्यापक समाजमिति बना सकता है। प्रश्न संख्या (ख) के आधार पर वह इन सम्बन्धों के आधार अथवा कारणों की व्याख्या कर सकता है। समाजमिति से निम्नलिखित बातें स्पष्ट हो जाती हैं—

(क) कक्षा या समूह में दूसरों को आकर्षित करने वाला बालक अथवा व्यक्ति कौन है?

(ख) छोटे गुट कौन से हैं?

(ग) कौन बालक अथवा व्यक्ति एकाकी है?

क्रिया परीक्षण विधि
(Performance Test)

यह विधि वैयक्तिक विभिन्नताओं (Individual Differences) का अध्ययन करने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इस विधि के अन्तर्गत व्यक्ति को कुछ कार्य करने का अवसर दिया जाता है। कार्य करते समय परीक्षणकर्ता उसके व्यवहार का निरीक्षण करता है। कार्य करने के ढंग और व्यवहार में वह व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के अनेक गुण (Traits) प्रदर्शित कर देता है। जैसे—

विनम्रता, लगन, ईमानदारी, सूझ-बूझ आदि। मे (May) तथा हॉर्टशार्न (Hartshorne) ने इस विधि को छात्रों में ईमानदारी का गुण मापने के लिए प्रयुक्त किया था। यह एक व्यावहारिक विधि है जिसका प्रयोग हम बहुधा करते रहते हैं। उदाहरणार्थ—यदि हमें घरेलू कामकाज के लिए नौकर चाहिए तो हम किसी इच्छुक व्यक्ति से एक अथवा दो दिन काम लेकर देखते हैं और इसके पश्चात् यह निर्णय लेते हैं कि वह व्यक्ति घरेलू सेवाओं के लिए उपयुक्त है अथवा नहीं।

परिस्थिति परीक्षण विधि (Situational Test)

यह विधि क्रिया परीक्षण विधि से पर्याप्त रूप में मिलती-जुलती है। अन्तर केवल इतना है कि इसमें व्यक्ति को किसी परिस्थिति विशेष अथवा कृत्रिम परिस्थिति में रखकर ही उसकी प्रतिक्रियाएँ प्राप्त कर ली जाती हैं। पुलिस सेवाओं के लिए अथवा सेना में भर्ती के समय इस प्रकार की कृत्रिम परिस्थितियों में परीक्षार्थी को रखकर ही व्यक्तित्व का परीक्षण किया जाता है। इस विधि के द्वारा व्यक्ति के साहस, धैर्य, नेतृत्व एवं बाधाओं को पार करने की क्षमता आदि व्यक्तिगत गुणों का मूल्यांकन किया जाता है।

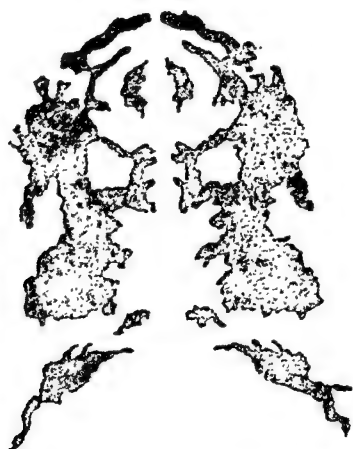
(3) प्रक्षेपण विधियाँ
(Projective Techniques)

प्रक्षेप से हमारा तात्पर्य विचार प्रक्रिया में व्यक्ति के आत्म द्वारा बाहरी वस्तुओं अथवा परिस्थितियों के प्रत्यक्षीकरण को प्रभावित करना है। आकाश में बादलों को देखकर हमारे मन में अनेक कल्पनाएँ उदित होती हैं। कभी बादल की आकृति पशु के समान लगती है तो कभी सघन वृक्ष के समान। इस प्रकार साहचर्य द्वारा एक ही उत्तेजना से मन में अनेक प्रतिमाएँ बनती हैं। ये प्रतिमाएँ अथवा विचार हमारी आन्तरिक अनुभूतियों, आकांक्षाओं और संस्कारों का परिणाम हैं। फ्रायड के अनुसार बाहरी परिवेश का प्रत्यक्षीकरण अचेतन मन (Unconscious Mind) की अभिप्रेरणाओं से प्रभावित होता है। प्रक्षेप विधियों का लक्ष्य व्यक्तित्व की गहराइयों में स्थित व्यक्तित्व सम्बन्धी विलक्षणताओं को प्रकाश में लाना है। इस विधि के द्वारा यह भी ज्ञात हो जाता है कि व्यक्ति के साहचर्यों की प्रवृत्ति किस ओर है। कुछ उपयोगी प्रक्षेपण विधियाँ इस प्रकार हैं :

रोशा परीक्षण (Rorschach Test) या स्याही के धब्बों की विधि (Ink Blot Method)

इस विधि को रोशा नामक स्विस मनोवैज्ञानिक ने 1921 में तैयार किया था। इस परीक्षा में 10 पत्र (Cards) हैं, जिन पर स्याही के धब्बों जैसी आकृतियाँ बनी हुई हैं। ये आकृतियाँ पाँच पत्रों पर काली, दो पत्रों पर काली और लाल तथा तीन पत्रों पर कई रंगों की हैं। जिस व्यक्ति के व्यक्तित्व का मूल्यांकन करना होता है, परीक्षणकर्ता उसे एक समय में एक पत्र (Card) देता है और कहता है कि इस पत्र में एक आकृति बनी हुई है, उसे ध्यान से देखिए और बताइये कि वह आकृति क्या है और इसे देखकर आपको कैसा लगता है? इस आकृति में आपको क्या दिखाई दे

रहा है ? आदि आदि । व्यक्ति की प्रतिक्रियाओं को परीक्षणकर्ता लिखता जाता है और फिर उसका विश्लेषण करके निष्कर्ष निकालता है । इन पत्रों के प्रति परीक्षार्थी



रोशा पत्र का नमूना स्याही के धब्बे

या व्यक्ति की प्रतिक्रियाओं का विवेचन निम्नलिखित चार सिद्धान्तों के आधार पर किया जाता है :

(क) स्थिति (Location)—प्रतिक्रिया सम्पूर्ण पत्र पर आधारित है अथवा उसके किसी एक भाग पर ।

(ख) प्रतिक्रिया को निश्चित करने वाले गुण (Determining Quality)—प्रतिक्रिया धब्बे की बनावट के प्रति है अथवा रंग के प्रति ।

(ग) वस्तु (Content)—धब्बे में किस वस्तु की आकृति दिखाई देती है, जैसे—मानव की, पशु की, पक्षी की अथवा किसी स्थान अथवा प्राकृतिक दृश्य की ।

(घ) समय एवं प्रतिक्रिया—समय और प्रतिक्रियाओं की संख्या कितनी रही ।

इस परीक्षा के द्वारा व्यक्ति की बुद्धि, सामाजिकता, अनुकूलन, संवेगात्मक सन्तुलन आदि के बारे में पर्याप्त जानकारी प्राप्त हो जाती है किन्तु व्यक्ति की इन पत्रों के प्रति की गई प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण करना परीक्षणकर्ता के अनुभव और योग्यता पर ही निर्भर रहता है । अतएव इस परीक्षा का प्रयोग प्रशिक्षित मनोवैज्ञानिक ही कर सकते हैं ।

प्रासंगिक अन्तर्बोध परीक्षण (T.A.T. or Thematic Apperception Test)

यह परीक्षाएँ मॉर्गन और मुरे द्वारा निर्मित हैं । इनमें व्यक्ति को कुछ चित्र दिए जाते हैं और उनके आधार पर उसे अपने मन से कहानी अथवा कथानक लिखने के लिए प्रेरित किया जाता है । व्यक्ति कथानक में प्राय: अनजाने में अपने मन में दबी हुई इच्छाओं, आकांक्षाओं, आशाओं और निराशाओं अथवा भय आदि का प्रदर्शन कर देता है । T. A. T. में बीस पत्र (Cards) हैं, जिनमें से 19 पर चित्र

बने हुये हैं और एक खाली है। खाली पत्र पर व्यक्ति को अपनी इच्छा से एक चित्र-कथा (कहानी) रचित करने को कहा जाता है। इन पत्रों में कुछ पत्र केवल पुरुषों के लिए हैं और कुछ लड़कियों के लिए। मनोवैज्ञानिक प्रयोग एवं परीक्षण के लिए T.A.T. अत्यन्त उपादेय है। इसके द्वारा प्राप्त प्रतिक्रियाओं के आधार पर व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व, संवेगात्मक अभिवृत्तियों, संघर्षों एवं आवश्यकताओं का विवेचन किया जा सकता है। कथानक में वर्णित पात्रों के चरित्र-चित्रण में व्यक्ति के अपने व्यक्तित्व और चरित्र की झलक दृष्टिगोचर होती है। इनके वर्णन प्रायः आत्म चरित्रात्मक होते हैं। किन्तु इससे केवल गुणों का ही ज्ञान होता है, गुणों की मात्रा का नहीं। T. A. T. पत्रों में से एक पत्र का भारतीय रूपान्तर संलग्न चित्र में दिया गया है। इस चित्र को देखकर एक 22 वर्षीय, बी० ए० पास, बेरोजगार व्यक्ति ने जो कथानक गढ़ा, उसमें बेरोजगारी और घरेलू अशान्ति पर बल दिया गया था।


टी० ए० टी० पत्रों पर बने एक चित्र का भारतीय रूपान्तर

बालकों का अन्तर्बोध परीक्षण (C. A. T. or Children's Apperception Test)

यह परीक्षण T. A. T. की भाँति ही है; केवल अन्तर इतना ही है कि यह बच्चों के लिए है।

वाक्य पूर्ति या कहानी पूर्ति (Sentence Completion or Story Completion)

इस विधि में व्यक्ति को अधूरे वाक्य अथवा अधूरी कहानी देकर उनकी पूर्ति कराई जाती है और उन पूर्तियों के आधार पर ही उसके व्यक्तित्व सम्बन्धी निष्कर्ष निकाले जाते हैं।

(4) मनोविश्लेषणात्मक विधियाँ
(Psychoanalytical Methods)

स्वतन्त्र विचार साहचर्य विधि (Free Association Test)

इसके द्वारा जिस व्यक्ति के व्यक्तित्व का परीक्षण करना होता है, उसे आराम से बिठा दिया जाता है। इसके पश्चात् मनोवैज्ञानिक ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देता है कि वह व्यक्ति अर्द्ध-निद्रित अवस्था में आ जाता है। परीक्षण-कर्ता अथवा मनोवैज्ञानिक फिर उससे प्रश्न पूछता है और उसके उत्तरों को लिखता जाता है। उससे प्राप्त उत्तरों के आधार पर ही व्यक्ति के व्यक्तित्व के विषय में निष्कर्ष निकाले जाते हैं और उसकी कठिनाइयों

को हल करने का उपाय ढूँढ़ते हैं। व्यक्ति पर चेतन मन का शासन न रहने के कारण अधिकतर सही बात प्रकट हो जाती है, सम्भवतः जिसको वह सामान्य चेतन अवस्था में नहीं कहना चाहता। इस विधि से असामान्य व्यक्तियों के व्यक्तित्व की विशेषताओं, मानसिक ग्रन्थियों और मानसिक रोगों का पता लगाया जाता है। मनोविश्लेपक इसका प्रयोग विभिन्न परेशानियों में उलझे लोगों की मानसिक चिकित्सा करने के लिए करते हैं।

स्वप्न विश्लेपण (Dream Analysis)

यह फ्राइड द्वारा प्रयुक्त तथा मनोविश्लेपणवादियों की प्रमुख विधि है। इसमें व्यक्ति के स्वप्नों का विश्लेपण करके मनोविश्लेपक उसके अचेतन मन में दबी हुई इच्छाओं और आकांक्षाओं के बारे में जानकारी प्राप्त करता है और उनका उपचार करता है।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. व्यक्तित्व मूल्यांकन में गुण सिद्धान्त (Trait Theory) का क्या स्थान है? उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिये।
2. व्यक्तित्व मूल्यांकन की विभिन्न विधियों का वर्गीकरण प्रस्तुत कीजिए और बताइये कि प्रक्षेपण विधियों का मुख्य आधार क्या है?
3. व्यक्तित्व मूल्यांकन की वस्तुनिष्ठ विधियां कौन-सी हैं? उनका आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
4. प्रश्नावली विधि के गुण एवं दोषों का वर्णन कीजिए और बताइये कि शिक्षक के लिए इसकी क्या उपयोगिता है।

शैक्षिक तथा व्यावसायिक सन्दर्शन या निर्देशन
(EDUCATIONAL AND VOCATIONAL GUIDANCE)

परिभाषा

संदर्शन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी व्यक्ति की सहायता इस प्रकार की जाती है कि वह अपनी क्षमताओं को जानकर उनका विकास इस ढंग से करे कि वह स्वयं भी प्रसन्न रह सके तथा समाज के लिए उपयोगी भी बन सके।[1]

सन्दर्शन का तात्पर्य मार्गदर्शन है। इसके द्वारा किसी के लिए निर्णय नहीं किया जाता है अपितु सभी सम्भावनाओं पर विचार करते हुए मार्गदर्शन करना मात्र ही इसका लक्ष्य होता है। निर्णय करना तो स्वयं व्यक्ति के हाथ में ही है।

संदर्शन की आवश्यकता क्यों? (Need for Guidance)

(1) सामाजिक जटिलता—सामाजिक जटिलता ने जीवन के मार्ग को जटिलतर बना दिया है। पहले लोगों का जीवन सरल था। पारिवारिक व्यवस्था सुदृढ़ थी। 'सादा जीवन उच्च विचार' का आदर्श था। औद्योगिक उत्थान और भौतिक उन्नति के कारण ही उनमें अनेक सामाजिक परिवर्तन हुए। रहन-सहन की शैली और जीवन के आदर्श भी बदल गये। इस तीव्र-गति से बदलते हुए युग में जीवन का मार्ग दुरूह हो गया है। मार्ग में अनेक उलझनें हैं, अनेक चौराहे हैं, जहाँ रुक कर व्यक्ति को सोचना पड़ता है कि किधर जायें और किस प्रकार जायें। यहाँ पर थोड़ा-सा विचलन भी उसे अनेक परेशानियों में फँसा देता है। अतः सुसमायोजन के लिए सन्दर्शन अत्यावश्यक हो गया है।

(2) अनिवार्य शिक्षा—जनतन्त्रीय व्यवस्था में शिक्षा प्रत्येक के लिए अनिवार्य है। शिक्षा के द्वारा ही समाज नागरिकों में उन गुणों का विकास करना चाहता है जिनसे कुशल नागरिक उत्पन्न हो सकें। शिक्षा की अनिवार्यता के साथ ही अपव्यय और अवरोधन की भयंकर समस्या भी उपस्थित हो गई। इनसे बचने के लिए सन्दर्शन आवश्यक है।

(3) सामाजिक चपलता—औद्योगिक विकास के कारण ही समाज में स्थिरता के स्थान पर चपलता आ गई है। लोग औद्योगिक केन्द्रों की ओर बढ़ रहे

---

1 "Guidance is a process of helping an individual through his own efforts to discover and develop his potentialities for his personal happiness and social usefulness." —Ruth Strang

हैं। दृष्टिकोण में परिवर्तन के कारण ही एक स्थान पर रहकर जीवन व्यतीत करना कठिन-सा हो रहा है। इसके फलस्वरूप ही जन्म कहीं हुआ, शिक्षा कहीं पायी, तथा जीविका अर्जन किसी अन्य स्थान पर ही करते हैं। प्रत्येक स्थान पर वहाँ की परिस्थितियों के अनुरूप अपने को समायोजित करना आवश्यक है। यदि सुसमायोजित नहीं हो सके हो तो क्षोभ (Frustration) उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। इससे मानसिक स्वास्थ्य खराब होगा, जिसका कुफल व्यक्ति और समाज दोनों को भोगना पड़ेगा। अतः समाज की विभिन्न परिस्थितियों में समायोजन के लिए भी सन्दर्शन आवश्यक है।

(4) आकांक्षा का स्तर—भौतिकतावादी विचारधारा की प्रवलता के कारण ही लोगों में अपनी अवस्था के प्रति घोर असन्तोष व्याप्त है। इसके साथ ही उनकी आकांक्षा का स्तर क्षमता से वहुत ऊपर है। प्रत्येक छात्र पहले इंजीनियर अथवा डॉक्टर वनने की सोचता है। अनेक अच्छे लड़के जो दूसरे क्षेत्रों में अच्छा कार्य कर सकते हैं इंजीनियर या डॉक्टर वनकर भौतिक सुख और सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के चक्कर में अपने जीवन को वरवाद कर रहे हैं। उनमें क्षमता नहीं है परन्तु प्रलोभनवश वैज्ञानिक विषयों को लेकर लुढ़क रहे हैं। इससे समाज और राष्ट्र की वड़ी हानि हो रही है। इससे वचने का एकमात्र साधन सन्दर्शन ही है जिसके द्वारा उन्हें अपनी क्षमता तथा समस्याओं के वारे में उचित ज्ञान हो सकता है।

(5) शैक्षिक एवं व्यावसायिक व्यवस्था का ज्ञान—शिक्षा की कौन-सी सुविधाएँ कहाँ पर उपलव्ध हैं, उनका व्यावसायिक मूल्य क्या है तथा उनसे किस प्रकार लाभ उठाया जा सकता है? इन सूचनाओं से अधिकांश छात्र अनभिज्ञ हैं। इसी के फलस्वरूप कुछ विषयों में इतनी भीड़ है कि प्रवेश मिलना कठिन है और दूसरी ओर कक्षाएँ खाली हैं। यह राष्ट्र के समक्ष एक महान् समस्या है जिसका निराकरण सन्दर्शन के द्वारा सूचनाओं का प्रसारण करके ही हो सकता है।

(6) पारिवारिक असमर्थता—पहले संगठित परिवार थे और सरल सामाजिक व्यवस्था थी। उसमें परिवार के लोग ही वच्चों की रुझान देखकर उन्हें निर्देश दे देते थे। उस समय न तो इतनी सुविधाएँ ही उपलव्ध थीं, और न जीवन ही इतना जटिल था। अव न तो परिवार के व्यक्तियों को समस्त परिस्थितियों के वारे में ज्ञान ही है और न निर्देशन की क्षमता अथवा समय ही। अतः इस महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व को सन्दर्शन द्वारा ही पूर्ण किया जा सकता है।

(7) नेतृत्व की आवश्यकता—समाज के हर क्षेत्र में नेतृत्व करने वाले सुयोग्य व्यक्तियों की आवश्यकता है। यदि इस कमी को पूरा करना है तो समाज में से प्रतिभा-सम्पन्न लोगों का चयन करके, उन्हें प्रोत्साहन देकर आगे वढ़ाना होगा, जिससे अपनी रुचि, सम्मान, और क्षमता के अनुरूप कार्य में आगे वढ़कर वे सामाजिक नेतृत्व सम्भाल सकें। यह कार्य भी सन्दर्शन द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

इस प्रकार हमने देखा कि व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र, प्रत्येक के दृष्टिकोण से सन्दर्शन का आयोजन अत्यावश्यक है। जव व्यक्ति के सामने समस्यापूर्ण परिस्थितियाँ होती हैं तव वह अन्तर्द्वन्द की अवस्था में होता है, ऐसे समय में सन्दर्शन उसका मार्गदर्शन करके उसकी उलझनों को सुलझा देता है।

सन्दर्शन के सिद्धान्त
(Assumptions or Principles of Guidance)

(1) मनुष्यों की शक्तियों (Capacities), योग्यताओं (Abilities) और अभियोग्यता (Aptitude) में भिन्नतायें होती हैं। व्यक्ति की सफलता अथवा असफलता इन्हीं पर निर्भर है। अतएव इनका ज्ञान प्राप्त करके उचित दिशा में उनका मार्गदर्शन करना आवश्यक है।

(2) जीवन-शैली में पर्याप्त भिन्नता होती है। अतः वर्तमान जटिल सामाजिक परिस्थितियों में जीवन को सुखमय बनाने के लिए परिपक्व लोगों द्वारा उनका सन्दर्शन आवश्यक है।

(3) व्यक्ति में असीम क्षमता है। यदि उसे विकसित करने के लिए उचित वातावरण प्रदान किया जाय तो वह एक नहीं अनेक क्षेत्रों में महत्वपूर्ण कार्य कर सकता है। परन्तु प्रश्न क्षमता और परिस्थितियों को पहचानने का है।

तात्पर्य यह है कि सन्दर्शन के द्वारा व्यक्ति को उसकी क्षमता से परिचित कराया जाता है और उसकी रुझान को परख कर उसे उचित दिशा में अग्रसित किया जाता है, जिससे उसे अधिकाधिक लाभ प्राप्त होता है।

शैक्षिक सन्दर्शन का लक्ष्य तथा उद्देश्य
(Aims and Objectives of Educational Guidance)

(1) सूचनाओं का संग्रह और प्रसार (Dissimination of Informations about Different Educational and Vocational Opportunities)—जिस क्षेत्र में सन्दर्शन देना है उससे सम्बन्धित समस्त सूचनाओं का संग्रह और छात्रों में उनका प्रचार अत्यावश्यक है। छात्र जब तक यह नहीं जानता कि किस प्रकार के पाठ्यक्रम को अपनाने पर आगे की क्या व्यवस्था होगी तथा उसे कहाँ-कहाँ से किस प्रकार की सहायता उपलब्ध हो सकेगी तब तक वह समुचित निर्णय करने में असमर्थ रहता है। अतः सन्दर्शन का प्रथम उद्देश्य समस्त सूचनाओं को छात्रों तक पहुँचाकर उन्हें स्वयं निर्णय करने हेतु प्रोत्साहित करना है।

(2) व्यवसाय सम्बन्धी दृष्टिकोण में परिवर्तन (Reorientation of Attitudes towards Occupation)—सन्दर्शन का दूसरा उद्देश्य छात्रों में इस प्रकार की भावना जाग्रत करना है कि कोई भी व्यवसाय किसी विशेष व्यक्ति अथवा जाति के लिए ही निश्चित नहीं होता है और न ही किसी व्यवसाय को अपनाने से कोई आदमी छोटा अथवा बड़ा बनता है। यद्यपि इस विषय में समाज में पर्याप्त परिवर्तन हो चुका है परन्तु अभी भी यह भावना परेशान कर रही है कि मैं ब्राह्मण हूँ, अतः यह कार्य नहीं करूँगा। कोई भी व्यक्ति जिसमें क्षमता है और सम्मान है, किसी कार्य को करके बहुत आगे बढ़ सकता है. इस प्रकार के दृष्टिकोण में परिवर्तन करना भी सन्दर्शन का ही कार्य है।

(3) विभिन्न स्तरों पर पाठ्यक्रम के चुनाव में सहायता (To Help the Individual to select Right Type of Courses at Different Levels)—बहुधा छात्र विषयों का चुनाव, घर वालों, साथियों अथवा अन्य किसी अनजान व्यक्ति के परामर्श से कर लेते हैं, जोकि भविष्य को ही देखते हैं और वर्तमान को

उपेक्षा करते हैं। तात्पर्य यह है कि साइन्स पढ़कर डॉक्टर अथवा इंजीनियर बनोगे, तो समाज में प्रतिष्ठा मिलेगी अतः यही विषय लो। इस प्रलोभन में छात्रों को बड़ी हानि उठानी पड़ रही है और कितने ही बेचारे तो मार्ग में ही रह जाते हैं। अनुपयुक्त पाठ्यक्रम लेने के कारण वे बार-बार असफल होते हैं, क्षोभ होता है और उनका जीवन भार हो जाता है। अतः सन्दर्शन का एक महत्वपूर्ण कार्य छात्रों को उनकी क्षमता, रुचि और प्रवृत्ति के अनुरूप पाठ्यक्रम के चयन में सहायता करना भी है जिससे कि वे सफलता प्राप्त कर सकें।

(4) **पाठ्यक्रम का व्यवसाय सम्बन्धी मूल्य से परिचय** (To let them Know about the Vocational Value of Courses)—विभिन्न पाठ्यक्रमों का व्यवसाय सम्बन्धी मूल्य क्या है? अर्थात् किस विषय को लेकर किस व्यवसाय को अपनाया जा सकता है। इस प्रकार की सूचनाएँ छात्रों तक पहुँचाना भी सन्दर्शन का लक्ष्य है। इसके परिज्ञान द्वारा एक स्पष्ट लक्ष्य सामने होगा। अध्ययन में रुचि बढ़ेगी और परेशानियाँ कम होंगी।

(5) **छात्रों को उनकी क्षमता तथा सम्मान को जानने में सहायता देना** (To Help the Students to Know their own Abilities and Aptitudes)—हम अपनी क्षमता और सम्मान के अनुरूप लक्ष्य रखने पर ही उसे प्राप्त कर सकते हैं अन्यथा आकांक्षा का स्तर इतना ऊँचा हो जायगा कि वास्तविकता से दूर होकर हमें असफलता ही प्राप्त होगी। अतः सन्दर्शन का लक्ष्य छात्रों को उनकी क्षमता और सम्मान से परिचित करा देना है, जिससे वे अपनी आकांक्षा का स्तर उसके अनुरूप ही रख सकें और किसी प्रकार के लाभ से न तो वंचित हो सकें और न ही व्यर्थ के प्रलोभन में फँसकर जीवन ही नष्ट कर सकें।

(6) **किसी व्यवसाय के लिए तैयारी, उसमें प्रवेश तथा प्रगति में सहायता प्रदान करना** (To Help the Students to Prepare for Job to Enter into and to Progress it)—सन्दर्शन का अन्तिम लक्ष्य किसी व्यवसाय के सम्बन्ध में समस्त जानकारी प्रदान करके उसके लिए व्यक्ति को तैयार करना एवं उसमें प्रवेश करने और उत्तरोत्तर विकास करने में सहायता करना है।

सन्दर्शन में होने वाली क्रियाएँ
(Activities in Guidance Program)

(1) **सूचना-संग्रह एवं प्रसार**—सन्दर्शन कार्यक्रम के अन्तर्गत विभिन्न विषयों से सम्बन्धित सूचनाओं का संग्रह किया जाता है और पत्र-पत्रिकाओं, लघु-पुस्तिकाओं, संकेत-चित्र, प्रदर्शनी आदि के द्वारा उनका प्रचार किया जाता है।

(2) **संस्थाओं से सम्पर्क**—इसके अन्तर्गत एक ओर तो शिक्षा-संस्थाओं से सम्पर्क रखते हैं, दूसरी ओर विभिन्न व्यावसायिक केन्द्रों, औद्योगिक संस्थाओं, सेवा-कार्यालयों आदि से भी सम्पर्क रखते हैं जिससे उनके यहाँ की प्रगति और वहाँ से प्राप्त होने वाले अवसरों तथा प्रतिबन्धों के बारे में आधुनिकतम सूचनाएँ प्राप्त होती रहें।

(3) **परीक्षण तथा अध्ययन**—जिन्हें सन्दर्शन देना होता है उनका पहले मानसिक, व्यक्तित्व सम्बन्धी, रुचि विषयक, अभिवृत्ति विषयक तथा अन्य आवश्यक

परीक्षण करते हैं। उनके सम्बन्ध में निकट सम्बन्धियों तथा अभिभावकों से परामर्श लेकर जानकारी प्राप्त करते हैं। उनकी शैक्षिक उपलब्धि देखते हैं तथा साक्षात्कार द्वारा उनकी विशेषताओं को जानकर एक स्पष्ट चित्रण तैयार करते हैं।

(4) सन्दर्शन—परीक्षणों के आधार पर प्राप्त सामग्री का विश्लेषण करके एवं सभी सम्भावनाओं पर विचार करके ही सन्दर्शन दिया जाता है।

(5) प्रवेश एवं कालान्तर अध्ययन—सन्दर्शन के पश्चात् उन्हें आवश्यक तैयारी के साथ उस उपयुक्त पाठ्यक्रम अथवा व्यवसाय में प्रवेश करने को प्रेरित किया जाता है। उनके प्रवेश करने के पश्चात् भी उनसे सम्पर्क बनाये रखते हैं और यह भी देखते रहते हैं कि उसे किस मार्ग पर भेजा गया है तथा उसमें उसे कहाँ तक सफलता प्राप्त हो रही है।

इसी प्रकार की क्रियाएँ व्यक्ति विशेष अथवा छात्रों के सन्दर्शन देने में भी होती हैं। जिन्हें सन्दर्शन देना है उनका विभिन्न प्रकार से परीक्षण करके उनकी क्षमता, रुचि, *प्रवृत्ति और विशेष गुणों के विषय में आश्वस्त होने के पश्चात्* उनकी शैक्षिक उपलब्धियाँ भी देखते हैं तथा उसके विषय में शिक्षकों और अभिभावकों से भी परामर्श करते हैं। व्यक्ति की स्वयं की इच्छाओं को जानने के लिए साक्षात्कार करते हैं। इन समस्त परिस्थितियों के विश्लेषण के उपरान्त सन्दर्शन और कालान्तर अध्ययन चलता रहता है।

विद्यालय में सन्दर्शन-व्यवस्था में ध्यान रखने योग्य बातें

अपने देश में विद्यालयों में सन्दर्शन की व्यवस्था करते समय निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना आवश्यक है :

(1) आर्थिक भार—*हमारे विद्यालयों की आर्थिक दशा अच्छी नहीं है।* अतएव सन्दर्शन-सेवा के संगठन और उसके कार्यक्रमों के आयोजन में सदैव इस बात का ध्यान रखना होता है कि ये अधिक व्ययसाध्य नहीं हों अन्यथा ये भार बन जायेंगी।

(2) *अधिक से अधिक छात्रों को अवसर मिले*—आयोजन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि उसके द्वारा अधिक से अधिक छात्र लाभान्वित हो सकें।

(3) सन्दर्शन तथा शैक्षिक कार्यक्रम में सन्तुलन—सन्दर्शन सम्बन्धी क्रियाओं का आयोजन शैक्षिक कार्यक्रम के मार्ग में बाधक नहीं हो अपितु उनमें इस प्रकार का सन्तुलन हो कि ये दोनों साथ-साथ चलते रहें और एक-दूसरे के पूरक बन सकें।

(4) सहकारिता—सन्दर्शन-क्रिया में सम्पूर्ण विद्यालय के प्रत्येक कर्मचारी का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक है। यदि इसका सम्बन्ध कुछेक लोगों से ही होगा तो शेष लोग रुचि नहीं लेंगे और यह भी सम्भव है कि वे बाधा भी उत्पन्न करें। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण व्यवस्था ही उपहासास्पद बन जायगी और लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक होगी अतएव सबका सहयोग प्राप्त करने का प्रयास किया जाय और सभी सच्चे हृदय से उसका मूल्य समझकर सहयोग करें।

(5) विद्यालय की वर्तमान परिस्थितियाँ—विद्यालय की परिस्थितियाँ इस सम्पूर्ण व्यवस्था के अनुकूल हैं अथवा नहीं इनका भी ध्यान रखना आवश्यक होगा है। यदि कोई कार्यक्रम हवा में ही बनाया जायगा तो उससे लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होगी।

सन्दर्शन के प्रकार (Kinds of Guidance)—यद्यपि इनमें अनेक प्रकार से अनेकों वर्गीकरण किये गये हैं परन्तु उनमें निम्नांकित तीन भेद प्रमुख हैं :

(1) शैक्षिक सन्दर्शन—इसके अन्तर्गत शिक्षा के सम्बन्ध में पाठ्यक्रम के चुनाव तथा अध्ययन से सम्बन्धित सन्दर्शन क्रिया होती है।

(2) व्यवसाय सम्बन्धी सन्दर्शन—इसके अन्तर्गत विभिन्न व्यवसायों से सम्बन्धित बातें बतायी जाती हैं तथा उनमें प्रवेश हेतु मार्ग-दर्शन भी दिया जाता है।

(3) व्यक्तिगत सन्दर्शन—इसमें व्यक्तिगत समस्याओं के समाधान सम्बन्धी मार्ग-दर्शन की व्यवस्था होती है।

सन्दर्शन किसके द्वारा हो ? इसके सम्बन्ध में लोगों की धारणा है कि इसका उत्तरदायित्व विद्यालय के किसी शिक्षक को समर्पित किया जाय और उसके कक्षा के कुछ घण्टे कम कर दिए जायँ। किन्तु यह इतना महत्वपूर्ण कार्य है और इसके कार्यक्रम को पूर्ण करने के लिए इतने अधिक श्रम और समय की आवश्यकता है कि किसी शिक्षक को कुछ घण्टे कार्य करके दे देने पर केवल खाना-पूरी ही रह जायगी। इसके साथ ही सन्दर्शन के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित व्यक्ति की आवश्यकता होती है। अतएव एक शिक्षक से दोनों कार्य सफलतापूर्वक नहीं हो सकेंगे। इसके लिए अलग से एक प्रशिक्षित व्यक्ति नियुक्त किया जाना चाहिए जो कई विद्यालयों का समूह बनाकर कार्य करे तथा शिक्षक एवं प्रधानाचार्य भी उसे सहयोग प्रदान करें।

सन्दर्शक (Guidance Personnel)

सन्दर्शक के गुण—माध्यमिक शिक्षा आयोग ने सन्दर्शक में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक माना है :

(1) सन्दर्शक को नवयुवकों तथा उनकी समस्याओं को अच्छी प्रकार समझने में कुशल होना चाहिए।

(2) उसे विभिन्न शैक्षिक एवं व्यावसायिक संगठनों के विषय में भी विस्तृत ज्ञान होना चाहिए।

(3) अपने विषय का ज्ञाता, जिज्ञासु और प्रशिक्षित हो।

(4) समाज-शास्त्र तथा मनोविज्ञान का पण्डित हो।

(5) उसे कक्षा-शिक्षण और शिक्षा की समस्याओं का अनुभव हो।

(6) सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार वाला, मृदुभाषी, परिश्रमी, व्यवसाय के प्रति निष्ठावान, विनोदप्रिय और लगनशील हो।

(7) छात्रों का विश्वासपात्र बन सके जिससे कि वे स्पष्ट रूप से अपनी समस्याएँ उसके समक्ष प्रस्तुत कर सकें।

सन्दर्शन कक्ष—प्रत्येक विद्यालय में एक सन्दर्शन कक्ष की आवश्यकता होती इसके कार्यक्रम से सम्बन्धित समस्त चित्र, चार्ट आदि दीवालों पर लगे हों। के परीक्षण (Tests) तथा अन्य आवश्यक सामग्री संग्रहीत हो। आव- ँ गोष्ठी आदि की व्यवस्था भी की जा सके।

बात ध्यान में रखने की यह है कि सन्दर्शन कार्यक्रम में अध्यापकों तथा वकों का पूर्ण सहयोग मिलना आवश्यक है। अध्यापक पृष्ठ-

भूमि तैयार करेंगे, टेस्ट करने एवं अभिवृत्ति उत्पन्न करने में सहायता करेंगे, प्रधानाचार्य आवश्यक व्यवस्था करेंगे तथा अभिभावक उसे सहर्ष स्वीकार करेंगे तभी सफलता प्राप्त होना सम्भव है।

उ० प्र० में सन्दर्शन सेवा की वर्तमान व्यवस्था—आचार्य नरेन्द्र देव समिति की संस्तुति के अनुसार 1947 ई० में इलाहाबाद में मनोविज्ञान शाला की स्थापना हुई। यहाँ पर सन्दर्शकों को प्रशिक्षण दिया जाता था। इसका एक वर्ष का पाठ्यक्रम था जिसके अन्तर्गत इसमें सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों पक्षों का अच्छा अभ्यास करा दिया जाता था। इस कला में कुशल बनाकर उन्हें जिला मनोविज्ञान केन्द्रों पर मनोवैज्ञानिक के रूप में भेज दिया जाता था। इस संस्था में सन्दर्शन के विभिन्न अंगों पर शोध कार्य भी होता है। वास्तव में इस केन्द्र ने सन्दर्शन के क्षेत्र में महत्व पूर्ण कार्य किया है।

उत्तर प्रदेश सरकार की यह योजना थी कि प्रत्येक जिले में एक मनोविज्ञान केन्द्र की स्थापना की जाय जहाँ सन्दर्शन सम्बन्धी शोध-कार्य हो और सभी विद्यालयों में सन्दर्शन का कार्यक्रम संचालित हो। इस योजना के अनुरूप पिछले कुछ वर्षों में यह कार्य तीव्रगति से हुआ। परन्तु यह दुर्भाग्य ही है कि एक साथ इन सभी केन्द्रों को समाप्त कर दिया गया। वस्तुतः सन्दर्शन द्वारा छात्रों को उचित मार्ग पर लाकर लाखों का अपव्यय बचाया जा सकता था किन्तु इतनी दूरदर्शितापूर्ण कंसेट कौन ले? सरकार ने इसकी जड़ ही काट दी। यह निर्णय प्रदेश के लिये बड़ा ही दुर्भाग्य पूर्ण रहा।

वर्तमान परिस्थितियों में हम क्या कर सकते हैं?

(1) छात्रों और अभिभावकों में सन्दर्शन के प्रति रुचि उत्पन्न करें।
(2) विभिन्न शैक्षिक एवं व्यवसाय सम्बन्धी सूचनाओं से छात्रों को परिचित करायें।
(3) छात्रों को उपयुक्त पाठ्यक्रम के चुनाव में सहायता करें।
(4) सन्दर्शन के सम्बन्ध में व्याख्यान एवं गोष्ठी आदि आयोजित करें।
(5) सूचनाओं के प्रसारण के लिए पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन करें।
(6) छात्रों के प्रगति-चार्ट उचित रूप में तैयार करें।
(7) सन्दर्शन के सम्बन्ध में आँकड़ों का संकलन करें।
(8) छात्रों का परीक्षण करें तथा सन्दर्शन की व्यवस्था करें।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. सन्दर्शन की परिभाषा दीजिये तथा माध्यमिक विद्यालयों में सन्दर्शन की आवश्यकता पर प्रकाश डालिये।
2. सभी आवश्यक बातों को ध्यान में रखते हुए आप अपने विद्यालय की सन्दर्शन-सेवाओं को किस प्रकार आयोजित करेंगे?
3. शैक्षिक सन्दर्शन के उद्देश्यों पर प्रकाश डालिये तथा उसके विभिन्न पदों को स्पष्ट कीजिए।
4. एक सन्दर्शक के लिए किन-किन गुणों की आवश्यकता है और क्यों?
5. वर्तमान परिस्थितियों में अपने विद्यालयों में सन्दर्शन की कितनी व्यवस्था सम्भव है और किस प्रकार हो सकती है?

43

मानसिक स्वास्थ्य
(MENTAL HEALTH)

मनोविज्ञान और मानसिक स्वास्थ्य

बीसवीं शताब्दी में शिक्षा मनोविज्ञान के निम्नलिखित दो क्षेत्रों ने सबसे अधिक उन्नति की है—

(1) बुद्धि परीक्षाएँ, और (2) मानसिक स्वास्थ्य।

ये दोनों क्षेत्र ही मनोविज्ञान के सबसे अधिक उर्वर क्षेत्र हैं। इस दिशा में मनोविज्ञान की प्रगति का सबसे अधिक लाभ शिक्षा को हुआ है। मनोवैज्ञानिक और शिक्षक के पूर्ण सहयोग से कार्य करने के क्षेत्र भी यही हैं।

कुछ वर्षों से अध्यापकों के प्रशिक्षण में मानसिक स्वास्थ्य की शिक्षा को प्रशिक्षण का एक आवश्यक अंग समझा जाने लगा है। प्रत्येक आधुनिक शिक्षक से यह आशा की जाती है कि वह मानसिक स्वास्थ्य के मूल सिद्धान्त को भली-भाँति समझे और उन्हें व्यवहार में लाए। अपने दैनिक कार्य में अध्यापक के समक्ष अपराधी बालकों की समस्या अनेक रूपों में उपस्थित होती है। पाठशाला में प्रायः पुस्तक चुराने, लड़ने-झगड़ने एवं मारने-पीटने की घटनाएँ होती रहती हैं। कुछ बालक अध्यापकों अथवा अपने से बड़ों का अनादर करते हैं। अपने साथियों के साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार करते हैं। काम-सन्तुष्टि के लिए विपरीत लिंगीय या समलिंगीय चेष्टाएँ करते हैं अथवा गंदे हँसी-मजाक और अश्लील वार्तालाप करने में अपना समय तो नष्ट करते ही हैं साथ ही दूसरे के कार्य में भी बाधा उपस्थित करते हैं। बालक-बालिकाओं में इस प्रकार का व्यवहार कुसमायोजन का परिणाम है जोकि उनकी घोर मानसिक स्वास्थ्यहीनता का द्योतक है।

मनोस्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएँ

बालक-बालिकाएँ अपराधी क्यों बनते हैं? उनके समायोजन में क्या-क्या कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं? कौन-सी परिस्थितियाँ मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक हैं? उनके अध्ययन में अरुचि अथवा पिछड़ने (Retardation) के क्या कारण हो सकते हैं? उनकी कौन-सी आवश्यकताओं की पूर्ति होना आवश्यक है? वे अभिभावक और शिक्षक से कैसे व्यवहार की आशा रखते हैं? इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर प्रत्येक अध्यापक के पास होना अनिवार्य है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या अध्यापक छात्र-छात्राओं को मंद बुद्धि, अपराधी, मानसिक रोगी अथवा उनके

व्यक्तित्व को क्षीण होने से बचा सकता है ? अध्यापक से शारीरिक अथवा मानसिक चिकित्सक बनने की आशा रखना व्यर्थ है, परन्तु वास्तव में अध्यापक ही वह प्रथम व्यक्ति है जो इन विकारों के लक्षणों को तुरन्त पहचान कर इन विकारों की वृद्धि में आवश्यक रोकथाम कर सकता है। वह बालक का पूर्ण पतन होने से पहले ही उसकी चिकित्सा, सुधार, पुनर्शिक्षा (Re-education) अथवा पुनर्व्यवस्थापन का प्रबन्ध कर सकता है। वह कम से कम पाठशाला में ऐसे वातावरण का निर्माण तो कर ही सकता है, जिसमें बालक को अपने व्यक्तित्व का उचित समायोजन एवं सुधार करने का अवसर मिले।

आधुनिक मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि मानसिक स्वास्थ्य भी आस-पास की परिस्थितियों और उनके साथ अनुकूलन का परिणाम होता है।

मानसिक स्वास्थ्य : अर्थ एवं परिभाषा

मानसिक स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करने का स्थान केवल मानसिक चिकित्सालय ही नहीं है बल्कि परिवार, विद्यालय और समाज में रहकर भी मानसिक स्वास्थ्य लाभ प्राप्त किया जा सकता है। क्लिफोर्ड बीयर्स की पुस्तक—*'A Mind That Found Itself'* इस बात का प्रमाण है कि व्यक्ति चिकित्सालय के द्वार खटखटाने की अपेक्षा स्वयं अपनी मानसिक समस्याओं और कठिनाइयों को समझ कर अधिक मानसिक स्वास्थ्य लाभ प्राप्त कर सकता है। मानसिक संघर्ष, तनाव, चिन्ताओं और निराशाओं को मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझा जा सकता है और *मानसिक कठिनाइयों को गम्भीर रूप धारण करने से बचाया जा सकता है। अतएव मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान एक कल्याणकारी सुख उत्पन्न करने वाला* विज्ञान है।

क्रो तथा क्रो के शब्दों में—"मानसिक स्वास्थ्य वह विज्ञान है जो मानव का कल्याण करता है और मानव सम्बन्धों के सभी क्षेत्रों में प्रवेश करता है। इसके तीन मुख्य उद्देश्य हैं—(1) मानसिक स्वास्थ्य द्वारा व्यक्तित्व का विकास और जीवन के अनुभवों से सम्बन्धित मानसिक विकारों की रोकथाम करना, (2) व्यक्ति और समूह के मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा करना, (3) मानसिक रोगों का उपचार करने के लिए उपचार की नवीन विधियों की खोज करना तथा प्रयोग करना।"[1]

स्किनर के अनुसार—"मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान में अधिक स्वस्थ मानव सम्बन्धों का विकास महत्वपूर्ण है।"[2]

ड्रेवर के अनुसार—"मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान में मानसिक स्वास्थ्य के

---

1 "Mental hygiene is a science that deals with human welfare and pervades all fields of human relationship. Its three major purposes are—(1) The prevention of mental disorders through understanding of the relationship that exist between wholesome personality development and life experiences. (2) The prevention of the mental health of the individual and of the group and (3) the discovery and utilization of therapeutic measures to cure mental illness."
—Crow and Crow : *Mental Hygiene* p. 4

2 "Mental hygiene has to do primarily with the development of more wholesome human relationships."
—Skinner p. K

नियमों की खोज करने तथा मानसिक स्वास्थ्य संरक्षण प्रदान करना अति आवश्यक है।"[1]

कुप्पूस्वामी के अनुसार—"मानसिक स्वास्थ्य का अर्थ है—दैनिक जीवन में भावनाओं, इच्छाओं, महत्वाकांक्षाओं और आदर्शों में सन्तुलन रखने की योग्यता। इसका तात्पर्य है—जीवन की वास्तविकताओं का सामना करने और उनको स्वीकार करने की योग्यता।"[2]

वैसे तो मनोविज्ञान में 'सामान्य' और 'असामान्य' व्यवहार को पृथक करने के लिए किसी निश्चित सीमा रेखा का निर्माण नहीं किया जा सकता परन्तु प्रायः प्रौढ़

मानसिक स्वास्थ्य की आवश्यकता

जनसंख्या का लगभग 1/4 भाग, मानसिक दृष्टि से असामान्य कहा जा सकता है। ये लोग या तो स्नायुविक रोगों से पीड़ित रहते हैं अथवा कभी-कभी इनमें मानसिक रोगों के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगते हैं। जिस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य के लिए कुछ परिस्थितियों (उदाहरणार्थ—भोजन, व्यायाम, नींद, शुद्ध वायु आदि) का होना नितान्त आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार मानसिक स्वास्थ्य के लिए भी उपयुक्त परिस्थितियाँ होनी चाहिए। मानव शरीर को केवल दैहिक व्याधियों का मन्दिर नहीं समझना चाहिए। अनेक शारीरिक रोगों का कारण भी मानसिक कठिनाइयाँ होती हैं। इसी प्रकार शारीरिक हीनता से मानसिक विकारों की उत्पत्ति होती है। अतएव पूर्ण स्वास्थ्य के लिए उपयुक्त वातावरण तथा वातावरण के साथ समायोजन होना आवश्यक है।

मनोस्वास्थ्य विज्ञान के उद्देश्य

(1) निराकरण उद्देश्य (Curative Aims)—मनुष्यों को मानसिक रोगों से मुक्त करना।

(2) निरोधात्मक उद्देश्य (Preventive Aims)—मनोरोगों को उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों को दूर करना-नियमित जीवन और उपयुक्त शिक्षा द्वारा समाज के सभी सदस्यों को मानसिक विकारों से दूर रखने का भरसक प्रयत्न किया जाता है।

(3) सुरक्षात्मक उद्देश्य (Preservative Aims)—मनोस्वास्थ्य विज्ञान की खोजें उन परिस्थितियों, नियमों, तथा दशाओं आदि की व्याख्या करती हैं। इनके आधार पर प्रत्येक व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों एवं सिद्धान्तों का प्रचार किया जाता है।

मनोस्वास्थ्य विज्ञान का लक्ष्य

बालक-बालिकाओं को ईर्ष्यालु, विरोधी प्रवृत्ति अथवा झगड़ालू बनने से बचाना है—उनमें पर्याप्त आत्मविश्वास जाग्रत होना चाहिए जिससे कि वे सफलतापूर्वक शिक्षा के प्रगतिपथ पर अग्रसर हो सकें। वे जीवन में असफलताओं अथवा असफलता के

---

1 "Mental hygiene means investigation of the laws of mental health and the taking of measures for its preservation." —Draver, p. 270.

2 "Mental health means the ability to balance feelings, desires, ambitions and ideals in one's daily life. It means the ability to face and accept the realities of life." —Kuppuswami, p, 382.

भय से बच सकें। बालक जिन क्षेत्रों में विकास एवं समायोजन करता है वे क्रमशः घर, पाठशाला और सामाजिक क्षेत्र ही हैं। इन क्षेत्रों में मनोस्वास्थ्य विज्ञान के कार्यकर्ताओं का उद्देश्य मानसिक रोगियों की संख्या कम से कम करना है तथा उन्हें रोगग्रस्त होने से बचाना है। शिक्षा प्रक्रिया का लक्ष्य व्यक्तिगत बालक-बालिकाओं के व्यवहार का सामाजीकरण करके उन्हें समाज में उचित स्थान दिलाना है। शिक्षा द्वारा बालक के जैविक (पशुवत्) व्यवहार को सामाजिक व्यवहार में परिणत किया जाता है। इस दृष्टि से मनोस्वास्थ्य विज्ञान के नियम एवं सिद्धान्त का विशेष महत्व है। किशोर बालक का व्यवहार 'अनेक समायोजनात्मक समस्याएँ' उपस्थित करता है। अतएव एक कुशल अध्यापक में अपने छात्र-छात्राओं की समायोजनात्मक कठिनाइयों को तुरन्त पहचानने और दूर करने की योग्यता होनी आवश्यक है।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मनोरोगों के उत्पन्न होने के कारण ही व्यक्तित्व का विघटन होता है। विषम परिस्थितियों में जहाँ व्यक्ति अनुकूलन करने में असमर्थ रहता है अथवा मानसिक संघर्षों के कारण तनावग्रस्त रहता है तो ऐसी परिस्थितियों में उसका व्यक्तित्व विघटित होने लगता है।

मनोरोगों की व्याख्या करने वाले सिद्धान्त

मनोरोगों एवं मानसिक संघर्षों के सम्बन्ध में कतिपय प्रचलित सिद्धान्त इस प्रकार हैं :—

(1) **व्यक्तित्व के विघटन का सिद्धान्त** (Dissociation or Disintegration of Personality)[1]—फ्रॉयड के समकालीन और सहयोगी जेनट का विश्वास था कि हिस्टीरिया अथवा हिस्टीरिया के समकक्ष अन्य मनोविकार ही व्यक्तित्व के विघटन का परिणाम है। अन्तर्द्वन्द्व या खण्डव्यक्तित्व की दशा में मानसिक निर्बलता उत्पन्न हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप अकारण भय, लज्जा, संकोच एवं विवशताएँ आदि मनोविकार के लक्षण व्यक्ति के व्यवहार में दृष्टिगोचर होने लगते हैं।

(2) **फ्रॉयड का अज्ञातमन या अचेतन मन का सिद्धान्त** (Theory of Freud's Unconscious-mind)[2]—फ्रॉयड मानव व्यवहार के नियन्त्रण में अज्ञातमन को अधिक महत्व देता है। जेनट के समान वह मनोविकारों का कारण व्यक्तित्व में न खोजकर अज्ञात मन की शक्तियों और प्रेरणाओं में खोजता है। वह अज्ञात मन निषिद्ध तथा अन्य काम सम्बन्धी दबी हुई भावनाओं का पुञ्ज है।[3] अज्ञात और ज्ञात मन की शक्तियों में बराबर संघर्ष होता रहता है। फ्रॉयड ने साहचर्यों एवं स्वप्नों की सहायता से अज्ञात मन के संघर्षों, प्रेरणाओं और शक्तियों का उद्घाटन किया था। व्यक्ति का 'ज्ञात मन' उन संघर्षों का क्षेत्र बन जाता है, जोकि पशु प्रवृत्तियों (अज्ञात मन में 'इड') और वातावरण की वास्तविकता के बीच बराबर चलता रहता है।

(3) **वैयक्तिक मनोविज्ञान (Individual Psychology) पर आधारित एडलर का सिद्धान्त**—फ्रॉयड से भिन्न एडलर, 'काम' के स्थान पर आत्मप्रकाशन

---

1 Janet : Mental States in Hysteria 1892; Janet Symptoms of Hysteria, 1907
2 "Freud : S; Psychology of Every Day Life : New York Modern Library 1933."
3 देखिए अध्याय 40, चित्र-सामान्य सन्तुलित व्यक्तित्व ।

(Thwarted Self Assertion) में बाधा पड़ने अथवा आत्मप्रकाशन को दबाए जाने को संघर्ष का कारण मानता है। दबाया हुआ अथवा अप्रकाशित आत्म, मानसिक द्वन्द्व उत्पन्न करता है, जिसके परिणामस्वरूप मनोस्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। एडलर इस दृष्टि से बाल्यकालीन संस्कारों को अधिक महत्व देता है। उसके अनुसार "मनोरोग अथवा कुसमायोजन का मुख्य कारण बाल्यकालीन संस्कार या अनुभवों में निहित रहता है। इसलिए व्यक्ति को किसी मनोरोग से मुक्त कराने के लिए उसके पिछले संस्कार के प्रभावों को दूर करना चाहिए जिसके कारण मनो-रोग के लक्षण उत्पन्न हुए हैं।"

(4) विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान पर आधारित युंग (Jung) का सिद्धान्त—एडलर के समान युंग ने भी फ्रॉयड से पृथक होकर ही अपना स्वतन्त्र मत स्थापित किया है। युंग का कथन है कि "हमारा व्यवहार केवल 'काम' या 'लिबिडो' से प्रेरित नहीं होता। इनके अतिरिक्त जीवन में अनेक आकांक्षाएँ एवं अभिलाषाएं आदि उदित होती रहती हैं। अज्ञात मन केवल अनैतिक अथवा दबी हुई अवांछनीय भावनाओं का संग्रह नहीं है, वरन् इसमें नैतिक एवं धार्मिक विचार, भावनाएँ एवं आस्थाएँ भी स्थान पाती हैं। अज्ञात मन में जातीय संस्कार भरे पड़े हैं। मनोविकारों का कारण बाल्यकालीन भावना ग्रन्थियाँ होती हैं।"

(5) हॉर्नी का सिद्धान्त (Horney's Theory)[1]—हॉर्नी ने मनोविश्लेषण-वादी विचारों में साधारण परिवर्तन करके यह दर्शाया है कि मानसिक संघर्षों अथवा द्वन्द्वों के अनेकों कारण हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं में विद्यमान हैं। हमारी संस्कृति में अनेक ऐसी बातें भी स्थित हैं जोकि एक-दूसरे की विरोधी अथवा विपरीत हैं। इनसे व्यक्ति के मन में संघर्ष उत्पन्न होता है जिसके परिणामस्वरूप भय, चिन्ता, संदेह, अविश्वास एवं घृणा आदि मनोविकार उत्पन्न होते हैं।"

मानसिक स्वास्थ्य पर हानिकारक प्रभाव डालने वाले कारक

(क) इच्छाओं, आवेगों और भावनाओं का दबाया जाना (Repression of Emotions, Impulses and Feelings)—कभी-कभी अनजाने में बालक की भावनाओं का निरादर हो जाता है, जैसे—उसकी हँसी उड़ाकर, आक्षेप लगाकर, व्यंग द्वारा अथवा उदासीनता दिखाकर। इससे उसमें आत्म-हीनता की भावना ग्रन्थि (Inferiority Complex) बन जाती है। आत्महीनता के अन्य कारण भी हो सकते हैं, जैसे—

(1) काम सम्बन्धी अपराध।
(2) शारीरिक कमी या दुर्बलता, अंगहीनता, असुन्दरता।
(3) माता-पिता तथा सम्बन्धियों से अधिक प्यार मिलना।
(4) पाठशाला में बालक पर व्यंग अथवा हँसी-मजाक।
(5) ऊँच-नीच की प्रचलित भावना।

(ख) संवेगों का अनावश्यक भड़कना (Emotional Excitement)—

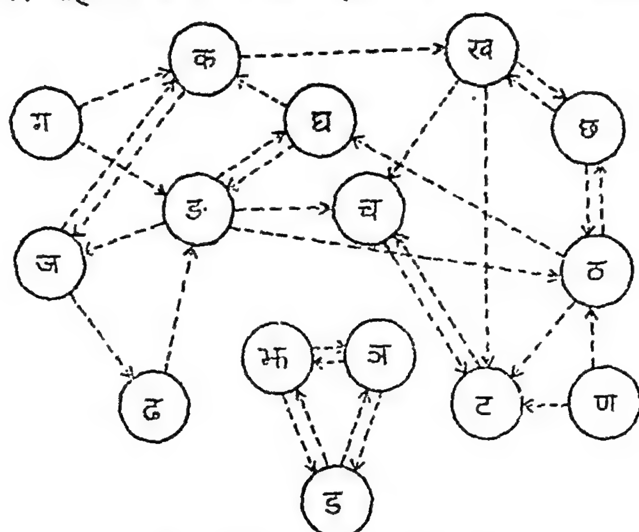
1 Horney K ; the neurotic personality of our time.

(1) प्रौढ़-जन प्रायः बालक को संवेगात्मक धक्के लगाकर अपना मनोरंजन करते रहते हैं। उसे चिढ़ाते अथवा डराते हैं।
(2) माता-पिता की मानसिक निर्बलता, शीघ्र घबड़ाहट अथवा भय और चिन्ता।
(3) मेले, खेल-तमाशे, अधिक देखने से बराबर संवेगात्मक उत्तेजना का बना रहना।

(ग) सामान्यतः घर की दशाएं ठीक नहीं होना (Bad Home Conditions)—
(1) माता-पिता का आपसी मन-मुटाव।
(2) माता-पिता का बालक के प्रति कम स्नेह होना, कठोर व्यवहार करना और दण्ड अधिक देना।
(3) माता-पिता में पृथकता अथवा उनका एक दूसरे से अलग-अलग रहना।
(4) आर्थिक संकटों के कारण परिवार में सुरक्षा की भावना का अभाव एवं चिन्ताओं का बना रहना।
(5) परिवार के अन्य सदस्यों में परस्पर प्रेम, सहानुभूति और अपनेपन का अभाव।
(6) रूढ़िवादी माता-पिता द्वारा बालक का उपहास।
(7) बालक को घर में विशिष्ट मान्यता न मिलना।
(8) घर में बालकों के लिए अधिक काम-धन्धा होना तथा मनोरंजन का अभाव होना।
(9) माता-पिता द्वारा उचित काम प्रशिक्षण (Sex Education) का अभाव।
(10) बालक के प्रति अन्याय अथवा निर्दयतापूर्ण व्यवहार होना।

(घ) पाठशाला का वातावरण (Conditions in School Environment)—
(1) पाठशाला का अनुशासन बनाए रखने में अध्यापक के अधिकार एवं प्रभुत्व को बालक-बालिकाएँ सरलता से स्वीकार नहीं करते। अध्यापक को अपनी शक्ति का प्रयोग करने में विशेष सतर्क रहना चाहिए।
(2) प्रारम्भ में बालक पाठशाला के अनुशासन के प्रति उचित दृष्टिकोण अपनाने में कठिनाई अनुभव करता है।
(3) पाठशाला में बालक को मान्यता मिलना नितांत आवश्यक है।
(4) पाठशाला में सफलतापूर्वक किये गये कार्यों के प्रति प्रोत्साहन का अभाव।
(5) अध्यापक का मानसिक स्वास्थ्य और जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण। अध्यापक को मानसिक तनावों (Tensions) से मुक्त होना चाहिए।
(6) पाठशाला में अपने साथियों के साथ चलने में कठिनाई। उनसे साथ घुलने-मिलने में संकोच अथवा लज्जा अनुभव करना।
(7) भारतीय पाठशालाओं में धर्म, भाषा और जाति वर्ग के प्रति छात्र-छात्राओं का ध्यान आकर्षित हो जाता है। इसी आधार पर छात्र

समूह एवं उपसमूह बनते हैं। अध्यापक को समाजमिति (Sociogram) की सहायता से बालक के सामूहिक जीवन का पता लगाना चाहिए।



चित्र—समाजमिति (Sociogram)

इस चित्र में (ङ) और (ट) अपने सहपाठियों को आकर्षित करने वाले तारे हैं। (ग) और (ण) किसी सहपाठी की ओर आकर्षित न होने वाले एकांकी तारे हैं। (झ), (ञ) और (ड) एक त्रिभुजाकर गुट (Clique) बनाते हैं।

(ङ) बालक-बालिकाओं की मानसिक आवश्यकताएँ (Mental Urges and Drives) पूरी न होना—

(1) **शारीरिक आवश्यकताएँ**—भोजन, वस्त्र, सुरक्षा, क्रियाशीलता एवं नींद आदि की पूर्ति करने का ढंग प्रत्येक बालक अपने सांस्कृतिक वातावरण द्वारा ही सीखता है। वह सामाजिक रीति-रिवाज और परम्पराओं के अनुसार ही उपयुक्त आदतें बना लेता है। यदि आदतों के अनुसार इन आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा उपस्थित होती है तो उसमें मानसिक कठिनाइयाँ भी उपस्थित हो जाती हैं।

(2) **सफलता की आशा**—सफलता मिलने पर बालक को जो अनुभूति होती है उससे जीवन में अधिक उत्साह बना रहता है। इससे मिलने वाला आनन्द जीवन को अतिरिक्त प्रेरणा देता रहता है। अतएव मनोस्वास्थ्य के लिए जीवन में सफलताओं का मिलना भी आवश्यक है।

(3) **श्रेष्ठता की अभिलाषा**—बालपन में प्रारम्भ से ही अच्छे कार्य करने, दूसरों से आगे बढ़ने और अधिक उन्नति दिखाने की इच्छाएँ स्वतः ही उत्पन्न होती हैं। यदि उसे रचनात्मक कार्यों में स्पर्धा करके अपनी श्रेष्ठता दिखाने का अवसर नहीं मिलता तो वह ध्वंसात्मक क्रियाओं में अपनी अभिलाषा को पूर्ण करने का प्रयत्न करता है। वह झूठ बोलता है, धोखा देता है और चोरी भी करता है, आदि, आदि।

(4) **सामाजिक मान्यता और स्वीकृति**—प्रारम्भ से ही बालक-बालिकाएँ दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करते हैं। यदि बालक कक्षा में,

समुदाय में अथवा किसी अन्य सामाजिक संस्था में दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करके 'मान्यता' और 'स्वीकृति' पाने में असफल रहता है तो वह अवांछनीय सामाजिक क्रियाएँ अपनाता है। अतः अध्यापक को प्रशंसा और मान्यता का सिद्धान्त[1] व्यवहार में लाना चाहिए।

(5) सहानुभूति—सहानुभूति के अभाव में बालक अधिक दुखी रहता है। सहानुभूति प्राप्त करने के लिए ही वह काल्पनिक दुःख या बीमारी का बहाना भी बनाता है। प्रत्येक बालक के मन में अपने से छोटे के प्रति सहानुभूति प्रकट करने की इच्छा भी रहती है, जिसके प्रकाशन का भी उसे पर्याप्त अवसर मिलना आवश्यक है।

(6) सुरक्षा की आशा—अरक्षित अवस्था में बालक कुसमायोजन सीखता है। घर में, पाठशाला में, नागरिक जीवन में, व्यवसाय तथा नौकरी आदि परिस्थितियों में जहाँ कहीं भी सुरक्षा का अभाव होता है, वहाँ पर ही समायोजन सम्बन्धी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। कानून, संविधान, न्याय-व्यवस्था, पुलिस और सेना, पेन्शन अथवा प्रॉविडेंट फंड व्यवस्था, बीमा व्यवस्था आदि इसी प्रेरणा का परिणाम है। जीवित रहने के लिए सुरक्षा नितांत आवश्यक है।

(7) साहसिक कार्य की अभिलाषा (Adventure)—बालपन में जिज्ञासा प्रवृत्ति तीव्रता से कार्य करती है। उसके मन में स्वतन्त्रता से खोज करने, घूमने-फिरने, नये स्थान देखने और नवीन वस्तुओं को बनाने की तीव्र इच्छा रहती है। स्वतन्त्र वातावरण में अपनी ही सूझ और योग्यता से किए गए कार्य बालक को असीम आनन्द देते हैं। अतएव हर समय बालक पर माता-पिता अथवा अध्यापक का कठोर नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। उसे स्वतन्त्रता और स्वेच्छा से खेलने अथवा कार्य करने का समय भी दिया जाना चाहिए। यह अभिलाषा पूरी न होने पर बालक घर से भाग निकलता है या ध्वंसात्मक कार्य करता है, अथवा अपराधी हो जाता है।

बालक-बालिकाओं को मानसिक स्वास्थ्य लाभ कराने वाले कारक
(Factors Fostering Mental Health in Children)

ये सभी बातें जोकि बालक को कुसमायोजित (Maladjusted) होने से बचाती हैं, ये मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा करती हैं। बालक-बालिकाओं के मानसिक स्वास्थ्य में वृद्धि करने के लिए उनकी समायोजन क्षमता को विकसित करना अधिक लाभदायक रहता है। संक्षिप्त रूप से मानसिक स्वास्थ्य के लाभ हेतु जिन कारकों पर ध्यान दिया जाना चाहिए, वे इस प्रकार हैं :

(1) परिवार का वातावरण और कार्य—यदि परिवार का वातावरण बालक के समुचित विकास की दशाएँ प्रदान नहीं करता तो उसमें तुरन्त परिवर्तन करना आवश्यक है। अच्छे परिवार में शांति, सहयोग, प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण वातावरण होता है। बालक माता-पिता के विचार और कार्यों का अनुकरण करता है और उन्हीं के अनुकूल अभिवृत्तियाँ ग्रहण करता है। माता-पिता में पूर्ण सामंजस्य, भाई-बहिनों में सहानुभूति और प्रेमपूर्ण सम्बन्ध, पड़ोसियों से मधुर व्यवहार और मैत्री भाव होना आवश्यक है। परिवार का वातावरण प्रेरणादायक ...

---

1 "Principle of Social Praise and Recognition."

अपने आप को सुरक्षित अनुभव करें, उसकी शारीरिक एवं मानसिक आवश्यकताओं की यथासम्भव पूर्ति होती रहना भी आवश्यक है। जो परिवार बच्चों के प्रति अपना उत्तरदायित्व निभाने में असमर्थ रहते हैं उनके बच्चे आवारा, समाज-विरोधी और अपराधी बन जाते हैं।

(2) **सामाजिक वातावरण और सामाजिक संस्थाएँ**—परिवार के समान समाज के भी कुछ उत्तरदायित्व और कर्तव्य होते हैं। समाज के सभी सदस्यों का जीवन सुखी, प्रगतिशील और सम्पन्न बनाने के लिए समाज अनेक संस्थाओं को चलाता है, जैसे—सुरक्षा के लिए पुलिस, न्याय प्राप्ति के लिए न्यायालय, स्वास्थ्य के लिए चिकित्सालय, शैक्षिक विकास के लिए शिक्षण केन्द्र, पुस्तकालय आदि, मनोरंजन के लिए सिनेमाघर, नाटकघर एवं सर्कस आदि। इसी प्रकार एक अच्छे समाज का कार्य आवास, आवागमन, प्रेस, संचार एवं रेडियो सेवाएँ आदि की व्यवस्था करना है। इनके अभाव में समाज के सदस्यों में सुख और शांति की कमी रही है।

(3) **विद्यालय का वातावरण और कार्य**—विद्यालय का उत्तरदायित्व बालक के शैक्षिक विकास के साथ ही उसके मानसिक स्वास्थ्य की देख-भाल करना भी है। यदि विद्यालय का वातावरण दम घोंटने वाला होता है तो छात्र-छात्राओं का मानसिक स्वास्थ्य नष्ट या विघटित हो जाता है। कुछ विद्यालय अन्याय, भय, निराशा और चिन्ताओं में वृद्धि करके छात्रों का मानसिक स्वास्थ्य बिगाड़ देते हैं। प्रत्येक विद्यालय में छात्रों को निर्देश देने की व्यवस्था होनी चाहिए। विद्यालय में जनतन्त्रीय अनुशासन की स्थापना होना आवश्यक है, परन्तु ऐसा प्रबन्ध भी होना चाहिए जिससे कि छात्र स्वशासन में भाग लेकर अपने अन्दर आत्मविश्वास और उत्तरदायित्व की भावना विकसित कर सकें। विद्यालय का पाठ्यक्रम तथा अन्य क्रियाएँ छात्रों की योग्यता के अनुकूल हों। उन्हें अत्यधिक गृह कार्य से लादना भी अनुचित है। विद्यालय में खेल-कूद और मनोरंजन की भी उचित व्यवस्था होनी चाहिए। छात्रों के आत्मविश्वास, रचनात्मक प्रेरणाओं और सामाजिकता के प्रदर्शन के लिए उपयुक्त कार्यक्रम चलते रहें। छात्रों के साथ अध्यापकों का व्यवहार प्रेमपूर्ण हो और शिक्षण-विधियाँ मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित हों।

विद्यालय के दो ध्रुव गुरु और शिष्य हैं। यदि गुरुओं का मानसिक स्वास्थ्य ठीक नहीं है तो शिष्यों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। अतः शिक्षा प्रक्रिया की सफलतापूर्वक वृद्धि करने के लिए अध्यापकों का मानसिक स्वास्थ्य भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अब हम उन कारकों पर विचार करेंगे जो शिक्षकों के मानसिक स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं।

शिक्षक का मानसिक स्वास्थ्य (Teacher's Mental Health)

(1) **धनाभाव और रहन-सहन का निम्न स्तर**—समाज के अन्य वर्गों की अपेक्षा आज का अध्यापक धनाभाव से पीड़ित है। उसके रहन-सहन का स्तर निम्न होने के कारण उसमें हीन भावना की ग्रन्थि का उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

(2) **व्यावसायिक वृद्धि का अभाव (Lack of Professional Growth)**—आज का अध्यापक अपनी व्यावसायिक वृद्धि करने में अनेक कारणों से असमर्थ है। स्कूल से जो समय बचता है, उसमें वह कोई कार्य करके धनाभाव को दूर करने

का प्रयत्न करता है। वह अपनी सीमित शक्ति और योग्यताओं को ही घिसता रहता है।

(3) पदोन्नति में बाधाएँ—निरन्तर एक ही वेतनक्रम में 15-20 वर्ष तक काम करते रहने से उसका उत्साह, लगन और क्षमताएँ कुंठित हो जाती हैं। केवल जोड़-तोड़ के द्वारा ही अध्यापक वेतन वृद्धि प्राप्त करने में सफल हो पाते हैं। इसके लिए विद्यालय प्रशासन में सुधार होना अति आवश्यक है।

(4) असुरक्षा का भय बना रहना—अनेक कारणों से स्थायी अध्यापक भी अपने आपको असुरक्षित ही अनुभव करते हैं। सुरक्षा के लिए उन्हें या तो प्रिंसिपल की शरण में जाना पड़ता है अथवा प्रबन्धकों का वरदहस्त प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहना पड़ता है। अध्यापक की यह दशा बहुत ही दयनीय है।

(5) शक्ति से अधिक कार्य—हमारे विद्यालयों में अध्यापक के ऊपर अधिक कार्यभार लाद दिया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप ही वह वेमन से निम्न स्तर पर ही काम करने का अभ्यस्त हो जाता है। परन्तु उसका मन असन्तुष्ट और विक्षिप्त ही रहता है। उसे एक ही समय में आवश्यकता से अधिक उत्तरदायित्व ग्रहण करने के लिए बाध्य किया जाता है। हमारे विद्यालयों में अधिक काम केवल कागज पर ही होता है और शिक्षा विभाग भी कागजी काम से ही सन्तुष्ट हो जाता है। परन्तु इससे अध्यापक एक प्रकार की ग्लानि से पीड़ित रहता है।

(6) अध्यापक के कार्यों पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध—वह ट्यूशन न करे, परीक्षा न दे, पदोन्नति के लिए आवेदन पत्र न भेजे आदि इसी प्रकार के प्रतिबन्ध हैं जो निराशाजनक परिस्थिति उत्पन्न करते हैं।

(7) हमारा समाज अध्यापक से अधिक आशा रखता है—समाज की कल्पना में वह महान आदर्शवादी, त्यागी, संत अथवा महात्मा होना चाहिए। लेकिन जिन लोगों के मध्य में और जिन परिस्थितियों में उसे कार्य करना है, वे घोर भौतिकतावादी हैं। यह विरोधाभास अध्यापक को खलता रहता है।

(8) पक्षपातपूर्ण व्यवहार का शिकार अध्यापक—जातीयता पर आधारित विद्यालय अथवा प्रबन्ध समितियाँ, प्रशासकों की निरंकुशता और दलगत राजनीति के दाँव-पेचों का शिकार होना, आज की व्यवस्था में अध्यापक का भाग्य है। वह कभी-कभी तो इतना भयभीत कर दिया जाता है कि अपना मुख भी नहीं खोल सकता और उसकी मनोदशा बिगड़ती जाती है। व्यक्तित्व विघटित होने लगता है जिसके परिणामस्वरूप ही वह आत्मसम्मान और आत्मविश्वास भी खो देता है।

अध्यापकों को मानसिक स्वास्थ्य लाभ कराने के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है :

(1) आर्थिक दशा में सुधार। वेतन वृद्धि एवं नियमित वेतन वितरण आदि।
(2) कार्यभार और व्यावसायिक उत्तरदायित्वों की उचित व्यवस्था करना।
(3) उज्ज्वल भविष्य के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ प्रदान करना।
(4) सुरक्षा की भावना के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न करना।
(5) चिकित्सा की समुचित व्यवस्था करना।

(6) समाज में उसे उचित सम्मान उपलब्ध कराने की समुचित व्यवस्था करना।

(7) विद्यालयों में प्रजातान्त्रिक वातावरण एवं न्याय, समानता और स्वतन्त्रता का होना।

(8) परीक्षा, प्रशासन, पाठ्यक्रम निर्धारण और प्रबन्ध कार्यों में अध्यापक की समुचित भागीदारी होना।

(9) योग्यता और अध्यापन कला में निरन्तर वृद्धि होना।

(10) कार्य करने की दशाओं में सुधार।

प्राय: सभी को ही जीवन में मानसिक उलझनों और कठिनाइयों का सामना किसी न किसी समय करना ही पड़ता है। ऐसी दशा में व्यक्ति सामान्य व्यवहार करने में असमर्थ हो जाता है। अतएव उसकी कठिनाइयों के लक्षण व्यवहार में भी स्पष्ट दिखायी देते हैं। अत: बालक-बालिकाओं में इन लक्षणों की दशा गम्भीर होने से पहले ही शिक्षकों एवं अभिभावकों द्वारा इनकी रोकथाम का प्रबन्ध किया जाना आवश्यक है। यदि ये लक्षण अधिक समय तक जीवन में बने रहते हैं तो व्यक्ति सामान्य सामाजिक व्यवहार करने में भी असमर्थ हो जाता है। मानसिक और संवेगात्मक विकारों के लक्षण इस प्रकार हैं :

मनोविकारों की रोकथाम

(क) शारीरिक लक्षण (Physical Symptoms)

(1) बराबर हाथ-पैर चलाना, या पीटना अथवा मलना।

(2) विभिन्न प्रकार की मुखाकृतियाँ बनाना।

(3) हकलाना अथवा तुतलाना आदि बोलने की कठिनाइयाँ।

(4) दाँत से नाखून काटना अथवा चूसना।

(5) उल्टी या कै करना, सिर-दर्द अथवा सुस्त रहना।

(6) गामक असामंजस्य (Motor Incoordination)।

(7) नींद या स्वप्न में बोलना और चलना, करवटें बदलना, प्राय: नींद न आना।

(8) शारीरिक अस्थिरता, शीघ्र आसन बदलना, अंग चालन अथवा अंग फड़कना।

(ख) व्यवहार सम्बन्धी लक्षण (Behaviour Symptoms)

आंतरिक अनुभूति	बाहरी व्यवहार में प्रकाशन
(1) दिवास्वप्न (Day-dreaming)	एकान्तप्रिय, अस्वीकारात्मक, अरुचि, असामाजिक, लापरवाह।
(2) अत्यधिक लैंगिक रुचि (कामुकता)	प्रदर्शनात्मक, प्रदर्शन-प्रभावयुक्त, अश्लील वार्तालाप करना अथवा अश्लील लेख पढ़ना, चिताएँ, चोरी करना,

	ध्वंसात्मक कार्य करना, चिढ़ाना आदि परिवर्तित रूप हैं।
(3) हीनता की भावना (Inferiority Complex)	ईर्ष्या, कुढ़न, अनावश्यक चिंता, दूसरों की भलाई-बुराई करना, शीघ्र अपमानित, आत्महत्या का प्रयत्न, बोलने में कठिनाइयाँ, कभी शर्मीलापन और कभी अधिक बातचीत करना।
(4) अत्यधिक उत्तेजना की इच्छा (Excitement)	आग लगाना, विवशताएं (Compulsions), समय नष्ट करना, चोरी-डकैती अनैतिक कार्य करना।
(5) उपहास, अनादर और आक्रमणों का भय	दूसरों पर आरोप लगाना, बहाने बनाना, घर या पाठशाला से भागना, मुँह छिपाना, सन्देह करना, झूठ बोलना आदि बाहरी लक्षण हैं।

(ग) मानसिक लक्षण (Mental Symptoms)

(1) अफेसिया (Aphasia) समझ और भाषा प्रयोग की कमी।
(2) अमेंशिया (Amentia) स्मृति नष्ट हो जाना।
(3) सम्बन्ध ज्ञान की कमी।
(4) ध्यान का भटकना, विचारों की उड़ान, विचारों के साहचर्य स्थापित न होना।
(5) प्रत्यक्षीकरण में बाधा, भ्रम (Illusion), विभ्रम (Hellucination), और विपर्यय (Illusion) उत्पन्न होना।
(6) अकारण भय (Phobias) उत्पन्न होना।

(घ) संवेगात्मक लक्षण (Emotional Symptoms)

(1) अत्यधिक प्रसन्नता अथवा आनन्द प्रकट करना (नाचकर, गाकर, हँस कर अथवा वार्तालाप द्वारा)।
(2) अत्यधिक दुःख एवं खिन्नता व्यक्त करना—चिल्लाकर, ठण्डी साँसें भरकर, दुःखसूचक शब्दों का प्रयोग करके चिन्ताएं व्यक्त करना)।

मनोविकारों के कारण चाहे स्वभावगत (वंशानुक्रमीय) हों अथवा वातावरण की उत्तेजनाओं का ही परिणाम। प्रौढ़ व्यक्ति के इनके लक्षणों को पहचानने में कुशल होने पर इनकी रोक-थाम अवश्य की जा सकती है। ऐसे बच्चों के कार्यक्रमों में मनोरोगचिकित्सक तुरन्त विशेष सहयोग दे सकते हैं।

मानसिक रोग अनेक कारणों से उत्पन्न होते हैं। इस रोग के लक्षण रोग प्रारम्भ होने के बहुत दिन पूर्व ही प्रकट मनोरोग का निदानात्मक परीक्षण होते हैं। मनोरोगों के सामान्य कारणों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(क) वंशानुक्रम के कारण उत्पन्न मानसिक रोग—कुछ रोग वंशानुक्रम से उत्पन्न होते हैं परन्तु इनके लक्षण बाद में उभरते हैं।

(ख) अनुपयुक्त वातावरण के कारण उत्पन्न रोग—यदि बाल्यकाल से ही बालक को दूषित वातावरण में रहना पड़ता है तो उसमें अनेक संवेगात्मक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। उसका मन अनेक भावना ग्रन्थियों एवं गलत धारणाओं का शिकार बन जाता है।

(ग) संवेगात्मक अनुभवों के कारण उत्पन्न रोग—संवेगात्मक धक्के (Shocks) लगने से मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं, क्योंकि संवेगात्मक कठिनाइयों में मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है।

(घ) शारीरिक दोषों के कारण उत्पन्न रोग—जो बालक शारीरिक रोगों से पीड़ित रहते हैं अथवा जिनका पूर्ण शारीरिक विकास नहीं होता उनमें मानसिक रोग के विकसित होने की सम्भावना में भी वृद्धि हो जाती है।

कुछ मानसिक रोग
(Some Mental Diseases)

(1) मनःस्ताप (Psycho-neurosis)—इस रोग का मुख्य लक्षण संवेगात्मक अस्थिरता है। इसके तीन रूप हैं।

(क) साइकोस्थेनिक्स (Psychosthenic Neurosis)—जैसे काल्पनिक भ्रम से पीड़ित रहना अथवा निराधार बातों पर चिन्ता करते रहना या किसी कार्य को बराबर करना (Compulsion)।

(ख) न्यूरोस्थेनिक (Neurosthenic)—इसका रोगी शारीरिक क्रियाओं द्वारा मानसिक तनाव को व्यक्त करता है। इसमें रोगी को नींद नहीं आती।

(ग) हिस्टीरिया (Hysteria)—इस रोग में दौरे पड़ते हैं। कभी-कभी अन्धापन या बहरापन भी उत्पन्न हो जाता है।

(2) अमनोविकृति व्यवहार (Nonpsychotic Behaviour)—रोगी उग्र प्रतिक्रिया करता है, बड़-बड़ाता रहता है। समाज विरोधी कार्य करता है। व्यवहार में लैंगिक विकृति दिखायी देती है।

(3) मनोविकृति (Psychosis)—यह गम्भीर मानसिक रोग होता है। इस रोग से ग्रस्त रोगी को तुरन्त ही अस्पताल में प्रविष्ट करा देना चाहिए। रोगी यथार्थ के धरातल पर नहीं रहता। उसके मन में अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

परीक्षण के साधन
(Method of Diagnosis)

(1) शारीरिक परीक्षण (Physical Tests)—मानसिक रोग का संदेह होने पर सबसे पहले डॉक्टर के द्वारा बच्चे का पूर्ण शारीरिक परीक्षण किया जाना चाहिए, विशेष कर मस्तिष्क रोग का संदेह होने पर। वैसे भी अनेक मानसिक रोगों का कारण शारीरिक दोष अथवा कमियाँ हो सकती हैं।

(2) साक्षात्कार (Interview)—मनोविज्ञानशाला में मनोचिकित्सक द्वारा साक्षात्कार किया जाना चाहिए। साक्षात्कार से रोगी के बारे में अनेक उपयोगी सूचनाएँ प्राप्त होती हैं, जो आगे उपचार के समय ध्यान में रखी जाती हैं।

(3) व्यक्तिगत इतिहास (Case History)—जिस प्रकार शारीरिक चिकित्सक के लिए रोगी का इतिहास जानना आवश्यक तथा लाभदायक है, उसी प्रकार

मनोचिकित्सक के लिए रोग तथा रोगी के जीवन की पिछली बातें जानना बहुत उपयोगी होता है।

(4) मानसिक परीक्षण (Mental Tests)—मानसिक परीक्षाओं से बौद्धिक स्तर एवं बौद्धिक न्यूनता आदि का ज्ञान हो जाता है।

(5) व्यक्तित्व परीक्षण (Personality Tests)—मनोरोग का वास्तविक परीक्षण व्यक्तित्व परीक्षा से होता है। इसमें प्रक्षेपण विधि पर आधारित व्यक्तित्व परीक्षायें (जैसे रोशा परीक्षा, टी० ए० टी० आदि) और परिसूचियाँ, (जैसे—समायोजन परख) तथा व्यक्तित्व परख (Adjustment Inventory) अधिक उपयोगी सिद्ध होती हैं।

उपचार की विधियाँ
(Method of Treament)

(1) परामर्श चिकित्सा (Consulting)—इस विधि से साधारण समायोजन सम्बन्धी कठिनाइयों, भय तथा चिन्ताओं आदि का उपचार किया जाता है।

(2) खेल चिकित्सा (Play Therapy)—खेल स्वयं शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य लाभ कराता है। व्यवहार सम्बन्धी अनेक समस्याएँ खेल द्वारा भी सुलझ जाती हैं।

(3) संकेत या निर्देश चिकित्सा (Suggestion)—मनोविज्ञानशाला में विशेष वातावरण और सम्पर्क स्थापित करके मनोचिकित्सक द्वारा रोगी को विचार अथवा धारणाओं के प्रदान करने से भी उसे रोगमुक्त कर दिया जाता है।

(4) पुनर्व्यवस्थापन (Readjustment Therapy)—स्थान परिवर्तन अथवा *परिस्थितियों में परिवर्तन करके रोगी को पुनः अपने जीवन को परिस्थितियों के साथ* समझौता करने का अवसर दिया जाता है।

(5) मनोविश्लेषणात्मक चिकित्सा (Psycho-Analysis)—यह विधि मनोरोगियों के परीक्षण और उपचार में प्रयुक्त होती है। स्वप्न-विश्लेषण अथवा स्वतन्त्र-साहचर्य आदि विधियों से भी रोगी की मानसिक कठिनाइयों तथा रोग के उत्पन्न करने वाले कारणों का पता लगाकर उन्हें दूर किया जाता है।

(6) पुनर्शिक्षा चिकित्सा (Re-education)—यह विधि कुसमायोजित बच्चों अथवा किशोरों के लिए अधिक उपयुक्त है। पुनर्शिक्षा द्वारा उनकी समाजविरोधी प्रवृत्तियों की दिशा में परिवर्तन कर दिया जाता है।

(7) मनोरंजन शिक्षा (Recreation Therapy)—अनेक मनोरोग, मनोरंजन के अभाव से उत्पन्न होते हैं, अतएव मनोरंजनपूर्ण कार्यक्रमों से भी मानसिक *स्वास्थ्य प्राप्त हो जाता है।*

(8) मनोअभिनय (Psycho-drama)—यह एक सामूहिक विधि है।

(9) व्यावसायिक चिकित्सा (Occupational Therapy)—यह अपराधी बच्चों के लिए अधिक उपयुक्त है। इसके द्वारा उनकी शक्तियाँ कार्यरत हो है, जिसके फलस्वरूप सामुदायिक रुचियों का विकास होता है।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. मानसिक स्वास्थ्य से आप क्या समझते हैं ? मानसिक स्वास्थ्य के लक्ष्यों का विवेचन कीजिये ।
2. मनोरोगों की व्याख्या करने वाले प्रमुख मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए ।
3. मानसिक स्वास्थ्यहीनता के लक्षण बताइये । आप मनोरोगों का परीक्षण किस प्रकार करेंगे ?
4. अध्यापक के मानसिक स्वास्थ्य का क्या महत्व है ? अध्यापक के मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले कारकों की व्याख्या कीजिये ।
5. मनोविकारों की रोक-थाम और उपचार की विधियों पर प्रकाश डालिये ।

44

मानसिक संघर्ष, तनाव, भग्नाशा और समायोजन
(MENTAL CONFLICT, TENSION, FRUSTRATION AND ADJUSTMENT)

विकास के मार्ग में संघर्ष

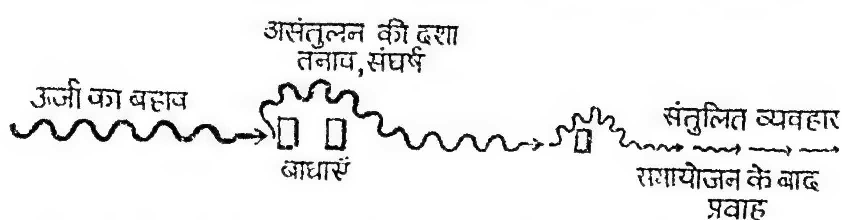
जिस प्रकार एक छोटा पौधा वृक्ष बन जाता है, उसी प्रकार बालक शिशु से किशोर बनता है, किन्तु बालक और एक पौधे की वृद्धि में अन्तर है। शैशवावस्था से प्रौढ़ावस्था तक विकास की प्रक्रिया वृक्ष के समान सरल और सीधी नहीं होती। इसमें अनेक कठिनाइयाँ और बाधाएँ आती हैं, और इन बाधाओं के कारण ही असामान्यताएँ (Abnormalities) उत्पन्न हो जाती हैं। उदाहरणार्थ—एक बीज भूमि में अंकुरित होता है, उसमें से छोटा पौधा उगता है। इस पौधे का जीवन वातावरण की परिस्थितियों पर ही निर्भर करता है। एक दिन अचानक कोई मिट्टी का ढेला अथवा ईंट का टुकड़ा इस पौधे पर ऊपर से गिर जाता है। पौधा सीधा बढ़ता न रहकर टेढ़ा हो जाता है लेकिन उसका जीवन समाप्त नहीं होता। पौधा इस विषम परिस्थिति में भी वृद्धि करता रहता है। एक दिन माली उस मिट्टी के ढेले को हटा देता है; परन्तु पौधे के तने में जो टेढ़ापन आ जाता है (विषम परिस्थिति में जीवित रहकर) वह उसके व्यक्तित्व का स्थायी अंग बन जाता है। जब वह पौधा वृक्ष बनता है तब भी उसका तना अन्य वृक्षों के समान सीधा नहीं होता। बालक उस पौधे के समान केवल शरीर मात्र नहीं है। उसका मानसिक जीवन भी है, जिसमें विषम परिस्थितियों के कारण अनेक ग्रन्थियाँ अथवा कुण्ठाएँ उत्पन्न हो जाती हैं और वे उसके [illegible] मानसिक स्वास्थ्य का स्थायी अंग बन जाती हैं।

छोटे बालकों की खिलौनों में स्वाभाविक रुचि होती है। वह बाजार में खिलौने देखकर मचल जाता है। खिलौना प्राप्त करने के लिए हठ करता, रुदन करता है। माता-पिता से बार-बार उसे प्राप्त करने के लिए कहता है और न मिलने पर रुष्ट हो जाता है। वह उदास और दुःखी हो जाता है। किन्तु धीरे-धीरे इस प्रतिकूल परिस्थिति के साथ समायोजन कर लेता है। वह घर पहुँचकर अपने पुराने खिलौने से खेलने लगता है। इसी को समायोजन कहते हैं। यदि वह [illegible] के समान मन की शान्ति और चित्त की प्रसन्नता प्राप्त करने में असमर्थ रहता है तो वह कुसमायोजित अथवा असमायोजित हो जाता है। कुसमायोजित व्यक्ति सामान्य व्यवहार करने में असमर्थ रहता है।

भोजन मनुष्य की स्वाभाविक आवश्यकता है। स्वादिष्ट भोजन देखकर अथवा उसकी सुगन्ध से भी भूख उत्तेजित हो जाती है। मन में कुछ खाने की इच्छा

आवश्यकता, तनाव, सन्तोष और अनुकूलन

उत्पन्न होती है और जब तक इस इच्छा की सन्तुष्टि नहीं हो जाती है तब तक व्यक्ति बेचैन रहता है। वह मन-पसन्द भोजन प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है और जब तक इस आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती तब तक मानसिक तनाव का अनुभव करता रहता है। अन्त में वह जो कुछ प्राप्त कर पाता है उसी का सेवन करके सन्तोष प्राप्त करता है। इच्छाओं अथवा आवश्यकताओं की पूर्ति न होने पर तनाव उत्पन्न हो जाता है। तनाव की दशा में मानसिक शक्ति का बहाव आगे बढ़ने से रुक जाता है। मानसिक शक्ति बिजली के करेंट के समान है जो बराबर आगे बढ़ती है। गतिरोध अथवा बाधा उत्पन्न होने पर तनाव और विरोध (Resistence) उत्पन्न हो जाता है। संघर्ष के कारण बिजली के तारों में ताप बढ़ जाता है और कभी-कभी तार भी जल जाते हैं। मानव मन में अनेक इच्छाएँ अथवा आवश्यकताएँ उत्पन्न होती रहती हैं और उनको पूरा करने की दिशा में मानसिक ऊर्जा (शक्ति) का प्रवाह होता है। यदि बाधा उत्पन्न होती है तो यह प्रवाह रुक जाता है। व्यक्ति संवेगात्मक तनाव का अनुभव करता है और अधिक समय तक तनाव बना रहने से विक्षिप्त हो जाता है। इसे मनोविज्ञान में भग्नाशा (Frustration) कहते हैं। कोई भी क्रिया या अनुभव जोकि सन्तोषदायक नहीं होता व्यक्ति के मन में असन्तोष, निराशा या विक्षिप्तावस्था अथवा भग्नाशा उत्पन्न करती है। विक्षिप्त मन में बराबर संघर्ष और तनाव बना रहता है। लेकिन जीवन प्रेरणा (Life Urge) इस तनाव और संघर्ष की दशा को समाप्त करके जीवन को बनाये रखने के लिए समायोजन द्वारा मानसिक सन्तुलन, शान्ति और सन्तोष बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील रहती है। इसे मनोविज्ञान में समंजन या समायोजन कहते हैं।[1] जीवन के प्रवाह में परिस्थितियों के साथ अनुकूलन तथा तथा समायोजन द्वारा निरन्तर वृद्धि होती रहती है। यह प्रवाह प्रायः बिजली के तारों के समान गर्म होकर टूटता नहीं, अन्यथा जीवन ही समाप्त हो जाए।

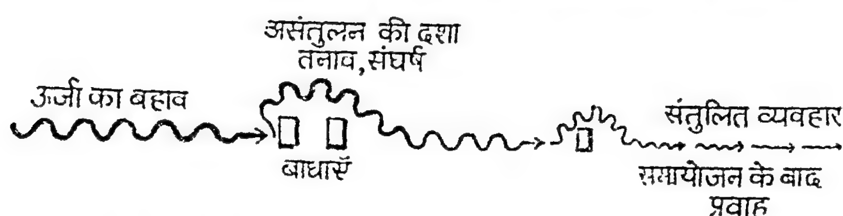


ऊपर के चित्र से स्पष्ट है कि बाधा उत्पन्न होने पर ऊर्जा, तनाव और संघर्ष रत हो जाती है। बाधा को पार करने में भी कुछ शक्ति अवश्य व्यय हो जाती है। बाधा को पार करने के पश्चात् भी ऊर्जा का बहाव पहले की अपेक्षा निर्बल हो जाता है।

1 "Life continues by the process of adjustment."

भोजन मनुष्य की स्वाभाविक आवश्यकता है। स्वादिष्ट भोजन देखकर अथवा उसकी सुगन्ध से भी भूख उत्तेजित हो जाती है। मन में कुछ खाने की इच्छा उत्पन्न होती है और जब तक इस इच्छा की सन्तुष्टि नहीं हो जाती है तब तक व्यक्ति बेचैन रहता है। वह मन-पसन्द भोजन प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है और जब तक इस आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती तब तक मानसिक तनाव का अनुभव करता रहता है। अन्त में वह जो कुछ प्राप्त कर पाता है उसी का सेवन करके सन्तोष प्राप्त करता है। इच्छाओं अथवा आवश्यकताओं की पूर्ति न होने पर तनाव उत्पन्न हो जाता है। तनाव की दशा में मानसिक शक्ति का बहाव आगे बढ़ने से रुक जाता है। मानसिक शक्ति बिजली के करेंट के समान है जो बराबर आगे बढ़ती है। गतिरोध अथवा बाधा उत्पन्न होने पर तनाव और विरोध (Resistence) उत्पन्न हो जाता है। संघर्ष के कारण बिजली के तारों में ताप बढ़ जाता है और कभी-कभी तार भी जल जाते हैं। मानव मन में अनेक इच्छाएँ अथवा आवश्यकताएँ उत्पन्न होती रहती हैं और उनको पूरा करने की दिशा में मानसिक ऊर्जा (शक्ति) का प्रवाह होता है। यदि बाधा उत्पन्न होती है तो यह प्रवाह रुक जाता है। व्यक्ति संवेगात्मक तनाव का अनुभव करता है और अधिक समय तक तनाव बना रहने से विक्षिप्त हो जाता है। इसे मनोविज्ञान में भग्नाशा (Frustration) कहते हैं। कोई भी क्रिया या अनुभव जोकि सन्तोषदायक नहीं होता व्यक्ति के मन में असन्तोष, निराशा या विक्षिप्तावस्था अथवा भग्नाशा उत्पन्न करती है। विक्षिप्त मन में बराबर संघर्ष और तनाव बना रहता है। लेकिन जीवन प्रेरणा ;(Life Urge) इस तनाव और संघर्ष की दशा को समाप्त करके जीवन को बनाये रखने के लिए समायोजन द्वारा मानसिक सन्तुलन, शान्ति और सन्तोष बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील रहती है। इसे मनोविज्ञान में समंजन या समायोजन कहते हैं।[1] जीवन के प्रवाह में परिस्थितियों के साथ अनुकूलन तथा तथा समायोजन द्वारा निरन्तर वृद्धि होती रहती है। यह प्रवाह प्राय: बिजली के तारों के समान गर्म होकर टूटता नहीं, अन्यथा जीवन ही समाप्त हो जाए।

आवश्यकता, तनाव, सन्तोष और अनुकूलन



ऊपर के चित्र से स्पष्ट है कि बाधा उत्पन्न होने पर ऊर्जा, तनाव और संघर्ष रत हो जाती है। बाधा को पार करने में भी कुछ शक्ति अवश्य व्यय हो जाती है। बाधा को पार करने के पश्चात् भी ऊर्जा का बहाव पहले की अपेक्षा निर्बल हो जाता है।

---

1 "Life continues by the process of adjustment."

मनोवैज्ञानिकों ने भग्नाशा, तनाव और समायोजन की परिभाषाएँ एवं अर्थ निम्नांकित प्रकार से स्पष्ट किये हैं :

भग्नाशा (Frustration)

गुड के अनुसार—"भग्नाशा का अर्थ है—किसी इच्छा या आवश्यकता में बाधा पड़ने से उत्पन्न होने वाले संवेगात्मक तनाव।"[1]

तनाव (Tension)

जेम्स ड्रेवर के अनुसार—"तनाव का अर्थ है किसी अत्यधिक संकटपूर्ण (विषैम) परिस्थिति का सामना करने से मानसिक सन्तुलन का नष्ट होना और परिस्थिति की असह्य बातों से छुटकारा पाने के लिए व्यवहार में परिवर्तन करने की तत्परता।"[2]

गेट्स तथा अन्य के अनुसार—"तनाव असन्तुलन की वह दशा है जो शरीरधारी को अपनी उत्तेजित दशा का अन्त करने हेतु कुछ कार्य करने के लिए विवश करती है।"[3]

यह स्पष्ट ही है कि बाधा उत्पन्न होने पर तनाव और आन्तरिक संघर्ष उत्पन्न हो जाता है, जिसे मनोवैज्ञानिक असन्तुलन की दशा (State of Disequilibrium) कहते हैं। यह दशा बहुत कष्टदायक होती है। अतएव प्राणी अथवा व्यक्ति इससे छुटकारा पाने के लिए कुछ नवीन चेष्टाएँ करता है। यदि उसकी नवीन चेष्टाओं के फलस्वरूप उसे असन्तुलन की दशा से मुक्ति मिल जाती है तो हम कहते हैं कि उसने परिस्थितियों से समझौता अथवा समायोजन कर लिया।

समायोजन (Adjustment)

बोरिंग, लैंगफील्ड तथा वेल्ड के अनुसार—"समायोजन वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा प्राणी (अथवा व्यक्ति) अपनी आवश्यकताओं और इन आवश्यकताओं की पूर्ति को प्रभावित करने वाली परिस्थितियों में सन्तुलन बनाये रखता है।[4]

"समायोजन व्यक्ति का वह विलक्षण ढंग है जिसके अनुसार वह जीवन की प्रमुख आवश्यकताओं को देखता है, उनके प्रति प्रतिक्रिया करता है और उन्हें सन्तुष्ट करता है अथवा जीवन की प्रमुख समस्याओं को सुलझाता है।[5]

असमायोजन या कुसमायोजन (Maladjustment)

गेट्स तथा अन्य के अनुसार—"कुसमायोजन व्यक्ति और उसके वातावरण (परिस्थितियों) में असन्तुलन का उल्लेख

---

1 "Frustration means emotional tension resulting from the blocking of a desire or need. —Good p. 240

2 "Tension means a general sense of disturbance of equilibrium and of readiness to alter behaviour to meet some almost distressing factor in the situation. Draver's : *Dictionary* p. 296

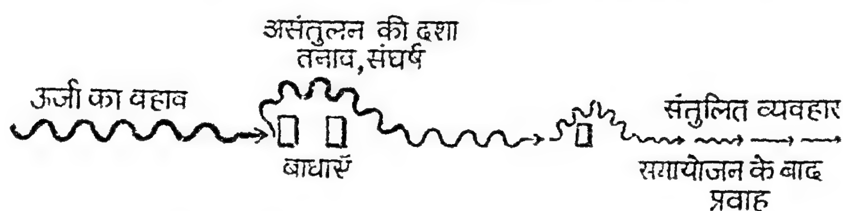
3 "Tension is a state of disequilibrium which disposes the organism to do something to remove the stimulating condition. —Gates and others : p. 301.

4 "Adjustment is the process by which a living organism maintains a balance [illegible] these [illegible] 511.

5 [illegible] he perceives reacts and satisfies the major needs of his [illegible] main problem of his life."—Bhatia : p. 477

भोजन मनुष्य की स्वाभाविक आवश्यकता है। स्वादिष्ट भोजन देखकर अथवा उसकी सुगन्ध से भी भूख उत्तेजित हो जाती है। मन में कुछ खाने की इच्छा उत्पन्न होती है और जब तक इस इच्छा की सन्तुष्टि नहीं हो जाती है तब तक व्यक्ति बेचैन रहता है। वह मन-पसन्द भोजन प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है और जब तक इस आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती तब तक मानसिक तनाव का अनुभव करता रहता है। अन्त में वह जो कुछ प्राप्त कर पाता है उसी का सेवन करके सन्तोष प्राप्त करता है। इच्छाओं अथवा आवश्यकताओं की पूर्ति न होने पर तनाव उत्पन्न हो जाता है। तनाव की दशा में मानसिक शक्ति का बहाव आगे बढ़ने से रुक जाता है। मानसिक शक्ति बिजली के करेंट के समान है जो बराबर आगे बढ़ती है। गतिरोध अथवा बाधा उत्पन्न होने पर तनाव और विरोध (Resistence) उत्पन्न हो जाता है। संघर्ष के कारण बिजली के तारों में ताप बढ़ जाता है और कभी-कभी तार भी जल जाते हैं। मानव मन में अनेक इच्छाएँ अथवा आवश्यकताएँ उत्पन्न होती रहती हैं और उनको पूरा करने की दिशा में मानसिक ऊर्जा (शक्ति) का प्रवाह होता है। यदि बाधा उत्पन्न होती है तो यह प्रवाह रुक जाता है। व्यक्ति संवेगात्मक तनाव का अनुभव करता है और अधिक समय तक तनाव बना रहने से विक्षिप्त हो जाता है। इसे मनोविज्ञान में भग्नाशा (Frustration) कहते हैं। कोई भी क्रिया या अनुभव जोकि सन्तोषदायक नहीं होता व्यक्ति के मन में असन्तोष, निराशा या विक्षिप्तावस्था अथवा भग्नाशा उत्पन्न करती है। विक्षिप्त मन में बराबर संघर्ष और तनाव बना रहता है। लेकिन जीवन प्रेरणा ;(Life Urge) इस तनाव और संघर्ष की दशा को समाप्त करके जीवन को बनाये रखने के लिए समायोजन द्वारा मानसिक सन्तुलन, शान्ति और सन्तोष बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील रहती है। इसे मनोविज्ञान में समंजन या समायोजन कहते हैं।[1] जीवन के प्रवाह में परिस्थितियों के साथ अनुकूलन तथा तथा समायोजन द्वारा निरन्तर वृद्धि होती रहती है। यह प्रवाह प्रायः बिजली के तारों के समान गर्म होकर टूटता नहीं, अन्यथा जीवन ही समाप्त हो जाए।

आवश्यकता, तनाव, सन्तोष और अनुकूलन



ऊपर के चित्र से स्पष्ट है कि बाधा उत्पन्न होने पर ऊर्जा, तनाव और संघर्ष रत हो जाती है। बाधा को पार करने में भी कुछ शक्ति अवश्य व्यय हो जाती है। बाधा को पार करने के पश्चात् भी ऊर्जा का बहाव पहले की अपेक्षा निर्बल हो जाता है।

---

1 "Life continues by the process of adjustment."

मनोवैज्ञानिकों ने भग्नाशा, तनाव और समायोजन की परिभाषाएँ एवं अर्थ निम्नांकित प्रकार से स्पष्ट किये हैं :

भग्नाशा (Frustration)

गुड के अनुसार—"भग्नाशा का अर्थ है—किसी इच्छा या आवश्यकता में बाधा पड़ने से उत्पन्न होने वाले संवेगात्मक तनाव।"[1]

तनाव (Tension)

जेम्स ड्रेवर के अनुसार—"तनाव का अर्थ है किसी अत्यधिक संकटपूर्ण (विषम) परिस्थिति का सामना करने से मानसिक सन्तुलन का नष्ट होना और परिस्थिति की असह्य बातों से छुटकारा पाने के लिए व्यवहार में परिवर्तन करने की तत्परता।"[2]

गेट्स तथा अन्य के अनुसार—"तनाव असन्तुलन की वह दशा है जो शरीर-धारी को अपनी उत्तेजित दशा का अन्त करने हेतु कुछ कार्य करने के लिए विवश करती है।"[3]

यह स्पष्ट ही है कि बाधा उत्पन्न होने पर तनाव और आन्तरिक संघर्ष उत्पन्न हो जाता है, जिसे मनोवैज्ञानिक असन्तुलन की दशा (State of Disequilibrium) कहते हैं। यह दशा बहुत कष्टदायक होती है। अतएव प्राणी अथवा व्यक्ति इससे छुटकारा पाने के लिए कुछ नवीन चेष्टाएँ करता है। यदि उसकी नवीन चेष्टाओं के फलस्वरूप उसे असन्तुलन की दशा से मुक्ति मिल जाती है तो हम कहते हैं कि उसने परिस्थितियों से समझौता अथवा समायोजन कर लिया।

समायोजन (Adjustment)

बोरिंग, लैंगफील्ड तथा वैल्ड के अनुसार—"समायोजन वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा प्राणी (अथवा व्यक्ति) अपनी आवश्यकताओं और इन आवश्यकताओं की पूर्ति को प्रभावित करने वाली परिस्थितियों में सन्तुलन बनाये रखता है।[4]

"समायोजन व्यक्ति का वह विलक्षण ढंग है जिसके अनुसार वह जीवन की प्रमुख आवश्यकताओं को देखता है, उनके प्रति प्रतिक्रिया करता है और उन्हें सन्तुष्ट करता है अथवा जीवन की प्रमुख समस्याओं को सुलझाता है।[5]

असमायोजन या कुसमायोजन (Maladjustment)

गेट्स तथा अन्य के अनुसार—"कुसमायोजन व्यक्ति और उसके वातावरण (परिस्थितियों) में असन्तुलन का उल्लेख

---

1 "*Frustration means* emotional tension resulting from the blocking of a desire or need. —Good p 240

2 "*Tension means a* general sense of disturbance of equilibrium and of readiness to alter behaviour to meet some almost distressing factor in the situation. Draver's *Dictionary* p 296

3 "Tension is a state of disequilibrium which disposes the organism to do something to remove the stimulating condition —Gates and others, p. 301.

4 "Adjustment is the process by which a living organism maintains a balance between the needs and circumstances that influence the Satisfaction of these needs." —Boring, Lang field and Weld p 511

5 "Adjustment of a person may be defined as the characteristic in which he perceives reacts and satisfies the major needs of his life or solves the main problem of his life."—Bhatia p 477

करता है।"[1]

हमारा मानसिक जगत परस्पर विरोधी भावनाओं, इच्छाओं और कामनाओं का एक वृहत् संग्रहालय है। जिन्हें मनोवैज्ञानिक प्रेरणा के नाम से भी सम्बोन्धित करते हैं। अनेक दबी हुई इच्छाओं अथवा कामनाओं का निवास अज्ञात मन में होता है। यहां से अज्ञात मन की प्रेरणाएँ ज्ञात मन में आने का और अपने आपको सन्तुष्ट करने का बराबर प्रयत्न करती हैं। एक ही समय पर परस्पर विरोधी प्रेरणाओं, प्रवृत्तियों, आवेग अथवा इच्छाओं के विद्यमान रहने से भी मानसिक तनाव उत्पन्न हो जाता है। तनाव की इस आन्तरिक दशा को मानसिक संघर्ष कहते हैं। संघर्ष की दशा में समुचित निर्णय करने में भी कठिना होती है। व्यक्ति बेचैन रहता है और शक्ति का अनावश्यक व्यय होता है।

मानसिक द्वन्द्व या संघर्ष (Mental Conflict)

जीवन में भग्नाशाओं का महत्व (Importance of Frustration in Life)

भग्नाशा से उत्तेजित होकर मनुष्य बहुत कुछ करता है और अनेक बातें सीखता है। इसलिए भग्नाशा सदैव अवांच्छनीय नहीं होती। साइमंड्स (Symonds) के अनुसार 'केवल भग्नाशा के कारण ही बालक बाहरी संसार का अन्वेषण करता है और ज्ञान प्राप्त करता है।"[2] अंग्रेजी की एक कहावत भी है—कठिनाइयाँ ही जीवन की कसौटी है।[3] कठिनाइयों और बाधाओं को पार करके सीखना ही सच्ची शिक्षा है। परन्तु बालक के जीवन में आने वाली कठिनाइयाँ यदि उसकी शक्तियों की तुलना में अधिक विशाल होती हैं तो वह उन्हें पार नहीं सकता है और निराश हो जाता है अतः साइमंड्स के शब्दों में—"बालकों के समक्ष ऐसी कठिनाइयाँ उत्पन्न होना अच्छा है, जिनके कारण इनका प्रयास अपेक्षित हो परन्तु वे इतनी अधिक कठिन भी नहीं हों कि बालक हतोत्साहित हो जाएँ।"

संघर्ष (Conflict)

मानसिक संघर्ष विचारों के द्वन्द्व के कारण उत्पन्न होता है। यह द्वन्द्व उस समय उत्पन्न होता है जब व्यक्ति अपनी आन्तरिक इच्छाओं और आवेगों का समन्वय जीवन की वास्तविकताओं से करने में असमर्थ रहता है। मानसिक संघर्ष उत्पन्न होने के बारे में अनेक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त प्रचलित हैं, जिनकी व्याख्या अन्यत्र की जा चुकी है। अतः अब संघर्ष का अर्थ अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ परिभाषाएँ दी जाती हैं—

क्रो तथा क्रो अनुसार—"संघर्ष उस समय उत्पन्न होता है, जब व्यक्ति को

---

1 "Maladjustment refers to a disharmony between the person and his environment.
—Gates and others : p. 616.

2 भूतपूर्व प्रधानमन्त्री स्व० लाल बहादुर शास्त्री का जीवन इसका उदाहरण है। जीवन में निराशाजनक और कठिन परिस्थितियों को पार करके ही उन्होंने अपने जीवन में महानता प्राप्त की थी।

3 "Adversity is the touch stone of life."

अपने वातावरण में ऐसी विरोधी शक्तियों का सामना करना पड़ता है जो उसके निजी हितों एवं इच्छाओं के विपरीत कार्य करती हैं।"

रौस के अनुसार—संघर्ष आत्म सम्मान का स्थायी भाव (Master Sentiment) तथा अन्य स्थायी भावों के बीच विरोध उत्पन्न होने पर मानसिक संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है।

* डगलस तथा हॉलैण्ड के अनुसार—"संघर्ष एक कष्टदायक संवेगात्मक दशा है जोकि परस्पर विरोधी इच्छाओं से उत्पन्न तनावों के कारण उत्पन्न होती है।"[1]

समायोजन की प्रक्रिया (The Process of Adjustment)

अब हम प्राणी (व्यक्ति) के उन कार्यों अथवा प्रयत्नों पर विचार करेंगे जो वह विषम परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिए अथवा उत्तेजित दशा का अंत करने के लिए करता है, जिससे कि उसका मानसिक संतुलन ठीक बना रहे। इसे समायोजन अथवा अनुकूलन की प्रक्रिया कहते हैं। इस प्रक्रिया का संक्षिप्त वर्णन व्यक्तित्व विकास के अन्तर्गत किया जा चुका है। मूल प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में भी इसकी चर्चा अप्रत्यक्ष रूप से की जा चुकी है।

तनाव कम करने के लिए व्यक्ति जिन क्रियाओं को अपनाते हैं, उनके प्रमुख रूपों का वर्णन निम्नांकित है। मनोविज्ञान में इनका वर्णन समंजन यंत्र-विन्यास (Me Chanisms of Adjustment) के नाम से किया जाता है।

(1) **तादात्म्य या आत्मीकरण (Identification)**—इस विधि में व्यक्ति स्वयं अपने आपका किसी अन्य व्यक्ति, महापुरुष, नेता, कलाकार, गुरुजन अथवा माता-पिता से तादात्म्य स्थापित करके तनाव या संघर्ष से छुटकारा प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ—अपाहिज अथवा बीमार माता-पिता की सेवा करते समय वह अपने आपको श्रवणकुमार के स्थान पर रखकर सेवारत हो जाता है और परेशानियों को धैर्यपूर्वक ग्रहण करता है।

(2) **शोधन या प्रतिस्थापन (Sublimation)**—प्रवृत्तिजन्य प्रेरणाओं तथा आवेगों को संतुलित करने के लिए शोधन सर्वोत्तम उपाय है। शोधन में प्रवृत्ति की शक्ति के मार्ग को परिवर्तित कर दिया जाता है और उसे किसी आदर्श या कल्याणकारी कार्य में लगा दिया जाता है। उदाहरण के लिए काम प्रेरणाओं को साहित्य अथवा कला में रुचि लेकर संतुष्ट किया जा सकता है।

(3) **प्रतिगमन या प्रत्यावर्तन 'Regression)**—प्रत्यागमन में व्यक्ति बाधा के उपस्थित होने पर अथवा तनाव की दशा में अपने आयु स्तर से नीचे के स्तर का व्यवहार करने लगता है। जैसे—बालक शिशु के समान व्यवहार करने लगता है। आवश्यकता की पूर्ति नहीं होने पर शिशु के समान बिलखने लगता है और भूमि पर लेट जाता है। कठिन परिस्थितियों में सुसंस्कृत व्यक्ति भी विक्षिप्त होकर सभ्यता के स्तर से निम्न स्तर का आचरण करने लगता है।

1 Conflict means a painful emotional state, which results from a tensio- ween opposed and contradictory wishes" —Dougles and Holland

(4) पृथक्करण (Withdrawl)—इस विधि में व्यक्ति तनाव उत्पन्न करने वाली परिस्थिति से मुँह मोड़ लेता है। विद्यालय के मध्यान्तर में जब बालक दौड़-भाग के खेल खेलते हैं, उस समय यदि कोई बालक बार-बार खेल में पिछड़ता है तो वह खेल से पृथक् हो जाता है। और वह खेल के अतिरिक्त किसी अन्य कार्य में अपना समय व्यतीत करता है।

(5) दिवास्वप्न देखना (Day Dreaming)—अपनी असफलताओं और अभावों की पूर्ति करने के लिए बालक और किशोर प्रायः दिवास्वप्न देखने लगते हैं। दिवास्वप्न देखना शेखचिल्ली की कथा के समान है। यदि विद्यालय में कोई बालक विक्षिप्त हो जाता है तो वह एकान्त में बैठकर कल्पना की उड़ान के सहारे काल्पनिक जगत में विचरण करता रहता है।

(6) दमन (Repression)—कभी-कभी हमारे मन में ऐसे आवेग अथवा इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं जोकि अनैतिक अथवा सामाजिक दृष्टि से अवांछनीय होती हैं। उन्हें हम स्वयं पाप या बुरी बात समझकर दबा देते हैं। ये दबी हुई इच्छाएँ हमारे मन के किसी कोने में प्रसुप्तावस्था में पड़ी रहती हैं। कभी-कभी बहुत-सी इच्छाएँ असमर्थता के कारण भी दबानी पड़ती हैं।

(7) क्षति-पूर्ति (Compensation)—इस विधि से व्यक्ति अपनी कमियों, अभावों अथवा असफलताओं के कारण अनुभव होने वाली क्षति की पूर्ति करता है। उदाहरणार्थ—जो बालक पढ़ाई में पिछड़ता है वह खेल-कूद एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम आदि में सफलता प्राप्त करके संतोष का अनुभव करता है।

(8) औचित्य स्थापन (Rationalization)—भीड़ के कारण सिनेमा टिकट न मिलने पर, नौकरी अथवा पदोन्नति न मिलने पर, परीक्षा में असफल होने पर, वास्तविक कारण को स्वीकार न करके वह उसका औचित्य तर्क द्वारा प्रस्तुत करता है। जैसे "अच्छा हुआ असफल हो गए। तृतीय श्रेणी में पास भी हो जाते तो क्या लाभ होता।" कभी-कभी औचित्य स्थापन में वह अपनी गलतियों या विफलताओं का कारण दूसरों में खोजता है। जैसे—"मुझे पदोन्नति कैसे मिल सकती थी ? वहाँ तो जात-बिरादरी का मामला था। मैंने तो कभी भी साहब की चापलूसी नहीं की जो उनकी दिन-रात खुशामद करते थे उन्हीं की पदोन्नति हुई है, आदि।

(9) निषेधवृत्ति (Negativism)—इस वृत्ति को अपना कर व्यक्ति जिद्दी या विद्रोही बन जाता है। जैसा करने के लिए उससे कहा जाता है वह उसके विपरीत ही करता है।

(10) प्रक्षेपण (Projection)—प्रक्षेपण और औचित्य स्थापन में बहुत साधारण अन्तर है। प्रक्षेपण में व्यक्ति अपने दोष दूसरों पर आरोपित करता है। अपनी असफलताओं के लिए दूसरों को दोषी ठहराता है। एक पुरानी कहावत है—**नाच न आवे आँगन टेढ़ा।**

समायोजन करने में बालक की सहायता

(1) प्रेमपूर्ण व्यवहार (Affectionate Behaviour)—अध्यापक अथवा माता-पिता द्वारा प्रेमपूर्ण ढंग से बालक की कठिनाइयों को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार से बालक

को बाधाएँ पार करने में सहायता मिलती है। इसके विपरीत डाँट-फटकार, हँसी-मजाक अथवा व्यंग करने से उसकी कठिनाइयों में और अधिक वृद्धि हो जाती है।

(2) स्वाभाविक अनुशासन (Discipline)—कठोर अनुशासन से दमन की मात्रा में वृद्धि हो जाती है जिसके द्वारा तनाव और संवेगात्मक संघर्ष उत्पन्न होते हैं। अनुशासन स्थापित करके जहाँ दंड अथवा भय से काम लिया जाता है वहाँ भी मानसिक स्वास्थ्य नष्ट होने की सम्भावना में वृद्धि हो जाती है।

(3) संतुलित कार्यक्रम (Balanced Programme)—घर अथवा विद्यालय में, पढ़ाई-लिखाई या खेल-कूद, गृह कार्य अथवा मनोरंजन मे सब कार्यक्रम सतुलित होने चाहिए। कभी ढिलाई और कभी सख्ती करने से मानसिक द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं।

(4) यौन शिक्षा (Sex Education)—रौस के अनुसार किशोरावस्था मे अधिकांश मानसिक तनावों अथवा संघर्षों का कारण काम प्रवृत्ति होती है, अतः यौन शिक्षा नितांत आवश्यक है। किशोर तथा किशोरियो को बुरी आदतों या गलत धारणाओं से बचाने के लिए यौन शिक्षा घर पर अथवा विद्यालय में अवश्य दी जानी चाहिए।

(5) शैक्षिक और व्यक्तिगत निर्देशन (Personal and Educational Guidance)—छात्र-छात्राओं को अनेक व्यक्तिगत तथा शैक्षिक समस्याएँ रहती हैं जिनका समाधान वे अपने से अधिक योग्य तथा अनुभवी व्यक्ति के द्वारा करना चाहते हैं। परामर्श सेवाएँ अथवा निर्देशन अधिकारी इस आवश्यकता की पूर्ति कर सकता है।

(6) खेल तथा मनोरंजन (Play and Recreation)—खेल तथा मनोरंजन से शरीर और मन का शोधन (Purification) होता है और व्यक्ति स्वस्थ बनता है।

(7) रचनात्मक कार्यक्रम (Constructive Programme)—घर तथा विद्यालय में बच्चों के समक्ष रचनात्मक कार्यक्रम रहना चाहिए ताकि उनकी शक्तियाँ उपयोगी कार्यों में लगी रहें। अन्यथा ये शक्तियाँ अनुपयोगी कार्यों में लग जाती हैं। कहावत भी है—खाली मन शैतान का घर।

(8) रुचियों का विकास (Development of Interests)—स्वस्थ व्यक्ति अपने समय का सदुपयोग करता है। समय का सदुपयोग करने के लिए उसकी रुचियाँ तथा अभिरुचियाँ विकसित होनी चाहिए।

(9) अपने आप को समझना (Understanding One self)—उचित समायोजन वही व्यक्ति कर सकता है जो अपनी शक्तियों, योग्यताओं एवं आवश्यकताओं को ठीक प्रकार से समझता है। जो इन्हें समझने में त्रुटि करता है उसे समायोजन में भी कठिनाइयाँ प्राप्त होती हैं। किशोर स्वयं नहीं समझ पाता कि उसकी आवश्यकताएँ क्या हैं ? उससे क्या अपेक्षित है ? इसलिए उसके समक्ष समायोजन में कठिनाइयाँ प्रकट होती हैं।

(10) वास्तविकताओं को पहचानना (Knowing Realities of Life)—जो व्यक्ति जीवन की वास्तविकताओं को ध्यान में रखकर व्यवहार करता है उसे दूसरों के साथ चलने में कठिनाई नहीं आती। जो कोरे आदर्शों की दुनिया में

करते हैं अथवा काल्पनिक जगत में विचरण करते रहते हैं उन्हें अनुकूलन में बहुत कठिनाई होती है।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. मानसिक संघर्ष से आप क्या समझते हैं? किन परिस्थितियों में मानसिक संघर्ष प्रारम्भ होता है?
2. तनाव किसे कहते हैं? तनाव का बालक के मानसिक स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है? तनाव दूर करने के क्या उपाय हैं?
3. समायोजन तथा कुसमायोजन की व्याख्या कीजिये। समायोजन की यान्त्रिकता से आप क्या समझते हैं?

45

विशिष्ट बालक-बालिकाएँ—1

पिछड़े हुए तथा मंद बुद्धि बालक
(Backward and Retarted Children)
विशिष्ट बालक किसे कहते हैं ?
(Who is an Exceptional Child ?)

कक्षा के वे बालक जो अपनी विलक्षणताओं, योग्यताओं और व्यवहार की दृष्टि से कक्षा के औसत अथवा सामान्य बालक से अधिक भिन्न होते हैं, वे बालक या तो अधिक प्रतिभाशाली होते हैं अथवा मंद बुद्धि । कुछ बालक शारीरिक अभावों के कारण भी सामान्य बालकों से भिन्न दृष्टिगोचर होते हैं । इन्हीं को विशिष्ट बालक कहते हैं । इन्हें हम चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :

(1) मंद बुद्धि बालक (Mentally Retarted Children)
(2) पिछड़े हुए बालक (Backward Children)
(3) समस्यात्मक अथवा अपराधी बालक (Problem Children or Delinquents)
(4) प्रतिभाशाली बालक (Gifted Children)

वैसे ये सभी बालक समस्यात्मक बालकों की श्रेणी में भी आते हैं, क्योंकि इनके कारण अध्यापकों को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है । ये अपने विशिष्ट व्यवहार के कारण अनेकों और नित नवीन समस्याएँ प्रस्तुत करते रहते हैं । इस अध्याय में पिछड़े हुए तथा मंद बुद्धि बालकों पर विचार किया जाएगा ।

पिछड़े हुए या मंद बुद्धि बालक

स्कूली जनसंख्या में दो प्रकार के भेद दृष्टिगोचर होते हैं

(1) व्यक्तियों में परस्पर भेद (Inter-individual Differences)
(2) एक ही व्यक्ति में समय-समय पर दृष्टिगोचर होने वाले भेद (Intra-individual Differnces)

मुख्य रूप से व्यक्तिगत भेदों के तीन कारण होते हैं—

(क) शारीरिक भेद अथवा शारीरिक अभाव ।
(ख) स्वभावगत् अन्तर ।
(ग) सामाजिक स्तर में अन्तर ।

इन भेदों के कारण ही अनेक बालक-बालिकाएँ कक्षा के साथ-साथ चलने में असमर्थ प्रतीत होते हैं क्योंकि ये किसी न किसी न्यूनता से ग्रस्त रहते हैं। अभावों, दोषों अथवा न्यूनताओं के कारण ही इनकी शैक्षिक प्रगति या तो धीमी रहती है अथवा रुक जाती है।

न्यूनताग्रस्त बालकों के प्रकार

प्रकार	लक्षण
(i) मानसिक न्यूनता से ग्रस्त बालक	इनकी अनेक श्रेणियाँ हैं। इनकी बुद्धिलब्धि (I. Q.) के अनुसार इन्हें कई वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। बु० ल० 0 से 85 तक होती है। जिनकी बु० ल० 50 से 85 तक होती है, उन्हें साधारण शिक्षा दी जा सकती है।
(i) शारीरिक न्यूनता से ग्रस्त बालक	जैसे—देखने, सुनने अथवा बोलने से सम्बन्धित शारीरिक दोष—(क) अंधे अथवा जिन्हें बहुत कम दिखाई देता है—ऐसे बालक प्रायः 1000 में दो होते हैं। (ख) बहरे या कम सुनने वाले 2% तक होते हैं।
(iii) शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े बालक	पश्चिमी देशों में इनकी संख्या 20% तक होती है। ये अधिकतर संवेगात्मक कठिनाइयों के शिकार होते हैं।
(iv) सामाजिक न्यूनता से ग्रस्त बालक	विद्यालयों में इनकी संख्या 2 से 5% तक होती है। ये कुसमायोजन के कारण शिक्षा से लाभ उठाने में असमर्थ रहते हैं।

प्रायः कक्षा में कुछ बालक सुस्त और मूर्ख दिखाई देते हैं। ये पाठ को समझने अथवा अध्यापक द्वारा निर्देशित कार्य को पूर्ण करने में असमर्थ होते हैं।

पिछड़े बालकों की दशा

अतएव परीक्षाओं में भी कम अंक प्राप्त करते हैं। इनसे अध्यापक और अभिभावक दोनों ही असन्तुष्ट रहते हैं। कक्षा में ऐसे बालक एक समस्या बन जाते हैं। यदि अध्यापक इनकी ओर अधिक ध्यान देता है तो अध्यापन के स्तर में निम्नता उत्पन्न हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप अन्य विद्यार्थी असन्तुष्ट हो जाते हैं। अधिकांश भारतीय पाठशालाओं में पिछड़े हुए बालकों के प्रति अध्यापक और विद्यार्थियों की प्रतिक्रियाएँ बड़ी हानिकारक होती हैं। अध्यापक प्रायः क्रोधित होकर उन्हें डाँटते-फटकारते हैं और दण्ड भी देते हैं। परन्तु इसका भी कोई लाभदायक परिणाम निकलता प्रतीत नहीं होता। अन्त में विवश होकर ये विद्यार्थी या तो स्वयं पढ़ाई छोड़ देते हैं अथवा इनके माता-पिता इन्हें विद्यालय से पृथक कर लेते हैं, जिससे

इनका भविष्य अंधकारमय हो जाता है। स्कूली जनसंख्या के लगभग 10% बालक-बालिकाएँ इस प्रकार असफल होकर अपने और समाज के जीवन को अधिक संकट-मय बनाते हैं। टी० के० एन० मैनन के अनुसार—"सन् 1963 में भारत की लगभग 20,000 पाठशालाओं में दस लाख बच्चे शैक्षिक न्यूनता से ग्रस्त थे अथवा पिछड़े हुए थे।"[1]

शैक्षिक दृष्टि से यह एक विचारणीय समस्या है। भारत के अशिक्षित, निर्धन, ग्रामीण क्षेत्रों में तथा नगरों की गन्दी बस्तियों में यह समस्या अधिक विस्तृत हो जाती है। अधिकांश भारतीय पाठशालाओं में अब भी पुरानी परिपाटियों के अनुसार अध्यापन होता है। कक्षा में पिछड़ने वाला बालक अध्यापक के उपहास, क्रोध और घृणा का पात्र बनता है। अपने साथियों मे उसका स्थान गिर जाता है। उसमें हीनता की भावनाग्रन्थि उत्पन्न होती है। यह बालक आत्मविश्वास खोकर अकारण भय, संकोच और चिन्ताओ से दबा रहता है। पग-पग पर अपमानित और दण्डित होने से उसकी सीमित शक्तियाँ भी कुण्ठित हो जाती हैं। वह बालक परिवार और समाज के लिए एक बोझ बन जाता है। यहाँ पर कुछ प्रश्न उत्पन्न होते हैं, जोकि इस प्रकार हैं—इनके प्रति शिक्षा और समाज का क्या कर्तव्य होना चाहिए? अध्यापक को इनकी ओर कैसा दृष्टिकोण अपनाना चाहिए? ये वास्तव में बुद्धिहीन होते हैं अथवा नहीं? इनके पिछड़ने के क्या कारण हो सकते हैं? जो वास्तव मे मंदबुद्धि हैं, उनकी शिक्षा की कैसी व्यवस्था होनी चाहिए? बालकों को पिछड़ने मे कैसे रोका जा सकता है? इन सब प्रश्नों पर अगले पृष्ठों में प्रकाश डाला जायेगा।

अध्यापक अपने छात्र-छात्राओं को प्रायः तीन वर्गों में विभाजित करते हैं—'अ', 'ब' और 'स'। क्रमशः 'अ' मे कुशाग्र बुद्धि विद्यार्थी, 'ब' वर्ग में सामान्यबुद्धि विद्यार्थी और 'स' में सामान्य से भी निम्न स्तर के विद्यार्थी को रखा जाता है। 'स' वर्ग के विद्यार्थी प्रायः पिछड़े हुए समझे जाते हैं।

वास्तव में कौन से बालक पिछड़े हुए हैं?

किन्तु किसी विद्यार्थी को पिछड़ा हुआ घोषित कर देना कहाँ तक उचित है? क्या सभी पाठशालाओं का शैक्षिक स्तर समान होता है? जिस बालक को इतिहास शिक्षक पिछड़ा हुआ समझता है वही बालक भूगोल अथवा कला (Art) में अधिक कुशाग्र बुद्धि हो सकता है। जो बालक एक पाठशाला में कुशाग्रबुद्धि अथवा औसत वर्ग का समझा जाता है, वही बालक, दूसरी पाठशाला में—जिसका शैक्षिक स्तर अधिक उच्चकोटि का होता है—पिछड़ने लगता है। यदि गणित के पर्चे में किसी विद्यार्थी को शून्य अंक प्राप्त होते हैं तो क्या इसका अभिप्राय यह है कि वह गणित मे कुछ भी नहीं जानता? हो सकता है कि यदि प्रश्नपत्र थोड़ा सरल कर दिया जाता तो वह सभी प्रश्न हल करने में सफल हो जाता। किसी पर्चे में असफल होने से ही किसी विद्यार्थी को पिछड़ा हुआ अथवा बुद्धिहीन समझना भूल है। उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि किसी विद्यार्थी का पिछड़ा हुआ अथवा कुशाग्रबुद्धि कहलाना, तत्कालीन स्थानीय परिस्थितियों पर ही निर्भर करता है।

---

1 NCERT Pamphelt, 1963.

शिक्षा में पिछड़ने से हमारा अभिप्राय किसी वालक के पाठ्यविषयों में पिछड़ने से ही हो सकता है। वर्ट ने पिछड़ने की परिभाषा करते हुए कहा है कि जो विद्यार्थी स्कूली जीवन के मध्य में (लगभग 10-11 वर्ष की आयु में कक्षा का वह कार्य जोकि उसकी आयु के लिए सामान्य है, करने में असमर्थ रहता है, तो उसे पिछड़ा हुआ समझना चाहिए। अथवा पिछड़ा हुआ वालक वह है जिसकी शैक्षिक लब्धि (E. Q.) 85 अथवा इससे भी न्यून है।[1]

पिछड़ेपन की परिभाषा

$$\text{शैक्षिक लब्धि} = \frac{\text{शैक्षिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}} \times 100$$

$$(E.\ Q. = \frac{E.\ A.}{C.\ A.} \times 100)$$

E. Q. = शैक्षिक लब्धि (Educational Quotient)
E. A. = शैक्षिक आयु (Educational Age)
C. A. = वास्तविक आयु (Chronological Age)

वर्ट ने उदाहरण देकर वताया है कि एक वालक जो कक्षा 6 में पढ़ता है परन्तु उसकी शैक्षिक योग्यता कक्षा 4 के विद्यार्थी के समकक्ष है तो उसे पिछड़ा हुआ वालक कहेंगे। टी० के० एन० मेनन ने उस वालक को भारतीय विद्यालयों में पिछड़ा हुआ माना है जिसकी आयु कक्षा की औसत आयु से एक वर्ष अधिक है।[2]

पिछड़ेपन के प्रकार

शैक्षिक पिछड़ापन दो प्रकार का हो सकता है--

(1) अस्थायी पिछड़ापन
(2) स्थायी पिछड़ापन

अस्थायी पिछड़ापन—अध्यापक द्वारा वालक की ओर उचित ध्यान दिए जाने से दूर किया जा सकता है। परन्तु स्थायी पिछड़ेपन का कारण आवश्यक वुद्धिमत्ता का अभाव ही हो सकता है। इसके लिए पारिभाषिक शब्द बौद्धिक न्यूनता (Mental Deficiency) का प्रयोग किया जाना उपयुक्त है। अस्थायी पिछड़ेपन का कारण कोई मानसिक विकार नहीं होता अपितु किसी अन्य कारण से ही वालक पाठ्यविषयों के औसत स्तर को प्राप्त करने में असफल रहता है। पिछड़े हुए वालकों का 3/4 भाग मानसिक मंदता से ग्रस्त रहता है। इन्हें 'धीरे सीखने वाले' (Slow Learners) कहते हैं।

---

1 "The backward child is one who is unable to do the work of the class next below that which is normal for his age."
Or
"A backward child is one whose E. Q. is 85 or below," —Burt.

2 "In the Indian situation a backward child is one who being more than one year older than the average age of his class."
—T. K. A. Menon, *NCERT Pamphelt*.

पिछड़ेपन का सही परीक्षण करने के लिए शैक्षिक-लब्धि और ज्ञानोपार्जन परीक्षा का प्रयोग किया जाना चाहिए। इस तरह सभी विषयों में बालक की मानसिक आयु अथवा प्राप्ति स्तर ज्ञात करना चाहिए।

उदाहरणार्थ—एक बालक की वास्तविक आयु 10 वर्ष है तो उसकी शैक्षिक आयु निम्न प्रकार से ज्ञात की जा सकती है :

पिछड़ेपन का परीक्षण

विषय	मानसिक आयु
हिन्दी	9 वर्ष
गणित	8 वर्ष
भूगोल	10 वर्ष
इतिहास	9 वर्ष
श्रुत लेख	9 वर्ष
कला	10 वर्ष
विज्ञान	8 वर्ष
योग = 7	योग = 63

औसत शैक्षिक आयु $= \frac{63}{7} = 9$ वर्ष होगी।

उसकी शैक्षिक आयु और वास्तविक आयु का अनुपात 9 : 10 या $\frac{9}{10}$ होगा। इसे प्रतिशत में व्यक्त किया जाए तो उसकी शैक्षिक आयु 90 प्रतिशत होगी। बर्ट के अनुसार "वे बालक-बालिकाएँ जिनकी मानसिक आयु या शैक्षिक आयु स्तर 85 से कम है, पिछड़े हुए समझने चाहिए।" बर्ट का यह विचार अधिक उपयुक्त और मान्य है। इस प्रकार शैक्षिक दृष्टि (Padagogical Criterion) से मन्द बुद्धि अथवा पिछड़ेपन का परीक्षण किया जा सकता है।

पिछड़े हुए बालकों का समुचित अध्ययन करने हेतु उनके बारे में अनेक प्रदत्त (Data) एकत्र करके इन प्रदत्तों के वैज्ञानिक अनुशीलन द्वारा एक निष्कर्ष पर पहुंचना चाहिए। उदाहरणार्थ :—

(1) प्रामाणिक बुद्धि परीक्षाओं से परीक्षण (मानसिक परीक्षाएँ या (Psychological Tests) और शैक्षिक परीक्षाएँ।

(2) शारीरिक परीक्षाएँ एवं परीक्षण।

(3) घरेलू परिस्थितियों की पूरी जानकारी एवं पारिवारिक इतिहास।

(4) पाठशाला में प्रगति का लेखा।

(5) स्वभाव और व्यक्तित्व परीक्षाएँ।

अधिकांश पिछड़े हुए बालकों की बुद्धि लब्धि औसत से नीचे होती है। अध्यापक इसमें कोई सुधार अथवा परिवर्तन नहीं कर सकता, वह तो केवल उनकी सीमित योग्यताओं के अनुसार कक्षा का कार्यक्रम ही निर्धारित कर सकता है। बर्ट की खोजों के अनुसार प्रारम्भिक कक्षाओं में हर 8 में से एक बालक पिछड़ा हुआ

होता है, जिसकी बुद्धि लब्धि (I. Q.) 85 से कम होती है। पिछड़े हुए और सामान्य बालकों को पृथक करने के लिए 70 बुद्धि लब्धि को सीमा रेखा माना जा सकता है। इससे कम बुद्धि लब्धि वाले बालक न तो अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं और न ही परिस्थितियों के साथ उपयुक्त समायोजन कर सकते हैं। जिनकी बुद्धि लब्धि 20 या 30 से कम होती है, वे कभी पाठशालाओं में पहुँचते ही नहीं हैं।

बालक-बालिकाओं में पिछड़ापन निम्नलिखित एक या अनेक कारणों से हो सकता है—

पिछड़ेपन के कारण

(1) शारीरिक कारण (Physical Factors)

(2) परिवेशिक प्रभाव (Environmental Influences)

(3) संवेगात्मक संघर्षों का प्रभाव (Emotional Conflicts)

(4) मन्दबुद्धि होना (Poor Intelligence)

(1) **शारीरिक कारण**—भारतीय पाठशालाओं में छात्रों का मानसिक निरीक्षण (Mental Inspection) कम होता है। बहुत से माता-पिता एवं अभिभावक अशिक्षित एवं निर्धन होने के कारण छात्रों के स्वास्थ्य की ठीक देख-रेख भी नहीं कर सकते। अब ग्रामीण क्षेत्रों में उपयुक्त चिकित्सा का प्रबन्ध किया गया है किन्तु फिर भी अभी बहुत से स्कूल ऐसे हैं जहाँ वर्ष भर में एक बार भी छात्रों की स्वास्थ्य परीक्षा नहीं होती और यदि होती भी है तो अभिभावकों के लिए इसका कोई महत्व नहीं होता। ऐसी परिस्थितियों में बालक के श्रव्य विकार (Defective Hearing), दृष्टि-विकार (Defective Eyesight), सामान्य शारीरिक निर्बलता आदि शारीरिक विकार पनपते रहते हैं। बर्ट ने 400 बालक-बालिकाओं के पिछड़ने की खोज की। उसकी खोजों से ज्ञात होता है कि इन बालक-बालिकाओं में केवल 9% बालक-बालिकाओं के पिछड़ने का मुख्य कारण शारीरिक कमियाँ थीं।[1] यह खोज लन्दन नगर के बच्चों से सम्बन्धित है। परन्तु भारतीय परिस्थितियों में शारीरिक कारण को ही प्रमुख कारण समझना चाहिए। समुचित पोषण और शारीरिक देखभाल के अभाव में ही बालक-बालिकाएँ अमेन्शिया (Amentia) से पीड़ित रहते हैं। अमेन्शिया, विकास और शारीरिक क्षमताओं के अवरुद्ध होने की दशा है, जिसके परिणामस्वरूप वातावरण के साथ अनुकूलन और स्वतन्त्र स्थिति बनाये रखने में कठिनाई अनुभव होती है।[2]

ऐसे बालक कभी भी अपने पैरों पर खड़े नहीं हो सकते।

(2) **परिवेशिक प्रभाव**—परिवेश के अन्तर्गत बहुत सी परिस्थितियाँ आ सकती हैं परन्तु यहाँ पर हमारा अभिप्राय बालक की शैक्षिक परिस्थितियों से है, जिसे हम अग्रलिखित तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

---

1 The Backward child, Table 29 p. 566.

2 "A state of restricted potentiality for, or arrest of, cerebral development inconsequence of which the person affected is incapable of maturity of so adopting himself to his environment or to the requirements of the community as to maintain existence independently or external support." —Amenti

(क) घरेलू परिस्थितियाँ
(ख) पाठशाला की परिस्थितियाँ
(ग) सामाजिक प्रभाव

(क) घरेलू परिस्थितियाँ—बहुत से पिछड़े हुए बालक गंदी बस्तियों (Slums) से आते हैं।,जहाँ उनके परिवार के सदस्य भीड़-भाड़ के साथ बहुत थोड़े से स्थान में ही जीवन व्यतीत करते हैं। इन मकानों में प्रकाश, स्वच्छ वायु और धूप का प्रबन्ध भी समुचित रूप में नहीं होता। वहाँ बालक को उद्दण्ड, मूर्ख और पिछड़े हुए साथियों के साथ रहना पड़ता है, जिनमें से अधिकांश बालक अपराधी होते हैं। निर्धन होने के कारण इन्हें आर्थिक चिन्ताएँ घेरे रहती हैं, घरेलू झगड़े समाप्त नहीं होते और ये नन्हें बालक कार्य के बोझ से दबे रहते हैं। सुन्दर पुस्तकें, आकर्षक पत्र-पत्रिकाएँ और खेल की सामग्री का पर्याप्त अभाव रहता है। स्वयं माता-पिता शिक्षा में कोई रुचि नहीं रखते। अतएव यह स्पष्ट है कि ऐसी परिस्थितियों में बालक का पिछड़ना स्वाभाविक ही है।

(ख) पाठशाला की परिस्थितियाँ—कुछ पाठशालाएँ नगर के घनी जनसंख्या के शोरगुल से भरपूर क्षेत्रों में स्थित हैं। पाठशालाओं के पास ही होटल, थायटर एवं सिनेमाघर आदि होने से बालकों की शैक्षिक प्रगति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। कुछ बालक तो इन्हें घर और पाठशाला से अधिक आकर्षक पाते हैं और अपना मूल्यवान समय यहीं व्यतीत करते हैं। यहाँ सभी प्रकार के व्यक्तियों से उनका सम्पर्क होता है। पाठ्य विषयों के अतिरिक्त अन्य कार्यों में उनकी रुचि बढ़ जाती है। परिणामस्वरूप वे औसत बुद्धि के होते हुए भी पढ़ाई में अत्यधिक रूप में पिछड़ जाते हैं। यदि इनके साथ पाठशाला में कठोर व्यवहार किया जाता है तो इनकी प्रतिक्रियाएँ और भी हानिकारक होती हैं। ये सदैव के लिए शिक्षा के पथ से ही पृथक हो जाते हैं।

(ग) सामाजिक प्रभाव—बालक की आन्तरिक अभिलाषाएँ, उसकी क्रियाशीलता और जीवन के लक्ष्य सामाजिक अनुकरण से प्रभावित होते हैं। यह देखा गया है कि कुछ बालक गन्दी बस्तियों में रहकर भी शिक्षा में अच्छी प्रगति दिखाते हैं। उनका जीवन समाज में उच्च आदर्शों अथवा समाज के प्रतिष्ठावान व्यक्तियों से अधिक प्रभावित होता है। आधुनिक खोजों में पिछड़े हुए या मन्दबुद्धि बालकों का अध्ययन प्रायः आर्थिक-सामाजिक विधि (Socio-economic Method) द्वारा किया जाता है। ग्रेट ब्रिटेन के रॉयल कमीशन[1] ने मानसिक न्यूनता को इस प्रकार परिभाषित किया है। "मानसिक दृष्टि से मन्द बालक वह है जो सुविधाजनक परिस्थितियों में काम तो चला लेता है किन्तु मानसिक क्षमता के अभाव के कारण न तो वह सामान्य बालकों से प्रतिस्पर्धा ही कर सकता है, न किसी विषम परिस्थिति को ही संभाल सकता है।"[2]

1 The Royal Commission of Great Britain.
2 "A feeble minded person is one who is capable of earning a living under favourable circumstances, but is incapable from mental defect existing from birth or from an early age, (a) of competing on equal terms with his normal (Contd.)

(3) संवेगात्मक प्रभाव—पारिवारिक झगड़े, घर में विमाता का दुर्व्यवहार अथवा माता-पिता का आपसी संघर्ष, बालक के जीवन में संवेगात्मक कठिनाइयाँ उत्पन्न करते हैं; जिसके कारण वह बालक पाठशाला के कार्यों में भी पिछड़ने लगता है। बालक-बालिकाओं की इन मानसिक कठिनाइयों को बहुत कम ही अभिभावक और शिक्षक समझ पाते हैं। असामान्य मनोविज्ञान (Abnormal Psychology) इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। कभी-कभी माता-पिता की बुद्धिहीनता अथवा अदूरदर्शिता के घातक परिणाम बालक को भोगने पड़ते हैं। कुछ अभिभावक यह चाहते हैं कि 10 वर्ष का स्कूली कार्यक्रम बच्चा 5 वर्ष में ही पूर्ण कर ले। इसके लिए बालक को दिन-रात पढ़ाया जाता है, उसके लिए अतिरिक्त अध्यापक भी नियुक्त किए जाते हैं। एक वर्ष में अनेक परीक्षाएँ उससे दिलाई जाती हैं। उसे अपने सहपाठियों की संगति से बचने की कड़ी चेतावनी दी जाती है और बताया जाता है कि उसके साथी गंदे, मूर्ख और पिछड़े हुए हैं। उनकी अपेक्षा वह अधिक कुशाग्रबुद्धि और होनहार है। इस प्रकार अपने साथियों से विमुख होकर वह जीवन के आनन्द से वंचित रह जाता है। अन्त में वह अपने आपको अकेला, असहाय और मानसिक बोझ से दबा हुआ पाता है। उधर माता-पिता उसे जल्दी से जल्दी अगली कक्षाओं में प्रविष्ट कराने का प्रयत्न करते हैं। छोटी कक्षाओं में तो उसे शीघ्र सफलता मिल भी जाती है, परन्तु बड़ी कक्षाओं में वह आयु में कम और अपरिपक्व होने के कारण पिछड़ने लगता है। कक्षा में वह उपहास का केन्द्र बन जाता है। कुछ माता-पिता अपने बच्चों को नियन्त्रण में रखने के लिए भय का प्रयोग करते हैं। जो बालक घर में माता-पिता से भयभीत रहता है वह संसार में किससे प्रेम की आशा कर सकता है?

अनेक पिछड़े हुए बालकों का मनोवैज्ञानिक परीक्षण करने से यह ज्ञात होता है कि उनके पिछड़ने का मुख्य कारण संवेगात्मक बोझ है। मनोविश्लेषणात्मक परीक्षण से उनकी मानसिक गुत्थियों और अन्तर्द्वन्द्वों का भी ज्ञान होता है। कभी-कभी हीनता की भावनाग्रन्थि माता-पिता के मूर्खतापूर्ण व्यवहार का ही परिणाम होती है। वे अपने ही बालकों की, एक-दूसरे के समक्ष, हानिकारक तुलना करते हैं, एक को प्राय: अच्छा और दूसरे को बुरा बताते हैं। यदि ऐसे परिवार में किसी दूसरे परिवार के बालक को रहना पड़े तो समस्या और भी गम्भीर हो जाती है। यदि भाई-बहिन अन्यथा दो भाई एक ही कक्षा में पढ़ते हों तो उनमें स्पर्धा अधिक रहती है। संवेगात्मक कठिनाइयों के कारण उनकी व्यवहारगत समस्याएँ स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं; जैसे—एकान्तप्रिय होना, दिवास्वप्न देखना अथवा अवधान की अनुपस्थिति। इनको दण्ड देना या बुरा कहना-व्यर्थ है।

कुछ बालक केवल एक विषय में अधिक पिछड़े हुए दृष्टिगोचर होते हैं

---

fellows or (b) of managing himself and his affairs with ordinary prudence." —Quoted by Holling worth in his book *The Psychology of subnormal Children.*" on page 43.

जबकि अन्य विषयों में वे औसत से ऊपर होते हैं। ऐसे विद्यार्थी अध्यापक और माता-पिता के लिए कठिन समस्या बन जाते हैं।

केवल एक ही विषय में पिछड़ने वाला बालक

सामान्यतः अधिक परिश्रम अथवा अतिरिक्त अध्यापन द्वारा उनकी यह कठिनाई दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। परन्तु इससे भी कोई लाभ नहीं होता। इस पिछड़ेपन का कारण वर्तमान परिस्थितियों में न ढूंढ़कर पिछले संस्कारों में ढूंढ़ना चाहिए। उदाहरणार्थ—एक बालक कक्षा 8 में गणित में बहुत पिछड़ा हुआ है। मानसिक परीक्षाओं से ज्ञात होता है कि उसकी तर्कबुद्धि प्रबल है और बुद्धिलब्धि (I. Q.) भी औसत से ऊपर है। अन्त में उसकी परीक्षा प्रारम्भिक अंकगणित में ली जाती है। गिनती, जोड़, गुणा और भाग इत्यादि में परीक्षा लेने पर ज्ञात होता है कि वह गुणा नहीं कर सकता क्योंकि उसे पहाड़े सही याद नहीं हैं या वह भिन्न संख्याओं ($\frac{8}{7}$, $2\frac{1}{7}$, $\frac{1}{8}$) को ठीक से नहीं समझ पाता। शोनेल (F. J. Schonell) ने एडिनबर्ग के छात्र-छात्राओं में पिछड़ेपन के कारणों का विस्तृत अध्ययन किया है। उसने प्रारम्भिक कक्षाओं में, कुछ मुख्य विषयों को लेकर पिछड़े हुए बालक-बालिकाओं का परीक्षण किया। इस सम्बन्ध में शोनेल की खोजों के परिणाम बहुत उपयोगी और विश्वसनीय हैं। उदाहरणार्थ—पाठन या वाचन में पिछड़ने का मुख्य कारण (1) शाब्दिक ध्वनियों को स्पष्टता से नहीं समझना है। अन्य कारण क्रमशः इस प्रकार हैं :

(2) हानिकारक संवेगात्मक अभिवृत्तियाँ।
(3) शब्दों के दृश्य आकार को समुचित रूप से प्रत्यक्ष न कर सकना।
(4) दृष्टि दोष।
(5) अपरिपक्वता—शारीरिक और मानसिक।
(6) अनियमित उपस्थिति।
(7) बार-बार पाठशाला बदलना।
(8) कण्ठ (ध्वनि) दोष।

इसी प्रकार निबन्ध लेखन में पिछड़ेपन के मुख्य कारण इस प्रकार बताए गए हैं :

(1) सामान्य शाब्दिक योग्यता में कमी।
(2) विषय में अरुचि।
(3) प्रभावित न करने वाली पाठन विधि।
(4) पाठशाला के बाहरी वातावरण के अनुभव की न्यूनता।
(5) घरेलू वातावरण की निर्धनता।
(6) अवकाश के समय में पढ़ने का अभाव।
(7) स्वभावगत यथार्थ संवेगात्मक कठिनाई।

(4) मन्दबुद्धि होना—मन्दबुद्धि बालक निश्चित रूप से सभी विषयों में पिछड़ेगा। भारतीय पाठशालाओं में न तो मन्दबुद्धि छात्र-छात्राओं का वर्गीकरण ही किया जाता है और न ऐसी पाठशालाएँ सब जगह उपलब्ध हैं जिनमें मन्दबुद्धि

बालकों के प्रशिक्षण का आयोजन हो सके। कुछ बालक मस्तिष्क पर आघात लगने से मन्दबुद्धि हो जाते हैं। इन्हें उपयुक्त चिकित्सा से सुधारा जा सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि मन्दबुद्धि अथवा मूर्ख बालकों को औसत छात्रों के साथ नहीं पढ़ने दिया जाए।

परीक्षण एवं कारण—कक्षा में कुछ बालक पाठ को समझने में दृश्य-प्रतिमाएं अधिक प्रयोग करते हैं (Visiles) और कुछ बालक श्रव्य प्रतिमाएँ अधिक प्रयोग करते हैं (Audiles)। कुछ बच्चे सुने हुए शब्दों का सम्पूर्ण आशय ग्रहण करने में असमर्थ रहते हैं। इस प्रकार की कठिनाइयां जीवन के प्रारम्भ से ही विद्यमान रहती हैं। पिछड़े हुए बालक के व्यक्तिगत परीक्षण से इनको ज्ञात किया जा सकता है।

शैक्षिक परिस्थितियों में पिछड़ापन

कभी-कभी कुशाग्रबुद्धि बालक भी किसी विषय विशेष में पिछड़े हुए दृष्टिगोचर होते हैं। बारटन हाल के अनुसार—एक लड़का मन्दबुद्धि और पिछड़ा दोनों हो सकता है, परन्तु वह इसलिए ही पिछड़ा हुआ नहीं होता क्योंकि यह मन्दबुद्धि है। पिछड़ेपन के और भी कारण हो सकते हैं।[1]

प्राय: माता-पिता अपने बालक-बालिकाओं में पिछड़ापन स्वीकार नहीं करते, इसके कारण पिछड़े हुए बालकों का जीवन अधिक कठिन हो जाता है। पिछड़ेपन का मूल कारण बुद्धिमत्ता की न्यूनता है इसलिए बुद्धिमत्ता का परीक्षण प्रारम्भिककाल में ही होना चाहिए। यह भी ज्ञात किया जाना चाहिए कि बालक में किस प्रकार की योग्यता का अभाव है तभी उसके सुधार की उचित व्यवस्था की जा सकती है। लगभग 70% पिछड़ेपन का कारण बुद्धिमत्ता की न्यूनता ही है।

पिछड़ेपन का परीक्षण पूर्ण रूप से करना चाहिए। सबसे पहले बालकों को शैक्षिक परीक्षाएं देनी चाहिए। इससे उनकी असफलताओं का क्षेत्र विदित हो जाएगा। इसके बाद निदानात्मक परीक्षाओं द्वारा यह ज्ञात करना चाहिए कि पिछड़े हुए विषय अथवा विषयों में किन तत्वों का अभाव प्रधान है। उस विषय से सम्बन्धित प्रक्रिया अथवा क्रमिक विकास में क्या कमी है। इस प्रकार उसकी त्रुटि अथवा अभावों की निश्चित जानकारी हो जाती है। मौखिक और क्रियात्मक बुद्धि परीक्षाओं के द्वारा उसकी बुद्धिमत्ता का वास्तविक स्तर निश्चित किया जा सकता है। उसकी विशेष योग्यताओं के परीक्षण के लिए अन्य मनोवैज्ञानिक परीक्षाएँ प्रयुक्त की जा सकती हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में इस प्रकार की परीक्षाओं का अपार भण्डार है। जिन योग्यताओं का विशेष परीक्षण होना चाहिए, वे इस प्रकार हैं :

(क) श्रव्य प्रत्यक्षीकरण,
(ख) दृश्य प्रत्यक्षीकरण,
(ग) प्रत्यक्षीकरण का क्षेत्र,
(घ) संवेदनात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान,
(ङ) कार्य में तत्परता और लगन,

1 "A child may be both dull and backward but he is not necessarily backward because he is dull." —Barton Hall.

(च) गामक क्रियाओं की गति,
(छ) अवधान,
(ज) स्मृति और तर्क।

इनके अतिरिक्त कक्षा में और कक्षा के बाहर एवं खेल के मैदान में भी बालक की गतिविधियों का निरीक्षण सावधानीपूर्वक करना चाहिए। इन क्षेत्रों में बालक के व्यवहार का व्यक्तिगत निरीक्षण करने से उसकी आदतें, सामाजिकता, संवेगात्मकता और नैतिक गुणों की वास्तविक झलक देखने को मिलती है। शारीरिक विकारों के परीक्षण के लिए डॉक्टरी परीक्षण भी होना चाहिए। कभी-कभी पिछड़ेपन का मूल कारण घरेलू जीवन में ही विद्यमान रहता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि पिछड़ेपन का परीक्षण अनेक दृष्टिकोणों से होना चाहिए।

पिछड़ेपन को दूर करने के उपाय

पिछड़ा हुआ बालक अनेक समस्याएँ घर और पाठशाला में उपस्थित करता है, इसलिए उसकी ओर अध्यापक और अभिभावकों को व्यक्तिगत ध्यान देकर उसके पिछड़ेपन को दूर करना चाहिए। यदि सम्भव हो सके तो पिछड़े हुए बालकों को सामान्य बालकों से पृथक एक छोटे समुदाय में रखना चाहिए। सामान्य अथवा कुशाग्र बालकों के बीच वह अधिकाधिक पिछड़ता जायेगा। अपने ही समान स्तर के समूह में रहने से उसे अपने पिछड़ेपन के प्रति जो चेतना है, वह समाप्त हो जायेगी और वह अपने आपको अधिक सुरक्षित अनुभव करता हुआ अपने साथियों के साथ आवश्यक स्पर्धापूर्ण व्यवहार कर सकेगा। पिछड़े हुए बालक-बालिकाओं का वर्गीकरण उनके पिछड़ेपन की विलक्षणताओं अथवा क्षेत्र के अनुसार होना चाहिए। मन्दबुद्धि बालक के समान ही पिछड़े हुए बालक के अध्यापक में नेतृत्व के सुन्दर गुण होने चाहिए। यदि सम्भव हो सके तो पिछड़े हुए छात्रों को एक पृथक कक्षा में अथवा पृथक पाठशाला में रखना चाहिए। जब उनका पिछड़ापन दूर हो जाए तो उन्हें फिर से अपनी कक्षा में आने का अवसर देना चाहिए। पिछड़े बालकों का अध्यापक कठोर अनुशासक अथवा कठोर नियन्त्रणकर्ता नहीं होना चाहिए।

अनेक पिछड़े हुए बालक मानसिक रोगों से ग्रस्त होते हैं। ऐसे बालक-बालिकाओं को तुरन्त ही किसी मनोवैज्ञानिक चिकित्सक के समक्ष प्रस्तुत करना चाहिए। पिछड़ेपन का मूल कारण, बालक के स्वभाव में अथवा घरेलू परिस्थितियों में या सामाजिक वातावरण में खोजना चाहिए। माता-पिता एवं अभिभावकों को निर्देशन (Guidance) भी लाभदायक सिद्ध होता है क्योंकि बालकों के पिछड़ेपन के लिए ये भी किसी सीमा तक उत्तरदायी होते हैं।

पिछड़े हुए बालकों की शिक्षा व्यवस्था

पिछड़े बालकों को सुधारने के लिए अध्यापकों को भी कुछ मनोवैज्ञानिक सुझाव दिये जाने चाहिए। शिक्षा मनोवैज्ञानिक स्वयं पिछड़े बालकों की कक्षा में पढ़ा सकता है अथवा पृथक कक्षाएँ आयोजित कर सकता है। इन विशेष कक्षाओं में पिछड़े हुए बालक को उपचारात्मक शिक्षा दी जानी चाहिए। उन्हें 'स्वप्रेरणा' से कार्य करने के लिए

उत्साहित करना चाहिए, जिससे कि वे अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने में व्यस्त रहें और रचनात्मक अथवा क्रियात्मक कार्यों में अपना अवकाश का समय व्यतीत कर सकें। इन कक्षाओं में बालक-बालिकाओं की आदतों को सुधारने की ओर भी यथेष्ट ध्यान देना चाहिए। उनको संवेगात्मक समायोजन में भी अध्यापक और अभिभावकों द्वारा यथोचित सहायता एवं संवेगात्मक दृष्टि से कुसमायोजित छात्रों को आत्म-प्रकाशन, आत्मानुभूति और आनन्दानुभूति करने का अवसर दिया जाना चाहिए।

पिछड़े हुए छात्र-छात्राओं के लिए विशिष्ट पाठ्यक्रम बनाना चाहिए। उनके समय चक्र और पाठनविधि भी सामान्य विद्यार्थियों से भिन्न होनी चाहिए। क्योंकि अधिकांश पिछड़े हुए छात्र मंद बुद्धि होते हैं, उनके लिए शिक्षा का प्रबन्ध विशिष्ट पाठशालाओं में करना ही उचित होगा। सेग्विन (Seguin) ने सन् 1837 में मानसिक विकारों से पीड़ित बच्चों के लिए पहला विद्यालय फ्रांस में स्थापित किया था। सन् 1848 में वह अमेरिका चला गया और वहाँ उसने इन्द्रिय प्रशिक्षण (Sense Training) तथा मांसपेशियों के प्रशिक्षण (Muscle Training) की युक्तियों का आविष्कार किया। आज भी क्रियात्मक बुद्धि परीक्षा के रूप में मनोवैज्ञानिकों द्वारा सेग्विन द्वारा निर्मित फॉर्म बोर्ड (Form Board) का प्रयोग किया जाता है।

इन विशिष्ट पाठशालाओं का पाठ्यक्रम, विस्तार और सामग्री की दृष्टि से सामान्य पाठ्यक्रम से भिन्न होना चाहिए। यह पाठ्यक्रम अपेक्षाकृत कम विस्तृत होना चाहिए और इसमें मूर्त सामग्री का समावेश अधिक होना चाहिए। पाठ्यक्रम के अतिरिक्त कार्यक्रमों में भी उपयोगिता और मूर्त बातों पर अधिक ध्यान देना चाहिए। विशिष्ट स्कूलों में योजना बनाकर ऐसे कार्य सिखाये जाने चाहिए, जिनका भावी जीवन में कुछ व्यावसायिक महत्व भी हो। ऐसे विषयों में ही उनकी स्वाभाविक रुचि हो सकती है। पुस्तक ज्ञान की अपेक्षा शारीरिक कुशलता एवं श्रम सम्बन्धी कार्यों पर अधिक बल देना चाहिए, जैसे—काष्ठकला, चर्मकारी, धातुकला, बेंत का काम, कताई, भोजन बनाना, बुनाई करना, कसीदाकारी, दर्जीगीरी आदि।

उनके जीवन में रस, सुख और संतोष उत्पन्न करने के लिए उनकी रुचि और योग्यता के अनुसार उन्हें सांस्कृतिक कार्यों में भी प्रशिक्षण दिया जा सकता है। परन्तु इन सब विषयों के पठन-पाठन में मूर्त सहायक सामग्री का बाहुल्य होना चाहिए। उनके आत्मप्रकाशन के लिए संगीत, कला, नाटक, सामूहिक नृत्य आदि के कार्यक्रम भी आयोजित होने चाहिए। इसके साथ ही शारीरिक स्वास्थ्य लाभ के लिए खेल और व्यायाम के कार्यक्रम व्यक्तिगत आवश्यकता के अनुसार होने चाहिए। बर्ट महोदय ने पिछड़े हुए बालक-बालिकाओं के लिए कैम्प स्कूल और खुली कक्षाओं को अधिक उपयुक्त बताया है।

पिछड़े हुए तथा मंदबुद्धि बालकों की शिक्षा व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन

पिछड़े हुए बालकों की शिक्षा की विशेषताएँ	मंद बुद्धि बालकों की शिक्षा की विशेषताएँ
(1) विशेष विद्यालयों में या विशिष्ट कक्षाओं में शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। कम संख्या में छात्रावास वाले विद्यालय अधिक उपयुक्त हैं। ऐसे विद्यालयों में गुरु-शिष्य सम्बन्ध में अधिक निकटता हो सकती है। विशिष्ट कक्षाएँ विद्यालय में ही चलाई जा सकती हैं जिनमें छात्रों की संख्या 15-20 से अधिक न हो।	(1) इन्हें व्यक्तिगत आदतों के निर्माण तथा व्यक्तिगत देखभाल करने तथा प्रशिक्षण की अधिक आवश्यकता रहती है। स्किनर के अनुसार इनकी शिक्षा में तीन बातों पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए : (i) व्यक्तिगत देखभाल की शिक्षा जैसे सफाई, भोजन करने, शिष्टाचार का ढंग आदि। (ii) सामाजिक प्रशिक्षण—खेलकूद, भ्रमण आदि के द्वारा। (iii) आर्थिक प्रशिक्षण अर्थात् छोटे-मोटे काम धन्धे सिखाकर।
(2) अध्यापकों को विशिष्ट प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए ताकि वे अध्यापन की *विशिष्ट विधियाँ प्रयुक्त कर सकें।* अध्यापक व्यवहारकुशल हो। एक कक्षा में एक अध्यापक की व्यवस्था होनी चाहिए।	(2) अध्यापक में दया, सहानुभूति, प्रेम तथा अन्य मानवीय गुणों का होना *नितांत आवश्यक* है। हस्तशिल्प, श्रम और निर्देशन में विशेष रुचि होनी चाहिए।
(3) शारीरिक दोषों से युक्त बालकों की शिक्षा की पृथक व्यवस्था होनी चाहिए ताकि वे अपने व्यक्तिगत कौशल को विकसित कर सकें। इन्हें उपयोगी हस्त शिल्प सिखाए जाने चाहिए जिनसे जीविकोपार्जन भी कर सकें।	(3) स्किनर के अनुसार "इनके पाठ्यक्रम में शारीरिक स्वास्थ्य, सफाई, भोजन, प्राथमिक चिकित्सा और आचरण की शिक्षा को विशेष स्थान दिया जाय। लिखने, पढ़ने, बोलने, और सुनकर समझने का अभ्यास कराया जाय तथा साधारण उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य एवं मनोरंजन पर बल दिया जाय।
(4) शिक्षण विधियाँ—सरल, रोचक, मूर्त वस्तुओं का प्रयोग, बार-बार दोहराना, व्यावहारिकता आदि। *प्रवृत्ति-जन्य प्रेरणाओं का शोधन।*	(4) शिक्षण विधियाँ—व्यक्तिगत विधियों पर बल, प्रदर्शन करके दिखाना और अनुकरणात्मक कार्य, निरीक्षण की शिक्षा, हाथों का प्रशिक्षण (Education of Hands)।
(5) शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य चारित्रिक प्रशिक्षण होना चाहिए। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक वातावरण के तत्वों से परिचय कराना।	(5) शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य *आत्मनिर्भरता उत्पन्न करना* होना चाहिए। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक विकास करना।
(6) समायोजन में सहायता देना, व्यक्तिगत निर्देशन एवं परामर्श। सामाजिक और संवेगात्मक अनुकूलन में सहायता प्रदान करना।	(6) स्वास्थ्य और व्यक्तिगत समायोजन में सहायता करना। सामूहिक जीवन व्यतीत करने की प्रारम्भिक की शिक्षा।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. आप विद्यालय में विशिष्ट बालक किसे कहेंगे ? विशिष्ट बालक कितने प्रकार के होते हैं।
2. आप न्यूनताग्रस्त बालक किसे कहेंगे ? पिछड़ेपन की परिभाषा दीजिये। स्थायी और अस्थायी पिछड़ापन किसे कहते हैं ?
3. पिछड़ेपन के कारणों पर प्रकाश डालिये। आप अपने विद्यालय में पिछड़ेपन का परीक्षण किस प्रकार करेंगे ?
4. पिछड़े हुए तथा मंद बुद्धि बालकों के लक्षण बताइये और पिछड़ापन दूर करने के उपाय भी बताइये।

विशिष्ट बालक-बालिकाएँ—2

कुशाग्रबुद्धि अथवा प्रतिभावान् बालक
(Gifted Children)

कुशाग्रबुद्धि अथवा मेधावी बालक में जन्मजात मानसिक योग्यताएँ इतनी अधिक प्रबल होती हैं कि वह सीखने के कार्य में औसत बालक से बहुत आगे रहता है। ऐसे बालक-बालिकाओं की बुद्धि-लब्धि भी बहुत अधिक होती है। उनकी उच्च-कोटि की बुद्धिमत्ता किसी भी कार्य में प्रकाशित हो सकती है, जैसे—कला में, विज्ञान में, रचनात्मक कार्यों में अथवा खोजपूर्ण आदि कार्यों में। टरमैन के अनुसार मेधावी बालक दस्तकारी में तो पिछड़े रहते हैं परन्तु अमूर्त विचार करने की क्षमता उनमें बहुत प्रबल होती है।

कौन से बालक मेधावी होते हैं ?

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार प्रतिभावान् बालक-बालिकाओं की बु० ल० 139 से अधिक होती है। सन् 1937 में स्टैनफोर्ड-बिने बुद्धि परीक्षाओं पर आधारित मेधावी बालक-बालिकाओं का प्रतिशत इस प्रकार था—

बु० ल०	प्रतिशत	
160 और अधिक	0·03	प्रतिभावान् अथवा अत्युत्कृष्ट
150—159	0·2	
140—149	1·1	
130—139	3·1	(उत्कृष्ट)

इसका अभिप्राय यह है कि औसतन प्रति 10000 बालक-बालिकाओं में केवल तीन बालक ऐसे होते हैं जिनकी बुद्धि उपलब्धि 160 या इससे अधिक होती है। इन आंकड़ों से यह ज्ञात होता है कि जनसंख्या को देखते हुए अत्युत्कृष्ट बालक-बालिकाओं की संख्या बहुत कम होती है। प्रतिभावान् बालकों के इस छोटे समुदाय के लिए विशिष्ट शैक्षिक और मनोवैज्ञानिक सुविधाएँ जुटाना किसी भी समाज के लिए कहाँ तक न्यायसंगत होगा ? वास्तव में यह थोड़े से प्रतिभाशाली बालक ही किसी राष्ट्र की महान् निधि होते हैं। राष्ट्र को इनकी पूर्ण देख-रेख, पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए। टरमैन और गुडएनफ की खोजों ने प्रतिभाशाली बालकों के लक्षणों पर विशेष प्रकाश डाला है। इन्होंने अध्ययन के लिए ऐसे बालक चुने जिनकी बुद्धि उपलब्धि 135 से अधिक थी।

(1) शारीरिक—ये प्रायः ऊँचे कद के, भारी और सुविकसित होते हैं।

प्रतिभावान् बालकों के लक्षण

बाल्यकाल से प्रौढ़ावस्था तक इनका सामान्य स्वास्थ्य औसत से भी अच्छा रहता है।

टरमैन तथा ओडन के अनुसार—"प्रतिभाशाली बालक शारीरिक गठन, सामाजिक अभियोजन, व्यक्तित्व के गुण, विद्यालय की उपलब्धियों, खेल-कूद, जानकारियों और रुचियों की बहुरूपता में सामान्य बालकों से बहुत श्रेष्ठ होते हैं।"[1]

(2) **सामाजिक**—ये प्रायः ऊँचे सामाजिक स्तर वाले माता-पिता की सन्तान होते हैं। इनके माता-पिता भी अधिक शिक्षित तथा बुद्धिमान होते हैं। घरेलू सांस्कृतिक वातावरण सुन्दर होता है। ये बालक स्वयं सामाजिक दृष्टि से अधिक परिपक्व होते हैं।

(3) **आर्थिक**—प्रायः इनके माता-पिता भी उच्चकोटि के व्यवसाय करते हैं और उनका आर्थिक स्तर भी ऊँचा होता है।

(4) **संवेगात्मक**—शिक्षक और अभिभावकों की दृष्टि में वे संवेगात्मक दृष्टि से अधिक परिपक्व होते हैं। निर्णय और तर्क करने की क्षमता प्रबल होती है।

(5) **सीखना**—शैशवकाल में शारीरिक कुशलताएँ एवं भाषा ज्ञान औसत से भी अधिक शीघ्रता से प्राप्त कर लेते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान अधिक स्पष्ट होता है। शब्द-ज्ञान विस्तृत होता है। स्मृति तीव्र होती है और वे अधिक समय तक अवधान को केन्द्रित कर सकते हैं।

(6) **शिक्षा**—इनकी प्रतिभा शैशवकाल में ही प्रदर्शित हो जाती है। पढ़ाई-लिखाई के अतिरिक्त भी इनकी रुचियाँ अधिक विकसित होती हैं और वे सुन्दर वस्तुओं का संग्रह (Collection) करते हैं। पाठ्य-विषयों को शीघ्रता से समझ लेते हैं। उनकी समझ अन्तर्दृष्टि (Insight) से युक्त होती है। कोई भी स्कूली विषय उनके लिए कठिन नहीं होता। प्रतिभावान् बालक-बालिकाओं की शैक्षिक प्रगति में प्रौढ़ावस्था में भी कोई अन्तर नहीं आता। उनकी बौद्धिक श्रेष्ठता बड़ी कक्षाओं में भी बनी रहती है।

(7) **भाषा योग्यता**—प्रतिभाशाली बालक का भाषा पर विशेष अधिकार होता है। उसका शब्द ज्ञान विशाल होता है।

(8) **मानसिक योग्यता**—उसकी बुद्धि उपलब्धि 130 से 170 तक होती है।

पाठशालाओं में प्रतिभाशाली छात्रों की उचित शिक्षा व्यवस्था करना एक मनोवैज्ञानिक समस्या है। इनके लिए शिक्षा व्यवस्था में क्या परिवर्तन होना चाहिए,

प्रतिभावान् छात्रों की शैक्षिक आवश्यकताओं की पूर्ति

यह एक विचारणीय प्रश्न है। सभी पाठशालाओं में इस सम्बन्ध में समान नीति नहीं अपनाई गई है। स्कूली व्यवस्था के अनुसार अथवा प्रधान अध्यापक के दृष्टिकोण के अनुसार पृथक-पृथक स्कूलों में अग्रलिखित नीतियाँ अपनाई जाती हैं :

---

1 "Gifted Children are for above the average in physique, Social adjustment, personality traits, School achivement, play, information and versatility of interest."—Terman and Oden : *The Gifted Child Grows up*.

(1) कोई विशेष प्रबन्ध न करना—इस नीति के अनुसार उत्कृष्ट छात्रों को उसी कक्षा में पढ़ने दिया जाता है। उनकी ओर विशेष ध्यान भी नहीं दिया जाता, अपितु उन्हें अपनी उन्नति या अवनति के लिए स्वतन्त्र ही रहने दिया जाता है। यह दृष्टिकोण अमनोवैज्ञानिक है।

(2) पाठ्यक्रम को प्रगतिशील बनाना—प्रतिभावान् छात्रों की मानसिक आयु के अनुसार पाठ्यक्रम को विस्तृत करना। इसके लिए उत्कृष्ट छात्रों को पृथक कक्षा में रखना आवश्यक है। अध्यापक को व्यक्तिगत ध्यान देकर इन छात्रों की मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए।

(3) योग्यता के अनुसार छात्रों का वर्गीकरण—इस नीति के अनुसार एक ही कक्षा के छात्रों को अनेक वर्गों में उनकी विशेष योग्यताओं के अनुसार विभक्त कर दिया जाता है। इन वर्गों को पढ़ाने के लिए उनके अनुकूल पाठन विधि और पाठन सामग्री प्रयुक्त की जाती है, परन्तु ऐसी व्यवस्था करना बहुत कठिन कार्य है।

(4) शीघ्रतापूर्वक अगली कक्षाओं में प्रविष्ट करना—प्राय: अर्द्ध वार्षिक परीक्षा के परिणाम को देखकर कुछ उत्कृष्ट छात्रों को अगली कक्षा में प्रविष्ट कर दिया जाता है। ऐसे छात्रों की ओर अध्यापकों को विशेष ध्यान देना चाहिए। परन्तु पाठ्य-विषय का अतिरिक्त बोझ लादते समय छात्रों के शारीरिक, मानसिक और सामाजिक विकास का भी पूरा ध्यान रखना आवश्यक है।

कोल या क्रो ने प्रतिभाशाली बालकों के दो प्रकारों का उल्लेख किया है—

प्रतिभाशाली बालकों के प्रकार

(1) जो मानसिक योग्यताओं में श्रेष्ठ होते हैं अर्थात् जिनकी बु० ल० 130 से ऊपर होती है।

(2) जिनमें कुछ विशेष प्रकार के कार्य करने की असाधारण प्रतिभा होती है। जैसे—कला, अभिनय, संगीत, अंकगणित, स्मृति आदि।

यदि प्रतिभावान बालक को अपनी विशेष योग्यताओं को विकसित करने का अवसर अपने परिवेश में ही नहीं मिलता तो उसकी प्रतिभा कुंठित हो जाती है।

प्रतिभावान् बालकों की समस्याएँ

उसकी बुद्धि लब्धि अधिक होते हुए भी वह पाठशाला में पिछड़ता है। धीरे-धीरे सांसारिक कार्यों में उसकी रुचि समाप्त हो जाती है। वह या तो प्रतिभा प्रिय होकर दिवा-स्वप्न देखता रहता है अथवा शरारती बनकर समाज विरोधी कार्यों को अपनाता है। कुछ प्रतिभावान् बालक अधिक बातून हो जाते हैं क्योंकि भाषा पर उनका अच्छा अधिकार होता है। ऐसे बालक व्यर्थ गपशप में अपना समय नष्ट करते हैं। पाठ्य-विषयों से मुख मोड़ लेते हैं। एक ही परीक्षा में बार-बार असफल होते हैं।

कुछ प्रतिभाशाली बालक परिस्थितिवश किसी कार्य को अपना कर अपनी प्रतिभा प्रकाशित करते रहते हैं। उदाहरणस्वरूप एक बालक बहुत छोटी आयु में ही अंकगणित के कठिन प्रश्न हल कर लेता है, अथवा मातृभाषा के अतिरिक्त दो या तीन अन्य भाषाएँ पढ़ना सीख लेता है, या आश्चर्यजनक स्मृति के कार्य करता है या रेखाचित्र बनाता है। ऐसे बालकों की आवश्यकता से अधिक सराहना है और अधिक प्रशंसा प्राप्त कराने के लिए अभिभावक अथवा माता-पि

बालक के विशिष्ट गुणों का अत्यधिक प्रदर्शन करवाते हैं। जिसके फलस्वरूप वह बालक दंभी, जिद्दी और संकुचित मनोवृत्ति का हो जाता है। कुछ ऐसे प्रतिभाशाली बालक भी अधिक विक्षिप्तावस्था में मनोवैज्ञानिक चिकित्सकों के समक्ष प्रस्तुत किए जाते हैं। अंध विश्वासी माता-पिता ऐसे बालकों को धार्मिक रंग में रंगने का प्रयत्न करते हैं और कहते हैं कि उसको कोई देवी या देवता सिद्ध है। परिणामस्वरूप वह अपने आपको एक अतिरिक्त मानव समझने लगता है। उसका सम्पूर्ण व्यवहार असामाजिक हो जाता है। अन्त में उसकी प्रतिभा का मानव समाज के लिये कोई महत्व ही नहीं रह जाता है।

पाठशालाओं में प्रायः कुछ ऐसे विद्यार्थी भी देखने को मिलते हैं जिनकी बुद्धिलब्धि औसत से ऊपर होती है परन्तु फिर भी उनकी गणना अच्छे विद्यार्थियों में नहीं होती। उचित समायोजन, सहानुभूति और मान्यता के अभाव में ये बालक समाज विरोधी कार्यों द्वारा अपना आत्म-गौरव बनाने का प्रयत्न करते हैं। ये एक छोटे समूह के नेता बन जाते हैं। प्रायः कक्षा से बाहर दिखाई पड़ते हैं और अध्यापकों का निरादर करने में भी नहीं चूकते। आए दिन झगड़े खड़े करते रहते हैं। मिथ्या दोषारोपण करने की कला में पटु हो जाते हैं। यदि इनकी ओर जल्दी ही ध्यान आकर्षित न हो तो ये अधिक व्ययशील हो जाते हैं। जिसके परिणामस्वरूप चोरी करने और झूठ बोलने की भी आदत पड़ जाती है। इन बाल-अपराधियों की मानसिक दशा पर अगले अध्याय में सविस्तार प्रकाश डाला जाएगा।

प्रतिभाशाली बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध

इनकी शिक्षा व्यवस्था करने में निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए—

(1) **व्यक्तिगत**—प्रतिभाशाली बालकों पर व्यक्तिगत ध्यान दिया जाना चाहिए। उनकी व्यक्तिगत प्रतिभा को विकसित होने का पर्याप्त अवसर दिया जाना चाहिए।

(2) **विस्तृत पाठ्यक्रम**—प्रतिभाशाली छात्रों के लिए पाठ्यक्रम सामान्य बच्चों से अधिक होना चाहिए और इसका स्तर भी उच्च होना चाहिए।

(3) **सांस्कृतिक प्रशिक्षण**—प्रतिभाशाली बच्चों को सांस्कृतिक कार्यक्रमों में आगे लाकर उनकी प्रतिभाओं को व्यावहारिक प्रकाशन देना चाहिए। उन्हें विशिष्ट सांस्कृतिक कार्यक्रमों में भाग लेने के लिए आमन्त्रित करना चाहिए। जैसे—कवि गोष्ठी, विवाद गोष्ठी, विज्ञान गोष्ठी आदि।

(4) **अध्ययन तथा पुस्तकालय की विशेष सुविधायें**—विद्यालय में इस प्रकार की विशेष सुविधायें देकर उनके मनोबल में वृद्धि करनी चाहिए।

(5) **व्यक्तित्व का पूर्ण विकास**—शैशव काल से ही प्रतिभाशाली बालक के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

(6) **अतिरिक्त पाठ्यक्रम**—सहगामी क्रियाओं का आयोजन करना चाहिये जिसमें केवल प्रतिभाशाली बालक भाग ले सकें। इन कार्यक्रमों में उनकी विशेष रुचियों को जाग्रत करना चाहिए।

(7) मूल्यांकन—प्रतिभाशाली छात्रों की प्रगति का मूल्यांकन अन्य छात्रों की अपेक्षा कम अन्तर पर किया जाना चाहिए।

(8) नेतृत्व के गुणों का विकास—भाषण प्रतियोगिता, खेल-कूद, भ्रमण आदि के द्वारा इनमें नेतृत्व के गुणों का विकास करना चाहिए।

(9) उत्तरदायित्व—उन्हें अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य, विशेषकर विद्यालय के उत्सवों में सुपुर्द करने चाहिए।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. प्रतिभाशाली बालक से आप क्या समझते हैं ? प्रतिभाशाली बालक की शिक्षा का विशेष प्रबन्ध क्यों किया जाना चाहिये ?
2. प्रतिभाशाली बालकों की आवश्यकताओं और उनसे सम्बन्धित शिक्षा व्यवस्था का वर्णन कीजिये।

47

विशिष्ट बालक-बालिकाएँ—3

बाल-अपराधी
(Delinquents)

बालक-बालिकाओं के अपराध प्रायः विद्रोह और युयुत्सा का प्रकाशन होते हैं। ऐसे बालक ध्वंसात्मक कार्य में रुचि रखते हैं। अधिक दबाए जाने पर बालक विद्रोह करता है। उसके विद्रोह की भावना सामाजिक दशाओं, मान्यताओं और नियमों का विरोध करने में प्रकाशित होती है। अतएव बालकों को अपराधों से सामान्य रूप से बचाने के लिए उनकी मूल मानसिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि घर और पाठशाला के वातावरण में होनी आवश्यक है। गत दो शताब्दियों में औद्योगीकरण के साथ-साथ शहरी जनसंख्या में वृद्धि के कारण भी अपराधों में तीव्र गति से वृद्धि हुई है। बाल-अपराध एक सामाजिक समस्या है। यह बालक के कुसमायोजन का परिणाम है। यदि कोई बालक घर पर अथवा पाठशाला में अनेक अपराधों से सम्बन्धित पाया जाता है तो समझ लेना चाहिए कि उसके व्यक्तित्व का विकास उचित दिशा में नहीं हो रहा है। उसकी योग्यताओं और कुशलताओं के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो गया है।

अपराध का प्रारम्भ

बाल अपराध का अर्थ एवं परिभाषा

बाल अपराध का अर्थ स्पष्ट करने के लिए कुछ परिभाषाएँ नीचे दी जा रही हैं—

"बाल अपराध एक सीखा हुआ व्यवहार है। व्यक्तित्व के अन्य गुणों के समान अपराध भी पारिवेपिक दशाओं में सीख कर प्राप्त किया जाता है।"[1]

डॉ० जमुनाप्रसाद के अनुसार—कानून का उल्लंघन करने के प्रत्येक कार्य में व्यक्ति का सम्पूर्ण व्यक्तित्व संलग्न रहता है। यह व्यक्तित्व एक दिन के अनुभवों का प्रतिफल नहीं होता अपितु सरल शब्दों में हम कह सकते हैं कि—व्यक्तित्व बाल्यकाल में सामाजिक मानसिक वातावरण और व्यक्ति के आन्तरिक संगठन के बीच अन्तर क्रिया का परिणाम होता है।[2]

---

1 "Delinquency is a learned behaviour.—Delinquency is learned and acquired like other traits of personality in response to environmental conditions." *47th year book of Education.* On Juvenile Delinquency and School.

2 "In every act of Violation the whole personality of the Individual is involved. This personality is not the result of an overnight experience very simply stated it is the out-come of the inter-action of the organization in the Individual and his Psycho-Social milieu, the major shaping of which takes place in early childhood " Dr. J. Prasad : *Journal of Correctional work U. P. Lucknow. 11th Issue*. Gerlus of Criminality.

कोल के अनुसार—"अपराधी वह है जिसमें मूल प्रवृत्तियात्मक प्रेरणाएँ प्रबल होती हैं, आत्म चेतना निर्बल होती है और जिसका 'ईगो' (अहं) व्यवहार के सामान्यत: मान्य प्रतिमानों की परवाह किये बिना तात्कालिक आनन्द प्राप्ति के लिए उद्यत रहता है।"[1]

सिरिल बर्ट के अनुसार—"एक बालक वैधानिक रूप से उस समय अपराधी होता है, जब उसके समाज विरोधी कार्य इतने गम्भीर हो जाते हैं कि शासन उस पर नियन्त्रण रखने के लिए आवश्यक कार्यवाही करने के लिए बाध्य हो जाता है।"[2]

किसी बालक में कौन सा अपराध किस कारण से प्रकट होता है, इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। एक ही अपराध अलग व्यक्तियों में अलग-अलग कारणों से उत्पन्न होता है। अपराधपूर्ण व्यवहार तो बालक की बिगड़ती हुई मनोदशा की बाहरी सत्ता मात्र है।[3]

बाल-अपराध उत्पन्न होने के कारण

(1) कुछ सामान्य कारण निम्नांकित हैं—त्रुटिपूर्ण अमनोवैज्ञानिक ढंग से पालन-पोषण एवं भारतीय पाठशालाओं में अमनोवैज्ञानिक ढंग से शिक्षा तथा व्यवहार इसका प्रमुख कारण है। परिवारों में अधिक लाड़-प्यार अथवा उपेक्षणीय भाव से भी बालक बिगड़ते हैं।

(2) बालकों के साथ अभद्र, अन्यायपूर्ण एवं अपमानजनक व्यवहार की परिस्थितियाँ परिवार, विद्यालय अथवा समाज में कहीं भी उत्पन्न हो सकती हैं।

(3) प्रत्याशित भय से बचने के लिए बालक अपराधपूर्ण व्यवहार अपनाता है। जैसे—खेल के साथियों से झगड़ा करना, पड़ोसियों से संघर्ष करना अथवा छात्रों के गुणों से टकराव होना।

(4) किशोर बालक असफलताएँ मिलने पर प्राय: अपराधों की शरण लेकर अपने आपको संतुष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। स्कूली परीक्षा में असफलता का अपराध से उच्च सह-सम्बन्ध है। ऐसी स्थिति में बालक सुस्त, झगड़ालू, झूठ बोलने वाला एवं नियम भंग करने वाला बन जाता है। अधिकांश भारतीय पाठशालाओं में त्रुटिपूर्ण अध्यापन विधियों के कारण बालकों में व्यवहार सम्बन्धी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। सामूहिक शिक्षा में मंद बुद्धि बालक पिछड़ने लगता है और असफल होकर निराश हो जाता है। इसी प्रकार कुशाग्र बुद्धि बालकों के विक्षिप्त और विकल होने की सम्भावना बनी रहती है।

(5) पुराने मनोवैज्ञानिकों (गोडार्ड आदि) का विश्वास था कि अपराधी

---

1 "The delinquent is then an individual in whom instructive drives are strong conscience is weak, and the ego is bent upon immediate pleasure without respect to generally accepted norms of behaviour." —Cole

2 "A child is technically delinquent when his anti-social tendencies appear so grave that he becomes or ought to become the subject of official action" —Cyril Burt : *Young Offender* p. 212.

3 "The etiology of delinquent behaviour is still not very well understood. There is however, general agreement that no single cause for delinquent exists, that the behaviour arises from complex interrelated causes of the misconduct is merely Symptomatic." —Kvayaceus : *Journal of Delinquency and Schoo*

बालक मंद बुद्धि होते हैं परन्तु आधुनिक खोजों से पता चलता है[1] कि अधिकांश अपराधी बालकों की बुद्धि उपलब्धि 70 से 110 तक होती है। कुछ मंद बुद्धि तथा कुछ उत्तम बुद्धि वाले होते हैं। वास्तव में बुद्धिमत्ता का अपराध से कोई सम्बन्ध प्रमाणित नहीं हो सका है। परन्तु कुछ लोगों का विश्वास है कि अधिक कुशाग्र बुद्धि अपराधी प्राय: प्रकाश में नहीं आते। इनकी अपेक्षा मंद बुद्धि अपराधी शीघ्र ही पकड़े जाते हैं और उनका अपराध शीघ्र प्रकट हो जाता है।

(6) अपराध का वास्तविक सम्बन्ध अपराधी के व्यक्तित्व से होता है। प्राय: प्रत्येक अपराध की पृष्ठभूमि में अपराधी की विक्षिप्तावस्था (Frustrated Condition) होती है। अपराध के मनोवैज्ञानिक कारणों में व्यक्तित्व एक महत्वपूर्ण कारण है।

(7) यह धारणा अब त्रुटिपूर्ण सिद्ध हो चुकी है कि अपराध वंश परम्परागत होते हैं। उत्पादक गुण-सूत्र (Chromosomes) कहाँ तक अपराध का कारण होते हैं इसके बारे में अभी तक कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता।

(8) अपराध के सामान्य कारण सामाजिक दशा में ही खोजने चाहिए। सामाजिक असंगठन, निर्धनता, निवास स्थान का अभाव, खेल और मनोरंजन का अभाव, रोग, माता-पिता अथवा शिक्षकों का अपराधपूर्ण व्यवहार आदि। माता-पिता के लम्बे समय तक अनुपस्थित रहने के कारण भी घरेलू वातावरण में दया, प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार का अभाव उत्पन्न हो जाता है।

(9) जिन घरों में बाल-बालिकाएँ घरेलू वातावरण में कोई रुचि नहीं रखते। ऐसे घरों में न तो वे सुरक्षा अनुभव करते हैं और न ही उनकी आवश्यकताएँ पूर्ण होती हैं तथा वे कोई रोमांचकारी अनुभव (Adventure) भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं। फलस्वरूप, सुरक्षा का अभाव, अमान्यता, (Non-recognition) और अरुचि के कारण ही ये बालक-बालिकाएँ अपराधपूर्ण कार्यों को अपनाते हैं। ये बालक समाज-विरोधी कार्यों में रुचि लेने लगते हैं और समाज विरोधी व्यक्तियों के सम्पर्क से आनन्दित होते हैं।

(10) बालक के अपराध का कोई व्यक्तिगत कारण भी हो सकता है, जैसे—स्वभावगत, विचित्रता, अस्वस्थता, हीनता की भावना-ग्रन्थि और व्यक्तिगत असफलताएँ। ऐसे बालक प्राय: अधिकारों के द्वारा व्यक्तिगत क्षतियों की पूर्ति करने का प्रयत्न करते हैं।

(11) अपराध का कोई एक मूल कारण नहीं होता अपितु एक ही अपराध अनेक कारणों और विषम परिस्थितियों से उत्पन्न होता है, जैसे—समझ की कमी, दूरदर्शिता का अभाव, उच्च विचारों की कमी। कभी-कभी कोई परिस्थिति अथवा उत्तेजना की उत्पत्ति भी अपराध विशेष को घटित करने के लिए पर्याप्त शक्तिशाली सिद्ध हो जाती है।

(12) अपराध चारित्रिक पतन का लक्षण है। अपराधी बालक-बालिकाओं का ईगो (Ego) या आत्म (Self) निर्बल हो जाता है।

---

1 बर्ट तथा हीले आदि के अनुसार

(13) स्नायविक रोग (Neurotic Symptoms) भी अपराध का कारण हो सकते हैं। मानसिक रोग के कारण भी तनाव, अन्तर-द्वन्द एवं आत्म नियंत्रण का अभाव बना रहता है।

(14) किशोरावस्था में काम प्रेरणायें (Sex-urges) विशेष रूप से अनेक प्रकार के अपराधों को जन्म देती हैं।

बाल-अपराधों की जाँच-पड़ताल

किसी अपराध का यथार्थ कारण ज्ञात करना बहुत कठिन है। इसके लिए अपराधी बालक के व्यक्तित्व की संरचना का गहन अध्ययन करना चाहिए। उस बालक की व्यवहार सम्बन्धी प्रदत्त एवं सूचनायें अनेक क्षेत्रों से एकत्र करनी चाहिए। डाक्टरी परीक्षण से उसके शारीरिक विकार और अभावों की जानकारी हो सकती है। इसके पश्चात उसकी बुद्धिमत्ता का स्तर निश्चित करना चाहिए। इस कार्य में अध्यापक बुद्धि परीक्षाओं और व्यक्तित्व परीक्षाओं दोनों का ही प्रयोग कर सकता है। प्रक्षेप विधियाँ (Projective techniques) इस दृष्टि से अधिक उपयोगी सिद्ध होती हैं, जैसे—T. A. T. और C. A. T. (Thematic Apperception Tests and Children's Apperception Tests) इसके अतिरिक्त खेल प्रणाली का भी प्रयोग किया जा सकता है। आवश्यकतानुसार अपराधी बालक का साक्षात्कार मानसिक चिकित्सक से भी कराना चाहिए।

बाल अपराधों का अध्ययन

अपराध के विभिन्न कारण और उनसे सम्बन्धित क्षेत्रों का वर्गीकरण

कारण	अध्ययन के क्षेत्र
1. जैविक अथवा आनुवांशिक कारण	अपराधियों के वंश वृक्षों का अध्ययन।
	उत्पादक गुण सूत्रों का अध्ययन।
	अपराधियों की शारीरिक बनावट का अध्ययन।
2. शारीरिक कारण	अपराध और शारीरिक न्यूनताओं का अध्ययन।
	अपराध और यौनांगों के विकास का अध्ययन तथा यौन व्यवहार का अध्ययन।
	अपराध और प्रणाली विहीन ग्रन्थियों द्वारा रस स्राव का अध्ययन।
3. मनोवैज्ञानिक कारण	अपराध और स्वास्थ्य।
	अपराध और बुद्धिलब्धि का अध्ययन।
	अपराध और स्नायविक रोग।
	अपराध और मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन (Enimical Studies)
	अपराध और संवेगात्मक असन्तुलन का अध्ययन।
	अपराध और मानसिक आ[illegible]ताएँ।

	अपराध और मानसिक स्वास्थ्य । असफलताएँ (निराशा) और अपराध ।
4. सामाजिक कारण	अपराध और सहसम्बन्धियों तथा साथियों का अध्ययन । अपराध और बस्तियों का वातावरण । अपराध और सामाजिक विघटन अथवा सामाजिक संघर्ष एवं वर्ग संघर्ष । अपराध और अवकाश के समय की क्रियाएँ, रुचियाँ तथा मनोरंजन । अपराध और सामाजिक रीति-रिवाज एवं ऊँच-नीच की भावना ।
5. पारिवारिक कारण	अपराध और परिवार का विघटन, पारिवारिक संघर्ष । अपराध और परिवार का आर्थिक सामाजिक स्तर । अपराध और परिवार का नैतिक स्तर । अपराध और टूटे हुए परिवार, अनाथ बच्चे ।
6. स्कूली कारण	अपराध और विद्यालय का अनुशासन । अपराध और परीक्षा प्रणाली, अध्यापकों का व्यवहार, पक्षपातपूर्ण तथा अन्यायपूर्ण व्यवहार, छात्र-संघर्ष ।
7. सांस्कृतिक कारण	अपराध और अश्लील साहित्य, चलचित्र, घटिया मनोरंजन, अपराधी-उपन्यास, अश्लील चित्र । अपराध और राजनैतिक निर्वाचन, जन-संख्या का घनत्व एवं औद्योगिक वातावरण ।

अपराधों से मुक्ति

अपराधी बालक को अपराधों से मुक्त कराने का सबसे सुन्दर उपाय उसके व्यक्तित्व को सुधारना है । उसको पुनर्व्यवस्थापन और पुनः शिक्षा द्वारा सुधारा जा सकता है । अपराधी बालक-बालिकाओं को सुधारने के सभी प्रयत्न व्यक्ति के अनुकूल होने चाहिए न कि अपराध के अनुकूल । पुराने लोगों का विचार था कि अपराध के अनुपात में दण्ड देकर ही अपराधी को सुधारा जा सकता है । दण्ड द्वारा उसमें योग्य बुद्धिमत्ता अथवा नैतिकता उत्पन्न की जा सकती है । वास्तव में बाल-अपराधियों को दण्ड की आवश्यकता नहीं होती अपितु इसके विपरीत उन्हें सहानुभूति, दया, सहयोग, प्रेम और समायोजन की आवश्यकता होती है । दंड से तो अपराध की वृद्धि होती है और अधिकांश अपराधी कठोर हो जाते हैं ।

कुछ अपराधी बालक-बालिकाओं के लिए वातावरण में परिवर्तन करना नितान्त आवश्यक होता है । कुछ देशों में तो ऐसे कानूनों का ही निर्माण हुआ है और बाल-न्यायालय के आदेशानुसार बाल-अपराधियों को दूषित घरेलू वातावरण से पृथक किया जा सकता है । भारत के बाल-अपराध सम्बन्धी नियमों में केवल अपराधियों को पकड़ने, मुकदमा चलाने और दण्ड देने का ही विधान है । दुर्भाग्यवश

हमारे यहाँ बाल-अपराधियों को व्यवस्थापित एवं पुनः शिक्षित करने का उत्तरदायित्व किसी भी प्रकार की शिक्षण संस्थाओं पर नहीं है। अपितु बाल-अपराधियों को किसी अनाथालय, बाल-निकेतन अथवा किशोर सदन (Juvinile Jail) आदि में रख दिया जाता है। शिक्षा विभाग द्वारा शीघ्र ही ऐसे विशेष मान्यता प्राप्त स्कूलों का प्रबन्ध सभी प्रान्तों में होना चाहिए, जहाँ किशोर अपराधियों को यथायोग्य शिक्षा दी जा सके। ऐसी पाठशालाओं में अध्ययन का कार्य पूर्णतः एक मनोवैज्ञानिक विधि होगी। ऐसे स्कूलों में अध्यापक एवं मुख्याध्यापक विशेष रूप से प्रशिक्षित होने चाहिए जिससे कि वे मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि द्वारा प्रत्येक बाल अपराधी की कठिनाइयों और समस्याओं को समझकर उनका निराकरण भी कर सकें। इन स्कूलों में विषय ज्ञान की अपेक्षा सुधार, समायोजन एवं व्यक्तित्व पुनर्गठन पर विशेष बल दिया जाना चाहिए। इन विशेष स्कूलों का वातावरण भी इस प्रकार का होना चाहिए, जिसमें रहकर बालक अनेक माध्यमों द्वारा रचनात्मक आत्म प्रकाशन स्वच्छन्दतापूर्वक कर सकें। इन अपराधियों को अपनी खोई हुई मर्यादा, आत्म सम्मान और मान्यता प्राप्त कराना नितान्त आवश्यक है। इन पाठशालाओं में मानसिक चिकित्सकों की सेवाओं का सर्वोत्तम उपयोग हो सकता है।

बाल अपराधों की संख्या कम करने के लिए घर और पाठशाला के वातावरण में परिवर्तन करना भी अति आवश्यक है। घर में माता-पिता घरेलू वातावरण का प्रमुख अंग है और स्कूल में अध्यापक। वे अपने दुर्व्यवहार से ही बच्चों को अपराधी बना देते हैं। ऐसे माता-पिता अभिभावकों एवं शिक्षकों को योग्य प्रशिक्षण तथा मनोवैज्ञानिक परामर्श मिलना आवश्यक है। बच्चों के प्रति उनके दृष्टिकोण में सुधार होना बहुत आवश्यक है। तभी वे स्वस्थ, चरित्रवान्, हँसते-खेलते बच्चों का पालन-पोषण एवं शिक्षण करने में सफल हो सकेंगे। हमारे समाज में किशोर और युवकों के लिए संगठनात्मक संस्थाओं का अभाव है। किशोर समितियाँ और युवक संगठन आदि प्रत्येक गाँव मोहल्ले और नगर में होने चाहिए। जिनका उद्देश्य मनोरंजन और खेल-कूद के अतिरिक्त समाज सेवा और चारित्रिक विकास करना हो। इन संस्थाओं के कार्यक्रमों में भाग लेकर प्रत्येक किशोर एवं युवक अपने आपको प्रगतिशील समाज का अंग अनुभव कर सकेगा। अब हम संक्षेप में बाल-व्यवहार एवं अनुभवों के उन क्षेत्रों की व्याख्या करेंगे जिनके द्वारा अपराध की प्रवृत्तियों की रोकथाम की जा सकती है। इसके तीन प्रमुख क्षेत्र हैं—

(क) पारिवारिक अनुभव (ख) स्कूली अनुभव (ग) सामाजिक अनुभव।

इन तीनों क्षेत्रों में अपराध की रोकथाम के उपाय निम्नलिखित हैं :

क्षेत्र	कार्य एवं दशाएँ
(क) पारिवारिक अनुभव और परिवार के कार्य	प्रेम, सहयोग और सहानुभूतिपूर्ण पारिवारिक वातावरण। परिवार में आवास, उपचार, खेलकूद, मनोरंजन, स्वस्थ भोजन की समुचित व्यवस्था माता-पिता के प्रेम पूर्ण सम्बन्ध, बच्चें [illegible] पूर्ण

	व्यवहार और पारिवारिक कर्तव्यों का पालन, बच्चों की देखभाल, धार्मिक नैतिक शिक्षा, अच्छी आदतें सिखाना और उन्हें स्वावलम्बी बनाना।
(ख) विद्यालय में अनुभव एवं विद्यालय के कार्य	उत्तम अनुशासन की स्थापना करना। शैक्षिक प्रेरणाएं प्रदान करना। पुस्तकालय, खेल-कूद एवं मनोरंजन की व्यवस्था करना। शिक्षकों के अनुकरणीय आचरण का प्रभाव। छात्रों पर व्यक्तिगत ध्यान देना। पाठ्य सहगामी क्रियाओं के माध्यम से रचनात्मक कार्यक्रमों की व्यवस्था करना—जैसे, वाद-विवाद प्रतियोगिताएँ, गोष्ठियाँ, यात्राएं, समाजसेवा के कार्य, स्काउटिंग आदि। शैक्षिक प्रगति और निर्देशन की व्यवस्था।
(ग) सामाजिक अनुभव और समाज के कार्य	सामाजिक सुरक्षा की भावना का विकास। समानता, स्वतन्त्रता और समान अवसरों की व्यवस्था। आवास, मनोरंजन, चिकित्सा, यातायात, खेल-कूद, सांस्कृतिक कार्यक्रम आदि की समुचित व्यवस्था। निर्धन और पिछड़े वर्गों के लिए सहायता कार्य। सामाजिक संस्थाओं का विकास। न्याय, सुरक्षा, शिक्षा और व्यवसायों की व्यवस्था। राजनैतिक स्थिरता और आर्थिक विकास कार्यों की व्यवस्था। संकटकाल में विशेष सेवाएं प्रदान करना।

बाल अपराधियों का व्यवस्थापन एवं उपचार

बाल अपराधियों को सुधारने, उन्हें अपराध के मार्ग से पृथक करने तथा मनोविकारों से मुक्त करने की अनेक विधियाँ प्रचलित हैं। इन्हें तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(क) मनोवैज्ञानिक उपचार विधियाँ।
(ख) समाजशास्त्रीय विधियाँ।
(ग) वैधानिक उपचार अथवा व्यवस्थापन।

उपचार की विधियाँ	उपचार कार्यक्रम
(क) मनोवैज्ञानिक विधियाँ (Psychological Methods)	(i) प्रवृत्ति जन्य प्रेरणाओं का शोधन (ii) मनोविश्लेषण द्वारा अचेतन मन का अध्ययन तथा उपचार : (iii) मनो अभिनय (Psychodrama) द्वारा संवेगों, तनावों और संघर्षों से मुक्ति दिलाना। (iv) खेल चिकित्सा (Play Therapy)

(ख) समाजशास्त्रीय विधियाँ

(i) अनाथालय, शिशुकेन्द्र, सुधारगृह आदि की व्यवस्था करना। शिशुता सेवाएँ (Apperenticeship Services)।

(ii) प्रचार कार्य, पोस्टर, रात्रि पाठशालाएँ, मनोरंजन क्लब, यूथ होस्टल, चल-पुस्तकालय, परामर्श सेवाएँ एवं स्वास्थ्य केन्द्र आदि की व्यवस्था।

(ग) वैधानिक विधियाँ

(i) किशोर न्यायालय (Juvenile Courts)—यहाँ पर बाल अपराधी के अपराध का सहानुभूतिपूर्ण ढंग से परीक्षण होता है और न्याय की व्यवस्था की जाती है। निर्णय के उपरान्त अपराधी को सुधारगृह, बंदीगृह अथवा सुधार अधिकारी के पास भेज दिया जाता है।

(ii) प्रवीक्षण (Probation)—बाल अपराधी को जेल न भेजकर सुधार अधिकारी की देख-रेख में रखा जाता है।

(iii) किशोर सदन (Juvenile Jails)—किशोर अपराधियों के लिए पृथक बंदीगृह बनाये गये हैं जहाँ सुधारात्मक कार्यक्रम चलाये जाते हैं।

(iv) किशोर सुधारगृह (Juvenile Reformatories)—इन संस्थाओं में औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था रहती है।

(v) कारावास (Jail)—बार-बार अपराध करने वाले अथवा कठोर अपराध करने वाले किशोर अपराधियों को समाज से पृथक कारागार में रखा जाता है।

(vi) सुधार विद्यालय—इस श्रेणी में बोर्स्टल संस्थाएँ (Borstal Institution) जैसी अनेक संस्थाएँ आती हैं जिनका कार्यक्रम तो स्कूलों के समान होता है, परन्तु नियन्त्रण जेल के समान होता है।

कुछ समस्यात्मक बालक
(Some Problem Children)

हम उन बालकों को समस्यात्मक बालक अथवा समस्या प्रधान बालक कहते हैं जिनके व्यवहार अथवा व्यक्तित्व में इस प्रकार की असामान्यताएँ होती हैं जिनके कारण वे अन्य बालकों से पृथक ही दिखाई देते हैं। वे अपनी समस्या के कारण सभी के ध्यान का केन्द्र बन जाते हैं। उनकी समस्याएँ परिवार, विद्यालय अथवा समाज के लिए पीड़ा और चिन्ता का विषय बन जाती हैं। इनकी गम्भीर असामान्य बातों में किसी न किसी रूप में अपराध के लक्षण विद्यमान रहते हैं। इसीलिए इन्हें अपराधी न कहकर समस्यात्मक बालक कहा जाता है। यदि इनकी समस्या

नियन्त्रित नहीं किया जाता है तो ये एक दिन अवश्य ही कानून की दृष्टि में अपराधी बन जाते हैं। कुछ सामान्य समस्याएँ और उनसे सम्बन्धित विलक्षणताएँ निम्नलिखित हैं। प्रत्येक समस्या के साथ समाधान के उपाय भी संक्षेप में प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

समस्या	व्यवहार, लक्षण और समाधान
1. झूठ बोलना	**कारण**—भय की दशा में, दण्ड से भयग्रस्त होकर अथवा मनोविनोद के लिए। **लक्षण**—डींग मारना, अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करना, मिथ्या अभिमान दिखाना, मन-गढ़न्त बातें बनाना, झूठे आरोप लगाना, स्वार्थ सिद्ध करना, शत्रुता निभाना, काम सन्तुष्टि करना। **समाधान**—आत्म (Self) का समुचित विकास करना, आत्म को समझना, निर्भयता, सच्चरित्रता एवं साहस आदि चारित्रिक गुणों का विकास करना चाहिए। दण्ड देने से कोई लाभ नहीं होता। शारीरिक तथा मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना, मानसिक स्वास्थ्य लाभ, तनाव और संघर्षों को दूर करना।
2. चोरी करना	**कारण**—संग्रह प्रवृत्ति से उत्पन्न लालच का भाव, अज्ञानता, दबी हुई काम प्रेरणाएँ, क्षति पहुँचाने की अचेतन मन की प्रेरणा, श्रेष्ठता प्राप्त करने की भावना अथवा साहस प्रदर्शन की भावना, बुरी आदतों एवं संगत का प्रभाव तथा अभावग्रस्तता आदि। **लक्षण**—सन्देहपूर्ण व्यवहार, ईर्ष्या से पीड़ित रहना, अधिक व्ययशील होना, अधिक बातून, आवश्यकताओं में वृद्धि करना, कपटपूर्ण व्यवहार करना, योजनाएँ बनाना, टोली का संगठन करना एवं षड्यन्त्र रचना आदि। **समाधान**—अनावश्यक दोषारोपण करना, नैतिकता का विकास, अच्छे स्थायीभाव एवं आत्मगौरव का स्थायीभाव जाग्रत करना, बालक की आवश्यकताओं की पूर्ति, खेल-कूद मनोरंजन आदि का पर्याप्त अवसर देना, दूसरों के प्रति उदारता, सम्मान, सहिष्णुता के भाव जाग्रत करना, खोया हुआ आत्मगौरव प्राप्त करना, रचनात्मक कार्यों में रुचि की वृद्धि कराना।

3. क्रोधित होना अथवा मार-पीट करना	कारण—युयुत्सा प्रवृत्ति का भड़कना, ईर्ष्या करना, क्षतिग्रस्त होना या कार्य में बाधा पड़ना, व्यंग, अनादर अथवा दोषारोपण का शिकार बनना, आत्मप्रदर्शन अथवा श्रेष्ठता का प्रदर्शन करने की आकांक्षा, ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों का प्रभाव, निराशाजनक परिस्थिति तथा स्वभावगत कारण, संघर्षपूर्ण वातावरण तथा संवेगात्मक असन्तुलन । लक्षण—छेड़-छाड़ करना, अनुशासनहीनता, तोड़फोड़ करना, चिल्लाना, गालियाँ बकना, दूसरों पर व्यंग करना, बदला लेना, आन्दोलनकारी अथवा सहयोग का मार्ग ग्रहण करना, आत्म-नियन्त्रण का अभाव । समाधान—युयुत्सा के विपरीत प्रवृत्तियों को उत्तेजित करना, विचारशील बनाना, संवेगात्मक सन्तुलन स्थापित करना, खेल तथा मनोरंजन की व्यवस्था करना, वातावरण या स्थान परिवर्तन करना, प्रेम, सहयोग और सहानुभूति का विकास तथा बाधाओं से मुक्ति एवं प्रतियोगिताओं का आयोजन ।
4. धूम्रपान करना	कारण—विवेकहीन अनुकरण, श्रेष्ठता की भावना, काम प्रवृत्ति की अप्रत्यक्ष सन्तुष्टि, आत्म-प्रकाशन की भावना । लक्षण—सामाजिक व्यवहार, मित्रता, छुपकर कार्य करना, बुरी आदतें । समाधान—मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति, बुरी संगत से मुक्त करना, रचनात्मक कार्यक्रम बनाना, अन्य बुरी आदतों से मुक्त करना ।
5. विद्यालय से भागना	कारण—विद्यालय का अरुचिकर और दम घोटने वाला वातावरण, भयग्रस्त रहना, मान्यता का नहीं मिलना, रुचिकर कार्यक्रमों का अभाव, प्रेरणाओं का अभाव । लक्षण—पढ़ने-लिखने में अरुचि, ध्यान भटकना, विद्यालय के बाहर के कार्यक्रमों, वस्तुओं एवं घटनाओं में रुचि, साहसिक कार्य (Adventure) करने की भावना, नियमों का उल्लंघन करना । समाधान—विद्यालय के कार्यक्रमों को आकर्षक बनाना, बुरी संगत से बचाना । शैक्षिक कार्यों में रुचि बढ़ाना, भ्रमण यात्रा आदि का आयोजन, खेल तथा मनोरंजन की व्यवस्था, शिक्षण विधियों में परिवर्तन ।

6. गृह कार्य न करना	कारण—मंद बुद्धि होना, पिछड़ना, शिक्षा कार्यों में रुचि का अभाव, घर पर कार्य भार अधिक होना एवं सहायता की कमी। लक्षण—कक्षा कार्य में रुचि का अभाव, स्कूल से भागना, अनियमित रहना, ध्यान भटकना आदि। समाधान—पारिवारिक दशाओं का अध्ययन और उसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन, शैक्षिक सहायता, शिक्षा कार्य में रुचि बढ़ाना, प्रशंसा तथा पुरस्कार का उपयोग, कठिनाइयों का निवारण करना।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. बाल्यकाल में अपराध उत्पन्न करने वाली दशाओं का वर्णन कीजिए। अपराध की रोकथाम में परिवार के क्या कर्तव्य हैं ?
2. समस्यात्मक बालक से आप क्या समझते हैं ? किन्हीं दो समस्याओं के कारण, लक्षण और समाधान बताइये।
3. क्या अपराध सीखने का परिणाम है ? कौन-से अनुभव अपराध को जन्म देते हैं।
4. मानसिक स्वास्थ्य और अपराध का क्या सम्बन्ध है ? अपराध के मनोवैज्ञानिक कारणों पर प्रकाश डालिए।
5. बाल अपराध का उपचार करने की विभिन्न विधियों का वर्णन कीजिए।
6. बाल अपराधों की रोकथाम के लिए अध्यापक क्या कर सकता है ? बाल अपराधियों से निपटने के लिए विद्यालय में क्या कार्यक्रम आयोजित होने चाहिए।

क्रियात्मक अनुसन्धान
(ACTION RESEARCH)

क्रियात्मक अनुसन्धान का विचार अभी नवीन ही है। कुछ वर्ष हुए यह अनुभव किया गया कि मौलिक अनुसन्धान द्वारा प्राप्त निष्कर्षों से व्यावहारिक क्षेत्र में कार्य करने वाले कार्यकर्ता लाभ नहीं उठा पाते। उनमे उसके प्रति चेतना और उसकी जानकारी का भी अभाव है। फलस्वरूप, एक नवीन अनुसन्धान-प्रक्रिया का उद्भव हुआ जिसका उद्देश्य शिक्षा, समाज-सुधार, व्यवसाय अथवा औद्योगिक क्षेत्र के कार्यकर्ताओं द्वारा स्वयं अपनी समस्याओं का अध्ययन एवं वैज्ञानिक ढंग से उनका समाधान करना है। इस क्रिया के द्वारा प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर ही वे वर्तमान क्रिया में सुधार करते हैं तथा भावी योजनाएँ भी बनाते हैं। इस विधि को प्रकाश में लाने और एक आन्दोलन का रूप देने का श्रेय टीचर्स कॉलेज कोलम्बिया विश्व विद्यालय के होरेसमन लिंकन इन्स्टीट्यूट ऑफ स्कूल एक्सपेरिमेन्टेशन के प्रोफेसर स्टीफेन एम० कोरे को है।

परिभाषा—कोरे के अनुसार, "क्रियात्मक अनुसन्धान वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यावहारिक कार्यकर्ता वैज्ञानिक ढंग से अपनी समस्याओं का अध्ययन करते हैं और अपने निर्णय और क्रियाओं में निर्देशन, सुधार और मूल्यांकन करते हैं।"[1]

यह परिभाषा इस बात को स्पष्ट करती है कि क्रियात्मक अनुसन्धान वास्तविक क्रिया में सुधार लाने का एक साधन प्रधान है। शिक्षा के क्षेत्र में इस प्रकार का अनुसन्धान विद्यालयों की दैनिक समस्याओं के अधिक निकट है। इसमे अनुसन्धानकर्ता कोई बाहरी व्यक्ति न होकर, विद्यालय अथवा किसी क्रिया में लगे हुए व्यक्ति स्वयं ही होते हैं। मौलिक अनुसन्धान जहाँ नवीन तथ्यों एवं सिद्धान्तों की स्थापना करता है वहीं क्रियात्मक अनुसन्धान नित्य की क्रियाओं में सुधार एवं विकास करने का प्रयास करता है। इस विवेचन के आधार पर क्रियात्मक अनुसन्धान की निम्नलिखित विशेषताएँ प्रस्तुत होती हैं :

(1) क्रियात्मक अनुसन्धान में शिक्षा आदि व्यावहारिक क्रियाओं की दैनिक समस्याओं का विधिवत अध्ययन किया जाता है।

---

1 "The process by which practitioners attempt to study their p[...] fically in order to guide, correct and evaluate their decision[s] [...] what a number of people have called action research. —S[...]

(2) उस क्रिया में लगे हुए अध्यापक, प्रधानाचार्य, निरीक्षक, समाज-सुधारक अथवा व्यवस्थापक आदि स्वयं अनुसन्धान में क्रियाशील होते हैं।

(3) दैनिक समस्याओं का अध्ययन उस व्यावहारिक क्रिया में सुधार एवं विकास के दृष्टिकोण से होता है।

(4) सभी कार्यकर्ता एक वैज्ञानिक दृष्टि से कार्य करते हैं तथा पूर्वाग्रह एवं पक्षपात से बचने का प्रयास करते हैं।

(5) क्रिया पद्धति में जनतान्त्रिक मूल्यों को प्रोत्साहन दिया जाता है।

(6) क्रियात्मक अनुसन्धान के द्वारा कार्यकर्ताओं में चेतना आती है, वे अपनी समस्याओं के प्रति संवेदनशील होते हैं तथा उसके समाधान हेतु प्रयास भी करते हैं।

(7) कार्यकर्ताओं द्वारा वस्तुनिष्ठ ढंग से अध्ययन एवं सुधार किया जाता है।

क्रियात्मक अनुसन्धान तथा मौलिक अनुसन्धान में अन्तर

क्रियात्मक अनुसन्धान तथा मौलिक अनुसन्धान में अन्तर है। इन अन्तरों पर हम अनुसन्धान के उद्देश्य, समस्या, महत्व, मूल्यांकन के माप दण्ड, न्यादर्श, सामान्यीकरण, अभिकल्प तथा कार्यकर्ताओं की दृष्टि से विचार करेंगे।

(1) उद्देश्य की दृष्टि से अन्तर—क्रियात्मक अनुसन्धान का उद्देश्य क्रिया में सुधार उत्पन्न करना है, जबकि मौलिक अनुसन्धान का उद्देश्य नये सत्य की खोज करना है।

(2) अनुसन्धान की समस्या और महत्व की दृष्टि से अन्तर—(क) क्रियात्मक अनुसन्धान की समस्या किसी विद्यालय विशेष अथवा विशेष क्रिया से सम्बन्धित होती है, परन्तु मौलिक अनुसन्धान की समस्त परिस्थितियों से उत्पन्न होती है।

(ख) क्रियात्मक अनुसन्धान की समस्या का क्षेत्र संकुचित होता है जबकि मौलिक अनुसन्धान की समस्या का क्षेत्र अपेक्षाकृत विस्तृत होता है।

(ग) क्रियात्मक अनुसन्धान की समस्या का महत्व उस विशेष क्रिया में सुधार करने से होता है तथा मौलिक अनुसन्धान का महत्व नये सत्य की खोज में है।

(घ) क्रियात्मक अनुसन्धान की समस्या व्यावहारिक कठिनाइयों से सम्बद्ध होती है परन्तु मौलिक अनुसन्धान की समस्या सैद्धान्तिक कठिनाई से सम्बन्धित होती है।

(3) मूल्यांकन के मापदण्ड की दृष्टि से अन्तर—क्रियात्मक अनुसन्धान के मूल्यांकन का मापदण्ड कार्य-पद्धति में परिवर्तन, सुधार तथा कार्यकर्ताओं की सफलता है, जबकि मौलिक अनुसन्धान के मूल्यांकन का मापदण्ड नवीन सत्य की खोज अथवा नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना होता है।

(4) न्यादर्श की दृष्टि से अन्तर—क्रियात्मक अनुसन्धान में न्यादर्श छोटा होता है तथा उसके चयन की विशेष समस्या नहीं होती, जबकि मौलिक अनुसन्धान में न्यादर्श अपेक्षाकृत बड़ा होता है और उसके चयन में बड़ी सतर्कता रखनी होती है।

(5) सामान्यीकरण की दृष्टि से अन्तर—क्रियात्मक अनुसन्धान में सामान्यीकरण की विशेष आवश्यकता नहीं होती परन्तु सामान्यीकरण ही मौलिक अनुसन्धान का मुख्य कार्य है।

(6) रूपरेखा की दृष्टि से अन्तर—क्रियात्मक अनुसन्धान की रूपरेखा परिवर्तनशील होती है परन्तु मूलभूत अथवा मौलिक अनुसन्धान की रूपरेखा में परिवर्तन सरलता और शीघ्रता से नहीं किया जा सकता। क्रियात्मक अनुसन्धान की रूपरेखा प्रस्तुत करने में विशेष तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती जबकि मौलिक अनुसन्धान में इसकी आवश्यकता होती है।

(7) अनुसन्धानकर्ता की दृष्टि से अन्तर—क्रियात्मक अनुसन्धान में अनुसन्धानकर्ता उस विद्यालय अथवा क्रिया से सम्बन्धित व्यक्ति होता है। उसका लक्ष्य भी अपने विद्यालय अथवा क्रिया से सम्बन्धित व्यक्ति ही होता है तथा उसका लक्ष्य अपने विद्यालय अथवा क्रिया की परिस्थिति में सुधार करना भी होता है। इसके विपरीत मौलिक अनुसन्धान में अनुसन्धानकर्ता विश्वविद्यालय का स्नातक, अध्यापक अथवा अनुसन्धान-अधिकारी या सहायक होता है। उसका सम्बन्ध किसी विशेष व्यावहारिक क्षेत्र से नहीं होता अपितु वह ज्ञान के क्षेत्र में नवीन सिद्धान्तों और सत्यों की खोज करता है।

शिक्षा में क्रियात्मक अनुसन्धान की आवश्यकता

आज की परिवर्तनशील परिस्थितियों में शिक्षा के क्षेत्र में क्रियात्मक अनुसन्धान को प्रोत्साहन देना एवं प्रयोग में लाना निम्नलिखित दृष्टि से आवश्यक हो गया है :

(अ) विद्यालयों की रूढ़िवादी क्रिया-पद्धति में सुधार एव परिवर्तन हेतु।

(ब) शिक्षा द्वारा जनतान्त्रिक मूल्यों के विकास का मार्ग प्रस्तुत करने हेतु।

(स) नवीन परिस्थितियों में बालकों के समायोजन की समस्याओं के अध्ययन तथा उनके लिये मार्ग ढूंढ़ने की दृष्टि से।

(द) शिक्षकों, प्रधानाचार्यों, निरीक्षकों तथा पर्यवेक्षकों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास करके स्वयं अपनी समस्याओं में रुचि विकसित करने के लिए।

(य) छात्रों के बहुमुखी विकास के हेतु विद्यालय की क्रियाओं के प्रभावपूर्ण नियोजन के लिए।

(फ) विद्यालयों के समक्ष उपस्थित शिक्षण-विधि, अनुशासन प्रोन्नति, पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं, छात्रों की उपस्थिति, पुस्तकालय के उपयोग एवं परीक्षा में नकल करने आदि समस्याओं का विश्लेषण करने तथा उनका समाधान ढूंढ़ने के लिए।

(र) विद्यालय और समाज के बीच की खाई को पाटने और उनके सम्बन्धों में सुधार और विकास के लिए।

(ल) शिक्षकों में नैतिकता व आत्मविश्वास के स्तर को उन्नत करने एवं पारस्परिक सहयोग द्वारा आत्म विकास की प्रेरणा देने हेतु।

(व) प्रत्येक क्षेत्र में छात्रों की उपलब्धि को विकसित करने हेतु।

प्रणाली तथा पदों की दृष्टि से क्रियात्मक अनुसन्धान और मौलिक अनुसन्धान में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों किसी समस्या का वैज्ञानिक ढंग से [illegible] करने

क्रियात्मक अनुसन्धान की प्रणाली तथा पद

एवं उसका समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। इस दृष्टि से क्रियात्मक अनुसन्धान में निम्नलिखित पद होते हैं :

(1) **समस्या की पहचान, उसका चयन एवं सीमांकन**—हम आये दिन अनेक समस्याओं का सामना करते रहते हैं परन्तु हम उनके प्रति न तो चैतन्य होते हैं और न ही वैज्ञानिक दृष्टि से उन पर विचार ही करते हैं। अनुसन्धान की दृष्टि से पहले अनुसन्धानकर्ता को क्षेत्र का निश्चय करना होता है। सीखना, प्रेरणा, रुचि, उपलब्धि आदि व्यापक क्षेत्र हैं। अनुसन्धान कार्य के लिए समस्या को सीमित तथा स्पष्ट रूप में निश्चित करना आवश्यक होता है। उदाहरणार्थ—छात्रों द्वारा गृह-कार्य न करना एक विस्तृत समस्या है। अनुसन्धान की दृष्टि से इसका सीमांकित रूप इस प्रकार हो सकता है—जूनियर कक्षाओं (6, 7, 8) के छात्रों द्वारा भाषा और गणित के विषयों में अध्यापक द्वारा दिये गये गृह-कार्यों को ठीक समय में पूर्ण न करना अथवा अव्यवस्थित ढंग से करना। दूसरी समस्या अपने विस्तृत रूप में इस प्रकार हो सकती है—विद्यालय के अन्तिम घण्टों में छात्रों का कक्षा से भाग जाना। इसका सीमांकन अनुसन्धान की दृष्टि से करें तो इस समस्या का प्रतिरूप इस प्रकार होगा—"विद्यालय के अन्तिम घण्टों (अवकाश के बाद) में 8, 9, 10 के छात्रों का सप्ताह के अन्तिम दिनों (शुक्रवार तथा शनिवार) में बिना अनुमति भाग जाने की समस्या।"

इस प्रकार का सीमांकन समस्या को अध्ययन हेतु उपयुक्त बनाता है तथा उसकी स्पष्ट रूपरेखा निश्चित करने में सहायता प्रदान करता है।

(2) **समस्या के कारणों का विश्लेषण**—समस्या के सीमांकन के पश्चात अनुसन्धानकर्ता उनके सम्भावित कारणों को ढूंढ़ने का प्रयास करता है। समस्या के कारणों पर विचार करते समय उसके लिए प्रमाण पर भी विचार करना होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जो कारण हम दे रहे हैं उनके लिए कुछ आधार भी है अथवा केवल काल्पनिक ही है? इस प्रकार कारणों और उनके लिए प्रमाणों की सूची तैयार कर लेते हैं।

समस्या के कारणों का विश्लेषण करते समय निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं :

(क) जिन कारणों का उल्लेख किया गया है, वे तर्कसंगत हों।
(ख) समस्या के कारणों का परीक्षण सम्भव हो।
(ग) कारणों का उल्लेख भ्रमपूर्ण न होकर विशिष्ट एवं स्पष्ट हो।
(घ) समस्या के कारणों की वास्तविकता का निश्चय अनेक प्रमाणों द्वारा किया जाय।
(ङ) इन कारणों पर किसका नियन्त्रण है?

कारणों का उचित विश्लेषण उन कारणों को दूर करने के लिए उचित क्रिया की रूपरेखा के निर्माण में सहायक होता है। यही क्रियात्मक परिकल्पना के निर्माण का आधार होता है। यदि रोग का निदान ही ठीक न हुआ हो तो उसका उपचार ही किस प्रकार उचित रूप में हो सकता है?

(3) क्रियात्मक परिकल्पना का निर्माण—क्रियात्मक अनुसन्धान का तीसरा महत्वपूर्ण पद क्रियात्मक परिकल्पना का निर्माण करना है। परिकल्पना अनुसन्धान की समस्या के समाधान का सुझाव देती है। इसके दो अंग होते हैं—(1) लक्ष्य एवं (2) कार्य प्रणाली। इस दृष्टि से परिकल्पना का निर्माण करते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि दोनों की ओर स्पष्ट संकेत किया जाय। क्रियात्मक अनुसन्धान की परिकल्पना का रूप कुछ इस प्रकार का होता है—जैसे, यदि गृह-कार्य छात्रों की रुचि के अनुसार दिया जाय और उसका नियमित निरीक्षण किया जाय, तो छात्र गृह-कार्य में रुचि लेने लगेंगे। यदि जाड़े के दिनों में 10 बजे की अपेक्षा 10-30 बजे से विद्यालय प्रारंभ हो तो विद्यार्थी प्रार्थना के अवसर पर अवश्य ही उपस्थित हो सकेंगे।

(4) क्रियात्मक परिकल्पना के परीक्षण की रूपरेखा तैयार करना—इस अनुसन्धान का चौथा महत्वपूर्ण पद परिकल्पना के परीक्षण के लिए रूपरेखा अथवा अभिकल्प तैयार करना है। रूपरेखा तैयार करने में इस बात का ध्यान रखना होता है कि अनुसन्धान-कार्य भी चलता रहे और विद्यालय के अन्य कार्यक्रमों में बाधा भी उत्पन्न नहीं हो। यह रूपरेखा कार्य को उचित दिशा प्रदान करती है, कार्य में वैज्ञानिकता लाती है, निश्चित परिणाम का ज्ञान होता है तथा त्रुटियों की जानकारी होती है। रूपरेखा तैयार करने में विशेष सावधानी रखनी होती है। इसके अन्तर्गत (1) क्रियाओं का विवरण, (2) उन क्रियाओं को किस ढंग से करना है, (3) इसके लिए किन साधनों की आवश्यकता होगी, तथा (4) कितना समय और धन लगेगा, आदि बातों का स्पष्ट उल्लेख करते हैं। उदाहरणार्थ—यदि हमारी क्रियात्मक परिकल्पना इस प्रकार हो—"यदि विद्यालय 10·30 पर आरम्भ हो तो अध्यापक तथा विद्यार्थी ठीक समय से आ सकेंगे, अतः इसकी रूपरेखा में क्रियाओं का उल्लेख इस प्रकार होगा: (1) विद्यालय को 10·30 पर आरम्भ करने के बारे में छात्रों तथा अध्यापकों से परामर्श; (2) विद्यालय 10·30 पर आरम्भ करना और नित्य समय से उपस्थिति लेना। इसकी विधि का उल्लेख इस प्रकार करना होगा: (1) अध्यापकों और छात्रों से सम्मति ली जायगी; (2) उपस्थिति ठीक समय पर उचित रूप में ली जायगी। आवश्यक साधनों में उपस्थिति रजिस्टर का उल्लेख करना होगा। इसमें तीन माह का समय लगेगा और व्यय कुछ नहीं होगा।

(5) परिणाम का मूल्यांकन—*क्रियात्मक अनुसन्धान का अन्तिम पद परिणाम* के मूल्यांकन का होता है। मूल्यांकन के आधार पर ही अनुसन्धानकर्ता निश्चित रूप से कह सकता है कि हमारी क्रिया के लक्ष्य की पूर्ति हुई अथवा नहीं। इसी के आधार पर भावी योजना में सुधार कर लेते हैं। अतएव मूल्यांकन में वस्तुनिष्ठता का होना आवश्यक है। यह मूल्यांकन निरीक्षण, मत-संग्रह, प्रश्नावली, साक्षात्कार, चेक-लिस्ट, रेटिंग स्केल, विभिन्न परीक्षणों तथा सांख्यिकीय विधियों द्वारा किया जाता है। इनका उपयोग करते समय इनकी विश्वसनीयता, वैधता तथा वस्तुनिष्ठता पर अच्छी प्रकार विचार कर लेना आवश्यक है तभी वैज्ञानिक निष्कर्ष प्राप्त हो सकते हैं, जिनके आधार पर अनुसन्धानकर्ता अपनी परिस्थितियों में सुधार कर सकता [illegible] विकास की योजनायें भी बना सकता है।

क्रियात्मक अनुसन्धान के विभिन्न पदों की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है :—

(1) समस्या के क्षेत्र का निश्चय एवं समस्या का चयन (Selection of the Problem)।

(2) समस्या का सीमांकन (Pin-pointing the Problem)

(3) सम्भावित कारणों का विश्लेषण (Analysis of Probable Causes)

यह विश्लेषण (क) अध्ययन (ख) अभिलेख (ग) प्रकाशित साहित्य तथा (घ) विचार-विमर्श द्वारा होगा।

(4) समस्या के सम्भावित कारणों की सूची तैयार करना (Listing out Causes)

इन कारणों पर इस दृष्टि से विचार करना होगा कि इनके लिए आधार क्या है ? यह एक धारणा है, अनुमान है अथवा प्रमाणशील भी है ?

(5) इस बात पर विचार करना कि इनमें कौन से कारण मेरे नियन्त्रण में हैं, जिनमें मैं स्वयं परिवर्तन करने में समर्थ हूँ।

(6) इन कारणों को प्राथमिकता के क्रम में रखना।

उदाहरणार्थ—

सम्भावित कारण	प्रमाण	क्या मेरे नियन्त्रण में है ?	प्राथमिकता क्रम
क	है	हाँ	II
ख	नहीं है	नहीं	—
ग	है	हाँ	I
घ	नहीं है	नहीं	—
च	है	नहीं	—

(7) क्रियात्मक परिकल्पना का निर्माण (Action Hypotheses)

जितने कारणों के प्रमाण होंगे तथा जितने अपने नियन्त्रण में होंगे उतनी ही परिकल्पनायें होंगी।

(8) क्रिया का स्वरूप अथवा अभिकल्प (Action Design)

मूल्यांकन (Evaluation of Action Plan)

मूल्यांकन के लिये क्या पद्धति अपनानी होगी तथा क्या इस क्रिया के द्वारा वर्तमान परिस्थिति में कोई सुधार हुआ है, आदि निष्कर्ष निकालने के लिए सांख्यिकीय विधियों का प्रयोग करना होगा।

यदि निष्कर्ष उत्साहवर्धक हो, तो भावी योजनाओं में इसका उपयोग कर सकते हैं।

दण्ड पाने पर भी बालक का झूठ बोलना, चोरी की आदत न छोड़ना, बुद्धिमान बालक का पिछड़ा होना, किसी विशेष कक्षा में अध्यापक को तंग करना, कक्षा से अलग रहना, दीवारों पर अश्लील बातें लिखना, फर्नीचर उलट देना, देर से आना, गृह-कार्य न करना आदि सम्बन्धी समस्याओं के निराकरण के लिये इन कारणों को जानकर ही उप-कल्पना के निर्माण तथा परीक्षण द्वारा क्रियात्मक अनुसन्धान की विधि अपनाई जा सकती है।

परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न

1. क्रियात्मक अनुसन्धान की परिभाषा दीजिये और शिक्षक के लिए समस्या समाधान में उसकी महत्ता बताइये।
2. क्रियात्मक अनुसन्धान संचालित करने के लिए अपने कार्य-क्षेत्र से किसी अनुभूत समस्या को चुनिये और उसकी अभिकल्पना बनाइये।
3. क्रियात्मक अनुसन्धान के विभिन्न पदों को स्पष्ट करते हुये मौलिक अनुसन्धान में अन्तर बताइये।
4. निम्नलिखित समस्याओं में से किसी एक के लिए क्रियात्मक अनुसन्धान की योजना बनाइये।
   (अ) दण्ड पाने पर भी एक बालक झूठ बोलना और चोरी करना नहीं छोड़ता।
   (ब) एक बुद्धिमान बालक परीक्षा में बहुधा असन्तोषजनक अंक प्राप्त करता है।
   (स) एक छात्र गणित के घण्टे में अपने शिक्षक को प्राय: तंग करता है जबकि अन्य अध्यापकों के साथ अच्छा व्यवहार करता है।
   (द) एक किशोरावस्था की लड़की बहुत शर्मीली है तथा नितान्त अकेली रहती है।
   (य) एक 13 वर्ष का लड़का विद्यालय की दीवारों पर प्राय: अश्लील बातें लिखा करता है।

49 (अ)

शैक्षिक सांख्यिकी—1
(STATISTICS)

पृष्ठभूमि, वितरण तथा वक्र
(Background Distributions and Curves)

पृष्ठभूमि—(1)

सांख्यिकी एक वैज्ञानिक विधि है जिसका कार्य भिन्न-भिन्न प्रयोगों तथा निरीक्षणों द्वारा प्राप्त प्रदत्तों, (Data) को एकत्र करना, उनका वर्गीकरण करना, वर्णन करना तथा उनकी व्याख्या (Interpretation) करना होता है। इसका वास्तविक ध्येय किसी भी जनसंख्या का सांख्यिकीय वर्णन तथा उससे निष्कर्ष निकालना है।

मनोविज्ञान का अध्ययन करने वाले व्यक्ति को सांख्यिकी का ज्ञान होना परम आवश्यक है। इसके निम्नलिखित तीन कारण हैं :—

(1) आधुनिक मनोविज्ञान को भली-भाँति समझने के लिए सांख्यिकी की भिन्न-भिन्न विधियों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रयोगात्मक विधियों द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है, और इन विधियों में सांख्यिकी का विशेष रूप से प्रयोग होता है।

(2) उच्च कोटि के मनोविज्ञान के क्षेत्र में विद्यार्थियों को प्रयोग स्वयं करने पड़ते हैं तथा उनकी रूपरेखा (Design) भी तैयार करनी पड़ती है। इन प्रयोगों तथा प्रयोग की रूपरेखा तैयार करने में सांख्यिकी की विशेष आवश्यकता होती है।

(3) सांख्यिकी का प्रशिक्षण (Training) स्वयं ही वैज्ञानिक विधि का प्रशिक्षण है, सांख्यिकी द्वारा जो निष्कर्ष प्राप्त होता है, वह भी वैज्ञानिक निष्कर्ष ही है।

मनोवैज्ञानिक जितने भी प्रयोग करता है, उनमें वह सम्पूर्ण जनसंख्या की यादृच्छिक (Random) विधि द्वारा एवं कुछ के न्यादर्श (Sample) द्वारा ही किसी निष्कर्ष को प्राप्त करता है। इसका कारण यह है कि सम्पूर्ण जनसंख्या पर प्रयोग करना कठिन होता है, अतएव उसका यादृच्छिक न्यादर्श (Random Sample) ले लिया जाता है। इसमें सांख्यिक को निम्नांकित दो बातें ध्यान में रखनी पड़ती हैं—

(1) प्रयोग की रूपरेखा इस प्रकार बनायी जाय जिससे कि वाह्य प्रतिकारकों (External Factors) का प्रभाव रोका जा सके।

(2) प्रयोग के निरीक्षणों द्वारा किसी निष्कर्ष को प्राप्त किया जा सके।

सांख्यिकीय प्रयोगात्मक विधि में निम्नलिखित शब्दों का विशेष प्रयोग होता है—

(1) जनसंख्या—इसका तात्पर्य भिन्न-भिन्न वस्तुओं के समूह से है, प्रयोग द्वारा समूह की सूचना प्राप्त होती है, यह जनसंख्या—मछलियों के समूह, बालकों के समूह, मोटरों के समूह, अभिवृत्ति का समूह आदि के बारे में *ज्ञान प्रदान करता* है। "जनसंख्या या समूह केवल व्यक्तियों के समूह को ही नहीं कहते हैं अपितु अन्य वस्तुओं या गुणों के समूह को भी कहते हैं।

(2) प्रत्येक वस्तु (Individual)—इसका तात्पर्य जनसंख्या की प्रत्येक वस्तु से है, उदाहरणार्थ यदि जनसंख्या से हमारा तात्पर्य आगरा शहर की पुरुषों की जनसंख्या से है तो प्रत्येक नर इसमें एक (Individual) होगा।

(3) प्रगुण (Attribute)—*इसका तात्पर्य प्रत्येक वस्तु की किसी विशेषता* से है। जैसे—हमको आगरा के प्रत्येक पुरुष की ऊँचाई ज्ञात करनी है तो ऊँचाई को प्रगुण कहा जायगा।

(4) प्राचल (Parameter)—यह आबादी या जनसंख्या का संख्यात्मक गुण है। यह केवल एक वस्तु से प्राप्त नहीं किया जाता है, अपितु यह पूर्ण जनसंख्या का औसत मान होता है। आगरा के नरों की औसत ऊँचाई को जनसंख्या का प्राचल कहते हैं।

(5) न्यादर्श (Sample)—किसी जनसंख्या में से कुछ वस्तुओं का चयन करना ही न्यादर्श कहलाता है। सम्पूर्ण जनसंख्या पर प्रयोग करना कठिन होता है। अतएव उसमें से कुछ वस्तुओं के अध्ययन द्वारा ही जनसंख्या के गुणों का ज्ञान हो जाता है।

(6) निरीक्षण (Observation)—इसके द्वारा न्यादर्श की प्रत्येक वस्तु का विशेष गुण ज्ञात किया जाता है।

(7) प्राक्कलन (Estimate)—यह न्यादर्श का वह प्रगुण है जोकि जनसंख्या के यादृच्छिक रूप में चयन किए गए लोगों अथवा वस्तुओं से सम्बन्धित है। इसमें प्रगुण का औसत ज्ञात करते हैं।

चल राशियाँ (Variables)—चल राशियाँ वे हैं जिनकी मात्रा प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न होती है तथा इनके द्वारा व्यक्तियों में भिन्नता बताई जा सकती है।

सतत चल राशि (Continuous Variables)—इस प्रकार की चल राशि में दो मानों के बीच बहुत-सी छोटी-छोटी मानें (Values) होती हैं, जैसे—ऊँचाई, भार तथा समय आदि। ऊँचाई को यदि फीट में नापें तो बीच के मान 2 फी० 1 इं०, 2 फी० 2 इं० आदि का प्रयोग किया जाता है।[1]

खण्डित चल राशि (Discrete Variables)—इस प्रकार की चल राशियों में मान निश्चित होता है। जैसे—कक्षा में छात्रों की संख्या एवं खेत में पेड़ों की संख्या आदि।[2]

---

1 "Continuous variables may take any value within a defined range of values."
2 "A discrete or discontinuous variable can take specific values only."

सांख्यिकी का मुख्य उद्देश्य जनसंख्या के किसी विशेष प्रगुण को संख्या के रूप में ज्ञात करना होता है। इसको ज्ञात करने की दो विधियाँ होती हैं :

1. प्रथम विधि यह है कि प्रत्येक वस्तु अथवा व्यक्ति का निरीक्षण किया जाय। उदाहरणार्थ—यदि आगरा शहर के लोगों की आय ज्ञात करनी है तो प्रत्येक व्यक्ति की पृथक-पृथक आय ज्ञात की जाय और पुनः उसका औसत ज्ञात किया जाय तो आगरा की जनसंख्या के प्रगुण का ज्ञान हो जाता है।

2. दूसरी विधि में सम्पूर्ण जनसंख्या का निरीक्षण न करके केवल जनसंख्या का यादृच्छिक न्यादर्श मात्र लेकर ही लोगों की औसत आय ज्ञात की जा सकती है। इसी विधि से सांख्यिकी का प्रयोग किया जाता है।

49 (ब)

शैक्षिक सांख्यिकी—2

आवृत्ति वितरण तथा उनका बिन्दु-रेखीय प्रदर्शन
(Frequency Distribution and their Graphical Representation)

आवृत्ति वितरण एक प्रकार का प्रदत्तों (Datas) का क्रम होता है जिससे यह ज्ञात होता है कि कोई भी मान (Value) प्रदत्तों में कितनी बार आया है। प्रत्येक मान को समझने हेतु एक निश्चित क्रम में रखा जाता है।

उदाहरणार्थ—यदि हमारे सम्मुख निम्नलिखित मान हैं, जिनका कोई विशेष क्रम नहीं है तो उनको आवृत्ति वितरण में रखने के लिए कुछ पदों (Steps) से होकर जाना पड़ता है। 30 व्यक्तियों ने एक निश्चित समय में रुई के धागे को तैयार किया जिसकी लम्बाई इंचों में इस प्रकार है :

1.	36·6	9.	38·1	17.	35·2	25.	37·3
2.	38·5	10.	36·1	18.	37·8	26.	36·3
3.	35·1	11.	36·1	19.	36·0	27.	38·2
4.	37·3	12.	36·9	20.	36·5	28.	36·1
5.	36 4	13.	36·6	21.	37·7	29.	37·2
6.	38·3	14.	37·4	22.	38·3	30.	38·4
7.	37·2	15.	35 4	23.	39·6		
8.	36·6	16.	38·5	24.	38·1		

उपरोक्त मानों को आवृत्ति वितरण के रूप में रखना है। इसकी विधि निम्न क्रम में होती है :

1. सबसे पहले मानों का विस्तार (Range) ज्ञात किया जाता है।

विस्तार = उच्च सीमा — निम्न सीमा

(Range) = (Upper Limit) — (Lower Limit)

विस्तार=39 6—35·1=4·5

2. उपरोक्त मानों को करीब 10 वर्गान्तरों (Class intervals) में विभाजित किया जाता है। इस प्रकार विस्तार में वर्गान्तरों की संख्या का भाग देकर वर्गान्तर का विस्तार ज्ञात किया जाता है।

$$\frac{\text{विस्तार}}{\text{वर्गान्तर}}=\frac{4\cdot5}{10}=\cdot45$$ । इस प्रकार वर्गान्तर की दूरी=0·5

3. प्रत्येक मान की सीमा भी निर्धारित की जाती है। जैसे— मान की सीमा 34·95—35 05 तक होगी।

4. इसके पश्चात् प्रत्येक वर्गान्तर के मध्य विन्दु को ज्ञात करते हैं तथा उसके सम्मुख संकेत लगाकर आवृत्ति लिख देते हैं।

5. दूसरे स्तम्भ में संचयी आवृत्तियाँ लिखी जाती हैं और उनके सम्मुख संचयी आवृत्तियों का प्रतिशत मान लिखा जाता है।

उपरोक्त मानों को तालिका के रूप में रखा गया है—

वर्गान्तर (Class (Interval)	उपयुक्त सीमाएँ (Exact Limits)	मध्य विन्दु (Mid Point)	संकेत (Tallies)	आवृत्ति (Frequency)	संचयी आवृत्ति (Cumulative Frequency)	प्रतिशत (Percentage)
39·5—39·9	39·45—39·95	39·7	I	1	30	100%
39·0—39·4	38·95—39·45	39·2	—	0	29	96·7%
38·5—38·9	38·45—38·95	38·7	II	2	29	96·7%
38·0—38·4	37·95—38·45	38·2	~~IIII~~ I	6	27	90%
37·5—37·9	37·45—37·95	37·7	~~IIII~~	5	21	70%
37·0—37·4	36·95—37·45	37·2	~~IIII~~	5	16	53·3%
36·5—36·9	36·45—36·95	36·7	IIII	4	11	36·7%
36·0—36·4	35·95—36·45	36·2	IIII	4	7	23·3%
35·5—35·9	35·45—35·95	35·7	—	—	3	10%
35·0—35·4	34·95—35·45	35·2	III	3	3	10%
				30		

स्मरणीय वातें (Remarks)

1. उपरोक्त आवृत्ति वितरण से ज्ञात होता है कि भिन्न-भिन्न मानों (Values) का वितरण किस रूप में है।

2. प्रत्येक वर्गान्तर में लिखे गये मान को उस वर्गान्तर की आवृत्ति कहा जाता है।

3. प्रत्येक वर्गान्तर की उच्च और निम्न सीमाएँ दो दशमलव बिन्दुओं तक प्रदर्शित की गई हैं।

4. प्रत्येक वर्गान्तर की निम्न सीमा उसके वाद वाले वर्गान्तर की उच्च सीमा के वरावर होती है।

5. किसी भी वर्गान्तर में संचयी आवृत्ति की संख्या उस वर्गान्तर की उच्च सीमा के नीचे आने वाली आवृत्तियाँ होती हैं, जैसे—वर्गान्तर 37·45—37·95 की संचयी आवृत्तियाँ=21 हैं।

6. प्रत्येक वर्गान्तर का मध्य विन्दु वह है जोकि ऊपर तथा नीचे की सीमा के ठीक मध्य में है।

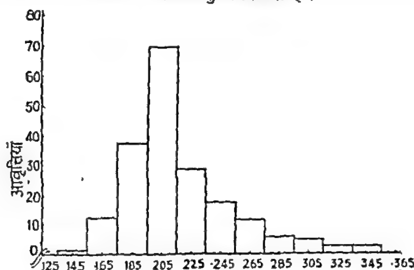
उदाहरणार्थ—$38{\cdot}5-38{\cdot}9=\dfrac{38{\cdot}5+38{\cdot}9}{2}=\dfrac{77{\cdot}4}{2}=38{\cdot}7$

7. सामान्य रूप से वर्गान्तरों की संख्या का आधार मानों (Values) की संख्या होती है। सामान्य रूप से वर्गान्तरों की संख्या निम्न प्रकार ग्रहण की जाती है :

मान (Values)	वर्गान्तर (Class interval)
1. 50 से कम	5 से 10 तक
2. 50 से 100	10 से 15 तक
3. 100 से 200	15 से 20 तक
4. 200 से अधिक	20 से अधिक

प्रदत्तों का बिन्दु-रेखीय प्रदर्शन
(Graphical Representation of Data)

1. स्तम्भाकृति (Histogram)—इस प्रकार के ग्राफ में आवृत्तियों को स्तम्भ (Bars) के रूप में रखा जाता है। इसमें क्षैतिज रेखा (Horizontal Axis) पर वर्गान्तरों की ठीक सीमा (Exact Limits) को अंकित किया जाता है तथा स्तम्भ के मध्य में वर्गान्तरों के मध्य बिन्दु को लिख देते हैं।



उपरोक्त स्तम्भाकृति निम्न तालिका का बिन्दु रेखीय प्रदर्शन है :

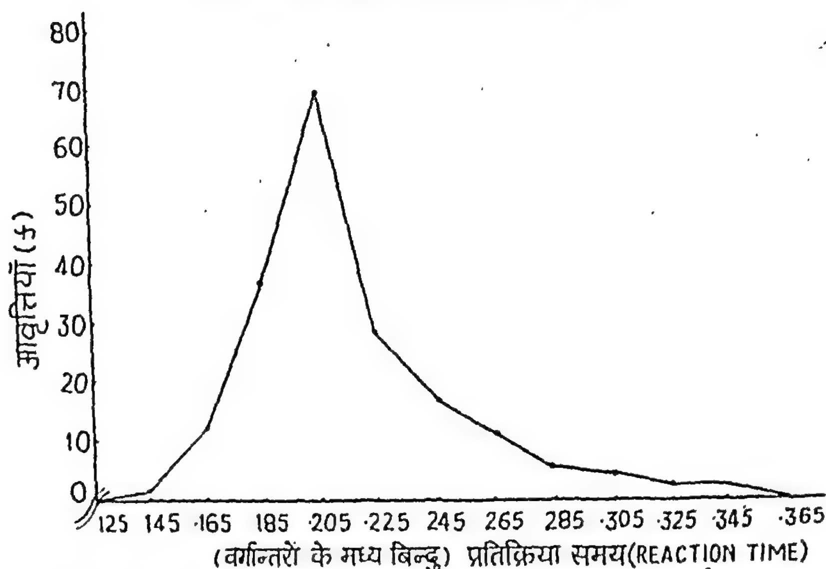
वर्गान्तर	मध्य बिन्दु	आवृत्ति	संचयी आवृत्तियाँ
·34—·35	·345	2	188
·32—·33	·325	2	186
·30—·31	·305	4	184
·28—·29	·285	5	180
·26—·27	·265	11	175
·24—·25	·245	17	164
·22—·23	·225	28	147
·20—·21	·205	69	119
·18—·19	·185	37	50
·16—·17	·165	12	13
·14—·15	·145	1	1

दूसरी ओर उदग्र रेखा (Vertical Axis) पर आवृत्तियाँ अंकि[illegible] जाती

हैं। ग्राफ को आयताकार चित्रों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। स्तम्भाकृति तैयार करने में यह मान लिया जाता है कि एक वर्गान्तर की सभी आवृत्तियाँ समान रूप से वर्गान्तर में फैली हुई हैं।

2. आवृत्ति बहुभुज (Frequency Polygon)

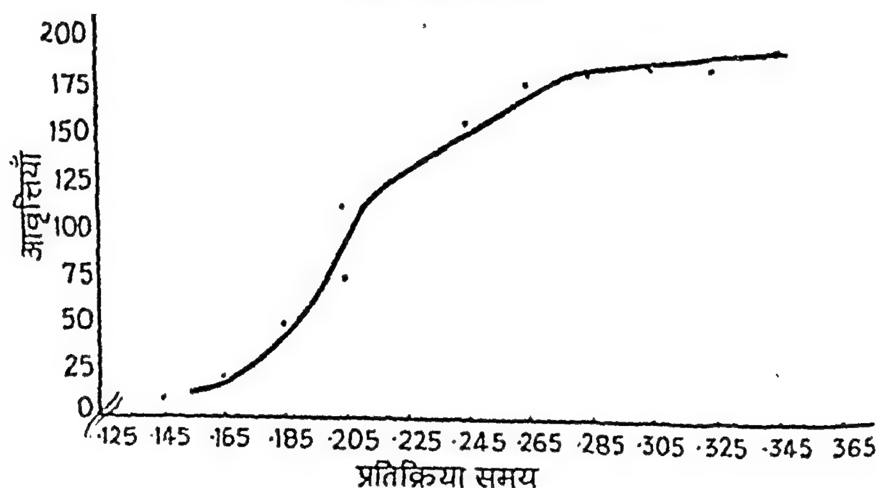
उपरोक्त तालिका का आवृत्ति बहुभुज



इस रेखाचित्र में प्रत्येक वर्गान्तर की आवृत्तियाँ वर्गान्तर के मध्य बिन्दु के विपरीत रखी जाती हैं। प्राप्त बिन्दुओं को एक सीधी रेखा से मिलाया जाता है, आवृत्ति बहुभुज का प्रथम तथा अन्तिम सिरा क्षैतिज रेखा पर सीधी रेखा द्वारा मिलाया जाता है।

(3) संचयी-वितरण (Cumulative Frequency Curve)—इस वक्र में किसी वर्गान्तर की उच्च सीमा तक की संचयी आवृत्तियों को वर्गान्तर की उच्च सीमा के विपरीत रखा जाता है। इस चित्र से यह ज्ञात होता है कि किसी भी वर्गान्तर की

'संचयी-वितरण वक्र'



उच्च सीमा तक कितनी आवृत्तियाँ हैं। वक्र के दायीं ओर एक उदग्र रेखा खींच कर आवृत्तियों का प्रतिशत मान भी ज्ञात हो सकता है।

रेखाचित्र तैयार करने हेतु सामान्य नियम

1. रेखाचित्र तैयार करने में उदग्र रेखा पर आवृत्तियाँ तथा क्षैतिज रेखा पर मान अथवा प्राप्तांक प्रदर्शित किये जाते हैं।

2. रेखाचित्र तैयार करने में बायीं से दाहिनी ओर चलते हैं। क्षैतिज रेखा पर सबसे निम्न प्राप्तांक बायीं ओर तथा उदग्र रेखा पर सबसे नीचे की ओर लिखे जाते हैं।

3. रेखाचित्र का आकार ऐसा होना चाहिए जिससे कि ऊँचाई तथा लम्बाई का अनुपात 3 : 5 हो।

4. प्रत्येक रेखाचित्र की दोनों भुजाओं पर उनका मान तथा गुण लिखे जाते हैं।

5. प्रत्येक रेखाचित्र का संक्षेप में विवरण होना भी आवश्यक है।

शैक्षिक सांख्यिकी—3

सामान्य सम्भावित वक्र तथा केन्द्रवर्ती मान के प्रमाप
(Normal Probability Curve & Measures of Central Tendency)

सामान्य सम्भावित वक्र (Normal Probability Curve)

यदि हम धातु के एक सिक्के को ऊपर उछालें तो उनके हैड (H) और टेल (T) के ऊपर आने की संभावना समान अर्थात् 50% रहेगी। इसे अंकों में इस प्रकार व्यक्त करेंगे—$H=\frac{1}{2}$; $T=\frac{1}{2}$ $(H+T)=\frac{1}{2}+\frac{1}{2}=1\cdot00$।

यदि हम दो सिक्के (क) और (ख) एक साथ उछालें तो उनके गिरने की चार दशाएं हो सकती हैं—

1	2	3	4
(क) (ख)	(क) (ख)	(क) (ख)	(क) (ख)
H H	T H	H T	T T

अथवा 1 H H 2 H T 1 T T

संभावनाओं का अनुपात इस प्रकार होगा—

$\frac{1}{4}+\frac{1}{2}+\frac{1}{4}=1\cdot00$

यदि हम सिक्कों की संख्या दो से बढ़ाकर 10 कर दें तो द्विपद सिद्धान्त के विस्तार (Binominal Expansion) के अनुसार प्राप्त किए हुए परिणाम इस प्रकार होंगे—$(H+T)^{10}=H^{10}+10H^{1}T+45H^{8}T^{2}+120H^{7}T^{3}+210H^{6}T^{4}+252H^{5}T^{5}+210H^{4}T^{6}+120H^{3}T^{7}+45H^{2}T^{8}+10HT^{9}+T^{10}$

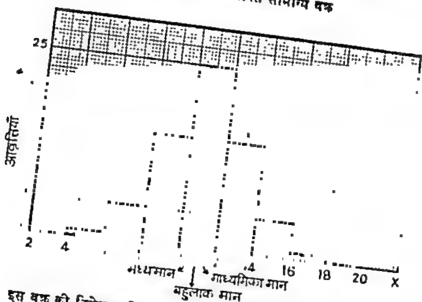
स्पष्ट है कि परिणामों की कुल संख्या

$1+10+45+120+210+252+210+120+45+10+1$
$=1024$ होगी।

यदि इन संख्याओं को रेखाचित्र पर आवृत्ति वितरण या स्तम्भाकृति के रूप में अंकित किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि इस चित्र का स्वरूप संमित (Symmetrical) है।

अगले पृष्ठ पर एक संमित स्तम्भाकृति (Histogram) का चित्र दिया गया है। विन्दु रेखा द्वारा इस पर सामान्य संभावित वक्र आरोपित किया गया है।

स्तम्भाकृति पर आरोपित सामान्य वक्र



इस वक्र की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(क) इसकी आकृति घन्टी के आकार की है।

(ख) स्तम्भाकृति के समान इसका स्वरूप भी संमित है। इसके शिखर से खींचा गया लम्ब इसे दो बराबर भागों में विभाजित करता है। दायीं ओर धनात्मक (Positive) राशियों का और बायीं ओर ऋणात्मक (Negative) राशियों का क्षेत्र होता है।

(ग) इस रेखा के निकट दोनों ओर क्षेत्रफल अधिक होता है। अर्थात्, आकृति के इस भाग में संभावित गुण का विस्तार सबसे अधिक होता है। इसकी अपेक्षा पुच्छाकृतियों की ओर गुण की संभाव्यता न्यून होती जाती है।

(घ) इस वक्र का मध्यमान (Mean), मध्यांक मान (Median) और बहुलांक मान (Mode) एक ही बिन्दु पर हैं अर्थात् तीनों का मूल्य एक ही है।

(ङ) इस वक्र का बहुलांक मान सदैव एक ही होता है।

परिचय (Introduction)—किसी समूह के ज्ञान के लिए हम एक प्रतिनिधि का चयन करते हैं जोकि उस समूह के अधिकतर लोगों के विषय में ज्ञान प्रदान करता है। उसी प्रकार सांख्यिकी में भी उस प्राप्तांक का पता लगाया जाता है जोकि सम्पूर्ण प्राप्तांकों के विषय में ज्ञान प्रदान करता है। सांख्यिकी में इस प्रकार का वर्णन करने हेतु केन्द्रवर्ती मान ज्ञात किया जाता है। इस केन्द्रवर्ती मान को साधारण भाषा में औसत (Average) शब्द द्वारा प्रकट किया जाता है।

केन्द्रवर्ती मान के प्रकार (Kinds of Central Tendency)—इसके निम्नलिखित तीन प्रकार होते हैं :

(1) मध्यमान (Mean),

(2) मध्यांक मान (Median),

(3) बहुलांक मान (Mode)।

मध्यमान
(Mean)

मध्यमान (Mean)—मध्यमान किसी समूह के प्राप्तांकों का वह मान है जहाँ से प्राप्तांकों का वितरण दो समान भागों में विभाजित हो जाता है। इसके दोनों ओर प्राप्तांकों का विचलन समान होता है।

मध्यमान का प्रयोग कब करें ? (1) जब प्राप्तांकों का वितरण सामान्य हो।

(2) जब शुद्ध केन्द्रीय मान ज्ञात करना हो।

(3) जब अधिक विश्वसनीयता आवश्यक हो।

(4) जब प्रामाणिक विचलन तथा सहसम्बन्ध ज्ञात करना हो।

मध्यमान के गुण—(1) इसकी गणना करने में आंकड़ों को क्रमबद्ध करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(2) यह पूरे समूह का प्रतिनिधित्व करता है।

(3) यह अधिक विश्वसनीय है।

(4) यह अन्य सांख्यिकीय मानों को निकालने में सहयोग करता है।

मध्यमान की सीमाएँ (1) प्रत्येक पद पर निर्भर होने के कारण अतिशय अंक इसके मान को विकृत कर देते हैं।

(2) केवल निरीक्षण द्वारा इसे ज्ञात नहीं कर सकते।

(3) यदि आंकड़ों का संख्यात्मक मान ज्ञात नहीं हो तो इसे प्रयोग नहीं कर सकते।

मध्यमान ज्ञात करने के लिए सभी प्राप्तांकों को जोड़कर उनकी संख्याओं से भाग दिया जाता है। उदाहरणार्थ—कुछ बालकों के प्राप्तांक 6, 20, 13, 9 और 8 हैं तो इनका मध्यमान$=\frac{6+20+13+9+8}{5}=\frac{56}{5}=11{\cdot}2$ हुआ

उपरोक्त उदाहरण में प्राप्तांकों को × कह सकते हैं तथा संख्याओं के योग को N, सम्पूर्ण प्राप्तांकों का जोड़ Σx कहा जाता है।

इस प्रकार $\Sigma x=56$ और $N=5$

सूत्र के रूप में$=\frac{\Sigma x}{N}=$मध्यमान (M)

$\therefore\ M=\frac{\Sigma x}{N}=\frac{56}{5}=11{\cdot}2$

उपरोक्त प्रदत्त को अव्यवस्थित प्रदत्त (Ungroup Data) कहते हैं। परन्तु इस प्रकार की स्थिति सदैव नहीं होती है। यदि प्रदत्त पर्याप्त विस्तृत हो अर्थात् इनमें समूह की संख्या 30 से अधिक हो तो ऐसे समूह को एक विशेष रूप में रखा जाता है। ऐसे समूह के रूप को व्यवस्थित प्रदत्त कहते हैं। व्यवस्थित प्रदत्तों द्वारा मध्यमान ज्ञात करने की विधि इस प्रकार है—

उदाहरणार्थ—एक कक्षा में 40 छात्र हैं जिनके प्राप्तांक निम्नलिखित हैं। इनको व्यवस्थित रूप में रखकर उनका मध्यमान ज्ञात करना है।

वर्गान्तर (Class Interval)	आवृत्तियाँ (Frequencies) (f)	वर्गान्तरों के मध्य बिन्दु (Mid Points of Class Interval) (x)	आवृत्तियाँ मध्य बिन्दु (fx)
40—44	3	42	126
35—39	2	37	74
30—34	4	32	128
25—29	4	27	108
20—24	10	22	220
15—19	8	17	136
10—14	5	12	60
5—9	3	7	21
0—4	1	2	2
योग	N=40		$\Sigma fx=875$

$$\text{मध्यमान}=\frac{\Sigma fx}{N}=\frac{875}{40}=21{\cdot}88$$

व्यवस्थित प्रदत्तों में निम्नांकित पद क्रमानुसार इस प्रकार आते हैं:

(1) सबसे प्रथम वर्गान्तर (Class Interval) तैयार किया जाता है।

(2) इसके पश्चात् प्रत्येक वर्गान्तर के सम्मुख उसमें आने वाली आवृत्तियाँ (f) लिखी जाती हैं।

(3) तीसरे पद में वर्गान्तरों के मध्य बिन्दु ज्ञात करके उनके सम्मुख लिख देते हैं। इसके लिए x चिह्न का प्रयोग करते हैं।

(4) चौथे पद में आवृत्तियाँ (f) तथा मध्य बिन्दु (x) का गुणा किया जाता है। (fx)

(5) इसके बाद आवृत्तियों तथा मध्य बिन्दुओं के गुणनफल को जोड़ा जाता है। (Σfx)

(6) अन्त में इस जोड़ (Σfx) में समूह की संख्या (N) से भाग दिया जाता है। यही मान मध्यमान होगा।

$$M=\frac{\Sigma fx}{N}$$

सरल रीति से मध्मान (Mean) ज्ञात करना

वर्गान्तर (Class Interval)	आवृत्तियाँ —(*f*) (Frequencies)	कल्पित मध्यमान से विचलन (*d*) (Deviation From Assumed Mean)	आवृत्तियों तथा विचलन का गुणा (*fxd*)	
40—44	3	4	12	30
35—39	2	3	6	
30—34	4	2	8	
25—29	4	1	4	
20—24	10	0	0	
15—19	8	—1	— 8	31
10—14	5	—2	—10	
5— 9	3	—3	— 9	
0— 4	1	—4	— 4	
योग	N=40		Σ*fd*+=—1	

$$\text{मध्यमान} = \text{A. M.} + \left(\frac{\Sigma fd}{N}\right) \times Ci$$

A. M.=कल्पित मध्यमान

Σfd=आवृत्तियों तथा विचलनों के गुणनफल का योग

N=सदस्यों की संख्या

Ci=वर्गान्तर का आकार (Size of Class Interval)

उपरोक्त तालिका में कल्पित मध्यमान$=\frac{24+20}{2}=\frac{44}{2}=22$

वर्गान्तर 20—24 का मध्य$=\frac{44}{2}=22$

विन्दु होगा जोकि=22 है।

A. M.=22, $\Sigma fd=1$, N=40, $Ci=5$

$$\text{मध्यमान} = \text{A.M.} + \left(\frac{\Sigma fd}{N}\right) \times Ci$$

$$= 22 + \left(\frac{-1}{40}\right) \times 5$$

$$= 22 + \left(\frac{-5}{40}\right)$$

8

$$= 22 + (-\cdot 12)$$

$$= 22 - \cdot 12 = 21\cdot 88$$

इस प्रकार लम्बी तथा सरल दोनों ही रीतियों से मध्यमान समान ही आता है। सरल रीति में केवल गुणन कम हो जाता है।

सरल विधि से मध्यमान ज्ञात करने में निम्न पद क्रमानुसार आते हैं—

1. वर्गान्तरों के सम्मुख आवृत्तियां लिख दी जाती हैं।

2. किसी वर्गान्तर के सम्मुख, जिसमें कल्पित मध्यमान हो विचलन 0 रखा जाता है।

3. जिस वर्गान्तर मे कल्पित मध्यमान हो उसके ऊपर वाले वर्गान्तरों में क्रम से +1, +2, +3 आदि तथा उस वर्गान्तर से नीचे के वर्गान्तरों में —1, —2, —3 आदि संख्याएं क्रम से रखी जाती हैं। यह + या — कल्पित मध्यमान से विचलन (d) होता है।

4. इसके पश्चात् आवृत्तियों तथा विचलन का गुणा $(f \times d)$ करके उनको जोड़ दिया जाता है। जोकि (Σfd) होता है।

5. उपरोक्त मान को सूत्र मे रखकर मध्यमान ज्ञात किया जाता है।

मध्यमान की विशेषताएँ (Properties of Mean)

1. किसी भी समूह के प्राप्तांको के जो मध्यमान से विचलन होते हैं उनका योग शून्य होता है।

2. समूह के प्राप्तांकों के जो मध्यमान से विचलन होते हैं उनके वर्गों का योग किसी अन्य मूल्य (Value) के विचलन के वर्गों के योग से कम होता है।

3. किसी समूह का मध्यमान वह केन्द्रवर्ती मान है जिसके दोनों ओर के विचलन के वर्गों का योग सबसे कम हो।

मध्यांकमान
(Median)

किसी समूह का वह बिन्दु है जिसके ऊपर तथा नीचे दोनों ओर बराबर-बराबर प्राप्तांक हों। उदाहरण के रूप में 2, 7, 16, 19, 20, 25, 27 कुछ प्राप्तांक हैं। इसमें 19 ऐसा बिन्दु है जिसके ऊपर 3 तथा नीचे 3 प्राप्तांक हैं।

यदि उपरोक्त प्राप्तांकों मे एक प्राप्तांक और बढ़ा दिया जाय अर्थात् कुल प्राप्तांक अब=2, 7, 16, 19, 20, 25, 27 और 31। ऐसी स्थिति में मध्यांकमान 19 और 20 दो संख्याओं का मध्यमान होगा।

इस प्रकार मध्यांकमान $= \frac{19+20}{2} = \frac{39}{2} = 19{\cdot}5$ होगा।

इस प्रकार अव्यवस्थित प्रदत्तों में मध्यांकमान के लिए दो विधियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं।

(1) यदि प्राप्तांकों की संख्या विषम (Odd) हो तो मध्यांकमान निकालने के लिए प्राप्तांको के आकार के अनुसार रखकर नीचे या ऊपर से N+1/2वाँ प्राप्तांक ज्ञात कर लेना चाहिए।

(2) यदि प्राप्तांकों की सख्या (Even) सम हो तो मध्यांकमान निकालने के लिए प्राप्तांकों के आकार के अनुसार नीचे अथवा ऊपर से N/2वाँ प्राप्तांक ज्ञात किया जायगा तथा उसका मध्य बिन्दु भी ज्ञात किया जायेगा।

इसका प्रयोग बड़े समूहों में किया जाता है। प्राप्तांकों को एक व्यवस्थित रूप में रखा जाता है। इसमें मध्यांकमान वह बिन्दु होगा जिसके ऊपर तथा नीचे बराबर-बराबर प्राप्तांक हैं। इसलिए इसे 50% बिन्दु भी कहते हैं। सचयी आवृत्ति वक्र (ग्राफ) पर भी मध्यांकमान पढ़ा जा सकता है। निम्नांकित तालिका में मध्यांकमान

व्यवस्थित प्रदत्तों में मध्यांकमान ज्ञात करना (*Median from Grouped Data*)

सरल रीति से मध्मान (Mean) ज्ञात करना

वर्गान्तर (Class Interval)	आवृत्तियाँ —(f) (Frequencies)	कल्पित मध्यमान से विचलन (d) (Deviation From Assumed Mean)	आवृत्तियों तथा विचलन का गुणा (fxd)	
40—44	3	4	12	30
35—39	2	3	6	
30—34	4	2	8	
25—29	4	1	4	
20—24	10	0	0	
15—19	8	—1	— 8	31
10—14	5	—2	—10	
5— 9	3	—3	— 9	
0— 4	1	—4	— 4	
योग	N=40		Σfd+=—1	

$$\text{मध्यमान} = \text{A. M.} + \left(\frac{\Sigma fd}{N}\right) \times Ci$$

A. M.=कल्पित मध्यमान

Σ*fd*=आवृत्तियों तथा विचलनों के गुणनफल का योग

N=सदस्यों की संख्या

C*i*=वर्गान्तर का आकार (Size of Class Interval)

उपरोक्त तालिका में कल्पित मध्यमान$=\frac{24+20}{2}=\frac{44}{2}=22$

वर्गान्तर 20—24 का मध्य$=\frac{44}{2}=22$

विन्दु होगा जोकि=22 है।

A. M.=22, Σ*f d*=1, N=40, C*i*=5

$$\text{मध्यमान} = \text{A.M.} + \left(\frac{\Sigma fd}{N}\right) \times Ci$$
$$= 22 + \left(\frac{-1}{40}\right) \times 5$$
$$= 22 + \left(\frac{-5}{40}\right)$$
8
$$= 22 + (-\cdot 12)$$
$$= 22 - \cdot 12 = 21\cdot 88$$

इस प्रकार लम्बी तथा सरल दोनों ही रीतियों से मध्यमान समान ही आता है। सरल रीति में केवल गुणन कम हो जाता है।

सरल विधि से मध्यमान ज्ञात करने में निम्न पद क्रमानुसार आते हैं—

1. वर्गान्तरों के सम्मुख आवृत्तियाँ लिख दी जाती हैं।

2. किसी वर्गान्तर के सम्मुख, जिसमें कल्पित मध्यमान हो विचलन 0 रखा जाता है।

3. जिस वर्गान्तर में कल्पित मध्यमान हो उसके ऊपर वाले वर्गान्तरों में क्रम से +1, +2, +3 आदि तथा उस वर्गान्तर से नीचे के वर्गान्तरों में −1, −2, −3 आदि संख्याएँ क्रम से रखी जाती हैं। यह + या − कल्पित मध्यमान से विचलन (d) होता है।

4. इसके पश्चात् आवृत्तियों तथा विचलन का गुणा ($f \times d$) करके उनको जोड़ दिया जाता है। जोकि (Σfd) होता है।

5. उपरोक्त मान को सूत्र में रखकर मध्यमान ज्ञात किया जाता है।

मध्यमान की विशेषताएँ (Properties of Mean)

1. किसी भी समूह के प्राप्तांकों के जो मध्यमान से विचलन होते हैं उनका योग शून्य होता है।

2. समूह के प्राप्तांकों के जो मध्यमान से विचलन होते हैं उनके वर्गों का योग किसी अन्य मूल्य (Value) के विचलन के वर्गों के योग से कम होता है।

3. किसी समूह का मध्यमान वह केन्द्रवर्ती मान है जिसके दोनों ओर के विचलन के वर्गों का योग सबसे कम हो।

मध्यांकमान
(Median)

किसी समूह का वह बिन्दु है जिसके ऊपर तथा नीचे दोनों ओर बराबर-बराबर प्राप्तांक हों। उदाहरण के रूप में 2, 7, 16, 19, 20, 25, 27 कुछ प्राप्तांक हैं। इसमें 19 ऐसा बिन्दु है जिसके ऊपर 3 तथा नीचे 3 प्राप्तांक हैं।

यदि उपरोक्त प्राप्तांकों में एक प्राप्तांक और बढ़ा दिया जाय अर्थात् कुल प्राप्तांक अब = 2, 7, 16, 19, 20, 25, 27 और 31। ऐसी स्थिति में मध्यांकमान 19 और 20 दो संख्याओं का मध्यमान होगा।

$$\text{इस प्रकार मध्यांकमान} = \frac{19+20}{2} = \frac{39}{2} = 19\cdot5 \text{ होगा।}$$

इस प्रकार अव्यवस्थित प्रदत्तों में मध्यांकमान के लिए दो विधियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं।

(1) यदि प्राप्तांकों की संख्या विषम (Odd) हो तो मध्यांकमान निकालने के लिए प्राप्तांकों के आकार के अनुसार रखकर नीचे या ऊपर से N+1/2वाँ प्राप्तांक ज्ञात कर लेना चाहिए।

(2) यदि प्राप्तांकों की संख्या (Even) सम हो तो मध्यांकमान निकालने के लिए प्राप्तांकों के आकार के अनुसार नीचे अथवा ऊपर से N/2वाँ प्राप्तांक ज्ञात किया जायगा तथा उसका मध्य बिन्दु भी ज्ञात किया जायेगा।

व्यवस्थित प्रदत्तों में मध्यांकमान ज्ञात करना (Median from Grouped Data)

इसका प्रयोग बड़े समूहों में किया जाता है। प्राप्तांकों को एक वर्गान्तर रूप में रखा जाता है। इसमें मध्यांकमान वह बिन्दु होता जिसके ऊपर तथा नीचे बराबर-बराबर प्राप्तांक हैं। इसलिए इसे 50% बिन्दु भी कहते हैं। संचयी आवृत्ति वक्र (ग्राफ) पर भी मध्यांकमान पढ़ा जा सकता है। निम्नांकित तालिका में मध्यांकमान

को एक संचयी आवृत्ति वितरण के रूप में रखा गया है। इसके द्वारा सम्पूर्ण आवृत्तियों का ज्ञान हो जाता है।

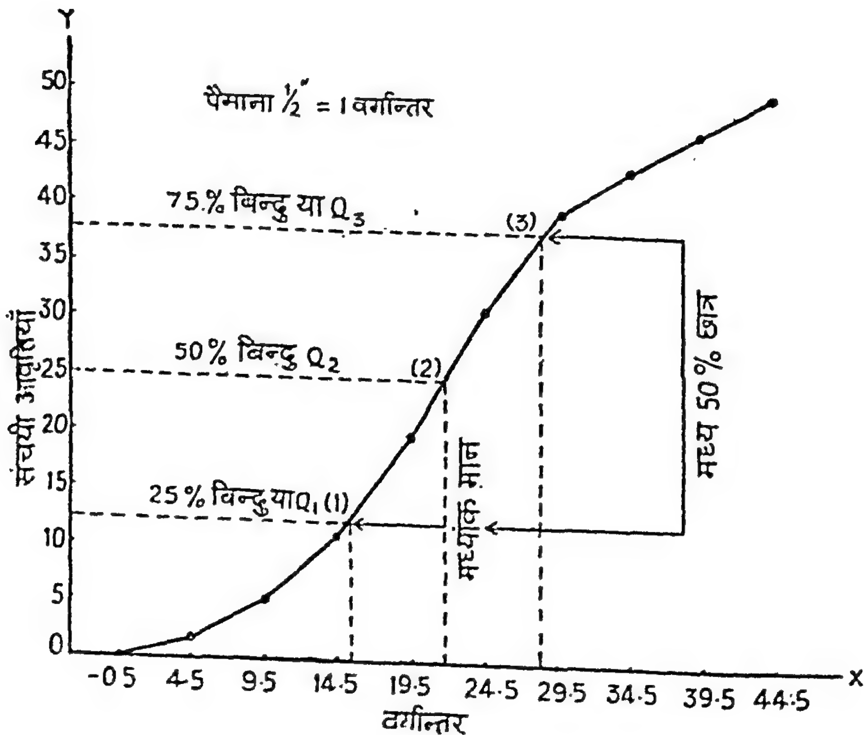
वर्गान्तर (Class Interval)	आवृत्तियाँ (*f*) (Frequencies)	संचयी आवृत्तियाँ (C*i*) (Cumulative Frequencies)
40—44	3	50
35—39	4	47
30—34	5	43
25—29	6	38
20—24	14	32
15—19	6	18
10—14	6	12
5— 9	4	6
0— 4	2	2
	N=50	

संचयी आवृत्ति ग्राफ पर

(i) मध्यांकमान पढ़ना अथवा 50% विन्दु का मूल्य प्राप्तांकों में ज्ञात करना।

(ii) 25% विन्दु तथा 75% विन्दु का मूल्य ज्ञात करना।

(iii) मध्य के 50% छात्रों का निम्नतम तथा अधिकतम प्राप्तांक पढ़ना।



संकेत—इस वितरण मे N=50 है अतः 50 का 50%=25; 50 का 25%=12½; 50 का 75%=37½ हुआ। इन बिन्दुओं को Oy रेखा पर पढ़िये और प्रत्येक बिन्दु से Ox के समानान्तर रेखायें खींचिये जो ग्राफ रेखा को क्रमशः (1), (2) तथा (3) बिन्दुओं पर काटती हैं। इन बिन्दुओं से Ox पर लम्ब डालिए जो क्रमशः 25%, 50% तथा 75% बिन्दुओं का प्राप्तांकों में मूल्य बताते हैं।

मध्यांकमान ज्ञात करने का सूत्र

$$\text{मध्यांकमान} = L + \left(\frac{N/2 - F}{fm}\right) \times Ci$$

इसमें—

L=उस वर्गान्तर की निम्न सीमा जिसमें मध्यांकमान है।

F=उस वर्गान्तर के नीचे की सभी आवृत्तियों का योग।

fm=उस वर्गान्तर में सभी आवृत्तियाँ जिसमें मध्यांकमान है।

Ci=वर्गान्तर का आकार।

N=समूह के सम्पूर्ण सदस्य।

उपरोक्त सूत्र द्वारा तालिका का मध्यांकमान ज्ञात करना—इसमें N=50 इसलिए मध्यांकमान वह बिन्दु होगा जिसके ऊपर 25 तथा नीचे 25 प्राप्तांक हों।

15—19 वाले वर्गान्तर तक 18 प्राप्तांक हैं। परन्तु हमको 25 तक पहुँचना है। यह प्राप्तांक 20—24 वाले वर्गान्तर में होगा। इस वर्गान्तर की निम्न सीमा=19·5 है। इसमें F=18 तथा fm=14 है। Ci=5 तथा N=50। उपरोक्त संख्याओं को सूत्र में रखने पर निम्न विधि से मध्यांकमान ज्ञात कर सकते हैं :

$$\text{मध्यांक मान} = L + \left(\frac{N/2 - F}{fm}\right) \times Ci$$
$$= 19{\cdot}5 + \left(\frac{50/2 - 18}{14}\right) \times 5$$
$$= 19{\cdot}5 + \left(\frac{7}{14}\right) \times 5$$
$$= 19{\cdot}5 + \frac{35}{14}$$
$$= 19{\cdot}5 + \frac{5}{2}$$
$$= 19{\cdot}5 + 2{\cdot}5 = 22{\cdot}00$$

अर्थात् 22 वह अंक बिन्दु है जिसके ऊपर तथा नीचे पच्चीस-पच्चीस प्राप्तांक हैं।

अव्यवस्थित प्रदत्तों में मध्यांक मान ज्ञात करने के लिए अग्रलिखित पदों को ध्यान में रखना चाहिए :

1. संचयी आवृत्तियाँ ज्ञात करना।

2. N/2 प्राप्तांकों का दो बराबर भागों में विभाजन।

3. उस वर्गान्तर को ज्ञात करना जिसमें मध्यांक मान है। तदुपरान्त उसकी सीमा ज्ञात करना।

4. सूत्र में भिन्न-भिन्न पदों को रखकर मध्यांक मान ज्ञात करना।

बहुलांक मान
(Mode)

बहुलांक मान वह मान है जोकि किसी समूह के प्राप्तांकों में सबसे अधिक बार आया हो, जैसे—इन प्राप्तांकों में 10, 11, 11, 12, 13, 13, 13, 14, 14, 15, 15, 16, 17, 17, 18—13 अंक ऐसा है जो सबसे अधिक बार आया है। इसी 13 को उपरोक्त प्राप्तांकों का बहुलांक मान कहते हैं।

यदि किसी अव्यवस्थित प्रदत्तों में कोई दो संख्याएँ समान बार आती हों तो उनका बहुलांक मान ज्ञात करने हेतु दोनों का औसत ज्ञात किया जाता है। उदाहरणार्थ—

4, 5, 6, 6, 7, 7, 7, 8, 8, 8, 9, 9, 9, 10, 10, 10, 10, 11, 11, 11, 11, 12, 12.

इसमें 10 और 11 अंक प्रदत्त में चार-चार बार आये हैं। इसलिए इस प्रदत्त का बहुलांक मान :

$$=\frac{10+11}{2}=\frac{21}{2}=10{\cdot}5 \text{ होगा।}$$

व्यवस्थित प्रदत्तों से बहुलांक मान ज्ञात करने के लिए निम्न सूत्र का प्रयोग किया जाता है—

बहुलांक मान (Mode) = 3 मध्यांकमान — 2 मध्यमान

(3 Median — 2 Mean)

50

शैक्षिक सांख्यिकी—4

विचलन मान के प्रमाप
(Measures of Variability)

विचलन मानों की आवश्यकता—सांख्यिकी के क्षेत्र में विचलन मानों का एक विशेष स्थान तथा महत्व है, किसी भी समूह में प्रत्येक प्राप्तांक का दूसरे से विचलन ज्ञात करना एक महत्व रखता है, आधुनिक मनोविज्ञान व्यक्तिगत भिन्नता जैसे, बुद्धि में, आँखों के रंग में, लम्बाई में, प्रतिक्रिया—समय आदि पर आधारित है। मापन द्वारा व्यक्तियों में भिन्नता को प्रकट किया जाता है। विचलन मान समूहों की आन्तरिक विभिन्नता को सूचित करते हैं।

सांख्यिकी में केन्द्रवर्ती मानों द्वारा किसी समूह का प्रतिनिधि व्यक्ति ढूंढा जाता है। परन्तु बिना विचलन के, समूहों का वर्णन शुद्धतापूर्वक नहीं किया जा सकता है।

विचलन मानों के प्रकार
(Types of Measures of Variability)

1. विस्तार (Range)
2. मध्यमान विचलन (Mean Deviation)
3. प्रामाणिक विचलन (Standard Deviation)
4. चतुर्थांश विचलन (Quartile Deviation)

विस्तार
(Range)

विस्तार, विचलन का सबसे साधारण मापन है। किसी भी समूह में विस्तार का ज्ञान उसके उच्चतम तथा न्यूनतम प्राप्तांकों का अन्तर होता है। उदाहरण के रूप में एक समूह में 8, 10, 12, 15, 20 तथा 24 प्राप्तांक हैं तो इस समूह का विस्तार=24—8=16 है।

इसका प्रयोग केवल छोटे समूहों में किया जाता है। समूहों में प्राप्तांक 10 से अधिक न हों,

विस्तार का प्रयोग बहुत सीमित रूप में करना चाहिए क्योंकि विचलन ज्ञान की दृष्टि से यह विश्वसनीय नहीं होता है।

$$\text{प्रामाणिक विचलन (S. D.)} = \sqrt{\frac{\Sigma d^2}{N}} = \sqrt{\frac{52}{8}}$$

$$= \sqrt{6{\cdot}5}$$

$$= 2{\cdot}54$$

$$\text{सूत्र} = S{\cdot}D. = \sqrt{\frac{\Sigma d^2}{N}}$$

व्यवस्थित प्रदत्तों से प्रामाणिक-विचलन ज्ञात करना
(S. D. From Grouped Data)

$$\text{सूत्र} = S.\ D. = Ci\sqrt{\frac{\Sigma fd^2}{N} - \left(\frac{\Sigma fd}{N}\right)^2}$$

जिसमें Ci = वर्गान्तर का आकार

f = आवृत्तियाँ

Σfd^2 = प्रत्येक वर्गान्तर की आवृत्तियाँ × उनके विचलनों का गुणनफल तथा उसमें विचलनों का पुनः गुणा करने पर योग।

Σfd = आवृत्तियों तथा उनके विचलनों के गुणनफलों का योग।

N = समूह संख्या।

वर्गान्तर (Class Interval)	आवृत्तियाँ (f) (Frequencies)	विचलन (d) (Deviation)	विचलन × आवृत्तियाँ (fd)	आवृत्तियाँ × विचलन × विचलन (fd)
45—49	1	+5	+5	25
40—44	2	+4	+8	32
35—39	3	+3	+9	27
30—34	6	+2	+12	24
25—29	8	+1	+8	8
20—24	17	0	0	0
15—19	26	—1	—26	26
10—14	11	—2	—22	44
5— 9	2	—3	— 6	18
0— 4	0	—4	0	0
योग	76 N		—12 Σfd	204 Σfd^2

$$\text{प्रामाणिक विचलन का सूत्र} = Ci\sqrt{\frac{\Sigma fd^2}{N} - \left(\frac{\Sigma fd}{N}\right)^2}$$

$$=5\sqrt{\frac{204}{76}-\left(\frac{-12}{76}\right)^2}$$

$$=5\sqrt{\frac{204}{76}-\frac{144}{76\times76}}$$

$$=5\sqrt{\frac{(204\times76)-144}{76\times76}}$$

$$=8{\cdot}16$$

S. D. ज्ञात करने में निम्न सोपानों (Steps) को याद रखना चाहिए :—

(1) सबसे प्रथम किसी भी वर्गान्तर में कल्पित मध्यमान (A. M.) मान लेते हैं, जैसा कि ऊपर 20-24 में माना गया है। इसमें विचलन=0 होगा।

(2) इसके पश्चात् इसके ऊपर तथा नीचे के वर्गान्तरों में विचलन मालूम करते हैं। ऊपर की ओर क्रम से +1, +2, 3, आदि तथा नीचे—1, —2, —3 आदि लिखते हैं।

(3) तीसरे पद में विचलनों को उनकी आवृत्तियों से गुणा करते हैं और फिर इनका योग Σfd ज्ञात करते हैं।

(4) अन्त के पद में आवृत्तियों तथा विचलनों के गुणनफल को फिर विचलनों से गुणा किया जाता है। गुणनफल का तब योग Σfd^2 ज्ञात करते हैं।

(5) उपरोक्त राशियों को S. D. के सूत्र में उपयुक्त स्थान पर रखकर प्रदत्तों का S. D. ज्ञात करते हैं।

चतुर्थांश-विचलन
(Quartile Deviation)

इसको ज्ञात करने के लिए समूह के प्राप्तांकों का प्रथम चतुर्थांश अर्थात् 25वाँ शतांश मान ($P_{25}=Q_1$) तथा तृतीय चतुर्थांश अर्थात् 75वां शतांश मान ($P_{75}=Q_3$) ज्ञात किया जाता है। तदुपरांत इन दोनों मानों के अन्तर को 2 से भाग देने पर औसत ज्ञात करते हैं। यही औसत=चतुर्थांश-विचलन है।

चतुर्थांश विचलन (Quartile Deviation) Q. D.

$$Q.\ D.=\frac{Q_3-Q_1}{2}=\frac{P_{75}-P_{25}}{2}$$

51

शैक्षिक सांख्यिकी—5

सह-सम्बन्ध
(Correlation)

सह-सम्बन्ध शब्द का तात्पर्य दो वस्तुओं, गुणों तथा घटनाओं के परस्पर सम्बन्ध को ज्ञात करना होता है। उदाहरणार्थ—इसका प्रयोग बालकों के भिन्न-भिन्न विषयों में प्राप्तांकों के बीच सम्बन्ध ज्ञात करने पर यह भविष्यवाणी करना है कि अमुक बालक अंग्रेजी में अच्छा है तो सह-सम्बन्ध के आधार पर उसकी हिन्दी में स्थिति ज्ञात की जा सकती है।

सह-सम्बन्ध ज्ञात करने के लिए दो विषय लेकर समान बालकों के प्राप्तांक ज्ञात करके उनके प्राप्तांकों में सम्बन्ध ज्ञात करते हैं। जैसे नीचे के उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है :—

बालक	अंग्रेजी	गणित
'अ'	30	20
'ब'	25	25
'स'	20	30
'द'	15	35
'य'	10	40

अंग्रेजी तथा गणित में बालकों के प्राप्तांकों में एक सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। यह सम्बन्ध ऐसा है कि जो बालक अंग्रेजी में अच्छा है वह गणित में कमजोर है। परन्तु ऊपर केवल 5 बालकों के अंक दिये गये हैं। यदि अधिक बालक हों तो केवल प्राप्तांकों के देखने मात्र से ही कोई ज्ञान नहीं होता है। इसके लिए भिन्न-भिन्न विधियों का प्रयोग किया जाता है। जिन राशियों में न्यूनता तथा वृद्धि हो सकती है उनको चलराशियां कहते हैं। उपरोक्त में गणित तथा अंग्रेजी के प्राप्तांक चल-राशियां हैं।

सह-सम्बन्धों के प्रकार
(Kinds of Correlation)

(1) धनात्मक सह-सम्बन्ध (Positive Correlation)—एक चलराशि के बढ़ने तथा घटने पर दूसरी चलराशि भी बढ़तीं तथा घटती हैं, उसे धनात्मक सहसम्बन्ध कहते हैं। उदाहरणार्थ—विज्ञान में प्राप्तांक बढ़ते हैं तो गणित में भी बढ़ते हैं और यदि विज्ञान में कम होते हैं तो गणित में भी कम हो जाते हैं।

(2) ऋणात्मक सह-सम्बन्ध (Negative correlation)—जब एक चलराशि के बढ़ने से दूसरी चलराशि में कमी होती है तो इस सह-सम्बन्ध को ऋणात्मक कहते हैं। उदाहरण नीचे प्रस्तुत है :

	धनात्मक (Positive)		ऋणात्मक (Negative)	
बालक	विज्ञान	गणित	गणित	संगीत
(अ)	15	10	10	30
(ब)	20	15	15	25
(स)	25	20	20	20
(द)	30	25	25	15
(य)	35	30	30	10

(3) शून्य सह-सम्बन्ध (Zero or No Correlation)—जब एक चलराशि में वृद्धि या न्यूनता दूसरी चलराशि की वृद्धि अथवा न्यूनता को किसी प्रकार प्रभावित न करे तो ऐसे सह-सम्बन्ध को शून्य सह-सम्बन्ध (No Correlation) कहते हैं।

सह-सम्बन्ध की मात्रा +1 से —1 के बीच होती है। इसके बीच की राशियाँ +1, ·9, ·8, ·7, ·6, ·5, ·4, ·3, ·2, ·1— 0—से —·1, —·2, —·3, —·4, —·5, —·6, —·7, —·8, —·9—1 तक होती हैं। ·1 से ·5 तक का सह-सम्बन्ध पूर्ण धनात्मक तथा ·1 से ·4 तक का निम्न धनात्मक सह-सम्बन्ध कहलाता है। इसी प्रकार —1 से —·5 तक पूर्ण ऋणात्मक तथा —·1 से —·4 तक का निम्न ऋणात्मक सह-सम्बन्ध कहलाता है।

सह-सम्बन्ध ज्ञात करने की विधियाँ (Methods of Finding Correlation)

(1) कार्ल पियरसन विधि या गुणन-घात विधि (Product Moment Method)—इस विधि का प्रतिपादन कार्ल पीयरसन ने 19वीं शताब्दी में किया था। सह-सम्बन्ध ज्ञात करने की यह सबसे अच्छी और सबसे अधिक संतोषजनक विधि है। अतः कठिन होते हुए भी खोज कार्यों में इसका प्रयोग अधिक होता है। इस विधि से सह-सम्बन्ध ज्ञात करने के भी अनेक सूत्र हैं। इनमें से एक सरल सूत्र इस प्रकार है—

$$r = \frac{\Sigma xy}{\sqrt{\Sigma x^2 \times \Sigma y^2}}$$

इस सूत्र द्वारा सह-सम्बन्ध गुणांक की गणना निम्नांकित सारणी में प्रदर्शित की गई है। एक कक्षा के 8 विद्यार्थियों के [illegible] तथा गणित के अंक क्रमशः स्तम्भ 1 तथा 2 में दिये गये हैं।

1	2	3	4	5	6	7	
छात्र	भाषा (x)	गणित (y)	x	y	x^2	y^2	xy
क	4	8	—1	0	1	0	0
ख	6	12	+1	+4	1	16	4
ग	10	15	+5	+7	25	49	35
घ	5	7	0	—1	0	1	0
ङ	5	8	0	0	0	0	0
च	3	7	—2	—1	4	1	2
छ	2	3	—3	—5	9	25	15
ज	5	4	0	—4	0	16	0
	$\Sigma x=40$	$\Sigma y=64$	$\Sigma x=0$	$\Sigma y=0$	$\Sigma x^2=40$	$\Sigma y^2=108$	$\Sigma xy=56$
	M=5	M=8					

सारणी को समझने के लिए संकेत—स्तम्भ 1 तथा 2 का योग क्रमशः $\Sigma x=40$, $\Sigma y=64$ है। इनमें क्रमशः 8 अर्थात (N) का भाग देकर मध्यमान (M) ज्ञात कर लिया (भाषा M=5, गणित M=8)। प्रत्येक मध्यमान के प्राप्तांकों से घटाकर x तथा y स्तम्भ ज्ञात किये जिनका योग हमेशा 0 होता है। इसके बाद क्रमशः x तथा y स्तम्भों के वर्ग स्तम्भ 5 तथा 6 में ज्ञात किये गये हैं। स्तम्भ 7 में 3 तथा 4 स्तम्भों का गुणनफल है जिसका योग $\Sigma xy=56$ हुआ। अब सूत्र के अनुसार

$$r = \frac{56}{\sqrt{40+108}} = \cdot 85$$

(2) अनुस्थिति अन्तर सह-सम्बन्ध विधि (Rank Difference Method of Correlation)—इस विधि के निर्माता स्पीयरमैन हैं। इस विधि में प्राप्तांकों को एक आकार के अनुसार रखा जाता है, सबसे ऊपर प्रथम प्राप्तांक, इसके बाद वाला दूसरा और इसी क्रम से अन्य प्राप्तांक रखे जाते हैं। प्रत्येक को अनुस्थिति (Rank) कहते हैं। निम्नलिखित उदाहरण से उपर्युक्त बात स्पष्ट हो जायेगी।

छात्रों के प्राप्तांक=3, 1, 8, 4, 12, 16, 5. इसमें जिस छात्र के प्राप्तांक 16 हैं, उसकी अनुस्थिति (Rank) पहली, 12 वाले की दूसरी तथा 1 वाले की 7वीं होगी।

(1) इस विधि में यदि प्राप्तांक एक क्रम से नहीं हों तो उनको अनुस्थिति (Ranks) में परिवर्तित कर देते हैं।

(2) इसके बाद दोनों समूहों को अनुपस्थितियों में बदल कर इनका परस्पर अन्तर (Difference) (D) ज्ञात किया जाता है।

(3) अन्तर ज्ञात करके उनका वर्ग (Square) ज्ञात करते हैं। इसको (D^2) अंकित करते हैं।

(4) इसके पश्चात् अनुस्थितियों के अन्तरों के जो वर्ग हैं, उनका योग (ΣD^2) निकाला जाता है।

(5) अन्त में सह-सम्बन्ध ज्ञात करने के लिए स्पीयरमैन के सूत्र का प्रयोग करते हैं—

$$\rho \text{ or Rho} = 1 - \frac{6\Sigma D^2}{N(N^2-1)}$$

N = समूहों की संख्या

ΣD^2 = अनुस्थितियों के अन्तरों से प्राप्त वर्गों का जोड़।

ρ or Rho = सह-सम्बन्ध।

उदाहरण—

बालक	गणित में प्राप्तांक	विज्ञान में प्राप्तांक	गणित में अनुस्थिति	विज्ञान में अनुस्थिति	अनुस्थितियों का अन्तर D	D^2
अ	30	25	7	7	0	0
ब	40	28	6	6	0	0
स	50	40	2	2	0	0
द	10	12	10	10	0	0
य	20	20	9	8	1	1
र	25	15	8	9	—1	1
ल	45	38	4	3	1	1
व	42	35	5	4	1	1
म	54	45	1	1	0	0
प	48	30	3	5	—2	4
N = 10						$\Sigma D^2 = 8$

$$\rho = 1 - \frac{6\Sigma D^2}{N(N^2-1)} = 1 - \frac{6 \times 8}{10(10^2-1)} = 1 - \frac{48}{10 \times 99}$$

$$= 1 - \frac{48}{990} = \frac{990-48}{990} = \frac{952}{990} = 0.9$$

उपरोक्त सह-सम्बन्ध = ·9 से यह ज्ञात होता है कि य
उच्च धनात्मक सह-सम्बन्ध है।

1	2	3	4	5	6	7
छात्र भाषा (x)	गणित (y)	x	y	x^2	y^2	xy
क 4	8	—1	0	1	0	0
ख 6	12	+1	+4	1	16	4
ग 10	15	+5	+7	25	49	35
घ 5	7	0	—1	0	1	0
ङ 5	8	0	0	0	0	0
च 3	7	—2	—1	4	1	2
छ 2	3	—3	—5	9	25	15
ज 5	4	0	—4	0	16	0
$\Sigma x=40$	$\Sigma y=64$	$\Sigma x=0$	$\Sigma y=0$	$\Sigma x^2=40$	$\Sigma y^2=108$	$\Sigma xy=56$

M=5 M=8

सारणी को समझने के लिए संकेत—स्तम्भ 1 तथा 2 का योग क्रमशः $\Sigma x=40$, $\Sigma y=64$ है। इनमें क्रमशः 8 अर्थात (N) का भाग देकर मध्यमान (M) ज्ञात कर लिया (भाषा M=5, गणित M=8)। प्रत्येक मध्यमान के प्राप्तांकों से घटाकर x तथा y स्तम्भ ज्ञात किये जिनका योग हमेशा 0 होता है। इसके बाद क्रमशः x तथा y स्तम्भों के वर्ग स्तम्भ 5 तथा 6 में ज्ञात किये गये हैं। स्तम्भ 7 में 3 तथा 4 स्तम्भों का गुणनफल है जिसका योग $\Sigma xy=56$ हुआ। अब सूत्र के अनुसार

$$r = \frac{56}{\sqrt{40+108}} = \cdot 85$$

(2) अनुस्थिति अन्तर सह-सम्बन्ध विधि (Rank Difference Method of Correlation)—इस विधि के निर्माता स्पीयरमैन हैं। इस विधि में प्राप्तांकों को एक आकार के अनुसार रखा जाता है, सबसे ऊपर प्रथम प्राप्तांक, इसके बाद वाला दूसरा और इसी क्रम से अन्य प्राप्तांक रखे जाते हैं। प्रत्येक को अनुस्थिति (Rank) कहते हैं। निम्नलिखित उदाहरण से उपर्युक्त बात स्पष्ट हो जायेगी।

छात्रों के प्राप्तांक=3, 1, 8, 4, 12, 16, 5. इसमें जिस छात्र के प्राप्तांक 16 हैं, उसकी अनुस्थिति (Rank) पहली, 12 वाले की दूसरी तथा 1 वाले की 7वीं होगी।

(1) इस विधि में यदि प्राप्तांक एक क्रम से नहीं हों तो उनको अनुस्थिति (Ranks) में परिवर्तित कर देते हैं।

(2) इसके बाद दोनों समूहों को अनुपस्थितियों में बदल कर इनका परस्पर अन्तर (Difference) (D) ज्ञात किया जाता है।

(3) अन्तर ज्ञात करके उनका वर्ग (Square) ज्ञात करते हैं। इसको (D^2) से अंकित करते हैं।

(4) इसके पश्चात् अनुस्थितियों के अन्तरों के जो वर्ग हैं, उनका योग (ΣD^2) निकाला जाता है।

(5) अन्त में सह-सम्बन्ध ज्ञात करने के लिए स्पीयरमैन के सूत्र का प्रयोग करते हैं—

$$\rho \text{ or Rho} = 1 - \frac{6\Sigma D^2}{N(N^2-1)}$$

N = समूहों की संख्या

ΣD^2 = अनुस्थितियों के अन्तरों से प्राप्त वर्गों का जोड़।

ρ or Rho = सह-सम्बन्ध।

उदाहरण—

बालक	गणित में प्राप्तांक	विज्ञान में प्राप्तांक	गणित में अनुस्थिति	विज्ञान में अनुस्थिति	अनुस्थितियों का अन्तर D	D^2
अ	30	25	7	7	0	0
ब	40	28	6	6	0	0
स	50	40	2	2	0	0
द	10	12	10	10	0	0
य	20	20	9	8	1	1
र	25	15	8	9	−1	1
ल	45	38	4	3	1	1
व	42	35	5	4	1	1
म	54	45	1	1	0	0
प	48	30	3	5	−2	4
N=10						$\Sigma D^2 = 8$

$$\rho = 1 - \frac{6\Sigma D^2}{N(N^2-1)} = 1 - \frac{6 \times 8}{10(10^2-1)} = 1 - \frac{48}{10 \times 99}$$

$$= 1 - \frac{48}{990} = \frac{990-48}{990} = \frac{952}{990} = 0 9$$

उपरोक्त सह-सम्बन्ध = ·9 से यह ज्ञात होता है कि गणित तथा विज्ञान में उच्च धनात्मक सह-सम्बन्ध है।

उदाहरण—2

तालिका—अनुस्थिति अन्तर विधि से सह-सम्बन्ध ज्ञात करना।

विद्यार्थी	हिन्दी	भूगोल	(R_1)	(R_2)	$(R_1—R_2)$ =D	(D^2)
अ	30	15	1	8	—7	49
ब	25	20	2·5	6·5	—4	16
स	25	25	2·5	4·5	—2	4
द	22	35	4·5	2	2·5	6·25
य	22	40	4·5	1	3·5	12.25
र	20	30	6	3	3	9
ल	15	25	8	4·5	3·5	12.25
ब	15	20	8	6·5	1·5	2·25
म	15	12	8	9	—1	1.00
प	10	9	10	10	0	0
N=10						ΣD^2=112.00

$$\rho = 1 - \frac{6\Sigma D^2}{N(N^2-1)} = 1 - \frac{6 \times 112}{10(10^2-1)}$$
$$= \cdot 321$$

सह-सम्बन्ध ज्ञात करने हेतु कुछ आवश्यक बातें निम्नलिखित हैं जिनको ध्यान में रखना आवश्यक है :

1. उपरोक्त विधि का प्रयोग बड़े समूहों पर नहीं करते हैं। जब समूह 30 से कम हो तभी इस विधि का प्रयोग करते हैं।

2. अनुस्थितियों के रूप में प्राप्तांकों में परिवर्तन करने से छात्रों का वास्तविक अन्तर छिप-सा जाता है।

3. प्राप्तांकों के वितरण को सामान्य मानकर सह-सम्बन्ध ज्ञात किया जाता है।

4. सह-सम्बन्ध में किसी कार्य-कारण का ज्ञान नहीं हो पाता है।

5. सह-सम्बन्ध में किसी प्रतिशत अथवा अनुपात की सूचना नहीं मिलती है।

6. सह-सम्बन्ध की व्याख्या सदैव परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए करनी चाहिए।

7. इसके द्वारा भावी-कथन (Prediction) प्रस्तुत करना भी सरल हो जाता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची
(BIBLIOGRAPHY)

Adams : The Evolution of Educational Theory.
: Modern Developments in Educationl Practice.
Anderson, I. E. : The Psychology of Development and personal Adjustment.
Allport, G. W. : Personality—A Psychological Interpretation.
Anastasy : Psychological Testing.
: A manual of Educational and Vocational Guidance, Ministry of Education, India.
Ballard : Mental Tests.
Bernard, S. W. : The Psychology of Learning and Teaching.
Best, J. W. : Research in Education.
Brown and Thomson : Essentials of Mental Measurement.
Brown, F. J. : Educational Sociology.
Blair, Jones and Simpson : Educational Psychology.
Bhatia, H. R. : A Textbook of Educational Psychology.
Bigge and Hurt : Psychological Foundations of Education.
Burt. C. : The Causes and treatment of Backwardness.
: The Young Delinquent.
: The Backward Child.
Boaz, G. D. :
Bernard and Herold :
Boring, Langfield and Weld :
Carmichael, L. : Manual ot Child Psychology
Cunningham, R. : Group Behaviour of Boys and Girls, 43rd Yearbook.
Caldwell Cook : The Play way.
Corey, Stephen, M. : Action Research to Improve School Practices
Crow, Lester and Alice : Mental Hygiene.
Crow and Crow : Educational Psychology.
: Human Development and Learning.
Charles, S. S. : Backward Children in the making
Cronbach L. J. : Essentials of Psychological Testing
Cattell R. B. : Descriptions and Measurement of Personality.
Dumville : The Foundations of Psychology.
Drever, J. : A Dictionary of Psychology.
: An *Introduction* to Psychology of Education.
Dewey, J. : How we think.
: Education for Gifted Children 57th Yearbook.
: Education for Exceptional Children 49th Yearbook.
Eysenck, H. J. : Uses and Abuses of Psychology.
Frandsen : Educational Psychology.
Flugel, J. C. : A Hundred Years of Psychology
Freeman : Theory and Practice of Psychological Testing.
: Individual Differences.

Freud : Introductory Lectures on Psycho-Analysis
Good Enough : Anger in Young Children.
: Mental Testing.
Garrett : Statistics in Psychology and Education.
Groos : The Play of Animals.
Gates, A. I. : Educational Psychology.
Good, Carter, V. : Dictionary of Education.
Guilford, J. P. : Fields of Psychology.
: Fundmental Statistics in Psychology and Education.
Gessell, A. : Studies in Child Development.
: The Child from 5 to 10.
Gault and Howard : An Outline of General Psychology.
Garrison & Others : Educational Psychology.
Hilgard : Theories of Learning.
Hurlock : Child Development.
Hall : Adolescence.
H. Lane : Talks to Parents and Teachers.
Hughes and Hughes : Learning and Teaching,
Hadfield, J. A. : Theories of Learning.
Hartmann : Gastalt Psychology.
Heidbeder, E. : Seven Psychologies.
Hollingworth : Educational Psychology.
Isaacs, S. S. : The Nursery Years.
Jersild : Child Psychology.
Jung, C. : Integration of Personality.
Jordan : Educational Psychology.
Jones, A. J. : Principles of Guidance,
James, W. : Principles of Psychology.
Jalota, S. : Introduction to Psychology.
Krietschmer, E. : Physique and Character.
Koffka : Perception : An Introduction to Gaslalt Theories.
Kamat : Measuring Intelligence in India.
Krech and Crutchfield : Theory and Problems of Social Psychology.
Kuppuswamy : Advanced Educational Psychology.
Lewin, K. A. : Dynamic Theory of Personality.
McDougall : An Outline of Psychology.
: An Introduction to Social Psychology.
Ministry of Education : Report on Delinquent Children and Juvenile offenders in India.
Mursell : Psychology for Modern Education.
Murchinson : A Handbook of Child Psychology.
Morgan : Instinct and Experience.
Montessori : The Montessori Method.
Monroe : Encyclopaedia of Educational Research.
Munn, N. L : Psychology
Nunn : Education, It's data and First Principles.
Nunnly : Psychological Testing.
Norsworthy and Witley : Psychology of Childhood.
Pressey, Robinson and Horrocks : Psychology in Education.
Peel, A E : The Psychological Basis of Education
Pavlov, I P. : Lectures on Conditioned Reflex.
Ross : Groundwork of Educational Psychology.
Sandiford : Foundations of Educational Psychology.
Stuart and Oakdan : Modern Psychology in Education.

Stevens : Handbook of Experimental Psychology.
Stoddard : The meaning of Intelligence.
Skinner : Educational Psychology.
Sorenson : Psychology in Education.
Stout : A manual of Psychology.
Stones : An Introduction to Educational Psychology
Terman : The Measurement of Intelligence.
Thorndike, E. L. : Educational Psychology.
Thomson : Instincts, Intelligence and Character.
Tyler : Psychology of Human Differences.
Uday Shanker : Problem Children.
Valentine : Psychology and its bearing on Education.
Valentine : Educational Psychology.
Vernon : Personality and Its Measurement.
Watson : Behaviourism.
Woodworth : Contemporary schools of Psychology.
Young Kimball : Handbook of Social Psychology.

पारसनाथ राय तथा चाँद भटनागर : अनुसन्धान-परिचय
एल० आर० शुक्ला : बाल मनोविज्ञान
डॉ० एस० एस० माथुर : शिक्षा मनोविज्ञान
डॉ० रामनाथ शर्मा : शिक्षा मनोविज्ञान
डॉ० एस० पी० चौबे : मनोविज्ञान तथा शिक्षा